श्रीमद्भगवद्गीता

यथारूप

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति

श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

श्रीमद्भगवद्गीता
यथारूप

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा विरचित वैदिक-ग्रन्थ-रत्न—

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप
श्रीमद्भागवत स्कन्ध १-१० (५०-खण्ड)
श्रीचैतन्य चरितामृत (१७-खण्ड)
श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत
भक्तिरसामृतसिन्धु
उपदेशामृत
श्री ईशोपनिषद्
अन्य लोकों की सुगम यात्रा
कृष्णभावना : परमयोग
भगवान् श्रीकृष्ण का लीलामृत (३-खण्ड)
पारमार्थिक प्रश्नोत्तर
वैदिक आलोक में पाश्चात्य दर्शन (२-खण्ड)
देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल का शिक्षामृत
प्रह्लाद महाराज की भागवत-शिक्षा
रसराज श्रीकृष्ण
जीवन का स्रोत चेतन है
योग की पूर्णता
जन्म-मृत्यु से परे
श्रीकृष्ण की ओर
कृष्णभावना : अनुपम भेंट
गीतार गान (बंगाली)
राजविद्या
कृष्णभावना की प्राप्ति
भगवत्-दर्शन पत्रिका (संस्थापक)

अधिक जानकारी तथा सूचीपत्र के लिए लिखे :
अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ
हरे कृष्ण लैण्ड, गांधी ग्राम रोड, जुहू, बम्बई—४०००४९

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयत

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप

कलियुगपावन स्वभजन-विभजन प्रयोजनावतार
श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यमहाप्रभोः परंपरायां दशम्
विश्वव्यापी श्रीहरेकृष्ण महामन्त्र प्रचारक प्रवर
कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीरूपानुगवर जगद्गुरु
ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अष्टोत्तरशत

श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य
अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

हिन्दी भाषान्तरकार
राजीव गुप्ता

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

न्यूयार्क-लास एन्जीलीस-लण्डन-बम्बई

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु में रुचिवान् पाठकों को अन्तर्राष्ट्रीय
ीकृष्णभावनामृत संघ अपने निम्नलिखित भारतीय केन्द्रों से सम्पर्क तथा
त्र-व्यवहार करने के लिए आमन्त्रित करता है:

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

१. हरे कृष्ण लैण्ड, जुहू, बम्बई—४०००४९
२. २१/ए, फिरोज गाँधी रोड, नई दिल्ली—११००२४
३. श्रीकृष्ण बलराम-मन्दिर, भक्तवेदान्त स्वामी मार्ग, रमणरेती वृन्दावन, (मथुरा उ. प्र.) दूरभाष: १७८
४. हरे कृष्ण लैण्ड, नमपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—५०००0१। (आ. प्र.)
५. इस्कोन, हरे कृष्ण लैण्ड, दक्षिण मार्ग, नं. ५६६ सेक्टर, ३६-बी चण्डीगढ़ (पंजाब)
६. ७, कैलाश सोसाइटी, आश्रम रोड, अहमदाबाद (गुजरात)
७. ३६, क्रिसेन्ट रोड बंगलोर—१
८. ३ एल्बर्ट रोड, कलकत्ता—७०००१७ (पं बंगाल)
९. श्रीमायापुर चन्द्रोदय मन्दिर, पो. श्रीमायापुर धाम (नदिया, पं. बंगाल)

प्रथम संस्करण सन अक्तूबर १९७९ /प्रतीयाँ ८०००
द्वितिय संस्करण सन जून, १९८० /प्रतीयाँ २०,०००

Printed and Published by Bhaktivedanta Book Trust, Juhu Road, Juhu, Bombay, at Usha Offset Printers Pvt. Ltd., 125, Industrial Estate, Kandivli, Bombay 400 067.

समर्पण

वेदान्त दर्शन पर गोविन्द भाष्य के प्रणेता

श्रील बलदेव विद्याभूषण

को

अनुक्रमणिका

उपक्रमणिका

मूलरूप में मैंने 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' को इसी बृहद् आकार में लिखा था। परन्तु प्रकाशन के समय मूल पाण्डुलिपि को चार सौ से भी कम पृष्ठों तक सीमित करना पड़ा, जिससे श्रीमद्भगवद्गीता के अधिकांश मूल श्लोकों की व्याख्या उस संस्करण में नहीं आ सकी। 'श्रीमद्भागवत', 'श्रीईशोपनिषद्', 'श्रीचैतन्य चरितामृत' आदि मेरे अन्य सभी ग्रन्थों में मूल श्लोकों के साथ उनका अन्वय, अनुवाद तथा विशद व्याख्या रहती है। इस विधि से ग्रन्थ बड़ा प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण बन जाता है तथा अर्थ प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः अपनी मूल पाण्डुलिपि की काट-छाँट से मैं प्रसन्न नहीं था। बाद में, 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' की लोकप्रियता बहुत बढ़ जाने पर विद्वानों और भक्तों ने आग्रह किया कि मैं ग्रन्थ को उसके मूल बृहद् रूप में प्रस्तुत करूँ तथा मैकमिलन एण्ड कं० सम्पूर्ण संस्करण के प्रकाशन के लिए सहमत हो गए। अतएव इस महान् ज्ञान-शास्त्र की पूरी 'परम्परा व्याख्या' को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे कृष्णभावनामृत आन्दोलन उत्तरोत्तर अधिक दृढ़ आधार पर स्थापित हो।

हमारा 'कृष्णभावनामृत आन्दोलन' प्रामाणिक, ऐतिहासिक दृष्टि से अधिकृत, स्वाभाविक तथा दिव्य है, क्योंकि इसका आधार श्रीमद्भगवद्गीता है। यह शनैः-शनैः सम्पूर्ण विश्व में, विशेष रूप से, तरुणवर्ग में सबसे अधिक लोकप्रिय आन्दोलन का स्थान पाता जा रहा है। यही नहीं, प्रौढ़ वर्ग भी अब इसमें रुचि लेने लगा है। यहाँ तक कि मेरे शिष्यों के पिता, पितामह, आदि हमारे महान् संघ—अंतर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के आजीवन सदस्य बनकर हमें प्रोत्साहित कर रहे हैं। जब मैं लॉस एंजिलिस में था तो बहुत से माता-पिता संपूर्ण विश्व में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का संचालन करने के लिए मुझे धन्यवाद देने आते थे। उनमें से कुछ का उद्गार था कि यह अमरीकी जनता का सौभाग्य है कि मैंने कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रवर्तन अमरीका में किया। परन्तु वास्तव में इस आन्दोलन के आदि-पिता भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं हैं। उनसे अतीत काल में प्रारम्भ हुआ यह आन्दोलन शिष्य-परंपरा के द्वारा मानव-समाज में चला आ रहा है। यदि इस सम्बन्ध में मुझे कुछ सफलता मिली है, तो उसका श्रेय स्वयं मुझको नहीं, वरन् मेरे शाश्वत् गुरु, कृष्णकृपाविग्रह ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य १०८ श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज प्रभुपाद को है।

इस सन्दर्भ में यदि मुझको कुछ श्रेय है, तो बस इतना ही कि मैंने श्रीमद्भगवद्गीता को विकृत किए बिना, यथार्थ रूप में (यथारूप—As it is) प्रस्तुत किया है। इस 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' संस्करण से पूर्व गीता के जितने भी संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उनमें से प्रायः सभी किसी न किसी की स्वार्थ-पूर्ति के लिए लक्षित थे। परन्तु 'श्रीमद्भगवद्गीता' को प्रकाशित करने में हमारा एकमात्र लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण के संदेश को प्रस्तुत करना है। हमारा काम श्रीकृष्ण की इच्छा को प्रकट करना है; यह राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि लौकिक विद्वानों की मनोधर्मी के समान नहीं है, क्योंकि नाना प्रकार के ज्ञान से युक्त होने पर भी उनमें श्रीकृष्ण के ज्ञान का प्रायः अभाव ही रहता है। जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि, **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजि मां नमस्कुरु**, इत्यादि तो ये नाममात्र के विद्वान् कहते हैं कि श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरात्मा में भेद है। परन्तु हम ऐसा नहीं कहते। श्रीकृष्ण अद्वय-तत्त्व हैं; उनके नाम, रूप, दिव्य गुण, लीला आदि में कोई भेद नहीं है। जो मनुष्य परम्परा के अनुसार कृष्णभक्त नहीं है, उसके लिए श्रीकृष्ण के इस अद्वय-तत्त्व को जान पाना कठिन होगा। सामान्यतः देखा गया है कि नामधारी विद्वान्, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा स्वामी आदि जो श्रीकृष्ण के पूर्ण तत्त्वज्ञान से रहित हैं, भगवद्गीता पर भाष्य रचना करने के रूप में श्रीकृष्ण के अस्तित्त्व को ही समाप्त कर देने का प्रयत्न करते हैं। भगवद्गीता के ऐसे अप्रामाणिक भाष्यों को मायावादी भाष्य कहा जाता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने हमें इन अप्रामाणिक व्याख्याकारों से सचेत किया है। उनकी वाणी है कि जो कोई भी गीता को मायावादी मत के अनुसार समझने का प्रयत्न करेगा, वह महान् अपराध कर बैठेगा। गीता का ऐसा भ्रान्त विद्यार्थी परमार्थ के पथ में निश्चित रूप से मोहित हो जाता है और अपने घर—भगवद्धाम को नहीं जा पाता।

हमारा एकमात्र प्रयोजन श्रीमद्भगवद्गीता को यथारूप (As it is) प्रस्तुत करना है, जिससे बद्ध जीव का उसी लक्ष्य की ओर मार्गदर्शन हो सके, जिसके लिए ब्रह्मा के प्रत्येक दिन में, अर्थात् ८,६०,००,००,००० वर्षों के कल्प में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अवतरित होते हैं। इस प्रयोजन का गीता में उल्लेख है और हमें इसे उसी रूप में (यथारूप) ग्रहण करना है। अन्यथा, भगवद्गीता और उसके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानने के लिए साधन करना व्यर्थ होगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता सर्वप्रथम सूर्यदेव को करोड़ों वर्ष पूर्व सुनाई थी। इस सत्य को स्वीकार कर तथा श्रीकृष्ण के प्रमाण के आधार पर अर्थ का अनर्थ किए बिना गीता के ऐतिहासिक माहात्म्य को समझ लेना चाहिए। श्रीकृष्ण की इच्छा के विरुद्ध गीता का अर्थ करना महान् अपराध है। इससे अपनी रक्षा के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, जैसा उनके प्रथम शिष्य अर्जुन ने स्वयं उनसे जाना था। गीता का ऐसा ज्ञान ही यथार्थ में मानव समाज के कल्याण-कार्य के लिए श्रेयस्कर तथा प्रामाणिक है; मानव जीवन की सार्थकता वस्तुतः इसी में है।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन जीवन की परम संसिद्धि प्राप्त कराता है; इसलिए यह
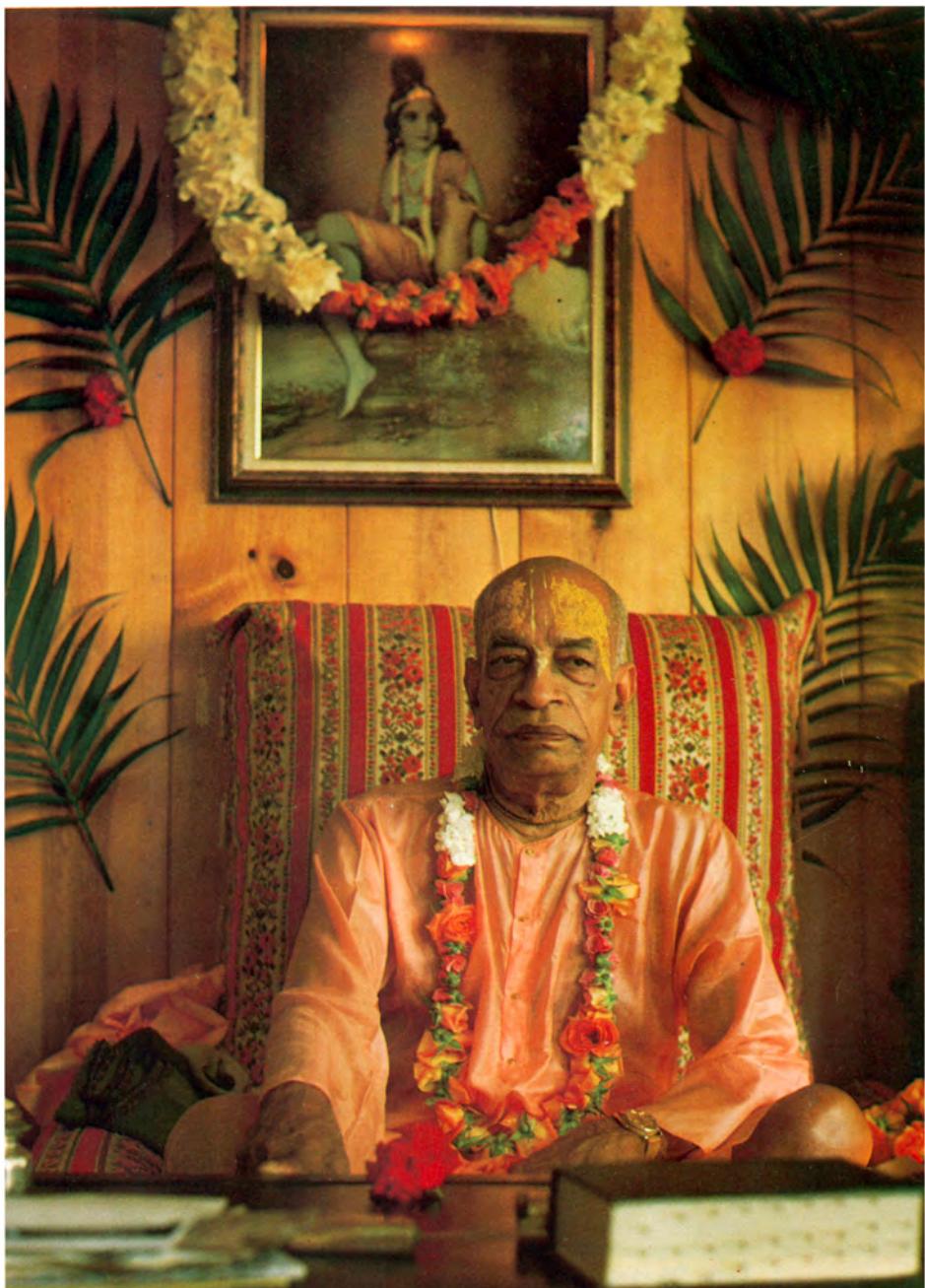
मानव समाज के लिए अनिवार्य है। भगवद्गीता में इस विषय का सम्पूर्ण वर्णन है। दुर्भाग्यवश, प्रापञ्चिक वाग्चातुरी करने वाले मूढ़ गीता की आड़ में अपनी आसुरी प्रवृत्ति को ही उभारते हैं, जिससे अबोध जनता जीवन के सामान्य नियमों के यथार्थ ज्ञान से भ्रष्ट हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य के लिए भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा और जीव के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। उसे यह बोध होना चाहिए कि जीव स्वरूपतः नित्य दास है; अतः यदि वह श्रीकृष्ण की सेवा नहीं करेगा तो नाना रूपों में त्रिगुणमयी माया की सेवा करनी पड़ेगी, जिससे जन्म-मृत्यु का चक्र बना रहेगा। यहाँ तक कि अपने को मुक्त समझनेवाला मायावादी ज्ञानी भी वास्तव में इस आवागमन से नहीं छूट पाता। अस्तु, श्रीभगवान् की महिमा और जीव के स्वरूप का यह ज्ञान परमोच्च विज्ञान है तथा इसका श्रवण करना जीव के अपने हित में है।

इस कलियुग में लोग सामान्य रूप से श्रीकृष्ण की बहिरंगा मायाशक्ति से मोहित रहते हैं और भ्रमवश समझते हैं कि भौतिक सुख-सुविधा की उन्नति से वे सुखी हो जायेंगे। वे नहीं जानते कि माया बड़ी बलवान् है, जीवमात्र उसके दुस्तर नियमों में बँधा हुआ है। जीव का सुख श्रीभगवान् के भिन्न-अंश के रूप में ही है। उसका स्वरूपधर्म यही है कि बिना विलम्ब श्रीभगवान् की सेवा के परायण हो जाय। माया के वशीभूत हुआ जीव नाना प्रकार से अपनी इन्द्रियों को तृप्त करके सुखी होने का प्रयत्न करता है; परन्तु वास्तव में इस प्रकार वह कभी सुखी नहीं हो सकता। अपनी प्राकृत इन्द्रियों को तृप्त करने के स्थान पर श्रीभगवान् की इन्द्रियों को तृप्त करना चाहिए। यही जीवन की परमोच्च सफलता है। श्रीभगवान् ऐसा आग्रहपूर्वक चाहते हैं। मानव को श्रीमद्भगवद्गीता के इस केन्द्रविन्दु को भलीभाँति समझना है। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन सम्पूर्ण विश्व को इसी केन्द्रविन्दु की शिक्षा दे रहा है। हम भगवद्गीता की आत्मा को दूषित नहीं करते, इसलिए जो कोई भगवद्गीता के अध्ययन से यथार्थ श्रेय-प्राप्ति का अभिलाषी हो, वह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन में गीता का आचरणीय ज्ञान पाने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन का आश्रय अवश्य ले। हमें आशा है कि हमारे द्वारा प्रस्तुत 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' का अध्ययन करने से जनता का परम कल्याण होगा। इससे यदि एक भी मनुष्य शुद्ध भगवद्भक्त बना, तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे।

ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी

१२ मई, १९७१
सिडनी, आस्ट्रेलिया

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापक आचार्य अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

सम्पूर्ण विश्व में वैदिक ज्ञान के अद्वितीय प्रचारक

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज, कृष्णकृपाश्रीमूर्ति ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के आध्यात्मिक गुरु तथा आधुनिक युग के सबसे महान् विद्वान् तथा भक्त।

दोनों सेनाओं के मध्य में श्री कृष्ण एवं अर्जुन।

जिस प्रकार बद्धजीव को इस देह में क्रम से बचपन, यौवन और बुढ़ापे की प्राप्ति होती है, उसी भाँति मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। स्वरूपज्ञानी धीर पुरुष इससे मोहित नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नए वस्त्र पहनता है, वैसे ही आत्मा भी जीर्ण शरीर को छोड़कर नया देह धारण करता है (२.१३, २२)

इस कलियुग में बुद्धिमान् मनुष्य संकीर्तन-यज्ञ के द्वारा पार्षदों सहित भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की उपासना करते हैं [illegible]।

श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु नित्यानन्द। श्रीअद्वैत गदाधर श्रीवासादि गौरभक्त वृन्द॥

हे अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतरित होता हूँ (४.७)

पथार्थ ज्ञानी विद्या-विनयुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समदर्शी होते हैं ।

प्राकृत देह रथ, पाँच इन्द्रियाँ (जिह्वा, नेत्र, कर्ण, नासिका तथा त्वचा) पाँच घोड़े मन रास (लगाम), बुद्धि सारथि तथा जीवात्मा रथ में बैठा हुआ यात्री है । इस प्रकार मन और इन्द्रियों के संग में आत्मा सुख-दुःख भोगता है ।

कामनाओं से अन्धे मनुष्य ही अन्य देवताओं की शरण लेकर अपने स्वभाव के अनुसार उपासना करते है। मैं (कृष्ण) जीवमात्र का अन्तर्यामी हूँ; इसलिए जो श्रद्धासहित जिस देव को पूजना चाहता है, मैं उसकी श्रद्धा उसी देवता में स्थिर कर देता हूँ। इस प्रकार उसे अपने इच्छित भोग मिलते हैं। परन्तु वास्तव में इन भोगों को देने वाला मैं ही हूँ। इन अल्पबुद्धि मनुष्यों को देवोपासना मे बड़ा सीमित क्षणभंगुर फल होता है। देवोपासक देवलोकों को जाते है, जबकि मेरे भक्त अन्त मे मेरे धाम को प्राप्त करते हैं (७.२०–२३)

श्रीकृष्ण की अनन्त विभूतियाँ : "जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, कांतियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु हो; उस-उसको तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न जान" (१०.३९–४२)
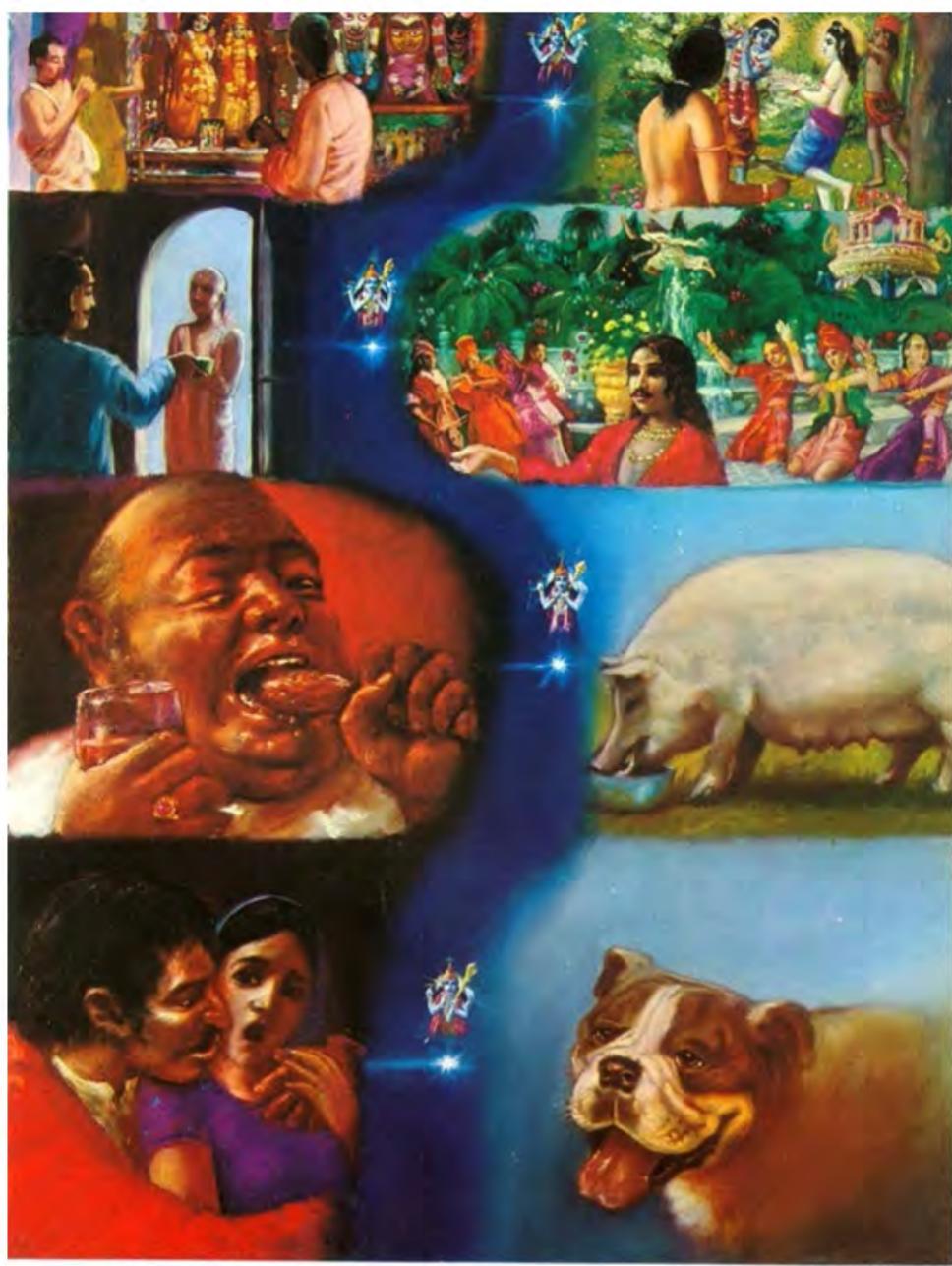
भगवान् श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यमय विश्वरूप को देखकर अर्जुन चकित और पुलकित हो उठा; वारम्वार सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए गद्गद् स्वर से स्तुति करने लगा (११.९–१४)
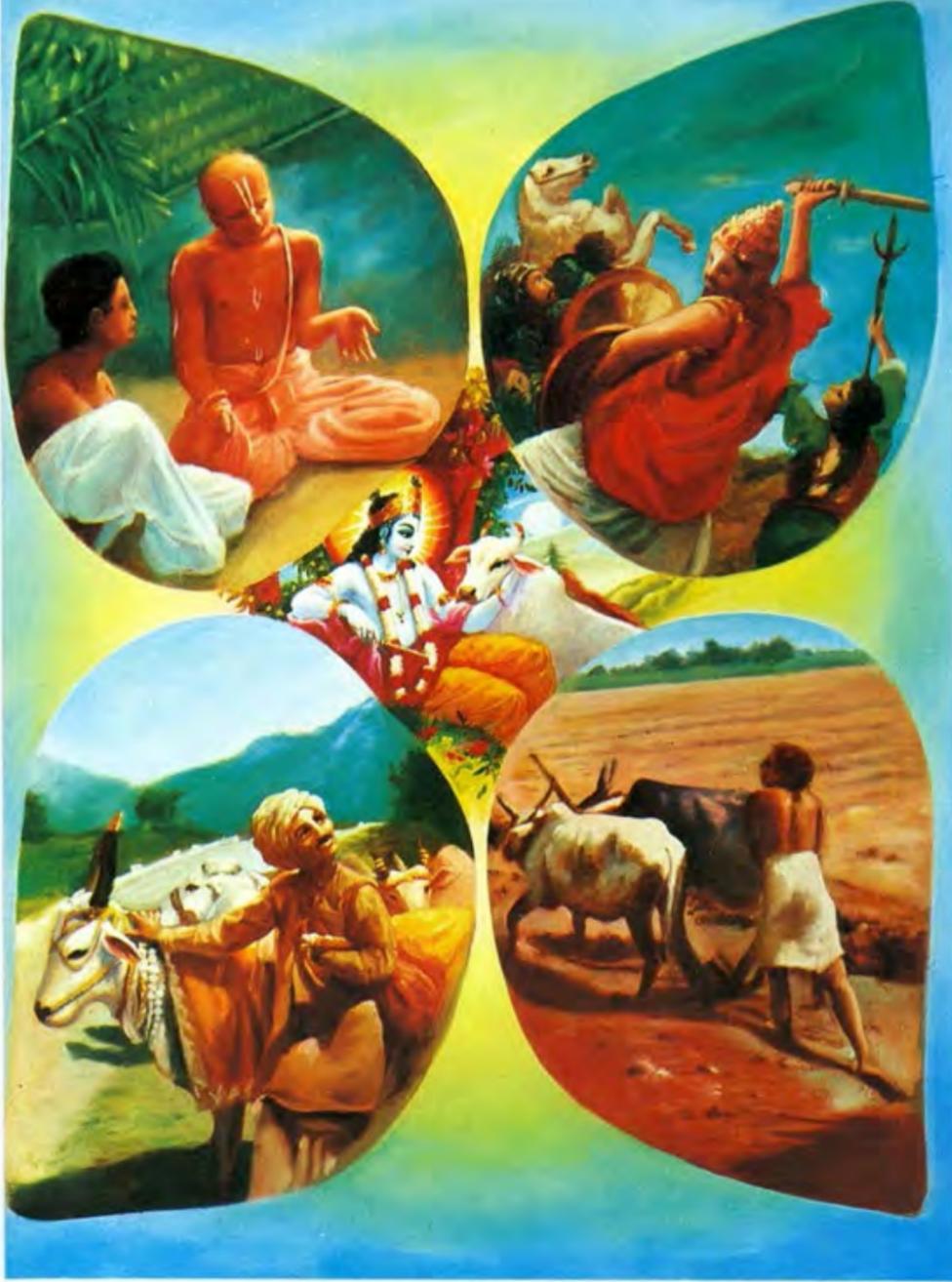
श्रीकृष्ण अपने अनन्य भक्त का जन्म-मृत्यु के सागर से शीघ्र उद्धार करते हैं (१२.६-७)

"जहाँ जाने वाला ससार मे वापस नही आता, वही मेरा परमधाम है" (१५ ६) भगवान् श्रीकृष्ण के परमधाम को ब्रह्मसहिता मे चिन्तामणिधाम कहा गया है, जहाँ सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती है। वह धाम चिन्तामणि से रचित महलो से परिपूर्ण है। वहाँ के वृक्ष कल्पतरु है, जो इच्छामात्र को पूरा कर सकते है। 'सुरभि' गाएँ अपरिमित दुग्ध देती है। इस धाम मे प्रभु हजारो लक्ष्मियो द्वारा सेवित है। वे सब कारणो के कारण आदिपुरुष गोविन्द विदग्ध-वेणुवादन-निरत है। उनका दिव्य रूप त्रिभुवन-मोहन है। कमलदल नेत्र, नवोदित घनश्याममेघवर्ण। सुरम्यागता कोटि-कोटि कदर्पदर्पदलन है। शरीर पर पीताम्बर, कण्ठ मे वैजयन्ती माला, केशराजि मे मोरमुकुट शोभित है।

जीवन भर जिस भी चेतना का विकास किया जाता है, अन्त में जीव को वही देह मिलती है (१५.८–९)
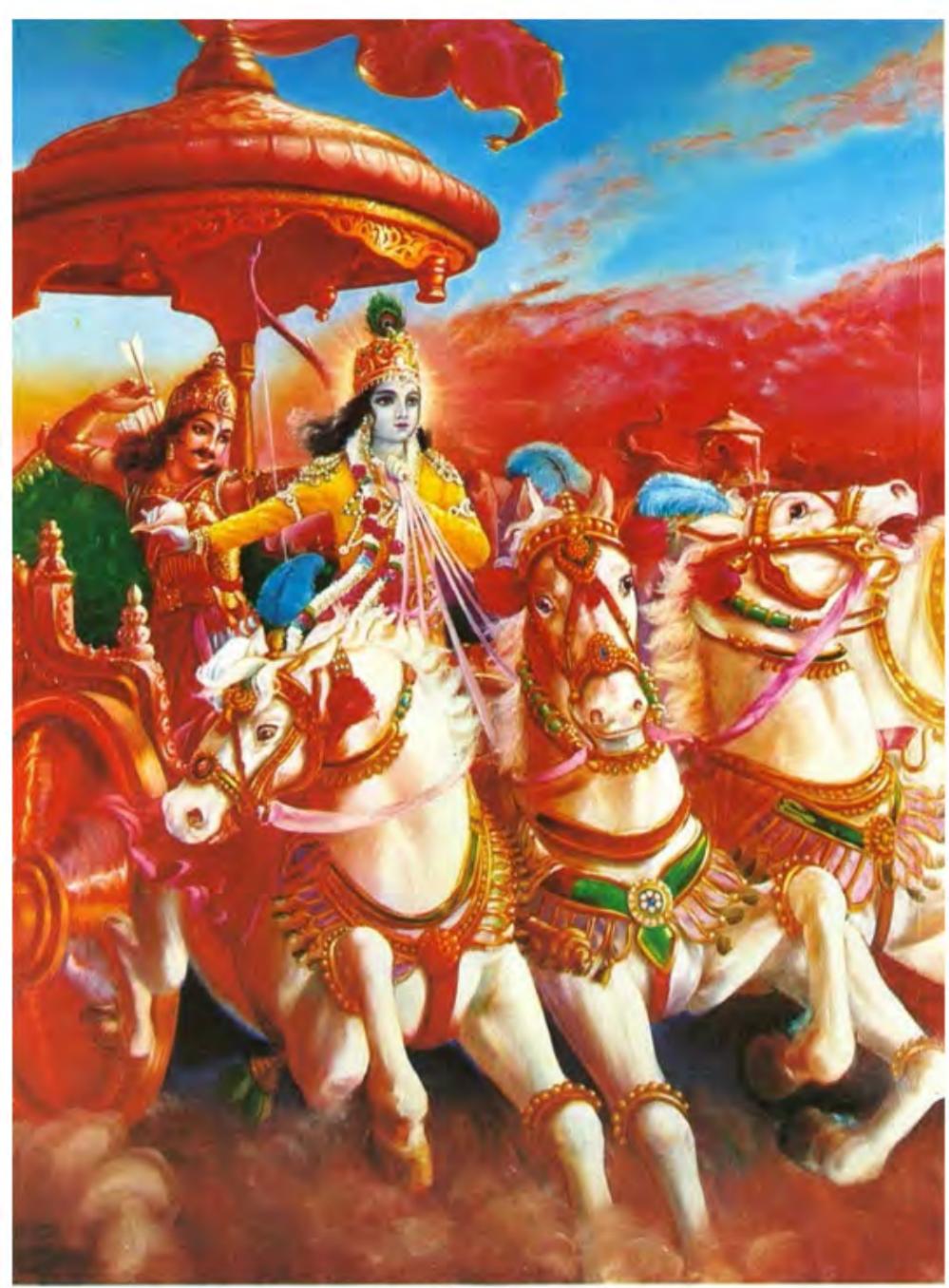
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र को वर्णाश्रमधर्म के आचरण से कृष्णप्राप्ति—"जिस परमेश्वर से सब प्राणियों का जन्म हुआ है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उसे अपने स्वाभाविक कर्म से पूजकर सब मनुष्य ससिद्धि को प्राप्त होते है।" (१८ ४१–४६)

नित्य-निरन्तर मुझ श्यामसुन्दर में मन वाला हो और मेरा भक्त हो; मेरा पूजन कर और मुझ को ही प्रणाम कर। इस प्रकार तू मुझ को ही प्राप्त होगा; यह मैं तुझ से सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है (१८.६५).

"मब धर्मो को त्यागकर एकमात्र मेरी शरण मे आ जा। मै तेरा सब पापो से उद्धार कर दूँगा। तू शोक मत कर।" श्रीकृष्ण की इस मधुर छवि पर मुग्ध हो जाय। उनका नाम 'कृष्ण' है, क्योकि वे सबका आकर्पण करने वाले है। जो श्रीकृष्ण के मधुर रूप की ओर आकृष्ट हो जाता है वह वढभागी है। सब योगियो मे जो श्रीकृष्ण के साकार श्याम रूप की ओर आकृष्ट हो, वह सर्वश्रेष्ठ है (१८ ६६)

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है, वहीं शाश्वत् राजलक्ष्मी, [illegible] ऐश्वर्य, विजय, विलक्षण शक्ति और नीति है (१८.७८).

अन्तर्दर्शन

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।
श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्।।

मेरा जन्म अज्ञान रूपी अन्धकार में हुआ था, परन्तु करुणानिधान गुरुदेव ने ज्ञान-प्रकाश द्वारा मेरे नेत्रों को खोल दिया। मैं उनकी सादर वन्दना करता हूँ।

श्रीचैतन्य महाप्रभु की आकाँक्षा-पूर्ति के लिए जिन्होंने संसार में हरे कृष्ण आन्दोलन को स्थापित किया है, वे श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद अपने चरणारविन्द का आश्रय मुझे कब प्रदान करेंगे?

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च।
श्रीरूपं साग्रजातं सहगणरघुनाथान्वितं तं सजीवम्।।

साद्वैतं सावधूतं परिजनसहितं कृष्णचैतन्यदेवं।
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगणललिताश्रीविशाखान्वितांश्च।।

मैं अपने गुरुदेव तथा सम्पूर्ण वैष्णववृन्द के पादपद्मों की आदरसहित वन्दना करता हूँ। श्रील रूप गोस्वामी, उनके अग्रज सनातन गोस्वामी, और रघुनाथ दास, रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट तथा जीव गोस्वामी की भी सादर वन्दना करता हूँ; सविनय श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु तथा अद्वैतआचार्य, गदाधर, श्रीवासादि पार्षदों की वन्दना करता हूँ और अंत में श्रीललिता, श्रीविशाखा आदि सखियों के सहित श्री श्रीराधाकृष्ण की वन्दना करता हूँ।

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते।।

हे कृष्ण! हे करुणासिन्धु! हे दीनवन्धु! हे जगत्पति! हे गोपेश! हे गोपिका-कान्त! हे राधाकान्त! मैं आपको सादर प्रणाम करता हूँ।

तप्तकाञ्चन गौरांगी राधे वृन्दावनेश्वरी।
वृषभानुसुते देवी प्रणमामि हरिप्रिये।।

तप्तकाञ्चन सुवर्णा वृन्दावनेश्वरी, वृषभानुनन्दिनी, कृष्णप्रिया श्रीमती राधारानी को सादर प्रणाम करता हूँ।

वाञ्छा कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः।।

श्रीभगवान् के वैष्णव भक्तों की वन्दना करता हूँ, जो सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने में कल्पतरु के समान समर्थ हैं तथा पतित जीवों के लिए अहैतुकी कृपा से ओतप्रोत हैं।

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द।
श्री अद्वैत गदाधर श्रीवासादि गौर भक्तवृन्द।।

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु, प्रभु नित्यानन्द, श्रीअद्वैत, गदाधर, श्रीवास तथा अन्य सभी भक्तों की मैं सादर वन्दना करता हूँ।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।

श्रीमद्भगवद्गीता को गीतोपनिषद् भी कहा जाता है। यह सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की सर्वप्रधान उपनिषद् है. वस्तुतः वैदिक ज्ञान का सार-सर्वस्व ही है। गीता पर अनेक भाष्य उपलब्ध हैं। अतएव पाठक के हृदय में इस नवीन संस्करण के प्रयोजन-विषयक जिज्ञासा का उदय होना स्वाभाविक होगा। इस वर्तमान संस्करण का अभिप्राय इस प्रकार समझाया जा सकता है। कुछ दिन हुए एक सज्जन ने मुझ से आग्रह किया कि मैं भगवद्गीता के किसी अनुवाद का परामर्श दूँ। निस्सन्देह भगवद्गीता के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं; पर जहाँ तक मेरा अनुभव है, उनमें से किसी को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रायः किसी भी भाष्यकार ने भगवद्गीता की आत्मा को यथार्थ रूप में (यथारूप) प्रस्तुत नहीं किया है; वरन् सबने उस पर अपना निजी मत आरोपित किया है।

भगवद्गीता की आत्मा का निरूपण भगवद्गीता में ही है। वह इस प्रकार है: किसी विशेष औषधी का सेवन उस पर लिखित आदेश के अनुसार ही किया जाता है। हम स्वेच्छा से अथवा मित्र के परामर्श पर उसे नहीं ले सकते। उस पर लिखी विधि अथवा चिकित्सक के निर्देशानुसार ही औषधी का सेवन करना होगा। इसी भाँति, भगवद्गीता को उसी प्रकार ग्रहण करना है, जैसा कि स्वयं गीतागायक ने उसका प्रवचन किया है। भगवद्गीता के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उन्हें भगवद्गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर **भगवान्** कहा गया है। निस्संदेह 'भगवान्' शब्द कभी-कभी शक्तिशाली महापुरुष अथवा देवता के लिए भी प्रयुक्त होता है। गीता में 'भगवान्' शब्द श्रीकृष्ण को महापुरुष तो घोषित करता ही है; परन्तु साथ में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् (आदिपुरुष) हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्वार्क स्वामी, श्री चैतन्य महाप्रभु तथा वैदिक ज्ञान के अन्य सभी आचार्यों ने इस सत्य को प्रमाणित किया है। श्रीकृष्ण ने भी गीता में अपने को परात्पर परमेश्वर, परब्रह्म भगवान् घोषित किया है। ब्रह्मसंहिता तथा सभी पुराणों ने, विशेषतः श्रीमद्भागवत ने उनकी परात्परता को एक स्वर से स्वीकार किया है—**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**। अतएव हम भगवद्गीता को उसी रूप में ग्रहण करें, जिस रूप में श्रीभगवान् ने उसे कहा है।

गीता के चौथे अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत।।
एवं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।

श्रीभगवान् अर्जुन को सूचित करते हैं कि इस योगपद्धति अर्थात् भगवद्गीता का प्रवचन उन्होंने सर्वप्रथम सूर्यदेव को किया। सूर्यदेव ने इसे मनु को सुनाया और

मनु ने इक्ष्वाकु को प्रदान किया। इस प्रकार शिष्यपरम्परा के अनुगामी आचार्यों के द्वारा यह 'योग' मानवसमाज में चला आता रहा। कालान्तर में, उस शिष्यपरम्परा के विशृंखलित हो जाने पर यह लुप्तप्राय हो गया। अतः श्रीभगवान् इसका पुनः प्रवचन कर रहे हैं और इस बार उनका श्रोता है, कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में स्थित हुआ अर्जुन।

श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि वे इस परम रहस्य को उसे इसीलिए सुना रहे हैं, क्योंकि वह उनका प्रिय भक्त एवं सखा है। तात्पर्य यह है कि भगवद्गीता रूपी दर्शन विशेष रूप से भगवद्भक्त के लिए कहा गया है। साधकों की ज्ञानी, योगी तथा भक्त —ये तीन कोटियाँ हैं। यहाँ श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा है कि गीता की पुरातन परम्परा विशृंखलित हो गयी है, अतएव वे उसे नूतन परम्परा का प्रथम श्रोता बना रहे हैं। इस प्रकार श्रीभगवान् ऐसी नवीन परम्परा को स्थापित करना चाहते हैं, जो सूर्यदेव से चली आ रही विचारधारा की अनुगामिनी हो। उनकी इच्छा है कि अर्जुन उनकी शिक्षा का पुनः प्रसार-प्रचार करे, अर्थात् भगवद्गीता-ज्ञान का अधिकृत आचार्य बन जाय। अस्तु, हम देखते हैं कि भगवद्गीता का उपदेश विशेष रूप से अर्जुन के लिए किया गया है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण का परम भक्त, आज्ञाकारी शिष्य तथा अन्तरंग सखा है। प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है कि वही मनुष्य गीता को उत्तम प्रकार से हृदयंगम कर सकता है, जो अर्जुन के समान गुणों से युक्त हो, अर्थात् भगवद्भक्त हो और जिसका श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध भी हो। भक्ति का उदय होते ही श्रीभगवान् से मनुष्य का सीधा सम्बन्ध अपने-आप स्थापित हो जाता है। यह अति विशद तत्त्व है, किन्तु संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भक्त और भगवान् में पाँच रसों में से किसी एक में सम्बन्ध रहता है। ये पाँच रस हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य।

अर्जुन और श्रीभगवान् में सखाभाव है। अवश्य ही, इस सख्यभाव और सांसारिक मित्रता में आकाश-पाताल का अन्तर है। यह एक ऐसी दिव्य मित्रता है, जिसकी प्राप्ति सब को नहीं हो सकती। यह सत्य है कि प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से एक विशिष्ट सम्बन्ध है, जो भक्ति की संसिद्धि होने पर जागृत हो जाता है। परन्तु साथ ही, यह भी सत्य है कि जीवन की वर्तमान अवस्था में श्रीभगवान् को ही नहीं, वरन् उनसे अपने नित्य सम्बन्ध को भी हमें विस्मृति हो गई है। कोटि-कोटि जीवों में से प्रत्येक जीव का श्रीभगवान् से नित्य विशिष्ट सम्बन्ध है। इसे 'स्वरूप' कहा जाता है। भक्तियोग के द्वारा इस स्वरूप को पुनः जागृत किया जा सकता है। यही अवस्था 'स्वरूपसिद्धि' कहलाती है। अस्तु, अर्जुन भक्त है और सख्यभाव में श्रीभगवान् से उसका नित्य सम्बन्ध भी है।

अर्जुन ने भगवद्गीता को किस प्रकार धारण किया, यह ध्यान देने योग्य है। इसका उल्लेख दसवें अध्याय में है:

अर्जुन उवाच।
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।

अर्जुन ने कहा, "प्रभो ! आप परमब्रह्म, परमधाम, पावन परम सत्य और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप ही चिन्मय आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं। नारद, असित, देवल, व्यास आदि सारे ऋषि आप का इसी प्रकार गुणगान करते हैं और अब आप स्वयं भी मेरे प्रति इस तत्त्व का वर्णन कर रहे हैं। हे कृष्ण! आपने जो कुछ भी कहा है, इसे मैं सम्पूर्ण रूप से सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके स्वरूप को न देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं। (गीता १०।१२-१४)

भगवान् श्रीकृष्ण से भगवद्गीता का श्रवण करके अर्जुन ने उन्हें **परमब्रह्म** स्वीकार किया है। जीव ब्रह्म है और श्रीभगवान् परमब्रह्म हैं। **परमधाम** का अर्थ है कि वे सम्पूर्ण जगत् के परम आश्रय हैं; **पवित्रम्ः** सांसारिक उपाधियों से मुक्त हैं; **पुरुषम्ः** सबके परम-भोक्ता हैं; **दिव्यम्ः** लोकोत्तर हैं; **आदिदेवम्ः** स्वयं भगवान् हैं; **अजम्ः** अजन्मा है; **विभुम्ः** सर्वव्यापी परात्पर हैं।

कोई कह सकता है कि अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यह सब चाटुकारी के रूप में कहा, क्योंकि वे उसके सखा थे। अतः भगवद्गीता के पाठकों के हृदय से इस संशय को निर्मूल करने के लिये अर्जुन ने इस स्तुति को प्रमाणित करते हुए अगले ही श्लोक में कह दिया कि केवल वह श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् मानता हो—ऐसा नहीं। अपितु, नारद, असित, देवल, व्यासदेव आदि सब प्रामाणिक ऋषियों का भी यही मन्तव्य है। इन महापुरुषों का मत सर्वमान्य है, क्योंकि ये उस वैदिक ज्ञान को प्रसारित करते हैं, जो सब आचार्यों द्वारा सम्मत है। इस आधार पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह उसे पूर्ण रूप से सत्य मानता है। **सर्वमेतदृतं मन्येः** 'आप जो कुछ भी कहते हैं, मैं उसे सत्य मानता हूँ।' अर्जुन ने यह भी कहा कि श्रीभगवान् का स्वरूप परम दुर्बोध है, बड़े से बड़ा देवता तक उन्हें जानने में समर्थ नहीं है। जब मनुष्य से श्रेष्ठ प्राणी तक उन्हें नहीं जान सकते, फिर वह मनुष्य श्रीकृष्ण को किस प्रकार जान सकेगा, जो उनका भक्त न हो?

भाव यह है कि भगवद्गीता को भक्तिभाव से ही ग्रहण करना है। श्रीकृष्ण को अपने समान अथवा साधारण मनुष्य मानना तो दूर, केवल महापुरुष भी नहीं समझना चाहिए। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं—भगवद्गीता में आए श्रीभगवान् के वचनों से तथा गीता के जिज्ञासु अर्जुन के वचनों से यह सत्य कम-से-कम सिद्धान्त रूप में तो सिद्ध होता ही है। अतएव हम भी श्रीकृष्ण को सिद्धान्त रूप में तो भगवान् स्वीकार कर ही लें। इस दैन्यभाव से हमें भगवद्गीता का बोध हो जायगा। इसके बिना भगवद्गीता का अध्ययन करने पर भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यह परम रहस्यमय (मर्म/का विषय) है।

भगवद्गीता वस्तुतः क्या है ? अज्ञानरूप भव-सागर से सम्पूर्ण मानवता का उद्धार करना ही भगवद्गीता का प्रयोजन है। सब मनुष्य नाना प्रकार से कष्ट भोग रहे हैं। अर्जुन भी कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में मनोव्यथा को प्राप्त हो रहा था। किन्तु वह श्रीकृष्ण के शरणागत हो गया, जिससे इस भगवद्गीता शास्त्र का प्रवचन हुआ। अर्जुन की भाँति हम सब भी इस भव-सागर में सदा उद्विग्नता से पूर्ण रहते हैं। यहाँ तो हमारी सत्ता ही असत् परिस्थिति में उपाधिबद्ध हो गई है। वास्तव में हमारा अस्तित्व नित्य है। किन्तु जिस किसी कारणवश हमें 'असत्' में डाल दिया गया है। जो वस्तुतः नहीं है, उसे ही 'असत्' कहते हैं।

इस प्रकार दुःख भोगते हुए कोटि-कोटि मनुष्यों में कुछ इने-गिने विवेकी ही यह जिज्ञासा करते हैं कि हम कौन हैं? किस कारण से हम इस प्रकार दुःख भोग रहे हैं? इत्यादि। जब तक दुःख के कारण की जिज्ञासा नहीं होती, जब तक यह अनुभूति नहीं होती कि वास्तव में वह (जीव) दुःख भोगना कभी नहीं चाहता, अपितु सम्पूर्ण दुःखों से सदा के लिये मुक्ति ही चाहता है, तब तक तो उसे यथार्थ में मनुष्य ही नहीं कहा जा सकता। चित्त में यह जिज्ञासा उठने पर मानवजीवन का प्रारम्भ होता है। 'ब्रह्मसूत्र' में इसे 'ब्रह्मजिज्ञासा' कहा है। जब तक मनुष्य भगवत्-तत्त्व की जिज्ञासा नहीं करता, तब तक उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ व्यर्थ हैं। अतः जिनके हृदय में इस जिज्ञासा का उद्भाव हो चुका है कि हम दुःख किस कारण से भोगते हैं? हम कहाँ से आये हैं और मृत्यु के बाद कहाँ जायेंगे?—वे ही भगवद्गीता की शिक्षा के यथार्थ अधिकारी हैं। यथार्थ शिष्य में श्रीभगवान् के प्रति सुदृढ़ आदरभाव का होना आवश्यक है। अर्जुन ठीक इसी कोटि का शिष्य है।

जब-जब मनुष्य को जीवन के यथार्थ लक्ष्य की विस्मृति हो जाती है, तो भगवान् श्रीकृष्ण उसकी स्थापना के लिए विशेष रूप से अवतार ग्रहण करते हैं। इस प्रकार जागृत हुए अनेक-अनेक मनुष्यों में से भी कोई एक ही स्वरूपज्ञान के रहस्य में यथार्थ रूप में प्रवेश कर पाता है। उसी के लिए इस भगवद्गीता का गान किया गया है, क्योंकि वही गीता-ज्ञान का यथार्थ अधिकारी है। अज्ञान-रूपी सिंह वस्तुतः हम सभी के पीछे लगा हुआ है। किन्तु श्रीभगवान् जीवों पर, विशेषतः मनुष्यों पर बड़े कृपामय हैं। इसी कृपा से प्रेरित हुए उन पुरुषोत्तम ने सखा अर्जुन को अपना शिष्य बनाकर भगवद्गीता का गान किया है।

श्रीकृष्ण का नित्य सहचर होने के कारण अर्जुन अज्ञान से पूर्ण रूप में मुक्त था। परन्तु कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में वह उनसे अज्ञानी की भाँति जीवन के दुःखों के विषय में प्रश्न करने लगा, जिससे श्रीकृष्ण आगे होने वाले मनुष्यों के लाभ के लिए उनका समाधान करें तथा यथार्थ जीवन का दिग्दर्शन करायें। श्रीभगवान् के आज्ञानुसार कर्म करने से ही मानवजीवन कृतार्थ हो सकता है।

श्रीभगवद्गीता-ज्ञान में पाँच मूल तत्त्वों का समावेश है। सर्वप्रथम भगवत्-तत्त्व का और दूसरे जीवों के स्वरूप का प्रतिपादन है। ईश्वर सब का नियंता है, जबकि

जीव उसके द्वारा नियन्त्रित हैं। पराधीन होते हुए भी जो जीव अपने को स्वतन्त्र कहता है, वह अवश्य उन्मत्त है। कम से कम वृद्धावस्था में तो जीव प्रत्यक्ष रूप से सर्वथा परतन्त्र ही है। अतएव भगवद्गीता में दोनों, ईश्वर-तत्त्व का और जीव-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। साथ में, प्रकृति, काल और कर्म का भी इसमें विवेचन है। ब्रह्माण्डीय सृष्टि नाना प्रकार की क्रियाओं से परिपूर्ण है। जीव भाँतिभाँति के कर्म कर रहे हैं। भगवद्गीता से हमें जानना है कि ईश्वर-तत्त्व क्या है ? जीव-तत्त्व क्या है ? प्रकृति क्या है ? ब्रह्माण्डीय सृष्टि क्या है और किस प्रकार काल द्वारा नियन्त्रित है ? तथा जीवों के कर्मों का स्वरूप क्या है ?

भगवद्गीता में स्थापित किया गया है कि पाँच प्रतिपाद्य तत्त्वों में भगवान् श्रीकृष्ण अथवा परमब्रह्म अथवा परमेश्वर अथवा परमात्मा सर्वप्रधान हैं। यह सत्य है कि परमेश्वर और जीव समान चिद्गुणों वाले हैं। उदाहरणार्थ जैसा गीता के अनुवर्ती अध्यायों में कहा गया है, श्रीभगवान् संसार, प्रकृति आदि के नियन्ता हैं। प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है; वह श्रीभगवान् के नियन्त्रण में क्रिया करती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है, 'प्रकृति मेरी ही अध्यक्षता में कार्य करती है।' अपरा प्रकृति में अद्भुत घटनाओं को घटित होते देखकर हमें यह समझ लेना चाहिए कि इस सब के पीछे एक ईश्वर (नियन्ता) अवश्य है। कोई भी वस्तु बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं हो सकती। अतः नियन्ता को भुला देना बालोचित प्रमाद ही होगा। किसी पशु-बल के बिना चलने वाला स्वचालित यन्त्र एक शिशु के लिये विस्मयकारी हो सकता है, पर बुद्धिमान् उसकी संरचना को जानता है कि वाहन के पीछे एक मनुष्य चालक का हाथ है। इसी प्रकार श्रीभगवान् एक ऐसे चालक हैं जिनके निर्देश में सब कार्य कर रहे हैं। गीता में श्रीभगवान् ने जीव को अपना अंश कहा है। स्वर्ण का एक कण भी स्वर्ण ही है और सागर का एक बूंद जल भी खारा होता है। इस न्याय के अनुसार, परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हम जीवों में भी उनके समान गुण हैं, किन्तु हममें इन गुणों का अति अल्प अंश ही विद्यमान है, क्योंकि हम लघु ईश्वर हैं। हम प्रकृति पर प्रभुत्व के लिए प्रयत्नशील हैं, जैसे वर्तमान में अन्तरिक्ष तथा ग्रहों पर आधिपत्य करने का प्रयास चल रहा है। यह प्रवृत्ति मूल रूप से श्रीकृष्ण में है और इसीलिए हममें भी है। माया पर प्रभुत्व करने की इस प्रवृत्ति के होते हुए भी हम यह जान लें कि हम परमेश्वर नहीं हैं। भगवद्गीता यही सिखाती है।

भौतिक प्रकृति क्या है ? भगवद्गीता में इसे 'अपरा' प्रकृति कहा गया है। जीवतत्त्व 'परा प्रकृति' है। प्रकृति परा हो अथवा अपरा, वह नित्य परमेश्वर के आधीन है। 'प्रकृति' स्त्रीलिंग है तथा श्रीभगवान् के द्वारा उसी भाँति नियन्त्रित है, जैसे पत्नी की क्रियाओं का पति नियन्ता होता है। प्रकृति नित्य श्रीभगवान् के आधीन रहती है, जो उसके अध्यक्ष हैं। इस प्रकार परा (जीव) तथा अपरा दानों ही प्रकृतियाँ श्रीभगवान् के आधीन हैं। गीता के अनुसार श्रीभगवान् के भिन्न-अंश होते हुए भी जीव 'प्रकृति' की कोटि में आते हैं। सातवें अध्याय के श्लोक पाँच में स्पष्ट उल्लेख

है—अपरेयमितस्त्वन्यां—'यह मेरी अपरा प्रकृति है।' **प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।** 'इससे परे मेरी एक अन्य जीवरूपा प्रकृति भी है।'

प्रकृति 'सत्त्व, रज और तम'—इन तीन गुणों से रचित है। इन त्रिविध गुणों से परे शाश्वत् कालतत्त्व है, जिसके नियन्त्रण और अध्यक्षता में गुणों के संघटन से कर्म की अभिव्यक्ति होती है। कर्म अनादिकाल से किया जा रहा है और हम सभी अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोग रहे हैं। उदाहरणार्थ जो मनुष्य अथक परिश्रम और बुद्धिमत्ता से धन-संचय कर लेता है, वह सुख भोगता है, जबकि सम्पूर्ण धन खो बैठने वाला दुःख उठाता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम इसी भाँति अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं। इस का नाम 'कर्मतत्त्व' है।

ईश्वर, जीव, प्रकृति, शाश्वत् काल तथा कर्म—इन सब तत्त्वों का गीता में विशद विवेचन हुआ है। इनमें से ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल नित्य हैं। प्रकृति की अभिव्यक्ति अस्थायी हो सकती है, परन्तु वह मिथ्या नहीं है। कतिपय दार्शनिकों का कथन है कि प्रकृति की अभिव्यक्ति मिथ्या है; पर भगवद्गीता का अथवा वैष्णवों का दर्शन ऐसा नहीं मानता। संसार की अभिव्यक्ति को मिथ्या नहीं माना जाता। वह सत्य अवश्य है, किन्तु साथ ही अस्थायी भी। इसकी तुलना आकाशगामी मेघ अथवा अन्न-पोषिका वर्षा ऋतु से की जाती है। जैसे ही वर्षा ऋतु व्यतीत हो जाती है अथवा मेघ चले जाते हैं, वर्षा से पोषित हुआ धान्य पुनः सूख जाता है। इसी प्रकार यह प्राकृत सृष्टि यथासमय प्रकट होती है, कुछ काल तक विद्यमान रहती है और समय होने पर पुनः विलुप्त हो जाती है। प्रकृति का कार्य ऐसा ही है। परन्तु यह चक्र नित्य भ्रमायमान् है। अतः प्रकृति को नित्य कहा है, मिथ्या नहीं। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है, "यह मेरी प्रकृति है।" यह अपरा प्रकृति श्रीभगवान् की भिन्ना शक्ति है। जीव भी श्रीभगवान् की शक्ति हैं; किन्तु वे अलग नहीं हैं, श्रीभगवान् से उनका नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार परमेश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल—इन सब नित्य तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध है। पाँचवाँ तत्त्व—कर्म नित्य नहीं है। कर्मफल वस्तुतः अति पुरातन हो सकता है। हम अनादि काल से अपने शुभ-अशुभ कर्मफलों को भोग रहे हैं, पर हममें उस को बदलने की सामर्थ्य भी है। यह हमारे ज्ञान की पूर्णता पर निर्भर करता है। हम विविध कर्म कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन सम्पूर्ण क्रियाओं के शुभ-अशुभ फल से मुक्ति के लिए किस प्रकार की क्रिया करनी है, इसका ज्ञान हमें नहीं है। 'भगवद्गीता' में इसका भी वर्णन है।

परमेश्वर परम चेतन हैं और उनके भिन्न-अंश होने के कारण जीव भी चेतन है। यद्यपि जीव और माया दोनों को प्रकृति (भगवत्-शक्ति) कहा गया है, पर इनमें से केवल जीव चेतन है, अपरा प्रकृति चेतन नहीं। दोनों में यही भेद है। अतएव 'जीव प्रकृति' को 'परा' कहा जाता है। कहने का भाव यह है कि जीव श्रीभगवान् के सदृश चेतन है। ऐसा होने पर भी श्रीभगवान् परम चेतन हैं, जबकि जीव के लिए ऐसा

नहीं कहा जा सकता। मुक्ति (संसिद्धि) की किसी भी अवस्था में जीव परम-चेतन नहीं हो सकता। ऐसा कहने वाला मत निस्सन्देह भ्रान्त है। जीव चेतन तो है, किन्तु पूर्ण अथवा परम चेतन नहीं।

जीव और ईश्वर में भेद का विवेचन भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में किया गया है। श्रीभगवान् तथा जीव दोनों ही 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् चेतन हैं। दोनों में भेद यह है कि जीव व्यष्टि-चेतन हैं और श्रीभगवान् समष्टि-चेतन हैं। प्रकारान्तर से, जीव की चेतना एक देह तक सीमित है, जबकि श्रीभगवान् की चेतना सर्वव्यापी है। जीवमात्र के हृदय में बैठे होने से उन्हें जीवों की मानसिक वृत्ति का पूर्ण ज्ञान रहता है, इस तथ्य को स्मरण रखना चाहिए। यह भी कहा गया है कि जीव के हृदय में ईश्वर-रूप से स्थित परमात्मा स्वेच्छानुरूप कर्म करने के लिए जीव को निर्देश देते हैं। मायाबद्ध जीव को तो अपने कार्य कर्म की भी विस्मृति हो जाती है। पहले वह कुछ कर्म करने का निश्चय करता है और फिर अपने ही कर्म और कर्मफल में बँध जाता है। एक प्रकार का शरीर त्याग कर वह अन्य देह में प्रविष्ट होता है, उसी भाँति जैसे जीर्ण वस्त्रों को उतार कर नूतन परिधान धारण किया जाता है। इस विधि से देहान्तर करता हुआ जीवात्मा अपने पिछले कर्मफल को भोगता है। इन कर्मों का स्वरूप तभी बदला जा सकता है, जब वह सत्त्वगुण में स्थित होकर स्वस्थ चित्त से अपने लिए उपयुक्त कर्म का निश्चय कर ले। यदि वह ऐसा करे तो उसके विगत सम्पूर्ण कर्मों का फल बदला जा सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्मफल शाश्वत् (नित्य) नहीं है। इसीलिए हम कह आए हैं कि ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा काल नित्य तत्त्व हैं, जबकि कर्म नित्य नहीं है।

परम चेतन ईश्वर और जीव की समानता को इस प्रकार समझा जा सकता है। दोनों की चेतना दिव्य है। ऐसा नहीं कि चेतना का उद्भव जड़ प्रकृति के संग से होता है। यह विचार सर्वथा भ्रान्तिमूलक है। भगवद्गीता इस मत को स्वीकार नहीं करती कि प्राकृतिक रसायनों के सम्मिश्रण की किसी विशिष्ट परिस्थिति में चेतना का उदय हुआ हो। किसी रंग के कांच में से प्रतिबिम्बित प्रकाश उसी वर्ण का प्रतीत होता है। माया आवरण के कारण जीव की चेतना तो इस प्रकार विकृत रूप से प्रतिबिम्बित हो सकती है, किन्तु श्रीभगवान् की चेतना माया से नहीं ढक सकती। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं **मयाध्यक्षेण प्रकृतिः**। उनके संसार में अवतरित होने पर भी उनकी चेतना माया से अतीत रहती है। यदि ऐसा नहीं होता तो वे दिव्य-तत्त्व का प्रवचन नहीं कर सकते, जैसे उन्होंने भगवद्गीता में किया है। वैकुण्ठ-जगत् का वर्णन वही कर सकता है, जिसकी चेतना माया-विकारों से मुक्त हो। अतः यह सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् माया-दोष से नित्य मुक्त हैं। इसके विपरीत, वर्तमान में हमारी चेतना माया आवरण से दूषित है। भगवद्गीता सिखाती है कि इसे शुद्ध करना है। जब यह चेतना शुद्ध हो जायेगी तो हमारे कर्म श्रीभगवान् की इच्छापूर्ति में ही तत्पर रहेंगे, जिसके परिणाम में हमें शाश्वत् सुख की प्राप्ति होगी।

यह नहीं कि सर्वथा निष्क्रिय हो जाना है। अपितु अपनी क्रियाओं का शुद्धिकरण करना होगा; शुद्ध क्रियाओं को ही 'भक्ति' कहते हैं। भक्तिमय कर्म साधारण क्रियाओं के समान प्रतीत हो सकते हैं, पर वास्तव में वे माया-दूषित नहीं होते। यह न जानने वाले अज्ञानी को भक्त और भगवान् भले ही साधारण मनुष्य के समान कर्म करते प्रतीत हों, परन्तु यह नितान्त सत्य है कि भक्तिमय कर्म माया के त्रिगुणों से बिल्कुल मुक्त एवं शुद्ध होते हैं। इससे हमें यह समझ लेने चाहिए कि वर्तमान अवस्था में हमारी चेतना माया-आवरण से दूषित है।

माया से दूषित अवस्था में ही जीव बद्ध (उपाधिग्रस्त) कहा जाता है। 'मैं प्रकृतिजन्य हूँ'—इस प्रकार का भ्रम विकृत मति से उत्पन्न होता है। यही मिथ्या अहंकार कहलाता है। जिसकी देह में आत्मबुद्धि है, वह अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ सकता। जीव को देहात्मबुद्धि से मुक्त करने के लिये भगवद्गीता का गान किया गया है। भगवान् से इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए अर्जुन ने भी वह स्थिति ग्रहण की है। देहात्मबुद्धि से अवश्य मुक्त हो जाय, यह योगी का प्रथम कर्तव्य है। जो मुक्त होना चाहता है, उसे सबसे पहले यह सीखना है कि वह इस प्राकृत देह से भिन्न है। 'मुक्ति' का अर्थ है मोह से स्वतन्त्रता। श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि इस प्राकृत-जगत् की मलिन-मति (मोह) से मुक्त होकर शुद्ध चेतन स्वरूप में फिर से स्थित हो जाना 'मुक्ति' है। भगवद्गीता के सम्पूर्ण उपदेश का उद्देश्य इसी शुद्ध चेतन स्वरूप को जागृत करना है। इसी कारण गीता के उपदेश को समाप्त करके श्रीकृष्ण अर्जुन से प्रश्न करते हैं कि उसकी चेतना मोह से मुक्त होकर शुद्ध हो गई अथवा नहीं? मोहरहित शुद्ध चेतना का अर्थ है श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन करना। यही शुद्ध चेतना का सार है। श्रीभगवान् के भिन्न-अंश होने से हम में चेतना तो पहले से ही है, किन्तु माया के त्रिविध गुणों के सम्पर्क में रहने से हम बँध जाते हैं। परमपुरुष श्रीभगवान् इस प्रकार कभी नहीं बँधते। परमेश्वर और बद्धजीव में यही अन्तर है।

यह चेतना क्या है ? इस चेतना का स्वरूप है, 'मैं हूँ। मोहावस्था में 'मैं हूँ' का अर्थ है कि मैं माया का प्रभु हूँ, भोक्ता हूँ। प्रत्येक जीव अपने को प्राकृत-संसार का प्रभु तथा स्रष्टा समझता है; वास्तव में यह जगत् का चक्र इसी कारण से चल रहा है। मोह के दो मनोवैज्ञानिक विभेद हैं, एक यह कि मैं स्रष्टा हूँ और दूसरा यह कि मैं भोक्ता हूँ। यथार्थ में श्रीभगवान् ही स्रष्टा और भोक्ता हैं, उनका भिन्न-अंश जीव स्रष्टा अथवा भोक्ता न होकर सहयोगी-मात्र है। वह वस्तुतः श्रीभगवान् द्वारा रचित है और उन्हीं के द्वारा भोगा जाता है। उदाहरणार्थ, संयन्त्र का अंग-प्रत्यंग सम्पूर्ण उपकरण के साथ सहयोग करता है। इसी प्रकार हाथ, पैर, नेत्र आदि शरीर के अंग स्वयं भोक्ता नहीं हैं। भोक्ता तो एकमात्र उदर ही है। पैर चलते हैं, हाथ भोजन कराते हैं, दाँत चर्वण करते हैं तथा शरीर के अन्य अंग भी उदर-पूर्ति में तत्पर रहते हैं, क्योंकि उदर से सम्पूर्ण शारीरिक संरचना का परिपोषण होता है। इस कारण उदर को

ही सम्पूर्ण भोजन प्राप्त होता है। जड़ को सींचने से सम्पूर्ण वृक्ष का और उदर-पूर्ति से सम्पूर्ण शरीर का पोषण हो जाता है। यदि शरीर को स्वस्थ रखना है तो शरीर के सब अंग-प्रत्यंगों को उदर-पूर्ति करने में सहयोग करना होगा। इसी भाँति श्रीभगवान् स्रष्टा और भोक्ता हैं, अतएव उनके आश्रित हम सभी जीवों से अपेक्षित है कि हम उनके सन्तोष के लिए सहयोग करें। यदि हम ऐसा करें तो वस्तुतः हमें ही लाभ होगा, जैसे उदर में पहुँचे आहार से शरीर के अन्य सभी अंगों का पोषण होता है। हाथ की अंगुलियाँ स्वयं भोजन नहीं कर सकतीं। सृजन और भोक्तापन के केन्द्र परमेश्वर श्रीकृष्ण हैं, जीव तो उनके सहयोगी मात्र हैं। वे सहयोग से भोगते हैं। परमेश्वर और जीव का पारस्परिक सम्बन्ध स्वामी-सेवक जैसा है। स्वामी के पूर्ण सन्तुष्ट हो जाने से सेवक का सन्तोष अपने-आप हो जाता है। इसी प्रकार यद्यपि संसार को प्रकट करने वाले श्रीभगवान् की भाँति जीव भी प्राकृत-जगत् का स्रष्टा और भोक्ता बनना चाहता है, परन्तु श्रीभगवान् को प्रसन्न करने में ही उसका यथार्थ कल्याण सन्निहित है।

इस भगवद्गीता शास्त्र से हमें यह ज्ञात होता है कि पूर्ण तत्त्व में परमेश्वर, जीव, प्रकृति, महाकाल तथा कर्म का समावेश है। ग्रन्थ में इन सभी तत्त्वों का विवेचन है। इन सब तत्त्वों के पूर्ण समावेश से पूर्ण तत्त्व बना है, जो परम सत्य परब्रह्म है। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण परतत्त्व अथवा परम सत्य हैं। सम्पूर्ण सृष्टि उन्हीं की विविध शक्तियों का कार्य है। अस्तु, वे ही पूर्ण परतत्त्व (परब्रह्म) हैं।

गीता में निर्विशेष ब्रह्म को भी पूर्ण परतत्त्व श्रीकृष्ण के आश्रित बताया गया है। 'ब्रह्मसूत्र' में ब्रह्मतत्त्व का अधिक स्पष्ट विवरण है। वहाँ इसे सूर्य से निस्सृत किरणराशि की उपमा दी गई है। निर्विशेष ब्रह्म श्रीभगवान् की देदीप्यमान ज्योति है। बारहवें अध्याय में उल्लेख है कि निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा के ज्ञान से परम सत्य की केवल अपूर्ण अनुभूति होती है। वहाँ यह भी उल्लेख है कि भगवान् पुरुषोत्तम, निर्विशेष ब्रह्म और परमात्मा रूपी आंशिक तत्त्वानुभूति, इन दोनों से अतीत हैं। इसी से उन्हें सच्चिदानन्द-विग्रह कहा जाता है। 'ब्रह्मसंहिता' का प्रारम्भ इस प्रकार है, **ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण-कारणम्।।** श्रीकृष्ण सब कारणों के परम कारण आदिपुरुष हैं। उनका श्रीविग्रह मूर्तिमान् सच्चिदानन्दघन है। निर्विशेष ब्रह्म-प्राप्ति से उनके 'सत्' अंश की अनुभूति होती है और परमात्मा स्वरूप के ज्ञान से 'चित्' अंश (शक्ति) की ही अनुभूति होती है। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो जाने पर तो सच्चिदानन्द के सम्पूर्ण विग्रह का साक्षात्कार हो जाता है।

अल्पज्ञ मनुष्य परम सत्य को निराकार-निर्विशेष मानते हैं, जबकि यथार्थ में वे दिव्य पुरुष हैं, जैसा सम्पूर्ण वेदों से प्रमाणित है— **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतना-नाम्।** जिस प्रकार हम सब जीवों का निजी शाश्वत् स्वरूप है, उसी प्रकार परम सत्य भी अन्ततः एक पुरुष-विशेष ही हैं। अतएव भगवान् की प्राप्ति हो जाने पर

समस्त दिव्य तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। पूर्ण परात्पर तत्त्व निराकार नहीं है। यदि वे निराकार होते अथवा किसी अन्य तत्त्व से न्यून होते, तो उनकी पूर्ण परात्परता सिद्ध ही नहीं होती। पूर्ण परतत्त्व में उन सभी तत्त्वों का समावेश होना आवश्यक है, जो हमारे अनुभव में आते हों अथवा जो हमारे अनुभव से अतीत ही क्यों न हों। अन्यथा उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इससे सिद्ध है कि पूर्ण परतत्त्व श्रीभगवान् अमित शक्तियों से युक्त हैं।

श्रीकृष्ण विविध शक्तियों के साथ किस प्रकार क्रियाशील हैं, भगवद्गीता में इसका भी वर्णन है। जिसमें हम बद्ध हैं, वह प्राकृत-जगत् भी अपने में पूर्ण है; क्योंकि सांख्य के अनुसार इसका सृजन चौबीस तत्त्वों से हुआ है। ये इस भाँति पूर्ण रूप से संगठित हैं कि इस जगत् के धारण-पोषण के लिए सम्पूर्ण आवश्यक पदार्थों का स्वयं निर्माण कर सकते हैं। अतः इसमें न तो कोई विजातीय तत्त्व क्रियाशील है और न ही कोई अभाव है। परम पूर्ण शक्ति के द्वारा निश्चित किया हुआ इस सृष्टि का एक नियत काल है, जिसके पूर्ण हो जाने पर पूर्ण तत्त्व की पूर्ण व्यवस्था से इस अनित्य सृष्टि का विनाश हो जाता है। जीवों को, जो अणु-अंश होते हुए भी अपने में पूर्ण हैं, पूर्ण तत्त्व की प्राप्ति के लिए पूर्ण सुविधा प्रदान की गई है; पूर्ण तत्त्व के ज्ञान की अपूर्णता के कारण ही विविध प्रकार की अपूर्णताओं की प्रतीति होती है। अस्तु, भगवद्गीता में वैदिक विद्या के पूर्ण ज्ञान का समावेश है।

वैदिक ज्ञान सर्वथा पूर्ण और अमोघ (दोषमुक्त) है। वैष्णव उसे ऐसा ही मानते हैं। उदाहरणार्थ, स्मृति का विधान है कि यदि पशु-विष्टा का स्पर्श कर लिया जाय तो आत्मशुद्धि के लिए स्नान करना आवश्यक है। गोमय भी पशु-विष्टा है। परन्तु वैदिक शास्त्रों में गोमय को शुद्धिकारक माना गया है। यद्यपि इसमें विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु वैदिक-विधान होने से यह मान्य है; इसे मानना वस्तुतः भूल न होगी। अब तो आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी सिद्ध हो चुका है कि गोमय में सारे कृमिनाशक गुण हैं। अतएव संशय-भ्रम से सर्वथा मुक्त होने के कारण वैदिक ज्ञान पूर्ण है। भगवद्गीता इसी वैदिक ज्ञान का सार-सर्वस्व है।

वैदिक ज्ञान अनुसंधान का विषय नहीं है। हमारा अनुसन्धानकार्य अपूर्ण (दोषयुक्त) है, क्योंकि जिन इन्द्रियों से हम अनुसन्धान करते हैं, वे स्वयं अपूर्ण तथा दोषयुक्त हैं। हमें पूर्ण ज्ञान को ग्रहण करना है, जो भगवद्गीता के अनुसार परम्परा से अवतरित होता है। यह परम्परा ही ज्ञान-प्राप्ति की यथार्थ स्रोत है, जो परमगुरु भगवान् से प्रारम्भ होकर अनुगामी आचार्यों के रूप में चली आ रही है। साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से गीतोपदेश सुनकर अर्जुन ने भी विरोध किये बिना उनके एक-एक वचन को स्वीकार किया है। भगवद्गीता के एक अंश को मानकर दूसरे को न मानने की स्वतन्त्रता किसी को भी प्राप्त नहीं है। हमें भगवद्गीता को मनमाने अर्थ लगाए बिना, उसके किसी भी अंश का बहिष्कार किये बिना, हठधर्मी के बिना यथारूप में ग्रहण करना है। गीता तो वास्तव में वैदिक ज्ञान का सर्वाधिक पूर्ण प्रतिपादन है। वैदिक ज्ञान

की प्राप्ति दिव्य स्रोतों से होती है। सर्वप्रथम स्वयं श्रीभगवान् ने इसका प्रवचन किया था। श्रीभगवान् की वाणी साधारण मनुष्यों के समान नहीं है। साधारण मनुष्य भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (शठता) और करणापाटव (इन्द्रियों की अपूर्णता)—इन चार विकारों से दूषित रहते हैं। जिसमें ये चार दोष हों, वह तत्त्वज्ञान को शुद्ध रूप में प्रदान नहीं कर सकता।

वैदिक ज्ञान का प्रसार इस कोटि के दोषपूर्ण जीवों के द्वारा नहीं किया जाता। इसका संचार सर्वप्रथम आदिजीव ब्रह्मा के हृदय में किया गया था। ब्रह्माजी ने भगवान् से प्राप्त हुए इसी ज्ञान को शुद्ध रूप में अपने पुत्रों और शिष्यों में प्रचारित किया। श्रीभगवान् पूर्ण हैं; वे मायावश नहीं हो सकते। अतएव बुद्धिमानी से यह जान लेना चाहिए कि वे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के एकमात्र स्वामी हैं और वे ही आदि स्रष्टा हैं, अर्थात् ब्रह्मा तक के जन्मदाता हैं। इसी से ग्यारहवें अध्याय में श्रीभगवान् को 'प्रपितामह' कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मा जी को 'पितामह' कहा जाता है और श्रीकृष्ण उनके पिता हैं। अतएव किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार न समझे; उन्हीं वस्तुओं को स्वीकार करे, जो जीवन धारण के लिये श्रीभगवान् द्वारा नियत हैं।

श्रीभगवान् के द्वारा हमारे लिये नियत की गई वस्तुओं का सदुपयोग हम किस विधि से करें, इसके अनेक दृष्टान्त दिये जाते हैं। भगवद्गीता में भी इसका वर्णन है। अर्जुन ने प्रारम्भ में यह निश्चय किया था कि वह कुरुक्षेत्र के युद्ध में नहीं लड़ेगा। यह उसका अपना निर्णय था। एक बार तो उसने श्रीकृष्ण से स्पष्ट कह ही दिया कि स्वजनों का वध करने से प्राप्त राज्य को भोगना उसके लिए सम्भव नहीं है। अर्जुन का यह निर्णय देहात्मबुद्धि पर आधारित था, क्योंकि वह समझ रहा था कि वह स्वयं देह है और भाई, भतीजे, साले, पितामह आदि देह के सम्बन्धी उसके बन्धु हैं। *शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही वह इस प्रकार विचार कर रहा* था। भगवद्गीता का प्रवचन इसी दृष्टिकोण को बदलने के लिए किया गया और अन्त में अर्जुन ने श्रीभगवान् के मार्गदर्शन में लड़ने का ही निश्चय किया। उसने कहा है, **करिष्ये वचनं तव**, 'मैं आपके वचनों का पालन करूँगा।'

मनुष्य इस संसार में शूकर के समान परिश्रम करने के लिए उत्पन्न नहीं हुआ है। यह परम आवश्यक है कि इस मनुष्य योनि की महत्ता को जानकर वह पशु के समान निकृष्ट आचरण करना छोड़ दे। सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों में यह निर्देश है और इसी उपदेश का सार भगवद्गीता में निभृत है। वैदिक शास्त्र मनुष्य के लिए हैं, पशुओं के लिए नहीं। पशु पशु का वध कर देने पर भी पाप का भागी नहीं होता। किन्तु यदि मनुष्य अपनी असंयमित रसना की तृप्ति के लिए किसी पशु की हत्या करे तो उसे प्राकृतिक नियम को तोड़ने का पाप अवश्य लगेगा। भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि प्रकृति के गुणों के अनुसार कर्म सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन प्रकार के होते हैं। आहार के भी सत्त्व, रज और तम—ये तीन भेद हैं। यह सब विशद रूप से वर्णन किया गया है, इसलिए यदि भगवद्गीता की शिक्षा का पर्याप्त

सदुपयोग किया जाय तो हमारा सम्पूर्ण जीवन शुद्ध हो जायगा और अन्त में उस परम् लक्ष्य की प्राप्ति हो जायगी, जो इस प्राकृत आकाश से परे है।

उस लक्ष्य को 'सनातन धाम' अथवा 'शाश्वत् परव्योम' कहा जाता है। हम देखते हैं कि प्राकृत-जगत् में सब कुछ अनित्य और क्षणभंगुर है। यह जन्म लेता है, बढ़ता है, कुछ समय तक विद्यमान रहता है, कुछ उपसृजन करता है, क्षय होता है और अन्त में लुप्त हो जाता है। इस संसार का यही नियम है, चाहे हम अपने शरीर का उदाहरण लें, चाहे फल का अथवा किसी अन्य पदार्थ का। किन्तु एक अन्य लोक की जानकारी भी हमें है, जो इस जगत् से परे है। वह लोक एक अन्य प्रकृति से बना है, जो 'सनातन' अर्थात् नित्य है। पन्द्रहवें अध्याय में जीव को सनातन कहा गया है, श्रीभगवान् तो सनातन हैं ही। श्रीभगवान् से हमारा नित्यसिद्ध अन्तरंग सम्बन्ध है तथा चिद्गुणों में हम सब एक हैं—वह धाम सनातन है, श्रीभगवान् सनातन हैं तथा जीव भी सनातन है। अतएव जीव में उसके सनातन धर्म को पुनः जागृत करना ही सम्पूर्ण भगवद्गीता का ऐकान्तिक लक्ष्य है। इस समय हम क्षणिक रूप से विविध प्रकार के कर्मों में संलग्न हैं; किन्तु क्षणभंगुर क्रियाओं को त्याग कर श्रीभगवान् द्वारा निर्दिष्ट क्रिया करने से इन सभी कर्मों का परिशोधन हो जायगा। वस्तुतः वही हमारा शुद्ध जीवन है।

श्रीभगवान्, उनका दिव्य धाम और जीव—ये सब सनातन हैं तथा सनातन धाम में श्रीभगवान् और जीव का संग मानव जीवन की परम सार्थकता है। श्रीभगवान् अपने जीव-पुत्रों पर अशेष कृपा का परिवर्षण करते रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा हैं, **'सर्वयोनिषु'.. 'अहं बीजप्रदः पिता'**, 'मैं सबका पिता हूँ। जीवों को कर्मानुसार विविध योनियों की प्राप्ति होती है। पर यहाँ श्रीभगवान् का उद्घोष है कि वे उन सब के पिता हैं। अतः इन सभी पतित, बद्ध जीवों के उद्धार के लिए अवतरित हो कर वे सनातन धाम की ओर उनका आह्वान करते हैं, जिससे उनके सनातन संग में वे सनातन जीव अपने सनातन स्वरूप को प्राप्त हो जाएँ। श्रीभगवान् स्वयं नाना अवतार लेते हैं अथवा बद्ध जीवों का उद्धार करने के लिए अपने अन्तरंग सेवकों को पुत्ररूप में भेजते हैं अथवा पार्षदों और आचार्यों को भेजते हैं।

वास्तव में 'सानतन धर्म' का तात्पर्य किसी साम्प्रदायिक पद्धति अथवा मत-मतान्तर से नहीं है। वह तो श्रीभगवान् से सम्बन्धित है और सनातन जीव का स्वरूपभूत सनातन कर्तव्य है। श्रीमद्रामानुजाचार्य के अनुसार 'सनातन' उसे कहते हैं जिसका आदि-अंत न हो। श्रील रामानुजाचार्य के प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'सनातन धर्म' का आदि-अन्त नहीं है।

अंग्रेजी शब्द 'रिलिजन' का अर्थ 'सनातन धर्म' से भिन्न है। 'रिलिजन' का अर्थ विश्वास समझा जाता है और विश्वास बदल सकता है। जिस भी पद्धति में मनुष्य का विश्वास हो, उसे त्याग कर किसी अन्य पद्धति को अंगीकार कर लेने में वह स्वतन्त्र है। 'सनातन धर्म' तो यथार्थ में वह क्रिया है, जिसे बदला ही नहीं जा

सकता। उदाहरणार्थ, जल से रस तथा अग्नि से तेज को अलग नहीं किया जा सकता। इसी भाँति, जीव के सनातन धर्म को उससे अलग नहीं किया जा सकता। सनातन धर्म वस्तुतः जीव का नित्य स्वरूप ही है। अतएव श्री रामानुजाचार्य की प्रामाणिकता के आधार पर हम कह सकते हैं कि सनातन धर्म का आदि अथवा अन्त नहीं होता। इससे सिद्ध हो जाता है कि सनातन धर्म साम्प्रदायिक नहीं है, क्योंकि वह देश-काल की सीमाओं से मुक्त है। फिर भी विविध साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के अनुयायी भ्रमपूर्वक सनातन धर्म को भी साम्प्रदायिक मान वैठते हैं। परन्तु यदि आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में गम्भीर अन्तर्दृष्टि से इस विषय का विवेचन किया जाये तो यह सत्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा कि संसार के सब मनुष्यों के लिये ही नहीं, वरन् जगत् के सम्पूर्ण जीवों के लिये सनातन धर्म का प्रयोजन है।

सनातन धर्म से इतर सभी सम्प्रदायों (मतों) का आरम्भ विश्व-इतिहास से जाना जा सकता है। परन्तु सनातन धर्म के प्रवर्तन का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं है, क्योंकि वह तो जीव में नित्य रहता है। जीव के सम्बन्ध में शास्त्रों का कथन है कि वह जन्म-मृत्यु से मुक्त है। गीता में भी उसे अजन्मा और नित्य कहा है। जीव सनातन तथा अविनाशी है, क्षणभंगुर शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह बना रहता है। 'सनातन धर्म' के स्वरूप को भलीभाँति हृदयंगम करने के लिये हमें 'धर्म' शब्द के धातुमूल को देखना चाहिए। 'धर्म' का अर्थ है, 'वह गुण जो किसी वस्तु के साथ नित्य बना रहता है।' अग्नि के साथ तेज और प्रकाश नित्य रहते हैं; तेज और प्रकाश के विना 'अग्नि' शब्द कुछ अर्थ ही नहीं रखता। इसी प्रकार हमें जीवों के स्वरूपभूत अवयव (अंग) को जानना है। यहीं अवयव उसका नित्य सहचर है। वह नित्य सहचर उसका सनातन गुण है और वही सनातन गुण उसका सनातन धर्म है।

जब सनातन गोस्वामी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो श्रीमन्महाप्रभु ने उत्तर दिया कि जीव का स्वरूप श्रीभगवान् की सेवा करना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु के इस कथन पर विचार करने से हमें यह सहज दृष्टिगोचर हो जायेगा कि प्रत्येक जीव निरन्तर किसी न किसी दूसरे जीव की सेवा में लगा रहता है। जीव अन्य जीवों की दो प्रकार से सेवा करता हुआ जीवन का उपभोग करता है। निम्न पशुवर्ग तो सेवक के समान मनुष्यों की सेवा करता ही है। 'क' मनुष्य 'ख' स्वामी की सेवा करता है, 'ख' 'ग' स्वामी की सेवा करता है, 'ग' 'घ' स्वामी की सेवा करता है, इत्यादि। इस परिस्थिति में हम देख सकते हैं कि मित्र मित्र की, माता पुत्र की, पत्नी पति की और पति पत्नी की सेवा में रत है, आदि आदि। यदि हम इस दिशा में आगे गवेषणा करते जायें तो पायेंगे कि ऐसा कोई जीव नहीं है, जो किसी दूसरे की सेवा न करता हो। राजनीतिज्ञ चुनाव-घोषणापत्र इसीलिए निकालता है जिससे जनता को विश्वास हो जाय कि वह वास्तव में उसकी सेवा कर सकता है। मतदाता उसे अपने मूल्यवान् मत यही समझकर देते हैं कि वह समाज की

उल्लेखनीय सेवा करेगा। दुकानदार ग्राहक की सेवा करता है और कारीगर पूँजीपति की। पूँजीपति कुटुम्ब की सेवा में तत्पर है और सनातन जीव के सनातन स्वरूप के अनुसार परिवार राजा का सेवक है। इस प्रकार जीवमात्र अन्य जीवों की सेवा कर रहा है, कोई भी इस सिद्धान्त का अपवाद नहीं है। अतः यह निष्कर्ष सुगमता से निकाला जा सकता है कि सेवाभाव जीव का नित्य सहचर है; वस्तुतः सेवा करना ही जीव का सनातन धर्म है।

तथापि देशकाल के अनुसार मनुष्य अपने को हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध आदि मत-मतान्तरों का अनुयायी मान लेता है। ये सभी उपाधियाँ सनातन धर्म से इतर हैं। एक हिन्दु मत बदलकर मुस्लिम बन सकता है, मुस्लिम अपना मत त्याग कर हिन्दु मत अंगीकार कर सकता है। इसी प्रकार ईसाई आदि भी मत-परिवर्तन करने में स्वतन्त्र हैं। परन्तु किसी भी परिस्थिति में, दूसरों की सेवा करने के सनातन स्वरूप (धर्म) में अन्तर नहीं आता। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी किसी न किसी के सेवक हैं। अस्तु, अपने को किसी सम्प्रदाय विशेष का मानना अपने सनातन धर्म में अनास्था का द्योतक है। वास्तव में सेवा करना ही सनातन धर्म है।

यथार्थ में श्रीभगवान् से हमारा सम्बन्ध सेवा भाव का है। श्रीभगवान् परम भोक्ता हैं और हम सब जीव उसके सेवक हैं। हमारा सृजन वस्तुतः उनके उपभोग के लिये हुआ है, अतः श्रीभगवान् के साथ उस सनातन आनन्दास्वादन में भाग लेने से हम सुखी हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। उदर से सहयोग किये बिना शरीर का कोई भी अंग सुखी नहीं हो सकता। उसी भाँति जीव के लिये भी स्वतन्त्र रूप से सुखी होना सम्भव नहीं है। प्रकारान्तर से, श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा से विमुख रह कर जीव सुखी नहीं हो सकता।

भगवद्गीता में देवसेवा अथवा देवोपासना का अनुमोदन नहीं किया गया है। सातवें अध्याय के बीसवें श्लोक में उल्लेख है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।।

'जिनका चित्त विषय वासना से दूषित है, वे मनुष्य ही देवताओं की शरण में जाते हैं और स्वभाव के अनुसार उपासना के विधि-विधान का परिपालन करते हैं।' यहाँ सुबोध रूप में बताया गया है कि कामी मनुष्य ही भगवान् श्रीकृष्ण के स्थान पर देवताओं की उपासना करते हैं। 'कृष्ण' नाम साम्प्रदायिक नहीं है। 'कृष्ण' नाम का अर्थ है परमोत्कृष्ट आनन्दरस। शास्त्रों से सिद्ध है कि श्रीभगवान् रसराज हैं, अर्थात् समग्र आनन्द के आगार हैं। हम सभी आनन्द का अन्वेषण कर रहे हैं: **आनन्दमयोऽभ्यासात्।** (ब्रह्मसूत्र १.१.१२) जीव, जो श्रीभगवान् की भाँति ही पूर्ण चेतन हैं, सुख (आनन्द) चाहते हैं। श्रीभगवान् तो नित्य आनन्मय हैं ही, अतः उनसे सहयोग करके और उनका संग करने पर जीव भी आनन्द को प्राप्त हो जाते हैं।

अपनी आनन्दमयी वृन्दावन लीला के रस का परिवेषण करने के लिए ही

श्रीभगवान् इस अनित्य धरा धाम पर अवतीर्ण होते हैं। श्रीधाम वृन्दावन में निवास करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने गोप सखाओं, गोपियों, व्रजवासियों तथा गोधन के साथ क्रीड़ा करके परमानन्दमय लीलारस कल्लोलिनी प्रवाहित की थी। व्रजवासी तो बस केवल श्रीकृष्ण को ही जानते थे। श्रीकृष्ण ने भी अपने पिता नन्द महाराज को इन्द्र की पूजा में प्रवृत्त नहीं होने दिया। वे इस सत्य को स्थापित करना चाहते थे कि किसी भी प्रकार की देवोपासना की कोई आवश्यकता नहीं है। जनता भगवान् की ही आराधना करे, क्योंकि उनके धाम की प्राप्ति जीवन का आत्यन्तिक लक्ष्य है।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय, श्लोक छः में भगवान् श्रीकृष्ण के धाम का वर्णन है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।

'मेरे उस स्वयंप्रकाश परम धाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है। जिसे प्राप्त हुआ जीव इस संसार में फिर नहीं आता, वही मेरा परम धाम है।' (भगवद्गीता १५.६)

यह श्लोक उस सनातन धाम की सूचना देता है। हम समझते हैं कि प्राकृत आकाश की भाँति उस चिदाकाश में भी सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि होंगे। किन्तु श्रीभगवान् ने इस श्लोक में कहा है कि सनातन धाम में सूर्य, चन्द्रमा अथवा किसी भी प्रकार की अग्नि की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि श्रीभगवान् के श्रीअंग से निस्सृत 'ब्रह्मज्योति' नामक किरणराशि से वह धाम स्वयंप्रकाश है। हम अन्य लोकों में गमन करने के लिए भीषण कठिनाइयों के मध्य भगीरथ-प्रयत्न कर रहे हैं, पर भगवद्धाम को जानना कठिन नहीं है। वह धाम 'गोलोक' कहलाता है। 'ब्रह्म संहिता' में उस का अतिशय मधुर वर्णन है: **गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः।** श्रीभगवान् अपने गोलोक धाम में नित्य विराजमान रहते हैं। फिर भी इस संसार में भी वे प्राप्त हो सकते हैं। वास्तव में वे अवतीर्ण होकर अपना यथार्थ सच्चिदानन्द विग्रह इसीलिए प्रकट करते हैं कि उनके सम्बन्ध में हमें मनोधर्म का आश्रय न लेना पड़े। ऐसे मनोधर्म को रोकने के लिए वे श्यामसुन्दर रूप में स्वरूप-प्रकाश करते हैं। दुर्भाग्यवशात् अल्पज्ञ मनुष्य नराकार शरीर धारण करके हमारे मध्य क्रीड़ा करने के लिए अवतीर्ण हुए उन परमेश्वर का उपहास किया करते हैं। उनके नर रूप और क्रिया-कलाप के कारण उन्हें अपने समान मान बैठना भूल होगी। वस्तुस्थिति यह है कि अपनी योगमाया के द्वारा ही श्रीभगवान् अपने यथार्थ रूप को हमारे समक्ष प्रकट करके उन लीलाओं का दर्शन कराते हैं, जो उनके धाम में चल रही नित्यलीला की प्रतिमूर्ति हैं।

परव्योम की ब्रह्मज्योति में असंख्य वैकुण्ठ धाम स्थित हैं। ब्रह्मज्योति का स्रोत परम धाम कृष्णलोक है और 'आनन्दचिन्मय रस' अप्राकृत वैकुण्ठ धाम इसमें तैर रहे हैं। श्रीभगवान् की वाणी है, **न तद् भासयते सूर्यो न शशांको**

न पावकः। यद्गत्वा न निर्वतन्ते तद्धाम परमं मम।। जो उस परम धाम को प्राप्त हो जाता है, उसका संसार में पुनरागमन नहीं होता। चन्द्रमा की तो बात ही क्या, संसार के परमोच्च लोक (ब्रह्मलोक) में पहुँच जाने पर भी जीवन की समस्याओं (जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि) का सामना करना होगा। प्राकृत-जगत् का कोई भी लोक इन चार कष्टों से मुक्त नहीं है। अतएव श्रीभगवान् भगवद्गीता में कहते हैं— **आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।** जीव अप्राकृत-पद्धति से एक लोक से दूसरे में गमन कर रहे हैं, किसी संयन्त्रीय व्यवस्था से नहीं। यह भी उल्लेख है: **यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।** अन्तर्लोकीय-यात्रा के लिए किसी संयन्त्रीय व्यवस्था की अपेक्षा नहीं है। गीता कहती है: **यान्ति देवाव्रता देवान्।** चन्द्रमा, सूर्य जैसे उच्च लोक स्वर्ग कहलाते हैं। लोकों की उच्च, मध्यम और निम्न, तीन कोटियाँ हैं। पृथ्वी मध्यवर्ती लोक है। भगवद्गीता हमें सूचित करती है कि देवलोक में गमन करने की पद्धति अति सुगम है: **यान्ति देवव्रता देवान्।** वाँछित लोक के अधिष्ठातृ देवता की उपासना करने से चन्द्र, सूर्य, आदि किसी भी उच्च लोक में जाया जा सकता है।

परन्तु भगवद्गीता हमें इस प्राकृत-जगत् के अन्य लोकों में जाने का परामर्श नहीं देती। किसी संयन्त्रीय विधि से चालीस हजार वर्ष तक (इतने वर्ष तो जीवित रहना ही असम्भव है!) यात्रा करके यदि हम संसार के सर्वोच्च लोक (ब्रह्म-लोक) को प्राप्त कर भी लें, तो भी जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि से मुक्त नहीं हो सकेंगे। इन दुःखों से हमारी मुक्ति तभी होगी, जब हम परम धाम कृष्णलोक अथवा परव्योम के किसी वैकुण्ठ धाम को प्राप्त कर लें। परव्योम के लोकों में एक गोलोक-वृन्दावन नामक परम धाम भी है। यही आदि लोक भगवान् श्रीकृष्ण का स्वधाम है। यह सम्पूर्ण जानकारी भगवद्गीता में उपलब्ध है। इसके द्वारा हमें उपदेश दिया गया है जिससे प्राकृत-जगत् को त्याग कर हम भगवद्धाम में सच्चा आनन्दमय जीवन प्राप्त कर सकें।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में इस संसार का यथार्थ चित्रण है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।

श्रीभगवान् ने कहा, 'इस संसारी रूप पीपल के वृक्ष का मूल ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर हैं तथा वेद इसके पत्ते कहे गए हैं। जो इसे जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।' (भगवद्गीता १५.१) इस श्लोक में प्राकृत-जगत् को एक ऐसे पीपल के वृक्ष की उपमा दी गई है, जिसका मूल ऊपर की ओर है तथा शाखाएँ अधोगामिनी हैं। किसी नदी अथवा जलाशय में प्रतिबिम्बित वृक्ष उलटा दीखता है, शाखाएँ नीचे हो जाती हैं और मूल ऊपर की ओर दिखाई देती है। इसी प्रकार यह प्राकृत-जगत् वैकुण्ठ-जगत् का विकृत प्रतिबिम्ब है—सत्य की छाया मात्र है। छाया में चाहे सचाई अथवा सारवत्ता नहीं होती, पर उससे सच्चे

तान्त्र का होना तो सिद्ध होता ही है। मरुभूमि में जल नहीं होता, तथापि मृगमरीचिका से वहाँ जल की प्रतीति होती है। इससे यह तो सिद्ध होता ही है कहीं न कहीं जल अवश्य है। प्राकृत-जगत् में जल नहीं है, लेशमात्र भी सुख नहीं है, किन्तु वैकुण्ठ-जगत् में यथार्थ सुख रूपी जल अवश्य है।

श्रीभगवान् का परामर्श है कि हम वैकुण्ठ-जगत् को इस प्रकार प्राप्त कर लें :

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःख संज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।

उस अव्यय पद अर्थात् सनातन धाम को **निर्मानमोह** पुरुष ही प्राप्त कर सकता है। इसका क्या अर्थ है? हम उपाधियों के पीछे लगे हुए हैं। कोई पुत्र बनना चाहता है, तो कोई ईश्वर, कोई राष्ट्रपति-पद चाहता है तो कोई धनवान् अथवा राजा वनने का अभिलाषी है, इत्यादि। जब तक हम इन उपाधियों में आसक्त हैं, तब तक देह में भी आसक्त रहेंगे, क्योंकि ये सभी उपाधियाँ देहगत हैं। परन्तु यथार्थ में हम देह से भिन्न हैं—यह अनुभूति ही भगवत्प्राप्ति का प्रथम चरण है। हम माया के गुणत्रय के असद् संसर्ग में पड़े हैं। अतएव यह परम आवश्यक है कि भगवद्भक्ति के द्वारा इनसे असंग (अनासक्त) हो जाएँ। भगवद्भक्ति में अनुरक्त हुए बिना माया के गुणत्रय से असंग नहीं हुआ जा सकता। उपाधियों और आसक्ति में कारण है हमारा काम विकार तथा प्रकृति पर प्रभुत्व करने की कामना। प्रकृति पर प्रभुत्व की इस प्रवृत्ति का जब तक हम त्याग नहीं करते, तब तक सनातन-धाम में पुनः प्रवेश करना सर्वथा असम्भव है। उस अविनाशी धाम में वही प्रविष्ट हो सकता है, जो मिथ्या विषय-सुख के आकर्षण से मोहित हुए बिना भगवत्सेवा के परायण हो जाता है। ऐसे भक्त के लिए परम-धाम की प्राप्ति अतिशय सुगम है।

गीता में अन्यत्र कहा गया है—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।

अव्यक्त अर्थात् 'अप्रकट'। भगवद्धाम के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, पूरा का पूरा प्राकृत-जगत् तक हमारे सामने प्रकट नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ इतनी अपूर्ण और दोषयुक्त हैं कि इस जगत् के सारे नक्षत्रों को भी हम नहीं देख सकते। वैदिक शास्त्रों में सम्पूर्ण लोकों के सम्बन्ध में प्रचुर जानकारी प्राप्त है, उस पर विश्वास करना अथवा न करना हमारे ऊपर निर्भर करता है। वैदिक शास्त्रों, विशेषतः श्रीमद्भागवत में सभी प्रधान लोकों का विशद वर्णन है। इस संसार से अतीत वैकुण्ठ-जगत् को वहाँ 'अव्यक्त' कहा गया है। उसी परम धाम की प्राप्ति के लिए वाँछा और उद्यम करे, क्योंकि उसे प्राप्त हो जाने पर फिर इस संसार में पुनरागमन नहीं होता।

उस भगवद्धाम को प्राप्त करने की पद्धति का वर्णन आठवें अध्याय में है:

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।

'जो कोई भी अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ देह-त्याग करता है, वह तत्काल मेरी परा प्रकृति (मेरे स्वभाव) को प्राप्त करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।'

जो मृत्यु-काल में श्रीकृष्ण का चिन्तन करता है, वह श्रीकृष्ण को ही प्राप्त होता है। अतएव श्रीकृष्ण के रूप-माधुर्य का नित्य स्मरण करता रहे। यदि इस रूप का चिन्तन करते हुए मृत्यु हुई तो वह भगवद्धाम में प्रविष्ट हो जायगा। **मद्भावम्** शब्द से श्रीभगवान् की परा प्रकृति इंगित है। श्रीभगवान् सच्चिदानन्द विग्रह हैं। हमारी वर्तमान देह सच्चिदानन्द नहीं है। वह 'असत्' है, 'सत्' नहीं। नित्य न होकर नाशवान है—'चित्' अर्थात् ज्ञानमय नहीं, वरन् अज्ञान से आवृत है। हमें वैकुण्ठ-जगत् का लेशमात्र ज्ञान नहीं है। वास्तव में तो हमें प्राकृत-जगत् का भी पूर्ण ज्ञान नहीं है, यहाँ के कितने ही पदार्थ हमें अज्ञात हैं। देह 'निरानन्द' है, आनन्दमय होने के स्थान पर सर्वथा दुःखमय है। संसार में जितने भी दुःखों की हमें प्राप्ति होती है, वे सब के सब देहजनित हैं। परन्तु जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन-स्मरण करता हुआ इस देह को त्यागता है, वह तत्क्षण सच्चिदानन्द देह को प्राप्त कर लेता है। इसके प्रमाणस्वरूप आठवें अध्याय के पाँचवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण वचन देते हैं, 'वह मुझ को ही प्राप्त होता है।'

इस देह को त्याग कर प्राकृत-जगत् में कोई अन्य देह धारण करने का भी एक नियत क्रम है। मनुष्य की मृत्यु तभी होती है, जब यह निर्णय हो जाता है कि अगले जन्म में उसे किस योनि की प्राप्ति होनी है। यह निर्णय उच्च अधिकारी करते हैं, जीवात्मा स्वयं नहीं। इस जीवन में किए कर्मों के अनुसार ही जीव पुनर्जन्म में उत्थान अथवा पतन को प्राप्त होता है। इस दृष्टि से यह जीवन भावी जीवन की तैयारी है। अतः यदि इस जीवन में भगवद्धाम-गमन के योग्य बन जायें, तो प्राकृत देह का अन्त होने पर हमें भगवान् श्रीकृष्ण के समान अप्राकृत वपु की प्राप्ति हो जायगी।

पूर्व वर्णन के अनुसार योगियों की ब्रह्मवादी, परमात्मावादी, भक्त आदि अनेक कोटियाँ हैं और ब्रह्मज्योति में असंख्य वैकुण्ठ धाम हैं। इन चिन्मय लोकों की संख्या प्राकृत-जगत् के सब लोकों की गणना से कहीं अधिक है। यह प्राकृत-जगत् सृष्टि की एकपादविभूति मात्र है। सृष्टि के इस प्राकृत अंश में खरबों लोक, सूर्य, नक्षत्र और चन्द्रमा वाले अरबों ब्रह्माण्ड हैं। इस पर भी यह प्राकृत सृष्टि पूर्ण सृष्टि का अति लघु अंश ही है। अधिकांश सृष्टि माया से परे परव्योम में है। जो परमब्रह्म से सायुज्य का अभिलाषी है, वह अविलम्ब भगवान् की ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर परव्योम में स्थित हो जाता है। दूसरी ओर भक्त, जो कि श्रीभगवान् के सांनिध्य का आस्वादन करना चाहता है, असंख्य वैकुण्ठ लोकों में से किसी एक में प्रवेश करता है। *श्रीभगवान्* अपने चतुर्भुज नारायण अंश से गोविन्द, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न आदि रूप धारण कर इन

लोकों में विराजमान रहते हैं और वैकुण्ठ लोकों में प्रविष्ट होने वाले भक्तों के साथ लीला करते हैं। अतएव जीवन के अन्त में योगी यथायोग्य ब्रह्मज्योति, परमात्मा अथवा भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। परव्योम में तो उन सभी का प्रवेश हो जाता है, पर वैकुण्ठ लोकों में केवल भगवद्भक्त ही प्रविष्ट हो पाते हैं। श्रीभगवान् आगे कहते हैं कि 'इसमें सन्देह नहीं है।' श्रीभगवान् की इस घोषणा में दृढ़ विश्वास करना है। जो हमारी कल्पना के अनूकूल न हो, उस सत्य को अस्वीकार कर देना युक्तिसंगत नहीं होगा। हमारा मनोभाव अर्जुन का सा होना चाहिए: 'आप जो कुछ भी कहते हैं, वह सब सत्य है, मुझे स्वीकार है।' अतः भगवान् का यह कथन निस्सन्देह सत्य है कि मृत्युकाल में जो कोई भी उनका ब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान् के रूप में चिन्तन करता है, वह अवश्य परव्योम में प्रविष्ट हो जाता है। इसमें अविश्वास का तो प्रश्न ही नहीं बनता।

अन्तकाल में भगवच्चिन्तन करने के प्रकार का भी गीता में उल्लेख है:

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

'जिस-जिस भी भाव का स्मरण करते हुए यह जीव देह को त्यागता है, उस उसको ही प्राप्त होता है।' (८.६)

माया (अपरा प्रकृति) परमेश्वर की एक शक्ति का प्रकाश है। 'विष्णु पुराण' में श्रीभगवान् की सम्पूर्ण शक्तियों का वर्णन है: **विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता . . .।** परमेश्वर नाना प्रकार की असंख्य शक्तियों से युक्त हैं, जो हमारे लिए सर्वथा अचिन्त्य हैं। किन्तु तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने इन शक्तियों का अध्ययन करके तीन भागों में वर्गीकरण किया है। ये सभी विष्णुशक्ति कहलाती हैं। इनमें एक परा नामक दिव्य शक्ति है। जैसा वर्णन किया जा चुका है, जीव इसी परा शक्ति के अंश हैं। अन्य सभी शक्तियाँ प्राकृत होने से तमोगुणमयी हैं। मृत्यु-काल में हम स्वेच्छानुसार इस संसार की अपरा शक्ति (माया) में बने रह सकते हैं अथवा वैकुण्ठ-जगत् की दिव्य शक्ति में स्थानान्तरित भी हो सकते हैं।

इस जीवन में हम परा-अपरा शक्तियों में से किसी एक का चिन्तन करने के अभ्यस्त हैं। समाचार पत्र, उपन्यास आदि नाना प्रकार का साहित्य हमारे चित्त को अपरा शक्ति (माया) के चिन्तन से भर देता है। इस कोटि के निकृष्ट साहित्य में तल्लीन हो रही अपनी चिन्तनशक्ति को हमें वैदिक साहित्य में लगाना है। महर्षियों ने पुराण आदि वैदिक साहित्य का प्रणयन इसी प्रयोजन से किया है। पुराण काल्पनिक नहीं हैं, वरन् ऐतिहासिक संकलन हैं। 'श्रीचैतन्य चरितामृत' (मध्यलीला २०।१२२) में कहा है—

माया मुग्ध जीवेर नाहि स्वतः कृष्णज्ञान।
जीवेर कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण।।

विस्मरणशील जीव परमेश्वर श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भुलाकर विषयपरायण हो रहे हैं। उनकी चिन्तनशक्ति को भगवद्धाम में केन्द्रित करने के

लिए ही श्रीकृष्ण ने विपुल वैदिक साहित्य प्रदान किया है। सर्वप्रथम उन्होंने वेद को चार भागों में विभक्त किया, फिर पुराणों में उनका विशदीकरण किया तथा अल्प सामर्थ्य वालों के लिये 'महाभारत' की रचना की। महाभारत रूपी महासागर से ही भगवद्गीता रूपी महारत्न निकला है। तत्पश्चात्, सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के सार तत्त्व का 'ब्रह्मसूत्र' में निरूपण किया गया और भविष्य में जनता के मार्गदर्शन के लिए उन्होंने स्वयं 'ब्रह्मसूत्र' के अपौरुषेय भाष्य — श्रीमद्भागवत की रचना की। हमें इन वैदिक शास्त्रों के चिन्तन-मनन में चित्त को नित्य लगाए रखना है। जिस प्रकार विषयी मनुष्यों का चित्त लौकिक पत्र-पत्रिकाओं में ही लगा रहता है, उसी भाँति हमें अपने चित्त को व्यासदेव द्वारा विरचित इन ग्रन्थों के अध्ययन में तत्पर रखना है। इससे हम मृत्यु समय में श्रीभगवान् का स्मरण-चिन्तन कर सकेंगे। श्रीभगवान् ने एकमात्र इसी मार्ग का परामर्श किया है; परिणाम के विषय में उनकी प्रतिभू (गारन्टी) है: 'इसमें सन्देह नहीं।' (गीता ८.७)

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥

'इसलिए हे अर्जुन! तू नित्य-निरन्तर मेरे कृष्ण रूप का स्मरण कर और युद्ध-रूपी स्वधर्म का आचरण भी कर। इस प्रकार मेरे परायण कर्म करता हुआ तथा मेरे अर्पण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।'

श्रीकृष्ण अर्जुन से स्वधर्म को त्याग कर अपना स्मरण करने को नहीं कहते। वे किसी अव्यवहारिक पद्धति का परामर्श कभी नहीं देते। इस संसार में देह धारण करने के लिए कर्म करना अनिवार्य है। कर्म के अनुसार मानव समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभाजित है। ब्राह्मण अथवा बुद्धिजीवियों का वर्ग एक प्रकार का कार्य करता है, क्षत्रिय (प्रशासनिक) वर्ग दूसरा कर्म करता तथा वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने स्वधर्म का पालन करते हैं। मानव समाज का यह नियम है कि चाहे कोई शूद्र हो अथवा वैश्य, क्षत्रिय, कृषक, उत्तम वर्ण का बुद्धिजीवी हो अथवा वैज्ञानिक या अध्यात्मवादी, जीवन धारण करने के लिए उसे कर्म करना ही होगा। इसी कारण श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि उसे अपने कार्य को त्यागने की आवश्यकता नहीं, वरन् स्वधर्म का आचरण करता हुआ भी वह उन्हीं (कृष्ण) का स्मरण करता रहे। यदि वह जीवन के लिए संघर्ष करते हुए श्रीकृष्ण के नित्य स्मरण का अभ्यास नहीं करेगा, तो मृत्यु-काल में श्रीकृष्ण का स्मरण नहीं कर सकेगा। श्रीचैतन्य महाप्रभु का भी यही उपदेश है। उन्होंने कहा है कि नित्य-निरन्तर श्रीभगवान् का कीर्तन करते हुए उनके स्मरण का अभ्यास करना चाहिए। श्रीभगवान् और उनके नाम में भेद नहीं है। अतएव अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश कि, 'मेरा स्मरण कर' तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु का यह उपदेश कि श्रीकृष्णनाम का कीर्तन करो'—वस्तुतः एक ही हैं। इनमें भेद नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णनाम सर्वथा अभिन्न हैं।

अद्वयतत्त्व होने से नाम-नामी में कुछ भी भेद नहीं है। अस्तु, भगवन्नाम लेते हुए जीवन की क्रियाओं को भगवत्स्मरण के अनुकूल बनाकर हमें नित्य-निरन्तर, दिन में चौबीस घण्टे भगवत्स्मरण रखने का अभ्यास करना चाहिए।

यह किस विधि से सम्भव है? आचार्यों ने इसका दृष्टान्त दिया है। किसी विवाहिता स्त्री की परपुरुष में आसक्ति अथवा किसी पुरुष की परायी स्त्री में आसक्ति साधारण आसक्ति से कहीं अधिक प्रबल होती है। इस प्रकार आसक्त हुआ प्राणी अपने प्रियतम के चिन्तन में नित्य तन्मय रहता है। उपपति के स्मरण में मग्न स्त्री गृह-कार्य करते हुए भी उससे मिलने के लिये सदा उत्कण्ठित रहती है। ऐसा होने पर भी अपने गृह कार्य को वह अधिक सावधानी से करती है, जिससे किसी को उसके उपपतित्व का भान न हो जाय। इसी प्रकार परम प्रियतम श्रीकृष्ण का नित्य चिन्तन करते हुए हमें अपने लौकिक कर्तव्यों का सुचारु रूप से निर्वाह करना चाहिए। इसके लिए प्रगाढ़ अनुराग की अपेक्षा है। यदि श्रीभगवान् में हमारा प्रगाढ़ प्रेम-भाव होगा तो स्वधर्म का आचरण करते हुए भी हम उनका स्मरण कर सकेंगे। पर इससे पूर्व उस प्रेम-भाव को उद्भावित करना होगा। श्रीकृष्ण का प्रेमी होने से अर्जुन नित्य उनके चिन्तन में तन्मय रहता है; श्रीकृष्ण का नित्य सहचर होते हुए भी उसने युद्ध किया। श्रीकृष्ण ने यह नहीं कहा कि वह युद्ध से विमुख होकर ध्यान के लिए वन में चला जाय। जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति योग-पद्धति का वर्णन किया तो अर्जुन यह कहने को बाध्य हो गया कि इस मार्ग का अभ्यास करना उसके लिए सम्भव नहीं है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूधन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।।

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन! आपके द्वारा संक्षेप से कही गई योग-पद्धति मुझे अस्थायी और अव्यावहारिक सी दिखाई देती है, क्योंकि मन अति चञ्चल है। (गीता ६.३३)

परन्तु श्रीभगवान् ने उत्तर में कहा—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।

'सम्पूर्ण योगियों में भी, जो श्रद्धावान् योगी भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे सर्वाधिक अन्तरंग रूप में युक्त है तथा सबसे उत्तम है।' (गीता ६.४७)

अतएव जो नित्य-निरन्तर भगवत्स्मरण करता है, वह सर्वोत्तम ज्ञानी और भक्त-शिरोमणि है। श्रीभगवान् ने अर्जुन से आगे यह भी कहा है कि वह क्षत्रिय है, इसलिए युद्ध का परित्याग नहीं कर सकता; किन्तु यदि वह उन (श्रीकृष्ण) का चिन्तन करता हुआ युद्ध करेगा, तो अन्तकाल में भी उसे उनकी स्मृति बनी रहेगी। इसके लिए

उसे सर्वतोभावेन भगवद्भक्ति की शरण लेनी होगी।

यथार्थ में हम कर्म अपने चित्त और मनीषा के द्वारा करते हैं देह से नहीं। अतः यदि मन-बुद्धि नित्य भगवत्स्मरण के ही परायण रहें तो इन्द्रियाँ भी उनकी अनन्य सेवा में तत्पर रहेंगी। कम से कम बाह्य रूप से तो इन्द्रियों की क्रियाएँ वही रहती हैं, परन्तु मति परिणत हो जाती है। भगवद्गीता भगवत्स्मरण में मन-बुद्धि को तन्मय कर देने की विधि सिखाती है। इस तन्मयता से भगवद्धाम की प्राप्ति सुलभ है। चित्त के कृष्णसेवा-परायण हो जाने पर इन्द्रियाँ भी स्वतः उनकी सेवा में निवेशित हो जाती हैं। श्रीकृष्ण के मधुर चिन्तन में पूर्ण रूप से लीन रहना एक दिव्य कला है। यही भगवद्गीता का गोपनीय सार है।

आधुनिक मनुष्य ने चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए घोर संघर्ष किया है; परन्तु अध्यात्म में उन्नति के लिए कुछ भी प्रयास नहीं किया। जिनके जीवन के पचास वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, वे तो विशेष सावधानी सहित अपने शेष सीमित समय का सदुपयोग भगवत्स्मरण के अभ्यास में ही करें। इसी अभ्यास का नाम भक्तियोग है:

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्।।

ये नौ साधन, जिनमें भगवत्प्राप्त महापुरुष के मुख से भगवद्गीता का श्रवण करना सबसे सुगम है, जीव को भगवच्चिन्तन की ओर उन्मुख करते हैं। इससे निश्चल भगवत्स्मरण होने लगता है और देह-त्याग के अनन्तर श्रीभगवान् का संग करने के योग्य दिव्य शरीर की प्राप्ति भी हो जाती है।

श्रीभगवान् आगे कहते हैं:

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।

'हे कुन्तीनन्दन! नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से भगवत्स्मरण का अभ्यास करने वाले को निःसन्देह भगवद्धाम की प्राप्ति होती है।' (गीता ८.८)

यह पद्धति कठिन नहीं है। परन्तु इसे उस अनुभवी मनुष्य से सीखना होगा, जो स्वयं इसका अभ्यास करता हो। यत्र-तत्र धावनशील चित्त को भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह अथवा कृष्णनाम की ध्वनि में एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए। मन स्वभाव से ही चंचल तथा अस्थिर है। परन्तु कृष्णनाम के प्रभाव से यह स्थिर हो जाता है। इस प्रकार 'परम पुरुष' का सतत चिन्तन करते हुए उनको प्राप्त हो जाय। भगवद्गीता में आत्यन्तिक उपलब्धि—भगवत्प्राप्ति के साधन का स्पष्ट उल्लेख है, इस ज्ञान के द्वार प्राणीमात्र के लिए खुले हैं। इसमें सबका अधिकार है। सभी कोटि के मनुष्य श्रीभगवान् का स्मरण कर उन्हें प्राप्त कर सकते हैं; श्रीभगवान् का श्रवण-स्मरण प्राणीमात्र के लिए सुगम है।

श्रीभगवान् का उद्घोष है:

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।।

'हे पार्थ ! पापयोनि, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी मेरी शरण होकर परम गति को प्राप्त हो जाते हैं। फिर पुण्यात्मा ब्राह्मणों और राजर्षियों के लिए तो कहना ही क्या है ? अतः इस दुःखमय और क्षणभंगुर संसार में तू मेरा ही भजन कर।' (गीता, ९.३२,३३)

वैश्य, स्त्री और शूद्र आदि निम्न श्रेणी के मनुष्य भी श्रीभगवान् को प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए असाधारण बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो कोई भी भक्तियोग को अंगीकार कर श्रीभगवान् को जीवन का परम-लक्ष्य तथा निःश्रेयस (आश्रय) बना लेता है, वह भगवद्धाम में श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाता है। भगवद्गीता में प्रतिपादित इस सिद्धान्त का आचरण करने से संसार की क्षणभंगुरता से उत्पन्न होने वाले जीवन के सब दुःखों का पूर्ण समाधान हो जाता है और जीवन कृतार्थ हो उठता है । यही सम्पूर्ण भगवद्गीता का सार-सर्वस्व है ।

अस्तु, सारांश में, भगवद्गीता परम दिव्य शास्त्र है। इसका अध्ययन पूर्ण मनोयोग से करे। यह जीव का सब प्रकार के भय से परित्राण करने में समर्थ है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।

'कृष्णभावना के लिए जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका नाश अथवा ह्रास नहीं होता; इस पथ में की गई अल्पमात्र प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर लेती है।' (गीता २.४०)

यदि भगवद्गीता का स्वाध्याय शुद्ध (निश्छल) भाव से मननपूर्वक किया जाय तो पूर्वकृत पाप कर्म फलित हुए बिना ही शान्त हो जाते हैं। गीता के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण का तुमुल उद्घोष है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

'सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पाप कर्मों से मुक्त कर दूँगा। तू भय मत कर।' (गीता १८.६६) इस प्रकार अपनी शरण में आए भक्त का पूर्ण उत्तरदायित्व श्रीभगवान् स्वयं वहन करते हैं और उसके सम्पूर्ण पापों को क्षमा कर देते हैं।

मनुष्य अपनी शुद्धि के लिए नित्य जल से स्नान करता है; किन्तु भगवद्गीता रूपी पावन गंगा-जल में तो जो एक बार भी स्नान कर लेता है, वह भवरोग की सम्पूर्ण मलिनता से सदा-सदाके लिये मुक्त हो जाता है। स्वयं श्रीभगवान् के मुख की वाणी इस गीता का पाठ करने वाले को किसी अन्य वैदिक ग्रन्थ के अध्ययन की

अपेक्षा नहीं रहती। नित्य-निरन्तर मनोयोग सहित भगवद्गीता के श्रवण में ही तत्पर रहे। वर्तमान काल में मनुष्य समाज इतना अधिक विषयपरायण हो चुका है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का स्वाध्याय सम्भव नहीं रहा है। कल्याण के लिए यह एक ग्रन्थ—भगवद्गीता सर्वथा पर्याप्त है, क्योंकि यह वैदिक शास्त्रों का परम सार है और स्वयं श्रीभगवान् ने इसका गायन किया है। कहा जाता है कि गंगाजल का पान करने वाला अवश्य मुक्त हो जाता है। फिर श्रवणपुटों से भगवद्गीता का पान करने वाले का तो कहना ही क्या? गीता तो वस्तुतः महाभारत का सारामृत है। स्वयं विष्णु ने इसका प्रवचन किया है, क्योंकि श्रीकृष्ण ही आदिविष्णु हैं। गीता रूपी सुधा-धारा श्रीभगवान् के मुखारविन्द से निस्यन्दित है, जबकि गंगा उनके चरणारविन्द से निकली है। अवश्य ही श्रीभगवान् के मुख और चरण में भेद नहीं है, परन्तु यह सत्य तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि भगवद्गीता की महिमा गंगा से भी कहीं बढ़कर है।

सब उपनिषद् मानो गौ के समान हैं और श्रीकृष्ण एक ग्वालबाल के तुल्य हैं, जो इस गौ से गीतामृत दोहन कर रहे हैं। यह दुग्ध वेदों का परम सार है और अर्जुन गोवत्स के अनुरूप हैं। विवेकी, महर्षि और शुद्ध भक्त ही इस भगवद्गीता रूपी दुग्धामृत का पान करते हैं।

आज के युग का मानव बड़ा इच्छुक है कि सबके लिए एक ही शास्त्र, एक ही ईश्वर, एक ही धर्म और एक ही व्यवसाय हो। अतः सम्पूर्ण विश्व के लिए एक ही सार्वभौम शास्त्र हो—**श्रीमद्भगवद्गीता**। सबके लिए एक ही आराध्य हों—**श्रीकृष्ण** और एक ही मन्त्र हो—**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**। तथा सम्पूर्ण जगत् के लिए एक ही उद्यम हो—**भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में निरन्तर लीन रहना।**

श्रीमद्भगवद्गीता की प्रामाणिक परम्परा

'एवं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः' (गीता ४.२)

यह '**श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप**' इस परम्परा में प्राप्त हुई है:

१. **श्रीकृष्ण**, २. ब्रह्मा, ३. नारद, ४. व्यास, ५. मध्व, ६. पद्मनाभ, ७. नृहरि, ८. माधव, ९. अक्षोभ्य, १०. जयतीर्थ, ११. ज्ञानसिन्धु, १२. दयानिधि, १३. विद्यानिधि, १४. राजेन्द्र, १५. जयधर्म, १६. पुरुषोत्तम, १७. ब्रह्मण्यतीर्थ, १८. व्यासतीर्थ, १९. लक्ष्मीपति, २०. माधवेन्द्रपुरी, २१. ईश्वरपुरी (नित्यानन्द, अद्वैत), २२. **श्रीचैतन्य महाप्रभु**, २३. रूप (स्वरूप, सनातन), २४. रघुनाथ, जीव, २५. कृष्णदास, २६. नरोत्तम, २७. विश्वनाथ, २८. (वलदेव) जगन्नाथ, २९. भक्तिविनोद, ३०. गौरकिशोर, ३१. भक्तिसिद्धान्त सरस्वती, ३२. **कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद**

अथ प्रथमोऽध्यायः

अर्जुनविषादयोग

(कुरुक्षेत्र के युद्धप्रांगण में सैन्यनिरीक्षण)

धृतराष्ट्र उवाच।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।१।।

धृतराष्ट्रः उवाच=राजा धृतराष्ट्र ने कहा; धर्मक्षेत्रे=धर्मभूमि; कुरुक्षेत्रे=कुरुक्षेत्र में; समवेताः=इकट्ठे हुए; युयुत्सवः=युद्ध की इच्छावाले; मामकाः=मेरे; पाण्डवाः च=और पाण्डु के पुत्रों ने; एव=भी; किम्=क्या; अकुर्वत=किया; सञ्जय=हे सञ्जय।

अनुवाद

धृतराष्ट्र ने कहा, हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र होकर युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?।।१।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः व्यापक स्तर पर पठित भागवत-विद्या है, जो गीता माहात्म्य में साररूप से समाहत है। वहाँ उल्लेख है कि कृष्णभक्त के आश्रय में ही गीता का मनोयोग से अध्ययन करना चाहिए और इस प्रकार स्वार्थप्रेरित मनमाने अर्थों के आवरण से मुक्त उसका यथार्थ तात्पर्य समझना चाहिए। भगवद्गीता के उस विशुद्ध ज्ञान का उदाहरण स्वयं भगवद्गीता में है। गीता को उसी भाँति

हृदयंगम करना है, जिस प्रकार अर्जुन ने साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से सुन कर उसे धारण किया। यथार्थ में भाग्यशाली वही हैं, जो उसी शिष्य-परम्परा में स्वार्थप्रेरित मनमाने अर्थों के आरोप से मुक्त गीता का विशुद्ध ज्ञान अर्जित करता है। ऐसा भाग्यवान् वैदिक ज्ञान एवं विश्व के अन्य सभी शास्त्रों के स्वाध्याय का लंघन कर जाता है। गीता के अध्ययन से अन्य शास्त्रों का मर्म तो जाना जाता ही है; इसके अतिरिक्त, गीता में पाठक को वह तत्त्व भी प्राप्त है, जो अन्य किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। यही गीता का अतुलनीय वैशिष्ट्य है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की वाणी होने के कारण गीता पूर्ण भागवत विद्या है।

महाभारत में वर्णित धृतराष्ट्र और सञ्जय का वार्तालाप इस महान् दर्शन का उपोद्घात है। यह सर्वविदित ही है कि इस दर्शन की अवतारणा कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रांगण में हुई, जो वैदिक युग के आदि काल से पवित्र तीर्थस्थान माना जाता है। पृथ्वी पर अपने अवतरणकाल में भगवान् श्रीकृष्ण ने मानव कल्याण के लिए इस कथामृत का प्रवचन किया।

धर्मक्षेत्र शब्द सारगर्भित है, क्योंकि कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन के पक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं उपस्थित हैं। अपने पुत्र कौरवों की विजय के विषय में धृतराष्ट्र बड़ा संदिग्ध था। अतः सन्देह-निवारण के लिए उसके अपने सचिव संजय से जिज्ञासा की, 'मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?' वह जानता था कि उसके पुत्र तथा अनुज पाण्डु के पुत्र कुरुक्षेत्र की रणभूमि में निर्णयात्मक युद्ध के लिए एकत्रित हुए हैं। फिर भी, उसकी जिज्ञासा तात्पर्ययुक्त है। धृतराष्ट्र नहीं चाहता कि उसके पुत्रों और भतीजों में सन्धि हो। वह तो केवल युद्धस्थल में संघर्ष के लिए सन्नद्ध अपने पुत्रों की कुशल के विषय में आश्वस्त होना चाहता था। युद्ध का आयोजन कुरुक्षेत्र में हुआ था, जिसे वेदों में देवोचित तीर्थस्थान कहा गया है। इस कारण, युद्ध के परिणाम पर उस शाश्वत् पवित्र स्थान का क्या प्रभाव होगा, इस आशंका से धृतराष्ट्र भयभीत हो गया। वह जानता था कि इसका प्रभाव अर्जुन आदि पाण्डवों के अनुकूल होगा, क्योंकि वे स्वभाव से ही सदाचारी थे। संजय श्रीवेदव्यासजी का शिष्य था। उनके अनुग्रह से धृतराष्ट्र के कक्ष में बैठे-बैठे उसे कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि का दर्शन हो सका। अतएव धृतराष्ट्र ने युद्ध-स्थिति के सम्बन्ध में उसीसे जिज्ञासा की।

पाण्डव एवं धृतराष्ट्र-पुत्र, दोनों एक ही कुल की सन्तान हैं। परन्तु धृतराष्ट्र के वाक्य से उसका मनोभाव प्रकट होता है। उसने जान-बूझकर केवल अपने पुत्रों को कुरुवंशी कहकर पाण्डवों को कौटुम्बिक उत्तराधिकार से वंचित किया है। इस प्रकार अपने भतीजे पाण्डवों के सम्बन्ध में धृतराष्ट्र का दुर्भाव स्पष्ट है। जिस प्रकार धान के खेत से खर-पतवार को निकाल कर फेंक दिया जाता है, उस के अनुरूप इस कथा के उपक्रम से ही यह आशा है कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में, जहाँ धर्म के जन्मदाता भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं विराजमान हैं, धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन आदि का नाश होगा और युधिष्ठिर आदि धर्म-परायण जनों को श्रीकृष्ण स्वयं स्थापित करेंगे। **धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र**

शब्दों के ऐतिहासिक और वैदिक अर्थ से विशिष्ट यह उनका गूढ़ तात्पर्य है।

सञ्जय उवाच।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

सञ्जयः उवाच=सञ्जय ने कहा; **दृष्ट्वा**=देखकर; **तु**=किन्तु; **पाण्डव-अनीकम्**=पाण्डवों की सेना को; **व्यूढम्**=व्यूहरचनायुक्त; **दुर्योधनः**=राजा दुर्योधन ने; **तदा**=उस समय; **आचार्यम्**=आचार्य के; **उपसंगम्य**=निकट जाकर; **राजा**=महाराज; **वचनम्**=यह वाक्य; **अब्रवीत्**=कहा।

अनुवाद

संजय ने कहा, हे राजन्! उस समय पाण्डवों की व्यूहरचना-युक्त सेना को देखकर राजा दुर्योधन ने गुरु द्रोणाचार्य के निकट जाकर यह वाक्य कहा।।२।।

तात्पर्य

धृतराष्ट्र जन्मान्ध तो था ही; दुर्भाग्यवश, आध्यात्मिक-दृष्टि से भी वंचित था। वह जानता था कि उसके पुत्र धर्म के विषय में उसी के समान दृष्टिहीन हैं। इसलिए उसे विश्वास था कि वे जन्मजात पुण्यात्मा पाण्डवों से सन्धि कदापि नहीं करेंगे। फिर भी, उसे तीर्थस्थान के प्रभाव का सन्देह था। उसकी युद्ध विषयक जिज्ञासा के इस अभिप्राय को संजय समझ गया। अतः हताश राजा को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से संजय ने यह चेतावनी दी कि उसके पुत्र पवित्र स्थल के प्रभाव में आकर सन्धि नहीं करने वाले हैं। उसने धृतराष्ट्र को यह भी बताया कि उसका पुत्र दुर्योधन पाण्डवों की सैन्यसज्जा को देख कर तत्काल अपने सेनानायक द्रोणाचार्य को यथार्थ स्थिति से अवगत कराने गया। यद्यपि दुर्योधन को 'राजा' सम्बोधित किया गया है, पर स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए वह स्वयं सेनापति के निकट जाने को बाध्य हो गया। स्पष्ट रूप से दुर्योधन योग्य कूटनीतिज्ञ था, पर उसका कपटपूर्ण राजनीतिक शिष्टाचार उस भय का गोपन नहीं कर सका, जो उसे पाण्डवों के सैन्यव्यूह को देख कर प्राप्त हुआ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

पश्य=देखिए; **एताम्**=इन; **पाण्डुपुत्राणाम्**=पाण्डुपुत्रों की; **आचार्य**=हे आचार्य; **महतीम्**=महान्; **चमूम्**=सेना को; **व्यूढाम्**=व्यूहाकार खड़ी की हुई; **द्रुपदपुत्रेण**=द्रुपदपुत्र द्वारा; **तव**=आपके; **शिष्येण**=शिष्य; **धीमता**=बुद्धिमान्।

अनुवाद

हे आचार्य! अपने बुद्धिमान् शिष्य, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार रचित पाण्डवों की इस महान् सेना का अवलोकन कीजिए।।३।।

तात्पर्य

कुशल राजनीतिज्ञ दुर्योधन ब्राह्मणश्रेष्ठ सेनाधिपति द्रोणाचार्य के दोषों को इंगित करना चाहता था। अर्जुन के श्वसुर (द्रौपदी के पिता) राजा द्रुपद और द्रोण में परस्पर राजनीतिक द्वेष था। इस कारण द्रुपद ने एक महायज्ञ का आयोजन करके द्रोणाचार्य का वध करने में समर्थ पुत्र की उत्पत्ति का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। द्रोण यह भलीभाँति जानते थे, पर फिर भी जब द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न युद्ध-शिक्षा के लिए उनकी शरण में आया तो उदार विप्र द्रोण ने उस पर अपने सम्पूर्ण युद्ध-रहस्य उद्घाटित करने में तनिक भी संकोच नहीं किया। अब, कुरुक्षेत्र के युद्ध में धृष्टद्युम्न ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया एवं द्रोणाचार्य से प्राप्त विद्या के आधार पर उसी ने पाण्डव सेना की व्यूह-रचना की। दुर्योधन ने द्रोणाचार्य की इस त्रुटि का निर्देश किया, जिससे वे युद्ध में सजग और दृढ़ रहें। उपरोक्त कथन से उसका यह भी अभिप्राय है कि युद्ध में अपने स्नेहभाजन शिष्यों (पाण्डवों) के प्रति वे कहीं इसी प्रकार दयाभाव न दिखा बैठें। अर्जुन विशेष रूप से द्रोणाचार्य का सर्वाधिक प्रिय एवं प्रतिभावान् शिष्य था। दुर्योधन ने चेतावनी दी कि युद्ध में ऐसी उदारता का व्यवहार परिणाम में पराजयकारी सिद्ध होगा।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।

अत्र=इस पाण्डव सेना में; **शूराः**=शूरवीर; **महेष्वासाः**=महान् धनुर्धारी; **भीमार्जुनसमाः**=भीम तथा अर्जुन के समान; **युधि**=युद्ध में; **युयुधानः**=युयुधान; **विराटः**=विराट; **च**=भी; **द्रुपदः**=द्रुपद; **च**=तथा; **महारथः**=महारथी।

अनुवाद

इस पाण्डव सेना में भीम-अर्जुन के समान अनेक महान् धनुर्धारी शूरवीर योद्धा हैं, जैसे महारथी सात्यकि, विराट तथा द्रुपद आदि।।४।।

तात्पर्य

यद्यपि युद्ध कला में द्रोणाचार्य की महती शक्ति के आगे धृष्टद्युम्न कोई विशेष व्यवधान नहीं था, पर शत्रुपक्ष के दूसरे बहुत से योद्धाओं से भय की सम्भावना थी। इसी से दुर्योधन ने इन्हें अपने विजय-पथ के महान् बाधक बताया है, क्योंकि उनमें से प्रत्येक योद्धा भीम-अर्जुन के समान दुर्धर्ष था। भीम और अर्जुन के बल का दुर्योधन को पर्याप्त ज्ञान था। इसलिए उसने अन्य महारथियों की उनसे ही तुलना की है।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः।।५।।

धृष्टकेतुः=धृष्टकेतु; **चेकितानः**=चेकितान; **काशिराजः**=काशीनरेश; **च**=तथा; **वीर्यवान्**=अत्यन्त बलवान्; **पुरुजित्**=पुरुजित्; **कुन्तिभोजः**=कुन्तिभोज; **च**=तथा; **शैब्यः**=शैब्य; **च**=तथा; **नरपुंगवः**=पुरुषों में श्रेष्ठ।

अनुवाद

इनके अतिरिक्त, धृष्टकेतु, चेकितान, काशीराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, शैब्य, आदि महान् नरश्रेष्ठ एवं पराक्रमी योद्धा भी इस सेना में हैं।।५।।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

युधामन्युः=युधामन्यु; **च**=तथा; **विक्रान्तः**=पराक्रमी; **उत्तमौजाः**=उत्तमौजा; **च**=तथा; **वीर्यवान्**=महान् बलशाली; **सौभद्रः**=सुभद्रापुत्र; **द्रौपदेयाः**=द्रौपदी के पाँचों पुत्र; **च**=तथा; **सर्वे एव**=सभी; **महारथाः**=महारथी हैं।

अनुवाद

पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं।।६।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

अस्माकम्=हमारे दल में; **तु**=भी; **विशिष्टाः**=विशेष शक्तिशाली; **ये**=जो; **तान्**=उन्हें; **निबोध**=जान लीजिए; **द्विजोत्तम**=हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ; **नायकाः**=सेनापति; **मम**=मेरी; **सैन्यस्य**=सेना के; **संज्ञार्थम्**=जानने के लिए; **तान्**=उन्हें; **ब्रवीमि**=कहता हूँ; **ते**=आपके।

अनुवाद

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! आपके जानने के लिए अपने सैन्य-बल के योग्य सेनापतियों का भी मैं वर्णन करता हूँ।।७।।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८।।

भवान्=आप; **भीष्मः**=पितामह भीष्म; **च**=तथा; **कर्णः**=कर्ण; **च**=तथा; **कृपः**=कृपाचार्य; **च**=और; **समितिंजयः**=सदा संग्राम विजयी; **अश्वत्थामा**=अश्वत्थामा; **विकर्णः**=विकर्ण; **च**=तथा; **सौमदत्तिः**=सोमदत्तपुत्र; **तथा**=वैसे; **एव**=ही **च**=तथा।

अनुवाद

हमारी सेना में स्वयं आप, पितामह भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा आदि हैं; ये सभी संग्राम में सदा विजयी रहे हैं।।८।।

तात्पर्य

यहाँ दुर्योधन ने अपने दल के नित्य संग्राम-विजयी विलक्षण वीरों का उल्लेख किया है। विकर्ण दुर्योधन का अनुज था तथा अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का पुत्र था। सौमदत्ति अर्थात् भूरिश्रवा बाह्लीक देश के राजा का आत्मज था। कर्ण अर्जुन का

सौतेला भाई था। उसका जन्म माता कुन्ती की कन्यावस्था में, महाराज पाण्डु से उनका विवाह होने के पूर्व हुआ। कृपाचार्य की पत्नी द्रोण की यमजा बहन थी।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।।९।।

अन्ये=और, **च**=भी; **बहवः**=अनेक; **शूराः**=शूरवीर; **मत्-अर्थे**=मेरे लिए; **त्यक्तजीविताः**=प्राणार्पण को उद्यत; **नाना**=विविध; **शस्त्रप्रहरणाः**=शस्त्रों से युक्त हैं; **सर्वे**=सब के सब; **युद्ध**=रण में; **विशारदाः**=कुशल हैं।

अनुवाद

अन्य अनेक शूरवीर भी मेरे लिए प्राणों की आहुति देने को उद्यत हैं। वे सभी विविध शस्त्रों से सुसज्जित हैं और युद्ध-कला में निपुण हैं।।९।।

तात्पर्य

जहाँ तक जयद्रथ, कृतवर्मा, शल्य, प्रभृति अन्यान्य योद्धाओं का सम्बन्ध है, वे सभी दुर्योधन के लिए प्राणोत्सर्ग करने को कृतसंकल्प हैं। प्रकारान्तर से, यह पूर्वनिश्चित है कि पापाचारी दुर्योधन का पक्ष लेने के कारण कुरुक्षेत्र के युद्ध में वे सब के सब अवश्यमेव कालकवलित हो जायेंगे। तथापि, मित्रों के पूर्वोक्त समवेत बल के आधार पर दुर्योधन को पूर्ण विश्वास है कि अन्त में वही विजयी होगा।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।।१०।।

अपर्याप्तम्=अपार (है); **तत्**=वह; **अस्माकम्**=हमारा; **बलम्**=सैन्यबल; **भीष्म**=पितामह भीष्म द्वारा; **अभिरक्षितम्**=भलीभाँति संरक्षित; **पर्याप्तम्**=सीमित है; **तु**=किन्तु; **इदम्**=इन; **एतेषाम्**=पाण्डवों का; **बलम्**=बल; **भीम**=भीम द्वारा; **अभिरक्षितम्**=सावधानीपूर्वक रक्षित।

अनुवाद

पितामह भीष्म द्वारा भलीभाँति संरक्षित हमारा सैन्यबल निस्सन्देह अपार है, जबकि भीम द्वारा सावधानीपूर्वक रक्षित पाण्डवों का सैन्यबल अत्यन्त सीमित है।।१०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में दुर्योधन ने दोनों सेनाओं के बल की तुलना की है। उसकी धारणा में सब से अधिक अनुभवी सेनानायक पितामह भीष्म द्वारा विशेष रूप से संरक्षित होने से उसका सैन्यबल अपार है। दूसरी ओर, पाण्डवों का सैन्यबल अत्यन्त सीमित है, क्योंकि उसका नेतृत्व अल्प अनुभवप्राप्त भीम कर रहे हैं, जो भीष्म की तुलना में तृणतुल्य हैं। दुर्योधन भीम के प्रति सदा ईर्ष्याभाव से ग्रस्त रहता था, क्योंकि वह यह भलीभाँति जानता था कि उसकी मृत्यु केवल भीम के हाथ ही हो सकेगी। परन्तु इस समय स्वपक्ष में भीम से कहीं उत्कृष्ट सेनापति भीष्म की

उपस्थिति को देखते हुए दुर्योधन का विश्वास है उसकी विजय पूर्ण रूप से निश्चित है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

अयनेषु=सामरिक महत्त्व के स्थलों पर; **च**=तथा; **सर्वेषु**=सब; **यथा-भागम्**=अपने-अपने; **अवस्थिताः**=स्थित रहते हुए; **भीष्मम्**=पितामह भीष्म को; **एव**=ही; **अभिरक्षन्तु**=सहयोग दें; **भवन्तः**=आप; **सर्वे एव**=सभी; **हि**=निःसन्देह।

अनुवाद

अतएव सैन्य-व्यूह में सामरिक महत्त्व के अपने-अपने स्थानों पर स्थित रहते हुए आप सभी पितामह भीष्म से पूरा सहयोग करें।।११।।

तात्पर्य

पितामह भीष्म के शौर्य की स्तुति करके दुर्योधन ने विचार किया कि अन्य योद्धा कहीं यह न समझ लें कि उन्हें यथोचित सम्मान नहीं दिया गया। अतः अपनी स्वाभाविक कूटनीति के अनुरूप, स्थिति की उचित व्यवस्था के लिए उसने ये वचन कहे। उसके कहने का अभिप्राय था कि यद्यपि भीष्मदेव निःसन्देह सर्वोत्तम योद्धा हैं, परन्तु वे अब अति वृद्ध हो चुके हैं; इसलिए सब योद्धा सम्पूर्ण दिशाओं से उनकी विशेष रक्षा करने को उद्यत रहें। युद्ध की किसी एक दिशा में भीष्म की पूर्ण व्यस्तता का शत्रु अनुचित लाभ उठा सकता है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि दूसरे योद्धा व्यूह में अपने-अपने स्थलों पर स्थित रहकर शत्रु को व्यूहरचना भंग न करने दें। दुर्योधन का निश्चित मत था कि कौरवों की विजय पूर्ण रूप से युद्ध में भीष्म की उपस्थिति पर निर्भर करती है। उसे युद्ध में भीष्म तथा द्रोण से पूर्ण सहयोग की आशा थी। वह जानता था कि जब द्रौपदी को भरी सभा में वस्त्र-हरण कर नग्न किया जा रहा था, तब उस असहाय अवस्था में उसने उन दोनों से न्याय की याचना की; किन्तु वे मूक बने बैठे रहे। यह जानते हुए भी कि उसके दोनों सेनाधिपतियों (भीष्म-द्रोण) का पाण्डवों के प्रति स्नेहभाव है, दुर्योधन को पूरा विश्वास है कि वे अब फिर उस स्नेह को उसी भाँति पूर्ण रूप से त्याग देंगे, जैसा उन्होंने द्यूतक्रीड़ा के अवसर पर किया था।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

तस्य=उसका; **संजनयन्**=वर्धन करते हुए; **हर्षम्**=हर्ष का; **कुरुवृद्धः**=कुरुवंश के वयोवृद्ध (भीष्म); **पितामहः**=पितामह भीष्म ने; **सिंहनादम्**=सिंह की गर्जना के समान; **विनद्य**=गरज कर; **उच्चैः**=उच्च स्वर में; **शंखम्**=शंख; **दध्मौ**=बजाया; **प्रतापवान्**=बलशाली।

अनुवाद

इस प्रकार द्रोणाचार्य से कहे दुर्योधन के इन वचनों को सुनकर कौरवों के

वृद्ध एवं प्रतापी पितामह भीष्म ने उसे हर्षित करते हुए सिंह-गर्जन के समान उच्च स्वर से शंखनाद किया।।१२।।

तात्पर्य

कुरुवंश के वयोवृद्ध पितामह भीष्म पौत्र दुर्योधन का मनोभाव जान गए। अतः उसके लिए स्वाभाविक दया से प्रेरित होकर उन्होंने अपनी सिंहोचित स्थिति के अनुरूप तुमुल शंखनाद करके उसे आह्लादित करने का प्रयास किया। परोक्ष रूप में शंख की लाक्षणिकता से उन्होंने अपने निरुत्साह पौत्र दुर्योधन को सूचित किया कि युद्ध में उसकी विजय सर्वथा असम्भव है, क्योंकि परमेश्वर श्रीकृष्ण उसके शत्रुपक्ष में हैं। तथापि, युद्ध का संचालन उनका कर्तव्य है, जिसका वे पूर्ण निर्वाह करेंगे।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

ततः=उसके अनन्तर; **शंखाः**=शंख; **च**=तथा; **भेर्यः**=नगारे; **च**=तथा; **पणवानक**=ढोल-मृदंग; **गोमुखाः**=गोमुख; **सहसा**=अकस्मात्; **एव**=ही; **अभ्यहन्यन्त**=एक साथ बज उठे; **सः**=वह; **शब्दः**=स्वर; **तुमुलः**=अति भयंकर; **अभवत्**=हुआ।

अनुवाद

इसके अनन्तर शंख, नगारे, ढोल, मृदंगादि सहसा एक ही साथ बज उठे; उनका वह स्वर अति भयंकर हुआ।।१३।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।।१४।।

ततः=तत्पश्चात्; **श्वेतैः**=श्वेत; **हयैः**=घोड़ों से; **युक्ते**=युक्त; **महति**=महान्; **स्यन्दने**=रथ में; **स्थितौ**=विराजमान; **माधवः**=श्रीकृष्ण; **पाण्डवः**=पाण्डुपुत्र अर्जुन ने; **च**=तथा; **एव**=भी; **दिव्यौ**=दिव्य; **शंखौ**=शंख; **प्रदध्मतुः**=बजाये।

अनुवाद

दूसरी ओर, श्वेत घोड़ों से युक्त महिमामय रथ पर विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन ने अपने दिव्य शंखों का वादन किया।।१४।।

तात्पर्य

भीष्मदेव द्वारा बजाये गये शंख की अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के शंखों को **दिव्य** कहा गया है। अलौकिक शंखों के नाद से स्पष्ट है कि विपक्षी कौरव दल की विजय की कोई सम्भावना नहीं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया है। **जयस्तुपाण्डुपुत्राणां येषां पक्षे जनार्दनः**—जय सदा पाण्डव जैसे धर्मात्माओं का ही वरण करती है, क्योंकि उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण का समाश्रय प्राप्त रहता है'। श्रीभगवान् जिस देश-काल में विराजमान रहते हैं, लक्ष्मी भी वहाँ अवश्य निवास करती है, क्योंकि वह अपने स्वामी की नित्य अनुगामिनी है।

अतः भगवान् श्रीकृष्ण (श्रीविष्णु) के शंखनाद से प्रकट हो रहा है कि विजय एवं श्री अर्जुन की प्रतीक्षा कर रही हैं। इसके अतिरिक्त, जिस रथ में दोनों सखा विराजमान हैं, वह अर्जुन को अग्निदेव ने प्रदान किया था। इस कारण वह रथ त्रिभुवन-दिग्विजय करने में समर्थ है।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

पाञ्चजन्यम्=पाञ्चजन्य नामक शंख; **हृषीकेशः**=हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण ने, जो भक्तों की इन्द्रियों का सञ्चालन करते हैं; **देवदत्तम्**=देवदत्त नामक शंख; **धनंजयः**=धनंजय (विपुल धन प्राप्त करने वाले अर्जुन ने); **पौण्ड्रम्**=पौण्ड्र नामक शंख; **दध्मौ**=बजाया; **महाशंखम्**=महान् शंख; **भीमकर्मा**=अतिमानवीय कर्म करने वाले; **वृकोदरः**=बहुभोजी (भीम) ने।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने पाञ्चजन्य नामक शंख का वादन किया तथा अर्जुन ने देवदत्त शंख बजाया। अतिमानवीय कर्म करने वाले अतिभोजी भीम ने पौण्ड्र नामक शंख की भंयकर ध्वनि की।।१५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण को **हृषीकेश** कहा गया है, क्योंकि वे सम्पूर्ण इन्द्रियों के स्वामी हैं। जीव उनके भिन्न-अंश हैं, अतः जीवों की इन्द्रियाँ भी उनकी इन्द्रियों की भिन्न-अंश हैं। निर्विशेषवादी जीवों की इन्द्रियों का कारण बताने में असमर्थ हैं। इसीलिए वे सदा जीवों को इन्द्रियरहित अथवा निर्विशेष कहने को उत्कण्ठित रहते हैं। यथार्थ में सब जीवों के अन्तर्यामी श्रीभगवान् ही उनकी इन्द्रियों का निर्देशन करते हैं। अपने प्रति जीव की शरणागति के अनुपात में वे उसका नियन्त्रण करते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त की इन्द्रियों का तो वे प्रकट रूप से संचालन करते हैं, जैसे कुरुक्षेत्र की इस युद्धभूमि में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन की चिन्मय इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण कर रहे हैं। इसलिए उन्हें **हृषीकेश** सम्बोधित किया गया है। श्रीभगवान् की विविध रसमयी लीलाओं के अनुसार उनके विविध नाम हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने मधु नामक दैत्य का वध किया, इसलिए मधुसूदन कहलाये; गायों एवं इन्द्रियों को रसानन्द का आस्वादन कराते हैं, इसलिए गोविन्द हैं; वसुदेव के पुत्ररूप में प्रकट होने के कारण वासुदेव नाम से प्रख्यात हैं; देवकी को माता स्वीकार करने से देवकीनन्दन कहलाए; श्रीधाम वृन्दावन में अपनी बाललीला का यशोदा मैय्या को आस्वादन कराया, इसलिए उनका यशोदानन्दन नाम हुआ तथा सखा अर्जुन का सारथ्य करने से उन्हें पार्थसारथी कहा गया। इसी प्रकार कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन के मार्गदर्शक के रूप में उनका एक नाम हृषीकेश है।

अर्जुन को इस श्लोक में **धनंजय** कहा गया है, क्योंकि नाना यज्ञों के लिए

विपुल धनराशि के उपार्जन में उसने अपने अग्रज राजा युधिष्ठिर की सहायता की थी। इसी भाँति बहुभोजन तथा हिडिम्बासुर वध जैसे अतिमानवीय कार्यकलाप करने वाले भीम को वृकोदर कहा जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् तथा पाण्डव दल के अन्यान्य पुरुषों द्वारा विशिष्ट शंखों का वादन स्वपक्षी सेनाओं के लिए अत्यन्त उत्साहवर्धक था। विपक्ष में इस वैशिष्ट्य का अत्यन्त अभाव था। परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीदेवी लक्ष्मी भी वहाँ विराजमान नहीं। अतएव युद्ध में कौरवों की पराजय पूर्वनिश्चित है—शंखनाद ने इसी सन्देश का उद्घोष किया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।

अनन्तविजयम्=अनन्तविजय नामक शंख; **राजा**=राजा; **कुन्तीपुत्रः**=कुन्तीपुत्र; **युधिष्ठिरः**=युधिष्ठिर ने; **नकुलः**=नकुल; **सहदेवः च**=और सहदेव ने; **सुघोषमणिपुष्पकौ**=सुघोष तथा मणिपुष्पक नामक शंख वजाये; **काश्यः**=काशिराज; **च**=तथा; **परमेष्वासः**=महान् धनुर्धारी; **शिखण्डी**=शिखण्डी; **च**=तथा; **महारथः**=महारथी; **धृष्टद्युम्नः**=धृष्टद्युम्न; **विराटः**=विराट (अज्ञात वास के समय पाण्डवों के आश्रयदाता; **च**=तथा; **सात्यकिः**=सात्यकि (युयुधान—श्रीकृष्ण का सारथी); **च**=तथा; **अपराजितः**=सदा विजयी; **द्रुपदः**=द्रुपद (पाञ्चाल नरेश); **द्रौपदेयाः**=द्रौपदीपुत्र; **च**=तथा; **सर्वशः**=इन सभी ने; **पृथिवीपते**=हे राजन्; **सौभद्रः च**=सुभद्रापुत्र अभिमन्यु ने भी; **महाबाहुः**=पराक्रमी; **शंखान्**=शंख; **दध्मुः**=वजाए; **पृथक्-पृथक्**=अलग-अलग।

अनुवाद

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख बजाया और नकुल-सहदेव ने सुघोष एवं मणिपुष्पक नाम वाले शंखों का वादन किया। महान् धनुर्धारी काशीराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र तथा सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) आदि, इन सभी ने हे राजन्! अपने-अपने शंख बजाये।।१६-१८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में सञ्जय ने राजा धृतराष्ट्र को अतिशय पटुतापूर्वक सूचित किया है कि राज्य-सिंहासन पर अपने पुत्रों को स्थापित करने के लिए पाण्डवों से छल करने की उनकी अविवेकपूर्ण नीति अधिक श्लाघ्य नहीं थी। लक्षणों से स्पष्ट है कि उस महासंग्राम में सम्पूर्ण कुरुवंश का महाविनाश हो जायेगा। कुलवृद्ध भीष्म से लेकर

अभिमन्यु आदि पौत्रों तक वहाँ एकत्रित सारे कौरव तथा पृथ्वी के अन्य सब राजा भी काल-कवलित होने वाले हैं। पुत्रों की कुनीति को उत्साहित करने के लिए राजा धृतराष्ट्र पर ही इस महाविपत्ति का सम्पूर्ण उत्तरदायित्त्व है।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन्।।१९।।

सः=उस; **घोषः**=शब्द ने; **धार्तराष्ट्राणाम्**=धृतराष्ट्र पुत्रों के; **हृदयानि**=हृदयों को; **व्यदारयत्**=विदीर्ण कर दिया; **नभः**=आकाश; **च**=तथा; **पृथिवीम्**=पृथ्वी को; **च एव**=भी; **तुमुलः**=भयंकर रूप से; **अभ्यनुनादयन्**=प्रतिध्वनि से परिपूरित करते हुए।

अनुवाद

शंखों के उस तुमुल घोष ने आकाश तथा पृथ्वी को शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय को विदीर्ण कर दिया।।१९।।

तात्पर्य

दुर्योधन के पक्षपाती भीष्म आदि योद्धाओं के शंखनाद का पाण्डवों पर कुछ भी प्रभाव पड़ा हो, ऐसी किसी घटना का वर्णन नहीं हुआ है। परन्तु इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि पाण्डव-सैन्यसंकुल के शंखनाद से धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय विदीर्ण हो गए। इसमें हेतु है पाण्डवों का अपना पराक्रम और इससे भी अधिक, भगवान् श्रीकृष्ण में उनका अटूट विश्वास। इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण के शरणागत भक्तों के लिए परम विपत्ति में भी भय का कोई कारण नहीं हो सकता।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।।२०।।

अथ=उसके उपरान्त; **व्यवस्थितान्**=स्थित हुए; **दृष्ट्वा**=देखकर; **धार्तराष्ट्रान्**=धृतराष्ट्रपुत्रों को; **कपिध्वजः**=श्रीहनुमान् जी से युक्त ध्वजा वाले; **प्रवृत्ते**=कटिबद्ध हुआ; **शस्त्रसंपाते**=वाण चलाने के लिए; **धनुः**=धनुष; **उद्यम्य**=हाथ में लेकर; **पाण्डवः**=पाण्डुपुत्र अर्जुन ने; **हृषीकेशम्**=भगवान् श्रीकृष्ण से; **तदा**=उस समय; **वाक्यम्**=वचन; **इदम्**=ये; **आह**=कहे; **महीपते**=हे राजन्।

अनुवाद

हे राजन्! उस समय श्रीहनुमान्-चिन्ह से युक्त ध्वजा वाले अपने रथ में स्थित पाण्डुपुत्र अर्जुन धृतराष्ट्र पुत्रों को देखता हुआ धनुष धारण कर बाण चलाने के लिए कटिबद्ध हुआ। हे राजन्! उसी समय अर्जुन ने भगवान् हृषीकेश (श्रीकृष्ण) से ये वचन कहे।।२०।।

तात्पर्य

युद्ध का उपक्रम होने ही वाला है। पूर्वोक्त वाक्य से स्पष्ट है कि जिन पाण्डवों को युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण से साक्षात् मार्गदर्शन प्राप्त है, उनकी कल्पनातीत सैन्य-व्यवस्था को देखकर धृतराष्ट्रपुत्र प्रायः हतोत्साहित हो चुके हैं। अर्जुन की ध्वजा पर श्रीहनुमान् जी का चिन्ह भी विजय का मंगलमय प्रतीक है, क्योंकि हनुमान् जी ने राम-रावण युद्ध में भगवान् राम की सहायता की थी, जिससे श्रीराम की उल्लासमयी त्रिभुवन-विदित विजय हुई। इस समय राम एवं हनुमान् दोनों ही अर्जुन के रथ पर उसकी सहायता के लिए विराजमान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं राम हैं और जहाँ भी भगवान् राम विराजमान रहते हैं, वहाँ उनके नित्य दास हनुमान् जी और नित्य अर्धांगिनी लक्ष्मीदेवी सीता जी भी अवश्य निवास करती हैं। अतः अर्जुन के लिए शत्रुभय का कोई कारण नहीं है। इससे भी अधिक, इन्द्रियों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का मार्गदर्शन करने को स्वयं उपस्थित हैं, जिससे अर्जुन को युद्ध सम्बन्धी सम्पूर्ण सद्परामर्श अनायास उपलब्ध रहेगा। अपने नित्य भक्त के लिए श्रीभगवान् द्वारा नियोजित ऐसी मंगलमयी स्थिति में निश्चित विजय के लक्षण सन्निहित रहते हैं।

अर्जुन उवाच।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।२२।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **सेनायोः**=सेनाओं के, **उभयोः**=दोनों; **मध्ये**=मध्य में; **रथम्**=रथ को; **स्थापय**=खड़ा करिए; **मे**=मेरे; **अच्युत**=हे अच्युत; **यावत्**=जब तक; **एतान्**=इन सब; **निरीक्षे**=देख लूँ; **अहम्**=मैं; **योद्धुकामान्**=युद्ध की इच्छा वालों को; **अवस्थितान्**=युद्धभूमि में एकत्र हुए; **कैः**=किनके; **मया**=मुझे; **सह**=साथ; **योद्धव्यम्**=युद्ध करना है; **अस्मिन्**=इस; **रण**=युद्ध-रूप; **समुद्यमे**=संघर्ष में।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित कर दीजिए, जिससे यहाँ उपस्थित इन सब युद्ध के अभिलाषी योद्धाओं को मैं देख सकूँ, जिनके साथ इस महासंग्राम में मुझे संघर्ष करना है।।२१-२२।।

तात्पर्य

साक्षात् स्वयं भगवान् होते हुए भी श्रीकृष्ण स्वरूपभूता अहैतुकी करुणा से अभिभूत होकर अपने सखा की सेवा में संलग्न हैं। भक्तों के लिए उनके स्नेह में कभी न्यूनता नहीं आती। इसी से अर्जुन ने यहाँ उन्हें **अच्युत** नाम से सम्बोधित किया है। सारथी के रूप में उन्हें अर्जुन का आज्ञापालन करना था। परन्तु इस प्रसंग

में भी उन्होंने कोई संकोच नहीं किया। इसीलिए वे **अच्युत** कह गये हैं। भक्त के लिए सारथ्य कर्म करने पर भी उनकी सर्वोच्च महिमामयी स्थिति पूर्ववत् अक्षुण्ण बनी रही। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थिति में वे पुरुषोत्तम समग्र इन्द्रियों के स्वामी, हृषीकेश हैं। वस्तुतः श्रीभगवान् और उनके सेवक का परस्पर सम्बन्ध अतिशय मधुरिमामय एवं दिव्य है। सेवक अपने सेव्य भगवान् की सेवा में सदा प्रस्तुत रहता है। इसी भाँति भगवान् भी ऐसे सुयोग के लिए नित्य उत्कण्ठित रहते हैं जब वे भक्त की सेवा कर सकें। स्वयं आज्ञा देने की अपेक्षा अपने शुद्ध भक्त को आज्ञादाता का गौरवमय पद प्रदान कर उससे आज्ञा ग्रहण करने में श्रीभगवान् को विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। ईश्वररूप में वे सबके स्वामी हैं, और उन्हें आज्ञा देने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। पर जब शुद्ध भक्त उन्हें आज्ञा देता है, तो नित्य निरन्तर अच्युत रहने वाले उन प्रभु को चिन्मय आनन्दरस-निर्यास का आस्वादन सुलभ हो जाता है।

शुद्ध भक्त होने के कारण अर्जुन को बन्धु-बान्धवों से युद्ध करना अभीष्ट नहीं था। किन्तु शान्ति-सन्धि न करने विषयक दुर्योधन की हठधर्मी ने उसे युद्धभूमि में उतरने को वाध्य कर दिया। अतएव वह यह जानने के लिए बड़ा उत्सुक है कि वहाँ कौन-कौन महारथी उपस्थित हैं। यद्यपि युद्धभूमि में किसी सन्धि-प्रस्ताव की कोई सम्भावना नहीं है, परन्तु उसे उनका पुनः निरीक्षण करना इष्ट है, यह देखने के लिए कि एक सर्वथा अवाँछनीय युद्ध के लिए वे कितने उद्यत हैं।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

योत्स्यमानान्=युद्ध करने वालों को; **अवेक्षे**=देखूँगा; **अहम्**=मैं; **ये**=जो; **एते**=ये सब; **अत्र**=यहाँ; **समागताः**=आए हैं; **धार्तराष्ट्रस्य**=धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन का; **दुर्बुद्धेः**=दुर्बुद्धि; **युद्धे**=युद्ध में; **प्रिय**=मंगल; **चिकीर्षवः**=चाहने वाले।

अनुवाद

तथा दुर्बुद्धि दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए युद्ध की इच्छा से यहाँ एकत्रित हुए इन योद्धाओं को मैं देखूँगा।।२३।।

तात्पर्य

यह सर्वविदित है कि दुर्योधन अपने पिता धृतराष्ट्र की सहायता से पापपूर्ण दुरभिसन्धियों के द्वारा पाण्डवों के राज्य का बलापहरण करना चाहता था। उसके सब पक्षपाती भी इसी प्रकृति के सिद्ध होते हैं। युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व अर्जुन उन्हें देखने का इच्छुक है, परन्तु उनसे शान्तिवार्ता की प्रस्तावना करने का उनका कोई अभिप्राय नहीं है। उनका अवलोकन कर वह उनके उस सैन्यबल की गणना करना चाहता है, जिसका उसे सामना करना होगा। अन्यथा, स्वपक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण के रहते अपनी विजय के सम्बन्ध में वह पूर्णतया विश्वस्त है।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।

सञ्जयः उवाच=सञ्जय ने कहा, **एवम्**=इस प्रकार; **उक्तः**=कहे हुए; **हृषीकेशः**=भगवान् श्रीकृष्ण ने; **गुडाकेशेन**=अर्जुन द्वारा; **भारत**=हे भरतवंशी; **सेनयोः**=सेनाओं के; **उभयोः**=दोनों; **मध्ये**=मध्य में; **स्थापयित्वा**=खड़ा करके; **रथोत्तमम्**=उस उत्तम रथ को।

अनुवाद

संजय ने कहा, हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अर्जुन द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किए जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित कर दिया।।२४।।

तात्पर्य

इस श्लोक में अर्जुन को गुडाकेश कहा गया है। 'गुडाका' का सामान्य अर्थ निद्रा है। अतएव निद्राविजयी को 'गुडाकेश' कहते हैं। निद्रा का अर्थ अज्ञान भी है। श्रीकृष्ण से अर्जुन का सख्यभाव था। इसके परिणामस्वरूप उसको अज्ञान तथा निद्रा, दोनों पर विजय प्राप्त हुई। भक्त के स्वभाव के अनुरूप अर्जुन को क्षणमात्र के लिए भी श्रीकृष्ण का विस्मरण नहीं होता था। भगवद्भक्त जागृत अथवा सुप्त—किसी भी अवस्था में भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, लीला एवं गुणादि के चिन्तन से विमुख नहीं होता, क्योंकि यह उसके लिए सर्वथा असह्य है। श्रीकृष्ण के निरन्तर चिन्तन के प्रभाव से निद्रा और अज्ञान—इन दोनों पर पूर्णरूप से विजय प्राप्त कर सकता है। श्रीकृष्ण की सतत स्मृति को ही कृष्णभावनामृत अथवा समाधि कहते हैं। हृषीकेश अर्थात् जीवमात्र के मन एवं इन्द्रियों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण दोनों सेनाओं के मध्य रथ स्थापन कराने में अर्जुन के अभिप्राय को जानते थे। अतएव उन्होंने ऐसा ही किया और फिर ये वचन कहे।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।२५।।

भीष्म=भीष्म पितामह; **द्रोण**=द्रोणाचार्य के; **प्रमुखतः**=सामने; **सर्वेषाम्**=सब; **च**=तथा; **महीक्षिताम्**=विश्व के नरपतियों के; **उवाच**=कहा; **पार्थ**=हे अर्जुन; **पश्य**=देख; **एतान्**=इन; **समवेतान्**=एकत्र हुए; **कुरून्**=कौरवों को; **इति**=इस प्रकार।

अनुवाद

भीष्म, द्रोण और विश्व के अन्य सभी राजाओं के सामने भगवान् हृषीकेश ने कहा कि हे पार्थ! यहाँ एकत्रित हुए इन सब कौरवों को देख।।२५।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण, जो जीवमात्र के अन्तर्यामी हैं, अर्जुन की मनःस्थिति को समझ गए। इस सन्दर्भ में **हृषीकेश** शब्द उनकी सर्वज्ञता का सूचक है तथा अर्जुन के लिए प्रयुक्त **पार्थ** शब्द भी इसी प्रकार सारगर्भित है। श्रीकृष्ण अपने सखा को यह सूचित करना चाहते हैं कि उन्होंने उसका सारथ्य इसीलिए स्वीकार किया, कि वह उनकी बुआ कुन्ती (पृथा) का पुत्र है। परन्तु 'कौरवों का अवलोकन कर'—यह कहने से श्रीकृष्ण का क्या अभिप्राय है? क्या अर्जुन युद्ध से उपरत हो जाना चाहता है? श्रीकृष्ण को बुआ कुन्ती के पुत्र से ऐसी आशा नहीं थी। इस विधि से मित्रोचित परिहास में भगवान् ने अर्जुन की मनःस्थिति की पूर्वसूचना दी है।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।।२६।।

तत्र=वहाँ; **अपश्यत्**=देखा; **स्थितान्**=स्थित हुए; **पार्थः**=अर्जुन ने; **पितॄन्**=पितृ-तुल्य गुरुजनों; **अथ**=तथा; **पितामहान्**=पितामहों को; **आचार्यान्**=आचार्यों को; **मातुलान्**=मामाओं को; **भ्रातॄन्**=भाइयों को; **पुत्रान्**=पुत्रों को; **पौत्रान्**=पौत्रों को; **सखीन्**=सखाओं को; **तथा**=और; **श्वशुरान्**=श्वसुरों को; **सुहृदः च**=और हितैषियों को; **एव**=भी; **सेनयोः**=सेनाओं में; **उभयोः अपि**=दोनों ही।

अनुवाद

अर्जुन ने उन दोनों दलों की सेनाओं में खड़े हुए पितृतुल्य गुरुजनों, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पौत्रों, मित्रों, श्वसुरों और सुहृदों को भी देखा।।२६।।

तात्पर्य

अर्जुन को युद्धभूमि में सभी सम्बन्धियों का दर्शन हुआ। उसने पितृतुल्य भूरिश्रवा आदि, पितामह भीष्म एवं सोमदत्त, आचार्य द्रोण तथा कृप, शल्य और शकुनी आदि मामाओं दुर्योधन आदि भाइयों, लक्ष्मण आदि पुत्रों, अश्वत्थामा आदि मित्रों तथा कृतवर्मा आदि सुहृदों को देखा। उसने उन संकुलों को भी देखा जिनमें उसके बहुत से मित्र थे।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।।२७।।

तान्=उन; **समीक्ष्य**=देखकर; **सः**=वह; **कौन्तेयः**=कुन्तीपुत्र अर्जुन; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **बन्धून्**=बन्धुओं को; **अवस्थितान्**=खड़े हुए; **कृपया**=दया से; **परया**=अत्यन्त; **आविष्टः**=अभिभूत होकर; **विषीदन्**=शोक करता हुआ; **इदम्**=इस प्रकार; **अब्रवीत्**=बोला।

अनुवाद

बन्धु-बान्धवों के इन सब वर्गों को देखकर करुणा से अत्यन्त आक्रान्त हुआ अर्जुन इस प्रकार बोला।।२७।।

अर्जुन उवाच।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।।२८।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **दृष्ट्वा**=देखकर; **इमम्**=इस; **स्वजनम्**=कुल को; **कृष्ण**=हे कृष्ण; **युयुत्सुम्**=युद्ध की इच्छा से; **समुपस्थितम्**=खड़े हुए; **सीदन्ति**=शिथिल हो रहे हैं; **मम**=मेरे; **गात्राणि**=शरीर के अंग; **मुखम्**=मुख; **च**=भी; **परिशुष्यति**=सूखा जाता है।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! युद्ध के लिए सम्मुख खड़े हुए इस स्वजन-समुदाय को देखकर मेरे शरीर के अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख भी सूखा जाता है।।२८।।

तात्पर्य

यथार्थ भगवद्भक्त सम्पूर्ण दैवी गुणावली से नित्य युक्त रहता है। दूसरी ओर अभक्त चाहे विद्या एवं सभ्यता की प्राकृत योग्यताओं में कितनी भी प्रगति कर ले, पर उस में कोई दैवी गुण नहीं होता। इस कारण, युद्धभूमि में बन्धु-बांधवों को देखते ही अर्जुन उन परस्पर युद्ध की इच्छा वालों पर दयार्द्र हो उठा। अपने सैनिकों के प्रति तो उसकी सहानुभूति पूर्व से थी ही, अब शत्रुपक्ष के सैनिकों की आसन्न मृत्यु को देखते हुए वह उन पर भी द्रवित हो गया। निकटवर्ती महाविनाश की कल्पना से उसके अंगों में कम्प होने लगा और मुख सूख सा गया। वहाँ पर समवेत योद्धाओं की युद्ध-भावना को देखकर उसे महान् विस्मय हुआ। प्रायः सम्पूर्ण कुल, सभी कुटुम्बी उससे युद्ध करने आए थे। इससे दयामय भक्त अर्जुन करुणा से द्रवित हो उठा। यद्यपि यहाँ उल्लेख नहीं है, परन्तु यह सहज अनुमान का विषय है कि अर्जुन के मुख का सूखना और अंगों में कम्पन ही नहीं हो रहा था, वह दयाजन्य अश्रुविमोचन भी कर रहा था। उसमें इन लक्षणों के प्रादुर्भाव का कारण दौर्बल्य न होकर हृदय की कोमलता है, जो शुद्ध भगवद्भक्त का एक प्रधान लक्षण है। इसी हेतु श्रीमद्भागवत में उल्लेख है:—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।

भगवान् श्रीकृष्ण के निष्किंचन भक्त में सभी दैवी गुणों का नित्य निवास रहता है। अभक्त में तो केवल तुच्छ प्राकृत गुण ही रहते हैं, क्योंकि मनोरथों के पीछे धावन करते रहने से वह अवश्य माया के प्रति आकृष्ट हो जाता है। (श्रीमद्भागवत ५.१८.१२)

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।।२९।।

वेपथुः=कम्प; **च**=तथा; **शरीरे**=शरीर में; **मे**=मेरे; **रोमहर्षः**=रोमांच; **च**=भी; **जायते**=होता है; **गाण्डीवम्**=गाण्डीव धनुष; **स्रंसते**=गिरता है; **हस्तात्**=हाथ से; **त्वक् च एव**=त्वचा भी; **परिदह्यते**=जलती है।

अनुवाद

मेरे सम्पूर्ण शरीर में कम्प तथा रोमांच हो रहा है, गाण्डीव धनुष हाथ से गिरा जाता है और त्वचा भी जलती है।।२९।।

तात्पर्य

शरीर में होने वाले कम्प तथा रोमांच दो प्रकार के हैं। इनकी अभिव्यक्ति भगवद्भाव में विभोरता होने पर अथवा भवबंधन में महाभय की प्रप्ति होने पर होती है। परतत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर भय शेष नहीं रहता। अतः इस समय अर्जुन में ये लक्षण प्राणहानि के प्राकृत भयवश उत्पन्न हुए हैं। अन्य लक्षणों से भी यह स्पष्ट है। वह इतना अधीर हो गया कि उसका त्रिभुवन विश्रुत गाण्डीव धनुष तक उसके हाथ से गिरा जा रहा था तथा आन्तरिक दाह के कारण उसे अपनी त्वचा भी जलनी प्रतीत हो रही थी। ये सब लक्षण देहात्मबुद्धि के परिणाम हैं।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।।३०।।

न च शक्नोमि=और न ही मैं समर्थ हूँ; **अवस्थातुम्**=स्थित रहने में; **भ्रमति इव**=भ्रमित सा हो रहा हूँ; **च**=तथा; **मे**=मेरा; **मनः**=मन; **निमित्तानि च**=लक्षणों को भी; **पश्यामि**=देखता हूँ; **विपरीतानि**=विपरीत; **केशव**=हे केशव।

अनुवाद

यहाँ और अधिक खड़े रहने में भी मैं समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि अपने को भूलता सा जा रहा हूँ तथा मेरा मन भी भ्रमित हो रहा है। हे केशव! भविष्य में भी मुझे केवल अमंगल ही अमंगल दृष्टिगोचर होता है।।३०।।

तात्पर्य

अति अधीर होने से अर्जुन युद्ध-भूमि में स्थित रहने में असमर्थ हो गया। यही नहीं, मन की दुर्बलतावश उसे अपना विस्मरण सा होता जा रहा था। विषय में प्रबल आसक्ति मनुष्य को मोहमय स्थिति में पहुँचा देती है। **भयं द्वितीयाभिनिवेशतः**, जो प्राकृत परिस्थितियों के अत्यधिक वशीभूत रहते हैं उन में ही ऐसा भय और अभिनिवेश होता है। अर्जुन को युद्धभूमि में केवल दुःख की प्रतीति हो रही थी, मानो शत्रु-विजय करने पर भी वह प्रसन्न नहीं हो सकेगा। **निमित्त** शब्द अर्थपूर्ण है। जीवन में निराशा ही निराशा देखने पर मनुष्य विचार करता है, 'मैं यहाँ क्यों हूँ?'

वस्तुतः प्रत्येक प्राणी केवल अपने में और अपने स्वार्थ में रुचि रखता है। परम पुरुष श्रीकृष्ण में किसी की भी रुचि नहीं है। अर्जुन से यह आशा थी कि वह अपने स्वार्थ की उपेक्षा करके भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा का अनुसरण करेगा, जो प्राणीमात्र का वास्तविक स्वार्थ है। बद्धजीव इस सत्य को भूल जाता है और इसी कारण सांसारिक दुःख भोगता है। अर्जुन का विचार है कि युद्ध में विजय भी उसके लिए शोक का ही कारण सिद्ध होगी।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।।३१।।

न=न; **च श्रेयः**=कल्याण ही; **अनुपश्यामि**=देखता हूँ; **हत्वा**=मार कर; **स्वजनम्**=अपने कुल को; **आहवे**=युद्ध में; **न**=नहीं; **कांक्षे**=चाहता; **विजयम्**=विजय; **कृष्ण**=हे कृष्ण; **न च**=और न ही; **राज्यम्**=राज्य; **सुखानि च**=और सुख।

अनुवाद

युद्ध में स्वजनों का वध करने से मुझे कुछ भी श्रेयप्राप्ति होती दिखाई नहीं देती, और न ही हे गोविन्द! युद्ध से प्राप्त होने वाले विजय, राज्य अथवा सुख की मुझे इच्छा ही है।।३१।।

तात्पर्य

यह जाने बिना कि उनका वास्तविक स्वार्थ भगवान् श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) में है, सुख की कामना से प्रेरित हुए बद्ध जीव देह के सम्बन्धों में ही आसक्त रहते हैं। वे मोहवश भूल जाते हैं कि प्राकृत सुख के स्रोत भी श्रीकृष्ण हैं। प्रतीत होता है कि अर्जुन को तो क्षात्र-धर्म का भी विस्मरण हो गया है। शास्त्र के अनुसार केवल दो प्रकार के व्यक्ति जाज्वल्यमान सूर्यमण्डल में प्रविष्ट होने के योग्य हैं—एक श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए क्षत्रिय और दूसरे पूर्णरूप से भगवद्भक्ति-परायण संन्यासीगण। सम्बन्धियों की तो बात ही क्या, अर्जुन तो अपने शत्रुओं को भी मारने से पराङ्मुख हो रहा है। उसका विश्वास है कि बान्धवों का वध करने से उसके जीवन में सुख का अत्यंत अभाव हो जायगा। अतः वह युद्ध नहीं करना चाहता, वैसे ही जैसे कोई तृप्त व्यक्ति भोजन बनाने में प्रवृत्त नहीं होता। वरन्, उसने वनगमन करके एकान्त में निराशा भरा जीवन बिताने का निश्चय किया है। क्षत्रिय होने के कारण अपने निर्वाह के लिए उसे एक राज्य चाहिए, क्योंकि क्षत्रियों के लिए अन्य कोई कार्य उचित नहीं है। पर अर्जुन का तो कोई राज्य नहीं है। उसके लिए राज्य-प्राप्ति का एकमात्र साधन भाइयों से युद्ध कर अपना पैतृक राज्य पुनः हस्तगत करना है। परन्तु ऐसा करना उसे अभीष्ट नहीं। इस सब परिस्थिति को देखते हुए वह अपने को वन में जाकर निराशामय एकान्त वास करने के योग्य समझता है।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।।३२।।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।।३३।।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।।३४।।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।।३५।।

किम्=क्या (प्रयोजन है); **नः**=हमें; **राज्येन**=राज्य से; **गोविन्द**= हे गोविन्द; **किम्**=क्या; **भोगैः**=भोगों से; **जीवितेन**=जीवन से; **वा**=अथवा; **येषाम्-अर्थे**=जिन के लिए; **कांक्षितम्**=इच्छित हैं; **नः**=हमें; **राज्यम्**=राज्य; **भोगाः**=विषय; **सुखानि**=समस्त सुख; **च**=तथा; **ते**=वे ही; **इमे**=यह सब; **अवस्थिताः**=स्थित हैं; **युद्धे**=युद्ध में; **प्राणान्**=जीवन; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **धनानि**=वैभव को; **च**=तथा; **आचार्याः**=आचार्य; **पितरः**=पितृ-तुल्य; **पुत्राः**=पुत्र; **तथा**=और; **एव**=निश्चय ही; **च**=तथा; **पितामहाः**=पितामह; **मातुलाः**=मामा; **श्वशुराः**=ससुर; **पौत्राः**=पौत्र; **श्यालाः**=साले; **सम्बन्धिनः**=सम्बन्धी; **तथा**=तथा; **एतान्**=इन्हें; **न**=नहीं; **हन्तुम्**=मारना; **इच्छामि**=चाहता; **घ्नतः**=मारने पर; **अपि**=भी; **मधुसूदन**=हे कृष्ण; **अपि**=भी; **त्रैलोक्य**=त्रिभुवन के; **राज्यस्य हेतोः**=राज्य के लिए; **किम् नु**=कहना ही क्या है; **मही-कृते**=पृथ्वी के लिए तो; **निहत्य**=मारकर; **धार्तराष्ट्रान्**=धृतराष्ट्र के पुत्रों को; **नः**=हमें; **का**=क्या; **प्रीतिः**=प्रसन्नता; **स्यात्**=होगी; **जनार्दन**=हे सब जीवों का पालन करने वाले श्रीकृष्ण।

अनुवाद

हे गोविन्द! हमें राज्य, सुख अथवा जीवन से भी क्या प्रयोजन है, क्योंकि जिनके लिए हमें इन पदार्थों की इच्छा है, वे ही इस युद्ध में खड़े हैं। हे मधुसूदन! गुरुजन, पितृजन, पुत्र, पितामह, मामा, श्वशुर, पौत्र, साले तथा अन्य सम्बन्धी भी धन तथा जीवन की आशा को त्याग कर युद्ध में मेरे सामने खड़े हैं। अपनी प्राणरक्षा के लिए भी इनके वध की इच्छा मैं नहीं कर सकता। हे जनार्दन! त्रिभुवन के राज्य तक के लिए मैं इन स्वजनों से युद्ध नहीं करना चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है।।३२-३५।।

तात्पर्य

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को **गोविन्द** कहा है, क्योंकि वे गायों तथा इन्द्रियों को समग्र रसानन्द का आस्वादन कराते हैं। इस शब्द के प्रयोग से अर्जुन ने यह संकेत किया है कि उसकी इन्द्रियाँ किस प्रकार तृप्त हो सकती हैं। श्रीगोविन्द का कार्य हमारी इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं है, किन्तु यदि हम उनकी इन्द्रियों को तृप्त करने का प्रयत्न करें तो हमारी इन्द्रियाँ अपने-आप तृप्त हो जायेंगी। विषयभोग के द्वारा अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने की इच्छा से प्रेरित हुआ जीव साधारणतया भगवान् तक

को अपना आज्ञाकारी सेवक बनाना चाहता है। श्रीभगवान् जीवों की इन्द्रियों को यथायोग्य तृप्त करते भी हैं, पर उनकी इच्छानुसार नहीं। इसके विपरीत, जो भक्त निजेन्द्रियतृप्ति की कामना से मुक्त होकर श्रीगोविन्द की इन्द्रियों को ही तृप्त करने में संलग्न रहते हैं, भगवत्कृपा से उनकी सर्वाभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। कुटुम्ब और बान्धवों के प्रति अर्जुन का प्रगाढ़ स्नेह है—उनके लिए उसकी स्वाभाविक करुणा के रूप में यह सत्य यहाँ आंशिक रूप से प्रकट हुआ है। यही कारण है कि वह युद्ध से मुख मोड़ रहा है। कोई भी मनुष्य अपने वैभव का बन्धु-बान्धवों के आगे आडंबर करना चाहता है; पर अर्जुन को भय है कि उसके सब बांधव युद्ध में मारे जायेंगे, जिससे विजयी होकर अपने वैभव को वह उनके साथ नहीं भोग सकेगा। विषयी मनुष्य इसी प्रकार सोचता है। किन्तु पारमार्थिक जीवन का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। भक्त केवल भगवत्-इच्छा की पूर्ति करना चाहता है। अतः भगवत्-इच्छा होने पर वह भगवत्सेवा के लिये सारा वैभव स्वीकार कर सकता है और श्रीभगवान् की इच्छा न होने पर उसे तृण भी नहीं स्वीकार करना चाहिए। अर्जुन को स्वजन-वध करना अभीष्ट नहीं। यदि उनके वध की कोई आवश्यकता हो तो श्रीकृष्ण स्वयं उनका वध करें, ऐसा उसका भाव है। सम्प्रति, उसे नहीं पता कि उनके युद्धभूमि में आने से पूर्व ही श्रीकृष्ण उन सबका वध कर चुके हैं, उसे तो केवल निमित्त-मात्र बनना है। इस रहस्य का उद्घाटन अगले अध्यायों में होगा। स्वभावसिद्ध भक्त अर्जुन को अपने अत्याचारी भाइयों तक का प्रतिकार करना अप्रिय लग रहा है, परन्तु श्रीभगवान् की योजना है कि उन सबका वध हो। भगवद्भक्त पापाचारियों का भी प्रतिकार नहीं करता, परन्तु श्रीभगवान् को दुष्टों द्वारा भक्त का उत्पीड़न सहन नहीं होता। वे अपने अपराधी को तो क्षमा कर सकते हैं, पर भक्त का अपराधी उनके लिए कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। इसी कारण, यद्यपि अर्जुन दुष्टों को क्षमा करना चाहता है, पर भगवान् श्रीकृष्ण उनके वध के लिए कृतसंकल्प हैं।

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३६।।

पापम्=पाप को; **एव**=ही; **आश्रयेत्**=प्राप्त होंगे; **अस्मान्**=हम; **हत्वा**=मारकर; **एतान्**=इन; **आततायिनः**=आततायियों को; **तस्मात्**=अतः; **न अर्हाः**=योग्य नहीं है; **वयम्**=हम; **हन्तुम्**=मारने को; **धार्तराष्ट्रान्**=धृतराष्ट्रपुत्रों को; **स्वबान्धवान्**=अपने बन्धु; **स्वजनम्**=बन्धुओं को; **हि**=क्योंकि; **कथम्**=कैसे; **हत्वा**=मार कर; **सुखिनः**=सुखी; **स्याम**=होंगे; **माधव**=हे लक्ष्मीपति कृष्ण।

अनुवाद

ऐसे आततायियों का वध करने पर भी हम पाप को ही प्राप्त होंगे। इसलिए अपने बन्धु धृतराष्ट्र-पुत्रों की हत्या करना हमारे योग्य नहीं है। हे माधव ! स्वजनों के

वध से हमें क्या लाभ होगा; ऐसा करने से हम किस प्रकार सुखी होंगे? ।।३६।।

तात्पर्य

वैदिक विधान के अनुसार आततायी छः प्रकार के होते हैं—(१) विष देने वाला, (२) घर में अग्नि लगाने वाला, (३) शस्त्र से आक्रमण करने वाला, (४) धन अपहरण करने वाला. (५) दूसरे की भूमि पर अधिकार करने वाला तथा (६) स्त्री का अपहरण करने वाला। ऐसे आततायियों का सामने आते ही तुरन्त वध कर देना चाहिये, इससे पाप नहीं लगता। इस प्रकार आततायी को मारना साधारण मनुष्य के लिए योग्य हो सकता है, पर अर्जुन तो साधारण व्यक्ति नहीं है। वह सन्त-स्वभाव से युक्त है और इस कारण उनके साथ सन्तोचित व्यवहार करना चाहता है। परन्तु ऐसा सन्तपन क्षत्रिय के लिए नहीं। भाव यह है कि प्रशासन के उत्तरदायी अधिकारी को सन्त स्वभाव वाला तो होना चाहिए, पर भीरु नहीं। उदाहरणार्थ, भगवान् राम की साधुता के कारण समस्त जनता उनके राज्य (रामराज्य) में रहने के लिए आतुर थी, पर श्रीराम ने कभी कायरता नहीं दिखाई। अपनी धर्मपत्नी सीता देवी का अपहरण करने वाले आततायी रावण को उन्होंने ऐसा दण्ड दियां, जो आज तक विश्व-इतिहास में अद्वितीय है। परन्तु अर्जुन के संदर्भ में एक बड़ा अन्तर है। यहाँ आततायी हैं उसके अपने पितामह, आचार्य, मित्र, पुत्र, पौत्र आदि। यह देखते हुए अर्जुन ने निश्चय किया है कि उन्हें साधारण आततायी को दिया जाने वाला घोर दण्ड देना उसके उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, सत्पुरुषों के लिए क्षमादान का आदेश है और ऐसा शास्त्रीय विधान राजनीतिक अनिवार्यता से अधिक महत्त्व रखता है। इसलिए उसने विचार किया कि राजनीतिक कारणों से स्वजनों का वध करने की अपेक्षा धर्म और सदाचार की दृष्टि से उन्हें क्षमा करना अधिक श्रेष्ठ है। क्षणिक दैहिक सुख के लिए ऐसी हत्या करना उसे श्रेयस्कर नहीं लगा। अन्त में जब राज्य अथवा उससे प्राप्त होने वाला सुख भी नित्य नहीं है, तो स्वजनों का वध करके अपने जीवन एवं शाश्वत् मुक्ति को वह संकट में क्यों डाले? अर्जुन का श्रीकृष्ण को **माधव** अर्थात् 'श्रीपति' सम्बोधित करना भी इसी सन्दर्भ में अर्थसंगत है। उन्हें अर्जुन को ऐसे कार्य में प्रेरित नहीं करना चाहिए, जिसके परिणाम में श्रीहानि हो। परन्तु भक्त के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, श्रीकृष्ण किसी का भी कभी अनिष्ट नहीं करते।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३७।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३८।।

यद्यपि=यह माना कि; **एते**=ये; **न**=नहीं; **पश्यन्ति**=देखते हैं; **लोभ**=लोलुपता से; **उपहत**=अभिभूत हुए; **चेतसः**=चित्त वाले; **कुलक्षय**=कुलनाश; **कृतम्**=करने में;

दोषम्=दोष को; **मित्रद्रोहे**=मित्रों से द्रोह करने में; **च**=भी; **पातकम्**=पाप को; **कथम्**=क्यों; **न**=नहीं; **ज्ञेयम्**=विचार करना चाहिए; **अस्माभिः**=हमें; **पापात्**=पाप से; **अस्मात्**=इस; **निवर्तितुम्**=हटने के लिए; **कुलक्षय**=कुलनाश; **कृतम्**=करने से (होने वाले); **दोषम्**=अपराध को; **प्रपश्यद्भिः**=जानने वाले; **जनार्दन**=हे कृष्ण।

अनुवाद

हे जनार्दन! यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल-नाश करने में अथवा मित्र-द्रोह में कोई दोष नहीं देखते, किन्तु इस पाप को जानने वाले हम इस कर्म में क्यों प्रवृत्त हों।।३७-३८।।

तात्पर्य

क्षत्रिय से यह आशा नहीं की जाती कि युद्ध अथवा द्यूत के लिए शत्रु-पक्ष के निमन्त्रण को वह अस्वीकार करे। इस नियमानुरूप, दुर्योधन के दल द्वारा युद्ध के लिए ललकारे जाने पर अर्जुन युद्ध से उपरत नहीं हो सकता। इस संदर्भ में, अर्जुन का उद्गार है कि यद्यपि शत्रुपक्ष ऐसी ललकार के परिणाम के प्रति अन्धा हो रहा है, पर इसके अशुभ परिणाम को देखता हुआ वह स्वयं तो इस चुनौती को स्वीकार नहीं कर सकता। कर्तव्य वस्तुतः तभी बाध्य कर सकता है, जब परिणाम मंगलमय हो; अन्यथा नहीं। इन सभी पक्ष-विरोधी तर्कों पर विचार कर अर्जुन ने युद्ध न करने का ही निश्चय किया।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।३९।।

कुलक्षये=कुल का नाश होने से; **प्रणश्यन्ति**=नष्ट हो जाते हैं; **कुलधर्माः**=कुलधर्म; **सनातनाः**=सनातन; **धर्मे**=धर्म के; **नष्टे**=नष्ट होने में; **कुलम्**=कुल पर; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **अधर्मः**=अधर्म; **अभिभवति**=अधिकार कर लेता है; **उत**=ऐसा कहा जाता है।

अनुवाद

कुल का नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार शेष कुल भी अधर्म में प्रवृत्त हो जाता है।।३९।।

तात्पर्य

वर्णाश्रम व्यवस्था में ऐसे अनेक परम्परागत धार्मिक नियम हैं, जो सम्पूर्ण कुल के अभ्युदय तथा दैवीगुण-प्राप्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। कुल में जन्म से मृत्यु तक होने वाले इन शुद्धि कृत्यों का दायित्व वयोवृद्धों पर रहता है। वृद्धों की मृत्यु होने पर कुल के ऐसे पारम्परिक शुद्धि कर्म लुप्त हो सकते हैं। इससे यह आशंका रहती है कि शेष बचे तरुण अधर्ममय व्यसनों में प्रवृत्त होकर कहीं मुक्ति-लाभ से वंचित न रह जायें। अतएव किसी भी कारण से कुल के वयोवृद्धों का वध करना योग्य नहीं है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।४०।।

अधर्म=अधर्म के; **अभिभवात्**=बढ़ जाने से; **कृष्ण**=हे कृष्ण; **प्रदुष्यन्ति**=दूषित हो जाती हैं; **कुलस्त्रियः**=कुल की स्त्रियाँ; **स्त्रीषु**=स्त्रियों में; **दुष्टासु**=दोष होने से; **वार्ष्णेय**=हे वृष्णिवंशी; **जायते**=उत्पन्न होती हैं; **वर्णसंकरः**=अवाञ्छित सन्तान।

अनुवाद

हे कृष्ण! कुल में अधर्म के बढ़ जाने पर कुल की स्त्रियाँ भी दूषित हो जाती हैं। हे वृष्णिवंशी! इस प्रकार स्त्रियों के पतन से वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है।।४०।।

तात्पर्य

मानव-समाज में शान्ति, वैभव तथा परमार्थ का प्रधान आधार सदाचारी सन्तान है। वर्णाश्रम-धर्म का इस प्रकार प्रणयन किया गया है जिससे कि भगवत्प्राप्ति के पथ में राज्य एवं समाज की उन्नति के लिए समाज में सदाचारी सन्तान का प्राधान्य रहे। ऐसी सन्तान का प्रादुर्भाव स्त्रीवर्ग के सतीत्व तथा निष्ठा पर निर्भर करता है। जिस प्रकार बालक सुगमता से कुमार्ग पर चले जाते हैं, उसी भाँति स्त्रियाँ भी अत्यधिक पतनोन्मुखी होती हैं। अतः बालकों और स्त्रियों दोनों को कुल के वृद्धों का संरक्षण अपेक्षित है। विविध धार्मिक कृत्यों में संलग्न स्त्रियाँ उपपतित्व के भ्रष्ट-पथ के उन्मुख नहीं होंगी। चाणक्य पंडित के अनुसार स्त्रियाँ प्रायः अल्पज्ञ होती हैं, इसलिए उन पर अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। उन्हें धार्मिक कृत्यरूप कुलधर्मों में ही नित्य संलग्न रहना चाहिए। इस प्रकार उनकी भक्ति तथा सतीत्व से वर्णाश्रम-धर्म के योग्य सदाचारी सन्तान की उत्पत्ति होगी। वर्णाश्रम-धर्म के विनाश से स्त्रियाँ स्वभावतः पराए पुरुषों से सम्बन्ध रखने में स्वतन्त्र हो जाती हैं। इस व्यभिचार से वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है। दायित्वशून्य व्यक्ति भी समाज में व्यभिचार को प्रेरित करते हैं और इस प्रकार, अवाँछनीय वर्णसंकर मानवजाति को परिपूरित कर युद्ध, महामारी तथा महाविनाश की विपदा उपस्थित कर देते हैं।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४१।।

संकरः=ऐसी अवाञ्छित सन्तान; **नरकाय**=नरक में ले जाने के लिए; **एव**=ही (होती है); **कुलघ्नानाम्**=कुलघातियों को; **कुलस्य**=कुल को; **च**=भी; **पतन्ति**=गिर जाते हैं; **पितरः**=पितर; **हि**=भी; **एषाम्**=इनके; **लुप्त-पिण्ड-उदक-क्रियाः**=लोप हुई पिण्डोदक क्रिया वाले।

अनुवाद

वर्णसंकरों की वृद्धि से सम्पूर्ण कुल को और कुलघातियों को भी नरक की प्राप्ति होती है। ऐसे पतित कुलों में पितरों के लिए पिण्डोदक क्रिया का लोप हो जाता है, जिससे उनके पितर भी गिर जाते हैं।।४१।।

तात्पर्य

सकाम कर्मों के विधि-विधान के अनुसार कुल के पितरों के लिए नियमित रूप से पिण्डोदक अर्पण करना आवश्यक है। यह अर्पण विष्णु-आराधना सहित किया जाता है, क्योंकि श्रीविष्णु को अर्पित अन्न का भोजन सब प्रकार के पाप-बन्धनों से मुक्त कर देता है। पापकर्मवश पितरों को विभिन्न दुःख भोगने पड़ते हैं। कुछ को तो स्थूल प्राकृत देह की प्राप्ति भी नहीं होती, जिससे वे प्रेत योनि के सूक्ष्म शरीर में रहने का बाध्य हो जाते हैं। वंशजों से प्रसाद का अंश ग्रहण कर ये पितर प्रेत आदि दुर्गतिमय योनियों से मुक्त हो जाते हैं। इस विधि से पितरों की सहायता करना कुलधर्म है और जो भक्ति के परायण नहीं हैं, वे तो इन कृत्यों का अनुष्ठान अवश्य ही करें। भक्तिनिष्ठ उत्तम भक्त के लिए ये आवश्यक नहीं हैं। केवल भगवद्भक्ति सहस्रों पितरों को सब प्रकार की दुर्गतियों से पूर्ण मुक्त कर सकती है। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है:

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।

'जो पुरुष अन्य सब कर्तव्यों को त्याग कर दृढ़तापूर्वक मुक्तिदाता श्रीमुकुन्द की ही शरण ले लेता है, उसका देवताओं, ऋषियों, सब प्राणियों, स्वजनों, मानव-समाज और पितरों के प्रति कोई कर्तव्य अथवा ऋण शेष नहीं रहता।' (भा० ११.५.४१) भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति से सभी ऋणों का स्वतः विमोचन हो जाता है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४२।।

दोषैः=दोषों से; **एतैः**=इन; **कुलघ्नानाम्**=कुलघातियों के; **वर्णसंकरकारकैः**=अवाञ्छित सन्तान करने वाले; **उत्साद्यन्ते**=नष्ट हो जाते हैं; **जातिधर्माः**=जातिधर्म; **कुलधर्माः**=कुलधर्म; **च**=भी; **शाश्वताः**=सनातन।

अनुवाद

कुलघातियों के इन दोषों से सभी शाश्वत् जातिधर्म तथा कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं।।४२।।

तात्पर्य

सनातनधर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत मानव समाज के चार वर्णों तथा कुलधर्मों का प्रयोजन मानव को मुक्त कराना है। अतः जब समाज के अनुत्तरदायी लोकनायक सनातनधर्म-परम्परा को विखण्डित कर देते हैं, तो समाज में विप्लव हो जाता है, जिससे जनता जीवन के लक्ष्य—श्रीविष्णु को भूल बैठती है। ऐसे नेत्रहीन लोकनायकों के अनुगामी पथभ्रष्ट होकर निश्चित विनाश की ओर ही अग्रसर होते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४३।।

उत्सन्न=नष्ट हुए; **कुलधर्माणाम्**=कुलधर्म वाले; **मनुष्याणाम्**=मनुष्यों का; **जनार्दन**=हे कृष्ण; **नरके**=नरक में; **अनियतम्**=नित्य; **वासः**=निवास; **भवति**=होता है; **इति**=इस प्रकार; **अनुशुश्रुम**=गुरुपरम्परा से सुना है।

अनुवाद

हे जनार्दन! मैंने गुरुपरम्परा से सुना है कि कुलधर्म का विनाश करने वालों का नित्य नरक में वास होता है।।४३।।

तात्पर्य

अपने अनुभव की अपेक्षा परम्परागत आचार्यों से उसने जो कुछ श्रवण किया है, अर्जुन उसी के आधार पर तर्क कर रहा है। इस श्रौत-परम्परा से ही यथार्थ ज्ञान होता है। ज्ञानी सत्पुरुष की सहायता के बिना उस ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। वर्णाश्रमधर्म की एक पद्धति के अनुसार मृत्यु से पूर्व पाप कर्म के लिए प्रायश्चित किया जाता है। पापात्मा मनुष्य को इस विधि का उपयोग अवश्य करना चाहिए। ऐसा न करने पर पापकर्मवश नारकीय लोकों की दुर्गतिमय योनियों में निश्चित रूप से अधःपतन होगा।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४४।।

अहः=अहो; **बत**=आश्चर्य है कि; **महत्**=महान्; **पापम्**=पाप कर्म; **कर्तुम्**=करने को; **व्यवसिताः**=तत्पर हैं; **वयम्**=हम; **यत्**=जिस से; **राज्य-सुखलोभेन**=राज्य और सुख के लोभ से; **हन्तुम्**=मारने के लिए; **स्वजनम्**=अपने कुल को; **उद्यताः**=उद्यत हुए हैं।

अनुवाद

अहो! यह कैसा महान् आश्चर्य है कि राज्यसुख के लोभ से हम स्वजनवधरूप महान् पापकर्म करने को उद्यत हो रहे हैं।।४४।।

तात्पर्य

स्वार्थ के वशीभूत हुआ मनुष्य अपने भाई, पिता अथवा माता के वध जैसे जघन्य पाप-कर्म तक में प्रवृत्त हो सकता है। विश्व-इतिहास में ऐसे प्रचुर उदाहरण उपलब्ध हैं। सन्त तथा भक्त के स्वभाव वाला अर्जुन सदाचार का स्मरण रखते हुए ऐसी क्रिया न करने में सावधान है।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४५।।

यदि=यदि; **माम्**=मुझ; **अप्रतीकारम्**=सामना न करने वाले; **अशस्त्रम्**=शस्त्र-रहित; **शस्त्रपाणयः**=शस्त्रधारी; **धार्तराष्ट्राः**=धृतराष्ट्र के पुत्र; **रणे**=युद्ध में; **हन्युः**=मारें; **तत्**=वह; **मे**=मेरे लिए; **क्षेमतरम्**=श्रेयस्कर; **भवेत्**=होगा।

अनुवाद

धृतराष्ट्र-पुत्रों से युद्ध करने की अपेक्षा यदि मुझ शस्त्ररहित और सामना न करने वाले को वे रण में मारें, तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा।।४५।।

तात्पर्य

क्षात्र-युद्धनियमों के अनुसार यह परम्परा है कि जो शस्त्ररहित है अथवा युद्ध से पराङ्मुख हो गया है, उस शत्रु पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। अपनी दुर्बोध स्थिति को देखते हुए अर्जुन ने निर्णय किया कि शत्रु का आक्रमण होने पर भी वह युद्ध नहीं करेगा। उसने इस बात को महत्त्व नहीं दिया कि शत्रुपक्ष युद्ध के लिए कितना उद्यत है। इन सब लक्षणों का कारण है उसके हृदय में भक्तियोग से उत्पन्न दयार्द्रता।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४६।।

सञ्जयः उवाच=सञ्जय ने कहा; **एवम्**=इस प्रकार; **उक्त्वा**=कहकर; **अर्जुनः**=अर्जुन; **संख्ये**=युद्धभूमि में; **रथ**=रथ पर; **उपस्थे**=स्थित हुआ; **उपाविशत्**=पुनः बैठ गया; **विसृज्य**=त्यागकर; **सशरम्**=बाणसहित; **चापम्**=धनुष को; **शोक-संविग्नमानसः**=शोक से व्याकुल मन वाला।

अनुवाद

संजय ने कहा, रणभूमि में इस प्रकार कहकर शोक से व्याकुल चित्त वाला अर्जुन बाणसहित धनुष को त्याग कर रथ में बैठ गया।।४६।।

तात्पर्य

शत्रु-स्थिति का निरीक्षण करते समय अर्जुन अपने रथ पर खड़ा हुआ था। परन्तु सैन्य-निरीक्षण करके वह शोक से इतना अधिक अभिभूत हो गया कि धनुषबाण को एक ओर रख कर फिर रथ में बैठ गया। इस प्रकार का भगवद्भक्ति-परायण दयार्द्र और सहृदय पुरुष निश्चय ही आत्मज्ञान की शिक्षा पाने के योग्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये प्रथमोऽध्यायः।।

अथ द्वितीयोऽध्याय :

सांख्ययोग

(गीता के प्रतिपाद्य तत्त्व का सारांश)

सञ्जय उवाच।
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

सञ्जयः उवाच=सञ्जय ने कहा; **तम्**=उस (अर्जुन) के प्रति; **तथा**=इस प्रकार से; **कृपया**=करुणा से; **आविष्टम्**=अभिभूत; **अश्रुपूर्ण**=अश्रुओं से परिपूर्ण; **आकुल**=व्याकुल; **ईक्षणम्**=नेत्र वाले; **विषीदन्तम्**=शोकमग्न; **इदम्**=यह; **वाक्यम्** =वचन; **उवाच**=कहा; **मधुसूदनः**=श्रीकृष्ण ने।

अनुवाद

संजय ने कहा, उस करुणा और शोक में मग्न हो रहे आँसुओं से पूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले अर्जुन से भगवान् श्रीमधुसूदन ने यह वचन कहा।।१।।

तात्पर्य

सांसारिक करुणा, शोक तथा अश्रुविमोचन—ये लक्षण उसी में प्रकट होते हैं, जो आत्मा के तत्त्व को नहीं जानता। शाश्वत् आत्मा के लिए दयाभाव ही स्वरूप-साक्षात्कार है। इस श्लोक में प्रयुक्त **मधुसूदन** शब्द गूढ़ अर्थ रखता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने मधु दैत्य का वध किया था। इसलिए अर्जुन चाहता है कि उसे अभिभूत करने वाले अज्ञान रूपी दैत्य का भी वे विनाश करें, जो उसके कर्तव्य-कर्म के मार्ग में

बाधा उपस्थित कर रहा है। करुणा का प्रयोग कहाँ करना उचित है, यह कोई नहीं जानता। डूबते मनुष्य के वस्त्रों के लिए करुणा करना बुद्धिहीनता होगी; स्थूल पाँचभौतिक देह रूपी बाह्य परिधान की रक्षा करने से अज्ञान-सागर में पतित जीव को बचाया नहीं जा सकता। ऐसा न जानकर जो बाह्य परिधान के लिए शोक करता है, वह शूद्र है। अर्जुन तो क्षत्रिय है, इसलिए ऐसा व्यवहार उसके योग्य नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण अज्ञानी जीव के शोक का छेदन करने में पूर्ण समर्थ हैं। यही कारण है कि उन्होंने भगवद्गीता का उपदेश किया। इस अध्याय में परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने प्राकृत देह तथा आत्मा के तात्त्विक अध्ययन के द्वारा स्वरूप-साक्षात्कार करने की शिक्षा दी है। अपने यथार्थ आत्म-स्वरूप की दृढ़ धारणा में स्थित होकर कर्म करने से यह अनुभूति हो सकती है।

श्रीभगवानुवाच।
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।२।।

श्रीभगवान् उवाच=भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा; **कुतः**=किस कारण से; **त्वा**=तुझे; **कश्मलम्**=अज्ञान; **इदम्**=यह; **विषमे**=इस विषम स्थिति में; **समुपस्थितम्**=प्राप्त हुआ; **अनार्य**=जीवन की श्रेष्ठ गरिमा को न जानने वालों द्वारा; **जुष्टम्**=आचरित; **अस्वर्ग्यम्**=उच्च लोकों की प्राप्ति न कराने वाला; **अकीर्ति**=अपयश का; **करम्**=कारण; **अर्जुन**=हे अर्जुन।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! तुझे संग्राम की इस विषम स्थिति में यह अज्ञान किस कारण से प्राप्त हुआ? यह न तो उनके योग्य है, जो जीवन की श्रेष्ठ गरिमा को जानते हैं और न उच्च लोकों की प्राप्ति कराने वाला है, अपितु अपयश का कारण है।।२।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण साक्षात् **भगवान्** हैं। सम्पूर्ण गीता में उन्हें 'भगवान्' ही कहा गया है। 'भगवान्' उस परतत्त्व की अवधि हैं, जिसकी प्राप्ति सर्वव्यापक निर्विशेष ब्रह्म, प्राणीमात्र के हृदयव्यापी परमात्मा और भगवान्, ज्ञान की इन तीन श्रेणियों में होती है। श्रीमद्भागवत में इस अद्वय तत्त्व का वर्णन इस प्रकार है:

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।

"तत्त्ववित् को परतत्त्व की अनुभूति 'ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्', ज्ञान के इन तीन स्तरों पर होती है, जिन में परस्पर अभेद है।" (श्रीमद्भागवत १.२.११) इन

तीनों दिव्य तत्त्वों का स्वरूप सूर्य के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। सूर्य के भी तीन पक्ष हैं—सूर्यज्योति, सूर्य का बाह्य रूप और स्वयं सूर्यलोक। सूर्यज्योति का ज्ञाता प्रारम्भिक विद्यार्थी है। वह ब्रह्माण्ड में व्याप्त सूर्यज्योति के अल्प ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाता है। ऐसे साधारण विद्यार्थी को परतत्त्व के केवल बाह्य स्वरूप अर्थात् निर्विशेष दीप्ति की अनुभूति होती है। उन्नति करके सौर-मण्डल के ज्ञान को प्राप्त कर लेना परतत्त्व के परमात्मा स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त करना है। अन्त में सूर्यलोक के मध्य में प्रवेश कर जाना परतत्त्व के भगवत्-स्वरूप की प्राप्ति के समान है। इससे सिद्ध होता है कि यद्यपि परतत्त्व के सब जिज्ञासुओं का लक्ष्य एक ही तत्त्व है, किन्तु भगवत्प्राप्त कृष्णभक्त ही सर्वोच्च ज्ञानी है। सूर्यज्योति, सूर्यमण्डल तथा अन्तरंग सूर्यलोक को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। पर साथ ही, इन तीनों पक्षों के विद्यार्थी एक श्रेणी में नहीं आते।

संस्कृत शब्द **भगवान्** की विवेचना व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर ने की है। समग्र श्री, वीर्य, यश, रूप, ज्ञान तथा त्याग से युक्त परम पुरुष को **भगवान्** कहते हैं। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो अत्यन्त धनी, वीर्यवान्, सुन्दर, यशस्वी, विद्वान् और त्यागी हैं। किन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि वह समग्र श्री, वीर्य, आदि से युक्त है। एकमात्र श्रीकृष्ण ही यह उद्घोष कर सकते हैं; अतएव वे साक्षात् स्वयं भगवान् हैं। ब्रह्म, शिव तथा नारायण सहित कोई जीव श्रीकृष्ण के समान पूर्ण षडैश्वर्यवान् नहीं है। इस कारण 'ब्रह्मसंहिता' में ब्रह्माजी का निर्णय है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। उनसे अधिक अथवा उनके समान कोई नहीं है, वे आदिपुरुष गोविन्द सब कारणों के परम कारण हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।।

'बहुत से पुरुष दिव्य गुणों से युक्त हैं, किन्तु अनुपमेय होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण परमोत्तम हैं। वे परम-पुरुष हैं; उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है। वे आदिपुरुष गोविन्द ही सब कारणों के परम कारण हैं।' (ब्रह्मसंहिता)

श्रीमद्भागवत में नाना भगवत् अवतारों का उल्लेख है, परन्तु श्रीकृष्ण को सकल अवतारों का उद्गम, 'स्वयं भगवान्' कहा गया है:

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे।।

'यहाँ वर्णित सब अवतार श्रीभगवान् के अंश अथवा कलास्वरूप हैं; परन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं।' (श्रीमद्भागवत १.३.२८)

अस्तु, श्रीकृष्ण परमात्मा एवं निर्विशेष ब्रह्म के भी उद्गम परात्पर आदिपुरुष भगवान् हैं।

स्वयं भगवान् की उपस्थिति में अर्जुन द्वारा स्वजनों के लिए शोक करना सर्वथा

अयोग्य था। श्रीकृष्ण ने **कुतः** शब्द से इस पर अपना विस्मय अभिव्यक्त किया है। आर्य संस्कृति के सदस्य से यह आशा नहीं की जाती कि वह ऐसी पौरुषहीनता प्रकट करेगा। 'आर्य' शब्द जीवन की गरिमा को जानने वाले, भगवत्-परायण संस्कृति वाले पुरुषों के लिए प्रयुक्त होता है। विषयी नहीं जानते कि जीवन का लक्ष्य भगवान् विष्णु की प्राप्ति करना है। प्राकृत-जगत् के बाह्य-रूप पर मोहित होने के कारण वे मुक्ति-तत्त्व से अनभिज्ञ ही रहते हैं। भव-मुक्ति के ज्ञान से शून्य होने से ऐसे व्यक्ति 'अनार्य' कहलाते हैं। क्षत्रिय होते हुए भी युद्ध से पराङ्मुख होकर अर्जुन अपने नियत कर्तव्य से च्युत हो रहा था। अतएव उसकी इस भीरुता को अनार्योचित कहा गया। ऐसी कर्तव्य-विच्युति भगवत्प्राप्ति एवं सांसारिक यश-उपलब्धि में सहायक नहीं होती; इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वजनों के लिए अर्जुन की उस तथाकथित करुणा का अनुमोदन नहीं किया।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।३।।

क्लैब्यम्=नपुंसकता को; **मा स्म गमः**=मत प्राप्त हो; **पार्थ**=हे कुन्तिनन्दन; **न**=नहीं; **एतत्**=यह; **त्वयि**=तेरे; **उपपद्यते**=योग्य है; **क्षुद्रम्**=तुच्छ; **हृदय**=हृदय की; **दौर्बल्यम्**=दुर्बलता को; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **उत्तिष्ठ**=खड़ा हो; **परंतप**=हे शत्रुओं का दमन करने वाले अर्जुन।

अनुवाद

हे पार्थ! इस अपकर्षकारी नपुंसकता को मत प्राप्त हो। यह तेरे योग्य नहीं है। हे परंतप! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़ा हो।।३।।

तात्पर्य

यहाँ अर्जुन को **पृथापुत्र** कहा गया है। पृथा अर्थात् कुन्ती श्रीकृष्ण की बुआ थीं। इस सम्बन्ध से अर्जुन श्रीकृष्ण का स्वजन हुआ। जो क्षत्रिय ललकारे जाने पर भी युद्ध से विमुख हो जाता है, उसे तिरस्कार के रूप में 'क्षत्रियबन्धु' कहते हैं। इसी प्रकार असदाचारी ब्राह्मण 'द्विजबन्धु' कहलाता है। इस कोटि के क्षत्रिय तथा ब्राह्मण अपने पिताओं के अयोग्य पुत्र हैं। श्रीकृष्ण नहीं चाहते कि अर्जुन 'क्षत्रियबन्धु' कहलाये। अर्जुन उनका परम अन्तरंग सखा है, इसी से रथ पर श्रीकृष्ण स्वयं उसका मार्ग-निर्देश कर रहे हैं। इन गुणों के होते हुए भी यदि वह युद्धभूमि का परित्याग कर देगा तो उसका अपयश ही होगा। अतः श्रीकृष्ण ने कहा कि ऐसा व्यवहार उस (अर्जुन) के योग्य नहीं है। उत्तरस्वरूप अर्जुन कह सकता है कि परम पूज्य भीष्म तथा अन्य स्वजनों के प्रति विशालहृदयता के कारण ही तो वह युद्ध से उपरत हो रहा है; किन्तु श्रीकृष्ण के मत में ऐसी उदारता आप्तपुरुषों द्वारा प्रमाणित नहीं है। अतएव श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष शिक्षा के अनुसार अर्जुन जैसे वीरपुरुष को इस प्रकार की उदारता अथवा तथाकथित अहिंसा को त्याग देना चाहिए।

अर्जुन उवाच।
कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **कथम्**=किस प्रकार; **भीष्मम्**=भीष्म का; **अहम्**=मैं; **संख्ये**=युद्ध में; **द्रोणम्**=द्रोण का; **च**=तथा; **मधुसूदन**=हे कृष्ण; **इषुभिः**=बाणों से; **प्रतियोत्स्यामि**=विरोध करूँगा; **पूजा अर्हौ**=पूज्य; **अरिसूदन**=हे अरिहन्ता।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन श्रीकृष्ण ! मैं रणभूमि में भीष्म और द्रोणाचार्य आदि का किस प्रकार बाणों से विरोध कर सकता हूँ, क्योंकि ये दोनों ही मेरे पूज्य हैं।।४।।

तात्पर्य

पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण आदि आदरणीय वयोवृद्ध महानुभाव नित्य पूज्यास्पद हैं। अतएव उनके आक्रमण करने पर भी विरोध करना उचित नहीं। वृद्धों से वाचिक तर्क तक न करना सामान्य शिष्टाचार है। उनके निष्ठुर व्यवहार का भी निर्मम प्रतिकार उचित नहीं होता। तब अर्जुन के लिए उन पर प्रत्याक्रमण करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है? क्या श्रीकृष्ण स्वयं अपने पितामह उग्रसेन अथवा गुरु सान्दीपनि मुनि पर आक्रमण कर सकते हैं? इस प्रकार अर्जुन ने श्रीकृष्ण के समक्ष युद्ध करने के विरुद्ध अनेक तर्क उपस्थित किये।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

गुरून्=गुरुजनों को; **अहत्वा**=न मार कर; **हि**=निश्चित रूप से; **महानुभावान्**=महानुभाव; **श्रेयः**=कल्याणकारी; **भोक्तुम्**=भोगना; **भैक्ष्यम्** भिक्षा का अन्न; **अपि**=भी; **इह**=इस; **लोके**=इस लोक में; **हत्वा**=मारकर; **अर्थ**=लाभ; **कामान्**=मनोरथ; **तु**=तो; **गुरून्**=गुरुजनों को; **इह**=इस संसार में; **एव**=ही; **भुञ्जीय**=भोगूँगा; **भोगान्**=भोगों को; **रुधिर**=रक्त से; **प्रदिग्धान्**=कलंकित हुए।

अनुवाद

गुरुजनों का वध करके जीवित रहने की अपेक्षा तो इस संसार में भिक्षा-वृत्ति से जीवनयापन करना अधिक श्रेयस्कर होगा। अर्थलोलुप होने पर भी ये महानुभाव वरिष्ठ हैं। इनकी हत्या करने से हमारे भोग भी रुधिर से कलंकित हो जायेंगे।।५।।

तात्पर्य

शास्त्र के अनुसार, जो विवेकशून्य गुरु निन्द्य कर्म में प्रवृत्त हो उसका निःसंकोच त्याग कर देना चाहिए। दुर्योधन से प्राप्त आर्थिक सहायता के आधार पर भीष्म एवं द्रोण लौकिक दृष्टि से उसका पक्ष ग्रहण करने को विवश थे। फिर भी केवल आर्थिक

कारणों से उनके लिए ऐसा करना उचित न था। इस स्थिति में वे आचार्योचित मान्यता खो बैठे हैं। परन्तु अर्जुन का विचार है कि वे अब भी उसके पूज्य हैं और उन्हें मार कर विषय भोग करना रक्त से कलंकित भोगों को भोगने के तुल्य होगा।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

न=नहीं; **च एतत्**=यह भी; **विद्मः**=जानते; **कतरत्**=क्या (करना) **नः**=हमारे लिए; **गरीयः**=श्रेष्ठ है; **यत्**=जो; **वा**=अथवा; **जयेम**=हम जीत जायेंगे; **यदि वा**=अथवा; **नः**=हमको; **जयेयुः**=(वे) जीतेंगे; **यान्**=जिनको; **एव**=ही; **हत्वा**=मार कर (हम); **न**=नहीं; **जिजीविषामः**=जीना भी नहीं चाहते हैं; **ते**=वे सब; **अवस्थिताः**=खड़े हैं; **प्रमुखे**=सामने; **धार्तराष्ट्राः**=धृतराष्ट्र के पुत्र।

अनुवाद

हम नहीं जानते कि हमारे लिये क्या श्रेयस्कर है, उन पर विजय प्राप्त करना या उनसे पराजित होना अथवा यह भी नहीं जानते कि युद्ध में हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। जिनका वध करके हम जीवित भी नहीं रहना चाहते, वे ही धृतराष्ट्र-पुत्र इस रणभूमि में लड़ने के लिए हमारे सामने खड़े हैं।।६।।

तात्पर्य

अर्जुन यह निश्चय नहीं कर पा रहा है कि वह क्षत्रिय के धर्मानुरूप युद्ध कर के अनावश्यक हिंसा का संकट उपस्थित होने दे अथवा युद्ध से उपरत होकर भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करे। यदि वह शत्रु-विजय नहीं करता है तो भिक्षा ही उसके लिए जीवन-यापन करने का एकमात्र साधन रहेगा। साथ में, विजय भी निश्चित नहीं; दोनों दलों में से कोई भी विजयी हो सकता है। यदि उनकी विजय निश्चित भी होती (क्योंकि उनका पक्ष न्यायसंगत है) तो भी युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के बिना पाण्डवों के लिये जीवित रहना अति कष्टसाध्य होगा। ऐसी परिस्थिति में वह भी प्रकारान्तर से पराजय ही होगी। अर्जुन के इस सम्पूर्ण विवेचन के निश्चित रूप से प्रामाणित होता है कि वह महाभागवत ही नहीं था, वरन् पूर्णतया प्रबुद्ध और जितेन्द्रिय भी था। राजकुल में जन्म लेने पर भी भिक्षा से निर्वाह करने का उसका विचार उत्कृष्ट अनासक्ति का परिचायक है। वह यथार्थ में सदाचारी था, जैसा कि इन गुणों से और अपने गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा में उसकी प्रगाढ़ निष्ठा से प्रकट है। इस सबसे अर्जुन सब प्रकार से मुक्ति के योग्य सिद्ध होता है। इन्द्रिय-निग्रह किये बिना ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती तथा ज्ञान और भक्ति के बिना मुक्ति नहीं होती। इस प्रकार विपुल लौकिक गुणों के अतिरिक्त अर्जुन इस सम्पूर्ण दैवी गुणावली से भी विभूषित है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

कार्पण्य=कृपणता; **दोष**=दोप से; **उपहत**=अभिभूत; **स्वभावः**=स्वभाव वाला; **पृच्छामि**=पूछता हूँ; **त्वाम्**=आपसे; **धर्म**=धर्म के विषय में; **संमूढचेताः**=मोहित चित्त हुआ (मैं); **यत्**=जो; **श्रेयः**=कल्याणीकारी मार्ग; **स्यात्**=हो; **निश्चितम्**=निश्चित; **ब्रूहि**=कहिये; **तत्**=वह; **मे**=मेरे लिए; **शिष्यः**=शिष्य; **ते**=आपका; **अहम्**=मैं; **शाधि** =शिक्षा दीजिये; **माम्**=मेरे को; **त्वाम्**=आपके; **प्रपन्नम्**=शरणागत हुए।

अनुवाद

प्रभो ! कृपणता के कारण मैं स्वधर्म के सम्वन्ध में संमोहित हो गया हूँ और सव धैर्य भी खो बैठा हूँ। इसलिए आपसे पूछता हूँ, मेरे लिये जो निश्चय किया हुआ श्रेयस्कर साधन हो, वह कहिये। मैं आप का शरणागत शिष्य हूँ। अतएव कृपया मुझ को शिक्षा दीजिये।।७।।

तात्पर्य

यह प्रकृति का नियम है कि प्राकृत क्रियाओं की पूरी की पूरी व्यवस्था सब के लिये उद्वेग का ही स्रोत है। प्रतिपद पर व्याकुलता की ही प्राप्ति होती है। अतः जीवन की लक्ष्य-सिद्धि की यथार्थ शिक्षा के लिये प्रामाणिक गुरु के निकट जाना आवश्यक है। वैदिक शास्त्र जीवन के सम्पूर्ण अवाँछित उद्वेगों से मुक्ति के लिए आप्त सद्गुरु की शरण में जाने की आज्ञा देते हैं। अपने आप लगी दावाग्नि की भाँति संसार की व्यवस्था इस प्रकार की है कि हमारी इच्छा के विपरीत भी जीवन में उद्वेग अपने-आप उठते रहते हैं। दावाग्नि को कोई नहीं चाहता, फिर भी वह प्रज्वलित हो उठती है, जिससे हमें व्याकुलता होती है। इसी से वैदिक ज्ञान आज्ञा देता है कि व्यग्रता की निवृत्ति करने तथा समाधान की विद्या सीखने परम्परागत गुरु की शरण में जाय। सद्गुरु के आश्रित हुआ शिष्य सर्वज्ञ हो जाता है। इसलिए प्राकृत उद्वेगों में निमग्न न रहकर गुरु-शरण रूपी वैकुण्ठ का पादाश्रय अवश्य ग्रहण करे—यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

संसार के उद्वेगों से कौन घिरा हुआ है ? वह, जो जीवन के दुःखों के विषय में नहीं जानता। गर्गोपनिषद् में ऐसे मनुष्य को 'कृपण' कहा गया है:

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदितवास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः'

'मानव देह को प्राप्त होकर भी जो जीवन के दुःखों को निवृत्त किए बिना स्वरूप-साक्षात्कार की विद्या को जाने बिना शूकर-कूकर के समान मृत्यु समय इस संसार को त्याग कर जाता है, वह कृपण है।' यह मानव देह जीव की सबसे मूल्यवान्

सम्पत्ति है; इसके उपयोग से वह जीवन के दुःखों का समाधान कर सकता है। अतः जो इस सुयोग से यथेष्ट उपयोग नहीं लेता, वह कृपण है। इसके विपरीत ब्राह्मण वह है, जो बुद्धिमानी से इस देह का सदुपयोग कर जीवन के क्लेशों से मुक्त हो जाय।

देहात्मबुद्धि के कारण कृपण मनुष्य परिवार, समाज, देश आदि की अत्यधिक आसक्ति में ही अपना सारा समय नष्ट कर देता है। वह प्रायः 'त्वचा रोग' के आधार पर पारिवारिक जीवन अर्थात् कलत्र, पुत्र स्वजनों के प्रति बड़ा आसक्त रहता है। कृपण सोचता है कि वह अपने परिवार का मृत्यु से परित्राण कर सकता है अथवा उसके बन्धु-बान्धव ही कालपाश से उसकी रक्षा कर लेंगे। अपनी सन्तान की परिचर्या करने वाले अधम पशुओं में भी ऐसी स्वजनासक्ति दृष्टिगोचर होती है। अर्जुन बुद्धिमान् है, इसलिए जानता है कि स्वजनों के लिए उसका स्नेह और उन्हें मृत्यु से बचाने की उसकी इच्छा ही उसकी सम्पूर्ण व्यग्रता का कारण है। यह जानते हुए भी कि युद्ध-विषयक कर्तव्य उसकी प्रतीक्षा कर रहा है, वह कार्पण्य-दोष-वश कर्तव्य का पालन करने में असमर्थ सा हो गया। इसलिए अब परम गुरु भगवान् श्रीकृष्ण से निर्णय करने का आग्रह कर रहा है। वह श्रीकृष्ण का शिष्यत्व ग्रहण करता है; अब सख्यवार्ता नहीं करना चाहता। यथार्थ गुरु-शिष्य का वार्तालाप वास्तव में बड़ा गम्भीर होता है। इस समय अर्जुन भी सद्गुरु से गम्भीर वार्ता करना चाहता है। श्रीकृष्ण भगवद्गीता-विज्ञान के आदि गुरु हैं तथा अर्जुन प्रथम शिष्य है। अर्जुन ने गीता को जिस प्रकार हृदयंगम किया, इसका उल्लेख स्वयं गीता में है। इस पर भी मूर्ख-शिरोमणि प्राकृत विद्वान् यह कहने की धृष्टता करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण की नहीं, अपितु 'श्रीकृष्ण में स्थित अजन्मा की ही शरण ग्रहण करनी चाहिये।' श्रीकृष्ण के आत्मा और देह में भेद नहीं है—इस सिद्धान्त को न जानते हुए भी जो भगवद्गीता को समझने का प्रयास करता है, वह निस्सन्देह परम मूर्ख है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।८।।

न=नहीं; **हि** निस्सन्देह; **प्रपश्यामि**=देखता हूँ; **मम**=मेरी; **अपनुद्यात्**=दूर कर सके; **यत्** जो; **शोकम्**=शोक; **उच्छोषणम्**=सुखाने वाले; **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियों को; **अवाप्य**=प्राप्त करके; **भूमौ**=पृथ्वी में; **असपत्नम्**=शत्रुविहीन; **ऋद्धम्**=समृद्ध; **राज्यम्** राज्य को; **सुराणाम् अपि**=देवताओं के भी; **च**=तथा; **आधिपत्यम्** स्वर्गाधिपत्य को।

अनुवाद

मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले इस महान् शोक को दूर कर सके। स्वर्गीय देवताओं के समान भूमि के सार्वभौम निष्कण्टक राज्य

की प्राप्ति होने पर भी मैं इस शोक को दूर नहीं कर सकूँगा।।८।।

तात्पर्य

यद्यपि अर्जुन ऐसे अनेक तर्क प्रस्तुत कर रहा है, जो धर्म तथा सदाचार के ज्ञान पर आधारित हैं, स्पष्ट प्रतीत होता है कि जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह के विना अपनी वास्तविक समस्या का समाधान करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। वह समझ गया है कि उसका नाममात्र का ज्ञान उस शोक को दूर नहीं कर सकता, जो उसकी सम्पूर्ण देह का शोषण कर रहा है। यह नितान्त सत्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण जैसे गुरु की कृपा के बिना ऐसे शोक का समाधान नहीं किया जा सकता। जीवन के दुःखों को दूर करने के लिए पुस्तकीय ज्ञान, विद्वत्ता, उच्च पद आदि सब साधन व्यर्थ हैं। श्रीकृष्ण अथवा उनके प्रतिनिधि सद्गुरु ही इसमें साहाय्य कर सकते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्णतया कृष्णभावनाभावित गुरु ही प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे जीवन की दुःखों को दूर करने में पूर्ण समर्थ हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु की वाणी है कि जो कृष्णतत्त्व का ज्ञाता हो, वह गुरु बनने के योग्य है, उसका वर्ण-आश्रम चाहे कुछ भी क्यों न हो।

किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केने नय।
येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता सेइ गुरु हय।।

कृष्णतत्त्ववेत्ता ही यथार्थ प्रामाणिक गुरु है, चाहे वह विप्र हो, संन्यासी हो अथवा जन्म पे शूद्र ही क्यों न हो। तात्पर्य यह है कि जो कृष्णभावना का तत्त्वज्ञ नहीं है, वह प्रामाणिक गुरु नहीं हो सकता।' (श्री चैतन्य चरितामृत मध्य ८.१२७) वैदिक शास्त्रों में कहा गया है:

षट्कर्म निपुणोविप्रो मन्त्र-तन्त्र-विशारदः।
अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः।।

'सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का पारगामी विद्वान् ब्राह्मण होने पर भी यदि कोई वैष्णव नहीं है, अर्थात् कृष्णतत्त्ववेत्ता नहीं है तो वह गुरु-पद के योग्य नहीं हो सकता। दूसरी ओर, जन्म से शूद्र मनुष्य यदि वैष्णव है, कृष्णभावनाभावित है, तो वह गुरु बनने के सर्वथा योग्य है।'

भवरोग के दुःखों (जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि) की निवृत्ति धनसंचय अथवा आर्थिक विकास से नहीं हो सकती। विश्व के विभिन्न अंचलों में ऐसे अनेक देश स्थित हैं, जो जीवन की सर्वविध सुख-सुविधाओं तथा सम्पत्ति से परिपूर्ण हैं एवं आर्थिक रूप से भी विकसित हैं। परन्तु भवरोग के दुःख वहाँ भी हैं; वे भी विविध प्रकार से शांति का ही अन्वेषण कर रहे हैं। उन्हें यथार्थ सुख की प्राप्ति तभी होगी जब वे श्रीकृष्ण, कृष्ण-विद्यापरक भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत अथवा श्रीकृष्ण के प्रामाणिक दूत—कृष्णभावनाभावित पुरुषों का आश्रय ग्रहण करेंगे।

यदि आर्थिक विकास और भौतिक सुख पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय उन्मादों के लिए किए जाने वाले शोकविलाप को दूर कर सकते तो अर्जुन

ऐसा न कहता कि भूमि का निष्कण्टक राज्य अथवा स्वर्गीय देवताओं के समान आधिपत्य की प्राप्ति हो जाने पर भी उसके शोक का निवारण नहीं हो सकेगा। अन्त में उसने कृष्णभावनामृत का ही आश्रय ग्रहण किया, जो शान्ति एवं सामञ्जस्य का यथार्थ पथ है। प्राकृतिक प्रलय से आर्थिक विकास अथवा विश्वआधिपत्य का विनाश किसी भी क्षण हो सकता है। चन्द्र आदि उच्च लोकों की प्राप्ति भी एक प्रहार में समाप्त हो सकती है। स्वयं भगवद्गीता में इसकी पुष्टि है: **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।** पुण्य कर्मफल की समाप्ति होने पर प्राकृत सुख की चोटि से जीव का जीवन के परम अधम स्तर पर पतन हो जाता है। संसार में अनेक राजनीतिज्ञों का इसी प्रकार अधःपतन हुआ है। इस प्रकार का अधःपतन अधिकाधिक शोक का ही कारण सिद्ध होता है।

अतएव यदि हम सदा के लिए शोक का निवारण करना चाहें तो अर्जुन का अनुगमन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करनी ही होगी। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से अपनी समस्या का निश्चित समाधान करने का आग्रह किया। इसी पद्धति के कृष्णभावनामृत साध्य है।

सञ्जय उवाच।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

सञ्जयः उवाच=सञ्जय ने कहा; **एवम्**=इस प्रकार; **उक्त्वा**=कहकर; **हृषीकेशम्**=हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण को; **गुडाकेशः**=अज्ञानविजयी अर्जुन; **परंतप** = शत्रुओं का दमन करने वाला; **न योत्स्ये**=मैं युद्ध नहीं करूँगा; **इति**=यह; **गोविन्दम्**=आनन्दकन्द श्रीकृष्ण से; **उक्त्वा**=कहकर; **तूष्णीम्**=चुप; **बभूव**=हो गया; **ह**=निश्चित रूप से।

अनुवाद

संजय ने कहा, शत्रुविजयी अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से यह कहकर तथा फिर 'हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा', ऐसा कहकर चुप हो गया।।९।।

तात्पर्य

धृतराष्ट्र के हृदय में यह जान कर निश्चित रूप से हर्षातिरेक हुआ होगा कि अर्जुन युद्ध करने की अपेक्षा भिक्षावृत्ति के लिए रणांगण से विमुख हो गया। परन्तु संजय ने यह कहकर उसे फिर हताश कर दिया कि अर्जुन **परंतप** है, अर्थात् शत्रुमर्दन में पूर्ण समर्थ है। स्वजनस्नेह से उत्पन्न मिथ्या शोक से कुछ समय के लिए अभिभूत हो जाने पर भी अर्जुन ने शिष्य-रूप से परम गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की शरण का आश्रय ग्रहण कर लिया। अतएव वह अतिशीघ्र स्वजनस्नेह जनित मिथ्या शोक से मुक्त हो जायगा और स्वरूप-साक्षात्कार अर्थात् कृष्णभावनामृत के समग्र ज्ञान से दीप्त होकर निःसन्देह युद्ध करेगा। इस प्रकार धृतराष्ट्र का हर्ष एक बार फिर निराशा

में परिणत हो गया, क्योंकि यह निश्चित है कि श्रीकृष्ण से प्रबोध प्राप्त कर अर्जुन अन्त तक युद्ध करेगा।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

तम्=उसे; **उवाच**=कहा; **हृषीकेशः**=इन्द्रियों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण ने; **प्रहसन् इव**=हँसते हुए से; **भारत**=हे भरतवंशी धृतराष्ट्र; **सेनयोः**=सेनाओं के, **उभयोः**=दोनों दलों की; **मध्ये**=मध्य में; **विषीदन्तम्**=शोकमग्न; **इदम्**=यह; **वचः**=वचन।

अनुवाद

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के मध्य में उस शोकमग्न अर्जुन को हँसते हुए से यह वचन कहा।।१०।।

तात्पर्य

दोनों अन्तरंग सखाओं—हृषीकेश तथा अर्जुन में परस्पर वार्तालाप हो रहा है। सखा-रूप में बराबर होने पर भी उनमें से एक ने स्वेच्छा से दूसरे का शिष्यत्व ग्रहण किया है। श्रीकृष्ण मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं क्योंकि एक सखा स्वेच्छापूर्वक दूसरे सखा का शिष्य बन गया। परमेश्वर श्रीकृष्ण नित्य सब के स्वामी हैं, फिर भी भक्त के भावानुसार उसे अपना सखा, पुत्र, प्रेमी अथवा भक्त अंगीकार कर लेते हैं और यथासमय स्वयं भी ये रूप ग्रहण करने में संकोच नहीं करते। इसी प्रकार जब उन्हें गुरु अंगीकार किया गया तो उन्होंने तत्काल वह पद ग्रहण कर लिया और उपयुक्त गाम्भीर्य के साथ स्वामी की भाँति शिष्य का अनुशासन करने लगे। प्रतीत होता है कि गुरु-शिष्य का यह सम्भाषण दोनों सेनाओं की उपस्थिति में खुले रूप से सम्पन्न हुआ, जिससे सभी लाभान्वित हुए। अस्तु, भगवद्गीता की सार्वभौम मंगलमयी वाणी किसी विशेष व्यक्ति, समाज अथवा जाति के लिए नहीं है। उसका श्रवण करने में शत्रु-मित्र आदि सभी का समान अधिकार है।

श्रीभगवानुवाच।
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **अशोच्यान्**=जो शोक करने के योग्य नहीं है; **अन्वशोचः**=(उनके लिए) शोक करता है; **त्वम्**=तू; **प्रज्ञावादान्**=पण्डितों के समान; **च भाषसे**=बोलता हुआ भी; **गतासून्**=जिनके प्राण चले गये हैं; **अगतासून् च**=और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिए भी; **न अनुशोचन्ति**=शोक नहीं करते; **पण्डिताः**=पण्डितजन।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! पांडित्यपूर्ण वचन बोलता हुआ भी तू उनके लिए शोक कर रहा है जो शोक के योग्य नहीं है। पर पण्डितजन तो जिन के प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी शोक नहीं करते।।११।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने तत्काल गुरुपद ग्रहण कर लिया और शिष्य को परोक्ष रूप से मूर्ख कहकर उसका शासन किया। उन्होंने कहा कि हे अर्जुन! तू बोल तो पण्डितों के समान रहा है, परन्तु इतना भी नहीं जानता कि देहतत्त्व तथा आत्मतत्त्व के मर्म को जानने वाले पंडितजन देह की जीवित अथवा मृत, किसी भी अवस्था के लिए शोक नहीं करते। जैसा अगले अध्यायों में वर्णन किया गया है, ज्ञान का अर्थ देह, आत्मा और उन दोनों के ईश्वर के तत्त्व को जानना है। अर्जुन का तर्क है कि राजनीति अथवा समाजनीति की अपेक्षा धर्म का अधिक माहात्म्य है। परन्तु वह यह नहीं जानता कि आत्मा, देह तथा उनके ईश्वर का ज्ञान सामान्य धर्म से भी अधिक महत्व रखता है। उस ज्ञान को न जानने के कारण उसके लिए अपने को महापण्डित के रूप में प्रदर्शित करना उचित नहीं। अल्पज्ञतावश शोक के अयोग्य वस्तु के लिए भी वह अतिशय शोकाकुल हो रहा है। देह का जन्म हुआ है, अतः इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। इसी कारण देह का महत्त्व आत्मा की महिमा के तुल्य नहीं है। जो इस तथ्य को जानता है, वही यथार्थ में पण्डित है, क्योंकि देह की किसी भी अवस्था में उसके लिये शोक का कोई कारण नहीं हो सकता।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

न=नहीं; **तु**=तो; **एव**=ही; **अहम्**=मैं; **जातु**=किसी काल में; **न**=नहीं; **आसम्**=था; **न**=नहीं (था); **त्वम्**=तू; **न**=नहीं (थे); **इमे**=ये सभी; **जनाधिपाः**=राजा; **न**=नहीं; **च**=तथा; **एव**=ही; **न**=नहीं; **भविष्यामः**=रहेंगे; **सर्वे**=सब; **वयम्**=हम; **अतः परम्**=इससे आगे।

अनुवाद

न तो ऐसा ही है कि किसी काल में मैं नहीं था, तू नहीं था अथवा ये सब राजा नहीं थे और न ही ऐसा है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।।१२।।

तात्पर्य

वेद , कठ एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों में कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण जीव को उसके कर्म तथा कर्मफल के अनुरूप विभिन्न योनियाँ प्रदान करते हुए असंख्य जीवों का परिपालन कर रहे हैं। वे अंश-रूप से जीवमात्र के हृदय में स्थित हैं। उन परमेश्वर श्रीकृष्ण का बाहर-भीतर सर्वत्र दर्शन करने वाले सन्तजन ही यथार्थ

में पूर्ण एवं शाश्वती शान्ति का आस्वादन करते हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।
(कठ० २.२.१३)

श्रीभगवान् ने अर्जुन के हृदय में जिस वैदिक सत्य का संचार किया, वही संसार के उन सब व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है, जो महापण्डित का रूप तो धारण किए हुए हैं, परन्तु यथार्थ में अल्पज्ञ ही हैं। श्रीभगवान् स्पष्ट कह रहे हैं कि स्वयं उनका, अर्जुन का तथा युद्ध भूमि में एकत्र हुए सब राजाओं का अपना-अपना शाश्वत् निजी स्वरूप है; जीवात्माओं की बद्ध एवं मुक्त, दोनों ही अवस्थाओं में वे उन सबके भर्ता हैं। भगवान् परम पुरुष स्वरूप हैं तथा उनके नित्य पार्षद अर्जुन का और वहाँ एकत्रित हुए सब राजाओं का भी अपना-अपना शाश्वत् स्वरूप है। ऐसा नहीं कि पूर्व में उनका अपना-अपना अलग स्वरूप नहीं था, अथवा आगे नित्य नहीं रहेगा। उनका निजी स्वरूप पूर्व में भी था तथा भविष्य में भी निरन्तर रहेगा। इसलिए किसी के लिए भी शोक का कोई युक्तिसंगत हेतु नहीं है।

मायावादियों का कहना है कि मायावरण के कारण पृथक् हुआ जीवात्मा मुक्ति के उपरान्त निर्विशेष ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त कर अपना भिन्न स्वरूप खो बैठता है। परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने यहाँ इस मत का खण्डन किया है। यहाँ इस मत का भी खण्डन है कि हम बद्धावस्था में अपने भिन्न-स्वरूप की कल्पना मात्र कर लेते हैं। इस श्लोक में श्रीकृष्ण का स्पष्ट वक्तव्य है कि उपनिषदों के अनुसार श्रीभगवान् तथा जीवात्माओं के अपने-अपने स्वरूप भविष्य में भी नित्य विद्यमान रहेंगे। श्रीकृष्ण का यह कथन प्रामाणिक है, क्योंकि वे माया के आधीन नहीं हो सकते। यदि जीव और भगवान् से स्वरूप में द्वैत सत्य नहीं होता तो भगवान् श्रीकृष्ण उसे इतना महत्त्व नहीं देते। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है भविष्य में भी स्वरूप-भेद बना रहेगा। मायावादी तर्क कर सकते हैं कि श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया स्वरूप-द्वैत आत्मा में नहीं है, अपितु प्राकृत है। परन्तु यदि स्वरूप-भेद को प्राकृत मान लिया जाय तो श्रीकृष्ण के स्वरूप का वैशिष्ट्य ही क्या रहेगा? श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि पूर्व में उनका अपना विशिष्ट स्वरूप था और भविष्य में भी सदा रहेगा। उन्होंने अपने निजी स्वरूप का विविध प्रकार से वर्णन किया है और निर्विशेष ब्रह्म को अपने आधीन घोषित किया है। श्रीकृष्ण का दिव्य निजी स्वरूप शाश्वत् है। यदि उन्हें व्यष्टि-बुद्धि से युक्त साधारण बद्धजीव समझा जाय तो उनकी भगवद्गीता का प्रमाणिक शास्त्र के रूप में कुछ भी महत्त्व शेष नहीं रह जायगा। चार प्रकार के मानवीय दोषों वाला साधारण व्यक्ति श्रवणीय तत्त्व की शिक्षा देने के योग्य नहीं हो सकता। गीता ऐसे साहित्य की अपेक्षा परम उत्कृष्ट है। संसार की कोई भी पुस्तक भगवद्गीता की तुलना नहीं कर सकती। श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मानने पर गीता का यह सम्पूर्ण माहात्म्य विलुप्त

हो जाता है। मायावादी तर्क करते हैं कि इस श्लोक में वर्णित द्वैत कृत्रिम है, उसका सम्बन्ध केवल देह से है। किन्तु इस श्लोक से पूर्व ही देहात्मवाद को तिरस्कृत किया जा चुका है। जीवों की देहात्मबुद्धि की निन्दा करके फिर श्रीकृष्ण के लिए देहात्मबुद्धि पर आधारित रुढ़िगत वक्तव्य का प्रतिपादन करना किस प्रकार सम्भव था? अतएव यह सिद्ध होता है तत्त्व के आधार पर भगवान् और जीव में स्वरूप-भेद (द्वैत) नित्य बना रहता है। श्रीरामानुज आदि सभी महान् वैष्णव आचार्यों ने इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। गीता में भी अनेक स्थलों पर उल्लेख है कि यह स्वरूप-ज्ञान केवल भगवद्भक्तों को हो सकता है। जो व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण से द्वेष करते हैं, उनका इस महान् ग्रन्थ में कोई अधिकृत प्रवेश नहीं हो सकता। गीतोपदेश के अभक्तों की प्रवृत्ति मधुपात्र पर मँडराते मधुकरों के समान है। पात्र को खोले बिना मधु का आस्वादन नहीं किया जा सकता। इसी भाँति गीता के मर्म का ज्ञान भक्तों को ही हो सकता है; अन्य कोई गीतामृत का रस नहीं ले सकता, जैसा कि चौथे अध्याय में स्पष्ट किया है। श्रीभगवान् की सत्ता से द्वेष करने वाले तो गीता का स्पर्श तक नहीं कर सकते। अतएव गीता की मायावादी व्याख्या समग्र सत्य की परम भ्रांतिकारक व्याख्या है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मायावादियों द्वारा रचित भाष्यों के पठन-पाठन का निषेध करते हुए चेतावनी दी है कि जो मायावादी असद्-दर्शन को ग्रहण कर लेता है, वह गीता के सच्चे रहस्य-ज्ञान को हृदयंगम करने की सम्पूर्ण सामर्थ्य खो बैठता है। यदि स्वरूप-भेद (द्वैत) का सम्बन्ध अनुभवगम्य ब्रह्माण्ड से ही होता, तो श्रीभगवान् के लिए स्वयं गीतोपदेश करने का कोई प्रयोजन नहीं था। जीवात्मा तथा श्रीभगवान् में द्वैत शाश्वत् सत्य है और उपरोक्त कथन के अनुसार वेदों में इसकी पुष्टि है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

देहिनः=देहबद्ध जीवात्मा की; **अस्मिन्**=इस; **यथा**=जिस प्रकार; **देहे**=देह में; **कौमारम्**=कुमार; **यौवनम्**=यौवन; **जरा**=वृद्ध अवस्था (होती है); **तथा**=वैसे ही; **देहान्तर**=अन्य शरीर की; **प्राप्तिः**=प्राप्ति होती है; **धीरः**=धीर पुरुष; **तत्र**=उस विषय में; **न**=नहीं; **मुह्यति**=मोहित होता।

अनुवाद

जिस प्रकार बद्धजीव को इस देह में क्रम से कौमार, यौवन तथा वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, उसी भाँति मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। स्वरूपज्ञानी धीर पुरुष इससे मोहित नहीं होता।।१३।।

तात्पर्य

प्रत्येक जीवात्मा का अपना निजी स्वरूप है। उसके देह में नित्य-निरन्तर परिवर्तन होता रहता है— क्रमशः कौमार, यौवन तथा जरा की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु इन सब प्रकार की अवस्थाओं में आत्मा स्वयं परिवर्तनरहित (अनामय) रहता

है। अन्त में, देहान्त हो जाने पर यह जीवात्मा देहान्तर करता है, अन्य देह में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार अगले जन्म में भी आत्मा को प्राकृत अथवा अप्राकृत, किसी न किसी देह की प्राप्ति अवश्य होगी, यह निश्चित है। इसलिए भीष्म-द्रोण की सम्भावित मृत्यु के लिए अर्जुन के शोक का कोई भी कारण नहीं। वे जीर्ण देह को त्याग कर नूतन देह को धारण करने से नवशक्ति युक्त हो जायेंगे, इस विचार से उसे तो प्रसन्न ही होना चाहिए। देहान्तर कर्मानुसार विविध सुख-दुःख भोगने का निमित्त सिद्ध होता है। महात्मा भीष्म तथा द्रोण को अगले जन्म में भगवद्धाम की प्राप्ति अथवा कम से कम स्वर्गीय श्रेष्ठ भौतिक सुख की उपलब्धि तो अवश्य ही होगी। इन में से किसी भी अवस्था के लिए शोक का कोई कारण नहीं हो सकता।

जीवात्मा, परमात्मा तथा परा-अपरा प्रकृति के स्वरूप को पूर्ण रूप से जानने वाला **धीर** कहलाता है। ऐसा पुरुष देहान्तर से व्याकुल नहीं होता। मायावादियों का एकात्मवाद मान्य नहीं है, क्योंकि आत्मतत्त्व को पृथक् अंशों में विभक्त नहीं किया जा सकता। यदि यह मान लिया जाय कि एक परमात्मा ही नाना जीवों के रूप में विभक्त हो गये हैं, तो वे परिवर्तनशील सिद्ध होते हैं, जो सर्वथा सिद्धान्तविरुद्ध ह।

गीता का प्रमाण है कि ज़ीव परतत्त्व के सनातन भिन्न-अंश हैं। अपरा प्रकृति (माया) में पतनशील होने से वे 'क्षर' कहलाते हैं। ये भिन्न-अंश नित्य भिन्न रहते हैं; मुक्ति हो जाने पर भी जीवात्मा परमात्मा से भिन्न-स्वरूप रहते हैं। किन्तु साथ ही, मुक्त होने पर श्रीभगवान् के सान्निध्य में वे सच्चिदानन्दमय जीवन का रसास्वादन करते हैं। प्रत्येक जीव-देह में जीवात्मा के अतिरिक्त परमात्मा के अस्तित्त्व को प्रतिबिम्ब के उदाहरण से समझा जा सकता है। जल में आकाश के प्रतिबिम्बित होने पर सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रों की भी उसमें छाया पड़ती है। जीवात्मा तारों के समान हैं, जबकि परमेश्वर सूर्य अथवा चन्द्र के तुल्य हैं। अर्जुन भिन्न-अंश जीवात्मा का प्रतीक है और परमेश्वर हैं स्वयं श्रीकृष्ण। ये दोनों एक स्तर पर नहीं हैं जैसा चौथे अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है। यदि यह मान लिया जाय कि अर्जुन श्रीकृष्ण के समकक्ष है, अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से श्रेष्ठ नहीं हैं, तो गुरू-शिष्य के रूप में उनका सम्बन्ध निरर्थक हो जायगा। यदि दोनों माया-मोहित हैं तो एक के द्वारा दूसरे का गुरू बनकर उसे शिक्षा देना सर्वथा अप्रयोजनीय होगा, क्योंकि जो स्वयं मायाबद्ध है, उसका उपदेश प्रामाणिक नहीं हो सकता। अस्तु, वस्तुस्थिति से यह निर्णय होता है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और माया-संमोहित स्मृतिलुप्त जीवात्मा अर्जुन से सदा अति श्रेष्ठ हैं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

मात्रास्पर्शाः=इन्द्रियों और विषयों के संयोग; **तु**=तो; **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र; **शीत**=सर्दी; **उष्ण**=गर्मी; **सुख**=सुख; **दुखदाः**=दुःखदायक हैं; **आगम**=आना;

अपायिनः=जाना; **अनित्याः**=क्षणभंगुर; **तान्**=उनको; **तितिक्षस्व**=सहन करने का प्रयत्न कर; **भारत**=हे भरतवंशी अर्जुन।

अनुवाद

हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से होने वाली सुख-दुःख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के आने जाने के समान ही अनित्य और क्षणभंगुर है। इसलिए हे अर्जुन! उनको विचलित हुए विना सहने का अभ्यास कर।।१४।।

तात्पर्य

स्वधर्म का भलीभाँति पालन करने के लिए सुख-दुःख आदि अनित्य और क्षणभंगुर द्वन्द्वों को सहन करने का अभ्यास करना आवश्यक है। वैदिक विधान के अनुसार, माघ मास में भी प्रातःकाल स्नान करना अनिवार्य है। उस समय अति शीत रहती है; किन्तु धर्मपरायण व्यक्ति स्नान करने में संकोच नहीं करता। गृहिणी ग्रीष्म ऋतु में भी निस्संकोच भोजन बनाती है। इस प्रकार जलवायु सम्वन्धी असुविधा की उपेक्षा करते हुए स्वधर्माचरण करना अनिवार्य है। इसी भाँति, युद्ध करना क्षत्रियों का स्वधर्म है, चाहे मित्रों अथवा स्वजनों से ही क्यों न लड़ना पड़े। किसी भी परिस्थिति में स्वधर्म से विमुख होना उचित नहीं हो सकता। ज्ञान-प्राप्ति के लिए धार्मिक विधि-विधान का पालन अवश्य करना होगा, क्योंकि ज्ञान एवं भक्ति के द्वारा ही माया-मुक्ति साध्य है।

अर्जुन के लिए प्रयुक्त दोनों सम्बोधन महत्त्वपूर्ण है। **कौन्तेय** एवं **भारत** सम्बोधन क्रमशः उसके मातृकुल तथा पितृकुल की महिमा के द्योतक हैं। दोनों ही पक्षों की दृष्टि से उनकी वंश परम्परा महान् है। महान् परम्परा का तात्पर्य है कर्तव्य को भली प्रकार से पूर्ण करने का गुरुतर उत्तरदायित्व। अतएव अर्जुन युद्ध से पराङ्मुख नहीं हो सकता।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

यम्=जिसको; **हि**=निश्चित रूप से; **न व्यथयन्ति**=व्याकुल नहीं कर सकते, **एते**=ये सव; **पुरुषम्**=व्यक्ति को; **पुरुषर्षभ**=हे नरश्रेष्ठ; **सम**=निर्विकार रहने वाला; **दुःख**=दुःख; **सुखम्**=सुख में; **धीरम्**=धीर; **सः**=वह; **अमृतत्वाय**=मुक्ति के; **कल्पते**=योग्य है।

अनुवाद

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! जो सुख-दुःख को समान समझकर इन दोनों से व्याकुल नहीं होता, वह धीर पुरुष निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है।।१५।।

तात्पर्य

जो व्यक्ति परतत्त्व-साक्षात्कार के दृढ़संकल्प से युक्त है तथा सुख-दुःख के आक्रमण को समभाव से सह सकता है, वह निस्सन्देह मुक्ति के योग्य है।

वर्णाश्रम धर्म का चौथा आश्रम, संन्यास सर्वथा कष्टसाध्य है। परन्तु जो वास्तव में अपना जीवन कृतार्थ करना चाहता है, वह सब प्रकार के कष्टों की उपेक्षा करते हुए संन्यासाश्रम अवश्य ग्रहण कर लेता है। स्त्री-पुत्रादि पारिवारिक सम्बन्धों का विच्छेद करना अनिवार्य होने से ही प्रायः कष्ट होता है। परन्तु जो व्यक्ति इन्हें सहने में समर्थ है, उसका भगवत्प्राप्ति-पथ निश्चित रूप से सम्पन्न हो जाता है। अर्जुन को भी क्षत्रियोचित स्वधर्मपालन में दृढ़ रहने का परामर्श दिया गया है, यद्यपि स्वजनों तथा अन्य प्रियजनों से युद्ध करना निस्सन्देह बड़ा कठिन है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने चौबीस वर्ष की अल्पायु में संन्यास ग्रहण कर लिया, जबकि उनकी तरुण पत्नी तथा वयोवृद्धा जननी का कोई अन्य सम्बल न था; वे पूर्णतया उन्हीं पर आश्रित थीं। इस पर भी उन्होंने उच्च उद्देश्य से संन्यास ग्रहण किया और उदात्त कर्तव्यसम्पादन में तत्पर रहे। वास्तव में मायाबन्धन से मुक्ति का यही मार्ग है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

न=नहीं; **असतः**=असत् का; **विद्यते**=है; **भावः**=चिरस्थायित्व; **न**=नहीं; **अभावः**=अभाव; **विद्यते**=है; **सतः**=सत्-तत्त्व का; **उभयोः**=दोनों का; **अपि**=ही; **दृष्टः**=देखा गया है; **अन्तः**=तत्त्व; **तु**=और; **अनयोः**=इन; **तत्त्वदर्शिभिः**=तत्त्ववेत्ताओं द्वारा।

अनुवाद

असत् का तो चिरस्थायी अस्तित्त्व नहीं होता तथा सत् का कभी अन्त नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानियों ने इन दोनों के तत्त्व का निर्णय किया है।।१६।।

तात्पर्य

देह परिवर्तनशील होने से चिरस्थायी नहीं है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान भी स्वीकार करता है कि विभिन्न कोशिकाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण देह प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। इसी कारण यह वृद्धि और वृद्धावस्था को प्राप्त होती है। किन्तु देह तथा मन में परिवर्तन होने पर भी आत्मा नित्य अव्यय रहता है। यही जड़ प्रकृति और आत्मा का भेद है। स्वभावतः देह सदा परिवर्तनशील है और आत्मा सनातन। 'निर्विशेष' और 'सविशेष' आदि सब प्रकार के तत्त्वदर्शियों ने इस सिद्धान्त को माना है। 'विष्णुपुराण' में उल्लेख है कि श्रीविष्णु और उनके सब लोकों की स्वयंप्रकाश चिन्मय सत्ता है—**ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः।** **सत्** शब्द आत्मा का और **असत्** जड़ प्रकृति का वाचक है। सभी ज्ञानीजन इसमें एकमत हैं।

यहाँ से अज्ञान-मोहित जीवों के कल्याणार्थ श्रीभगवान् का मंगलमय सदुपदेश प्रारम्भ होता है। अज्ञान-अपहरण से आराधक एवं आराध्य में नित्य सम्बन्ध की पुर्नस्थापना हो जाती है, जिससे भिन्न-अंश जीव एवं परमेश्वर श्रीकृष्ण में जो भेद है, वह जाना जाता है। परतत्त्व का स्वरूप पूर्ण स्वाध्याय (आत्म-अध्ययन) करने से

जाना जा सकता है, क्योंकि जीव और परमेश्वर का भेद अंश तथा अंशी के भेद के समान है—जीव परमेश्वर का भिन्न-अंश है। वेदान्तसूत्र तथा श्रीमद्भागवत में भी परतत्त्व को वस्तुमात्र का मूल स्वीकार किया गया है। इनका अनुभव परा और अपरा प्रकृति के क्रम से होता है। सातवें अध्याय में कहा है कि जीव परा प्रकृति के भिन्न-अंश हैं। शक्तिमान् एवं शक्ति में अभेद होते हुए भी शक्तिमान् परतत्त्व है, जबकि शक्ति अर्थात् प्रकृति उसकी वशवर्तिनी है। अतएव सेवक और शिष्य के जैसे जीवात्मा नित्य परमेश्वर श्रीकृष्ण के आधीन रहते हैं। अज्ञानावस्था में इस शुद्ध ज्ञान को ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः अज्ञान का नाश कर जीवमात्र को सदा के लिए प्रबुद्ध कर देने के लिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भगवद्गीता रूपी शिक्षामृत का परिवर्षण कर रहे हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

अविनाशी=नाशरहित; **तु**=तो; **तत्**=उसे; **विद्धि**=जान; **येन**=जिसके द्वारा; **सर्वम्**=सम्पूर्ण देह; **इदम्**=यह; **ततम्**=परिपूर्ण है; **विनाशम्**=नाश; **अव्ययस्य**=अविनाशी का; **अस्य**=इसका; **न कश्चित्**=कोई भी नहीं; **कर्तुम्**=करने में; **अर्हति**=समर्थ है।

अनुवाद

अविनाशी तो उसको जान, जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस अव्यय आत्मा का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।।१७।।

तात्पर्य

इस श्लोक में सम्पूर्ण देह में व्याप्त आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का अधिक स्पष्ट वर्णन है। यह सत्य सभी के अनुभव में आता है कि सम्पूर्ण देह में एक ही चैतन्य तत्त्व व्याप्त है। सम्पूर्ण देह के अथवा किसी एक शरीरांग के सुख-दुःख का बोध जीवमात्र को होता रहता है। परन्तु देह में चैतन्य की यह व्याप्ति व्यष्टि-शरीर तक सीमित है। किसी एक प्राणी के देहगत सुख-दुःख का बोध अन्य को नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक देह में एक-एक आत्मा आबद्ध है, जिसका अनुभव व्यष्टि-चेतन रूप में हुआ करता है। इस आत्मा का माप केश के अग्रभाग के १०,००० वें भाग के बराबर कहा गया है। **श्वेताश्वतर उपनिषद्** में इस सत्य का प्रमाण है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।

"आत्मा का माप केश की नोक के सौवें भाग के शतांश के बराबर है।" (श्वे० ५.९) इसी भाँति, श्रीमद्भागवत में भी उल्लेख है,

केशाग्रशतभागस्य शतांशः सदृशात्मकः।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः।।

"विस्तार में केश की नोक के १०,००० वें अंश के तुल्य असंख्य आत्मकण हैं।"

इस प्रकार चिन्मय आत्मकण प्राकृत परमाणु से भी सूक्ष्म विस्तार वाला है। साथ ही, ऐसे असंख्य आत्मकण हैं। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्म-स्फुलिंग प्राकृत देह का प्रधान आधार है; औषधि के क्रियाशील तत्त्व के समान इसका प्रभाव भी सम्पूर्ण देह में व्याप्त रहता है। आत्मा का यह प्रभाव देह में चेतना के रूप में अनुभूत होता है; यही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। साधारण बुद्धि वाला भी जानता है कि चेतना-शून्य प्राकृत देह मृत हो जाती है; किसी भी प्राकृत उपचार से उसमें चेतना का फिर संचार नहीं किया जा सकता। यह प्रत्यक्ष है कि चेतना का कारण कोई प्राकृत सम्मिश्रण नहीं है, अपितु आत्मा है। **मुण्डकोपनिषद्** में आत्मा के स्वरूप का अधिक वर्णन है:

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।।

"अणु विस्तार वाला आत्मा बुद्धियोग से जाना जाता है। पँचप्राणों (प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान) में तैरता हुआ यह अणु-आत्मा हृदय में स्थित रहकर बद्धजीव के सम्पूर्ण शरीर में अपना प्रभाव विकीर्णित करता है। पँचप्राणों के दोषों से आत्मा के मुक्त होने पर ही उसका दिव्य स्वरूप प्रकट होता है।" (मुण्ड० ३.१.९)

हठयोग का प्रयोजन विविध आसनों के द्वारा उन पञ्चप्राणों का निग्रह करना है, जिनसे शुद्धस्वरूप आत्मा घिरा हुआ है। यह साधन लौकिक लाभ के लिए नहीं, भव-परिवेश से अणु-आत्मा की मुक्ति के लिए किया जाता है।

इस प्रकार, अणु-आत्मा का चिन्मय स्वरूप सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः सुधिजनों को इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त है। अतएव जो अणु-आत्मा को सर्वव्यापक विष्णुतत्त्व कहता है, वह अवश्य उन्मत्त है।

अणु-आत्मा का प्रभाव किसी एक देह में ही व्याप्त रहता है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार, यह अणु-आत्मतत्त्व सब जीवों के हृदय में स्थित है। संसार के वैज्ञानिकों के लिए यह सर्वथा अप्रमेय है। इसी कारण उनमें से कुछ अपनी मूर्खता का परिचय देते हुए आत्मा के स्वरूप का निराकरण तक करने का दुस्साहस कर बैठते हैं। परमात्मा के साथ अणु-जीवात्मा भी निश्चित रूप से देह के हृद्देश में विद्यमान है। शरीर की क्रिया-शक्ति का यही उद्गम-स्थान है। फेफड़ों से आक्सीजन का संवहन करने वाले कोश आत्मा से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। इस स्थान से आत्मा के हट जाने पर संलयन के कारण रुधिर-क्रिया का निवर्तन हो जाता है। चिकित्सा विज्ञान

रक्तकोशों का महत्त्व तो स्वीकार करता है; पर वह यह जान पाने में समर्थ नहीं है कि उन कोशों का शक्ति-स्रोत आत्मा है। तथापि, चिकित्सा विज्ञान इतना तो स्वीकार करता ही है कि सब शारीरिक शक्तियों का केन्द्र हृदय है।

परमात्मा के ये अणु-अंश सूर्यज्योति के परमाणुओं के तुल्य हैं। सूर्यज्योति में संख्यातीत जाज्वल्यमान् परमाणु रहते हैं। इसी भाँति परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश उनकी प्रभा नामक परा प्रकृति के अणु-अंश हैं। वैदिक ज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान, दोनों देह में आत्मा के अस्तित्त्व का निराकरण नहीं करते। भगवद्गीता में तो भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं आत्मविद्या का विशद प्रतिपादन किया है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

अन्तवन्तः=नाशवान्; **इमे**=ये; **देहाः**=प्राकृत शरीर; **नित्यस्य**=नित्य स्वरूप; **उक्ताः**=कहे जाते हैं; **शरीरिणः**=बद्ध जीवात्मा के; **अनाशिनः**=सनातन; **अप्रमेयस्य**=अप्रमेय; **तस्मात्**=इसलिए; **युध्यस्व**=युद्ध कर; **भारत**=हे भरतवंशी अर्जुन।

अनुवाद

इस अविनाशी, अप्रमेय और नित्य रहने वाले आत्मा की प्राकृत देह ही नाशवान् है। अतएव हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।।१८।।

तात्पर्य

प्राकृत देह स्वभाव से नाशवान् है। उसका विनाश तत्काल हो, अथवा सौ वर्ष बाद, इसमें केवल समय का ही प्रश्न है। उसे अनिश्चित काल तक बनाये रखने की कोई सम्भावना नहीं। दूसरी ओर, चिन्मय आत्मा इतना सूक्ष्म है कि उसका वध करना तो दूर रहा, शत्रु उसे देख भी नहीं सकता, जैसा पूर्व श्लोक में कहा गया है। अति सूक्ष्म होने से उसका माप भी नहीं किया जा सकता। अतएव इन दोनों दृष्टिकोणों से शोक करने का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप नित्य अवध्य है और प्राकृत देह को नित्य बनाए रखना असम्भव है ही। परमात्मा के सूक्ष्मांश आत्मा को प्राकृत देह की प्राप्ति कर्मानुसार होती है। इसलिए धर्म का ही आचरण करना चाहिए। 'वेदांतसूत्र' में जीवात्मा को ज्योति की उपमा दी गयी है; वह परम ज्योति-स्वरूप श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। सूर्यज्योति द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पालन के समान आत्मज्योति इस प्राकृत देह का संभरण करती है। प्राकृत देह से चिन्मय आत्मा के गमन करते ही देह का विघटन होने लगता है। प्रत्यक्ष रूप से देह का अस्तित्त्व आत्मा से ही है, उसकी अपनी कुछ भी महत्ता नहीं है। अतएव अर्जुन को स्वधर्म-पालन के रूप में युद्ध करते हुए प्राकृत देह का उत्सर्ग करने का परामर्श दिया गया है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

यः=जो; **एनम्**=इस आत्मा को; **वेत्ति**=जानता है; **हन्तारम्**=मारने वाला; **यः**=जो; **च**=तथा; **एनम्**=इसे; **मन्यते**=मानता है; **हतम्**=मरा; **उभौ**=दोनों ही; **तौ**=वे; **न**=नहीं; **विजानीतः**=जानते; **न**=न; **अयम्**=यह; **हन्ति**=मारता है; **न**=नहीं; **हन्यते**=मारा जाता है।

अनुवाद

जो इस आत्मा को मारने वाला मानता है, और जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही अज्ञानी हैं। यथार्थ ज्ञानी जानता है कि यह आत्मा न तो मारता है और न ही कभी मारा जाता है।।१९।।

तात्पर्य

देह पर किसी घातक शस्त्र का आघात होने पर भी देह में बद्ध जीवात्मा की मृत्यु नहीं होती। जैसा पूर्व श्लोकों में सिद्ध किया जा चुका है, जीवात्मा इतना सूक्ष्म है कि किसी भी प्राकृत शस्त्र से उसका वध नहीं किया जा सकता। अपने अप्राकृत स्वरूप के कारण जीवात्मा अवध्य है। मृत्यु तो केवल देह की ही होती है। किन्तु इसका तात्पर्य देहहिंसा को प्रोत्साहित करना नहीं है। वैदिक निर्देश है, **माहिंस्यात् सर्वभूतानि**, 'किसी भी जीव की हिंसा कभी न करे।' आत्मा अवध्य है, इसका यह अर्थ नहीं कि पशुहिंसा की जाय। किसी भी जीवदेह की अनाधिकार हत्या करना निंद्य है एवं राज्य और भगवत्-विधान के अनुसार दण्डनीय भी है। परन्तु अर्जुन को तो वध में धर्म के उद्देश्य से नियुक्त किया जा रहा है, स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

न=नहीं; **अयम्**=यह; **भूत्वा**=होकर; **भविता**=होने वाला है; **वा**=अथवा; **न**=नहीं; **भूयः**=फिर; **अजः**=अजन्मा; **नित्यः**=नित्य; **शाश्वतः**=सनातन; **अयम्**=यह; **पुराणः**=प्राचीनतम; **न**=नहीं; **हन्यते**=मरता; **हन्यमाने**=मारे जाने पर भी; **शरीरे**=देह के।

अनुवाद

आत्मा किसी भी काल में न तो जन्मता है और न मरता ही है। तथा एक बार होकर यह कभी नष्ट भी नहीं होता। यह नित्य, अजन्मा, शाश्वत् और पुरातन है। देह के मारे जाने पर भी आत्मा नहीं मारा जाता।।२०।।

तात्पर्य

परमात्मा तथा उनके अणु-तुल्य भिन्न-अंश जीवात्मा में चिद्गुणों में अभेद है, दोनों में समान चिद्गुण हैं। यही कारण है कि आत्मा देह के समान विकारी नहीं है। इसलिए आत्मा को **कूटस्थ** भी कहा जाता है। देह में छः प्रधान विकार (परिवर्तन) होते हैं। माँ के गर्भ में उसका जन्म होता है, कुछ काल तक अस्तित्व में रहता है, बढ़ता है, कुछ उत्पत्ति करता है तथा क्रमशः क्षय को प्राप्त होकर अन्त में लुप्त हो जाता है। आत्मा इन सभी विकारों से नित्य मुक्त है। वह अजन्मा है, जन्म तो केवल उस देह का होता है जो उसने धारण की है। आत्मा का कभी जन्म-मरण नहीं होता। जन्म लेने वाले की मृत्यु भी अवश्य होती है। इस न्याय से अजन्मा आत्मा के लिए भूत-वर्तमान-भविष्य का भेद नहीं है। वह नित्य, शाश्वत् तथा पुराण है, उसकी उत्पत्ति का कोई इतिहास नहीं है। देह में आत्मबुद्धि रखने के कारण ही हम आत्मा के जन्मादि का इतिहास जानना चाहते हैं। देह की भाँति आत्मा कभी वृद्ध भी नहीं होता। यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि वृद्ध कहे ज़ाने वाले व्यक्ति भी अपने अन्तर में उसी आत्मतत्त्व का अनुभव करते हैं, जैसा यौवन या शैशव में किया करते थे। देहगत विकार (परिवर्तन) आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकते। आत्मा, वृक्ष, आदि किसी प्राकृत वस्तु के समान क्षय को प्राप्त नहीं होता। आत्मा से उपसृष्टि भी नहीं होती। देह से उत्पन्न सन्तान अलग-अलग जीवात्माएँ हैं; देह के सम्बन्ध से ही वे किसी की सन्तति प्रतीत होती हैं। आत्मा की उपस्थिति से देह विकसित होती है; किन्तु आत्मा में विकार अथवा प्रजनन नहीं होता।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि शरीर में होने वाले छः प्रकार के विकारों से आत्मा सर्वथा मुक्त है। 'कठोपनिषद्' (१.२.१८) में इसके सदृश एक श्लोक मिलता है—
है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

इस श्लोक का अर्थ और तात्पर्य भगवद्गीता के उपरोक्त श्लोक के समान है। परन्तु यहाँ एक विशिष्ट शब्द का प्रयोग हुआ है: **विपश्चित्** अर्थात् 'ज्ञानवान्'।

आत्मा ज्ञान अथवा चेतना से नित्य पूर्ण रहता है। यह चेतना आत्मा का स्वरूप-लक्षण है। यदि आत्मा का अनुभव उसके अवस्थान—हृदय में न हो तो भी चेतना की उपस्थिति से उसके अस्तित्व का ज्ञान हो सकता है। मेघ अथवा किसी अन्य कारण से कभी-कभी आकाश में सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु सूर्यप्रकाश से हम जान सकते हैं कि यह दिन का समय है। प्रातःकालिक आकाश में थोड़ा सा भी प्रकाश होने पर हम समझ जाते हैं कि सूर्योदय हो गया। इसी प्रकार मानव, पशु, आदि सब देहों में न्यूनाधिक चेतना रहती ही है, जिससे आत्मा का अनुभव हो सकता है। परन्तु यह आत्म-चेतना परतत्त्व परमात्मा की चेतना से भिन्न है, क्योंकि

परम चैतन्य सर्वज्ञ (भूत, वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञाता) है, जबकि जीवात्मा की चेतना विस्मरणशील है। जब-जब जीव् अपने यथार्थ स्वरूप को भुला बैठता है, तब-तब उसे श्रीकृष्ण के उपदेश से सत्-शिक्षा और बोध की प्राप्ति होती है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण जीवात्मा के समान विस्मरणशील नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो उनके द्वारा दी गई भगवद्गीता की शिक्षा व्यर्थ ही होती।

विस्तार भेद से आत्मा दो प्रकार के हैं—अणु-आत्मा एवं विभु-आत्मा। कठोपनिषद् (१.२.२०) में भी यह प्रमाणित है:

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।।

"परमात्मा एवं अणु-आत्मा, दोनों शरीर रूपी वृक्ष पर जीव के हृदय में हैं।" सम्पूर्ण विषय-वासनाओं और शोक से मुक्त पुरुष ही भगवत्कृपा से आत्मा की महिमा को हृदयंगम कर सकता है। श्रीकृष्ण परमात्मा के भी उद्गम हैं, जैसा अगले अध्यायों में कहा गया है। दूसरी ओर, अर्जुन उस अणु-आत्मा के समान है, जो अपने स्वरूप को भूल बैठता है। अतएव उसके लिए भगवान् श्रीकृष्ण अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि (सद्गुरु) से प्रबोध प्राप्त करने की नितान्त आवश्यकता है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

वेद=जानता है; **अविनाशिनम्**=अविनाशी; **नित्यम्**=नित्य; **यः**=जो; **एनम्**=इस आत्मा को; **अजम्**=अजन्मा; **अव्ययम्**=निर्विकार; **कथम्**=किस प्रकार; **सः**=वह; **पुरुषः**=व्यक्ति; **पार्थ**=हे पार्थ (अर्जुन); **कम्**=किसको; **घातयति**=मरवाता है; **हन्ति**=मारता है; **कम्**=किसको।

अनुवाद

हे पार्थ! जो आत्मा को नित्य अविनाशी, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह किस प्रकार किसी को मार सकता है अथवा मरवा सकता है।।२१।।

तात्पर्य

प्रत्येक पदार्थ की अपनी समुचित उपयोगिता होती है। पूर्ण ज्ञानी की यह विशेषता है कि वह देशकाल के अनुसार पदार्थों का यथोचित उपयोग करना जानता है। हिंसा की भी उपयुक्तता है; परन्तु उसका उचित उपयोग ज्ञानी पर निर्भर करता है। हत्यारे को प्राणदण्ड देने वाले न्यायाधीश को दोषी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न्याय-संहिता के अनुसार ही वह किसी की हिंसा का विधान करता है। मानवमात्र के धर्म-शास्त्र 'मनुसंहिता' में कथन है कि हत्यारे को प्राणदण्ड देना उचित है, जिससे पुनर्जन्म में वह उस महान् पापकर्म का फल भोगने को बाध्य न हो। हत्यारे को प्राणदण्ड की राजाज्ञा वास्तव में उसके लिए कल्याणकारी सिद्ध होती है। इसी

भाँति, जब श्रीकृष्ण युद्ध करने की आज्ञा देते हैं तो यह निश्चित समझना चाहिए कि इस प्रसंग में हिंसा का उद्देश्य परम न्याय के लिए है। अतः अर्जुन को यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण के लिए युद्ध में हुई हिंसा वास्तव में हिंसा नहीं है और इस ज्ञान से युक्त होकर भगवान् की इस आज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिए। आत्मा सर्वथा अवध्य है। इस कारण न्याय के हेतु हिंसा की जा सकती है। शल्यक्रिया का प्रयोजन रोगी को स्वास्थ्य-लाभ कराना है, मारना नहीं। श्रीकृष्ण की शिक्षानुसार अर्जुन की युद्धक्रिया पूर्ण ज्ञान से युक्त है। इसलिए उससे कुछ भी पापफल नहीं बन सकता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

वासांसि=वस्त्रों को; **जीर्णानि**=पुराने; **यथा**=जिस प्रकार; **विहाय**=त्याग कर; **नवानि**=नये वस्त्र; **गृह्णाति**=ग्रहण करता है; **नरः**=मनुष्य; **अपराणि**=दूसरे; **तथा**=वैसे ही; **शरीराणि**=शरीरों को; **विहाय**=त्याग कर; **जीर्णानि**=जीर्ण हुए; **अन्यानि**=दूसरे; **संयाति**=धारण करता है; **नवानि**=नूतन; **देही**=देहबद्ध आत्मा।

अनुवाद

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने जीर्ण शरीरों को त्याग कर नूतन देह ग्रहण करता है।।२२।।

तात्पर्य

अणु-जीवात्मा देहान्तर करता है—यह एक स्वीकृत सत्य है। हृदय से शक्ति का उद्‌गम किस प्रकार होता है, यह न बता सकने पर भी आधुनिक वैज्ञानिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते। पर वे तक यह मानने को बाध्य हो जाते हैं कि शैशव से कौमार, कौमार से यौवन तथा यौवन से जरा के रूप में देह में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अन्त में वृद्धावस्था के अनन्तर देहान्तर हो जाता है। इसका वर्णन पूर्व श्लोक में किया जा चुका है।

अणु-आत्मा परमात्मा की कृपा से ही देहान्तर करता है। जिस प्रकार सखा सखा की इच्छा की पूर्ति करता है, उसी भाँति परमात्मा भी जीवात्मा की अभीप्सा पूर्ण करते हैं। वेद, 'मुण्डक' तथा 'श्वेताश्वतर' उपनिषदों में जीवात्मा और परमात्मा को एक वृक्ष पर बैठे हुए दो मित्र पक्षियों की उपमा दी गई है। उनमें से एक (अणु-जीवात्मा) वृक्ष के फलों को खा रहा है, जबकि दूसरा पक्षी (श्रीकृष्ण) केवल अपने उस सखा को देखता रहता है। चिद्‌गुणों में समान होते हुए भी एक पक्षी तो विषय-वृक्ष के फलों से मोहित हो जाता है, जबकि दूसरा उस सखा की क्रियाओं का

साक्षीमात्र है। श्रीकृष्ण साक्षी पक्षी हैं और अर्जुन फल-भोक्ता पक्षी है। सखा होने पर भी उनमें से एक स्वामी है और दूसरा सेवक। अणु-जीवात्मा का इस सम्बन्ध को भुला देना ही उसके एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाने अर्थात् देहान्तर में कारण है। प्राकृत देहरूपी वृक्ष पर जीवात्मा जीवन के लिए घोर संघर्ष कर रहा है। किन्तु दूसरे पक्षी को परम गुरु स्वीकार करते ही, अर्थात् अर्जुन के समान शिक्षा प्राप्ति के लिए स्वेच्छापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होते ही परतन्त्र पक्षी (जीव) सम्पूर्ण शोक से तुरन्त मुक्त हो सकता है। कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों में इसकी भी संपुष्टि है:

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।

एक वृक्ष पर बैठे दोनों पक्षियों में से जो पक्षी वृक्ष के फल का भोक्ता है, वह उद्वेग-विषाद से पूर्ण हो रहा है। यदि वह किसी प्रकार अपने सखा श्रीभगवान् के सम्मुख होकर उनकी महिमा को धारण कर ले तो अविलम्ब शोकमुक्त हो जाय। अर्जुन भी इस समय अपने नित्य सखा भगवान श्रीकृष्ण के सम्मुख होकर उनसे भगवद्गीता का ज्ञान प्राप्त कर रहा है। इस भाँति स्वयं श्रीकृष्ण से श्रवण करके उनके परमं माहात्म्य को हृदयंगम करने से वह निस्सन्देह शोकमुक्त हो जायगा।

श्रीभगवान् ने इस श्लोक में अर्जुन को परामर्श दिया है कि वह अपने वृद्ध पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण के देहान्तर करने पर शोक न करे। उनका तर्क है कि धर्मयुद्ध में उनके कलेवरों का वध करके उन्हें नाना प्रकार के देहजन्य पापों से मुक्त कर देने में उसे तो प्रसन्न ही होना चाहिए। यज्ञाहुति अथवा धर्मयुद्ध में प्राण-विसर्जन करने वाला सकल देहजनित पापों से अविलम्ब मुक्त हो जाता है और उच्चलोक प्राप्त करता है। इस कारण अर्जुन के शोक का कोई भी युक्तिसम्मत हेतु नहीं है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

न=नहीं; एनम्=इस आत्मा को; **छिन्दन्ति**=काट सकते हैं; **शस्त्राणि**=शस्त्र; **न**=नहीं; **एनम्**=इस आत्मा को; **दहति**=जला सकती है; **पावकः**=अग्नि; **न**=नहीं; **च**=तथा; **एनम्**=इसे; **क्लेदयन्ति**=गीला कर सकता है; **आपः**=जल; **न**=नहीं; **शोषयति**=सुखा सकता है; **मारुतः**=वायु।

अनुवाद

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती।।२३।।

तात्पर्य

ज्वाला, वर्षा, चक्रावात तथा खड्ग आदि किसी भी शस्त्र से आत्मा का वध

नहीं किया जा सकता। प्रतीत होता है कि आधुनिक आग्नेय अस्त्रों के अतिरिक्त पूर्व काल में अनेक पार्थिव, जलीय, वायव्य तथा आकाशादि से निर्मित शस्त्र भी थे। आधुनिक परमाणु शस्त्र आग्नेय शस्त्रों की श्रेणी में आते हैं। परन्तु पूर्व में सभी पाँचभौतिक तत्त्वों से निर्मित शस्त्र प्रचलित थे। आग्नेय शस्त्रों का प्रतिकार वारुणी शस्त्रों से होता है, जो आधुनिक विज्ञान को अज्ञात हैं। आधुनिक विज्ञान को चक्रावात शस्त्रों का भी ज्ञान नहीं है। इन सब वैज्ञानिक उपकरणों के होते हुए भी आत्मा का न तो छेदन किया जा सकता है और न नाश ही।

अतएव मायावादी अपने इस मत को सिद्ध नहीं कर सकते कि जीव मूल रूप में परमात्मा से अभिन्न था, परन्तु अज्ञान के कारण उनसे पृथक् होकर माया द्वारा आवृत हो गया। जब अणु-आत्मा का भी छेदन नहीं किया जा सकता, जैसा श्रीभगवान् स्वयं कह रहे हैं, तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि जीवों के रूप में परमात्मा का विच्छेद हुआ हो। सत्य यह है कि अणु-जीवात्मा और परमात्मा में सनातन भेद है। यही कारण है कि जीव माया-आवरण में पतनशील हैं और परिणामस्वरूप परमेश्वर श्रीकृष्ण का संग खो बैठते हैं। यह इस प्रकार समझा जा सकता है। अग्नि से स्फुलिंग गुणों में अग्नि के समान होते हैं, परन्तु अग्नि से अलग होते ही वे निस्तेज हो जाते हैं। 'वराह पुराण' में जीव को परमात्मा का भिन्न-अंश कहा गया है। भगवद्गीता के अनुसार भी जीव का सनातन स्वरूप यही है। अतएव सिद्ध होता है कि माया से मुक्त हो जाने पर भी जीवात्मा का पृथक् स्वरूप बना रहता है, जैसा अर्जुन के प्रति श्रीभगवान् की शिक्षा से स्पष्ट है। श्रीकृष्ण से प्राप्त ज्ञान के द्वारा अर्जुन निस्सन्देह मुक्त हो गया; फिर भी वह श्रीकृष्ण से एक कभी नहीं हुआ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

अच्छेद्यः=काटा नहीं जा सकता है; **अयम्**=यह आत्मा; **अदाह्यः**=जल नहीं सकता; **अयम्**=यह आत्मा; **अक्लेद्यः**=जल से क्षय को प्राप्त नहीं होता; **अशोष्यः**=सुखाया नहीं जा सकता; **एव**=निस्सन्देह; **च**=तथा; **नित्यः**=नित्य; **सर्वगतः**=सर्वव्यापक; **स्थाणुः**=अविकारी; **अचलः**=स्थिर रहने वाला; **अयम्**=यह आत्मा; **सनातनः**=शाश्वत्।

अनुवाद

यह आत्मा अच्छेद्य है, अक्लेद्य, है, अदाह्य और अशोष्य है। यह नित्य, सर्वव्यापक, अविकारी, स्थिर रहने वाला तथा सनातन है।।२४।।

तात्पर्य

आत्मा के ये सब गुण निश्चित रूप से सिद्ध करते हैं कि वह परमात्मा का शाश्वत् अणु-अंश है। आत्मा अविकारी है, वह सदा इसी रूप में रहता है। अतएव इस सन्दर्भ में अद्वैतवाद को सिद्ध करना सम्भव नहीं है, क्योंकि अणु-आत्मा परमात्मा के समरूप कभी नहीं हो सकता। माया-बन्धन से मुक्त अणु-आत्मा इच्छानुसार

दिव्य स्फुलिंग के रूप में तेजोमय भगवद्ज्योति में निवास कर सकता है। परन्तु बुद्धिमान् जीव तो श्रीभगवान् का संग करने के लिए भगवद्धामों में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

सर्वगतः शब्द महत्त्वपूर्ण है। निःसन्देह जीवात्मा श्रीभगवान् की सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त हैं। वे जल, वायु, आकाश और पृथ्वी के भीतर तथा अग्नि में भी स्थित हैं। जो मत यह कहता है कि वे अग्नि में निर्जीव हो जाते हैं, उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। कारण, यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि आत्मा अदाह्य है, अर्थात् इसे अग्नि जला नहीं सकती। अतः इस में सन्देह नहीं कि सूर्यलोक में भी उपयुक्त कलेवर वाले जीवात्मा है। यदि सूर्यलोक निर्जन हो तो **सर्वगतः** शब्द निरर्थक हो जाय।

अव्यक्तोऽय मचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

अव्यक्तः=इन्द्रियों से अतीत; **अयम्**=यह आत्मा; **अचिन्त्यः**=चिन्तनशक्ति से परे; **अयम्**=यह आत्मा; **अविकार्यः**=विकारों से मुक्त; **अयम्**=यह आत्मा; **उच्यते**=कहा जाता है; **तस्मात्**=इसलिए; **एवम्**=इस प्रकार; **विदित्वा**=भली-भाँति जानकर; **एनम्**=इस आत्मा को; **न**=नहीं; **अनुशोचितुम्**=शोक करने के; **अर्हसि**=(तू) योग्य है।

अनुवाद

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य तथा अविकारी कहा जाता है। इसे ऐसा जानकर तुझे देह के लिए शोक नहीं करना चाहिए।।२५।।

तात्पर्य

पूर्ववर्णन के अनुसार, आत्मा का विस्तार हमारी लौकिक गणना के लिए इतना सूक्ष्म है कि सबसे शक्तिशाली अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा भी उसे देखा नहीं जा सकता। वह वस्तुतः अदृश्य ही है। अतः श्रुतिप्रमाण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोग के द्वारा उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमें यह सत्य स्वीकार करना होगा कि आत्मा के अस्तित्व के ज्ञान का कोई अन्य स्रोत नहीं है, यद्यपि यह एक अनुभवगम्य सत्य है। ऐसे अनेक तथ्य हैं जिन्हें उच्च प्रमाण के आधार पर ही स्वीकार करना पड़ता है। पिता का अस्तित्व माता के प्रमाण पर आधारित है; उसका निराकरण कोई नहीं कर सकता। मातृ-प्रमाण के अतिरिक्त पिता को जानने का कोई अन्य साधन नहीं है। इसी प्रकार आत्मज्ञान केवल वेदाध्ययन से होता है। भाव यह है कि मानवीय प्रयोगात्मक ज्ञान के लिए आत्मा सर्वथा अचिन्त्य है। हमें वेद के इस सिद्धांत को भी स्वीकार करना होगा कि आत्मा चेतना भी है और चैतन्य भी। शरीर के धर्म के विपरीत, आत्मा नित्य अविकारी है; उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। यही कारण है कि अनन्त विभु-आत्मा की तुलना में आत्मा सदा अणु-तुल्य रहता है। विभु-आत्मा अनन्त है, जबकि जीवात्मा अणुतम है। आत्मतत्त्व में विकार नहीं होता, इसलिए अणु-जीवात्मा और अनन्त-आत्मा (भगवान्) का यह सम्बन्ध

शाश्वत् है, अर्थात् जीव श्रीभगवान् के तुल्य कभी नहीं हो सकता। आत्मा का पृथक् शाश्वत् स्वरूप है, इस सत्य को असंदिग्ध रूप से स्थापित करने के लिए वेद में इस सिद्धांत की नाना रूपों में पुनरुक्ति की गयी है। किसी-किसी तत्त्व के निर्दोष और पूर्ण ज्ञान के लिए यह आवश्यक होता है कि उसकी पुनरावृत्ति की जाय।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

अथ च=और यदि; **एनम्**=इस आत्मा को; **नित्यजातम्**=नित्य जन्मने वाला; **नित्यम्**=सदा; **वा**=अथवा; **मन्यसे**=मानता है; **मृतम्**=मरने वाला; **तथापि**=ऐसा होने पर भी; **त्वम्**=तू; **महाबाहो**=हे महाबाहु; **न**=नहीं; **एवम्**=इस प्रकार से; **शोचितुम्**=शोक करने के; **अर्हसि**=योग्य है।

अनुवाद

यदि तू इस आत्मा को नित्य जन्मने और नित्य मरने वाला भी माने, तो भी हे महाबाहु! तेरे लिए शोक का कोई कारण नहीं है।।२६।।

तात्पर्य

मानव समाज में दार्शनिकों का एक ऐसा दल सदा रहा है, जो बौद्धों के ही समान यह नहीं मानता कि देह से परे आत्मा का कोई पृथक् स्वरूप भी है। प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता का प्रवचन किया, उस समय भी इस कोटि के दार्शनिक विद्यमान थे। उन्हें 'लोकायतिक' और 'वैभाषिक' कहा जाता था। इन दार्शनिकों के मत में प्राकृत तत्त्वों के सम्मिश्रण की एक विशेष परिपक्व अवस्था में जीवन-लक्षण (चेतना) अथवा आत्मा की उत्पत्ति होती है। आधुनिक वैज्ञानिक एवं दार्शनिकों की भी प्रायः यही विचारधारा है। उनके अनुसार, शरीर की रचना केवल स्थूल तत्त्वों से हुई है तथा एक विशेष अवस्था में स्थूल तथा रासायनिक तत्त्वों की अन्तः क्रिया से जीवन-लक्षण प्रकट होते हैं। मानवीय संरचना-विज्ञान इसी मत पर आधारित है। आजकल पाश्चात्य जगत् में लोकप्रिय हो रहे अनेक प्रकार के कपट-धर्म भी इस मत का और शून्यवाद को मानने वाले अभक्त बौद्धों का अनुसरण कर रहे हैं।

यदि वैभाषिक मत के अनुसार अर्जुन का आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं है, तो भी शोक का कोई हेतु नहीं बनता। रसायनों की थोड़ी सी मात्रा के लिए शोक से विह्वल होकर कोई अपने कर्तव्य-कर्म का त्याग नहीं करता। आधुनिक विज्ञान तथा युद्ध में तो शत्रु-विजय के लिए रसायनों को बड़ी मात्रा में नष्ट किया जाता है। वैभाषिक दर्शन का कहना है कि शरीर का क्षय होने के साथ ही तथाकथित आत्मा भी नष्ट हो जाता है। अतएव अर्जुन वैदिक सिद्धान्त के अनुसार अणु-आत्मा के अस्तित्व को माने अथवा न माने, दोनों ही स्थितियों में उसके लिये शोक का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं है। वैभाषिक मत के अनुसार प्रतिक्षण अनेक आत्माओं की जड़ प्रकृति

से उत्पत्ति होती रहती है और अनेक का निरन्तर नाश भी होता रहता है; इसलिए ऐसे प्रसंग में शोक करना सर्वथा अप्रयोजनीय है। पितामह एवं गुरु के वध से बनने वाले पाप की आशंका से भयभीत होना भी अर्जुन के लिए हेतुसंगत नहीं, क्योंकि इस दर्शन के अनुसार आत्मा का पुनर्जन्म तो होता ही नहीं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को व्यंगपूर्वक महाबाहु सम्बोधित किया, क्योंकि इस वैभाषिक मत को, जो वैदिक ज्ञान के बिल्कुल प्रतिकूल है, वे स्वीकार नहीं करते। अर्जुन क्षत्रिय है, इसलिए वैदिक संस्कृति का अनुयायी है। अतएव वैदिक सिद्धांतों का अनुसरण करते रहना ही उसके लिए योग्य होगा।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

जातस्य=जन्मने वाले की; **हि**=क्योंकि; **ध्रुवः**=निश्चित है; **मृत्युः**=मृत्यु; **ध्रुवम्**=निश्चित है; **जन्म**=जन्म; **मृतस्य**=मरने वाले का; **च**=तथा; **तस्मात्**=अतः; **अपरिहार्ये**=उपायरहित; **अर्थे**=विषय में; **न**=नहीं; **त्वम्**=तू; **शोचितुम्**=शोक करने; **अर्हसि**=योग्य है।

अनुवाद

जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का पुर्नजन्म भी निश्चित है। अतएव इस अनिवार्य स्वधर्म-पालन में तू शोक करने के योग्य नहीं है।।२७।।

तात्पर्य

जीवमात्र अपने कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करता है। इस कारण एक कर्म-अवधि समाप्त हो जाने पर मरकर अगली के लिए पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार मुक्ति के बिना जन्म-मृत्यु का यह चक्र चलता ही रहता है। परन्तु जन्म-मृत्यु की नित्यता का यह अर्थ नहीं कि अप्रयोजनीय हत्या, वध तथा युद्ध आदि हिंसा-कर्म किए जायें। साथ ही, मानव समाज में नियम तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिये हिंसा और युद्ध करना कभी-कभी अपरिहार्य भी हो जाता है।

भगवत्-इच्छावश कुरुक्षेत्र का युद्ध अवश्यंभावी था और सत्य के लिये युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म भी है। अतः स्वधर्माचरण में सम्भावित स्वजन-वध से भय अथवा शोक उसे क्यों हो? अर्जुन विधि-विधान के पालन में प्रमाद करने के योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर वह उसी पाप से लिप्त हो जायगा, जिसकी आशंकामात्र से उसे भय का अनुभव हो रहा है। परिस्थितियों से स्पष्ट है कि स्वधर्माचरण से विमुख हो जाने पर भी स्वजनों की मृत्यु का परिहार तो वह कर नहीं सकेगा: अपितु विकर्म-दोष से अधःपतन को ही प्राप्त होगा।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना।।२८।।

अव्यक्तादीनि=जन्म से पूर्व अप्रकट; **भूतानि**=सम्पूर्ण प्राणी; **व्यक्त**=प्रकट होते हैं; **मध्यानि**=मध्य में; **भारत**=हे भरतवंशी अर्जुन; **अव्यक्त**=अप्रकट; **निधनानि**=निधन होने पर; **एव**=इस प्रकार; **तत्र**=इस विषय में; **का**=क्या; **परिवेदना**=शोक है।

अनुवाद

सभी प्राणी जन्म से पूर्व अव्यक्त रहते हैं, और निधन होने पर फिर से अव्यक्त हो जाते हैं। केवल मध्य में ही व्यक्त होते हैं; फिर इसमें शोक का क्या कारण है? ।।२८।।

तात्पर्य

आत्मा को मानने और न मानने वाले, इन दोनों ही प्रकार के दार्शनिकों के मत के अनुसार शोक का कोई कारण नहीं है। जिनका आत्मा में विश्वास नहीं है, उन्हें वैदिक ज्ञान के अनुगामी अनीश्वरवादी कहते हैं। यदि तर्क के लिये नास्तिक-मत को स्वीकार कर भी लिया जाय, तो भी शोक करना व्यर्थ सिद्ध होता है। आत्मा के पृथक स्वरूप के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्राकृत-तत्त्व सृष्टि से पूर्व अव्यक्त रहते हैं। इसी विरल अव्यक्त अवस्था से सृष्टि प्रकट होती है; क्रमशः आकाश से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि का प्रादुर्भाव होता है, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की अभिव्यक्ति होती है। पृथ्वी से भी नाना पदार्थ होते हैं। एक गगनचुम्बी प्रासाद पृथ्वी से ही प्रकट होता है; खण्डित होने पर पुनः अव्यक्त हो जाता है तथा अन्त में परमाणु रूप से शेष रह जाता है। यह सिद्धान्त है कि ऊर्जा का कभी विनाश नहीं होता, यथासमय पदार्थ ही व्यक्त-अव्यक्त हुआ करते हैं। ऐसे में व्यक्त अथवा अव्यक्त—किसी भी अवस्था के लिये शोक का क्या युक्तिसंगत हेतु हो सकता है? येन-केन-प्रकारेण अव्यक्त अवस्था में भी सृष्टि-तत्त्व का पूर्ण विनाश नहीं होता। आदि-अन्त में सब तत्त्व अव्यक्त रहते हैं, केवल मध्य में अभिव्यक्त होते हैं। वस्तुतः इन दोनों अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं है।

यदि हम गीता में कहे गये इस वैदिक सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि देह यथासमय नाशवान है **(अन्वन्त इमे देहाः)**, जबकि आत्मा नित्य है **(नित्यस्योक्तः शारीरिणः)** तो यह भी नित्य स्मरण रहे कि देह परिधानमात्र है। अतः वस्त्र-परिवर्तन के लिये शोक क्यों किया जाय? सनातन आत्मा की दृष्टि से तो प्राकृत देह का कोई यथार्थ अस्तित्व ही नहीं है; वह स्वप्न जैसा है। स्वप्न-काल में हम आकाश में उड़ने अथवा नृप बनकर रथ में बैठे होने की कल्पना कर सकते हैं, परन्तु जागने पर जान सकते हैं कि हम न तो वास्तव में उड्डयन कर रहे हैं और न ही रथारूढ़ हैं। वैदिक ज्ञान प्राकृत देह की अनित्यता पर बल देकर हमें स्वरूप-साक्षात्कार की ओर प्रेरित करता है। अतएव चाहे आत्मा के अस्तित्व को माने या न माने, दोनों ही पक्षों में देहनाश के लिये शोक करने का कोई कारण नहीं है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

आश्चर्यवत्=आश्चर्य की भाँति; **पश्यति**=देखता है; **कश्चित्**=कोई; **एनम्**=इस आत्मा को; **आश्चर्यवत्**=आश्चर्य की भाँति; **वदति**=कहता है; **तथा**=वैसे; **एव**=ही; **च**=तथा; **अन्यः**=दूसरा; **आश्चर्यवत्**=आश्चर्य की भाँति; **च**=तथा; **एनम्**=इस आत्मा को; **अन्यः**=दूसरा; **शृणोति**=श्रवण करता है; **श्रुत्वा**=सुनकर; **अपि**=भी; **एनम्**=इसे; **वेद न**=नहीं जानता; **च**=तथा; **एवं**=ही; **कश्चित्**=कोई-कोई।

अनुवाद

कोई महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है; वैसे ही दूसरा कोई इसके तत्त्व का आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है; कोई-कोई इसका आश्चर्य की भाँति श्रवण करता है और कोई-कोई तो श्रवण करने पर भी इसे नहीं जानता।।२९।।

तात्पर्य

'गीतोपनिषद्' मुख्य रूप से उपनिषदों के सिद्धान्तों पर आधारित है। इसलिए कठोपनिषद् (१.२.७) में इसके समान श्लोक का होना आश्चर्यदायक नहीं है।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वतोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्ध्वाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।

भीमकाय पशु, बृहद् वटवृक्ष तथा परम सूक्ष्म जीवाणुओं में भी अणु-आत्मा स्थित है—यह तथ्य निस्सन्देह अति विस्मयकारी है। विशेष रूप से, अल्पज्ञ और उच्छृंखल मनुष्य तो आदिजीव ब्रह्मा के शिक्षक, ज्ञान के परम स्रोत श्रीभगवान् के उपदेश को सुनकर भी चैतन्य स्फुलिंग अणु-आत्मा की महिमा को समझ नहीं पाते। विषय-परायण होने से इस युग के अधिकांश लोग यह कल्पना तक नहीं कर सकते कि यह सूक्ष्म-आत्म-कण इतना अणु-तुल्य होने के साथ ही इतना महान् कैसे हो सकता है। इसी से कहा है कि आत्मा के स्वरूप-वर्णन को वे आश्चर्य के समान देखते हैं। लोग मायावश इन्द्रियतृप्ति के कार्य में इतने अधिक व्यस्त हो रहे हैं कि आत्मज्ञान के लिए उनके पास समय ही नहीं है, यद्यपि यह सत्य है कि इस आत्मज्ञान के बिना सब प्रकार की क्रिया करने पर भी जीवन-संघर्ष में अन्ततः पराभव ही होता है। यह विचार कोई नहीं करता कि आत्मजिज्ञासा करके सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाना चाहिए।

जो आत्मतत्त्व के जिज्ञासु हैं, वे सत्संग में उसका श्रवण करते हैं। परन्तु कभी-कभी अज्ञानवश परमात्मा तथा अणु-आत्मा में विस्तार भेद किये बिना वे दोनों को सब प्रकार से एक समझ बैठते हैं और सत्पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं। विभु-आत्मा तथा अणु-आत्मा के यथार्थ स्वरूप, कार्य, परस्पर सम्बन्ध और अन्य प्रमुख-गौण

सर्वांगीण विवरण का पूर्ण मर्मज्ञ बड़ा दुर्लभ है। जो आत्मज्ञान से कल्याण को प्राप्त हो चुका है और नाना प्रकार से आत्म-स्वरूप का वर्णन कर सकता है, ऐसा महापुरुष तो और भी अधिक दुर्लभ है। परन्तु यह सत्य है कि यदि किसी प्रकार आत्मतत्त्व का बोध हो जाय तो जीवन सार्थक हो जायगा। इस आत्मज्ञान की सर्वाधिक सुगम पद्धति यह है कि अन्य मतों से मार्गच्युत हुए बिना, परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निस्यन्दित गीतामृत को हृदयंगम कर लिया जाय। परन्तु यह निश्चित है कि वही मनुष्य श्रीकृष्ण को 'भगवान्' मानता है, जिसने इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में महान् तप-त्याग किया हो। वस्तुतः शुद्धभक्त की अहैतुकी अमोघ कृपा के प्रताप से ही श्रीकृष्ण के तत्त्व का बोध हो सकता है, अन्यथा नहीं।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

देही=प्राकृत देह का स्वामी जीवात्मा; **नित्यम्**=सदा; **अवध्यः**=अवध्य है; **अयम्**=यह; **देहे**=देह में; **सर्वस्य**=सबके; **भारत**=हे भरतवंशी अर्जुन; **तस्मात्**=इसलिए; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **भूतानि**=प्राणियों के लिए; **न**=नहीं; **त्वम्**=तू; **शोचितुम्**=शोक करने के; **अर्हसि**=योग्य है।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन! देह में निवास करने वाला आत्मा कभी नहीं मारा जा सकता। इसलिये किसी भी प्राणी के लिए तू शोक करने के योग्य नहीं है।।३०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में श्रीभगवान् अविकारी आत्मा के तत्त्व-निरूपण का उपसंहार करते हैं। श्रीकृष्ण ने विविध प्रकार से आत्मतत्त्व का वर्णन करके आत्मा को अविनाशी और देह को अनित्य सिद्ध किया है। इस कारण अर्जुन के लिए इस भयवश स्वधर्म से विमुख होना योग्य नहीं है कि युद्ध में पितामह भीष्म तथा द्रोणाचार्य का निधन हो जायगा। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रमाण के आधार पर प्राकृत देह से भिन्न आत्मा का पृथक् स्वरूप स्वीकार करना ही होगा, यह नहीं कि आत्मतत्त्व में विश्वास न करे अथवा यह माने कि जीवन का प्रादुर्भाव रसायनों की अन्तःक्रिया की एक विशेष अवस्था में होता है।

आत्मा को नित्य कहने का यह अभिप्राय नहीं कि हिंसा को प्रोत्साहित किया गया है। साथ ही, युद्ध-काल में नितान्त आवश्यक होने की स्थिति में उसका निषेध भी नहीं है। परन्तु ऐसी आवश्यकता भी भगवत्-आज्ञा के आधार पर न्यायसंगत सिद्ध होनी चाहिए, स्वेच्छा से नहीं।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

स्वधर्मम्=अपने धर्म को; **अपि**=भी; **च**=और; **अवेक्ष्य**=विचार कर; **न**=नहीं;

विकम्पितुम्=संकोच करने के; **अर्हसि**=(तू) योग्य है; **धर्म्यात्**=धर्मभय; **हि**=निश्चय ही; **युद्धात्**=युद्ध से बढ़कर; **श्रेयः**=कल्याणकारी साधन; **अन्यत्**=दूसरा; **क्षत्रियस्य**=क्षत्रिय का; **न**=नहीं; **विद्यते**=है।

अनुवाद

अपने क्षत्रिय धर्म पर विचार करके भी तू यह जान ले कि तेरे लिए धर्ममय युद्ध से श्रेष्ठ दूसरा कोई कल्याण का साधन नहीं है। अतः युद्ध रूपी स्वधर्म में संकोच करने का कोई कारण नहीं है।।३१।।

तात्पर्य

सामाजिक व्यवस्था के चार आश्रमों में सुचारु प्रशासन बनाये रखने वाला द्वितीय आश्रम 'क्षत्रिय' कहलाता है। 'क्षत' पद का अर्थ आघात करना होता है। इसके अनुसार जो संकट से रक्षा करे, वह 'क्षत्रिय' है (त्रायते-रक्षा करना)। क्षत्रियों को वन-मृगया करने की शिक्षा दी जाती थी। क्षत्रिय वीर वन में सिंह को सम्मुख ललकार कर उसके साथ खड्ग से युद्ध करते। मृत सिंह की राजकीय अन्त्येष्ठि की जाती। जयपुर राज्य के नरपति अभी तक इस व्यवस्था का अनुसरण करते रहे हैं। क्षत्रियों को आक्रमण और युद्ध करने की कला में विशेष रूप से शिक्षित किया जाता है, क्योंकि धर्ममय हिंसा भी कभी-कभी अनिवार्य हो जाती है। इसलिए क्षत्रियों के लिए सीधे संन्यासाश्रम ग्रहण करने का विधान नहीं है। राजनीति में अहिंसा कूटनीतिक कौशल हो सकती है, आवश्यक साधन अथवा सिद्धान्त नहीं। धर्म-संहिताओं में उल्लेख हैः

> **आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसतो महीक्षितः।**
> **युद्धमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः।**
> **यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन् हन्यते सततं द्विजैः।**
> **संस्कृताः किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वर्गमवाप्नुवन्।**

'युद्ध में विरोधी ईर्ष्यालु राजा से संघर्ष करते हुए मरने वाले क्षत्रिय या राजा को मृत्यु के अनन्तर वे ही उच्च लोक प्राप्त होते हैं, जिन की प्राप्ति यज्ञाग्नि में पशुबलि देने वाले ब्राह्मणों को होती है।' अतः धर्ममय युद्ध में वध करने को अथवा यज्ञाग्नि में पशुबलि देने को हिंसा नहीं कहा जाता, क्योंकि उनकी धर्ममयता से सभी लाभान्वित होते हैं। बलि के पशु को विविध योनियों में गमनागमन किये बिना तुरन्त मानव देह प्राप्त हो जाती है और युद्ध में वीरगति को प्राप्त क्षत्रिय याज्ञिक ब्राह्मणों को प्राप्त होने वाले उच्च लोकों में प्रविष्ट हो जाते हैं।

'स्वधर्म' के दो भेद हैं। जब तक मुक्ति नहीं हो जाती, तब तक जीव को मुक्ति के निमित्त से धर्मानुसार शरीर सम्बन्धी कर्तव्यों का पालन करना होता है। मुक्ति के अनन्तर जीव का स्वधर्म देहात्मबुद्धि से अतीत, दिव्य हो जाता है। जब तक जीव में देहात्मबुद्धि है, तभी तक उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि के लिए निश्चित किये गये

स्वधर्म का पालन करना है। चौथे अध्याय के अनुसार स्वधर्म का विधान स्वयं श्रीभगवान् ने किया है। देह के स्तर पर स्वधर्म को वर्णाश्रमधर्म कहते हैं, जो अध्यात्म का प्रथम सोपान है। इस वर्णाश्रमधर्म (प्राप्त देह के विशिष्ट गुणों पर आधारित स्वधर्माचरण) से मानव-संस्कृति का श्रीगणेश होता है। अस्तु, वर्णाश्रमधर्म के अनुसार किसी भी कार्यक्षेत्र में स्वधर्म का आचरण करने से उत्कृष्ट गौरवान्वित जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

यदृच्छया च=और अपने आप; **उपपन्नम्**=प्राप्त हुए; **स्वर्ग**=दिव्य लोक के; **द्वारम्**=द्वार रूप; **अपावृतम्**=खुले हुए; **सुखिनः**=सुखी; **क्षत्रियाः**=क्षत्रिय; **पार्थ**=हे पृथापुत्र; **लभन्ते**=प्राप्त करते हैं; **युद्धम्**=युद्ध को; **ईदृशम्**=इस प्रकार के।

अनुवाद

हे पार्थ! वे क्षत्रिय सुखी हैं, जिन्हें इस प्रकार के युद्ध का अवसर अपने आप प्राप्त होता है, क्योंकि यह तो स्वर्ग के खुले हुए द्वार के समान है।।३२।।

तात्पर्य

'इस युद्ध में कुछ भी श्रेय की प्राप्ति होती नहीं देखता हूँ। यह शाश्वत् नरक-वास का ही कारण सिद्ध होगा,' ऐसा कहने वाले अर्जुन के व्यवहार की जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण निन्दा कर रहे हैं। अर्जुन के ये वाक्य अज्ञान प्रेरित ही थे। वह स्वधर्माचरण करते हुए भी अहिंसा का पालन करना चाहता था। किन्तु एक क्षत्रिय के लिए युद्धभूमि में स्थित होकर अहिंसा का पालन करना तो मूर्खों का ही दर्शन होगा। 'पराशर स्मृति' में व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर ने कहा है:

क्षत्रियो हि प्रजारक्षण शस्त्रपाणिः प्रदण्डयन्।
निर्जित्य परसैन्यादि क्षितिं धर्मेण पालयेत्।।

'सभी क्लेशों से प्रजा का संरक्षण करना क्षत्रिय का धर्म है। अतः धर्म-व्यवस्था के लिए आवश्यक होने पर वह हिंसा करे। विपक्षी सेना को परास्त कर उसे धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करना चाहिये।'

इन सब पक्षों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन के लिये युद्ध से उपरत होने का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं है। यदि वह शत्रु-विजय करने में सफल रहा तो राज्योपभोग करेगा और यदि युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो गया तो उन उच्च लोकों में प्रविष्ट हो जायगा, जिनके द्वार उसके लिये खुले हुए हैं। इस प्रकार दोनों ही अवस्थाओं में युद्ध उसके लिये कल्याणकारी सिद्ध होगा।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

अथ=अतः; **चेत्**=यदि; **त्वम्**=तू; **इमम्**=इस; **धर्म्यम्**=धर्ममय; **संग्रामम्**=युद्ध

को; **न**=नहीं; **करिष्यसि**=करेगा; **ततः**=तो; **स्वधर्मम्**=स्वधर्म को; **कीर्तिम् च**=और यश को; **हित्वा**=खोकर; **पापम्**=पाप को ही; **अवाप्स्यसि**=प्राप्त होगा।

अनुवाद

इस पर भी यदि तू इस धर्ममय युद्ध को नहीं करेगा तो निश्चित् रूप से स्वधर्म-पालन में प्रमाद करने से होने वाले पाप को प्राप्त होगा और योद्धा के रूप में अपनी कीर्ति भी खो बैठेगा।।३३।।

तात्पर्य

अर्जुन त्रिभुवन-विख्यात योद्धा था। शिव आदि अनेक देवताओं से युद्ध कर उसने धवल कीर्ति का अर्जन किया। किरात वेषधारी शिवजी को युद्ध में परास्त कर उनसे प्रसादरूप में पाशुपतास्त्र भी वह प्राप्त कर चुका था। इन्हीं कारणों से शूरवीर के रूप में वह सर्वप्रसिद्ध हो गया। स्वयं द्रोणाचार्य ने आशीर्वाद सहित उसे वह विशिष्ट शस्त्र प्रदान किया था जिससे वह अपने गुरु तक का वध कर सकता था। इसी प्रकार पिता देवराज इन्द्र सहित अनेक शूरवीरों से उसे युद्ध-कौशल के विपुल प्रशस्ति-पत्र प्राप्त थे। इस स्थिति में यदि वह युद्धभूमि का परित्याग करता है, तो कर्तव्य न करने से प्रमाद का ही दोषी नहीं होगा, वरन् उसके यश की भी हानि होगी, जिससे नरक का राजपथ प्रशस्त हो जायगा। प्रकारान्तर से, उसे नरक की प्राप्ति युद्ध करने से नहीं, अपितु युद्धभूमि से पलायन करने से होगी।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य　　　चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

अकीर्तिम् च अपि=अपयश को भी; **भूतानि**=लोग; **कथयिष्यन्ति**=कहेंगे; **ते**=तेरे; **अव्ययाम**=सदा; **संभावितस्य**=सम्मान्य पुरुष के लिए; **च**=तथा; **अकीर्तिः**=अपयश; **मरणात्**=मरने से भी; **अतिरिच्यते**=मन्द होती हैं।

अनुवाद

सब लोग भी सदा तेरे अपयश का कथन करेंगे। सम्मान्य व्यक्ति के लिए तो अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक मन्द होती है।।३४।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण ने सखा और गुरु, दोनों रूप से इस श्लोक में अर्जुन के युद्ध से विमुख हो जाने पर अपना अन्तिम निर्णय दिया है। वे कहते हैं: 'हे अर्जुन! यदि तू युद्धभूमि से उपरत हो जायगा तो तेरे वास्तविक पलायन करने से पूर्व ही लोग तुझे भीरु कहने लगेंगे। यदि तू यह समझता है कि लोगों के अपशब्द सुनने पर भी युद्ध से पलायन करके तू कम से कम अपनी जीवन-रक्षा तो कर ही लेगा, तो मेरा परामर्श है कि तेरे लिये युद्ध में मरना अपेक्षाकृत अधिक श्रेयस्कर होगा। तेरे समान गणमान्य पुरुष के लिये अपयश तो मृत्यु से भी अधिक मन्द होता है। अतः प्राणभय से पलायन करना तेरे योग्य नहीं। वरन् युद्ध में वीरगति प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

इससे तुझे इस अपयश की प्राप्ति नहीं होगी कि तूने मेरी मित्रता का दुरुपयोग किया और समाज में मानहानि भी नहीं होगी।'

अतएव अर्जुन के लिये श्रीभगवान् का अन्तिम निर्णय यही है कि वह संग्राम करते हुए प्राण-विसर्जन कर दे, परन्तु पलायन न करे।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

भयात्=भयवश; **रणात्**=रणभूमि से; **उपरतम्**=विमुख हुआ; **मंस्यन्ते**=मानेंगे; **त्वाम्**=तुझे; **महारथाः**=महारथी; **येषाम्**=जिन के; **च**=भी; **त्वम्**=तू; **बहुमतः**=सम्मानित; **भूत्वा**=होकर; **यास्यसि**=प्राप्त होगा; **लाघवम्**=तुच्छता को।

अनुवाद

तेरे नाम और यश का सम्मान करने वाले महारथी भी तुझे भयवश ही युद्ध से उपरत हुआ मानेंगे। इस भाँति तू कायर समझा जायगा।।३५।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना निर्णय सुनाते हुए आगे कहाः "तुझे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि दुर्योधन, कर्ण तथा अन्यान्य उपस्थित महारथी तुझे भाइयों तथा पितामह पर द्रवित होकर युद्ध से विरत हुआ मानेंगे। वे तो यही समझेंगे कि तू प्राणभय से युद्ध से विमुख हुआ है। इस प्रकार तेरे सम्बन्ध में उनकी उच्च मान्यता नरकगामिनी होगी।"

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

अवाच्यवादान्=अपशब्द; **च**=भी; **बहून्**=अनेक; **वदिष्यन्ति**=कहेंगे; **तव**=तेरे; **अहिताः**=शत्रु; **निन्दन्तः**=निन्दा करते हुए; **तव**=तेरी; **सामर्थ्यम्**=सामर्थ्य की; **ततः**=उससे; **दुःखतरम्**=अधिक दुःखदायी; **नु**=निश्चय ही; **किम्**=और क्या होगा।

अनुवाद

तेरे शत्रु भी बहुत से अपशब्द कहकर तेरी सामर्थ्य का उपहास करेंगे। इससे अधिक दुःख तेरे लिए फिर और क्या होगा?।।३६।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण प्रारम्भ में अर्जुन के अनुचित दयाभाव से बड़े विस्मित हुए थे; उसकी करुणा को उन्होंने अनार्योचित भी कहा। इस प्रकरण में अर्जुन की तथाकथित करुणा के विरुद्ध अपने वचनों को उन्होंने विशद रूप से प्रमाणित किया है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

हतः=मरकर; **वा**=या (तो); **प्राप्स्यसि**=(तू) प्राप्त होगा; **स्वर्गम्**=स्वर्ग को; **जित्वा**=जीतकर; **वा**=अथवा; **भोक्ष्यसे**=उपभोग करेगा; **महीम्**=पृथ्वी का; **तस्मात्**=

अतः; **उत्तिष्ठ**=खड़ा हो; **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र; **युद्धाय**=युद्ध के लिए; **कृत**=दृढ़; **निश्चयः**=संकल्प सहित।

अनुवाद

हे कुन्तीपुत्र! यदि तू युद्ध में मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा और यदि जीत गया तो पृथ्वी के साम्राज्य का उपभोग करेगा। इसलिए खड़ा होकर दृढतापूर्वक युद्ध कर।।३७।।

तात्पर्य

यद्यपि अर्जुन के पक्ष की विजय पूर्वनिश्चित नहीं है, तथापि वह युद्ध करने को बाध्य है, क्योंकि यदि वह मारा भी जाय, तो उसे स्वर्ग की ही प्राप्ति होगी।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

सुख=सुख; **दुःखे**=दुःख में; **समे**=समतायुक्त; **कृत्वा**=होकर; **लाभालाभौ**=लाभ तथा हानि में; **जयाजयौ**=जय-पराजय में; **ततः**=तदुपरान्त; **युद्धाय**=युद्ध के लिए; **युज्यस्व**=युद्ध कर; **न**=नहीं; **एवम्**=इस प्रकार (युद्ध करने से); **पापम्**=पाप को; **अवाप्स्यसि**=प्राप्त होगा।

अनुवाद

सुख-दुःख, हानि-लाभ तथा जय-पराजय को समान समझकर निष्काम भाव से युद्ध कर। ऐसा करने पर तू पाप से कलुषित नहीं होगा।।३८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्पष्ट रूप से युद्ध के लिये ही, अर्थात् निष्काम भाव से युद्ध करने की आज्ञा दे रहे हैं, क्योंकि उनकी ऐसी ही इच्छा है। कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में सुख-दुःख, हानि-लाभ जय-पराजय का विचार नहीं किया जाता। प्रत्येक क्रिया को श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए करना बुद्धियोग कहलाता है। 'इस प्रकार से प्राकृत कर्म करने पर भी बन्धन नहीं होता। जो निजेन्द्रियतृप्ति के लिए सात्त्विक अथवा राजस कर्म करता है, उसी को शुभ-अशुभ कर्मफल मिलता है; परन्तु जो पूर्ण रूप मे श्रीकृष्णभावनाभावित क्रियाओं के ही शरणागत हो गया है, वह भक्त साधारण जीवन-पद्धति के समान किसी का भी ऋणी अथवा किंकर नहीं रहता। शास्त्र-वचन (भागवत ११.५.४१) है:

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।

"अन्य सब कर्तव्यों को त्याग कर जो मनुष्य अनन्यभाव से मुक्तिदाता श्रीकृष्ण के ही शरणागत हो जाता है, उसका देवताओं, अन्य सब प्राणियों, स्वजनों, मानव जाति और पितरों के प्रति कुछ भी कर्तव्य अथवा ऋण शेष नहीं रहता।"

उपरोक्त श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी तथ्य का संकेत किया है। अगले श्लोकों में इस सिद्धान्त का अधिक विशद वर्णन है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

एषा=यह; **ते**=तेरे लिए; **अभिहिता**=कही गयी; **सांख्ये**=सांख्ययोग के विषय में; **बुद्धिः**=बुद्धि; **योगे**=निष्काम कर्म के विषय में; **तु**=तथा; **इमाम्**=इसे; **शृणु**=श्रवण कर; **बुद्ध्या**=बुद्धि से; **युक्तः**=युक्त हुआ; **यया**=जिस; **पार्थ**=हे पार्थ (अर्जुन); **कर्मबन्धम्**=कमबन्धन से; **प्रहास्यसि**=मुक्त हो जायगा।

अनुवाद

यहाँ तक मैंने तेरे लिए सांख्य-दर्शन का वर्णन किया। अब उस बुद्धियोग का श्रवण कर जिससे निष्काम कर्म किया जाता है। हे पार्थ ! इस बुद्धियोग से युक्त होकर कर्म करने पर तू कर्म-बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जायगा।।३९।।

तात्पर्य

वैदिक शब्दकोष 'निरुक्ति' के अनुसार सांगोपांग तत्त्व-निरूपण करने को 'संख्य' कहते हैं। इस न्याय से 'सांख्य' शब्द उस दर्शन का द्योतक है, जो आत्मतत्त्व का वर्णन करता है। योग का अर्थ इन्द्रियनिग्रह से है। अर्जुन का युद्धोपरति विषयक प्रस्ताव विषयवासना से ही प्रेरित था। अपने प्रधान कर्तव्य को भुला कर वह युद्ध से उपरत हो जाना चाहता था, क्योंकि उसकी धारणा में अपने भाई धृतराष्ट्रपुत्रों को परास्त करके राज्योपभोग करने की अपेक्षा स्वजनों का वध न करने से वह अधिक सुखी रह सकेगा। विजय से प्राप्त होने वाला सुख तथा स्वजनों को जीवित देखने का सुख—इन दोनों के मूल में अपनी इन्द्रियों की तृप्ति की कामना ही है, क्योंकि दोनों में बुद्धि तथा कर्तव्य की अवहेलना है। इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन को यह स्पष्ट करना चाहते थे कि यदि वह पितामह का शरीरांत कर देगा, तो भी उनकी आत्मा का वध नहीं होगा। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि सब जीवों का और स्वयं उन श्रीभगवान् का भी अपनी पृथक् शाश्वत् स्वरूप है। पूर्व में भी उनका केवल अपना-अपना स्वरूप था, इस समय भी है तथा भविष्य में भी उन सबका अपना पृथक-पृथक स्वरूप बना रहेगा। आत्मा वस्तुतः नित्य है, विविध प्रकार से बदलता तो देहरूपी परिधान ही है। इस कारण प्राकृत कलेवर से मुक्ति हो जाने पर भी जीवात्मा का भिन्नस्वरूप बना रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मा तथा देह के तात्त्विक अध्ययन का अति विशद वर्णन किया है। आत्मा तथा देह के इस तात्त्विक ज्ञान का प्रतिपादन यहाँ नाना दृष्टिकोणों से सांख्य के रूप में किया गया है। यह स्मरण रहे कि इस सांख्य का अनीश्वरवादी कपिल के सांख्यदर्शन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। पाखण्डी कपिल के सांख्य से बहुत पहले श्रीमद्भागवत में भगवान् के अवतार, प्रामाणिक कपिलदेव ने यथार्थ सांख्य का प्रवचन अपनी माता देवहूति को किया था। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि पुरुष अर्थात् परमेश्वर क्रियाशील हैं; वे ही प्रकृति पर

दृष्टिनिपात कर सृष्टि करते हैं। वेद तथा गीता में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है। वेदों में कहा है कि श्रीभगवान् ने प्रकृति पर दृष्टिपात कर उसमें अणु-जीवों का गर्भाधान किया। ये सब जीव जगत् में विषयभोग करने के लिए कर्मनिष्ठ हैं तथा माया-विमोहित होने से अपने को भोक्ता समझ रहे हैं। इस प्रवृत्ति की सीमा मोक्ष-कामना है, जिसके कारण जीवात्मा श्रीभगवान् से सायुज्य की अभीप्सा कर बैठता है। मुक्ति की यह कामना माया का सब से प्रबल बन्धन है। ऐसे अनेक विषय भोगमय जन्मों के बाद कहीं कोई दुर्लभ महात्मा वासुदेव (भगवान् श्रीकृष्ण) की शरण में जा कर परम सत्य को प्राप्त करता है।

श्रीकृष्ण के शरणागत हुआ अर्जुन पूर्व में उन्हें गुरु अंगीकार कर चुका है: **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** इसलिए श्रीकृष्ण अब उसके लिए बुद्धियोग अथवा भक्तियोग की पद्धति का निरूपण करेंगे, जो उन्हीं श्रीभगवान् की प्रीति के लिए किया जाता है। दसवें अध्याय के दसवें श्लोक में कथन है कि बुद्धियोग के द्वारा श्रीभगवान् से सीधा सम्पर्क हो जाता है, जो परमात्मा-रूप से सबके हृदय में विराजमान हैं। श्रीभगवान् से ऐसा सम्पर्क भक्तिभाव के बिना नहीं हो सकता। इसलिए भक्तियोग अथवा भगवत्सेवा अथवा कृष्णभावनामृत में स्थित भक्त ही श्रीकृष्ण की अशेषविशेष कृपा से इस 'बुद्धियोग' को प्राप्त करता है। श्रीभगवान् स्वयं कह रहे हैं कि प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर उनकी भक्ति के परायण रहने वाले भक्तों को ही वे भक्ति का विशुद्ध ज्ञान प्रदान करते हैं। इस प्रकार भक्त सुगमता से शाश्वत् चिदानन्दमय भगवद्धाम में उनका सान्निध्य प्राप्त कर सकता है।

अस्तु, इस श्लोक में उल्लिखित 'बुद्धियोग' भगवद्भक्ति का ही वाचक है तथा यहाँ आए 'सांख्य' शब्द का पाखण्डी कपिल द्वारा प्रतिपादित सांख्य नामक अनीश्वरवाद से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतः यहाँ कहे गये सांख्ययोग को भ्रमपूर्वक नास्तिक सांख्य से सम्बन्धित नहीं समझना चाहिए। उस दर्शन का तो अपने समय में भी वस्तुतः कोई प्रभाव नहीं था। भगवान् श्रीकृष्ण भी ऐसे नास्तिक मनोधर्म का वर्णन कभी नहीं करते। सच्चा सांख्य वही है, जिसका वर्णन भगवान् कपिल ने श्रीमद्भागवत में किया है; पर उस सांख्य का भी वर्तमान प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ सांख्य का तात्पर्य है—आत्मा और देह का तत्त्व-विवेचन। अर्जुन को 'बुद्धियोग' अथवा 'भक्तियोग' की पात्रता प्रदान करने के निमित्त से भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मतत्त्व का तात्त्विक विवरण प्रस्तुत किया। अस्तु, भगवान् श्रीकृष्ण के सांख्य तथा भगवान् कपिल द्वारा श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित सांख्य में तात्त्विक एकता है। दोनों भक्तियोग हैं। इसी से श्रीभगवान् ने कहा है कि जो अल्पज्ञ हैं, वे मनुष्य ही सांख्य तथा भक्तियोग में भेदबुद्धि रखते हैं।

निस्सन्देह, अनीश्वरवादी सांख्य का भक्तियोग से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। फिरभी बुद्धिहीन व्यक्तियों का दुराग्रह है कि भगवद्गीता में अनीश्वरवादी सांख्य का वर्णन है।

सुतरां, यह जानना आवश्यक है कि 'बुद्धियोग' का तात्पर्य कृष्णभावना अर्थात् भक्ति के पूर्ण आह्लाद और प्रबोध से युक्त होकर कर्म करना है। जो केवल श्रीभगवान् की प्रीति के लिए कर्म करता है, वह पुरुष कठिन-से-कठिन कार्य करते हुए भी 'बुद्धियोग' से युक्त रहता है; इसके आश्रय में नित्य-निरन्तर चिन्मय रसानन्द का आस्वादन करता है। ऐसी भगवत्परायणता के फलस्वरूप भगवत्कृपा से उसे सम्पूर्ण चिन्मय गुणों की अपने-आप उपलब्धि हो जाती है। इस प्रकार उसे ज्ञान के लिए अनावश्यक उद्यम नहीं करना पड़ता; भक्ति के प्रताप से ही वह पूर्ण मुक्त हो जाता है। कृष्णभावनाभावित कर्म में तथा सकाम कर्म में, विशेषतः परिवार के सुख अथवा प्राकृत सुख की प्राप्ति रूपी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करने में गम्भीर भेद है। 'बुद्धियोग' हमारे कर्मों को दिव्यता प्रदान करता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

न=नहीं; इह=इस बुद्धियोग में; **अभिक्रम**=आरम्भ का; **नाशः**=विनाश; **अस्ति**=होता; **प्रत्यवायः**=ह्रास; **न**=नहीं; **विद्यते**=होता; **स्वल्पम्**=थोड़ा; **अपि**=भी (साधन); **अस्य**=इस; **धर्मस्य**=धर्म का; **त्रायते**=उद्धार कर देता है; **महतः**=महान्; **भयात्**=भय से।

अनुवाद

कृष्णभावना के लिये जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न तो कभी नाश होता और न ह्रास ही होता है। इस पथ में की गई अल्प प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर लेती है।।४०।।

तात्पर्य

अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने की इच्छा को त्यागकर कृष्णभावनाभावित कर्म करना, अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये कर्म करना सर्वश्रेष्ठ दिव्य क्रिया है। यदि ऐसे कर्म को छोटे से रूप में ही प्रारम्भ किया जाय, तो भी उसमें न तो कोई वाधा आती है और न ही कभी उसका नाश होता है। यह नियम है कि किसी प्राकृत क्रिया को प्रारम्भ करके पूर्ण करना आवश्यक है, अन्यथा सम्पूर्ण प्रयास विफल हो जाता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म की यह विशेषता है कि अपूर्ण रह जाने पर भी उसका चिरस्थायी फल होता है। अतः कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाले की किसी भी दशा में हानि नहीं होती। यदि कृष्णभावनाभावित कर्म केवल एक प्रतिशत ही पूर्ण हुआ हो, तो भी उसका सनातन फल होगा, जिससे पहले किये हुए की आवृत्ति किये विना, भविष्य में उत्तरोत्तर आगे उन्नति की जा सकती है। इसके विपरीत, प्राकृत कर्म जव तक शत-प्रतिशत पूर्ण नहीं हो जाता, तव तक उससे कुछ लाभ नहीं होता। अजामिल ने कृष्णभावना विषयक साधन का अभ्यास एक अंश में ही किया था, परन्तु मृत्यु समय भगवत्कृपा से उसे पूर्णफल की प्राप्ति हुई। इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत में एक सुन्दर श्लोक है:

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।

'विषय भोग को त्याग कर जो कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह यदि कार्य-पूर्ति न कर पाने से पतित भी हो जाय, तो उसे क्या हानि? इसके विपरीत, प्राकृत क्रियाओं को पूर्ण करने से क्या लाभ होगा?' (श्रीमद्भागवत १.५.१७) इसी प्रकार लोकोक्ति है, 'अपने सनातन आत्मा को खोकर सम्पूर्ण विश्व को पाने से भी क्या लाभ होगा?'

प्राकृत कार्य तथा उनके फल देह के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म कर्ता को देहान्त के बाद फिर से कृष्णभावनाभावित बना देता है। कम से कम इतना तो निश्चित है कि पुनर्जन्म में उसे विद्वान् ब्राह्मण अथवा धनाढ्यों के कुल में मनुष्य देह की प्राप्ति होगी, जिससे भगवत्प्राप्ति का अवसर फिर सुलभ हो जायगा। यह कृष्णभावनाभावित कर्म की अनुपम विशेषता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

व्यवसायात्मिका=सुदृढ़ (स्थिर); **बुद्धिः**=कृष्णभावना; **एका**=अनन्य; **इह**=इस संसार में; **कुरुनन्दन**=हे कुरुनन्दन; **बहुशाखाः**=बहुत प्रकार से विभक्त; **हि**=निश्चय ही; **अनन्ताः**=अपार; **च**=और; **बुद्धयः**=बुद्धि; **अव्यवसायिनाम्**=कृष्णभावना से विमुखों की।

अनुवाद

इस पथ के अनुगामी निश्चयात्मक बुद्धि से युक्त रहते हैं, उनका एक लक्ष्य होता है। परन्तु हे कुरुनन्दन! अस्थिर मति वालों की बुद्धि तो अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है।।४१।।

तात्पर्य

कृष्णभावना के द्वारा जीवन अवश्य परम कृतार्थ हो जायगा—इस प्रकार की श्रद्धा को 'व्यवसायात्मिका' बुद्धि कहते हैं। श्री चैतन्य चरितामृत में उल्लेख हैः

'श्रद्धा' शब्दे विश्वास कहे सुदृढ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्व कर्म कृत हय।।

श्रद्धा का तात्पर्य है दिव्य तत्त्व में सुदृढ़ विश्वास। इस श्रद्धा के साथ कृष्ण-भावनाभावित कर्म करने में तत्पर पुरुष के लिए परिवार, मानवता, राष्ट्रीयता विषयक सांसारिक कर्तव्यों का पालन करने की आवश्यकता नहीं रहती। पूर्व में किये गये शुभ-अशुभ कर्मों के फल ही मनुष्य को सकाम कर्म में लगाते हैं। कृष्णभावनाभावित हो जाने पर तो शुभ कर्मफल के लिए उद्यम करना भी व्यर्थ हो जाता है। कृष्णभावनाभावित पुरुष के सम्पूर्ण कर्म अनुकूल-प्रतिकूल के द्वैत से मुक्त, 'मायातीत हो जाते हैं। कृष्णभावनामृत की परमोच्च संसिद्धि देहात्मबुद्धि का त्याग करने से उपलब्ध होती है। शनैः शनैः कृष्णभावना का विकास करने से यह स्थिति अपने-आप

प्राप्त हो जाती है। कृष्णभावनाभावित पुरुष के दृढ़ निश्चय का आधार वह ज्ञान है जिससे यह पूर्ण बोध हो जाता है कि वासुदेव श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण प्रकट कारणों के आदिकारण हैं (**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**)। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में दिया गया जल पल्लव-शाखा आदि को अपने-आप प्राप्त हो जाता है, उसी भाँति कृष्णभावनामृत के द्वारा अपनी, परिवार की, समाज की, राष्ट्र की, मानवता की, वास्तव में सभी की सर्वोच्च सेवा की जा सकती है। अपने कर्म से यदि श्रीकृष्ण का संतोष हो जाय, तो अन्य सब भी सन्तुष्ट हो जायेंगे।

कृष्णभावनाभावित सेवा का सर्वोत्तम अभ्यास श्रीकृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधि, गुरुदेव के आश्रय में ही किया जा सकता है, जो शिष्य के स्वभाव को जानते हैं और कृष्णभावना के आचरण की ओर उसका पूर्ण मार्गदर्शन कर सकते हैं। कृष्णभावनामृत को भलीभाँति धारण करने के लिए श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि की आज्ञानुसार दृढ़तापूर्वक कर्म करना आवश्यक है। इतना ही नहीं, सद्गुरु की आज्ञा को तो वास्तव में जीवन का अनन्य लक्ष्य ही बना लेना चाहिए। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने 'श्रीगुरुदेवाष्टक' नामक सुप्रसिद्ध स्तोत्र में हमें इस शिक्षा का दान किया है:

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि।
ध्यायंस्तुवंस्तस्य यशस्त्रिसंध्यं वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्।।

'गुरुदेव की कृपा से ही भगवत्कृपा होती है। गुरुदेव को प्रसन्न किये विना कृष्णभावना की प्राप्ति किसी भी साधन से नहीं हो सकती। अतः तीनों संन्ध्याओं में उनसे कृपा की याचना करे। उन्हीं गुरुदेव के शोभायमान चरणारविन्द की मैं सादर वन्दना करता हूँ।'

यह सम्पूर्ण पद्धति आत्मा के उस पूर्ण ज्ञान पर आधारित है, जिसके द्वारा देहात्मबुद्धि का नाश हो जाता है। आत्मा के तत्त्व को केवल सिद्धान्त रूप में मानना पर्याप्त नहीं, व्यवहार में उसका आचरण भी करना चाहिए। ऐसा होने पर सकाम कर्म रूपी इन्द्रियतृप्ति सम्भव नहीं रहती। नाना प्रकार के सकाम कर्मों से वही मार्गच्युत होता है, जिसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

याम्=जिस; **इमाम्**=इस प्रकार की; **पुष्पिताम्**=दिखाऊ शोभायुक्त; **वाचम्**=वाणी को; **प्रवदन्ति**=कहते हैं; **अविपश्चितः**=अविवेकीजन; **वेदवादरताः**=वेदानुगामी कहलाने वाले; **पार्थ**=हे पार्थ; **न**=नहीं; **अन्यत्**=अन्य कुछ; **अस्ति**=है; **इति**=यह; **वादिनः**=कहने वाले; **कामात्मानः**=भोगकामी; **स्वर्गपराः**=स्वर्गारोहण के इच्छुक; **जन्मकर्मफलप्रदाम्**=सकाम कर्म, उच्चकुल में जन्म आदि देने

वाले; **क्रियाविशेष**=आडम्बर पूर्ण क्रियायें; **बहुलाम्**=विविध; **भोग**=इन्द्रियतृप्ति; **ऐश्वर्य**=ऐश्वर्य; **गतिम्**=प्रगति; **प्रति**=उन्मुखी।

अनुवाद

अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन आलंकारिक वचनों में बहुत आसक्त रहते हैं, जिनमें स्वर्ग, उच्चकुल, ऐश्वर्य और भोगों को देने वाले नाना प्रकार के सकामकर्मों का विधान है। भोग और ऐश्वर्य की अभिलाषा के कारण ही वे ऐसा कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।।४२-४३।।

तात्पर्य

साधारणतः लोग अधिक बुद्धिमान् नहीं हैं और इसलिए अज्ञानवश वेदों के कर्मकाण्ड में प्रशंसित सकाम कर्मों में अति आसक्त हो रहे हैं। मदिरा, कामिनी तथा प्राकृत ऐश्वर्य से पूर्ण स्वर्गीय जीवन के उपभोग से अधिक अन्य कुछ भी उन्हें अभीप्सित नहीं। वेदों में स्वर्गारोहण करने के लिए 'ज्योतिष्टोम' आदि यज्ञों का विधान किया गया है। वास्तव में कहने का तात्पर्य यह है कि जो स्वर्गगमन का अभिलाषी हो, वह इन यज्ञों को करे; परन्तु अल्पज्ञ मनुष्य समझ बैठते हैं कि वैदिक ज्ञान का परम लक्ष्य बस इतना ही है। ऐसे साधनहीन लोगों के लिए दृढ़तापूर्वक कृष्णभावनाभावित कर्म करना बड़ा कठिन है। जिस प्रकार कोई मूर्ख परिणाम को न जानते हुए विषमय वृक्षों के कुसुमों में आसक्त हो जाय, उसी भाँति केवल अज्ञानी ही स्वर्गीय ऐश्वर्य एवं उससे उपलब्ध होने वाले विषयभोग के प्रति आकृष्ट होते हैं।

वैदिक कर्मकाण्ड में उल्लेख है कि जो चातुर्मासिक तप आदि करते हैं, वे अमृतत्त्व एवं नित्य आनन्द की प्राप्ति के लिए सोमरस नामक पेय द्रव्य पीने के अधिकारी हो जाते हैं। इस पृथ्वी पर भी बहुत से व्यक्ति बलिष्ठता और इन्द्रियतृप्ति की सामर्थ्य के लिए सोमरस का पान करने को बड़े आतुर हैं। भवबन्धन से मुक्ति के साधन में श्रद्धाहीन होने के कारण इस कोटि के मनुष्य वैदिक यज्ञों के आडम्बरमय अनुष्ठानों में विशेष आसक्त हैं। प्रायः विषयी होने से उन्हें स्वर्गीय सुख से अधिक और कुछ नहीं चाहिए। ज्ञात होता है कि स्वर्ग में नन्दन-कानन नामक अनेक वन हैं, जहाँ सुन्दर देवांगनाओं का संग तथा प्रचुरमात्रा में सोमरस-मदिरा नित्य उपलब्ध है। इस प्रकार का शारीरिक सुख निस्सन्देह इन्द्रियविषयजन्य है। अतएव ये मनुष्य अपने को इस प्राकृत-जगत् का अधीश्वर (प्रभु) समझते हुए अनित्य प्राकृत सुख को भोगने में ही पूर्ण रूप से अनुरक्त हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

भोग=विषय भोग; **ऐश्वर्य**=ऐश्वर्य में; **प्रसक्तानाम्**=जो आसक्त हैं; **तया**=उन से, **अपहृतचेतसाम्**=जिसका चित्त मोहित है (उनके); **व्यवसायात्मिका**=

दृढ़ निश्चययुक्त; **बुद्धिः**=भगवद्भक्ति; **समाधौ**=मन की एकाग्रता में; **न**=नहीं; **विधीयते**=होती।

अनुवाद

जो मनुष्य विषयभोग और लौकिक ऐश्वर्य में प्रगाढ़ आसक्ति के कारण इस प्रकार संमोहित हो रहे हैं, उनके चित्त में भगवद्भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता।।४४।।

तात्पर्य

'समाधि' का अर्थ चित्त की एकाग्रता से है। वैदिक शब्दकोष निरुक्ति के अनुसार **सम्यगाधीयतेऽस्मिन्नात्मतत्त्वयाथात्म्यम्** 'आत्मतत्त्व में मनोयोग को समाधि कहा जाता है।' जो इन्द्रियतृप्ति में आसक्त हैं अथवा अनित्य विषयों से विमोहित हो रहे हैं, उनके लिए समाधि कभी सम्भव नहीं हो सकती। उन्हें तो बस माया के चक्र में ही निरन्तर दण्डित किया जाता है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

त्रैगुण्यविषयाः=तीनों गुणों को विषय करने वाले हैं; **वेदाः**=वेद; **निस्त्रैगुण्यः**=शुद्धसत्त्व में स्थित; **भव**=हो; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **निर्द्वन्द्वः**=द्वन्द्वों से मुक्त; **नित्यसत्त्वस्थः**=नित्य शुद्ध सत्त्वगुण में स्थित; **निर्योगक्षेम**=प्राप्ति तथा संरक्षण के विचार से मुक्त; **आत्मवान्**=स्वरूप में स्थित।

अनुवाद

वेद मुख्य रूप से प्रकृति के तीनों गुणों का ही विषय करने वाले हैं। हे अर्जुन! तू इन गुणों का उल्लंघन करके उनसे अतीत हो जा। सम्पूर्ण द्वन्द्वों और योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होकर आत्मपरायण (स्वरूपनिष्ठ) बन।।४५।।

तात्पर्य

किसी भी प्राकृत क्रिया को करने से त्रिगुणमय कर्म और कर्मबन्धन बनते हैं। ये सकाम होने के कारण प्राकृत-जगत् में बन्धनकारी हैं। सामान्य जनता को इन्द्रियतृप्ति से क्रमशः शुद्ध सत्त्व के स्तर तक पहुँचाने के उद्देश्य से वेद मुख्य रूप में सकाम कर्मों का ही वर्णन करते हैं। परन्तु अर्जुन की स्थिति तो विलक्षण है—वह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण का अनन्य शिष्य एवं प्रिय सखा है। अतः उसे सीधे वेदान्तदर्शन के स्तर पर ही आरूढ़ हो जाने की आज्ञा दी गयी है, जिसका प्रारम्भ ब्रह्मजिज्ञासा से होता है। संसार के सब प्राणी जीवन के लिए घोर संघर्ष कर रहे हैं। उनके कल्याण के लिए श्रीभगवान् ने जगत्-सृष्टि कर के उस वैदिक ज्ञान का सदुपदेश किया, जिसमें जीवन-यापन की यथार्थ पद्धति का तथा भवबन्धन से मुक्ति का मार्ग दिखाया गया है। विषयभोगमय क्रियाओं, अर्थात् कर्मकाण्ड के अन्त में जीव को उपनिषदों के रूप में भगवत्प्राप्ति का अवसर दिया जाता है। ये उपनिषद्

वेद-अंश हैं, उसी भाँति जैसे भगवद्गीता पंचम वेद—महाभारत का अंश है। इनसे भगवत्-परायण जीवन का उपक्रम होता है।

जब तक प्राकृत देह विद्यमान है, तब तक गुणमय कर्म तथा कर्मबन्धन बनते रहेंगे। अतएव मनुष्य को चाहिये कि सुख-दुःख, शीत-ग्रीष्म आदि को सहन करने का अभ्यास करके हानि-लाभ की चिन्ता से मुक्त हो जाय। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर सर्वतोभावेन श्रीकृष्णकृपा की आश्रयता ग्रहण कर लेने पर यह शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था प्राप्त होती है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

यावान्=जितना भी; **अर्थः**=प्रयोजन; **उदपाने**=जलकूप में; **सर्वतः**=सर्वविध; **संप्लुतोदके**=महान् जलाशय से; **तावान्**=इसी भाँति; **सर्वेषु**=सम्पूर्ण; **वेदेषु**=वैदिक शास्त्रों में; **ब्राह्मणस्य**=परब्रह्म श्रीकृष्ण के; **विजानतः**=पूर्ण ज्ञानी का।

अनुवाद

छोटे जलाशय से सिद्ध होने वाले सभी प्रयोजन बड़ी जलराशि से तुरन्त पूर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार, वेदों का आन्तरिक तात्पर्य जानने वाले के लिये उनके सब प्रयोजन पूर्ण हो जाते हैं।।४६।।

तात्पर्य

वैदिक कर्मकाण्ड में प्रतिपादित कर्मों तथा यज्ञों का उद्देश्य शनैः-शनैः स्वरूप-साक्षात्कार की ओर मनुष्य को प्रेरित करना है। स्वरूप-साक्षात्कार का लक्ष्य भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय (१५ः१५) में स्पष्ट किया गया है—'वेद-अध्ययन का लक्ष्य जगत् के आदिकारण भगवान् श्रीकृष्ण को जानना है।' अतः स्वरूप-साक्षात्कार का अर्थ है—श्रीकृष्ण एवं उनसे अपने नित्य-सम्बन्ध का ज्ञान। श्रीकृष्ण से जीवात्मा का जो सम्बन्ध है, उसका उल्लेख भी गीता के पन्द्रहवें अध्याय में है। जीवात्मा श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं, इसलिए उनके द्वारा अपने हृदय में सोयी कृष्णभावना को फिर से जागृत कर लेना ही वैदिक ज्ञान की परम सिद्धि है। श्रीमद्भागवत (३.३३.७) में प्रमाण हैः

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते।।

'हे प्रभो! आपके नाम का संकीर्तन करने वाले का जन्म चाहे चाण्डाल जैसे नीच कुल में ही क्यों न हुआ हो, परन्तु वह आत्मतत्त्व के परमोच्च स्तर को पा चुका है। ऐसा पुरुष वैदिक-कर्मकाण्ड के अनुसार अवश्य सब तप-यज्ञ कर चुका होगा और सब तीर्थों में स्नान करके उसने बहुधा वेद-स्वाध्याय भी अवश्य किया होगा। वह वास्तव में आर्यश्रेष्ठ है।' अतः कर्मों तथा श्रेष्ठ विषय भोग के लिए स्वर्गारोहण करने में ही आसक्त न रहकर बुद्धि के सदुपयोग से वेदों का यथार्थ तात्पर्य जान लेना चाहिए। इस युग के मनुष्यों के लिए कर्मकाण्ड के सम्पूर्ण विधि-नियमों तथा

वेदान्त-उपनिषद् के निर्देशों का पालन करना प्रायः असम्भव सा हो गया है। वेदों के तात्पर्य की सिद्धि के लिए अत्यधिक समय, शक्ति, ज्ञान तथा साधन अपेक्षित हैं। इस युग में ये सब प्रायः असाध्य हैं। ऐसे में पतितपावनावतार श्री गौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित हरिनाम-संकीर्तन से वैदिक संस्कृति के परम लक्ष्य की सिद्धि सर्व सुलभ हो सकती है। महान् वैदिक विद्वान् प्रकाशानन्द सरस्वती ने श्री गौरसुन्दर से जिज्ञासा की थी कि वे वेदान्त का स्वाध्याय न करके भावुक की भाँति भगवन्नाम कीर्तन ही क्यों करते हैं। उत्तरस्वरूप श्रीमन्महाप्रभु ने सविनय निवेदन किया कि उनके गुरुदेव ने महामूर्ख जानकर केवल कृष्णनाम कीर्तन करने का आदेश दिया था। उन्होंने ऐसा ही किया और परिणाम में भावोन्मत्त हो गये। वर्तमान कलिकाल की अधिकांश जनता पर्याप्त शिक्षा-प्राप्त न होने से मूढ़ है, इसलिए वेदान्तदर्शन को समझने के योग्य नहीं है। परन्तु कृष्णनाम के निरपराध कीर्तन से वेदान्त का परम प्रयोजन सुगमता से सिद्ध हो सकता है। वेदान्त वैदिक ज्ञान की पराकाष्ठा है और वेदान्तदर्शन के प्रणेता तथा ज्ञाता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। अतएव जो कृष्णनाम के संकीर्तन में आनन्द का आस्वादन करता है वही महात्मा सर्वोच्च वेदान्ती है। यह सम्पूर्ण वैदिक अध्यात्मविद्या का परम लक्ष्य है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

कर्मणि=स्वधर्मरूप कर्म करने में; **एव**=ही; **अधिकारः**=अधिकार है; **ते**=तेरा; **मा**=नहीं; **फलेषु**=कर्मफल में; **कदाचन**=कदापि; **मा**=नहीं; **कर्मफल**=कर्मफल का; **हेतुः**=कारण; **भूः**=हो; **मा**=नहीं; **ते**=तेरी; **संगः**=आसक्ति; **अस्तु**=हो; **अकर्मणि**=कर्म न करने में।

अनुवाद

तेरा अधिकार स्वधर्मरूप कर्म करने में ही है, कर्मफल में नहीं। तू कर्मफल का हेतु कभी न हो और कर्तव्य न करने में भी तेरी आसक्ति न हो।।४७।।

तात्पर्य

यहाँ स्वधर्मरूप कर्म, विकर्म तथा अकर्म, ये तीन तत्त्व विचारणीय हैं। स्वधर्म उन कर्मों को कहते हैं, जो प्रकृतिस्थ अवस्था में शास्त्र के विधान के अनुसार किये जाते हैं। अनधिकारपूर्वक किया गया स्वेच्छामय कर्म 'विकर्म' कहलाता है तथा स्वधर्माचरण में प्रमाद 'अकर्म' है। श्रीभगवान् ने अर्जुन को निष्क्रिय न होकर फलासक्ति के बिना स्वधर्मरूप कर्म करने का परामर्श दिया है। जिसकी कर्मफल में आसक्ति है, वही पुरुष कर्म का हेतु बनकर कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता है।

स्वधर्म के तीन उपभेद हैं: नित्य, आपात एवं सकाम कर्म। नित्यकर्म शास्त्र के निर्देशानुसार निस्पृह भाव से किये जाते हैं। अनिवार्य होने से ये नैमित्तिक कर्म सात्त्विक हैं। सकामकर्मों से बन्धन होता है; इसलिए ये कल्याणकारी नहीं हैं।

मनुष्यमात्र का स्वधर्म में अधिकार है, परन्तु फल में आसक्ति के बिना ही कर्म करना चाहिए। इस प्रकार का निष्काम स्वधर्माचरण निस्सन्देह मुक्तिपथ की ओर ले जाता है।

अतएव श्रीभगवान् अर्जुन को फलासक्ति को त्याग कर कर्तव्य के रूप में युद्ध करने की आज्ञा देते हैं। उसका युद्ध से उपरत हो जाना भी आसक्ति का ही एक रूप है। आसक्ति के रहते मुक्तिपथ की प्राप्ति नहीं हो सकती। आसक्ति अनुकूल हो या प्रतिकूल, बन्धनकारी ही सिद्ध होती है। अकर्म पापमय है। अतएव कर्तव्य के रूप में युद्ध करना अर्जुन के लिए मुक्ति का एकमात्र कल्याणकारी मार्ग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

योगस्थः=योग में दृढ़तापूर्वक स्थित हुआ; **कुरु**=कर; **कर्माणि**=स्वधर्म; **संगम्**=आसक्ति को; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **धनंजय**=हे धनंजय; **सिद्ध्यसिद्ध्योः**=सफलता-विफलता में; **समः**=समान बुद्धिवाला; **भूत्वा**=होकर; **समत्वम्**=मन का समत्व भाव ही; **योगः**=योग; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

हे अर्जुन! योग में स्थित होकर सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धि रखते हुए आसक्ति को त्याग कर स्वधर्मरूप कर्म का आचरण कर। मन का ऐसा समभाव ही योग कहलाता है।।४८।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण अर्जुन से योग में स्थित होकर कर्म करने को कह रहे हैं। इस योग का क्या स्वरूप है? योग का अर्थ है नित्य विक्षुब्ध रहने वाली इन्द्रियों को वश में करके मन को परतत्त्व में एकाग्र करना। परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। वे स्वयं अर्जुन को युद्ध की आज्ञा दे रहे हैं। अतः अर्जुन को युद्ध के परिणाम से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। जय-विजय का विचार श्रीकृष्ण किया करें, अर्जुन को तो बस श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार कर्म करना है। श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन करना यथार्थ योग है। 'कृष्णभावनामृत' नामक पद्धति में इसी का अभ्यास किया जाता है। एकमात्र कृष्णभावना के माध्यम से ही इस अहंभाव का त्याग किया जा सकता है कि मैं स्वामी हूँ, भोक्ता हूँ। इसके लिए श्रीकृष्ण अथवा उनके सेवक का सेवक बनना होगा। कृष्णभावनाभावित स्वधर्माचरण का सन्मार्ग यही है। वास्तव में कृष्णभावनाभावित होकर स्वधर्म का आचरण करना ही योग में स्थित होकर कर्म करना है।

अर्जुन क्षत्रिय है, अतः वर्णाश्रम धर्म का अनुयायी है। विष्णु पुराण के अनुसार सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म का प्रयोजन श्रीविष्णु को प्रसन्न करना है। सांसारिक परिपाटी के विपरीत, अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करने के स्थान पर भगवान् श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करना चाहिए। श्रीकृष्ण का परितोषण किये बिना वर्णाश्रम धर्म का भलीभाँति पालन नहीं हो

सकता। परोक्ष रूप से अर्जुन को श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार कर्म करने का परामर्श दिया गया है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

दूरेण=अत्यन्त; हि=निस्सन्देह; **अवरम्**=निन्दनीय; **कर्म**=सकामकर्म; **बुद्धि-योगात्**=कृष्णभावनामृत से; **धनंजय**=हे अर्जुन; **बुद्धौ**=इस बुद्धियोग का; **शरणम्**=आश्रय; **अन्विच्छ**=ग्रहण कर; **कृपणाः**=दीन हैं; **फलहेतवः**=कर्म फल की इच्छा वाले।

अनुवाद

हे धनंजय! भक्तियोग के द्वारा सब प्रकार के निकृष्ट सक़ाम कर्मों से मुक्त होकर पूर्ण रूप से उसी बुद्धियोग की शरण हो जा। जिन्हें कर्मफल की वासना है, वे तो अत्यन्त दीन हैं।।४९।।

तात्पर्य

जो भगवान् के नित्य दास के रूप में अपने स्वरूप को वास्तव में जान जाता है, वह पुरुष कृष्णभावनाभावित क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य सब कर्मों को त्याग देता है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, **बुद्धियोग** का अर्थ भगवद्भक्तियोग है। भक्ति जीव का स्वरूपभूत कर्म है। जो कृपण अर्थात् दीन हैं, वे ही अपने कर्मफलों को भोगने की इच्छा रखते हैं; यह अधिकाधिक बन्धनकारी सिद्ध होती है। कृष्णभावनाभावित कर्मों के अतिरिक्त अन्य सब कार्य निन्द्य हैं, क्योंकि वे कर्ता को जन्म-मृत्यु के चक्र में ही नित्य बाँधे रखते हैं। अतः कर्मफल का कारण बनने की इच्छा कभी न करे। प्रत्येक क्रिया कृष्णभावना से भावित, श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए ही होनी चाहिए। कृपण दैववश अथवा परिश्रम से प्राप्त हुए वैभव का सदुपयोग करना नहीं जानते। जीवन की कृतार्थता इसी में है कि अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में नियोजित किया जाय। परन्तु मन्दभाग्य कृपण अपनी मानवी शक्ति का उपयोग भगवत्सेवा में नहीं करते।

बुद्धियुक्त जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

बुद्धियुक्तः=भगवद्भक्ति-परायण पुरुष; **जहाति**=मुक्त हो सकता है; **इह**=इसी जीवन में; **उभे**=दोनों; **सुकृतदुष्कृते**=पुण्य और पाप से; **तस्मात्**=इसलिए; **योगाय**=भक्ति के लिए; **युज्यस्व**=चेष्टा करने में युक्त रह; **योगः**=कृष्ण-भावना ही; **कर्मसु**=सब कर्मों में; **कौशलम्**=कुशलता है।

अनुवाद

भगवद्भक्ति के परायण हुआ मनुष्य इसी जीवन में पुण्य और पाप, दोनों से

मुक्त हो जाता है। इसलिए हे अर्जुन! इस भक्तियोग के लिए प्रयत्न कर, क्योंकि यही कर्म-कौशल है।।५०।।

तात्पर्य

जीवात्मा अनादि काल से पाप-पुण्य रूपी कर्मबन्धनों का संचय कर रहा है। इस कारण अपना यथार्थ स्वरूप उसे सदा अज्ञात ही बना रहता है। इस अज्ञान को भगवद्गीता के उपदेश से हटाया जा सकता है। गीता जीव को पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण के शरणागत होकर कर्मबन्धन रूपी शृंखला के द्वारा जन्म-जन्मान्तर में निरन्तर मिलने वाली पीड़ा से मुक्त हो जाने की शिक्षा देती है। अतएव अर्जुन को कृष्णभावनाभावित कर्म करने को कहा गया है, क्योंकि केवल यही पद्धति कर्मबन्धन से मुक्तिकारक है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

कर्मजम्=सकाम कर्म से उत्पन्न होने वाले; **बुद्धियुक्ताः**=बुद्धियोग से युक्त; **हि**=निश्चित रूप से; **फलम्**=फल को; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **मनीषिणः**=भक्त-महर्षि; **जन्मबन्ध**=जन्म-मृत्यु के बन्धन से; **विनिर्मुक्ताः**=मुक्त हुए; **पदम्**=परम पद को; **गच्छन्ति**=प्राप्त करते हैं; **अनामयम्**=दुःखरहित।

अनुवाद

भक्तियोग के परायण विवेकी पुरुष श्रीभगवान् की शरण ले लेते हैं और संसार में ही कर्मफल को त्याग कर जन्म-मृत्यु के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार उन्हें उस अनामय पद की प्राप्ति होती है, जो सब दुःखों से परे है।।५१।।

तात्पर्य

मुक्त जीवात्मा उस अनामय पद की इच्छा रखते हैं, जहाँ प्राकृत दुःखों का सर्वथा अभाव है। श्रीमद्भागवत (१०.१४.५८) में कथन है:

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्।।

"जिसने जगदाश्रय श्रीमुकुन्द के चरणारविन्द रूपी तरणी का आश्रय ग्रहण कर लिया है, उस के लिए संसार-सागर तरने को वत्सपद के समान सुगम हो जाता है। उसका लक्ष्य वह परम पद वैकुण्ठ है जहाँ प्राकृत-जगत् का कोई भी दुःख नहीं है, ऐसा स्थान नहीं कि जहाँ पद-पद पर संकट हो।"

अज्ञानवश मनुष्य नहीं समझता कि यह संसार वास्तव में अत्यंत घृणास्पद एवं दुःखदायी स्थान है, क्योंकि यहाँ पद-पद पर भय की ही प्राप्ति होती है। अज्ञानी मनुष्य यह सोचकर सकाम कर्मों में लगे रहते हैं कि उनके फलस्वरूप वे सुखी हो जायेंगे। वे यह नहीं जानते कि ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग में, किसी भी प्रकार की देह में दुःखरहित जीवन नहीं मिल सकता। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि—जीवन

के ये दुःख संसार में सर्वत्र दृष्टिगोचर हैं। किन्तु जो पुरुष भगवान् के नित्य दास के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप को और भगवत्स्वरूप को जान लेता है, वह भगवद्भक्ति के परायण हो जाता है। इससे वह उन वैकुण्ठ-लोकों में गमन करने का अधिकारी बन जाता है, जहाँ न तो दुःखमय प्राकृत-जीवन है और न काल एवं मृत्यु का प्रवेश ही है। स्वरूपज्ञान से दिव्य भगवत्स्वरूप का बोध भी हो जाता है। जो मनुष्य भ्रमवश जीव और भगवान् को बराबर मानता है, वह अज्ञानी है और इसलिए भगवद्भक्ति करने के योग्य नहीं। वह तो अपने को ही ईश्वर मान बैठता है, जिससे बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में गिरना पड़ता है। दूसरी ओर, जो यह जानते हुए कि वह स्वरूप से भगवान् का नित्य दास है, भगवत्सेवा के परायण हो जाता है, वह तत्क्षण वैकुण्ठलोक का अधिकारी बन जाता है। भगवत्सेवा को ही कर्मयोग, बुद्धियोग अथवा भक्तियोग कहते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

यदा=जिस काल में; **ते**= तेरी; **मोह**=मोहरूप; **कलिलम्**=सघन अटवी को; **बुद्धिः**=भगवत्सेवा युक्त बुद्धि; **व्यतितरिष्यति**=पार कर जायगी; **तदा**=उस समय; **गन्तासि**=प्राप्त होगा; **निर्वेदम्**=वैराग्य को; **श्रोतव्यस्य**=सुनने योग्य; **श्रुतस्य**=सुने हुए के; **च**=तथा।

अनुवाद

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी सघन दलदल को पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और जो सुनने योग्य है, उससे भी वैराग्य को प्राप्त होगा।।५२।।

तात्पर्य

महाभागवतों के जीवन में ऐसे अनेक उत्तम उदाहरण उपलब्ध हैं, जिन्हें भगवद्भक्ति के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड से वैराग्य हो गया। जब मनुष्य को श्रीकृष्ण का और उनसे अपने सम्बन्ध का तत्त्वबोध होता है, तो सकाम कर्मों से स्वाभाविक विरक्ति हो जाती है, चाहे वह कुशल ब्राह्मण ही क्यों न हो। भक्तपरम्परा के महान् आचार्य श्री माधवेन्द्र पुरीपाद का कथन है—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवतो भोः स्नान तुभ्यं नमो।
भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम्।।
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तमस्य कंसद्विषः।
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे।।

"हे त्रिकाल सन्ध्या-वन्दन ! तुम्हारी जय हो। हे स्नान ! तुम्हें प्रणाम है। हे देवपितृगण ! आपके लिए तर्पण करने में मैं अब असमर्थ हो गया हूँ। क्षमा करें। अब तो जहाँ भी मैं बैठता हूँ, यादवकुल-अवतंस कंसारि श्रीकृष्ण का ही स्मरण करता हूँ और इस प्रकार करते-करते सब पापों से मुक्त हो गया हूँ। मेरे लिए यही पर्याप्त है।"

त्रिकालिक सन्ध्या, प्रातःकालिक स्नान, पितृ तर्पणादि वैदिक कर्म कनिष्ठ साधक के लिए ही अनिवार्य हैं। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित मति से श्रीकृष्णभक्ति में तत्पर हुआ भक्त इन कर्मों के प्रति बिल्कुल उदासीन हो जाता है, क्योंकि वह पहले ही कृतार्थ हो चुका है। भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा से ज्ञान-लाभ कर लेने पर शास्त्रों में वर्णित तप-यज्ञादि आवश्यक नहीं रहते। दूसरी ओर, जो यह जाने बिना कि वेदों का लक्ष्य श्रीकृष्णप्राप्ति है, कर्मकाण्ड में तत्पर रहता है, वह केवल समय का अपव्यय करता है। कृष्णभावनाभावितभक्त तो वेद-उपनिषदों की परिधि, शब्दब्रह्म की सीमा का भी उल्लंघन कर जाते हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

श्रुति=नाना प्रकार के वैदिक मन्त्र; **विप्रतिपन्ना**=वेदों में कहे कर्मफलों से विचलित; **ते**=तेरी; **यदा**=जिस काल में; **स्थास्यसि**=स्थित हो जायगी; **निश्चला**= निष्ठ; **समाधौ**=कृष्णभावना में; **अचला**=स्थिर; **बुद्धिः**=प्रज्ञा; **तदा**=उस समय; **योगम्**=योग को; **अवाप्स्यसि**=प्राप्त होगा।

अनुवाद

जिस समय तेरी बुद्धि वेदों की अलंकारमयी भाषा से विचलित हुए बिना स्वरूप-समाधि में ही अचल रहेगी, उस समय तुझे दिव्य बुद्धियोग की प्राप्ति हो जायगी।।५३।।

तात्पर्य

समाधिवेत्ता वही कहलाता है जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो गया हो। भाव यह है कि पूर्ण समाधिवेत्ता को ब्रह्म, परमात्मा और श्रीभगवान् की भी प्राप्ति हो जाती है। अपने को श्रीकृष्ण का नित्य दास जान कर कृष्णभावनाभावित स्वधर्माचरण को ही अपना एकमात्र कर्तव्य मानना स्वरूप की परम सिद्धि है। कृष्णभावनाभावित अनन्य भगवद्भक्त वेदों की आलंकारिक भाषा से विचलित न हो और न ही स्वर्गप्राप्ति के लिए सकाम कर्म में प्रवृत्त हो। कृष्णभावनामृत में श्रीकृष्ण से सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाता है; अतः, उस दिव्य-अवस्था में श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण आदेश का बोध हो सकता है। इन क्रियाओं के फलस्वरूप निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति निश्चित है। इसलिए केवल इतना ही अपेक्षित है कि श्रीकृष्ण अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि—गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया जाय।

अर्जुन उवाच।
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **स्थितप्रज्ञस्य**=कृष्णभावना में अचल भाव से स्थित पुरुष के; **का**=क्या; **भाषा**=लक्षण हैं; **समाधिस्थस्य**=समाधि में स्थित;

केशव=हे कृष्ण; **स्थितधीः**=कृष्णभावना में स्थिरबुद्धि; **किम्**=किस प्रकार; **प्रभाषेत** =बोलता है; **किम्**=किस प्रकार; **आसीत**=रहता है; **व्रजेत**=चलता है; **किम्**=कैसे।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, प्रभो! कृष्णभावनाभावित स्थिरबुद्धि पुरुष के क्या लक्षण हैं, वह किस प्रकार बोलता है, उसकी भाषा क्या होती है, तथा वह किस प्रकार बैठता और चलता है।।५४।।

तात्पर्य

प्रत्येक मनुष्य अपनी स्थिति के अनुरूप लक्षणों से युक्त रहता है। कृष्णभावनाभावित भक्त का भी अपना विशिष्ट स्वभाव, आलाप, गमन, चिन्तन, अनुभव आदि होता है। धनवान् की धनाढ्यता का, रोगी के रोग का तथा विद्वान् की विद्वत्ता का परिचय उनके लक्षणों से मिलता है। इसी प्रकार कृष्णभावनाभावित भक्त भी नाना व्यवहारों में विशिष्ट लक्षणों से युक्त रहते हैं। भगवद्गीता में इन लक्षणों का ज्ञान उपलब्ध है। कृष्णभक्त किस प्रकार बोलता है, यह सबसे अधिक महत्त्व रखता है, क्योंकि वाणी मनुष्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण है। कहा जाता है कि मूर्ख के न बोलने तक ही उसे पहचाना नहीं जाता। उसके बोलते ही उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है। कृष्णभावनानिष्ठ पुरुष का सर्वप्रधान लक्षण यह है कि वह केवल श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में वार्तालाप करता है। इससे उसमें वे सब लक्षण अपने-आप प्रकट हो जाते हैं, जिनका आगे उल्लेख है।

श्रीभगवानुवाच।
प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **प्रजहाति**=त्याग देता है; **यदा**=जिस काल में; **कामान्**=विषय वासना को; **सर्वान्**=सम्पूर्ण रूप से; **पार्थ**=हे पार्थ (अर्जुन); **मनोगतान्**=मनमानी; **आत्मनि**=आत्मतत्त्व में; **एव**=ही; **आत्मना**=शुद्ध चित्त के द्वारा; **तुष्टः**=सन्तुष्ट रहता है; **स्थितप्रज्ञः**=स्थिर मति वाला; **तदा**=उस समय; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

मंगलमय श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! जिस काल में यह जीव मन से उत्पन्न विषय वासना को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर चित्त द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उस समय इसे स्थिरबुद्धि कहा जाता है।।५५।।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत द्वारा प्रमाणित है कि पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित भगवद् भक्तिनिष्ठ पुरुष में महर्षियों के योग्य सब सद्गुण निवास करते हैं। इसके विपरीत, भक्तिविहीन में कोई सद्गुण नहीं होता, क्योंकि वह मनोधर्म में ही लगा रहता है।

अतएव यहाँ ठीक ही कहा गया है कि मन से उत्पन्न हुई सब प्रकार की विषय वासना को त्यागना आवश्यक है। यह कृत्रिम साधन से नहीं हो सकता। परन्तु कृष्णभावनामृत के परायण हो जाने पर विषय कामना अनायास शान्त हो जाती है। अतएव मनुष्यमात्र को उत्साहपूर्वक कृष्णभावना के परायण हो जाना चाहिए, क्योंकि भगवद्भक्ति तत्काल शुद्ध सत्त्व में आरूढ़ कर देती है। भगवान् के दास के रूप में स्वरूप का आस्वादन करते हुए महात्माजन अपने आत्मा में सन्तुष्ट रहते हैं। ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुष में तुच्छ विषय वासना का लेश भी शेष नहीं रहता। भगवान् श्रीकृष्ण के नित्य सेवक के रूप में अपने सहज स्वरूप में वह सदा प्रसन्न रहता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

दुःखेषु=तीनों प्रकार के दुःखों की प्राप्ति में; **अनुद्विग्नमनाः**=जिस का चित्त उद्वेगरहित रहता है; **सुखेषु**=सुख में; **विगतस्पृहः**=स्पृहाशून्य; **वीत**=मुक्त; **राग**=आसक्ति; **भय**=भय; **क्रोधः**=क्रोध से; **स्थितधीः**=स्थिर बुद्धि; **मुनिः**=ऋषि; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो तीनों प्रकार के दुःखों की प्राप्ति से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, सुख में स्पृहाशून्य रहता है, तथा जो आसक्ति, भय और क्रोध से मुक्त है, उसे स्थिरमति मुनि कहा जाता है।।५६।।

तात्पर्य

मुनि उसे कहा जाता है, जो मनोधर्मी करने में मन को नाना प्रकार से उद्वेलित करने पर भी किसी तात्त्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सके। कहा जाता है कि प्रत्येक मुनि का भिन्न मत होता है; यहाँ तक कि जिस का मत अन्य मुनियों से भिन्न न हो, उसे तो सिद्धान्ततः मुनि कहा ही नहीं जा सकता। **नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।** परन्तु जैसा भगवान् ने यहाँ वर्णन किया है, 'स्थिरबुद्धि' मुनि साधारण मुनियों से भिन्न है। स्थिरबुद्धि मुनि सदा कृष्णभावनाभावित रहता है, क्योंकि वह मनोधर्म की प्रवृत्ति को समाप्त कर चुका है। भेदबुद्धि का उल्लंघन करके वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वासुदेव श्रीकृष्ण सर्वव्यापक हैं। वही **स्थितप्रज्ञ मुनि** कहा जाता है। ऐसा पूर्ण कृष्णभावनाभावित पुरुष त्रिविध दुःखों के आक्रमणों से विचलित नहीं होता। उन्हें अयाचित भगवत्कृपा समझता हुआ वह तो यही मानता है कि अपने पिछले पापों के लिए वह इससे कहीं अधिक दुःख उठाने के योग्य था। उसे अनुभूति होती है कि भगवत्कृपा से उसे नाममात्र के दुःख की ही प्राप्ति हुई है। इसी प्रकार, सुख की प्राप्ति होने पर वह अपने को उस सुख के अयोग्य मानकर सारा श्रेय श्रीभगवान् को देता है। वह अनुभव करता है कि भगवत्कृपा के प्रताप से ही उसे ऐसी सुखमयी अवस्था मिली है, जिससे वह और अच्छी प्रकार से भगवत्सेवा करने योग्य हो गया है।

इस प्रकार भगवत्सेवा के लिए वह सदा-सर्वदा साहसी तथा क्रियाशील रहता है, राग-द्वेष से लिपायमान नहीं होता। राग का अर्थ अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी वस्तु को स्वीकार करना है, जबकि ऐसी विषयैषणा का अभाव वैराग्य कहलाता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित भक्त में न राग होता है और न वैराग्य ही; उसका तो पूरा का पूरा जीवन ही श्रीकृष्ण की सेवा में समर्पित रहता है। अतएव उद्यम के विफल होने पर भी उसे लेशमात्र क्षोभ अथवा क्रोध नहीं होता। कृष्णभावनाभावित भक्त नित्य कृतसंकल्प रहता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

यः=जो; **सर्वत्र**=सर्वत्र; **अनभिस्नेहः**=स्नेहशून्य हुआ; **तत्**=उस; **तत्**=उस; **प्राप्य**=प्राप्त कर; **शुभ**=लाभ; **अशुभम्**=हानि को; **न**=नहीं; **अभिनन्दति**=आनन्दित होता; **न**=नहीं; **द्वेष्टि**=द्वेष करता है; **तस्य**=उस का; **प्रज्ञा**=पूर्ण ज्ञान; **प्रतिष्ठिता**=अचल है।

अनुवाद

जो पुरुष सब ओर स्नेहरहित हुआ न तो शुभ की प्राप्ति से हर्षित होता और न अशुभ की प्राप्ति में शोक करता, वह पूर्ण ज्ञान में निष्ठ है।।५७।।

तात्पर्य

प्राकृत-जगत् में नित्य-निरन्तर शुभ-अशुभ उथल-पुथल होती रहती है। जो इससे उद्वेलित नहीं होता, शुभ-अशुभ से अप्रभावित रहता है, उस पुरुष को कृष्णभावनाभावित जानना चाहिए। जब तक संसार में निवास है, तब तक शुभ-अशुभ की सम्भावना बनी रहेगी, क्योंकि यह जगत् द्वंद्वों से पूर्ण है। परन्तु कृष्णभावनाभावित अनन्य भक्त इनसे प्रभावित नहीं होता; उसका प्रयोजन एकमात्र श्रीकृष्ण से ही रहता है, जो सर्व मंगलमय हैं। यह कृष्णभावना शुद्ध सत्त्वमयी समाधि प्रदान करती है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

यदा=जिस काल में; **संहरते**=समेट लेता है; **च**=तथा; **अयम्**=यह; **कूर्मः**=कछुआ के; **अंगानि इव**=अंगों की भाँति; **सर्वशः**=सब ओर से; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियों को; **इन्द्रिय अर्थेभ्यः**=इन्द्रिय-विषयों से; **तस्य**=उसकी; **प्रज्ञा**=बुद्धि; **प्रतिष्ठिता**=स्थिर कही जाती है।

अनुवाद

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को सब ओर से समेट लेता है, उसी भाँति जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियविषयों से हटा सकता है, उसकी बुद्धि स्थिर है, अर्थात् वह यथार्थ में परम ज्ञानी है।।५८।।

तात्पर्य

किसी भी योगी, भक्त अथवा स्वरूपप्राप्त महात्मा की कसौटी यह है कि वह

अपनी इच्छा के अनुसार इन्द्रियों को वश में कर सकता है। परन्तु अधिकांश लोग तो दास की भाँति इन्द्रियों की आज्ञा का पालन करने में ही लगे हुए हैं। इस श्लोक में योगी के बैठने का प्रकार कहा गया है। इन्द्रियाँ वस्तुतः विषधर सर्पों के समान हैं। उन्हें स्वच्छन्द एवं स्वेच्छामय आचरण ही सदा प्रिय रहता है। यह आवश्यक है कि योगी अथवा भक्त इन्द्रिय रूपी सर्पों का निग्रह करने में सपेरे के समान बलवान् हो। वह उन्हें स्वेच्छाचार कभी नहीं करने देता। शांस्त्रों में इसके लिए अनेक विधि-निषेध हैं। इन विधि-निषेधों के पालन द्वारा विषय भोग को मर्यादित किये बिना कृष्णभावनामृत में अचल निष्ठा नहीं हो सकती। इस सन्दर्भ में यहाँ कछुए का उत्तम उदाहरण दिया गया है। कूर्म में इतनी सामर्थ्य होती है कि अपने अंगों को एक क्षण में समेट सकता है और फिर किसी भी क्षण विशेष कार्य के लिए उन्हें पुनः बाहर कर सकता है। कृष्णभावनाभावित भक्त अपनी इन्द्रियों का उपयोग केवल भगवत्सेवा के कार्यो में ही करते हैं, *अन्यथा उनका संवरण* किए रहते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों को आत्मवश रखने वाले कूर्म के दृष्टान्त से यह शिक्षा दी गई है कि इन्द्रियों को नित्य-निरन्तर भगवत्सेवामृत में ही निमज्जित रखे।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।।

विषयाः=इन्द्रियों के विषय; **विनिवर्तन्ते**=निवृत्त हो जाते हैं; **निराहारस्य**=संयम करने वाले; **देहिनः**=देहबद्ध जीव के; **रसवर्जम्**=रस नहीं जाता; **रसः**=भोग की इच्छा; **अपि**=भी; **अस्य**=उसकी; **परम्**=उत्तम रस का; **दृष्ट्वा**=अनुभव होने पर; **निवर्तते**=शान्त हो जाती है।

अनुवाद

इन्द्रियतृप्ति का संयम करने से बद्धजीव के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु भोगों में आसक्ति बनी रहती है। उत्तम रस के अनुभव से उसकी भी निवृत्ति हो जाती है और बुद्धियोग की प्राप्ति होती है।।५९।।

तात्पर्य

कृष्णभावनारूप शुद्ध सत्त्व में स्थित हुए बिना विषयभोग का निवर्तन नहीं किया जा सकता। विधि-विधान द्वारा विषयभोग को मर्यादित करना रोगी के लिए कुछ खाने के पदार्थों का निषेध करने जैसा है। परन्तु न तो रोगी को यह निषेध रुचिकर लगता है और न ही भोजन के प्रति उसकी रुचि समाप्त होती है। इसी प्रकार अष्टांगयोग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि साधनों से इन्द्रियों को वश में करना उन अल्पज्ञ मनुष्यों के लिए उपयुक्त है, जो इससे अधिक और कुछ नहीं जानते। जिसने कृष्णभावना में उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए श्रीकृष्ण के अनुपम माधुर्यामृत का आस्वादन कर लिया है, उस भक्त की तो निष्प्राण एवं म्लान प्राकृत वस्तुओं में स्वभावतः लेशमात्र भी रुचि नहीं रहती। अतएव संयमादि का

विधान परमार्थ के अल्पज्ञ साधकों के लिए ही है। परन्तु ये विधान तभी अर्थ रखते हैं, जब यथार्थ में कृष्णभावना का आस्वादन कर लिया जाय। जो यथार्थ में कृष्णभावनाभावित हो गया है, उसके लिए इस संसार के सब मन्द भोग स्वतः नीरस हो जाते हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

यततः=यत्न करते हुए; **हि**=निःसन्देह; **अपि**=भी; **कौन्तेय**=हे कुन्तीनन्दन; **पुरुषस्य**=मनुष्य की; **विपश्चितः**=विवेक ज्ञान से युक्त; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **प्रमाथीनि**=उत्तेजित; **हरन्ति**=हर लेती हैं; **प्रसभम्**=बलपूर्वक; **मनः**=मन को।

अनुवाद

हे अर्जुन! इन्द्रियाँ इतनी बलवान् तथा वेगवती हैं कि उस विवेकी पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं, जो उन्हें वश में करने के लिए प्रयत्न कर रहा हो ।।६०।।

तात्पर्य

ऐसे कितने ही विद्वान् मुनि, दार्शनिक एवं योगी हैं, जो इन्द्रियनिग्रह के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु यथासम्भव प्रयास करते हुए उनमें बड़े से बड़े भी मन की उत्तेजना के कारण इन्द्रियतृप्ति रूपी अन्धकूप में पतित हो जाते हैं। महामुनि योगिराज विश्वामित्र उग्र तपश्चर्या एवं योगाभ्यास द्वारा इन्द्रियनिग्रह के लिए उद्यमशील थे; परन्तु वे भी मेनका के साथ मैथुन में प्रवृत्त होकर परमार्थ-पथ से भ्रष्ट हो गये। विश्व-इतिहास में इसके समान अगणित दृष्टान्त उपलब्ध हैं। अतः पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हुए बिना मन और इन्द्रियों को वश में करना दुःसाध्य है। श्रीकृष्ण में मन को निवेशित किये बिना विषयभोग का त्याग नहीं किया जा सकता। भक्तशिखामणि श्रीयामुनाचार्य ने इस सन्दर्भ में अपनी निजी अनुभूति का उल्लेख किया है। वे कहते हैं: 'जिस समय से मन को श्रीकृष्णचरणारविन्द की सेवा में नियोजित करके मैं नित्य नूतन भगवद्रस का आस्वादन करने के प्रवृत्त हो गया हूँ, तब से स्त्री-संग का विचार आते ही मेरा मुख विकृत हो जाता है, यहाँ तक कि उस विचार पर ही उद्वमन (थू-थू) करने लगता हूँ।'

कृष्णभावना इतनी दिव्य, सर्वांग सुन्दर और मधुरिमामयी है कि उसके प्रभाव से विषयभोग स्वतः नीरस हो जाता है, मानो पुष्टिदायक भरपेट भोजन करने से भूखे की भूख निवृत्त हो जाय। कृष्णभावना के प्रताप से महाराज अम्बरीष ने दुर्वासा मुनि जैसे महायोगी तक को निरस्त कर दिया था।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

तानि=उन; **सर्वाणि**=सब इन्द्रियों को; **संयम्य**=वश में करके; **युक्तः**=तत्पर हुआ; **आसीत**=स्थित हो; **मत्परः**=मेरे परायण; **वशे**=वश में होती हैं; **हि**=निःसन्देह;

यस्य=जिसकी; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **तस्य**=उसकी; **प्रज्ञा**=बुद्धि; **प्रतिष्ठिता**=स्थिर है।

अनुवाद

इसलिए सब इन्द्रियों का संयम करके भक्तियोग में लगकर मेरे परायण हो जाय। जो इस प्रकार इन्द्रियों को वश में करके अपनी बुद्धि को मुझ में एकाग्र करता है, वही मनुष्य स्थिरबुद्धि है।।६१।।

तात्पर्य

योग की परमोच्च संसिद्धि कृष्णभावना ही है, यह इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है। कृष्णभावनाभावित हुए बिना इन्द्रियों को वश में करना असम्भव है। पूर्व कथन के अनुसार, महामुनि दुर्वासा महाराज अम्बरीष से द्वेष कर बैठे और अहंकार से उत्पन्न व्यर्थ क्रोध के वशीभूत होकर अपनी इन्द्रियों का संयम नहीं कर सके। दूसरी ओर, मुनि के सदृश योगी न होने पर भी भगवद्भक्ति के प्रभाव से राजा ने मुनि के अनाचार को शान्तिपूर्वक सहन कर लिया। परिणाम स्वरूप, अन्त में उन्हीं की विजय हुई। महाराज की इन्द्रियाँ उनके वश में थीं, क्योंकि श्रीमद्भागवत (९.४.१८-२०) के अनुसार वे निम्नलिखित गुणों से युक्त थेः

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये।।
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसंगमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते।।
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवादने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः।।

'राजा अम्बरीष ने अपना मन श्रीकृष्ण के पदारविन्द में एकाग्र किया; वाणी को भगवद्धाम का वर्णन करने में लगाया, हाथों को हरिमन्दिर का मार्जन करने में लगाया, श्रवणों को हरिकथा सुनने में तथा नेत्रों को श्रीभगवान् के मधुर दर्शन में नियोजित किया। अपने गात्र से वे भक्तों का स्पर्श करते तथा नासिका से श्रीभगवान् के चरणारविन्द में अर्पित पुष्पों और तुलसी की सौष्ठव का आघ्राण करते थे; जिह्वा को भगवान् को समर्पित प्रसाद खाने में; चरणों को हरिक्षेत्र-गमन में संलग्न रखते तथा सिर से नित्य भगवत्-वन्दना करते रहते। इस प्रकार उनकी सम्पूर्ण कामना भगवत्-इच्छा की पूर्ति करने में ही तत्पर रहती थी। इन सब दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण ही वे 'मत्पर' भगवद्भक्त बन गये थे।'

इस सन्दर्भ में **मत्पर** शब्द महत्त्वपूर्ण है। महाराज अम्बरीष का जीवन **मत्पर** बनने की पद्धति सिखाता है। विद्वच्चूडामणि तथा **मत्पर** परम्परा के आचार्य, श्री बलदेव विद्याभूषण का कथन हैः **मद्भक्तिप्रभावेन सर्वेन्द्रिय-विजयपूर्विका स्वात्मां दृष्टिः सुलभेति भावः।** "कृष्णभक्ति की महती शक्ति के द्वारा ही इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में किया जा सकता है।" इस सन्दर्भ में अग्नि का दृष्टान्त भी दिया जाता है। घर के भीतर स्थित अग्नि की नन्हीं ज्वाला भी

सब कुछ भस्मसात् कर देती है, उसी भाँति योगी के हृदय में स्थित भगवान् विष्णु सम्पूर्ण दोषों का नाश करते हैं। 'योगसूत्र' भी श्रीविष्णु के ध्यान का ही विधान करता है, शून्य के ध्यान का नहीं। जो श्रीविष्णु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का ध्यान करते हैं, वे योगी कहलाने वाले मूढ़ किसी भ्रममय मृगमरीचिका के अन्वेषण में समय ही नष्ट कर रहे हैं। हमें कृष्णभावनाभावित (कृष्णपरायण) बनना है; यथार्थ योग का यही लक्ष्य है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

ध्यायतः=चिन्तन करते हुए; **विषयान्**=इन्द्रियविषयों का; **पुंसः**=मनुष्य की; **संगः**=आसक्ति; **तेषु**=उन इन्द्रियविषयों में; **उपजायते**=हो जाती है; **संगात्**=आसक्ति से; **संजायते**=उत्पन्न होती है; **कामः**=कामना; **कामात्**=काम से; **क्रोधः**=क्रोध; **अभिजायते**=प्रकट होता है।

अनुवाद

इन्द्रियविषयों का चिंतन करने से मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है; आसक्ति से काम और फिर काम से क्रोध होता है।।६२।।

तात्पर्य

जो मनुष्य कृष्णभावनाभावित नहीं है, उसमें इन्द्रियविषयों के चिंतन से विषयभोग की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इन्द्रियों को कुछ न कुछ कार्य चाहिए। अतः यदि उन्हें भगवद्भक्ति में तत्पर नहीं रखा जायगा तो वे निश्चित रूप से भोगपरायण होना चाहेंगी। अन्य स्वर्गीय देवताओं के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, शिव-ब्रह्मा सहित प्राकृत-जगत् में जीवमात्र का इन्द्रियविषयों के प्रति आकर्षण है। इस प्राकृत प्रपंच से मुक्ति का एकमात्र मार्ग कृष्णभावनाभावित हो जाना है। शिव ध्यानमग्न थे, पर पार्वती द्वारा विषयभोग के लिए उत्तेजित किये जाने पर वे सहमत हो गये, जिससे कार्तिकेय का जन्म हुआ। तरुण भगवद्भक्त ठाकुर हरिदास को मूर्तिमान् माया देवी ने इसी प्रकार प्रलोभित किया था, परन्तु विशुद्ध कृष्णभक्ति के प्रताप से वे अनायास उस परीक्षा में उत्तीर्ण रहे। श्रीयामुनाचार्य द्वारा रचित पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार, भगवान् के साथ दिव्यानन्द के आस्वादन का रसिक शुद्ध भक्त विषयभोग का सहज ही सम्पूर्ण रूप से परित्याग कर देता है। यही उसकी कृतार्थता का रहस्य है। अतएव जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह बाह्य रूप से इन्द्रियों का कितना भी प्रबल दमन क्यों न करे, अन्त में निश्चित रूप से विफल ही रहेगा, क्योंकि विषय सुख का लेशमात्र चिन्तन भी उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्तेजित कर देगा।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।६३।।

क्रोधात्=क्रोध से; **भवति**=होता है; **संमोहः** पूर्ण मोह; **संमोहात्**=संमोह से; **स्मृतिविभ्रमः** स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है; **स्मृतिभ्रंशात्**=स्मृति के भ्रमित हो जाने से; **बुद्धिनाशः**=बुद्धिनाश; **बुद्धिनाशात्**=बुद्धिनाश से; **प्रणश्यति**=अधःपतन होता है।

अनुवाद

क्रोध से मोह की उत्पत्ति होती है और मोह से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृति-भ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से संसारकूप में फिर से पतन हो जाया करता है।।६३।।

तात्पर्य

कृष्णभावना के विकास से यह ज्ञान होता है कि प्रत्येक वस्तु का भगवत्सेवा में उपयोग किया जा सकता है। जो कृष्णभावना के तत्त्व को नहीं जानते, वे ही बाह्यरूप से प्राकृत वस्तुओं को त्यागने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि मुमुक्षु होने पर भी वे वैराग्य को प्राप्त नहीं कर पाते। दूसरी ओर, कृष्णभावनाभावित वैष्णव प्रत्येक वस्तु को भगवत्सेवा में लगाने में कुशल होता है। इस गुण के कारण ही वह माया के अधीन नहीं होता। उदाहरणार्थ, निर्विशेषवादी की धारणा में निर्विशेष होने से परतत्त्व श्रीभगवान् भोजन नहीं कर सकते। इसलिए, वह स्वादु भोजन को त्यागने का प्रयत्न करता है। इसके विपरीत, भक्त जानता है कि श्रीकृष्ण परम भोक्ता हैं तथा भक्तिभाव से समर्पित नैवेद्य को अवश्य स्वीकार करते हैं। अतः स्वादिष्ट भोजन को भगवान्-निवेदित करके, वह स्वयं भी उनके प्रसाद को ग्रहण करता है। इस प्रकार भक्त के लिए सभी कुछ भक्तिवर्धक बन जाता है, जिससे परमार्थ से गिरने का भय नहीं रहता। भक्तगण कृष्णभावना से भावित होकर प्रसाद खाते हैं, जबकि अभक्त प्राकृत समझ कर उसका तिरस्कार कर देते हैं। कृत्रिम (बाह्य) त्याग करने वाले ऐसे निर्विशेषवादी जीवन के आस्वादन से वंचित ही रह जाते हैं; इस कारण मन की तुच्छ उत्तेजना भी उन्हें फिर संसारकूप में गिरा देती है। कहा जाता है कि मुक्ति के स्तर तक पहुँच जाने पर भी ऐसा जीव फिर गिर जाता है, क्योंकि उसे भक्तियोग का आश्रय नहीं है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

राग=आसक्ति (और); **द्वेष**=द्वेष से; **वियुक्तैः**=मुक्त; **तु**=तो; **विषयान्**=इन्द्रियविषयों को; **इन्द्रियैः**=इन्द्रियों द्वारा; **चरन्**=भोगता हुआ भी; **आत्मवश्यैः**=अपने वश में की हुई; **विधेयात्मा**=संयमी स्वाधीनता वाला; **प्रसादम्**=भगवत्कृपा को; **अधिगच्छति**=प्राप्त करता है।

अनुवाद

जो पुरुष संयम का अभ्यास करता हुआ इन्द्रियों को वश में कर लेता है, वह

पूर्ण भगवत्कृपा को प्राप्त करता है और इस प्रकार सब प्रकार के राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है।।६४।।

तात्पर्य

पूर्व श्लोकों में कहा जा चुका है कि इन्द्रियों को भगवत्सेवा में नियुक्त किये बिना किसी कृत्रिम पद्धति के द्वारा बाह्य रूप से इन्द्रियों का नियन्त्रण कर लेने पर भी पतन की पूर्ण सम्भावना रहती है। दूसरी ओर, पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष बाह्य रूप से चाहे विषयों में ही संलग्न क्यों न दिखे, परन्तु कृष्णभावनाभावित होने से इन क्रियाओं में आसक्त नहीं होता। श्रीकृष्ण का सन्तोष करना कृष्णभावनाभावित पुरुष का अनन्य प्रयोजन है। अतएव वह सब प्रकार की आसक्ति से मुक्त रहता है। श्रीकृष्ण की इच्छा होने पर भक्त ऐसा कर्म करने में भी संकोच नहीं करता, जिसे सामान्यतः अवाञ्छनीय समझा जाता हो और यदि श्रीकृष्ण की इच्छा न हो तो वह उस कर्म को भी नहीं करेगा, जिसे अपने लिए सामान्य रूप से करता हो। इसलिए किसी कर्म को करना या न करना पूर्ण रूप से उसके हाथ में है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार ही कर्म करता है। यह बुद्धियोग श्रीश्यामसुन्दर की अहैतुकी निरवधि अनुकम्पा का मूर्तरूप है, जिसकी प्राप्ति भक्त को इन्द्रियों में आसक्त होते हुए भी हो सकती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

प्रसादे=अहैतुकी भगवत्कृपा की प्राप्ति से; **सर्वदुःखानाम्**=समस्त दुःखों का; **हानिः**=नाश; **अस्य**=उसके; **उपजायते**=हो जाता है; **प्रसन्नचेतसः**=आह्लादित चित्त वाले की; **हि**=निःसन्देह; **आशु**=अति शीघ्र; **बुद्धिः**=बुद्धि; **परि**=पर्याप्त रूप में; **अवतिष्ठते**=स्थिर हो जाती है।

अनुवाद

भगवत्कृपा के द्वारा बुद्धियोग से युक्त पुरुष के तीनों प्रकार के दुःख नष्ट हो जाते हैं। ऐसे प्रसन्नचित्त वाले की बुद्धि भी अतिशीघ्र स्थिर हो जाती है।।६५।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

न अस्ति=नहीं होती; **बुद्धिः**=दिव्य बुद्धि; **अयुक्तस्य**=जो कृष्णभावना से युक्त नहीं है, उसमें; **न**=नहीं; **च**=तथा; **अयुक्तस्य**=कृष्णभावना से शून्य पुरुष में; **भावना**=प्रसन्नचित्त; **न**=नहीं; **च**=तथा; **अभावयतः**=अस्थिर बुद्धिवाले में; **शान्तिः**=शान्ति; **अशान्तस्य**=अशान्त का; **कुतः**=कैसे (होगा); **सुखम्**=सुख।

अनुवाद

जो कृष्णभावना (बुद्धियोग) से युक्त नहीं है, उसका चित्त वश में नहीं होता

और न ही बुद्धि स्थिर रहती है तथा जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसको शान्ति भी नहीं होती। शान्ति के विना सुख तो किस प्रकार से होगा? ।।६६।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित हुए विना शान्ति की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। पाँचवें अध्याय (५.२९) से सिद्ध हुआ है कि यथार्थ शान्ति तभी सुलभ हो सकती है जब यह जान लिया जाय कि श्रीकृष्ण सम्पूर्ण यज्ञ-तप के एकमात्र भोक्ता हैं, सब लोकों के परम ईश्वर हैं और प्राणीमात्र के सुहृद हैं। अतः जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, उसके मन का कोई परम लक्ष्य नहीं हो सकता। मन की चंचलता का एकमात्र कारण परम लक्ष्य का न होना है। श्रीकृष्ण परम भोक्ता, ईश्वर और सबके सुहृद हैं—इस निश्चय से एकाग्र हुए चित्त में शान्ति स्वतः सुलभ हो जाती है। अतएव जो श्रीकृष्ण के सम्बन्ध के विना कार्य करता है, वह जीवन में शान्ति तथा पारमार्थिक उन्नति का कितना भी आडम्बर क्यों न करे, वास्तव में सदा दुःखी तथा अशान्त ही रहेगा। कृष्णभावना स्वयं प्रकट होने वाली वह शान्तिमयी अवस्था है, जिसकी प्राप्ति श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ही हो सकती है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों के; **हि**=ही; **चरताम्**=साथ विचरण करता हुआ; **यत्**=जिस इन्द्रिय के साथ; **मनः**=मन; **अनुविधीयते**= निरन्तर रहता है; **तत्**=वह; **अस्य**=इसकी; **हरति**=हर लेती है; **प्रज्ञाम्**=बुद्धि को; **वायुः**=वायु; **नावम्**=नौका को; **इव**=जैसे (हर लेता है); **अम्भसि**=जल में।

अनुवाद

जिस प्रकार प्रचण्ड वायु जलगामी नौका का अपहरण कर लेती है, उसी भाँति जिस भी इन्द्रिय पर मन केन्द्रित हो, वह एक ही इन्द्रिय मनुष्य की बुद्धि को हर लेती है।।६७।।

तात्पर्य

यह नितान्त आवश्यक है कि सभी इन्द्रियाँ भगवत्सेवा में तत्पर रहें; विषयों में लगी हुई एक इन्द्रिय भी भक्त को परमार्थ-पथ से भ्रष्ट करने के लिए पर्याप्त है। जैसा महाराज अम्बरीष के जीवन-चरित्र से स्पष्ट है, सभी इन्द्रियों को कृष्णभावना के परायण करें; मनोनिग्रह की यथार्थ विधि यही है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६८।।

तस्मात्=इसलिए; **यस्य**=जिसकी; **महाबाहो**=हे महाबाहु; **निगृहीतानि**=वश में की हुई हैं; **सर्वशः**=सब प्रकार से; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **इन्द्रियार्थेभ्यः**=इन्द्रियविषयों से; **तस्य**=उसकी; **प्रज्ञा**=बुद्धि; **प्रतिष्ठिता**=स्थिर है।

अनुवाद

इसलिए हे महाबाहु! जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकार से इन्द्रियविषयों से वश में की हुई हैं, उसी की बुद्धि निःसन्देह स्थिर है।।६८।।

तात्पर्य

जिस प्रकार श्रेष्ठ बल के द्वारा शत्रुमर्दन किया जाता है, वैसे ही इन्द्रियों का संयम मानवी चेष्टा से नहीं, अपितु उन्हें भगवत्सेवा में नियोजित करने से किया जा सकता है। जो व्यक्ति यह हृदयंगम कर लेता है कि कृष्णभावना के द्वारा ही बुद्धि स्थिर होती है, जिसके लिए प्रामाणिक गुरु के आदेशानुसार इस कला का अभ्यास करना चाहिए, वह साधक अथवा मोक्ष का अधिकारी कहलाता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

या=जो; **निशा**=रात्रि है; **सर्व**=सब; **भूतानाम्**=जीवों की; **तस्याम्**=उसमें; **जागर्ति**=जागता रहता है; **संयमी**=आत्मसंयमी पुरुष; **यस्याम्**=जिसमें, **जाग्रति**=जागते हैं; **भूतानि**=सब प्राणी; **सा**=वह; **निशा**=रात्रि है; **पश्यतः**=तत्त्व को जानने वाले; **मुनेः**=मुनि के लिए।

अनुवाद

जो सब जीवों की रात्रि है, उसमें आत्मसंयमी जागता है और सब प्राणी जिसमें जागते हैं, तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि है।।६९।।

तात्पर्य

बुद्धिमान् मनुष्यों की दो कोटियाँ हैं। एक प्रकार के मनुष्य तो इन्द्रियतृप्ति के लिए लौकिक कर्म करने में निपुण होते हैं, जबकि दूसरे आत्मद्रष्टा पुरुष स्वरूप-साक्षात्कार के सेवन में जागृत रहते हैं। अन्तर्द्रष्टा मुनि अथवा मनीषीजनों की क्रियायें विषयियों के लिए रजनी के समान हैं। स्वरूप-साक्षात्कार के सम्बन्ध में अज्ञानी होने के कारण विषयी ऐसी रात्रि में निद्रामग्न रहते हैं। इसके विपरीत, तत्त्वद्रष्टा मुनि विषयी मनुष्यों की रात्रि में जागता है। वह मुनि परमार्थ-विद्या के शनैः-शनैः विकास में लोकोत्तर दिव्य रसास्वादन करता है, जबकि स्वरूप-साक्षात्कार के प्रति निद्रामग्न विषयी नाना प्रकार के इन्द्रियजनित सुखों की मनोकल्पना करता हुआ अपनी सुप्तावस्था में ही कभी सुख और कभी दुःख का अनुभव करता रहता है। मनीषी अन्तर्द्रष्टा इस प्राकृत दुःख-सुख से सदा उदासीन रह कर सांसारिक प्रतिक्रिया से विचलित हुए बिना निरन्तर स्वरूप-साक्षात्कार के साधनों में लगा रहता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

आपूर्यमाणाम्=नित्य परिपूर्ण, **अचलप्रतिष्ठम्**=अचल प्रतिष्ठा वाले; **समुद्रम्**=सागर में, **आपः**=जल; **प्रविशन्ति**=समा जाता है; **यद्वत**=जिस प्रकार; **तद्वत्**=उसी भाँति; **कामाः**=कामनायें; **यम्**=जिसमें; **प्रविशन्ति**=समा जाती है; **सर्वे**=सदा; **सः**=वह; **शान्तिम्**=शान्ति; **आप्नोति**=प्राप्त करता है; **न**=नहीं; **कामकामी**=भोग चाहने वाला।

अनुवाद

जिस प्रकार नदियों के जल से नित्य भरते रहने पर भी समुद्र अचल रहता है, उसी भाँति जो कामनाओं के अविच्छिन्न प्रवाह से विचलित नहीं होता वही पुरुष शान्ति पा सकता है, कामनाओं की पूर्ति के लिये चेष्टा करने वाला नहीं।।७०।।

तात्पर्य

जल से सदा भरा होने पर भी विशाल सागर नित्य-निरन्तर (विशेषतः वर्षा ऋतु में) अधिकाधिक जल से संकुलित होता रहता है। तथापि उसकी अचल प्रतिष्ठा भंग नहीं होती, वह तट का उल्लंघन नहीं करता। कृष्णभावनाभावित भक्त के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। जब तक प्राकृत देह विद्यमान है, तब तक इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर की माँग बनी रहेगी। परन्तु भक्त ऐसे मनोरथों से अशान्त नहीं होता, क्योंकि वह कृतार्थ है। कृष्णभावनाभावित पुरुष को किसी भी वस्तु का अभाव नहीं रहता, श्रीकृष्ण स्वयं उसके योगक्षेम का वहन करते हैं अर्थात् उसकी लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते है। इसलिए भक्त का स्वरूप उस सागर के सदृश है, जो सदा अपने मे ही पूर्ण रहता है। सागर मे सरिताजल के प्रवाह के समान उसे विषयों की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु वह भक्तिरूप स्वधर्म में निष्ठ रहता है, इन्द्रियतृप्ति-विषयक मनोरथों से बिल्कुल भी अशान्त नहीं होता। यह कृष्णभक्त की कसौटी है—कामना के होते हुए भी वह इन्द्रियतृप्ति में कभी प्रवृत्त नहीं होता। वह भक्तियोग से पूर्ण सन्तोष प्राप्त कर लेता है, इसलिए सागर के समान अचल रहकर पूर्ण शान्ति का आस्वादन कर सकता है। दूसरी ओर, लौकिक कार्यो के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, जो मनुष्य मोक्ष-साधन तक इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से करते हैं, वे कभी शान्ति-लाभ नहीं कर सकते। कर्मी, मुमुक्षु, सिद्धिकामी योगी, आदि सभी अपूर्ण कामनाओं के कारण सदा अशान्त रहते हैं। परन्तु कृष्णभक्त श्रीकृष्ण की अनन्य सेवा में प्रसन्न रहता है, उसकी कोई अन्य कामना नहीं होती। वह तो भवबन्धन से मोक्ष भी नहीं चाहता। अस्तु, सब प्रकार की विषयवासना से सर्वथा मुक्त होने के कारण कृष्णभक्त ही पूर्ण शान्त हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

विहाय=त्यागकर; **कामान्**=इन्द्रियतृप्ति की सम्पूर्ण कामना को; **यः**=जो; **सर्वान्**=सब; **पुमान्**=पुरुष; **चरति**=जीवन-यापन करता है; **निःस्पृहः**=इच्छाशून्य; **निर्ममः**=ममता से रहित; **निरहंकारः**=मिथ्या अहंकार से मुक्त, **सः**=वह; **शान्तिम्**=पूर्ण शान्ति को; **अधिगच्छति**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

जिसने इन्द्रियतृप्ति की वासना को सम्पूर्ण रूप से त्याग दिया है, जो सब प्रकार की इच्छा और ममता से मुक्त है तथा मिथ्या अहंकार को त्याग चुका है, वही पुरुष सच्ची शान्ति को पाता है।।७१।।

तात्पर्य

निःस्पृह होने का अर्थ इन्द्रियतृप्ति की इच्छा न करना है। भाव यह है कि कृष्णभावनाभावित होने की इच्छा वास्तव में इच्छाशून्यता ही है। देह में मिथ्या अहंभाव और संसार की किसी भी वस्तु में कल्पित स्वामित्व न रखते हुए श्रीकृष्ण के नित्य दास के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप को जान लेना कृष्णभावना की सिद्ध अवस्था है। इस संसिद्धि में स्थित भक्त जानता है कि सम्पूर्ण सम्पत्ति के एकमात्र स्वामी श्रीकृष्ण हैं, अतः प्रत्येक वस्तु का उपयोग उनकी प्रीति के लिए ही होना चाहिये। अर्जुन प्रारंभ में निजेन्द्रिय सुख के लिये युद्ध नहीं करना चाहता है। परन्तु पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाने पर उसने युद्ध किया, क्योंकि श्रीकृष्ण को यही इष्ट था। स्वयं अपने लिए अर्जुन को युद्ध की कुछ भी इच्छा नहीं थी, किन्तु श्रीकृष्ण के सन्तोष के लिए उसी अर्जुन ने पूर्ण पराक्रम से युद्ध किया। श्रीकृष्ण के परितोषण की स्पृहा वस्तुतः निस्पृहा ही है। यह इच्छानाश का कृत्रिम प्रयास नहीं है। जीवात्मा इच्छाशून्य अथवा इन्द्रियशून्य नहीं हो सकता, उसे केवल इच्छा का स्वरूप बदलना है। वितृष्ण पुरुष निश्चित रूप से जानता है कि सब कुछ श्रीकृष्ण का है (**ईशावास्यमिदं सर्वं**), अतएव किसी भी वस्तु पर वह अपना मिथ्या अधिकार घोषित नहीं करता। यह ज्ञान स्वरूप-साक्षात्कार की इस पूर्ण अनुभूति पर आधारित है कि प्रत्येक जीव श्रीकृष्ण का नित्य भिन्न-अंश है, अतः उसकी शाश्वत् स्थिति श्रीकृष्ण के समान अथवा उनसे अधिक कभी नहीं हो सकती। कृष्णभावनामृत का यह ज्ञान यथार्थ शान्ति का प्रधान आधार है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

एषा=यह; **ब्राह्मी**=दिव्य; **स्थितिः**=अवस्था है; **पार्थ**=हे अर्जुन; **न**=नहीं; **एनाम्**=इसको; **प्राप्य**=प्राप्त हो कर; **विमुह्यति**=मोहित होता है; **स्थित्वा**=स्थित होकर; **अस्याम्**=इस अवस्था में; **अन्तकाले**=मृत्यु समय; **अपि**=भी; **ब्रह्मनिर्वाणम्**=चिन्मय भगवद्धाम को; **ऋच्छति**=प्राप्त करता है।

अनुवाद

यह दिव्य भगवत्परायण जीवन का पथ है, जिसको प्राप्त होकर फिर मोहित नहीं होता। अन्तकाल में भी इस प्रकार स्थित पुरुष भगवद्धाम को प्राप्त हो जाता है।।७२।।

तात्पर्य

कृष्णभावना, अर्थात् भगवत्परायण जीवन की प्राप्ति होने को क्षणभर में हो

सकती है और न होने को कोटि-कोटि जन्मों तक भी न हो। यह केवल इस सत्य को समझने और अंगीकार करने पर निर्भर करता है। खट्वांग महाराज ने देहान्त के कुछ क्षण पूर्व श्रीकृष्ण के शरणागत होकर इस कृतार्थ अवस्था को प्राप्त कर लिया था। 'निर्वाण' का अर्थ है विषयपरायण-जीवन की समाप्ति। बौद्ध दर्शन के अनुसार, इस प्राकृत जीवन के अन्त में केवल शून्य शेष रह जाता है; पर भगवद्गीता की शिक्षा इससे भिन्न है। यथार्थ जीवन का तो प्रारम्भ ही इस प्राकृत जीवन का अन्त हो जाने पर होता है। घोर विषयियों के लिए इतना जानना भी पर्याप्त होगा कि इस प्राकृत जीवन का अन्त निश्चित है। परन्तु भक्त महानुभावों के लिए इस प्राकृत-जीवन के पश्चात् एक चिन्मय जीवन भी है। इस जीवन का अन्त होने से पूर्व यदि कोई सौभाग्यवश कृष्णभावनाभावित हो जाय, तो उसे तत्क्षण **ब्रह्मनिर्वाण** पद प्राप्त हो जाता है। भगवद्धाम तथा भक्ति में कुछ भी भेद नहीं है। अतएव भगवद्भक्ति में तत्पर होना भगवद्धाम में प्रवेश करने जैसा है। प्राकृत-जगत् में इन्द्रियतृप्ति विषयक क्रियायें घटती हैं, जबकि वैकुण्ठ-जगत् में केवल कृष्णभावनाभावित कर्म होते हैं। जो इसी जीवन में कृष्णभावनाभावित हो जाता है वह तत्काल ब्रह्मभूत स्तर पर पहुँच जाता है। इतना ही नहीं, कृष्णभावनाभावित पुरुष तो वास्तव में देहान्त से पूर्व ही भगवद्धाम में प्रविष्ट हो चुका है।

ब्रह्मतत्त्व प्रकृति के ठीक विपरीत है। अतः **ब्राह्मी स्थितिः** का अर्थ है 'प्राकृत क्रियाओं के स्तर से अतीत अवस्था।' भगवद्गीता में भगवद्भक्ति को ही मुक्तावस्था माना गया है। अतः भवबन्धन से मुक्ति का नाम **ब्राह्मी स्थिति** है।

श्री भक्तिविनोद ठाकुर के अनुसार भगवद्गीता का यह द्वितीय अध्याय सम्पूर्ण ग्रन्थ के प्रतिपाद्य-तत्त्व का सारांश है। भगवद्गीता के प्रतिपाद्य हैं 'कर्मयोग', 'ज्ञानयोग' तथा 'भक्तियोग'। द्वितीय अध्याय में सम्पूर्ण ग्रन्थ की अन्तर्वस्तु के रूप में 'कर्मयोग' तथा 'ज्ञानयोग' का विशद निरूपण है एवं भक्तियोग की अवतरणिका भी विज्ञापित है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ।।

अथ तृतीयोऽध्याय:

कर्मयोग

(भगवत्परायण कर्म)

अर्जुन उवाच।
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **ज्यायसी**=उत्तम; **चेत्**=यदि; **कर्मणः**=सकाम कर्म से; **ते**=आपका; **मता**=मत; **बुद्धिः**=बुद्धि; **जनार्दन**=हे कृष्ण; **तत्**=फिर; **किम्**=क्यों; **कर्मणि**=कर्म में; **घोरे**=जघन्य; **माम्**=मुझे; **नियोजयसि**=लगाते हैं; **केशव**=हे कृष्ण।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे जनार्दन! यदि आप सकाम कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग को श्रेष्ठ समझते हैं, तो फिर हे केशव! मुझे इस घोर युद्ध में बलपूर्वक क्यों लगा रहे हैं?।।१।।

तात्पर्य

अपने अन्तरंग सखा अर्जुन को शोक-सागर से मुक्त करने के उद्देश्य से भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय में जीव के स्वरूप का विशद प्रतिपादन किया है। इसी सन्दर्भ में 'बुद्धियोग' अथवा कृष्णभावनामृत को स्वरूप-साक्षात्कार का मार्ग कहा

गया है। कभी-कभी भ्रमवश कृष्णभावनामृत को जड़ता समझ लिया जाता है। इस भ्रान्त धारणा वाला पुरुष तो प्रायः कृष्णनाम-कीर्तन के द्वारा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने के लिए एकान्तवास भी करने लगता है। परन्तु कृष्णभावना के दर्शन में भलीभाँति शिक्षित हुए विना एकान्त में भगवन्नाम-जप करना उचित नहीं है। ऐसा करने से अवोध जनता की तुच्छ अर्चना ही मिलेगी। अर्जुन भी कृष्णभावनामृत अथवा 'वुद्धियोग' का तात्पर्य यही समझा कि क्रियाशील जीवन से संन्यास ग्रहण कर एकान्त में तप-त्याग करना चाहिए। वस्तुतः कृष्णभावनामृत को हेतु वनाकर वह चतुरतापूर्वक युद्ध से उपरत हो जाना चाहता था। तथापि, निष्कपट शिष्य के रूप में उसने इस विषय को अपने गुरु श्रीकृष्ण के आगे रख दिया और अपने श्रेय-साधन के सम्वन्ध में उनसे जिज्ञासा की। उत्तरस्वरूप, भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में 'कर्मयोग' अर्थात् कृष्णभावनाभावित कर्म की विस्तृत व्याख्या की है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

व्यामिश्रेण=अनिश्चित (दुविधापूर्ण); **इव**=से; **वाक्येन**=वचनों से; **बुद्धिम्**=वुद्धि को; **मोहयसि इव**=मोहित सी करते हैं; **मे**=मेरी; **तत्**=अतः (वह); **एकम्**=एक; **वद**=कहिये; **निश्चित्य**=निश्चय करके; **येन**=जिसके द्वारा; **श्रेयः**=यथार्थ लाभ को; **अहम्**=मैं; **आप्नुयाम्**=होऊँ।

अनुवाद

आपके अनिश्चित (दुविधापूर्ण) उपदेश से मेरी वुद्धि मोहित सी हो रही है। अतएव निश्चयपूर्वक वह एक साधन कहिये, जिससे मेरा कल्याण हो सके।।२।।

तात्पर्य

पूर्ववर्ती अध्याय में भगवद्गीता के उपक्रम के रूप में सांख्ययोग, वुद्धियोग, इन्द्रियनिग्रह, निष्काम कर्मयोग, साधक की स्थिति आदि का वर्णन आया है। परन्तु इन सव तत्त्वों का विवेचन व्यवस्थित रूप में नहीं किया गया। कल्याण-मार्ग के ज्ञान और उसके अनुसार कर्म करने के लिए अधिक सुनियोजित दिग्दर्शन अपेक्षित है। अतएव अर्जुन इन परस्पर सम्भ्रामक लगते तत्त्वों का स्पष्टीकरण चाहता है, जिससे साधारण मनुष्य भी उन्हें यथार्थ रूप में ग्रहण कर सकें। यद्यपि श्रीकृष्ण का ऐसा कोई प्रयोजन नहीं था कि वे अर्जुन को वाग्चातुरी से मोहित करते, परन्तु अर्जुन यह नहीं समझ सका कि कृष्णभावना की पद्धति वास्तव में क्या है—जड़ता (निष्क्रियता) अथवा सक्रिय भगवत्सेवा। इस प्रकार अपनी जिज्ञासा के माध्यम से अर्जुन उन सव जिज्ञासुओं के लिए कृष्णभावनामृत का पथ प्रशस्त कर रहा है, जो यथार्थ रूप में भगवद्गीता के रहस्य को धारण करने के अभिलाषी हैं।

श्रीभगवानुवाच।
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

श्रीभगवान् उवाच=भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा; **लोके**=लोक में; **अस्मिन्**=इस; **द्विविधा**=दो प्रकार की; **निष्ठा**==निष्ठा; **पुरा**=पूर्व में; **प्रोक्ता**=कही गयी हैं; **मया**=मेरे द्वारा; **अनघ**=हे निष्पाप; **ज्ञानयोगेन**=ज्ञानयोग से; **सांख्यानाम्**=सांख्य-वादियों की; **कर्मयोगेन**=भक्तियोग से; **योगिनाम्**=भक्तों की।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे निष्पाप अर्जुन! मैं पहले कह चुका हूँ कि स्वरूप-साक्षात्कार करने वाले पुरुष दो प्रकार के होते हैं। उनमें से कुछ तो श्रीभगवान् को जानने के लिए सांख्ययोग में प्रवृत्त रहते हैं, जबकि दूसरे भक्तियोग से उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं।।३।।

तात्पर्य

द्वितीय अध्याय के उनतालिसवें श्लोक में श्रीभगवान् ने 'सांख्ययोग' तथा 'कर्मयोग' अथवा 'बुद्धियोग'—इन दोनों पद्धतियों का उल्लेख किया है। इस श्लोक में वे उसी का अधिक विशद वर्णन कर रहे हैं। मनोधर्म तथा अनुभवसिद्ध ज्ञान-दर्शन में प्रवृत्त हुए व्यक्तियों के लिए सांख्ययोग उपयुक्त है। दूसरे प्रकार के मनुष्य कृष्णभावनाभावित कर्म करते हैं, जैसा द्वितीय अध्याय के इकसठवें श्लोक में कहा है। उनतालिसवें श्लोक में श्रीभगवान् ने यह भी कहा है कि 'बुद्धियोग' अथवा कृष्णभावना के अनुसार कर्म करने से कर्मबन्धन से मुक्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, इस पद्धति में कोई प्रत्यवाय रूप दोष भी नहीं होता। ६१ वें श्लोक में इसी सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है—बुद्धियोग का अर्थ परब्रह्म श्रीकृष्ण की पूर्ण आश्रयता ग्रहण करना है। इस विधि से अनायास ही इन्द्रियदमन भी हो जाता है। अतः धर्म तथा दर्शन के रूप में दोनों योग अन्योन्याश्रित हैं। दर्शन-विहीन धर्म भावुकतामात्र है, जो कदाचित् धर्मान्धता में भी परिणत हो जाता है। दूसरी ओर, जो दर्शन धर्म से युक्त न हो, वह वस्तुतः मनोधर्म है। श्रीकृष्ण सभी के ऐकान्तिक लक्ष्य हैं, क्योंकि जो परतत्त्व के यथार्थ जिज्ञासु हैं वे सब दार्शनिक अन्त में कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं। भगवद्गीता में यह भी प्रतिपादित है। परमात्मा के सम्बन्ध में अपने यथार्थ स्वरूप को जान लेना इस सम्पूर्ण पद्धति का सार है। मनोधर्म का मार्ग सीधा नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा कृष्णभावनामृत की प्राप्ति शनैः-शनैः ही हो सकती है। परन्तु कृष्णभावना के द्वारा श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध हो जाता है। प्रत्यक्ष रूप से कृष्णभावना का मार्ग अधिक उत्तम है क्योंकि वह किसी दार्शनिक पद्धति के द्वारा इन्द्रिय-शुद्धि करने पर निर्भर नहीं करता। कृष्णभावनामृत का पथ स्वयं शुद्धिकारक है तथा भगवद्भक्ति की सीधी पद्धति से युक्त होने के कारण से सुगम भी है और उदात्त भी।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

न=न; **कर्मणाम्**=स्वधर्म के; **अनारम्भात्**=न करने से; **नैष्कर्म्यम्**=कर्म-वन्धन से मुक्ति को; **पुरुषः**=मनुष्य; **अश्नुते**=प्राप्त होता है; **न**=न; **च**=तथा; **सन्यसनात्**=संन्यास द्वारा; **एव**=ही; **सिद्धिम्**=कृतार्थता को; **समधिगच्छति**=प्राप्त होता।

अनुवाद

केवल कर्म न करने से ही कर्मवन्धन से मुक्ति नहीं हो जाती और न ही केवल संन्यास से कृतार्थता होती है।।४।।

तात्पर्य

विषयी मनुष्यों के हृदय को शुद्ध करने के लिए जिन स्वधर्मरूप कर्मों का विधान किया गया है, उनके द्वारा शुद्ध हुआ मनुष्य ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे। शुद्धिकरण के बिना अकस्मात् संन्यासाश्रम ग्रहण कर लेने से कल्याण नहीं होता। ज्ञानी दार्शनिकों के अनुसार संन्यास ग्रहण करने, अर्थात् सकाम कर्मों का निवर्तन कर देने मात्र से नारायणत्व की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण इस मत का अनुमोदन नहीं करते। हृदय-शुद्धि से पूर्व लिया गया संन्यास सामाजिक व्यवस्था में उत्पातकारी ही सिद्ध होता है। दूसरी ओर, यदि कोई स्वधर्म की उपेक्षापूर्वक भगवद्भक्ति में तत्पर हो जाय तो उस दिशा में वह जो कुछ भी साधन (बुद्धियोग) करता है, प्रभु उसे सोल्लास स्वीकार कर लेते हैं। **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**— 'इस धर्म का अल्प सा साधन भी महान् भय से रक्षा कर लेता है।'

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

न=नहीं; **हि**=निस्सन्देह; **कश्चित्**=कोई भी; **क्षणम्**=क्षणमात्र; **अपि**=भी; **जातु**=किसी काल में; **तिष्ठति**=रहता है; **अकर्मकृत्**=बिना कर्म किए; **कार्यते**=करता है; हि=निस्सन्देह; **अवशः**=विवश हुआ; **कर्म**=कर्म; **सर्वः**=सब; **प्रकृतिजैः**=प्रकृति से उत्पन्न; **गुणैः**=गुणों द्वारा।

अनुवाद

सब मनुष्य प्रकृति के गुणों की प्रेरणा के अनुसार परवश हुए कर्म करते हैं। इसलिए कोई भी क्षणमात्र के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता।।५।।

तात्पर्य

आत्मा की सक्रियता का वद्ध जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो स्वभाव से ही नित्य क्रियाशील है। आत्मा की उपस्थिति के बिना प्राकृत कलेवर कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकता। देह तो एक चेतनाशून्य वाहनमात्र है, जिसे नित्य क्रियाशील आत्मा क्रियान्वित रखता है। अतएव आत्मा के लिए कृष्णभावनाभावित सत्कर्मों के परायण

होना आवश्यक है, अन्यथा वह माया द्वारा निर्दिष्ट कार्यों में व्यस्त हो जायगा। माया के संसर्गवश दिव्य होने पर भी आत्मा प्राकृत गुणों को ग्रहण कर लेता है। इस दुःसंग के दुष्प्रभाव से आत्मा को शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शास्त्र-विहित स्वधर्म का आचरण किया जाय। परन्तु यदि आत्मा अपने स्वरूपभूत कर्म—कृष्णभावना में ही तत्पर है, तो वह जो कुछ भी करता है, वह उसके कल्याण के लिए पर्याप्त है। श्रीमद्भागवत से सिद्ध है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभुदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।

'कृष्णभावना को अंगीकार करके जो मनुष्य शास्त्र के अनुसार स्वधर्म-पालन तो नहीं करता; परन्तु साथ में, भक्तियोग का भी भलीभाँति सम्पादन नहीं कर पाता, वह यदि पतित भी हो जाय, तो भी उसकी हानि नहीं होगी। इसके विपरीत यदि आत्मशुद्धि के लिए शास्त्रीय-विधान का पालन किया जाय, तो भी कृष्णभावना के अभाव में उस सबसे क्या लाभ?' (श्रीमद्भागवत १.५.१७)

अतएव शुद्धि कर्मों की सार्थकता इसी में है कि कृष्णभावना की प्राप्ति हो जाय। इस प्रकार सिद्ध होता है कि संन्यास आदि सब शुद्धि की पद्धतियों का चरम लक्ष्य कृष्णभावनाभावित होने में सहायता प्रदान करना है, जिसके बिना सम्पूर्ण उद्यम विफल हो जाते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

कर्मेन्द्रियाणि=पाँच कर्मेन्द्रियों का; **संयम्य**=दमन करके; **यः**=जो; **आस्ते**=रहता है; **मनसा**=मन से; **स्मरन्**=चिन्तन करता; **इन्द्रियार्थान्**=इन्द्रियों के विषयों को; **विमूढ**=मूर्ख; **आत्मा**=पुरुष; **मिथ्याचारः**=दम्भी; **सः**=वह; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों का हठ से दमन करके मन से इन्द्रिय-विषयों का चिन्तन करता है, वह निस्सन्देह अपने को भ्रम में डालता है और मिथ्याचारी कहलाता है।।६।।

तात्पर्य

ऐसे अनेक कपटी हैं, जो कृष्णभावनाभावित कर्म नहीं करते, वरन् ध्यान का पाखण्ड करते हुए चित्त द्वारा विषय-चिन्तन में ही तन्मय रहते हैं। भ्रान्त अनुयायियों को छलने के लिए वे नीरस दर्शन पर भी प्रवचन किया करते हैं। परन्तु इस श्लोक के अनुसार इन्हें परम धूर्त ही जानना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए समाज में कोई भी कपट-रूप धारण कर लेना बड़ा सरल है; परन्तु यदि स्वधर्म का पालन किया जाय, तो क्रमशः आत्मशुद्धि हो सकती है। इसके विपरीत, अपने को 'योगी' बताते हुए भी जो इन्द्रियतृप्ति-दायक भोगों का अन्वेषण किया करता है वह चाहे

कभी-कभी दर्शन पर प्रवचन भी क्यों न करे, उसे परम धूर्त ही जानना चाहिए। उसके मिथ्या ज्ञान का कुछ भी मूल्य नहीं; श्रीभगवान् की मायाशक्ति ऐसे पापाचारी के ज्ञान की सम्पूर्ण गरिमा को हर लेती है। मिथ्याचारी का चित्त नित्य मलिन रहता है। अतएव उसका यौगिक-ध्यान का ढोंग कुछ भी महत्त्व नहीं रखता।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

यः=जो; **तु**=परन्तु; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियों को; **मनसा**=मनद्वारा; **नियम्य**=वश में करके; **आरभते**=आरम्भ करता है; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **कर्मेन्द्रियैः**=कर्मेन्द्रियों से; **कर्मयोगम्**=भक्तियोग; **असक्तः**=अनासक्त; **सः**=वह; **विशिष्यते**=अति श्रेष्ठ है।

अनुवाद

दूसरी ओर, जो मनुष्य मन द्वारा इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा भक्तिभावित कर्म करता है, वह अति श्रेष्ठ है।।७।।

तात्पर्य

लम्पट जीवन और इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से ध्यानयोगी का मिथ्या वेष धारण करने के स्थान पर स्वधर्म का पालन करते हुए जीवन के लक्ष्य—भवबन्धन से छूट कर भगवद्धाम को प्राप्त करने के लिए साधन करना कहीं उत्तम है। श्रीविष्णु की प्राप्ति ही परम स्वार्थ-गति है। सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म का उद्देश्य जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति में हमें सहायता प्रदान करना है। कृष्णभावनाभावित नियमित सेवा करने से गृहस्थी भी इस गति को प्राप्त हो सकता है। स्वरूप-साक्षात्कार के लिए शास्त्र के अनुसार संयमित जीवन यापन करते हुए अनासक्त भाव से स्वधर्माचरण करने पर परमार्थ सुलभ हो जाता है। अतएव जो पुरुष निष्कपट भाव से इस विधि का अनुगमन करता है, वह उस मिथ्याचारी से अति श्रेष्ठ है जो अबोध जनता को ठगने के उद्देश्य से कृत्रिम आध्यात्मिकता धारण किए रहता है। जीविका के लिए ध्यान लगाने वाले प्रवंचक ध्यानी से तो निश्छल झाड़ू लगाने वाला भी अच्छा है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

नियतम्=शास्त्र द्वारा नियत; **कुरु**=कर; **कर्म**=स्वधर्म रूप कर्तव्य को; **त्वम्**=तू; **कर्म**=कर्म करना; **ज्यायः**=श्रेष्ठ है; **हि**=निःसन्देह; **अकर्मणः**=कर्म न करने से; **शरीर**=शारीरिक; **यात्रा**=निर्वाह; **अपि**=भी; **च**=तथा; **ते**=तेरा; **न**=नहीं; **प्रसिद्ध्येत्**=सिद्ध होगा; **अकर्मणः**=कर्म न करने से।

अनुवाद

इसलिए तू स्वधर्म रूप कर्म को कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।।८।।

तात्पर्य

ऐसे अनेक कपट-ध्यानी और व्यावसायिक मनुष्य हैं, जो मिथ्या रूप से अपने को उच्चकुलीन तथा परमार्थ के लिए पूर्ण त्याग करने वाला बताते हैं। श्रीकृष्ण की इच्छा है कि मिथ्याचार करने की अपेक्षा अर्जुन क्षत्रियोचित स्वधर्म का ही अनुशीलन (सेवन) करे। अर्जुन गृहस्थ एवं सेनापति है। अतः उसके लिए यथास्थिति बने रहकर गृहस्थ क्षत्रिय के स्वधर्म का अनुसरण करना अधिक श्रेयस्कर होगा। स्वधर्म का आचरण विषयी मनुष्य के हृदय का शनैः-शनैः परिष्कार करके उसे दोषों से मुक्त कर देता है। जीविका-अर्जन के लिए किए गए तथाकथित त्याग का अनुमोदन श्रीभगवान् अथवा किसी धर्मशास्त्र ने भी नहीं किया है। देह-धारण के लिए कुछ न कुछ कर्म करना अनिवार्य है। अतः हृदय के विषय वासना से शुद्ध हुए बिना कर्म का स्वेच्छापूर्वक त्याग कर देना उचित नहीं। जगत् में प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति पर प्रभुत्व करने की अर्थात् इन्द्रियतृप्ति की मलिन प्रवृत्ति से दूषित रहता है। इस प्रकार की दूषित प्रवृत्तियों को दूर करना होगा। स्वधर्म के पालन द्वारा ऐसा किये बिना उस कपट-योगी का रूप कभी न धारण करे, जो कर्म को त्याग कर दूसरों पर भार बन कर रहता है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।९।।

यज्ञार्थात्=यज्ञ (विष्णु) के लिए किये जाने वाले; **कर्मणः**=कर्म के अतिरिक्त; **अन्यत्र**=अन्य कर्म; **लोकः**=संसार में; **अयम्**=इस; **कर्मबन्धनः**=कर्मबन्धन होता है; **तत् अर्थम्**=उनके लिए; **कर्म**=कर्म को; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **मुक्तसंगः**=अनासक्त भाव से; **समाचर**=भलीभाँति कर।

अनुवाद

श्रीविष्णु के लिए यज्ञरूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा कर्म से इस प्राकृत-जगत् में बन्धन होता है। इसलिए हे अर्जुन! श्रीविष्णु की प्रसन्नता के लिए कर्म का आचरण कर। इस प्रकार करने से तू नित्य अनासक्त तथा बन्धनमुक्त रहेगा।।९।।

तात्पर्य

केवल शरीर धारण करने के लिए भी कर्म की आवश्यकता को देखते हुए विभिन्न वर्णाश्रमों के लिए स्वधर्मरूप कर्म का विधान किया गया है जिससे उस प्रयोजन की पूर्ति हो सके। **यज्ञ** शब्द भगवान् विष्णु का भी वाचक है। सब यज्ञों का लक्ष्य श्रीविष्णु को प्रसन्न करना है। वेद की वाणी—**यज्ञो वै विष्णुः**, अर्थात् यज्ञ एवं विष्णुभक्ति का लक्ष्य एक ही है। अतएव इस श्लोक से सिद्ध होता है कि कृष्णभावनामृत यज्ञ है। श्रीविष्णु की प्रसन्नता के लिए वर्णाश्रम धर्म का भी यही लक्ष्य है। **वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् विष्णुराराध्यते।** (विष्णु पुराण ३.८.८) अतएव श्रीविष्णु के सन्तोष के लिए कर्म करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, अन्य

सब कर्म बन्धनकारक सिद्ध होंगे, क्योंकि शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों का अपना-अपना फल होता है, जो कर्ता के लिए बन्धनकारी है। अतः श्रीकृष्ण (विष्णु) की प्रीति के लिए कृष्णभावनाभावित कर्म ही करे। इस कोटि के कर्म करने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है। यही महान् कर्म-कौशल है। प्रारम्भिक अवस्था में इस पद्धति के लिए अतिशय कुशल परामर्श अपेक्षित रहता है। इसलिए कृष्णभक्त अथवा जिनके आश्रय में अर्जुन को कर्म करने का सुअवसर प्राप्त हुआ—उन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश के अनुसार सोत्साह कर्म करे। इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई भी क्रिया न करे, सब कर्म श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ ही हों। इस अभ्यास के द्वारा कर्मबन्धन से मुक्ति ही नहीं होगी; वरन् उस भगवद्भक्ति की प्राप्ति भी होगी, जो भगवद्धाम में प्रवेश करने का ऐकान्तिक पथ है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

सहयज्ञाः=यज्ञसहित; **प्रजाः**=प्रजा को; **सृष्ट्वा**=रचकर; **पुरा**=प्राचीन काल में; **उवाच**=कहा; **प्रजापतिः**=प्राणियों के स्वामी ने; **अनेन**=इससे; **प्रसविष्यध्वम्**=समृद्धि प्राप्त करो; **एषः**=यह यज्ञ; **वः**=तुम्हें; **अस्तु**=हो; **इष्ट**=वाञ्छित; **कामधुक्**=कामनाओं को देने वाला।

अनुवाद

सृष्टि के आदि में प्रजापति ने श्रीविष्णु के लिए लक्ष्य वाले यज्ञ के साथ मनुष्यों और देवताओं को रचकर उन्हें यह आशीर्वाद दिया, 'इस यज्ञ द्वारा सुखोपभोग करो; इसके करने से तुम्हें सब वाँछित पदार्थों की प्राप्ति होगी'।।१०।।

तात्पर्य

प्रजापति (विष्णु) ने इस प्राकृत सृष्टि की रचना करके बद्धजीवों को अपने यथार्थ घर—भगवद्धाम को लौटने का सुअवसर प्रदान किया है। भगवान् श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भुला देने के कारण जगत् के सब जीव माया में बँधे हुए हैं। इस शाश्वत् सम्बन्ध को जानने में हमारी सहायता करना वेदों का लक्ष्य है। जैसा गीता में कहा है, **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**। भगवान् की श्रीमुख वाणी है कि उन्हें जानना ही वेदों का लक्ष्य है। वैदिक मन्त्रों में कहा गया है कि **पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्**। अस्तु, भगवान् श्रीविष्णु प्रजापति हैं। श्रीमद्भागवत (२.४.२०) में भी श्रीशुकदेव गोस्वामी ने उन्हें नाना रूपों में 'पति' अर्थात् स्वामी कहा है—

श्रियःपतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चांधकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः।।

भगवान् विष्णु प्रजापति हैं; वे ही सब जीवों, सब लोकों तथा श्री के पति एवं सर्व-संरक्षक हैं। उन्होंने इस प्राकृत-जगत् की रचना इसलिए की है जिससे बद्धजीवों को उन की प्रीति के लिए यज्ञ करने की शिक्षा मिल जाय। इससे वे संसार में

त्रितापदग्ध हुए बिना सुखपूर्वक रह सकेंगे और देहान्त हो जाने पर भगवद्धाम में प्रविष्ट हो जायेंगे। यह मायाबद्ध जीव के लिए भगवान् की पूरी योजना है। यज्ञ के द्वारा बद्धजीव उत्तरोत्तर कृष्णभावनाभावित होकर सब प्रकार से देवोपम बन जाते हैं। वर्तमान कलियुग के युगधर्म के रूप में वेदों में 'संकीर्तन यज्ञ' का विधान है। अतएव इस युग के सब जीवों का उद्धार करने हेतु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस अलौकिक पद्धति का प्रवर्तन किया। वस्तुतः संकीर्तन यज्ञ और कृष्णभावना का युगल बड़ा सुन्दर है। श्रीमद्भागवत में संकीर्तनयज्ञ के विशिष्ट सन्दर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण के भक्तरूप (श्रीचैतन्य महाप्रभु) का वर्णन है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।।

"कलियुग में यथार्थ बुद्धिमान् मनुष्य संकीर्तनयज्ञ के द्वारा पार्षदों सहित भगवान् श्रीगौरहरि की आराधना करते हैं।" (श्रीमद्भागवत ११.५.२९) इस कलियुग में अन्य किसी वैदिक यज्ञ का संपादन सम्भव नहीं रहा है। परन्तु संकीर्तनयज्ञ तो आज भी सर्वभीष्ट-सिद्धि के लिए अतिशय सुगम और प्रभविष्णु (उदात्त) है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

देवान्=देवताओं को; **भावयत**=प्रसन्न करो; **अनेन**=इस यज्ञ के द्वारा; **ते**=वे; **देवाः**=देवता; **भावयन्तु**=प्रसन्न करेंगे; **वः**=तुम्हें; **परस्परम्**=परस्पर; **भावयन्तः**=एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए; **श्रेयः**=कल्याण को; **परम्**=परम; **अवाप्स्यथ**=प्राप्त करोगे।

अनुवाद

यज्ञों से प्रसन्न होकर देवता तुम्हें भी प्रसन्न करेंगे। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे के पोषण से सर्वत्र सबके लिए समृद्धि हो जायगी।।११।।

तात्पर्य

देवता संसार के शक्ति-निक्षिप्त प्रशासक हैं। जीवमात्र को देह धारण करने के लिए वायु, जल, प्रकाशादि तत्त्वों की आवश्यकता है। इनकी आपूर्ति का उत्तरदायित्व देवताओं पर है। ये असंख्य देवता विराट् भगवत् विग्रह के अंग-प्रत्यंग में अवस्थित भगवत्सेवक हैं। उनकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता मनुष्य के यज्ञ करने पर निर्भर है। यद्यपि कुछ यज्ञ विशेष देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं, तथापि सभी यज्ञों में मुख्य भोक्ता के रूप में भगवान् विष्णु की ही आराधना सम्पन्न होती है। स्वयं भगवद्गीता में कहा है कि स्वयं श्रीकृष्ण सम्पूर्ण यज्ञों के भोक्ता हैं—**भोक्तारं यज्ञ तपसाम्।** अतएव अन्त में 'यज्ञपति' का सन्तोष सब 'यज्ञों' का मुख्य प्रयोजन है। इन यज्ञों का भलीभाँति संपादन होने पर विविध संभरण विभागों के अध्यक्ष देवता अपने-आप प्रसन्न हो जाते हैं; फिर किसी भी प्राकृतिक पदार्थ का अभाव नहीं रहता।

यज्ञों के ऐसे अनेक आनुषंगिक लाभ भी हैं, जिनसे अन्त में बन्धनमुक्ति हो जाती है। वेदानुसार, यजन से सब क्रियाओं का परिष्कार होता है—

आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्त्वशुद्धौ।
ध्रुवाः स्मृतिः स्मृति-लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।।

यजन द्वारा आहार शुद्ध हो जाता है तथा आहार-शुद्धि से सत्त्व-शुद्धि होती है। सत्त्व-शुद्धि से स्मृति के सूक्ष्म भावों की शुद्धि होती है, जिससे मुक्ति-पथ के चिन्तन की योग्यता प्राप्त हो जाती है। इस समग्र पद्धति से कृष्णभावना उद्भावित हो उठती है, जो वर्तमान विश्व की महती आवश्यकता है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

इष्टान्=इच्छित; **भोगान्**=जीवन-धारण के लिए आवश्यक पदार्थों को; **हि**= अवश्य; **वः**=तुम्हें; **देवाः**=देवता; **दास्यन्ते**=देंगे; **यज्ञभाविताः**=यज्ञ द्वारा संतुष्ट हुए; **तैः**=उनके द्वारा; **दत्तान्**=दिये हुए पदार्थों को; **अप्रदाय**=दिये विना; **एभ्यः**=देवताओं के लिए; **यः**=जो; **भुङ्क्ते**=भोगता है; **स्तेनः**=चोर है; **एव**=निश्चय; **सः**=वह।

अनुवाद

नाना प्रकार के जीवनोपयोगी पदार्थों के अधिकारी देवता यज्ञ से प्रसन्न होकर मानव की सब आवश्यकताओं को पूर्ण कर देते हैं। इसलिए जो पुरुष उनके द्वारा दिये गये भोगों को उन्हें पुनः अर्पण किये विना भोगता है, वह निश्चित चोर है।।१२।।

तात्पर्य

देवता भगवान् श्रीविष्णु द्वारा भोगसामग्री प्रदान करने के लिए नियुक्त किये गये हैं। इसलिए शास्त्रीय यज्ञों के द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करना आवश्यक है। वेद में विभिन्न देवताओं के निमित्त नाना यज्ञों का विधान है। परन्तु इन सबके परम लक्ष्य तो श्रीभगवान् ही हैं। जो मनुष्य श्रीभगवान् के तत्त्व को नहीं समझ सकता, उसी के लिए देवयज्ञ का विधान किया गया है। अनुष्ठाता के गुणों के अनुसार वेद में भिन्न-भिन्न यज्ञों का निर्देश है। देवोपासना गुणानुसार ही होती है। उदाहरण के लिए, माँसाहारियों के लिए प्रकृति के घोर रूप—काली की उपासना और पशु-बलि का विधान है। परन्तु जो सत्त्वगुण में स्थित है, उसके लिए केवल भगवान् श्रीविष्णु की दिव्य आराधना उपदिष्ट है। अतः यह सिद्ध होता है कि सब यज्ञों का आत्यन्तिक प्रयोजन शनैः-शनैः शुद्धसत्त्व के स्तर को प्राप्त कराना है। साधारण लोगों को कम से कम 'पंचमहायज्ञ' तो अवश्य ही करने चाहिएँ।

यह स्मरण के योग्य है कि मानव समाज के लिए जो भी पदार्थ आवश्यक हैं, उन का अनुदान देवता करते हैं, जो श्रीभगवान् के प्रतिनिधि हैं। मनुष्य स्वयं किसी भी पदार्थ का सृजन नहीं कर सकता। मानव समाज के सारे खाने योग्य पदार्थों के दृष्टान्त

से यह स्पष्ट है। इन में सत्त्वगुणी के आहार—अनाज, फल, शाक, दुग्ध, शर्करा आदि एवं माँसाहारियों के माँसादि भोजन भी सम्मिलित हैं। इन में से किसी भी पदार्थ की संरचना मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता। तेज, प्रकाश, जल आदि जीवनोपयोगी अन्य पदार्थों का सृजन भी मनुष्य नहीं कर सकता। परमेश्वर श्रीकृष्ण के बिना पर्याप्त सूर्यप्रकाश, चन्द्रप्रभा, परिवर्षण, समीर, आदि नहीं हो सकते और इन तत्त्वों के अभाव में जीवन नहीं रह सकता। स्पष्ट रूप से हमारा जीवन श्रीभगवान् द्वारा दी गई सामग्री पर पूर्ण रूप से आश्रित है। अपने उत्पादन सम्बन्धी उद्यम के लिए भी हमें धातु, खनिज आदि अपेक्षित हैं। श्रीभगवान् के अनुचर देवता हमें ये सब पदार्थ इसीलिए देते हैं कि इनके सदुपयोग से हम स्वस्थ रहकर स्वरूप साक्षात्कार के लिए साधन कर सकें और इस प्रकार अन्त में भवरोग के घोर संघर्ष से मुक्त हो जायें। यज्ञों के द्वारा जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। इस पर भी यदि हम मानवीय जीवन के उद्देश्य को भुलाकर श्रीभगवान् के सेवकों द्वारा दिये गए इन पदार्थों से केवल अपनी ही इन्द्रियों की तृप्ति करते हैं, तो हमें अधिकाधिक बन्धन की ही प्राप्ति होगी, जो इस सृष्टि का प्रयोजन नहीं है। अतएव ऐसा करने वाला निश्चित चोर है और प्रकृति के नियमानुसार दण्डनीय भी। लक्ष्य-विहीन तस्कर समाज कभी सुखी नहीं हो सकता। विषयी चोरों के जीवन का कोई परम लक्ष्य नहीं होता। वे नित्य विषयभोगों के ही परायण रहते हैं, यहाँ तक कि यज्ञ का ज्ञान भी उन्हें नहीं होता। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सर्वाधिक सुगम यज्ञ—संकीर्तन का प्रवर्तन किया है। कृष्णभावनामृत को अंगीकार कर विश्व का प्रत्येक निवासी इस संकीर्तन यज्ञ में सम्मिलित हो सकता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

यज्ञशिष्ट=यज्ञप्रसाद को; **अशिनः**=खाने वाले; **सन्तः**=भक्त; **मुच्यन्ते**=मुक्त हो जाते हैं; **सर्वकिल्बिषैः**=सब पापों से; **भुञ्जते**=भोगते हैं; **ते**=वे; **तु**=तो; **अघम्**=पाप को ही; **पापाः**=पापात्मा; **ये**=जो; **पचन्ति**=भोजन बनाते हैं; **आत्मकारणात्** = इन्द्रियसुख के लिए।

अनुवाद

यज्ञ से बचे अन्न का भोजन करने वाले भगवद्भक्त सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। पर जो इन्द्रियतृप्ति के लिए भोजन बनाते हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।।१३।।

तात्पर्य

भगवद्भक्त अथवा कृष्णभावनाभावित महज्जनों को सन्त कहा जाता है। वे भगवत्प्रेम-पारावार में ही नित्य निमज्जित रहते हैं। जैसा ब्रह्मसंहिता में कहा है:
प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

सर्वानन्द-प्रदायक भगवान् गोविन्द, मुक्ति-विलुण्ठक मुकुन्द, सर्वाकर्षी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के प्रगाढ़ प्रेम से आविष्ट हृदय वाले सन्तजन उन परम पुरुषोत्तम को अर्पित

किये विना कुछ भी अंगीकार नहीं करते। इसलिए वे भक्तगण श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, आदि भक्ति के अलग-अलग साधनों के रूप में नित्यप्रति यज्ञ करते रहते हैं। इन यज्ञों के प्रभाव से वे जगत् के सम्पूर्ण पापमय संगदोष से मुक्त रहते हैं, वरन् त्रिभुवन को ही पावन कर देते हैं। दूसरी ओर, जो इन्द्रियतृप्ति के लिए भोजन बनाते हैं,—वे मनुष्य चोर ही नहीं हैं, वरन् सब प्रकार के पाप को ही खाते हैं। पापाचरण एवं चोरी करने वाला मनुष्य किस प्रकार सुखी होगा ? यह कभी सम्भव नहीं। अतः जनता पूर्णानन्द का आस्वादन करे, इसके लिए जनसाधारण में पूर्णतया कृष्णभावना-भावित होकर संकीर्तन यज्ञ करने की सुगम विधि का प्रचार-प्रचार करना चाहिए। इसके विना संसार में कभी सुख-शान्ति नहीं हो सकती।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

अन्नात्=अन्न से; **भवन्ति**=उत्पन्न होते हैं; **भूतानि**=प्राकृत-कलेवर; **पर्जन्यात्**=वर्षा से; **अन्न**=अन्न; **संभवः**=उत्पन्न होता है; **यज्ञात्**=यज्ञ द्वारा; **भवति**=होती है; **पर्जन्यः**=वर्षा; **यज्ञः**=यज्ञ; **कर्म**=स्वधर्मरूप कर्म से; **समुद्भवः**=प्रकट होता है।

अनुवाद

सब प्राणी अन्न से जीवन धारण करते हैं और अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा की उत्पत्ति यज्ञ से होती है तथा यज्ञ स्वधर्म से प्रकट है।।१४।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता के महिमामय भाष्यकर श्रील बलदेव विद्याभूषण का कथन हैः **ये इन्द्राद्यङ्गतयावस्थितं यज्ञं सर्वेश्वरं विष्णुमभ्यर्च्य तच्छेषमशनन्ति तेन तद्देह यात्रां सम्पादयन्ति, ते सन्तः सर्वेश्वरस्य भक्ताः सर्वकिल्बिषैग्नादि-कालविवृद्धैरात्मानुभव प्रतिबन्धकैर्निखिलैः पापैर्विमुच्यन्ते।** 'यज्ञपुरुष अथवा 'यज्ञभोक्ता' नामक परमेश्वर श्रीकृष्ण अखिल देवनिकाय के अधीश्वर हैं। जिस प्रकार विभिन्न अंग सम्पूर्ण शरीर की सेवा करते हैं, उसी भाँति ये सब देवता श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर हैं। श्रीकृष्ण द्वारा अधिकारासीन इन्द्र, चन्द्र, वरुण, प्रभृति देवता प्राकृत-जगत् के व्यवस्थापक हैं। वेदों में इनके निमित्त यज्ञानुष्ठान का निर्देश है, जिससे तुष्ट होकर ये अन्न की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त वायु, प्रकाश तथा जल प्रदान करें। परन्तु श्रीकृष्ण की आराधना करने से उनके विभिन्न अंग-स्वरूप देवताओं की आराधना अपने-आप हो जाती है; देवताओं की पृथक् उपासना की कोई आवश्यकता नहीं रहती। कृष्णभावनाभावित भक्त इसी हेतु से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण को अन्न निवेदित करके ही भोजन करते हैं। इस पद्धति से शरीर का भक्तिवर्धक परिपोषण होता है। भगवत्प्रसाद-ग्रहण से देह के पिछले पाप कर्मफल ही नष्ट नहीं होते, वरन् सब प्रकार के सांसारिक विकारों से भी शरीर मुक्त हो जाता है। संचारी रोग के व्याप्त होने पर रोगाणुरोधक औषधी के मसूरण के द्वारा मनुष्य अपनी रक्षा करता है। इसी भाँति,

श्रीविष्णु को समर्पित अन्न (प्रसाद) ग्रहण करने से सम्पूर्ण विषयासक्ति का भलीभाँति निवारण हो जाता है। इस पद्धति का नित्य आचरण करने वाला भक्त कहलाता है। इस प्रकार जो केवल कृष्णप्रसाद को ग्रहण करता है, वह कृष्णभावनाभावित पुरुष उन सभी प्राकृत विकारों का प्रतिकार कर सकता है, जो स्वरूप-साक्षात्कार के पथ में विघ्न उपस्थित करते हैं। इसके विपरीत, इन्द्रियतृप्ति के लिए भोजन करने वाला निरन्तर पापकर्म की अभिवृद्धि करता रहता है, जिससे पुनर्जन्म में पापकर्मों के फल को भोगने के लिये शूकर-कूकर की योनि मिलती है। संसार दोषों से भरा है, परन्तु भगवत्प्रसाद का सेवन करने से जीवन्मुक्त हुए भक्त की इनके आक्रमणों से पूर्ण रक्षा होती रहती है, जबकि ऐसा नहीं करने वाला कलुषित हो जाता है।

अन्न, शाकादि सात्त्विक पदार्थ ही वास्तव में खाने के योग्य हैं। मानव नाना प्रकार के अन्न, शाक, फल, आदि का उपयोग करता है; पशु उसके बचे शाक, तृण, तथा वनस्पति का आहार करते हैं। माँसाहारी मनुष्य भी अन्तिम रूप में वनस्पति उत्पादन पर ही निर्भर करते हैं। अतः मूल रूप में हम सब कृषि-उत्पादन पर आश्रित हैं, वृहत् कारखानों पर नहीं। कृषि-उत्पादन का आधार पर्याप्त परिवर्षण है। वर्षा के नियन्ता इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा आदि सब देव श्रीभगवान् के सेवक हैं। श्रीभगवान् केवल यज्ञों से प्रसन्न होते हैं। अतएव जो यज्ञ नहीं करता, वह प्रकृति के नियम के अनुसार सदा अभावग्रस्त रहता है। अस्तु, कम से कम दुर्भिक्ष से मानव समाज को वचाने के लिए तो यज्ञ का और विशेष रूप से इस युग के यज्ञ—संकीर्तन का आगोजन अवश्य ही करना चाहिए।

कर्म ब्रह्मोद्‌भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्‌भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

कर्म=कर्म; **ब्रह्म**=वेद से; **उद्‌भवम्**=उत्पन्न हुआ; **विद्धि**=जान; **ब्रह्म**=वेद; **अक्षर**=परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण से; **समुद्‌भवम्**=प्रकट हुए हैं; **तस्मात्**=इस कारण; **सर्वगतम्**=सर्वव्यापी; **ब्रह्म**=ब्रह्मतत्त्व; **नित्यम्**=सदा; **यज्ञे**=यज्ञ में; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है।

अनुवाद

स्वधर्म रूप कर्मों का विधान वेदों में है तथा वेद साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से प्रकट हुए हैं। इसलिए सर्वव्यापी परब्रह्म यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित है।।१५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में **यज्ञार्थकर्म** अथवा श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कर्म करने की महिमा का अधिक स्पष्ट वर्णन है। यज्ञपुरुष श्रीविष्णु के सन्तोष हेतु कर्म करने के लिए हमें ब्रह्म' अर्थात् अपौरुषेय वेदों से कर्म विधान जानना होगा, क्योंकि वेद ही कर्म-विधि की संहिता हैं। वेदाज्ञा के बिना सम्पादित क्रिया को 'विकर्म' अथवा पाप कहते हैं। अतएव कर्मबन्धन मुक्ति के लिए वेद-निर्देश सदा ग्रहणीय हैं। जिस प्रकार

साधारण जीवन में राज के नियमानुसार कर्म किया जाता है; उसी भाँति, श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार ही कर्म करना है। ये वैदिक-विधान स्वयं श्रीभगवान् के निःश्वास से प्रकट हुए हैं। प्रसिद्ध कथन है: **अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद्ग्वेदो यजुर्वेदः साम वेदोऽथर्वांगिरसः।** 'ऋक्', 'साम', 'यजुः' और 'अथर्व'—ये चारों वेद श्रीभगवान् के निःश्वास सहित प्रकट हुए हैं। सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् निःश्वास द्वारा भी बोल सकते हैं। ब्रह्मसंहिता से प्रमाणित है कि श्रीभगवान् अपने किसी भी अंग से अन्य सब अगों की क्रिया करने की सामर्थ्य रखते है, अर्थात् वे अपने निःश्वास से प्रवचन तथा दृष्टिमात्र से गर्भाधान कर सकते हैं। वास्तव में कहा जाता है कि उन्होंने माया पर दृष्टिनिपात करके उसमें सब जीवों का गर्भाधान किया और इसके अनन्तर वैदिक ज्ञान के रूप में बद्धजीवों के लिए भगवद्धाम के मार्ग का निर्देश किया। हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि मायाबद्ध जीव इन्द्रियतृप्ति के लिए आतुर हैं। परन्तु वैदिक निर्देश इस विधि से निर्मित हैं कि अपनी विकृत कामनाओं की पूर्ति से मिलने वाले मिथ्या आनन्द को भोगकर जीव अन्त में भगवद्धाम को फिर प्राप्त हो जाय। इस प्रकार बद्ध जीवों को मुक्ति का सुअवसर दिया गया है। अतः बद्धजीव को यज्ञक्रिया का अभ्यास करने के लिए कृष्णभावनाभावित हो जाना चाहिए। जो वैदिक-विधान का पालन नहीं कर सकते, वे मनुष्य भी कृष्णभावना को अंगीकार कर सकते हैं। कृष्णभावना से सम्पूर्ण वैदिक यज्ञकर्मों का प्रयोजन सिद्ध हो जायगा।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

एवम्=इस प्रकार नियत; **प्रवर्तितम्**=वेदों द्वारा चलाये गये; **चक्रम्**=चक्र के; **न अनुवर्तयति**=अनुसार आचरण नहीं करता; **इह**=इस जीवन में; **यः**=जो; **अघायुः**=पाप पूर्ण जीवन वाला; **इन्द्रियारामः**=विषयभोग-परायण; **मोघम्**=व्यर्थ; **पार्थ**=हे पार्थ (अर्जुन); **सः**=वह; **जीवति**=जीता है।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो मनुष्य वेद की इस यज्ञ-व्यवस्था का अनुसरण नहीं करता, उसका जीवन निस्सन्देह पापमय है, क्योंकि जो इन्द्रियतृप्ति के परायण रहता है वह व्यर्थ ही जीता है।।१६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने धन को ही सब कुछ मानने वाली उस विचारधारा का तिरस्कार किया है, जिसके अनुसार कठोर परिश्रम के द्वारा इन्द्रियतृप्ति में रमण करना उत्तम समझा जाता है। अतएव जो इस प्राकृत-जगत् को भोगना चाहते हैं, उनके लिए ही पूर्वोक्त यज्ञचक्र का अनुसरण करना सर्वथा आवश्यक है। इस विधान की अवज्ञा करने वाला महान् विपत्ति को आमन्त्रित कर रहा है, क्योंकि वह उत्तरोत्तर

अधिक पाप से लिप्त होता जाता है। प्रकृति के नियमानुसार यह मानव शरीर विशेष रूप से स्वरूप-साक्षात्कार के लिए मिलता है। इसके तीन मार्ग हैं—'कर्मयोग', 'ज्ञानयोग' तथा 'भक्तियोग'। पाप-पुण्य से मुक्त हुए योगियों के लिए यज्ञादि-विधान का दृढ़ अनुसरण आवश्यक नहीं रहता। परन्तु जो इन्द्रियतृप्ति के परायण हैं, उनके लिए पूर्वोक्त यज्ञचक्र के साधन से आत्मशुद्धि करना अनिवार्य है। कर्म के अनेक अवान्तर भेद हैं। जो कृष्णभावनाभावित नहीं हैं , वे निश्चय ही विषय-परायण हैं। अतः उनके लिए पुण्यकर्मों का सम्पादन आवश्यक है। यज्ञ व्यवस्था इस प्रकार सुनियोजित है कि विषयी लोग इच्छा-पूर्ति करते हुए भी इन्द्रिय-तृप्तिजनित बन्धन में न पड़ें। विश्व की समृद्धि हमारे प्रयत्न पर नहीं, अपितु देवताओं द्वारा सम्पादित श्रीभगवान् की पूर्व व्यवस्था पर निर्भर है। इसीलिए वेदों में विभिन्न यज्ञों का भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए विधान है। परोक्ष रूप से यह भी कृष्णभावनामृत का ही अभ्यास है क्योंकि यज्ञवित् यथासमय कृष्णभावनाभावित हो जायगा, यह निश्चित है। परन्तु यदि यज्ञों का अनुष्ठाता कृष्णभावनाभावित न हो पाये, तो यह सिद्धान्त नैतिक आचार मात्र रह जाता है। अतः अपनी प्रगति को नैतिक आचार तक ही सीमित न रखते हुए, उसका उल्लंघन करके कृष्णभावनामृत की प्राप्ति करनी चाहिए।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

यः=जो; **तु**=परन्तु; **आत्मरतिः**=आत्मा में ही आनन्द आस्वादन करता है; **एव**=निस्सन्देह; **स्यात्**=रहता है; **आत्मतृप्तः**=स्वयं प्रकाश; **च**=तथा; **मानवः**=मनुष्य; **आत्मनि**=अपने में; **एव**=ही; **च**=तथा; **सन्तुष्टः**=पूर्ण रूप से सन्तुष्ट; **तस्य**=उसके; **कार्यम्**=कर्तव्य; **न**=नहीं; **विद्यते**=है।

अनुवाद

परन्तु जो पुरुष आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करता है, जो आत्मप्रकाश से युक्त है और जो आत्मा में ही पूर्ण संतुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।।१७।।

तात्पर्य

जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है और अपने कृष्णभावनाभावित कर्मों में ही पूर्ण सन्तोष का अनुभव करता है, उस पुरुष के लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। कृष्णभावना में तन्मयता के कारण उसके हृदयगत मल का तत्काल शोधन हो जाता है। ऐसी अन्तर्शुद्धी वस्तुतः हजारों यज्ञों का फल है। इस प्रकार मति का शोधन हो जाने पर श्रीभगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध में पूर्ण आस्था का उदय हो जाता है। भगवत्कृपा से कर्तव्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है, जिससे वेद-विधान के प्रति कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। ऐसे कृष्णभावनाभावित महज्जन की सांसारिक कर्मों में लेशमात्र रुचि शेष नहीं रहती और न ही मदिरा, कामिनी आदि मोहांधताओं में उसे आनन्द की अनुभूति होती है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

न=नहीं है; **एव**=निःसन्देह; **तस्य**=उसका; **कृतेन**=कर्तव्य करने से; **अर्थः**=प्रयोजन; **न**=नहीं; **अकृतेन**=न करने से; **इह**=इस संसार में; **कश्चन**=कुछ भी; **न**=नहीं; **च**=तथा; **अस्य**=उसका; **सर्वभूतेषु**=समस्त प्राणियों में; **कश्चित्**=कोई; **अर्थ**=स्वार्थ का; **व्यपाश्रयः**=आश्रय।

अनुवाद

स्वरूपज्ञानी महानुभाव के लिए स्वधर्म के आचरण में कोई स्वार्थ नहीं रहता, और कर्म न करने का भी उसके लिए कोई कारण नहीं होता। किसी अन्य प्राणी की आश्रयता भी उसे अपेक्षित नहीं रहती।।१८।।

तात्पर्य

स्वरूप को प्राप्त हुए महानुभाव के लिए कृष्णभावनाभावित कर्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी कर्तव्य का सम्पादन शेष नहीं रहता। कृष्णभावनामृत निष्क्रिय जड़ता नहीं है, यह अनुवर्ती श्लोकों से स्पष्ट हो जायगा। कृष्णभावनाभावित पुरुष मानव अथवा देवता आदि किसी भी अन्य प्राणी का आश्रय नहीं लेता। वह जो कुछ भी कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वही उसकी कृतकृत्यता के लिए पर्याप्त है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

तस्मात्=इसलिए; **असक्तः**=अनासक्त भाव से; **सततम्**=निरन्तर; **कार्यम्**=कर्तव्य समझ कर; **कर्म**=कर्म; **समाचर**=भलीभाँति कर; **असक्तः**=अनासक्त; **हि**=निःसन्देह; **आचरन्**=करने से; **कर्म**=कर्म; **परम्**=परब्रह्म को; **आप्नोति**=प्राप्त होता है; **पूरुषः**=मनुष्य।

अनुवाद

इसलिए कर्मफल में अनासक्त भाव से कर्तव्य की भाँति कर्म करना चाहिए क्योंकि अनासक्त होकर कर्म परम लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाला है।।१९।।

तात्पर्य

भक्तों के लिए 'परमलक्ष्य' भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा निर्विशेषवादियों के लिए मुक्ति है। अतएव जो पुरुष सद्गुरु के मार्गदर्शन में फलासक्ति के बिना श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए, अर्थात् कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह जीवन के परमलक्ष्य की दिशा में निस्सन्देह प्रगति करता है। अर्जुन से कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ युद्ध करने को कहा गया है, क्योंकि श्रीकृष्ण की ऐसी ही इच्छा है। पुण्यात्मा अथवा अहिंसक होना भी एक प्रकार की वैयक्तिक आसक्ति है। वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण के लिए कर्म करना ही फलासक्ति से रहित कर्मयोग है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी को परमोच्च कर्मसिद्धि कहा है। नियत यज्ञों के समान वैदिककर्म भी इन्द्रियतृप्ति में बने पापों की

निवृत्ति के लिए किये जाते हैं। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म सब प्रकार के शुभ-अशुभ फल से मुक्त हैं। कृष्णभावनाभावित भक्त में लेशमात्र भी फलासक्ति नहीं रहती, वह तो बस श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कर्म करता है। अतएव सब प्रकार के कर्म करते रहने पर भी वह सर्वथा अनासक्त है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

कर्मणा=कर्म द्वारा; **एव**=ही; **हि**=निस्सन्देह; **संसिद्धिम्**=परम कृतार्थता को; **आस्थिताः**=प्राप्त हुए हैं; **जनकादयः**=जनक आदि राजा; **लोकसंग्रहम्**=लोकशिक्षा को; **एव**=ही, **अपि**=भी; **संपश्यन्**=विचार कर; **कर्तुम्**=करने के; **अर्हसि**=योग्य है।

अनुवाद

जनक आदि राजा भी कर्म द्वारा ही संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इसलिए लोकसंग्रह के उद्देश्य से भी तू स्वधर्म रूप कर्म को करने के ही योग्य है।।२०।।

तात्पर्य

जनक आदि राजर्षि आत्मज्ञानी थे। इसलिए उनके लिए वैदिक कर्म का आचरण आवश्यक कर्तव्य नहीं था। तथापि लोकशिक्षा के लिए उन्होंने सब नियत कर्मों का भलीभाँति आचरण किया। जनक श्रीसीताजी के पिता और भगवान् श्रीराम के श्वसुर थे। महाभागवत होने से उनकी स्थिति लोकोत्तर थी, फिर भी मिथिला के अधिपति के रूप में वे अपनी प्रजा को धर्मयुद्ध की शिक्षा देते थे। वे और उनके प्रजाजन जनसाधारण को इस बात की शिक्षा प्रदान करने के लिए युद्ध करते थे कि सद्परामर्श के विफल हो जाने पर कभी-कभी हिंसा भी आवश्यक हो जाती है। कुरुक्षेत्र-युद्ध से पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं युद्ध के निवारणार्थ अशेष उद्योग किया, किन्तु विपक्ष युद्ध के लिए सब प्रकार से कृतसंकल्प था। अतः ऐसे धर्ममय उद्देश्य के लिए युद्ध आवश्यक है। यद्यपि कृष्णभावनाभावित पुरुष के लिए संसार लेशमात्र भी रुचिकर नहीं रहता, तब भी जनता को जीवन-यापन तथा कर्म करने की शिक्षा देने के लिए वह कर्म करता है। जैसा अगले श्लोक में कहा गया है, कृष्णभावना का मर्मज्ञ पुरुष अपने कार्य-कलाप के द्वारा ऐसा आदर्श स्थापित करता है जिसका अन्य मनुष्य अनुसरण कर सकें।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

यत्=जो; **यत्**=जो भी; **आचरति**=आचरण करता है; **श्रेष्ठः**=लोकनायक; **तत्**=वह; **तत्**=वह; **एव**=ही; **इतरः**=साधारण; **जनः**=मनुष्य; **सः**=वह; **यत्**=जो; **प्रमाणम्**=प्रमाण; **कुरुते**=करता है; **लोकः**=सम्पूर्ण विश्व; **तत्**=उसका; **अनुवर्तते**=अनुसरण करता है।

अनुवाद

महापुरुष जो-जो आचरण करता है, साधारण मनुष्य उसका अनुसरण करते हैं। वह पुरुष अपने विलक्षण कर्मों से जो आदर्श स्थापित कर देता है, सम्पूर्ण विश्व उसके अनुसार कार्य करता है।।२१।।

तात्पर्य

जनसाधारण को सदा एक ऐसे लोकनायक की अपेक्षा रहती है, जो अपने व्यावहारिक आचरण से जनता को शिक्षित कर सके। जो स्वयं धूम्रपान का व्यसनी हो, वह जनता को ऐसा न करने का उपदेश नहीं दे सकता। श्रीचैतन्य महाप्रभु की वाणी है कि दूसरों को शिक्षा देने से पूर्व शिक्षक को स्वयं सदाचार का पालन करना चाहिए। इस प्रकार जो अपने सदाचरण से लोक-शिक्षा देता है, उसे 'आचार्य' अर्थात् आदर्श गुरु कहा जाता है। अतएव जनसाधारण में शिक्षा का व्यापक प्रसार करने के लिए शिक्षक को स्वयं भी शास्त्रीय सिद्धांतों का परिपालन करना चाहिए। यथार्थ आचार्य शास्त्र-विरुद्ध विधान नहीं कर सकता। मनुस्मृति जैसे सत्-शास्त्रों को मानव समाज के लिए अनुसरणीय आदर्शशास्त्र माना जाता है। इस प्रकार यह आवश्यक है कि लोकनायक की शिक्षा महान् आचार्यों द्वारा आचरित आदर्श नियमों पर आधारित हो। श्रीमद्भागवत से प्रमाणित होता है कि महाभागवतों का अनुसरण करना चाहिए क्योंकि इसी के द्वारा भगवत्प्राप्ति के पथ पर उन्नति हो सकती है। राजा अथवा राज्य के सर्वोच्च कार्यकारी, पिता तथा अध्यापक अबोध जनता के स्वाभाविक नायक हैं। इनका अपने आश्रितों के प्रति विशेष दायित्व है। इसके लिए आवश्यक है कि ये नीति और परमार्थ के प्रामाणिक शास्त्रों में पारंगत हों।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचनं।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

न=नहीं; **मे**=मुझे; **पार्थ**=हे पार्थ; **अस्ति**=है; **कर्तव्यम्**=कर्तव्य; **त्रिषु**=तीनों; **लोकेषु**=लोकों में; **चिंन**=कुछ भी; **न**=नहीं; **अनवाप्तम्**=अप्राप्त; **अवाप्तव्यम्**=प्राप्त होने योग्य पदार्थ; **वर्ते**=तत्पर हूँ; **एव**=निस्सन्देह; **च**=तथा; **कर्मणि**=कर्म में।

अनुवाद

हे पार्थ! त्रिभुवन में मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है; न तो मुझे किसी पदार्थ का अभाव है और न आवश्यकता ही है। फिर भी मैं कर्म में ही तत्पर हूँ।।२२।।

तात्पर्य

वेदों में श्रीभगवान् का यह वर्णन है:

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

'परमेश्वर श्रीकृष्ण सब ईश्वरों के परम महेश्वर एवं सभी देवताओं के परमोच्य देव हैं। सभी उनके आधीन हैं। जीवात्मा स्वयं परतत्त्व नहीं है, परन् उनकी विशिष्ट शक्ति के स्रोत श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण देवताओं के आराध्य तथा समस्त नियन्ताओं के भी नियन्ता हैं। अतएव जगत् के लोकनायकों और ईश्वरों से अतीत होने के कारण वे सर्ववन्दनीय हैं। उनसे अधिक कोई नहीं है, वे ही सब कारणों के परम कारण हैं।'

'भगवान् का श्रीविग्रह साधारण जीवात्मा के देह के समान नहीं है। उनके देह एवं आत्मा में भेद नहीं है, क्योंकि वे अद्वय-तत्त्व हैं। प्रभु की सब इन्द्रियाँ भी चिन्मय हैं। इसीलिए उनकी प्रत्येक इन्द्रिय अन्य सब इन्द्रियों का कार्य कर सकती है। अतः उनके समान अथवा उनसे अधिक कोई नहीं हो सकता। वे विविध शक्तियों से युक्त हैं एवं उनकी लीला स्वाभाविक क्रमानुसार अपने-आप सम्पादित होती है।' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.७-८)

श्रीभगवान् में सम्पूर्ण ऐश्वर्य यथार्थतः परिपूर्णतम रूप में प्रकाशित रहते हैं। अतः उनके लिए कोई कर्तव्य नहीं है। कर्तव्य का विधान फलेप्सु के लिए ही है। जिसके लिए त्रिभुवन में कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है, उसके लिए निस्सन्देह कुछ भी कर्तव्य नहीं हो सकता। फिर भी, क्षत्रियनायक होने के नाते भगवान् श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र युद्ध में तत्पर हैं, क्योंकि आर्त को आश्रय देना क्षत्रिय का प्रधान धर्म है। शास्त्राज्ञा से सर्वथा परे होने पर भी श्रीभगवान् शास्त्र-विरुद्ध आचरण कभी नहीं करते।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

यदि=यदि; **हि**=क्योंकि; **अहम्**=मैं; **न**=नहीं; **वर्तेयम्**=तत्पर रहूँ; **जातु**=कभी; **कर्मणि**=कर्म में; **अतन्द्रितः**=सावधान हुआ; **मम**=मेरे; **वर्त्म**=पथ का; **अनुवर्तन्ते**=अनुगमन करेंगे; **मनुष्याः**=सब मानव; **पार्थ**=हे पार्थ; **सर्वशः**=सब प्रकार से।

अनुवाद

क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ, तो हे पार्थ! सब मनुष्य मेरे पथ का ही अनुगमन करेंगे।।२३।।

तात्पर्य

पारमार्थिक उन्नति के लिए आवश्यक सामाजिक शान्ति बनाए रखने के हेतु ऐसे अनेक परम्परागत कुलाचार हैं, जिनका सभी सभ्य मनुष्यों को पालन करना चाहिए। ये विधि-विधान वस्तुतः मायाबद्ध जीवों के लिए ही हैं, श्रीकृष्ण के लिए नहीं। परन्तु धर्म की स्थापना के लिए अवतरित होने पर उन्होंने इन सभी नियमों का पालन किया। अन्यथा, साधारण मनुष्य भी उनका अनुकरण करते हुए कर्म का त्याग कर देते, क्योंकि वे परमप्रमाण हैं। श्रीमद्भागवत से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अपने घर में और बाहर भी गृहस्थोचित धर्म का पूर्ण रूप से आचरण करते थे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

उत्सीदेयुः=नष्ट हो जायँ; **इमे**=ये सब; **लोकाः**=लोक; **न**=नहीं; **कुर्याम्**=करूँ; **कर्म**=कर्म; **चेत्**=यदि; **अहम्**=मैं; **संकरस्य**=वर्णसंकर का; **च**=तथा; **कर्ता**=कारण; **स्याम्**=बनूँगा; **उपहन्याम्**=मारने वाला; **इमाः**=इन सम्पूर्ण; **प्रजाः**=प्राणियों को।

अनुवाद

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोक नष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकर का कारण बनकर सम्पूर्ण प्राणियों की शान्ति का विनाशक बनूँ।।२४।।

तात्पर्य

वर्णसंकर सामाजिक शान्ति में विघ्न उपस्थित करते हैं। इस सामाजिक उपद्रव के निवारणार्थ ऐसे विधि-नियमों का विधान है, जिनसे जनता स्वतः शांति तथा परमार्थ के लिए व्यवस्थित हो सके। जब भगवान् श्रीकृष्ण अवतरित होते हैं तो इन महत्त्वपूर्ण कर्मों की गरिमा और महिमा को बनाए रखने के लिए वे स्वयं भी इनका पालन करते हैं। प्रभु सब जीवों के पिता हैं, इसलिए यदि जीव पथभ्रान्त हो जाय तो इसका दायित्त्व एक प्रकार से उन्हीं पर है। अतएव जब-जब समाज में व्यापक रूप से धर्म की उपेक्षा होने लगती है, तब-तब श्रीभगवान् स्वयं अवतरित होकर समाज-सुधार करते हैं। परन्तु यह ध्यान रखने योग्य है कि हमें श्रीभगवान् के चरणचिह्नों का अनुसरण ही करना है, उनका अनुकरण करने में हम बिल्कुल असमर्थ हैं। 'अनुसरण' तथा 'अनुकरण' में गम्भीर भेद है। भगवान् श्रीकृष्ण की गोवर्धन-धारण लीला का हम अनुकरण नहीं कर सकते। मानव के लिए यह करना असम्भव है। इससे सिद्ध होता है कि उनकी अतिमानवीय लीला का कदापि अनुकरण न करते हुए उनकी शिक्षा का नित्य अनुसरण करना चाहिए। श्रीमद्भागवत में कहा है:

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्।।
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्।।

"श्रीभगवान् एवं उनके शक्ति-निक्षिप्त सेवकों की शिक्षा ही आशरणीय है। उनकी सम्पूर्ण शिक्षा हमारे लिए कल्याणकारी है। अतः बुद्धिमान् निस्सन्देह उसका यथारूप पालन करता है, पर उनके समान आचरण करने का प्रयत्न कभी न करे। शिव के समान विषसागर पीने का प्रयास कोई न करे।" (श्रीमद्भागवत १०.३३.३१-३२)

यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि जो प्रभाकर-भास्कर की गति के भी नियन्ता हैं, उन ईश्वरों की स्थिति हमसे कहीं श्रेष्ठ है। ईश्वरशक्ति के अभाव में

सर्वशक्तिमान् ईश्वरों के समान आचरण कोई नहीं कर सकता। भगवान् शिव सागर के परिमाण में विष का पान कर गए, जबकि यदि कोई साधारण मनुष्य उस विष के विन्दु-मात्र को भी पीने का प्रयत्न करे तो वह तत्क्षण मृत्यु का ग्रास हो जाय। भगवान् शिव के अनेक कपटी भक्त उनका अनुकरण करते हुए गांजा आदि मादक द्रव्यों के सेवन के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि भगवान् शिव का इस प्रकार अनुकरण करके वे स्वयं अपनी मृत्यु के कारण वन रहे हैं। इसी भाँति, भगवान् श्रीकृष्ण के भी ऐसे अनेक कपटी भक्त हैं, जो उनके समान रासलीला तो करना चाहते हैं, परन्तु यह भूल जाते हैं कि उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण ने गोवर्धन-धारण भी किया था, जो उनकी शक्ति से बाहर की बात है। अतएव ईश्वरों के आचरण का अनुकरण् न करते हुए उनकी शिक्षा का अनुसरण करना ही परम श्रेयस्कर है। इसके अतिरिक्त, पर्याप्त योग्यता के बिना उनके स्थान को ग्रहण करने का दुस्साहस नहीं करना चाहिये। तथापि, वर्तमान समय में ऐसे अनेक 'भगवत्-अवतार' प्रचलित हैं, जिनमें भगवत्-शक्ति का सर्वथा अभाव है।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

सक्ताः=आसक्त; **कर्मणि**=कर्म में; **अविद्वांसः**=अज्ञानी; **यथा**=जिस प्रकार; **कुर्वन्ति**=कर्म करते हैं; **भारत**=हे भरतवंशी; **कुर्यात्**=करे; **विद्वान्**=ज्ञानी; **तथा**=उसी भाँति; **असक्तः**=अनासक्त भाव से; **चिकीर्षुः**=चाहता हुआ; **लोकसंग्रहम्**=लोक-शिक्षा को।

अनुवाद

जिस प्रकार फल में आसक्त अज्ञानी कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानी भी अनासक्त भाव से लोक-शिक्षा के लिये कर्म करे।।२५।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष तथा कृष्णभावनाविहीन में इच्छा का ही भेद रहता है। कृष्णभावनाभावित महानुभाव ऐसा कोई कर्म नहीं करता, जिससे कृष्णभावना का विकास न हो। वह ठीक उस अज्ञानी के समान भी कर्म कर सकता है, जो लौकिक कर्मों में अत्यन्त आसक्त रहता है। परन्तु एक ओर जहाँ अज्ञानी कर्म में इन्द्रियतृप्ति के लिए तत्पर है, वहीं दूसरी ओर कृष्णभावनाभावित का लक्ष्य श्रीकृष्ण के सुख का विधान करना है। इसलिए यह आवश्यक है कि कृष्णभावनाभावित पुरुष साधारण जनता को कर्म करना और कर्मफल को कृष्णभावना में नियोजित करना सिखाए।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥२६॥

न=नहीं; **बुद्धिभेदम्**=बुद्धि-भ्रम; **जनयेत्**=उत्पन्न करे; **अज्ञानाम्**=मूर्खों में; **कर्मसंगिनाम्**=सकाम कर्मों में आसक्ति वाले; **जोषयेत्**=कराये; **सर्व**=सब; **कर्माणि**

=कर्म; **विद्वान्**=ज्ञानी; **युक्तः**=पूर्णतः तत्पर; **समाचरन्**=भलीभाँति करता हुआ।

अनुवाद

ज्ञानी पुरुष सकाम कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे, अर्थात् उन्हें कर्म से विमुख न करे; वरन् अपने आचरण से उन्हें भक्तिभाव के साथ कर्म करने में ही लगाये।।२६।।

तात्पर्य

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः—यह सिद्धान्त सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड का पर्यवसान है। लौकिक क्रियाओं सहित वेदों में आये सब कर्मों और यज्ञों का प्रयोजन श्रीकृष्ण को जानना है, जो जीवन के परम लक्ष्य हैं। परन्तु मायाबद्ध जीव तो इन्द्रियतृप्ति से अधिक कुछ भी नहीं जानते; इसलिए वे वेदों का भी इतना ही तात्पर्य समझते हैं। वस्तुतः इन्द्रिय-निग्रह करने से शनैः-शनैः कृष्णभावना प्राप्त हो जाती है। अतः कृष्णभावनाभावित महापुरुष को चाहिए कि दूसरों के कार्य अथवा ज्ञान में भ्रम उत्पन्न किये बिना अपने आचरण से ऐसा आदर्श स्थापित करे जिसके अनुसार सम्पूर्ण कर्मफल को श्रीकृष्ण की सेवा में समर्पित किया जा सके। कृष्णभावनाभावित ज्ञानी इस प्रकार कर्म करे जिससे इन्द्रियसुख के लिए कर्म करने वाले अज्ञानी को कर्म करने की विधि का और सदाचरण का बोध हो जाय। यद्यपि अज्ञानी की क्रियाओं में विघ्न डालना ठीक नहीं, परन्तु जो मनुष्य एक अंश में भी कृष्णभावनाभावित हो, उसे अन्य वैदिक विधियों की उपेक्षा करके सीधे भगवद्भक्ति में नियुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार के सौभाग्यशाली के लिए वैदिक कर्मकाण्ड की कोई आवश्यकता नहीं, कृष्णभावनामृत की सीधी वीथि में स्वधर्म का आचरण करने से समग्र निःश्रेयस की सिद्धि हो जाती है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

प्रकृतेः=अपरा प्रकृति के; **क्रियमाणानि**=सम्पादित होते हैं; **गुणैः**=गुणों द्वारा; **कर्माणि**=कर्म; **सर्वशः**=सम्पूर्ण; **अहंकारविमूढात्मा**=अहंकार से मोहित चित्त वाला; **कर्ता**=करने वाला हूँ; **अहम्**=मैं; **इति**=इस प्रकार; **मन्यते**=मानता है।

अनुवाद

सम्पूर्ण कर्म वास्तव प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पादित होते हैं; परन्तु गुणों से उत्पन्न अहंकार से मोहित जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।।२७।।

तात्पर्य

यदि एक कृष्णभावनाभावित पुरुष और एक विषयी, ये दोनों समान कर्म में प्रवृत्त हों, तो यद्यपि ऐसा लगेगा कि दोनों समान स्तर पर कार्य कर रहे हैं, परन्तु वास्तव में दोनों की स्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। विषयी में मिथ्या अहंकारवश यह मान्यता रहती है कि सम्पूर्ण क्रियाओं का कर्ता वह स्वयं है। वह यह

नहीं जानता कि इस देह की रचना प्रकृति ने की है, जो भगवान् श्रीकृष्ण की अध्यक्षता में कार्य करती है। विषयी इस सत्य से अनभिज्ञ रहता है कि अन्तिम रूप में वह सब प्रकार से श्रीकृष्ण के आधीन है। इस प्रकार का मिथ्या अहंकारी समझता है कि वह सब कुछ स्वयं स्वतन्त्र रूप से करता है। यह *अविद्या का लक्षण* है। वह नहीं जानता कि यह स्थूल-सूक्ष्म शरीर श्रीभगवान् के निर्देशानुसार माया द्वारा रचित है और इसलिए सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक कर्मों के द्वारा उसे कृष्णभावना—कृष्णसेवा में ही तत्पर रहना चाहिए। अज्ञानी भूल जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण हृषीकेश हैं, अर्थात् देह की इन्द्रियों के अधीश्वर हैं। सुदीर्घ काल तक विषयभोग करने में इन्द्रियों का दुरुपयोग करने से उत्पन्न हुये अहंकार द्वारा जीव मोहित हो रहा है। इसी कारण उसे श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध का विस्मरण हो जाता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

तत्त्ववित्=तत्त्व से जानने वाला; **तु**=तो; **महाबाहो**=हे महाबाहु; **गुणकर्म**=गुणों द्वारा प्रेरित कर्म; **विभागयोः**=भेद को; **गुणाः**=इन्द्रियाँ; **गुणेषु**=इन्द्रियतृप्ति में; **वर्तन्ते**=तत्पर हैं; **इति**=इस प्रकार; **मत्वा**=मानकर; **न**=कभी नहीं; **सज्जते**=आसक्त होता।

अनुवाद

परन्तु हे महाबाहु ! जो भक्तिभावमय कर्म तथा सकाम कर्म में भेद को भली प्रकार से जानता है, वह तत्त्वज्ञानी इन्द्रियों और इन्द्रियतृप्ति के परायण नहीं होता।।२८।।

तात्पर्य

तत्त्ववेत्ता निश्चित रूप से जानता है कि विषयसंग उसके स्वरूप के प्रतिकूल है। वह जानता है कि उसका स्थान इस प्राकृत-जगत् में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् श्रीकृष्ण का भिन्न-अंश है। सच्चिदानन्दमय श्रीभगवान् के भिन्न-अंश के रूप में अपने स्वरूप के ज्ञान के साथ ही उसे यह भी अनुभूति होती है कि जिस किसी कारणवश वह देहात्मबुद्धि के बन्धन में पड़ गया है। शुद्ध स्वरूप में उसका कार्य अपने कर्मों को श्रीकृष्ण के भक्तियोग में नियोजित करना है। अतएव वह कृष्णभावनाभावित कर्मों में ही पूर्णतया तत्पर होकर इन्द्रियतृप्ति विषयक प्रासंगिक एवं अनित्य कर्म से स्वतः विरक्त हो जाता है। वह जानता है कि उसकी सांसारिक परिस्थिति परमेश्वर के नियन्त्रण में है। इसलिए बड़े से बड़े प्राकृत दुःख से भी वह विचलित नहीं होता। दुःखों में भी उसे भगवत्कृपा का दर्शन होता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार, जो परतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान्—इन तीनों रूपों में जानता है, वह **तत्त्ववित्** है। ऐसा ज्ञानी परब्रह्म के सम्बन्ध में अपने यथार्थ स्वरूप को भी जानता है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।२९।।

प्रकृतेः=प्रकृति के; **गुणसंमूढाः**=गुणों से मोहित हुए मनुष्य; **सज्जन्ते**=तत्पर और आसक्त होते हैं; **गुणकर्मसु**=प्राकृत क्रियाओं में; **तान्**=उन; **अकृत्स्नविदः**=भलीभाँति न जानने वालों को; **मन्दान्**=स्वरूप-साक्षात्कार के साधन में आलसी; **कृत्स्नवित्**=ज्ञानी; **न विचालयेत्**=चलायमान न करे।

अनुवाद

माया के गुणों से मोहित हुए अज्ञानी प्राकृत क्रियाओं में पूर्ण रूप से प्रवृत्त होकर उन्हीं में आसक्त हो जाते हैं। परन्तु उन मन्द कर्म करने वाले अज्ञानियों को ज्ञानी चलायमान् न करे।।२९।।

तात्पर्य

देह में मिथ्या आत्मवुद्धि कर लेने के कारण अज्ञानी मनुष्य प्राकृत उपाधियों से पूर्ण रहते हैं। यह देह अपरा प्रकृति की देन है। इसलिए जिसकी देह में ही गाढ़ आत्मवुद्धि हो रही है, उस मनुष्य को 'मन्द' अर्थात् आलसी (आत्मज्ञानविहीन) कहा जाता है। अज्ञानियों के लिए देह ही आत्मस्वरूप है; उनके लिए शारीरिक सम्वन्ध ही वन्धुत्व है। वे देह की जन्मभूमि को आराध्य समझते हैं; तथा कर्मकाण्ड को अपना लक्ष्य मानते हैं। समाज सेवा, राष्ट्रीयता तथा परोपकार आदि इन भव रोगियों के कुछ कार्य हैं। ऐसी उपाधियों के मोह में आकर वे सदा प्रपंच के क्षेत्र में ही संलग्न रहते हैं। उनके लिए भगवत्प्राप्ति मनोकल्पनामात्र है, जिसमें उनकी कोई रुचि नहीं। ऐसे मूढ़ अहिंसा जैसे जीवन के प्राथमिक नैतिक सिद्धान्तों तथा अन्य विषयसुखप्रदायक कार्यों में भी प्रवृत्त हो सकते हैं। परन्तु जो परमार्थ-पथ के पथिक ज्ञानी हैं, वे इन विषयासक्त मनुष्यों को चलायमान न करें। ऐसे में अधिक अच्छा हो यदि शान्तभाव से अपना परमार्थ का साधन करता रहे।

अज्ञानी मनुष्य कृष्णभावनाभावित कर्मों के माहात्म्य को हृदयंगम नहीं कर सकता। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण का परामर्श है कि ऐसे व्यक्तियों को विचलित करने में अमूल्य समय नष्ट करना व्यर्थ है। परन्तु भक्तजन भगवान् से भी अधिक कृपामय होते हैं, क्योंकि वे श्रीभगवान् के यथार्थ प्रयोजन को जानते हैं। वे जानते हैं कि कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण होना मानव के लिए परम आवश्यक है। अतएव इस शिक्षा का सम्पूर्ण विश्व में प्रसार करने के लिए महाभागवत बड़े से बड़ा संकट सहते हैं, यहाँ तक कि अज्ञानी के निकट जाकर उसे कृष्णभावनाभावित कर्म (भगवत्सेवा) में नियुक्त करने का प्रयास करते हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

मयि=मुझमें; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **कर्माणि**=कर्म; **संन्यस्य**=पूर्णतया समर्पित

करके; **अध्यात्म**=पूर्ण आत्मज्ञान से युक्त; **चेतसा**=बुद्धि द्वारा; **निराशीः**=निष्काम; **निर्ममः**=ममतारहित; **भूत्वा**=होकर; **युध्यस्व**=युद्ध कर; **विगतज्वरः**=आलस्य के बिना।

अनुवाद

इसलिए हे अर्जुन! सम्पूर्ण कर्मों का मुझमें समर्पण करके, चित्त को मुझमें ही लगाकर तथा ममता, अहंता, और आलस्य से मुक्त होकर निष्काम भाव से युद्ध कर।।३०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवद्गीता का प्रयोजन स्पष्ट रूप में प्रकट है। श्रीभगवान् की शिक्षा है कि स्वधर्म-पालन के लिए सैन्य-अनुशासनवत् पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाना आवश्यक है। यह आदेश अपेक्षाकृत कुछ कठिन हो सकता है। फिर भी श्रीकृष्ण की आश्रयता में स्वधर्मपालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए, क्योंकि यह जीव का शाश्वत् स्वरूप है। जीव का नित्य स्वरूप भगवान् की इच्छा के आधीन रहना है; इसलिए श्रीभगवान् के सहयोग से विमुख जीव सुखी नहीं हो सकता। अतः श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आज्ञा दी, मानो वे उसके सेनानायक हों। भगवत्कृपा-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि सर्वस्व त्याग करने के साथ-साथ भोक्तापन से मुक्त होकर स्वधर्म का आचरण किया जाय। अर्जुन को श्रीभगवान् की आज्ञा पर विचार नहीं करना है, उसे तो तत्काल उसका पालन ही करना है। परमेश्वर श्रीकृष्ण आत्माओं के आत्मा अर्थात् परमात्मा हैं। अतएव जो निष्काम भाव से पूर्णतया उन्हीं के आश्रित हो, अर्थात् पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो, उसे **अध्यात्मचेतसा** कहते हैं। **निराशी** का अर्थ यह है कि गुरु-आज्ञा का निष्काम भाव से पालन करना चाहिए। कोषाध्यक्ष स्वामी के करोड़ों रुपयों की गणना करता है, पर अपने लिए एक पैसा भी नहीं रखता। इस प्रकार यह अनुभव करना चाहिए कि विश्व की सम्पूर्ण सम्पत्ति के स्वामी एकमात्र श्रीभगवान् हैं, मनुष्य नहीं। **मयि** पद का यही तात्पर्य है। जो इस कृष्णभावना से भावित होकर कर्म करता है, वह निस्सन्देह किसी भी पदार्थ पर अपना अधिकार घोषित नहीं करता। इसे **निर्मम** बुद्धि कहा जाता है, अर्थात् मेरा अपना कुछ भी नहीं है। इस दृढ़ आदेश में देह के स्वजनादि सम्बन्धों का विचार नहीं है। अतः इसके पालन में यदि कोई संकोच बाधा दे, तो उसका त्याग करके **विगतज्वर**—सचेत हो जाना चाहिए।गुण और स्थिति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का अपना विशेष कर्तव्य होता है। जैसा पूर्व में कहा गया है, इन सब कर्तव्यों का पालन कृष्णभावनाभावित होकर किया जा सकता है। इससे मुक्तिपथ प्रशस्त हो जायगा।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

ये=जो; **मे**=मेरे; **मतम्**=आदेश को; **इदम्**=इस; **नित्यम्**=शाश्वत् धर्मरूप;

अनुतिष्ठन्ति=विधिवत् पालन करते हैं; **मानवाः**=मनुष्य; **श्रद्धावन्तः**=श्रद्धा-भक्ति से युक्त होकर; **अनसूयन्तः**=ईर्ष्या से रहित; **मुच्यन्ते**=मुक्त हो जाते हैं; **ते**=वे सब; **अपि**=भी; **कर्मभिः**=कर्मबन्धन से।

अनुवाद

जो पुरुष मेरे आदेश के अनुसार स्वधर्म का आचरण करते हुए ईर्ष्या से मुक्त रहकर श्रद्धामात्र से मेरी इस शिक्षा का पालन करते हैं, वे कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं।।३१।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का परम सार और सार्वभौम शाश्वत् सत्य है। जैसे वेद शाश्वत् हैं, उसी भाँति कृष्णभावना का यह सत्य भी शाश्वत् है। भगवान् की इस आज्ञा को द्वेषबुद्धि से मुक्त होकर प्रगाढ़ श्रद्धा सहित धारण करे। ऐसे अनेक दार्शनिक हैं, जो भगवद्गीता पर भाष्य रचते हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण में उनका कोई विश्वास नहीं है। वे कर्मबन्धन से कदापि मुक्त नहीं हो सकते। इसके विपरीत वह साधारण मनुष्य, जो शाश्वत् भगवत्-आज्ञा में अटूट श्रद्धा रखता है, चाहे इसका पालन न भी कर सके, वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। यह सम्भव है कि कृष्णभावना के पथ पर प्रवेश करते समय श्रीभगवान् के आदेश का पूर्ण रूप से पालन न हो सके। परन्तु जो पुरुष इस सिद्धान्त का विरोध नहीं करता, अपितु हानि अथवा निराशा की चिन्ता किये विना साधन में तत्पर रहता है, वह अतिशीघ्र विशुद्ध कृष्णभावनामृत के स्तर पर आरूढ़ हो जाता है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

ये=जो; **तु**=परन्तु; **एतत्**=इस; **अभ्यसूयन्तः**=द्वेष करने वाले; **न**=नहीं; **अनुतिष्ठन्ति**=नित्य आचरण करते; **मे मतम्**=मेरे आदेश का; **सर्वज्ञान**=सम्पूर्ण ज्ञान में; **विमूढान्**=पूर्णतया भ्रमित; **तान्**=उन्हें; **विद्धि**=जान; **नष्टान्**=नष्ट हुए; **अचेतसः**=कृष्णभावनाशून्य।

अनुवाद

परन्तु जो द्वेष के कारण मेरे इस उपदेश की उपेक्षा करते हैं, अर्थात् नित्य-निरन्तर इसका पालन नहीं करते, उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान से शून्य, भ्रान्त तथा अज्ञान और बन्धन से भ्रष्ट हुआ जानना चाहिए।।३२।।

तात्पर्य

इस श्लोक में कृष्णभावनाभावित न होने के दोष को स्पष्ट किया गया है। राज-अवज्ञा के समान भगवत्-आज्ञा के उल्लंघन का दण्ड भी अवश्यमेव भोगना होगा। अवज्ञाकारी वड़े से वड़ा कोई भी क्यों न हो, हृदयशून्यता के कारण उसे अपना स्वरूप और परब्रह्म, परमात्मा एवं श्रीभगवान् का तत्त्व भी अज्ञात रहता है। अतएव उसके लिए जीवन की सार्थकता की कोई आशा नहीं हो सकती।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

सदृशम्=अनुसार; **चेष्टते**=चेष्टा करता है; **स्वस्याः**=अपनी; **प्रकृतेः**=गुणों के; **ज्ञानवान्**=ज्ञानी; **अपि**=भी; **प्रकृतिम्**=प्रकृति को; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **भूतानि**=सब प्राणी; **निग्रहः**=बलात् निरोध; **किम्**=क्या; **करिष्यति**=कर सकता है।

अनुवाद

ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है क्योंकि सब प्राणी अपनी प्रकृति को ही प्राप्त होते हैं। फिर इसमें बलपूर्वक निग्रह क्या करेगा?।।३३।।

तात्पर्य

कृष्णभावनामृत की शुद्ध सत्त्वमयी भावभूमि पर आरूढ़ हुए बिना त्रिगुणमयी माया से मुक्ति नहीं हो सकती, जैसा स्वयं श्रीभगवान् ने (७.१४) कहा है। अतएव लौकिक स्तर पर स्थित बड़े से बड़े विद्वान् के लिए भी देह और आत्मा में भेद के केवल पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर मुक्त हो जाना असम्भव है। ऐसे अनेक कपट-योगी हैं, जो बाह्य रूप से इस विज्ञान में उन्नत होने का दम्भ करते हैं, परन्तु हृदय में पूर्णरूप से उन प्राकृतिक गुणों के आधीन रहते हैं जिनका वे उल्लंघन नहीं कर सकते। पुस्तकीय ज्ञान का पारगामी उच्च विद्वान् भी चिरकाल से चले आ रहे मायासंग के कारण मुक्त नहीं हो पाता, जबकि कृष्णभावना उस मनुष्य के लिए भी बन्धनमुक्ति में सहायक सिद्ध होती है, जो स्वधर्म-पालन में व्यस्त हो। अतः पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित हुए बिना अकस्मात् स्वधर्म को त्याग कर कपट-योगी नहीं बनना चाहिए। अधिक उत्तम यह है कि यथास्थिति बने रहकर सद्गुरु की शिक्षा के आश्रय में कृष्णभावनाभावित होने का प्रयत्न करता रहे। इस विधि द्वारा मायाबन्धन से मोक्ष सुलभ हो सकता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

इन्द्रियस्य=इन्द्रियों के; **इन्द्रियस्य अर्थे**=विषयों में; **राग**=आसक्ति; **द्वेषौ**=द्वेष; **व्यवस्थितौ**=स्थित हैं; **तयोः**=उनके; **न**=नहीं; **वशम्**=नियन्त्रण में; **आगच्छेत्**=आए; **तौ**=वे; **हि**=निःसन्देह; **अस्य**=इसके; **परिपन्थिनौ**=व्यवधान हैं।

अनुवाद

बद्ध जीवों को इन्द्रियविषयों में राग-द्वेष का अनुभव होता है; परन्तु इन्द्रियों तथा इन्द्रियविषयों के वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों स्वरूप-साक्षात्कार के मार्ग में विघ्नकारी हैं।।३४।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित महानुभाव स्वभावतः प्राकृत इन्द्रियतृप्ति के प्रति वितृष्ण रहते हैं। परन्तु जो इस उदात्त भावना से युक्त नहीं हैं, उन्हें शास्त्रीय विधि-विधान का

पालन करना चाहिए। अमर्यादित विषयभोग भवबन्धन का हेतु है, परन्तु शास्त्रीय विधि-विधान का अनुसरण करने वाला इन्द्रियविषयों में नहीं वँधता। उदाहरण-स्वरूप, मैथुन वद्धजीव की एक आवश्यकता है और वैवाहिक सम्बन्ध के रूप में अनुमत भी है। शास्त्र में अपनी स्त्री के अतिरिक्त किसी भी अन्य स्त्री के साथ मैथुनिक सम्बन्ध में प्रवृत्त होने का निषेध है। अन्य सब स्त्रियों में मातृभाव रखना उचित है। परन्तु शास्त्र की ऐसी स्पष्ट आज्ञा होने पर भी अन्य स्त्रियों से निषिद्ध सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति मनुष्य में रहती है। इन प्रवृत्तियों को निगृहीत करना होगा। अन्यथा वे स्वरूप-साक्षात्कार के पथ में विघ्नकारी सिद्ध होंगी। जब तक देह विद्यमान है, तब तक उसकी आवश्यकताओं की नियमित पूर्ति की जा सकती है। परन्तु, हमें इस प्रकार के संयम पर ही पूर्णरूप से निर्भर नहीं रहना चाहिए। विधि-विधान का पालन भी अनासक्त भाव से ही करे, क्योंकि मर्यादित इन्द्रियतृप्ति करते हुए भी मार्गभ्रष्ट होने का भय बना रहता है, उसी प्रकार जैसे राजपथ पर भी दुर्घटना हो सकती है। अत्यन्त सावधानीपूर्वक संरक्षित पथ के लिए भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सर्वथा निरापद है। विषयसंग के कारण जीव में इन्द्रियतृप्ति की वासना चिरंतन काल से चली आ रही है। अतः संयमित रूप से इन्द्रियतर्पण करने पर भी अधःपतन की संभावना बनी रहती है। इस कारण मर्यादित इन्द्रियतृप्ति में भी लेशमात्र आसक्ति न हो जाय, पूर्ण सावधान रहे। परन्तु श्रीकृष्ण की भक्ति से भावित कर्म की यह विशेषता है कि वह सब प्रकार की इन्द्रिय सम्बन्धी क्रियाओं से विरत कर देता है। अतएव जीवन की किसी भी अवस्था में कृष्णभावनामृत से विरक्त होने की चेष्टा न करे; सब प्रकार की इन्द्रिय-विषयैषणा से विरक्त होने का एकमात्र प्रयोजन अन्त में कृष्णभावनाभावित हो जाना ही है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

श्रेयान्=अधिक कल्याणकारी है; **स्वधर्मः**=अपना कर्तव्य; **विगुणः**=दोष-युक्त भी; **परधर्मात्**=दूसरों के धर्म से; **स्वनुष्ठितात्**=भलीभाँति आचरित; **स्वधर्मे**=स्वधर्म में; **निधनम्**=मरना भी; **श्रेयः**=उत्तम है; **परधर्मः**=दूसरों का कर्तव्य; **भयावहः**=भयदायक है।

अनुवाद

दूसरे के धर्म की अपेक्षा दोषयुक्त होने पर भी स्वधर्म का आचरण अधिक कल्याणकारी है। परधर्म में प्रवृत्त होने की तुलना में स्वधर्म में मरना भी उत्तम है; दूसरे का धर्म तो भय को देने वाला है।।३५।।

तात्पर्य

परधर्म की अपेक्षा पूर्ण कृष्णभावना से युक्त होकर स्वधर्म का ही आचरण करना चाहिए। स्वधर्म का विधान गुणों के द्वारा निर्धारित मनोदैहिक स्थिति के अनुसार

किया गया है। श्रीगुरु द्वारा उपदिष्ट पारमार्थिक कर्तव्य श्रीकृष्ण की भक्ति के लिए प्रयोजित हैं, परन्तु दूसरे के धर्म (कर्तव्य) का अनुकरण करने की अपेक्षा आजन्म लौकिक-पारलौकिक स्वधर्म में दृढ़ रहना भी उत्तम है। लौकिक और पारमार्थिक धर्म में भेद हो सकता है, पर प्रामाणिक आज्ञा का पालन करना दोनों रूपों में कल्याणकारी है। जो प्रकृति के गुणों से युक्त है, उसे दूसरों का अनुकरण न करके यथायोग्य स्वधर्म-आचरण करना चाहिए। उदाहरण के लिए, सत्त्वगुणी ब्राह्मण अहिंसक होता है, जबकि रजोगुणी क्षत्रिय के लिए हिंसा की छूट है। इस न्याय से एक क्षत्रिय के लिए ब्राह्मणोचित अहिंसा का अनुकरण करने की अपेक्षा हिंसा करते हुए परास्त होना अधिक उत्तम होगा। प्रत्येक मनुष्य को क्रमिक प्रणाली के द्वारा हृदय का शुद्धिकरण करना है, अकस्मात् नहीं। परन्तु प्राकृतिक गुणों को लंघन करके पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित हो जाने पर तो वह प्रामाणिक गुरु की आज्ञानुसार कुछ भी कर्म कर सकता है। कृष्णभावना की उस पूर्णावस्था में क्षत्रिय ब्राह्मण के समान तथा ब्राह्मण क्षत्रिय के समान कर्म कर सकता है। उस शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था में प्राकृत-जगत् के भेदभाव नहीं रहते। उदाहरणस्वरूप, विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु परवर्ती काल में उन्होंने ब्राह्मणोचित व्यवहार किया और ब्राह्मण होने पर भी परशुराम ने क्षत्रिय के कर्म किये। शुद्धसत्त्व में स्थित होने के कारण वे ऐसा कर सकते थे। परन्तु जब तक त्रिगुणों में स्थिति है, तब तक गुणों के अनुसार स्वधर्म का पालन करना चाहिए। साथ ही, पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित हो जाय।

अर्जुन उवाच।
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **अथ**=ऐसे में; **केन**=किसके द्वारा; **प्रयुक्तः**=प्रेरित हुआ; **अयम्**=यह; **पापम्**=पाप कर्म; **चरति**=करता है; **पूरुषः**=मनुष्य; **अनिच्छन्**=इच्छा न होने पर; **अपि**=भी; **वार्ष्णेय**=हे वृष्णिवंशी श्रीकृष्ण; **बलात् इव**=बलपूर्वक की भाँति; **नियोजितः**=लगाया हुआ।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे वार्ष्णेय (श्रीकृष्ण)! फिर किसके द्वारा प्रेरित हुआ यह मनुष्य इच्छा न होने पर भी बलात् पापकर्म में प्रवृत्त हो जाता है?।।३६।।

तात्पर्य

जीवात्मा श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है, इसलिए अपने आद्य स्वरूप में दिव्य, शुद्ध एवं समस्त प्राकृतिक विकारों से मुक्त है। अतएव स्वभावतः वह प्राकृत-जगत् के पापकर्मों में प्रवृत्त नहीं हो सकता। किन्तु माया के संसर्ग में आने पर निस्सङ्कोच नाना प्रकार से, बहुधा मन के विरुद्ध भी, अनेक पापकर्म कर बैठता है। अतः संसार में जीवों का स्वभाव विकृत क्यों हो जाता है, इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण से अर्जुन की

जिज्ञासा बहुत समीचीन है। यद्यपि कभी-कभी जीवात्मा पापकर्म करना नहीं चाहता, तथापि बलात्कार से उसमें प्रवृत्त हो जाता है। ये पापकर्म अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा प्रेरित नहीं होते; जैसा श्रीभगवान् अगले श्लोक में कह रहे हैं, इसका एक अन्य कारण है।

श्रीभगवानुवाच ।
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।३७।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **कामः**=काम; **एषः**=यह; **क्रोधः**=क्रोध; **एषः**=यही; **रजोगुण**=रजोगुण से; **समुद्भवः**=उत्पन्न हुआ; **महाशनः**=तृप्त न होने वाला; **महापाप्मा**=बड़ा पापमय; **विद्धि**=जान; **एनम्**=इसे; **इह**=इस जगत् में; **वैरिणम्**=परम शत्रु।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! इसका कारण रजोगुण से उत्पन्न काम ही है, जो बाद में क्रोध का रूप धारण कर लेता है और जो इस संसार में कभी न तृप्त होने वाला महापापी शत्रु है।।३७।।

तात्पर्य

जब जीवात्मा प्राकृत सृष्टि के संसर्ग में आता है, तो उसका नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम रजोगुण के संग से काम में रूपान्तरित हो जाता है। भगवत्प्रेम का भाव काम में उसी प्रकार बदल जाता है, जैसे ईमली से संसर्ग से दुग्ध दही का रूप धारण कर लेता है। पुनः, अतृप्त रह जाने पर काम क्रोध का रूप धारण कर लेता है और क्रोध सम्मोह में परिणत हो जाता है। इसी सम्मोह से भवबन्धन का चक्र अविराम गतिशील है। अतएव काम जीवात्मा का सर्वप्रधान शत्रु सिद्ध हुआ, क्योंकि शुद्ध जीवात्मा को प्राकृत-जगत् में बँधे रहने के लिए प्रेरित करने वाला काम ही है। क्रोध तमोगुण की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार प्रकृति के गुण क्रोध तथा अन्य उपविकारों के रूप में प्रकट होते हैं। इसलिए रजोगुण तमोगुण का रूप धारण करे, इससे पूर्व ही यदि सदाचार और स्वधर्म के पालन द्वारा उसे सत्त्वगुण में आरूढ़ कर दिया जाय तो क्रोध रूपी अधःपतन से त्राण हो सकता है।

अपने नित्य वर्धमान चिदानन्द का आस्वादन करने के लिए श्रीभगवान् ने बहु रूप धारण किए। जीवात्मा इसी चिदानन्द के भिन्न-अंश हैं। उन्हें आंशिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त है। परन्तु वे इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर बैठते हैं, जिससे उनका स्वाभाविक सेवाभाव इन्द्रियतृप्ति में बदल जाता है और वे काम के आधीन हो जाते हैं। श्रीभगवान् ने इस प्राकृत सृष्टि का सृजन इसीलिए किया है, जिससे बद्धजीव अपनी कामोन्मुखी प्रवृत्तियों को पूर्ण कर सकें। सुदीर्घकाल तक कर्म करके पूर्णतया निराश हो जाने पर ही जीव अपने यथार्थ स्वरूप की जिज्ञासा करते हैं।

यही जिज्ञासा 'ब्रह्मसूत्र' का उपक्रम है, **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा,** 'परतत्त्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा करनी चाहिए।' श्रीमद्भागवत में परम सत्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है: **जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्च**—'परब्रह्म सम्पूर्ण पदार्थों के जनक हैं।' अतः काम का उद्गम भी उन्हीं से हुआ है। इसलिए यदि काम को भगवत्प्रेम, अर्थात् कृष्णभावना, अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही सब इच्छा करने में परिणत कर दिया जाय, तो काम-क्रोध दोनों दिव्य हो जायेंगे। भगवान् राम के अनन्य सेवक श्रीहनुमानजी ने शत्रुओं पर अपने रोष का भगवत्सेवा में उपयोग किया था। इस प्रकार कृष्णभावना में नियोजित काम-क्रोध भी शत्रु नहीं रहते, वरन् मित्र बन जाते हैं।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

धूमेन=धूम्र द्वारा; **आव्रियते**=ढका रहता है; **वह्निः**=अग्नि; **यथा**=जिस प्रकार; **आदर्शः**=दर्पण; **मलेन**=धूल द्वारा; **च**=तथा; **यथा**=जैसे; **उल्बेन**=गर्भाशय द्वारा; **आवृतः**=ढका हुआ; **गर्भः**=गर्भ; **तथा**=उसी प्रकार; **तेन**=उस काम द्वारा; **इदम्**=यह; **आवृतम्**=आच्छादित है।

अनुवाद

जिस प्रकार धूएँ से अग्नि, धूल से दर्पण अथवा जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही जीवात्मा अलग-अलग अनुपात में इस काम के आवरण से ढका हुआ है।।३८।।

तात्पर्य

जीवात्मा की शुद्ध चेतना को धूमिल करने वाला आवरण प्रगाढ़ता के अनुपात-भेद से तीन प्रकार का होता है, जैसे अग्नि में धूम्र, दर्पण पर मल तथा गर्भ को ढकने वाला गर्भाशय। इस प्रकार विविध परिस्थितियों में अलग-अलग अनुपात में अभिव्यक्त होने वाला यह आवरण काम ही है। जब काम को धूम्र की उपमा दी जाती है तो यह समझना चाहिए कि जीवात्मा का स्वरूप कुछ-कुछ अनुभवगम्य है। प्रकारान्तर से, जब जीवात्मा कृष्णभावना का हलका-सा प्रदर्शन करता है तो उसे धूएँ से ढकी अग्नि की उपमा दी जा सकती है। यद्यपि यह सत्य है कि जहाँ भी धूम्र हो वहाँ अग्नि का होना अनिवार्य है; फिर भी पहले-पहले अग्नि की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होती। यह अवस्था कृष्णभावनामृत के प्रारम्भ जैसी है। दर्पण पर रज का उदाहरण पारमार्थिक साधनों से चित्त रूपी दर्पण के शोधन की ओर संकेत करता है। इसकी सर्वोत्तम पद्धति भगवन्नाम-कीर्तन है। जेर द्वारा आच्छादित गर्भ के उदाहरण से एक असहाय अवस्था का दृष्टान्त दिया गया है, क्योंकि गर्भ में शिशु इतनी असहाय अवस्था में रहता है कि कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकता। जीवन की यह अवस्था वृक्षों के तुल्य है। वृक्ष जीवात्मा हैं, किन्तु उनमें काम की प्रबलता को देखते हुए उन्हें ऐसी

योनि मिली है जो प्रायः चेतनाशून्य है। धूमिल दर्पण पशु-पक्षियों के तुल्य है तथा धूम्र से आच्छादित अग्नि मनुष्य से तुलनीय है। मानव देह में ही जीवात्मा अपनी कृष्णभावना का पुनः उन्मेष कर सकता है। इसके अधिक प्रगति करने पर भगवद्भक्ति रूपिणी अग्नि सम्पूर्ण मानव समाज में प्रोज्ज्वलित की जा सकती है। यदि उस अग्नि से निकले धूम्र का भलीभाँति नियन्त्रण किया जाय तो वह प्रचण्ड हो उठेगी। इस प्रकार मानव देह जीवात्मा के लिए भवबन्धन से मोक्ष-प्राप्ति का अन्यतम अवसर है। इस मानव देह में ही सद्गुरु के आश्रय में कृष्णभावना का सेवन करने से कामरूपी दुर्जेय शत्रु को विजय किया जा सकता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

आवृतम्=आच्छन्न है; **ज्ञानम्**=शुद्ध चेतना; **एतेन**=इस; **ज्ञानिनः**=ज्ञानियों के; **नित्य वैरिणा**=नित्य शत्रु द्वारा; **कामरूपेण**=कामरूपी; **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र अर्जुन; **दुष्पूरेण**=सदा अतृप्त रहने वाले; **अनलेन**=अग्नि के समान; **च**=भी।

अनुवाद

इस प्रकार मनुष्य की शुद्ध चेतना उसके नित्य वैरी, इस काम से ढकी हुई है, जो सदा अतृप्त अग्नि के समान प्रचण्ड रहता है।।३९।।

तात्पर्य

मनुस्मृति में उल्लेख है कि कितना भी विषयभोग क्यों न किया जाय, पर काम की तृप्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार जैसे निरन्तर ईंधन डालते रहने से अग्नि को शांत नहीं किया जा सकता। इस प्राकृत-जगत् में सम्पूर्ण कार्य-कलापों का केन्द्रविन्दु काम ही है। अतएव इस जगत् को 'मैथुन्यागार' कहा गया है। सामान्य कारागार में बन्दी को सलाखों के भीतर रखा जाता है। इसी प्रकार श्रीभगवान् की अवज्ञा करने वाले अपराधियों को मैथुनिक-जीवन में बाँधा जाता है। प्राकृत सभ्यता द्वारा इन्द्रियतृप्ति के साधनों में उन्नति करने का अर्थ जीवात्मा के भवरोग की अवधि को बढ़ाना है। अतः यह उस अज्ञान का चिह्न है, जिससे जीवात्मा संसार में बँधा रहता है। इन्द्रियतृप्ति करते हुए सुख की तुच्छ अनुभूति हो सकती है; परन्तु वास्तव में तो इस प्रकार का नाममात्र का सुख अन्तिम परिणाम में विषयी का परम शत्रु ही सिद्ध होता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

इन्द्रियाणि=इन्द्रियाँ; **मनः**=मन; **बुद्धिः**=बुद्धि; **अस्य**=काम के; **अधिष्ठानम्**=निवास; **उच्यते**=कहे गये हैं; **एतैः**=इन सबके द्वारा; **विमोहयत्ति**=मोहित करता है; **एषः**=यह; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **आवृत्य**=ढककर; **देहिनम्**=देहबद्ध आत्मा का।

अनुवाद

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस काम के निवास हैं। इनके द्वारा यह जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान को ढक कर उसे मोहित करता है।।४०।।

तात्पर्य

शत्रु ने देहवद्ध जीवात्मा के शरीर में सभी सामरिक महत्त्व के स्थलों पर अधिकार कर लिया है। भगवान् श्रीकृष्ण उन स्थानों का संकेत कर रहे हैं, जिससे शत्रु-दमन का अभिलाषी उसके निवासस्थानों से अवगत हो जाय। सम्पूर्ण इन्द्रिय क्रियाओं का केन्द्र मन है। यह मन ही इन्द्रियभोग के सब विचारों का आगार है। यही कारण है कि इन्द्रियाँ काम को निवास देती हैं। इससे आगे बुद्धि इन कामोन्मुखी प्रवृत्तियों की राजधानी वन जाती है। बुद्धि आत्मा की निकट पड़ोसी है। इसलिए कामांध बुद्धि के प्रभाव में आकर आत्मा भी मिथ्या अहंकार के वश में प्रकृति, मन तथा इन्द्रियों से तादात्म्य कर लेता है। इन्द्रियतृप्ति में आसक्त जीवात्मा भ्रमपूर्वक इसी को सच्चा सुख मान वैठता है। देह में जीव की इस मिथ्या आत्मबुद्धि का श्रीमद्भागवत में अति उत्तम वर्णन है—

यस्यात्मबुद्धिः कुणापे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः।।

'जो मनुष्य इस त्रिधातु-निर्मित देह में आत्मबुद्धि रखता है; देहजन्य विकारों को स्वजन समझता है; जन्मभूमि को पूज्य मानता है और भक्तों का सत्संग करने के उद्देश्य को न लेकर, केवल स्नान करने के लिए तीर्थ यात्रा करता है, वह गधे या गाय के तुल्य है।'

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

तस्मात्=इसलिये; **त्वम्**=तू; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियों को; **आदौ**=सबसे पहले; **नियम्य**=वश में करके; **भरतर्षभ**=हे भरतश्रेष्ठ; **पाप्मानम्**=महापापमय; **प्रजहि**=मार; **हि**=निःसन्देह; **एनम्**=इस; **ज्ञान**=ज्ञान; **विज्ञान**=शुद्ध आत्मविज्ञान का; **नाशनम्**=नाश करने वाले।

अनुवाद

इसलिए हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! पहले इन्द्रियों को वश में करके फिर ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाले इस महापापमय काम को मार।।४१।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने अर्जुन को गीता के प्रारम्भ से ही इन्द्रियसंयम करने का आदेश दिया है, जिससे वह आत्मजिज्ञासा और आत्मज्ञान का विनाश करने वाले महापापमय शत्रु—काम का दमन करने में समर्थ हो जाय। ज्ञान का अर्थ है, आत्मा तथा अनात्मा के भेद का बोध, अर्थात् देह से आत्मा की भिन्नता का बोध। **विज्ञान** का तात्पर्य आत्मा का विशिष्ट ज्ञान, स्वरूप का बोध और श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध

को जानना है। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है: **ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्। सरहस्यं तदंगं च गृहाण गदितं मया....** 'मायाच्छादित होने से आत्मा और परतत्त्व का ज्ञान परम गोपनीय (रहस्यमय) हैं, परन्तु जब स्वयं श्रीभगवान् इसका गान करते हैं तो यह ज्ञान-विज्ञान सुगमता से हृदयंगम किया जा सकता है।' भगवद्गीता से यह ज्ञान, विशेष रूप से आत्मज्ञान प्राप्त होता है। जीव स्वरूप से श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं। इसलिए उनका एकमात्र प्रयोजन भगवान् की सेवा करना है। इसी ज्ञान को कृष्णभावना कहा जाता है। मनुष्य को जीवन के आदिकाल से ही कृष्णभावना की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जिससे वह कृष्णभावना से पूर्णतया भावित होकर भगवत्सेवा रूपी कर्म कर सके।

वास्तव में काम जीव के नित्य स्वरूपसिद्ध भगवत्प्रेम की ही विकृत छाया है। इसलिए यदि शैशव में कृष्णभावनामृत की शिक्षा ग्रहण कर ली जाय तो जीव का स्वाभाविक कृष्णप्रेम काम के रूप में विकृत नहीं होगा। भगवत्प्रेम के काम में विकृत हो जाने पर स्वाभाविक स्थिति को पुनः प्राप्त करना बड़ा दुःसाध्य हो जाता है। तथापि, कृष्णभावना इतनी समर्थ है कि विलम्बित प्रयत्न करने वाला भी वैधी-भक्ति के द्वारा कृष्णप्रेमी बन सकता है। अतः जीवन की किसी भी अवस्था में इसकी अनिवार्यता को समझते ही कृष्णभावना (भगवद्भक्ति) के द्वारा इन्द्रियसंयम का अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए। इससे अन्धकारमय काम परम उज्ज्वल कृष्णप्रेम में परिणत हो जायगा, जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।

इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को; **पराणि**=श्रेष्ठ; **आहुः**=कहा जाता है; **इन्द्रियेभ्यः**= इन्द्रियों से अधिक; **परम्**=श्रेष्ठ; **मनः**=मन; **मनसः**=मन से; **तु**=भी; **परा**=उत्कृष्ट; **बुद्धिः**=मनीषा है; **यः**=जो; **बुद्धेः**=बुद्धि से भी; **परतः**=उत्तम; **तु**=किन्तु; **सः**=वह (आत्मा) है।

अनुवाद

कर्मेन्द्रियाँ जड़ प्रकृति से श्रेष्ठ हैं; मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है; बुद्धि मन से भी श्रेष्ठतर है और वह (आत्मा) बुद्धि से भी परे है।।४२।।

तात्पर्य

इन्द्रियाँ काममयी क्रियाओं की द्वार हैं। काम का निवास देह के भीतर है, इन इन्द्रियों के द्वारा उसे बाहर मार्ग दिया जाता है। इसलिए सम्पूर्ण देह की तुलना में इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। पर कृष्णभावना में इन मार्गों का उपयोग नहीं किया जाता। कृष्णभावना में जीवात्मा साक्षात् श्रीभगवान् का सान्निध्य प्राप्त करता है अतः यहाँ उल्लिखित शारीरिक कार्यों के अन्त परमात्मा हैं। किसी भी शारीरिक चेष्टा में इन्द्रियक्रिया होती है, इसलिए इन्द्रिय-प्रतिरोध का अर्थ है सम्पूर्ण शारीरिक क्रियाओं का

अवरोधन। परन्तु शरीर के निश्चेष्ट और शान्त होने पर भी मन क्रियाशील रहता है, जैसे स्वप्न में। किन्तु मन से उत्तम बुद्धि की संकल्पशक्ति है तथा बुद्धि से भी उच्चतर स्वयं आत्मा है। अतएव यदि आत्मा भगवन्निष्ठ हो जाय तो बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि उसके सब अनुगामी भी अपने आप भक्तिनिष्ठ हो जायेंगे। 'कठोपनिषद्' की एक कथा में उल्लेख है कि इन्द्रियों से इन्द्रियविषय बली है और मन इन्द्रियविषयों से भी बली है। इसलिए यदि मन को प्रत्यक्ष रूप से भगवत्सेवामृत में अहर्निश निमज्जित रखा जाय, तो इन्द्रियों के लिए अन्य विषयों में तत्पर होने की कुछ भी सम्भावना शेष नहीं रहेगी। इस मनोभाव का विवेचन पूर्व श्लोकों में द्रष्टव्य है। निस्सन्देह, भगवत्सेवा-परायण मन के लिए तुच्छ विषयों के उन्मुख होना असम्भव हो जायगा। इसीलिए 'कठोपनिषद्' में आत्मा को 'महान्' कहा गया है। इस प्रकार इन्द्रियविषयों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि सब तत्त्वों से आत्मा अति परे है। अतएव सीधे-सीधे आत्मा के स्वरूप को समझने से सम्पूर्ण प्रापञ्चिक समस्या का समाधान हो सकता है।

जीवात्मा का कर्तव्य केवल इतना है कि बुद्धि के द्वारा अपने स्वरूप की जिज्ञासा करे और चित्त को कृष्णभावनामृत में निमज्जित रखे। इससे सम्पूर्ण समस्या का समाधान हो जायगा। प्रारम्भिक साधक को इन्द्रियविषयों से दूर रहने का परामर्श देया जाता है। परन्तु यदि भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होकर बुद्धि के सहित चित्त को कृष्णभावना में निमज्जित कर दिया जाय, तो मन सशक्त हो जायगा, जिससे सर्प के समान अति बलवान् इन्द्रियाँ भी खण्डित विषदशधारी सर्पों के समान अशक्त हो जायेंगी। यद्यपि आत्मा बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का स्वामी है; परन्तु यदि उसे कृष्णभावना में श्रीकृष्णसंग के द्वारा सशक्त नहीं किया जायगा, तो चित्त के वेगवश परमार्थ से पतन की पूर्ण सम्भावना है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

एवम्=इस प्रकार; **बुद्धेः**=बुद्धि से; **परम्**=श्रेष्ठ; **बुद्ध्वा**=जानकर; **संस्तभ्य**=वश में करके; **आत्मानम्**=मन को; **आत्मना**=बुद्धि द्वारा; **जहि**=मार; **शत्रुम्**=शत्रु को; **महाबाहो**=हे महाबाहु; **कामरूपम्**=कामरूपी; **दुरासदम्**=दुर्जेय।

अनुवाद

इस प्रकार हे महाबाहु ! इन्द्रियों, मन और बुद्धि से परे अपने दिव्य आत्मस्वरूप को जानकर और बुद्धि के द्वारा चित्त को वश में करके आत्मशक्ति से युक्त होकर इस कामरूपी कभी शान्त न होने वाले दुर्धर्ष शत्रु को मार।।४३।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता का यह तृतीय अध्याय निर्विशेष शून्यवाद को पूर्ण रूप से निरस्त करके जीव को यह ज्ञान प्रदान करता है कि वह श्रीकृष्ण का नित्य दास है

और इस प्रकार उसे कृष्णभावना की दिशा में निर्णायक रूप से अग्रसर करता है। प्रापञ्चिक जीवन में जीव काम-विकार और प्रकृति पर प्रभुत्व की कामना से निश्चित रूप में युक्त रहता है। प्रभुत्व की इच्छा और इन्द्रियतृप्ति मायाबद्ध जीव के परम शत्रु हैं; परन्तु कृष्णभावनामृत की शक्ति के द्वारा वह इन्द्रियों, मन और बुद्धि का संयम करने में सक्षम हो जाता है। अकस्मात् कर्म और स्वधर्म का त्याग करना आवश्यक नहीं है; शुद्ध स्वरूप में एकाग्र मति के द्वारा कृष्णभावना का शनैः शनैः विकास करने से उस शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था की प्राप्ति हो जाती है जो इन्द्रियों और चित्त से परे है। यह सिद्धान्त इस अध्याय का परम सार है। संसार की अपरिपक्व दशा में ज्ञान अथवा योगासनों के अभ्यास से इन्द्रियों को वश में करने का कृत्रिम प्रयास मानव के लिये भगवत्प्राप्ति में कभी सहायक नहीं हो सकता। इसके लिए सद्गुरु से कृष्णभावना की शिक्षा प्राप्त करनी होगी।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये तृतीयोऽध्यायः।।

अथ चतुर्थोऽध्याय:

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

(दिव्यज्ञान)

श्रीभगवानुवाच।
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **इमम्**=इस; **विवस्वते**=सूर्यदेव को; **योगम्**=श्रीभगवान् से जीवात्मा के सम्बन्ध की विद्या का; **प्रोक्तवान्**=उपदेश किया था; **अहम्**=मैंने; **अव्ययम्**=अविनाशी; **विवस्वान्**=विवस्वान् (सूर्य) ने; **मनवे**=मानव-जाति के जन्मदाता वैवस्वत मनु से; **प्राह**=कहा; **मनुः**=मनु ने; **इक्ष्वाकवे**=राजा इक्ष्वाकु के प्रति; **अब्रवीत्**=कहा।

अनुवाद

भगवान् ने कहा, मैंने इस अविनाशी योग का सूर्यदेव विवस्वान् को उपदेश किया था। विवस्वान् ने इसकी शिक्षा मानव जाति के जन्मदाता मनु को दी तथा मनु ने इक्ष्वाकु के प्रति कहा।।१।।

तात्पर्य

इस श्लोक में हमें भगवद्गीता का इतिहास प्राप्त होता है, जो उस चिरन्तन काल से अनुरेखित किया गया है जब वह सम्पूर्ण लोकों के राजाओं को प्रदान की गई थी। यह विज्ञान विशेष रूप से प्रजाजनों की रक्षा के लिए प्रयोजित है। इसलिए

राजवंश को इसे भलीभाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए, जिससे वह प्रजा का पालन और कामरूपी बन्धन से संरक्षण कर सके। मानव जीवन का उद्देश्य भगवान् से अपने शाश्वत् सम्बन्ध के ज्ञान का अर्जन करना है। अतएव सब राज्यों और लोकों के अधिनायकों का यह प्रधान कर्तव्य है कि विद्या, संस्कृति और भक्ति के द्वारा जनता में इस शिक्षा का प्रसार करें। दूसरे शब्दों में, सभी राज्याध्यक्षों से यह आशा की जाती है कि वे कृष्णभावना का प्रसार करें, जिससे कि इस विज्ञान से लाभान्वित होकर जनता मानवयोनि के दुर्लभ सुअवसर का सदुपयोग करती हुई सर्वोन्मुखी विजयपथ का अनुसरण कर सके।

इस युग में सूर्य के अधिष्ठातृ-देवता विवस्वान् हैं। ये सम्पूर्ण सौरमण्डलीय लोकों के जन्मदाता और सूर्यलोक के अधिपति हैं। ब्रह्मसंहिता में उल्लेख है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भ्रतकालचक्रो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

ब्रह्माजी ने कहा, 'मैं भगवान् गोविन्द का भजन करता हूँ, जो आदिपुरुष हैं और जिनकी आज्ञानुसार सम्पूर्ण लोकों का अधिपति सूर्य अशेष तेज एवं शक्ति धारण कर रहा है। यह सूर्य भगवान् गोविन्द के चक्षु के तुल्य है और उन्हीं की आज्ञानुसार अपने काल-चक्र में घूमता है।'

सूर्य सम्पूर्ण लोकों का अधिपति है और सूर्यदेव (वर्तमान समय में विवस्वान्) तेज-शक्ति की आपूर्ति करके अन्य सब लोकों का नियन्त्रण करने वाले इस सूर्य पर राज्य करते हैं। यह भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार भ्रमण कर रहा है। आदिकाल में भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता-विज्ञान ग्रहण करने के लिए विवस्वान् को ही अपना प्रथम शिष्य बनाया था। अतः गीता क्षुद्र लौकिक विद्वान् के लिये प्रयोजित मनोधर्मी की रचना न होकर स्मरणातीत काल से चली आ रही परम्परा के द्वारा प्राप्त प्रामाणिक ज्ञान-शास्त्र है। महाभारत (शान्तिपर्व ३४८.५१-५२) में गीता-इतिहास के सम्बन्ध में यह उल्लेख है—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः।।

"त्रेतायुग के आदि में विवस्वान् ने इस योग (भगवान् से सम्बन्ध) विषयक विज्ञान का मनु को उपदेश किया था और मनु ने, जो मानवमात्र के जन्मदाता हैं, इसे पुत्र महाराज इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु इस पृथ्वी के शासक एवं उस रघुवंश के पूर्वज थे, जिसमें भगवान् श्रीराम ने अवतार ग्रहण किया। इससे प्रमाणित होता है कि भगवद्गीता मानव समाज में महाराज इक्ष्वाकु के समय से ही विद्यमान है।'

वर्तमान कलियुग के केवल ५००० वर्ष व्यतीत हुए हैं, जबकि इसकि पूर्णायु ४,३२,००० वर्ष है। इससे पूर्व द्वापर युग (८,००,००० वर्ष) और उससे भी पूर्व त्रेतायुग (१२,००,००० वर्ष) व्यतीत हो चुके हैं। इस प्रकार लगभग

२०,०५,००० वर्ष पूर्व मनु ने अपने शिष्य और पुत्र, इस पृथ्वी के सार्वभौम सम्राट् महाराज इक्ष्वाकु के प्रति भगवद्गीता का प्रवचन किया था। वर्तमान मनु की आयु लगभग ३०,५३,००,००० वर्ष है, जिसमें से १२,०४,००,००० का व्यय हो चुका है। मनु से पूर्व श्रीभगवान् अपने शिष्य सूर्यदेव विवस्वान् के समक्ष गीतोपदेश कर चुके थे। इस अनुमान के अनुसार गीता का सर्वप्रथम प्रवचन कम से कम १२,०४,००,००० पूर्व हुआ और मानव समाज में भी लगभग २०,००,००० वर्ष से इसका प्रचलन रहा है। आज से पाँच हजार वर्ष पहले भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को श्रोता बनाकर इसका पुनः गायन किया। स्वयं गीता और गीतागायक भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता के इतिहास का यह स्थूल अनुमानमात्र है। गीता सूर्यदेव विवस्वान् के प्रति कही गयी थी, क्योंकि वे क्षत्रिय हैं; वस्तुतः सम्पूर्ण सूर्यवंशी क्षत्रियों के जन्मदाता हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की वाणी होने से भगवद्गीता वेदतुल्य अपौरुषेय ज्ञान है। वेद-वाणी को उसके मूलरूप में वाग्चातुरी के बिना स्वीकार किया जाता है। इसलिए गीता को भी इसी प्रकार यथारूप में अंगीकार करना होगा। तार्किक अपनी उच्छृंखल विधि से गीता का कुछ भी मनमाना अर्थ लगा सकते हैं; परन्तु भगवद्गीता का यथार्थ स्वरूप उन्हें सदा अलभ्य रहेगा। अतएव भगवद्गीता को गुरुपरम्परा के अनुसार यथारूप में हृदयंगम करना ही कल्याणकारी है। इसी सिद्धान्त की स्थापना के लिए यहाँ कहा गया है कि श्रीभगवान् ने सूर्यदेव को, सूर्यदेव ने पुत्र मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को भगवद्गीता का उपदेश किया।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।२।।

एवम्=इस प्रकार; **परम्परा**=शिष्यपरम्परा से; **प्राप्तम्**=प्राप्त हुए; **इमम्**=इस विज्ञान को; **राजर्षयः**=राजर्षियों ने; **विदुः**=जाना; **सः**=वह; **कालेन**=कालक्रम से; **इह**=इस संसार में; **महता**=महान्; **योगः**=श्रीभगवान् से जीव के सम्बन्ध का विज्ञान; **नष्टः**=लोप हो गया; **परंतप**=हे शत्रुविजयी अर्जुन।

अनुवाद

इस प्रकार शिष्यपरम्परा के द्वारा यह परम विज्ञान प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इस विधि से जाना; किन्तु काल-क्रम से वह परम्परा खण्डित हो गई, जिससे यह विज्ञान अपने यथार्थ रूप में लुप्तप्रायः हो गया।।२।।

तात्पर्य

यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि गीता विशेष रूप से राजर्षियों के लिए प्रयोजित है; उन्हें लोकशासन के रूप में इसके लक्ष्य को कार्यान्वित करना है। निस्सन्देह भगवद्गीता का अभिप्राय उन मनुष्य रूपधारी असुरों के लिए कदापि नहीं था, जो नाना प्रकार से गीता की गौरव-गरिमा को नष्ट-भ्रष्ट करते हुए सभी का अहित

करते हैं। तथापि कालान्तर में निर्लज्ज, अविवेकी भाष्यकारों के निहित स्वार्थवश गीता का मूल प्रयोजन छिन्न-भिन्न हो गया। इसलिए शिष्यपरम्परा को पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता उपस्थित हो गई। पाँच हजार वर्ष पहले स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण को अनुभव हुआ कि शिष्यपरम्परा पूर्णतया विश्रृंखल हो गई है। इसी से उन्होंने घोषित किया कि गीता का प्रयोजन नष्टप्राय हो गया। ऐसे ही वर्तमान समय में गीता के अनेक संस्करण उपलब्ध हैं, किन्तु इनमें से प्रायः एक भी प्रामाणिक शिष्यपरम्परा का अनुगमन नहीं करता। विभिन्न लौकिक विद्वानों ने अगणित भाष्यों की रचना की है; परन्तु उनमें से प्रायः सभी श्रीकृष्ण को भगवान् स्वीकार नहीं करते, यद्यपि श्रीकृष्ण की वाणी के आधार पर ही वे अच्छा व्यापार कर लेते हैं। यह आसुरभाव है; क्योंकि वे श्रीभगवान् की सम्पत्ति का उपभोग तो करते हैं, पर उन में विश्वास नहीं रखते। अतएव जगत् को शिष्यपरम्परा से प्राप्त हुए गीता के प्रामाणिक संस्करण की बड़ी आवश्यकता है। इस महती आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही प्रस्तुत संस्करण को प्रकाशित किया गया है। भगवद्गीता को यथारूप में अंगीकार करना मानवता के लिए परम कल्याणकारी है; उसे एक मनोधर्ममय रचना समझकर ग्रहण करने से तो केवल समय का अपव्यय ही होगा।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

सः=वह; **एव**=ही; **अयम्**=यह; **मया**=मेरे द्वारा; **ते**=तेरे से; **अद्य**=आज; **योगः**=योग-विज्ञान; **प्रोक्तः**=कहा गया; **पुरातनः**=अति प्राचीन; **भक्तः**=दयित; **असि**=(तू) है; **मे**=मेरा; **सखा**=मित्र; **च**=भी; **इति**=अतः; **रहस्यम्**=रहस्य है; **हि**=निःसन्देह; **एतत्**=यह; **उत्तमम्**=दिव्य।

अनुवाद

वही प्राचीन योग मैंने आज तेरे से कहा है, क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, अतएव इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को हृदय में धारण कर सकता है।।३।।

तात्पर्य

मानव की भक्त और असुर—ये दो कोटियाँ हैं। श्रीभगवान् ने इस परमोच्च विज्ञान के श्रोता के रूप में अर्जुन का वरण किया, क्योंकि वह भगवद्भक्त था। असुरों के लिए यह उत्तम रहस्यमय विज्ञान सर्वथा दुर्बोध्य है। ज्ञान के इस अनुपमेय ग्रन्थ के अनेक संस्करण उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ भक्त-विरचित भाष्य हैं और कुछ में असुरों की टीकाएँ हैं। वास्तव में भक्तों की व्याख्याएँ ही यथार्थ हैं। इसके विपरीत, असुरों के भाष्य सर्वथा निरर्थक हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण को साक्षात् स्वयं भगवान् मानता है। अतः अर्जुन के चरणचिह्नों का अनुसरण करने वाली गीता की व्याख्या ही इस परम विज्ञान की सच्ची सेवा है। दुर्भाग्यवश आसुरभावापन्न भाष्यकार श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मनोकल्पना कर जनता और पाठकवर्ग को श्रीकृष्ण की शिक्षा के पथ से

भटका देते हैं। अतएव कल्याण का अभिलाषी अर्जुन की परम्परा का अनुसरण करे।

अर्जुन उवाच।
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **अपरम्**=आधुनिक काल में हुआ है; **भवतः**=आपका; **जन्म**=आविर्भाव; **परम्**=अत्यन्त प्राचीन है; **जन्म**=जन्म; **विवस्वतः**=सूर्यदेव का; **कथम्**=किस प्रकार; **एतत्**=यह; **विजानीयाम्**=मैं जानूँ; **त्वम्**=आपने; **आदौ**=आदि में; **प्रोक्तवान्**=(इसका) प्रवचन किया; **इति**=ऐसा।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, सूर्यदेव विवस्वान् का जन्म आपसे अति पूर्व हुआ है, इसलिए मैं यह कैसे समझूँ कि पहले आपने ही सूर्य को इस योग का उपदेश किया था।।४।।

तात्पर्य

अर्जुन त्रिभुवन-विश्रुत भगवद्भक्त है; इसलिए यह क्योंकर सम्भव है कि वह श्रीकृष्ण की वाणी को स्वीकार न करे? वास्तव में अर्जुन अपने लिए नहीं, वरन् उनके निमित्त से जिज्ञासा कर रहा है, जो श्रीभगवान् में आस्थाहीन हैं अथवा आसुरभाव के कारण जिन्हें श्रीकृष्ण को भगवान् मानना प्रिय नहीं। उन्हीं के लिए अर्जुन इस सन्दर्भ में जिज्ञासा कर रहा है, मानो वह स्वयं ही भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को न जानता हो। दसवें अध्याय से स्पष्ट हो जायगा कि अर्जुन इस सत्य को भलीभाँति जानता था कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, सम्पूर्ण कारणों के परम कारण एवं परब्रह्म की अवधि हैं। निस्सन्देह श्रीकृष्ण देवकीनन्दन के रूप में अवतीर्ण हुए थे, परन्तु अवतार लेने पर भी वे स्वयं भगवान् अजन्मा आदिपुरुष किस प्रकार बने रहे, साधारण मनुष्य के लिए यह रहस्य दुर्बोध्य है। अतएव इसके स्पष्टीकरण के लिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण के समक्ष यह जिज्ञासा उपस्थित की, जिससे वे स्वयं इसका प्रामाणिक उत्तर दे सकें। सम्पूर्ण विश्व अनादिकाल से श्रीकृष्ण को परम-प्रमाण मानता आया है। चाहे असुरों को वे मान्य नहीं हैं, पर फिर भी उनकी प्रामाणिकता सर्वस्वीकृत है। अतः अर्जुन ने उन्हीं से यह जिज्ञासा की, जिससे श्रीकृष्ण स्वयं अपना वर्णन करें। ऐसा होने पर असुर उनका विकृत चित्रण नहीं कर सकेंगे, ऐसा उसका अभिप्राय है। श्रीकृष्ण-तत्त्व को आत्मसात् करना जीवमात्र का आवश्यक स्वार्थ है। अतः श्रीकृष्ण के लिए स्वयं अपने तत्त्व का निरूपण करना त्रिभुवन के लिए परम मंगलमय है। असुरों को श्रीकृष्ण का यह आत्म-वर्णन विचित्र प्रतीत हो सकता है क्योंकि वे श्रीकृष्ण को सदा अपने ही दृष्टिकोण से देखते हैं। दूसरी ओर भक्तवृन्द श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निस्यन्दित उन श्रीवचनों का उन्मुक्त हृदय से स्वागत करते हैं जिनमें वे स्वयं अपना वर्णन करें। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में नित्य अधिकाधिक जानने के लिए उत्कण्ठित भक्तों के लिए श्रीकृष्ण के ये प्रमाणिक वचन नित्य आराध्य हैं। श्रीकृष्ण

को साधारण मानव समझने वाले अनीश्वरवादी भी इस प्रकार जान जाते हैं कि श्रीकृष्ण अतिमानवीय हैं, उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय एवं दिव्य है, तथा वे देश, काल और प्राकृतिक गुणों के अधिकार से पर हैं। अर्जुन की कोटि के कृष्णभक्त को श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप के सम्बन्ध में कदापि भ्रम नहीं हो सकता, यह निश्चित है। भक्तराज अर्जुन का श्रीभगवान् के समक्ष इस जिज्ञासा को उपस्थित करना उन व्यक्तियों की अनीश्वरता को एक भक्त की चुनौती है, जो श्रीकृष्ण को प्राकृतिक गुणों के आधीन साधारण मनुष्य समझते हैं।

श्रीभगवानुवाच।
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।५।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **बहूनि**=अनेक; **मे**=मेरे; **व्यतीतानि**=हो चुके हैं; **जन्मानि**=आविर्भाव; **तव**=तेरे; **च**=भी; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **तानि**=उन; **अहम्**=मैं; **वेद**=जानता हूँ; **सर्वाणि**=सबको; **न**=नहीं; **त्वम्**=तू; **वेत्थ**=जानता; **परंतप**= हे शत्रुविजयी।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। मुझे तो उन सबकी स्मृति है, पर हे परंतप! तू उन्हें नहीं जानता।।५।।

तात्पर्य

ब्रह्मसंहिता से हमें श्रीभगवान् के नानाविध अवतारों की जानकारी मिलती है। वहाँ (ब्र० सं० ५.३३) कथन है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।
वेदेषु दुर्ल्लभमदुर्ल्लभमात्मभक्तौ गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

'मैं आदिपुरुष भगवान् गोविन्द का भजन करता हूँ, जो अद्वैत, अच्युत, अनादि हैं तथा अनन्तरूप होते हुए भी आद्य, पुराणपुरुष और नित्य नवयौवन-युक्त रहते हैं। श्रीभगवान् के सच्चिदानन्दमय रूपों को प्रायः वेदों के पारगामी विद्वच्चूड़ामणि जानते हैं, पर विशुद्ध अनन्य भक्तों को तो उनके दर्शन नित्य ही प्राप्त रहते हैं।'

ब्रह्मसंहिता में ही (५.३९) कहा है—

रामादि मूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन् नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान्यो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

'मैं भगवान् श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ, जो राम, नृसिंह आदि अवतारों और अंशावतारों में नित्य अवस्थित रहते हुए भी कृष्णनाम से विख्यात आदिपुरुष हैं और जो स्वयं (अपने आद्य रूप में) भी अवतरित होते हैं।'

वेदों में भी कहा है कि अद्वय होते हुए भी श्रीभगवान् असंख्य रूपों में प्रकट होते हैं। वे उस वैदर्यमणि के समान हैं जो अपना वर्णपरिवर्तन करने पर भी स्वरूप से

निर्विकार रहती है। उन विविध भगवत्-रूपों को शुद्ध निष्काम भक्त ही जानते हैं; केवल वेदाध्ययन करने से उनका ज्ञान नहीं हो सकता: **वेदेषु दुर्ल्लभमदुर्ल्लभमात्म-भक्तौ**। अर्जुन जैसे भक्त श्रीभगवान् के नित्य प्रिय सखा हैं। अतएव जब भी प्रभु अवतार ग्रहण करते हैं तो उनके सहचर भक्त भी नाना प्रकार से भगवत्सेवा करने के लिए उनके साथ अवतरित होते हैं। अर्जुन एक ऐसा ही भक्त है और इस श्लोक के अनुसार, करोड़ों वर्ष पूर्व जब श्रीकृष्ण ने सूर्यदेव को भगवद्गीता सुनाई थी, तो अर्जुन वहाँ भी किसी अन्य रूप में विद्यमान था। परन्तु श्रीभगवान् और अर्जुन में यह अन्तर है कि श्रीभगवान् को उस इतिहास का स्मरण बना रहा, जबकि अर्जुन को विस्मृति हो गई। भिन्न-अंश जीवात्मा और परमेश्वर श्रीकृष्ण में यही भेद है। यद्यपि अर्जुन को यहाँ शत्रुविजयी, शूरवीर सम्बोधित किया गया है, पर अपने पूर्वजन्मों का स्मरण करने में वह असमर्थ है। अतः सांसारिक दृष्टि से जीव कितना भी बड़े से बड़ा क्यों न हो, परन्तु श्रीभगवान् की समकक्षता कदापि नहीं कर सकता। श्रीभगवान् का नित्य सहचर निस्सन्देह जीवन्मुक्त होता है, पर वह भी उनके तुल्य नहीं हो सकता। 'ब्रह्मसंहिता' में श्रीभगवान् को अच्युत कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि प्रकृति के संग में भी उन्हें स्वरूप-विस्मरण नहीं होता। अतः सिद्ध हुआ कि श्रीभगवान् एवं जीव सब प्रकार से समान कभी नहीं हो सकते; चाहे जीवात्मा अर्जुन के जैसे जीवमुक्त ही क्यों न हो। यद्यपि अर्जुन भगवद्भक्त है, तथापि समय-समय पर उसे भगवत्स्वरूप का विस्मरण हो जाता है। परन्तु यह अवश्य है कि भगवान् की अमोघ कृपा से भक्त को उनके अच्युतस्वरूप का तत्काल फिर बोध हो जाता है, जबकि अभक्त अथवा असुरों के लिए यह दिव्य तत्त्व सदा अज्ञात रहता है। इसी से गीता का यह विवरण आसुरीबुद्धि के लिए अगम्य है। श्रीकृष्ण को करोड़ों वर्ष पूर्व सम्पादित क्रियाओं का स्मरण है; किन्तु अर्जुन को नहीं, यद्यपि श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही का स्वरूप नित्य है। इस श्लोक से हमें यह भी बोध होता है कि देहान्तर करने पर जीवात्मा को पूर्ण विस्मृति हो जाती है, जबकि श्रीभगवान् को त्रिकाल में कभी विस्मृति नहीं होती, क्योंकि उनका विग्रह सच्चिदानन्दमय है। श्रीभगवान् अद्वैत हैं; उनके देह तथा स्वयं उनमें अभेद है। उनसे सम्बन्धित प्रत्येक तत्त्व चिन्मयस्वरूप है, जबकि जीवात्मा अपनी प्राकृत देह से भिन्न है। भगवान् के देह और स्वयं भगवान् में अभेद होने के कारण जब वे प्राकृत स्तर पर अवतरित होते हैं तो भी उनकी स्थिति साधारण जीवात्मा से विलक्षण रहती है। असुर श्रीभगवान् के इस परात्पर चिन्मयस्वरूप को अनुकूल भाव से अंगीकार नहीं कर सकते, जैसे अगले श्लोक में श्रीभगवान् स्वयं कह रहे हैं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।६।।

अजः=अजन्मा; **अपि**=भी; **सन्**=होते हुए; *अव्यय*=अविनाशी; **आत्मा**=विग्रह; **भूतानाम्**=सब प्राणियों का; **ईश्वरः**=स्वामी; **अपि**=भी; **सन्**=होने पर;

प्रकृतिम्=दिव्य स्वरूप में; **स्वाम्**=अपने; **अधिष्ठाय**=स्थित हुआ; **संभवामि**=मैं अवतीर्ण होता हूँ; **आत्ममायया**=अपनी अन्तरंगा शक्ति से।

अनुवाद

मैं अजन्मा, सब प्राणियों का ईश्वर और सच्चिदानन्दमय अविनाशी स्वरूप होते हुए भी युग-युग में अपने आद्य चिन्मय रूप में अवतरण करता हूँ।।६।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने अपने विलक्षण आविर्भाव के वैशिष्ट्य का वर्णन स्वयं श्रीमुख से किया है—साधारण मनुष्य प्रतीत होते हुए भी अपने अनेक-अनेक पूर्व 'जन्मों' की उन्हें पूर्ण स्मृति है, जबकि साधारण मनुष्य को कुछ ही घण्टे पूर्व सम्पादित कार्य तक का स्मरण नहीं रहता। यदि किसी से पूछा जाय कि एक दिन पहले ठीक उसी समय उसने क्या किया था, तो साधारण मनुष्य के लिए इसका तत्काल उत्तर देना कठिन होगा। एक दिन पूर्व उसी समय किए हुए कर्म का स्मरण करने के लिए उसे अपनी बुद्धि का आलोडन करना होगा। इतने दुर्बल होने पर भी बहुधा मनुष्य अपने को ईश्वर अथवा श्रीकृष्ण घोषित करने का दुःसाहस कर बैठते हैं। इन निरर्थक दावों से भ्रान्त नहीं होना चाहिए। श्रीभगवान् अपनी प्रकृति अथवा रूप का आगे वर्णन करते हैं। प्रकृति का अर्थ 'स्वभाव' और 'स्वरूप' होता है। श्रीभगवान् का कथन है कि वे स्वयं अपनी देह में प्रकट होते हैं, साधारण जीवात्मा के समान देहान्तर नहीं करते। बद्धजीव को वर्तमान जन्म में एक प्रकार की देह प्राप्त होती है, तो पुनर्जन्म में कोई और। प्राकृत-जगत् में जीवात्मा की योनि निश्चित नहीं है, उसका देहान्तर होता रहता है, श्रीभगवान् ऐसा नहीं करते। वे जब भी प्रकट होते हैं, अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा उसी आद्य विग्रह में प्रकट होते हैं। भाव यह है कि श्रीकृष्ण इस जगत् में अपने उसी आद्य एवं शाश्वत् वेणुधारी द्विभुज रूप में प्रकट होते हैं, जो इस प्राकृत-जगत् के विकारों से सर्वथा मुक्त है। तथापि, उन सच्चिदानन्दमय परमेश्वर का आविर्भाव साधारण प्राणी के जन्म के समान भासता है। श्रीकृष्ण बाल्यावस्था से कौमार तथा कौमार से यौवन में तो प्रवेश करते हैं, पर यह विस्मयास्पद होते हुए भी नितान्त सत्य है कि उनकी वय यौवन से आगे कभी नहीं बढ़ती। कुरुक्षेत्र युद्ध के समय वे पितामह बन चुके थे; अर्थात् लौकिक गणना के अनुसार उनकी आयु का पर्याप्त व्यय हो चुका था, फिर भी वे बीस-पच्चीस वर्षीय नवयुवक जैसे लगते थे। हमें कभी किसी ऐसे चित्र की प्राप्ति नहीं होती जिसमें श्रीकृष्ण वृद्ध दिखायी दें, क्योंकि सम्पूर्ण त्रैकालिक (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) सृष्टि के आदि, पुराण पुरुष होने पर भी श्रीकृष्ण हमारी भाँति वृद्धावस्था को कभी प्राप्त नहीं होते। साथ ही, उनकी चिन्मय देह एवं बुद्धि में क्षय अथवा विकार नहीं होता। अतएव यह स्पष्ट है कि प्राकृत-जगत् में अवतरित होने पर भी वे अपनी परिवर्तनरहित दिव्य देह और बुद्धि से युक्त वही अजन्मा, नित्य, सच्चिदानन्दमय हैं। वस्तुतः उनका आविर्भाव-तिरोभाव सूर्य के उदित होने और हमारे आगे से गमन करके दृष्टि से विलुप्त हो जाने जैसा है। सूर्य के अगोचर होने पर हमें

जान पड़ता है कि सूर्यास्त हो गया है तथा उसके दृष्टिगोचर होने पर हम समझते हैं कि सूर्य क्षितिज पर विद्यमान है। वस्तुतः तो सूर्य अपने नियत स्थान पर निरन्तर बना रहता है, अपनी दोषपूर्ण अपर्याप्त इन्द्रियों के कारण हम ही आकाश में सूर्य के उदय-अस्त होने की कल्पना किया करते हैं। अतएव यह सिद्ध होता है कि किसी भी सामान्य जीवात्मा की अपेक्षा श्रीभगवान् का आविर्भाव-तिरोभाव् पूर्णरूपेण विलक्षण है, वे स्वरूपभूता अन्तरंगा शक्ति के कारण सच्चिदानन्दघन हैं और माया से कभी दूषित नहीं होते वेद में भी प्रमाण हैं कि अजन्मा होते हुए भी श्रीभगवान् विविध दिव्य अवतार ग्रहण करते हैं। वेदान्त से यह भी सिद्ध है कि यद्यपि श्रीभगवान् जन्म लेते प्रतीत होते हैं, परन्तु वे देहान्तर नहीं करते। श्रीमद्भागवत में वे जननी के सम्मुख षडैश्वर्य समन्वित चतुर्भुज नारायण रूप से प्रकट हुए हैं। विश्वकोष के अनुसार स्वरूपसिद्ध आद्य नित्य विग्रह में उनका अवतरण उनकी निरुपाधिक कृपा का ही कार्य है। श्रीभगवान् को अपने सम्पूर्ण पूर्व आविर्भाव-तिरोधानों की शाश्वत् स्मृति रहती है, जबकि जीवात्मा देहान्तर करते ही पूर्व शरीर के सम्बन्ध में सब कुछ भूल जाता है। इसी विशिष्टता के कारण श्रीभगवान् सम्पूर्ण जीवों के परमेश्वर हैं और पृथ्वी पर अवतरण-काल में अद्‌भुत, अतिमानवीय लीलारस-निर्यास का परिवेषण करते हैं। श्रीभगवान् नित्य अद्वय हैं, उनके देह और स्वरूप अथवा गुण और देह में भेद नहीं है। इस सन्दर्भ में चित्त में यह जिज्ञासा हो सकती है कि इस संसार में श्रीभगवान् के प्रादुर्भाव एवं तिरोधान का वास्तव में प्रयोजन ही क्या है ? अगले श्लोक में इसका विवरण है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

यदा=जिस काल में; **यदा**=जिस स्थान पर; **हि**=निःसन्देह; **धर्मस्य**=धर्म की; **ग्लानिः**=हानि; **भवति**=होती है; **भारत**=हे अर्जुन; **अभ्युत्थानम्**=वृद्धि; **अधर्मस्य**=अधर्म का; **तदा**=उस समय; **आत्मानम्**=अपने को; **सृजामि**=प्रकट करता हूँ; **अहम्**=मैं।

अनुवाद

हे भारत ! जिस-जिस देश-काल में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतरित होता हूँ।।७।।

तात्पर्य

इस श्लोक में प्रयुक्त सृजामि पद अति महत्त्वपूर्ण है। अवतारतत्त्व के सन्दर्भ में 'सृजामि' का प्रयोग रचने के अर्थ में नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व श्लोक के अनुसार, भगवत्-रूप अथवा भगवत्-देह का सृजन नहीं होता, सभी भगवत्-रूप शाश्वत् हैं। अतः इस सन्दर्भ में 'सृजामि' का अर्थ श्रीभगवान् द्वारा अपने को प्रकट करना है। यद्यपि श्रीकृष्ण ब्रह्मा के प्रत्येक दिवस (कल्प) में, आठवें मनु के अट्ठाईसवें चतुर्युग के द्वापर के अन्त में प्रकट होते हैं। पर इस नियम के पालन में वे

बाध्य नहीं हैं, वरन् स्वेच्छामय कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। अतः अधर्म का प्राबल्य एवं यथार्थ धर्म का लोप होने पर वे स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं। धर्म का प्रतिपादन वेदों में है। अतएव वैदिक विधान का भलीभाँति पालन करने में हुआ प्रमाद अधर्म का कारण सिद्ध होता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार धर्म का विधान साक्षात् श्रीभगवान् ने किया है। एकमात्र श्रीभगवान् ही किसी भी धर्म-व्यवस्था का प्रणयन कर सकते हैं। वेदों के सम्बन्ध में यह सर्वमान्य है कि ब्रह्मा के हृदय-गह्वर में उनका संचार श्रीभगवान् ने किया। इस दृष्टि से धर्म के विधान साक्षात् भगवदाज्ञा हैं (**धर्मं तु साक्षात्भगवत्प्रणीतम्**)। भगवद्गीता में आद्योपान्त इस तत्त्व का विशद वर्णन हुआ है। वेदों का प्रयोजन श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार धर्म-स्थापना करना है और गीता के अन्त में तो स्वयं श्रीभगवान् की आज्ञा है कि उनके शरणागत हो जाना ही धर्म है। वैदिक सिद्धान्त जीव को पूर्ण भगवत्-शरणागति की ओर अग्रसर करते हैं; इसलिए जब-जब असुर इनके मार्ग में विघ्न उपस्थित करते हैं तो श्रीभगवान् का आविर्भाव होता है। श्रीमद्भागवत से हम जानते हैं कि बुद्धदेव भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार हैं। उनका प्रादुर्भाव उस काल में हुआ जब विषयपरायणता सर्वव्यापी हो गयी थी और विषयी व्यक्ति भी कपटपूर्वक वेदप्रमाण की आड़ ले रहे थे। यह सत्य है कि वेदों में विशिष्ट प्रयोजन के लिए पशुबलि के कतिपय नियामक विधि-विधान हैं; पर उस समय आसुरी स्वभाव वाले वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध पशुबलि कर रहे थे। इस अनर्थ का निवारण करके वैदिक सिद्धान्त अहिंसा को स्थापित करने के लिए बुद्ध प्रकट हुए। इस प्रकार प्रत्येक अवतार का शास्त्रसम्मत विशिष्ट प्रयोजन होता है। अतएव शास्त्र-प्रमाण के बिना किसी को भी अवतार के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रीभगवान् केवल भारतभूमि पर ही प्रकट होते हों, ऐसा नहीं। वे स्वेच्छानुसार किसी भी देशकाल में अवतरण कर सकते हैं, परन्तु प्रत्येक अवतार में वे धर्म का उतना ही प्रवचन करते हैं, जो उस देशकाल के मनुष्य हृदयंगम कर सकें। सबका मूल प्रयोजन यही है कि जनता में भगवद्भावना और धर्मपरायणता का संचार किया जाय। श्रीभगवान् समय-समय पर साक्षात् स्वयं प्रकट होते हैं; कभी-कभी अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को पुत्र अथवा दास के रूप में भेजते हैं; अथवा स्वयं ही किसी गोपनीय रूप में इस धराधाम पर पधारते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता अर्जुन जैसे महाभागवत को ही सुनाई गयी, क्योंकि संसार के अन्य भागों के साधारण मनुष्यों की तुलना में वह कहीं उत्तम था। दो और दो प्राथमिक कक्षा में भी चार के बराबर होते हैं और स्नातकोत्तर कक्षा में भी। परन्तु प्राथमिक कक्षा में गणित की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है, जबकि उच्च कक्षा में उच्च स्तर का गणित पढ़ाया जाता है। इसी प्रकार सभी भगवत्-अवतारों द्वारा समान सिद्धान्तों की शिक्षा का प्रसारण किया जाता है, केवल देशकाल के भेद से वे उच्च-निम्न प्रतीत होते हैं। जैसा वर्णन किया जायगा, धर्म के वरेण्य सिद्धान्तों का प्रारम्भ वर्णाश्रम आचार से होता है। सब अवतारों का एकमात्र लक्ष्य सर्वत्र कृष्ण

भावनामृत को उद्भावित करना है। परिस्थितियों में भेद के कारण ही इस भावना का समय-समय पर प्रकाश-अप्रकाश होता रहता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।८।।

परित्राणाय=उद्धार करने के लिए; **साधूनाम्**=भक्तजनों का; **विनाशाय**=विनाश करने के लिए; **च**=तथा; **दुष्कृताम्**=दुष्टों का; **धर्म**=धर्म की; **संस्थापनार्थाय**=पुर्नस्थापना के लिए; **संभवामि**=मैं प्रकट होता हूँ; **युगे**=युग; **युगे**=युग में।

अनुवाद

भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का नाश और धर्म का फिर से स्थापन करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।।८।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार साधु वही है, जो कृष्णभावनाभावित हो। अधर्मी प्रतीत होने वाला भी यदि पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो, तो वह साधु ही मान्य है। **दुष्कृताम्** शब्द से कृष्णभावना की अपेक्षा करने वाला इंगित है। लौकिक विद्या से युक्त होते हुए भी ऐसे 'दुष्कृताम्' अथवा दुष्टों को मूढ और नराधम ही कहा जाता है। इसके विपरीत, विद्या-संस्कृति से शून्य होने पर भी जो पूर्णतया कृष्णभावना के परायण हैं सदा साधु मान्य हैं। अनीश्वरवादियों के विनाशार्थ श्रीभगवान् के लिए उस प्रकार स्वयं प्रकट होना आवश्यक नहीं, जिस प्रकार रावण, कंस आदि के लिए उनका अवतार हुआ था। उनके अनेक सेवक दैत्य-दलन में पूर्ण समर्थ हैं। वास्तव में असुरों से उत्पीड़ित शुद्धभक्तों को प्रसन्न करने के लिए ही श्रीभगवान् विशिष्ट अवतार धारण करते हैं। आसुरभावापन्न दैत्य भक्त को अवश्य कष्ट देते हैं, चाहे वह स्वजन ही क्यों न हो। यद्यपि प्रह्लाद हिरण्यकशिपु के पुत्र थे, तथापि उसने उन्हें त्रासित किया; श्रीकृष्ण-जननी देवकी कंस की बहन थीं, पर फिर भी वसुदेव-देवकी को केवल इसी कारण से त्रासित किया गया कि उनके यहाँ श्रीकृष्ण का आविर्भाव होने वाला था। इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण कंसवध की अपेक्षा प्रधान रूप से देवकी-परित्राण के लिए प्रकट हुए; परन्तु दोनों उद्देश्य एक साथ पूर्ण हो गये। इसी से यहाँ कहा है कि भक्त-परित्राण एवं असुर-मर्दन के लिए श्रीभगवान् विविध अवतार धारण करते हैं।

विद्वच्चूड़ामणि श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीचरण द्वारा विरचित श्रीचैतन्य-चरितामृत के निम्नलिखित छन्दों में अवतार सिद्धान्तों का सारांश प्रतिपादन है—

सृष्टि हेतु येइ मूर्ति प्रपञ्चे अवतरे। सेइ ईश्वर-मूर्ति अवतार नाम धरे।।
मायातीत परव्योमे सबार अवस्थान। विश्वे अवतारी धरे अवतार नाम।।

''सृष्टि में प्रकट होने के लिए अवतार-विग्रह भगवद्धाम से अवतीर्ण होते हैं। इस प्रकार अवतीर्ण होने वाली भगवत्-मूर्ति को 'अवतार' कहा जाता है। ये सब

अवतार भगवद्धाम् (परव्योम) में अवस्थित हैं। प्राकृत सृष्टि में उतरने पर ही उन्हें 'अवतार' कहते हैं।''

अवतारों की अनेक कोटियाँ हैं—पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, शक्त्या-वेशावतार, मन्वन्तरावतार और युगावतार इत्यादि। इन विविध अवतारों का ब्रह्माण्ड में क्रमानुसार अवतरण होता है; परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो सम्पूर्ण अवतारों के उद्गम (अवतारी) आदिपुरुष ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतरण का विशिष्ट प्रयोजन उन शुद्धभक्तों की आर्ति का हरण और परितोषण करना है, जो उनकी आद्या वृंदावन-लीला के दर्शनार्थ सदा अतीव उत्कण्ठित रहते हैं। अस्तु, अनन्य भक्त का परिपोषण करना कृष्णावतार का प्रधान उद्देश्य है।

भगवान् का श्रीमुख वचन है कि वे युग-युग में अवतरण करते हैं। इस कथन से यह सत्य स्पष्ट झलकता है कि वे कलियुग में भी अवतार अवश्य लेते हैं। श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर कहा है कि कलियुग के अवतार श्रीश्रीगौरसुन्दर चैतन्यमहाप्रभु हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण भारत में संकीर्तन के रूप में श्रीकृष्ण की आराधना का और कृष्णभावनामृत का प्रचार किया। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि एक दिन यह संकीर्तन यज्ञ सम्पूर्ण विश्व में, एक-एक ग्राम-जनपद में प्रसारित होगा। उपनिषद्, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि प्रामाणिक शास्त्रों के गुह्य प्रकरणों में गुप्त रूप से श्रीचैतन्य महाप्रभु को भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार घोषित किया गया है। कृष्णभक्तों का तो श्रीचैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन यज्ञ के प्रति स्वयंसिद्ध आकर्षण है ही। इस महावदान्य अवतार में प्रभु दुष्टों का वध नहीं करते, वरन् अपनी निरुपाधि-निरवधि कृपा के द्वारा आपामर पर्यन्त सभी का भवसागर से उद्धार कर देते हैं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

जन्म=आविर्भाव; **कर्म**=क्रिया; **च**=और; **मे**=मेरे; **दिव्यम्**=दिव्य हैं; **एवम्**=इस प्रकार; **यः**=जो; **वेत्ति**=जानता है; **तत्त्वतः**=यथार्थ में; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **देहम्**=इस देह को; **पुनः**=फिर; **जन्म**=जन्म को; **न**=नहीं; **एति**=प्राप्त होता; **माम्**=मुझे ही; **एति**=प्राप्त होता है; **सः**=वह; **अर्जुन**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्व से जानता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त हो जाता है।।९।।

तात्पर्य

भगवद्धाम से श्रीभगवान् के अवतरण का प्रतिपादन छठे श्लोक में किया जा चुका है। श्रीभगवान् के आविर्भाव तत्त्व के मर्म को जानने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है। अतएव अपनी प्राकृत देह को त्यागते ही वह तत्काल भगवद्धाम को गमन करता है। मायाबन्धन से जीव की यह मुक्ति सुखसाध्य नहीं है। निर्विशेषवादी एवं योगी

तीव्र क्लेशों से भरे बहुत जन्मान्तरों के बाद ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन हो पाते हैं। यह भी पूर्ण मुक्ति नहीं है, क्योंकि संसार में पुनरागमन का भय वहाँ भी बना रहता है। परन्तु भक्त श्रीभगवान् के श्रीविग्रह और लीलामृत के दिव्य स्वरूप को जानकर देह का अन्त होने पर सुगमता से भगवद्धाम को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे संसार में पुनरागमन का भय सदा-सदा के लिए निवृत्त हो जाता है। 'ब्रह्मसंहिता' में उल्लेख है कि श्रीभगवान् के असंख्य अवतार और रूप हैं— **अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्** । यद्यपि उनके अनेक दिव्य रूप हैं, तथापि श्रीभगवान् अद्वय हैं। यह सत्य, जो लौकिक विद्वानों और प्रायोगिक दर्शनवेत्ता के लिए सर्वथा अगम्य है, निष्ठापूर्वक हृदयंगम करना होगा। यथा वेदवाणी :

एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा।

'अद्वयदेव श्रीभगवान् नाना दिव्य रूपों में अपने अनन्य भक्तों के साथ लीला करने में नित्य अनुरक्त रहते हैं।' इस वेदवचन को स्वयं श्रीभगवान् ने गीता के इस श्लोक में प्रमाणित किया है। जो पुरुष वेद एवं श्रीभगवान् के प्रमाण के आधार पर इस सत्य को अंगीकार करके दार्शनिक मनोधर्मी करने में समय नष्ट नहीं करता, वह मुक्ति की परमोच्च अवस्था प्राप्त करता है। इस सत्य को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने मात्र से निस्सन्देह मुक्ति हो जायगी। वैदिक वाक्य 'तत्त्वमसि' का यथार्थ तात्पर्य इसी सन्दर्भ से है। जो श्रीकृष्ण को परमब्रह्म जानता है अथवा उनके प्रति यह निवेदन करता है कि 'भगवन्! आप परब्रह्म स्वयं भगवान् हैं', वह अवश्य तत्क्षण मुक्त हो जाता है। इसीलिए यह भी निश्चित है कि उसे श्रीभगवान् के चिन्मय सान्निध्य की प्राप्ति होगी। इसमें सन्देह नहीं कि इस कोटि के श्रद्धालु भगवद्भक्त का जीवन कृतार्थ एवं चरितार्थ हो जाता है। वेदवचन इसका प्रमाण हैः

तमेव विदित्वातिमृत्युमुपैति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।

श्रीभगवान् को जानने से जन्म-मृत्यु से पूर्ण मुक्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, मुक्ति का कोई अन्य मार्ग नहीं है, क्योंकि जो श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जानता, वह अवश्यमेव तमोगुण में स्थित है। अतएव मधुपात्र के बाहरी चाटुकारी करने के समान लौकिक विद्या के आधार पर भगवद्गीता की मनमानी व्याख्या करने से मुक्ति नहीं हो सकेगी। यह सम्भव है कि इस श्रेणी के प्रयोगाश्रयी दार्शनिकों को जगत् में अत्युच्च पदों की प्राप्ति हो जाय, पर यह आवश्यक नहीं कि उन्हें मोक्षलाभ भी हो। मिथ्या अहंकार से दृप्त हुए इन लौकिक विद्वानों को कृतार्थ होने के लिए भगवद्भक्त की अहैतुकी निरवधि कृपा की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतः मनुष्यमात्र को चाहिए कि विवेक और ज्ञान सहित कृष्णभावना का अनुशीलन कर जीवन की कृतार्थता को प्राप्त करे।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

वीत=मुक्त हुए; **राग**=आसक्ति; **भय**=भय; **क्रोधाः**=क्रोध से; **मन्मया**=पूर्ण

रूप से मेरे परायण; **माम्**=मेरे; **उपाश्रिताः**=शरण हुए; **बहवः**=बहुत से; **ज्ञान**=ज्ञान; **तपसा**=तपस्या से; **पूताः**=पवित्र हुए; **मद्भावम्**=मेरे दिव्य प्रेम को; **आगताः**= प्राप्त हुए हैं।

अनुवाद

राग, भय और क्रोध से मुक्त होकर मुझमें तन्मय हुए और मेरे ही आश्रित हुए बहुत से मनुष्य पूर्व में मेरे ज्ञान से पवित्र हो चुके हैं। इस प्रकार उन सभी को मेरे दिव्य प्रेम की प्राप्ति हुई है।।१०।।

तात्पर्य

पूर्व वर्णन के अनुसार, विषयों में आसक्त मनुष्य के लिए परमसत्य के दिव्य पुरुषरूप को जानना बड़ा कठिन है। प्रायः मनुष्यों की देह में ही आत्मबुद्धि हो रही है; वे इतने अधिक विषयपरायण हो गये हैं कि उनके लिए यह जानना असम्भव सा हो गया है कि एक ऐसी चिन्मय देह भी है जो नित्य एवं सच्चिदानन्दमय है। सांसारिक देह क्षणभंगुर, अज्ञान से आवृत एवं पूर्णतया दुःखमय है, इसलिए जब उन्हें श्रीभगवान् के दिव्यरूप की जानकारी दी जाती है तो वे उसे भी ऐसा ही समझते हैं। इन विषयी व्यक्तियों के लिए विशालकाय प्राकृत सृष्टि ही परतत्त्व है। यही कारण है कि वे परतत्त्व को निर्विशेष मानते हैं। इसके अतिरिक्त, विषयों में उनकी इतनी स्थूल आसक्ति रहती है कि प्रकृति से मुक्ति के उपरान्त भी जीव और भगवान् अपना-अपना स्वरूप बना रहता है, यह विचार उन्हें भयभीत कर देता है। जब वे सुनते हैं कि मुक्त जीव का अपना स्वरूप रहता है तो उन्हें पुनः स्वरूप-प्राप्ति से भय होता है और इसलिए वे स्वभाव से निर्विशेष शून्य में लीन होने को अधिक उत्तम समझते हैं। वे जीवात्मा को सागर के उन बुद्बुदों की उपमा देते हैं जो सागर से उठते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। उनकी धारणा में यह पृथक् स्वरूप से रहित मुक्त-अस्तित्व की चरम सिद्धि है। परन्तु यथार्थ में तो यह आत्मज्ञान से शून्य जीवन की एक भयावस्था ही है। इसके अतिरिक्त, ऐसे भी अनेक मनुष्य हैं, जो आत्मतत्त्व को लेशमात्र भी नहीं समझ पाते। नाना मतों एवं मनोधर्मों की असंगति से किंकर्तव्यविमूढ़ हुए वे अरुचि अथवा क्रोध के आवेश में आकर मूर्खतावश निर्णय कर बैठते हैं कि ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो सब कारणों का परम कारण हो, अन्ततोगत्वा सब कुछ शून्य ही है। ऐसा कहने वाले निःसन्देह भवरोग से पीड़ित हैं। अधिकांश मनुष्य गाढ़ विषयासक्ति के कारण परमार्थ की उपेक्षा करते हैं; कुछ परतत्त्व से एक हो जाना चाहते हैं, तो कुछ निराश होकर सभी प्रकार की पारमार्थिकता के प्रति क्रुद्ध हो उठते हैं। इस अन्तिम श्रेणी के लोग किसी न किसी प्रकार के मादक पदार्थ का आश्रय लेते हैं और कभी-कभी तो उससे उत्पन्न मतिविभ्रम को भगवत्-दर्शन समझ लिया जाता है। परमार्थ की उपेक्षा, मुक्त हो जाने पर भी जीव-स्वरूप बना रहेगा, इस विचार से भय और निराशा को जन्म देने वाली शून्यवादी मान्यता—ये तीनों विषयासक्ति के ही रूप हैं; अतएव इन से मुक्त होना आवश्यक है। इन सभी दोषों से मुक्ति के लिए सद्गुरु

के निर्देशानुसार सर्वतोभावेन भगवान् के शरणागत होकर वैधी भक्ति में तत्पर हो जाना चाहिए। भक्तिमय जीवन की चरम अवस्था को भाव अथवा भगवत्प्रेम कहा जाता है।

श्रील रूपगोस्वामिचरण द्वारा प्रणीत भक्तिविज्ञान 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' के अनुसारः

आदौ श्रद्धा ततः साधु संगोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदंचति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः।।

भक्तिपथ का प्रारम्भ स्वरूप-साक्षात्कार विषयक इच्छा से होता है। इससे मनुष्य साधु-संग के लिए प्रयत्न करता है। तदुपरान्त भगवत्प्राप्त सद्गुरु से दीक्षा ग्रहण कर उनकी आज्ञानुसार साधक भक्ति का प्रारम्भ करता है। गुरु के पादपद्मों के आश्रय में भक्ति का अनुष्ठान करने से क्रमशः विषयासक्ति से मुक्त, स्वरूप-साक्षात्कार के पथ में निष्ठा और भगवत्कथा में रुचि उद्भावित होती है। इस कथारुचि से कृष्णभावनामृत में आसक्ति हो जाती है, जो भगवत्प्रेम के प्रथम सोपान—भाव में परिपक्व होती है। वस्तुतः भगवत्प्रेम में ही जीवन की सार्थकता और चरितार्थता है। प्रेमाविष्ट भक्त रागानुगा भगवद्भक्ति में नित्य तत्पर रहता है। इस प्रकार सद्गुरु के आश्रय में भक्ति की क्रमिक पद्धति के द्वारा सब प्रकार की विषयासक्ति, पृथक् स्वरूप के भय तथा शून्यवादजनित निराशा से सर्वथा रहित सर्वोच्च मुक्त अवस्था प्राप्त होती है और अन्त में भगवद्धाम की प्राप्ति भी हो जाती है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

ये=जो; **यथा**=जैसे; **माम्**=मेरी; **प्रपद्यन्ते**=शरण लेते हैं; **तान्**=उन्हें; **तथा**=वैसे ही; **एव**=निस्सन्देह; **भजामि**=फल देता हूँ; **अहम्**=मैं; **मम**=मेरे; **वर्त्म**=पथ का; **अनुवर्तन्ते**=अनुगमन करते हैं; **मनुष्याः**=सब मनुष्य; **पार्थ**=हे अर्जुन; **सर्वशः**=सब प्रकार से।

अनुवाद

जो जिस भाव से मेरी शरण लेते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ। हे पार्थ! मनुष्यमात्र सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुगमन करता है।।११।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की विभिन्न अभिव्यक्तियों में मनुष्य उन्हीं का अन्वेषण कर रहा है। निर्विशेष ब्रह्मज्योति और सबके अन्तर्यामी परमात्मा रूप में भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण अनुभव नहीं होता; श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण प्राप्ति तो केवल उनके शुद्धभक्तों को ही होती है। इस प्रकार से श्रीकृष्ण सभी की अनुभूति के विषय हैं; कोई भी प्राणी उन्हें प्राप्त करने की अपनी इच्छा के अनुपात में सन्तोष पाता है। दिव्य वैकुण्ठ-जगत् में भी श्रीकृष्ण शुद्धभक्तों की कामना के अनुसार दिव्य रसों में

उनके साथ प्रेम का विनिमय करते हैं। परमेश्वर, सखा, पुत्र, प्रियतम आदि विविध रूपों में श्रीकृष्ण की कामना करते हुए भक्तों के प्रेम की प्रगाढ़ता के अनुरूप श्रीकृष्ण उन सभी को समभाव से पुरस्कृत करते हैं। प्राकृत-जगत् में भी भगवान् और भक्तों में परस्पर इसी प्रकार रस और भाव का विनिमय होता है। शुद्धभक्तों को इस जगत् में तथा भगवद्धाम में भी श्रीभगवान् का सान्निध्य रहता है और इस प्रकार उनकी सेवा में निमग्न हुए वे महानुभाव भगवद्भक्ति के अलौकिक रसानन्द का आस्वादन करते हैं। श्रीकृष्ण उन निर्विशेषवादियों की भी सहायता करते हैं जो अपने जीव-स्वरूप को समाप्त करके पारमार्थिक आत्महत्या करने को आतुर हैं। श्रीकृष्ण उन्हें अपनी ब्रह्मज्योति में विलीन कर लेते हैं। ये निर्विशेषवादी सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीश्यामसुन्दर को स्वीकार नहीं करते। इसलिए साक्षात् श्रीभगवान् की सेवा से प्राप्त दिव्य आनन्द का आस्वादन नहीं कर सकते, क्योंकि वे ब्रह्मज्योति में लीन हो जाते हैं। उनमें से कुछ, जो निर्विशेषसत्ता में भी स्थित नहीं हो पाते, वे अपनी सक्रियताविषयक सुप्त कामना से प्रेरित हुए इस संसार रूपी क्रियाक्षेत्र में पुनरागमन करते हैं। उनका भगवद्धाम में गमन नहीं होता; वरन् प्राकृत लोकों में ही कर्म करने का अवसर उन्हें फिर दिया जाता है। जो सकाम कर्मी हैं, उन्हें श्रीभगवान् यज्ञेश्वर के रूप में कर्म का वाञ्छित फल देते हैं। सिद्धिकामी योगियों की भी अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार सभी प्राणी सफलता के लिए भगवत्कृपा पर आश्रित हैं। वास्तव में परमार्थ की विविध पद्धतियाँ एक ही पथ पर भिन्न-भिन्न मात्रा में प्रगति करने के तुल्य हैं। अतएव कृष्णभावना रूपी चरम कृतार्थता की उपलब्धि से पूर्व सब उद्यम अपूर्ण हैं। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामुदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत्पुरुषं परम्।।

मनुष्य चाहे भक्तों के समान निष्काम हो, अथवा सम्पूर्ण कर्मफल चाहता हो या मोक्ष का अभिलाषी ही क्यों न हो, उसे पूरी सामर्थ्य से श्रीभगवान् की भक्ति ही करनी चाहिए। इससे वह परम सिद्धि प्राप्त हो जायगी, जिसका पर्यवसान कृष्णभावना है। (श्रीमद्भागवत २.३.१०)

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

कांक्षन्तः=कामना करते हुए; **कर्मणाम्**=सकाम कर्मों की; **सिद्धिम्**=फलरूपसिद्धि की; **यजन्ते**=यज्ञ के रूप में आराधना करते हैं; **इह**=इस जगत् में; **देवताः**=देवताओं की; **क्षिप्रम्**=अतिशीघ्र; **हि**=निश्चित ही; **मानुषे लोके**=मनुष्यलोक में; **सिद्धिः**=सिद्धि; **भवति**=होती है; **कर्मजा**=सकामकर्म की।

अनुवाद

कर्मफल की कामना से मनुष्य इस संसार में देवताओं को यज्ञों द्वारा पूजते हैं

क्योंकि इस जगत् में सकामकर्म का फल अतिशीघ्र होता है।।१२।।

तात्पर्य

जनसाधारण में इस प्राकृत-जगत् के देवताओं के सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्ति व्याप्त है। विद्वत्ता का दम्भ करने वाले अल्पज्ञ मनुष्य इन देवताओं को श्रीभगवान् के विविध रूप मानते हैं। यथार्थ में ये देवता भगवान् के रूप नहीं हैं; ये तो वास्तव श्रीभगवान् के भिन्न-अंश ही हैं। श्रीभगवान् एक हैं, उनके भिन्न-अंश अनेक हैं। वेद कहते हैं: **नित्यो नित्यानाम्**—श्रीभगवान् एक हैं। **ईश्वरः परमः कृष्णः** श्रीकृष्ण एकमात्र परात्पर परमेश्वर हैं। देवताओं को इस प्राकृत-जगत् की व्यवस्था का अधिकार उन्हीं से प्राप्त है। ये देवता भिन्न-भिन्न मात्र में प्राकृत शक्ति से युक्त जीव हैं (**नित्यानाम्**); अतएव वे परमेश्वर नारायण, विष्णु अथवा श्रीकृष्ण के समकक्ष नहीं हो सकते। इस कारण जो श्रीभगवान् एवं देवताओं को एकसमान मानता है वह नास्तिक अथवा पाखण्डी है। अन्य देवताओं के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, ब्रह्मा, शिव, आदि भी श्रीकृष्ण की समकक्षता नहीं कर सकते। वस्तुतः श्रीभगवान् ब्रह्मा तथा शिव के भी आराध्य हैं (**शिवविरिंचिनुतम्**)। अतः बड़ा आश्चर्य है कि ऐसे भी कितनी मानव-अग्रणी हैं जिन्हें मूर्ख लोग अवतार समझकर पूजते हैं। इहः **देवताः** पद शक्तिशाली मनुष्यों अथवा प्राकृत-जगत् के देवगण का वाचक है। परन्तु नारायण, विष्णु अथवा कृष्ण नामक भगवान् इस संसार में स्थित नहीं हैं। वे प्राकृत-सृष्टि से सर्वथा परे हैं। स्वयं निर्विशेषवादियों के अग्रणी श्रीपाद् शंकराचार्य खुले रूप में घोषित करते हैं कि नारायण अथवा श्रीकृष्ण इस प्राकृत सृष्टि से अतीत हैं। इस पर भी मूर्ख (**हृतज्ञान**) लोग तात्कालिक फल की इच्छा से देवयजन करते हैं। उन्हें फल की प्राप्ति तो होती है, पर वे यह नहीं जानते कि इस प्रकार होने वाला क्षणभंगुर फल अल्पज्ञों के ही योग्य है। जो विवेकी है, वह कृष्णभावना में स्थित रहता है; इसलिए उसे क्षणिक सुख के लिए तुच्छ देवताओं का यजन करने से कोई प्रयोजन नहीं होता। ये प्राकृत देवता और उसके उपासक संसार के संहार के साथ नष्ट हो जायेंगे। देवताओं के वरदान प्राकृत और क्षणिक हैं; प्राकृत लोक और उनके निवासी, देवता एवं उनके उपासक ब्रह्माण्ड-सागर में उठने वाले बुद्बुदे मात्र हैं। परन्तु फिर भी मानव इस संसार में भूमि, परिवार तथा अन्य सुख-साधन आदि अनित्य ऐश्वर्यों के लिए उन्मत्त हो रहा है। इन नाशवान् पदार्थों की प्राप्ति के लिए वह देवों अथवा समाज के किसी शक्तिशाली मनुष्य की सेवा करता है। किसी राजनीतिज्ञ की अभ्यर्चना के द्वारा मन्त्रीपद की प्राप्ति को महान् वरदान समझ लिया जाता है; इसलिए सब मनुष्य नेता कहलाने वाले दुष्टों का अभिवादन करते हैं और ऐसा करने से उनकी अभीष्ट-सिद्धि हो भी जाती है। दुर्भाग्यवश ऐसे मूढ़ कृष्णभावना में अभिरुचि नहीं रखते, जिससे भवरोग का स्थायी निदान हो सकता है। वे इन्द्रियतृप्ति के लिए आतुर हो रहे हैं; अतः इन्द्रियतृप्ति की अल्प सुविधा के लिए देवपदासीन शक्तिशाली जीवों की आराधना के प्रति आकृष्ट हैं। यह श्लोक संकेत करता है कि जनता में उस मनुष्य की प्राप्ति

दुर्लभ है, जिसकी कृष्णभावनामृत में रुचि हो। प्रधान रूप में इन्द्रियतृप्ति में अनुरक्त होने से जनसाधारण किसी शक्तिशाली जीव की ही उपासना करता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

चातुर्वर्ण्यम्=मानव समाज के चार वर्ण; **मया**=मेरे द्वारा; **सृष्टम्**=रचे गए हैं; **गुणकर्मविभागशः**=गुण और कर्म के अनुसार; **तस्य**=उसका; **कर्तारम्**=करने वाला (होने पर); **अपि**=भी; **माम्**=मुझे; **विद्धि**=(तू) जान; **अकर्तारम्**=अकर्ता; **अव्ययम्**=अविनाशी को।

अनुवाद

प्रकृति के त्रिगुणों और नियत कर्म के अनुसार चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं; परन्तु इस व्यवस्था का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी को तू अकर्ता ही जान।।१३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता हैं, सब कुछ उनसे उत्पन्न है, उन्हीं के द्वारा प्रतिपालित है तथा विनाश होने पर उन्हीं के आश्रय में रहता है। स्पष्टतः वे ही वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रणेता हैं। वर्णाश्रम धर्म में सर्वप्रथम बुद्धिवादियों का वर्ग है, जो सत्त्वगुणी होने के कारण ब्राह्मण कहलाते हैं। द्वितीय, प्रशासनिक वर्ग में रजोगुणी क्षत्रिय आते हैं। वैश्यों में रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण रहता है तथा शूद्र प्रकृति के तमोगुण में स्थित हैं। मानव समाज में चतुर्वर्ण की सृष्टि करने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण इन सबसे अतीत हैं, क्योंकि वे उन बद्धजीवों के समान नहीं हैं जिनका एक अंश मानव समाज के रूप में है। मानव समाज बहुत सी दृष्टियों से पशु-समाज के सदृश है। अतः पशु स्तर से मनुष्य का उत्थान करने के लिए श्रीभगवान् ने उपरोक्त वर्णाश्रम की रचना की। इस पद्धति के द्वारा शनैः-शनैः कृष्णभावना उद्भावित हो जाती है। कर्म में मनुष्य की प्रवृत्ति त्रिगुणों के उस अनुपात के अनुसार होती है, जिससे वह युक्त है। गुणों पर आधारित जीवन के उन लक्षणों का वर्णन इस ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय में है। परन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष की कोटि ब्राह्मण से भी उत्तम है। गुणों के अनुसार ब्राह्मण को परतत्त्व का ज्ञाता होना चाहिए; परन्तु अधिकांश ब्राह्मण श्रीकृष्ण के निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप को ही प्राप्त कर पाते हैं। इसलिए जो पुरुष ब्राह्मण के सीमित ज्ञान का लंघन करके भगवान् श्रीकृष्ण को जान जाता है, वही कृष्णभावनाभावित होता है, अर्थात् वैष्णव पद पाता है। कृष्णभावनामृत में श्रीकृष्ण के राम, नृसिंह, वराह, आदि अंशों के ज्ञान का समावेश है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण मानव समाज की इस वर्णाश्रम व्यवस्था से परे हैं, उसी प्रकार कृष्णभावनाभावित महापुरुष भी समाज, राष्ट्र, जाति, आदि जगत् के सब भेदों से अतीत हैं।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

न=नहीं; **माम्**=मुझे; **कर्माणि**=कर्म; **लिम्पन्ति**=बाँधते; **न**=नहीं है; **मे**=मेरी; **कर्मफले**=कर्मफल में; **स्पृहा**=कामना; **इति**=इस प्रकार; **माम्**=मुझे; **यः**=जो; **अभिजानाति**=जानता है; **कर्मभिः**=कर्मफल से; **न**=नहीं; **सः**=वह; **बध्यते**=लिपायमान होता।

अनुवाद

मुझ पर किसी कर्म का प्रभाव नहीं होता क्योंकि मुझे कर्मफल की कामना नहीं है। मेरे सम्बन्ध में इस सत्य को जानने वाला भी कर्मफल में लिपायमान नहीं होता। १४।।

तात्पर्य

यह संसार का सर्वमान्य संवैधानिक अभिधान है कि राजा दण्डनीय अथवा राज नियमों के आधीन नहीं हो सकता। इस न्याय से श्रीभगवान् भी अपने द्वारा रचित प्राकृत-जगत् की क्रियाओं से लिपायमान नहीं होते। सृष्टि करने पर भी वे उससे असंग रहते हैं। इसके विपरीत, प्राकृत पदार्थों पर प्रभुत्व करने की प्रवृत्ति के कारण जीवात्मा कर्मफल में बँध जाते हैं। किसी संस्थान का स्वामी कर्मचारियों के उचित-अनुचित कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं; कर्मचारी स्वयं उत्तरदायी हैं। जीवात्मा इन्द्रियतृप्ति के लिए नाना क्रियाओं में संलग्न हैं। भगवान् ने इन क्रियाओं का विधान नहीं किया है, तथापि जीवात्मा उत्तरोत्तर अधिक उत्तम इन्द्रियतृप्ति करने के लिए इस संसार में कर्म कर रहे हैं और मृत्यु के अनन्तर स्वर्गीय सुख चाहते हैं। श्रीभगवान् पूर्ण आप्तकाम हैं, उनमें तथाकथित स्वर्गीय सुख के प्रति लेशमात्र भी आकर्षण नहीं है। स्वर्गीय देवता उन के द्वारा नियुक्त सेवक हैं। कोई साधारण स्वामी भी उस तुच्छ सुख की इच्छा कभी नहीं करता, जो उसके सेवकों द्वारा वाञ्छित हो। इसलिए लौकिक कर्म एवं कर्मफल से भगवान् पूर्ण विरक्त हैं। उदाहरण के लिए, पृथ्वी पर प्रकट होने वाली नाना प्रकार की वनस्पतियों की हेतु वर्षा नहीं है, यद्यपि वर्षा के अभाव में इनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। वैदिक स्मृति में इस तथ्य की पुष्टि है:

निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि।
प्रधानकारिणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः।।

प्राकृत सृष्टि के परम कारण एकमात्र श्रीभगवान् हैं, प्रकृति तो केवल निमित्त कारण है, जिससे ब्रह्माण्डीय सृष्टि दृष्टिगोचर होती है। देवता, मनुष्य तथा निम्न पशु आदि सभी प्राणी पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्मफल भोगने को बाध्य हैं। श्रीभगवान् इन क्रियाओं के लिए उन्हें समुचित सुविधा और प्राकृत गुणों के नियम सुलभ कराते हैं, परन्तु जीवों की किसी भी अगली-पिछली क्रिया के लिए वे उत्तरदाता नहीं। वेदान्त सूत्र में सिद्ध किया गया है कि भगवान् किसी जीव से पक्षपात नहीं करते। जीवात्मा

अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। श्रीभगवान् तो केवल बहिरंगा शक्ति (अपरा प्रकृति) के माध्यम से उसे पर्याप्त सुविधा प्रदान करते हैं। इस कर्म सिद्धान्त की सम्पूर्ण गूढ़ता को जानने वाला कर्मफल से लिपायमान नहीं होता। भाव यह है कि श्रीभगवान् के इस दिव्य स्वरूप को तत्त्व से जानने वाला कृष्णभावना का अनुभवी पुरुष कर्मबन्धन के आधीन कभी नहीं रहता। जो श्रीभगवान् के अलौकिक स्वरूप को न जानते हुए यह समझता है कि साधारण जीवों के समान भगवान् के कर्म भी सकाम हैं, वह निश्चित रूप से कर्मफल से बँध जाता है। दूसरी ओर, जो परमसत्य के तत्त्व को जानता है, वह पुरुष कृष्णभावना में स्थित जीवन्मुक्त है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

एवम्=यह तत्त्व; ज्ञात्वा=भलीभाँति जानकर; कृतम्=किया गया है; कर्म=कर्म; पूर्वैः=पूर्व के; अपि=भी; मुमुक्षुभिः=मुमुक्षु पुरुषों द्वारा; कुरु=कर; कर्म=स्वधर्म रूप कर्तव्य; एव=ही; तस्मात्=अतएव; त्वम्=तू; पूर्वैः=पूर्वजों द्वारा; पूर्वतरम्=प्राचीन काल से; कृतम्=किया हुआ।

अनुवाद

प्रचीन काल के सब मुमुक्षु पुरुषों ने इसी ज्ञान के साथ कर्म करके मुक्ति-लाभ किया है। अतएव पूर्वजों की भाँति इस बुद्धियोग से युक्त होकर तू भी कर्तव्य का आचरण कर।।१५।।

तात्पर्य

मनुष्यों की दो कोटियाँ हैं। कुछ का हृदय पूर्णतया विषय-कलुषित है, तो दूसरे विषयैषणा से मुक्त हैं। कृष्णभावनामृत इन दोनों प्रकार के मनुष्यों के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। पूर्णतया विषय-दूषित व्यक्ति विधिभक्ति के आचरण द्वारा शनैः-शनैः हृदय का परिशोधन करने के लिए कृष्णभावनामृत को ग्रहण करें। पहले से विशुद्ध पुरुषों को भी कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में ही तत्पर रहना चाहिए, जिससे उनकी आदर्श क्रियाओं का अनुकरण करके दूसरे भी कल्याण को प्राप्त हो सकें। देखा गया है कि प्रायः मूर्ख व्यक्ति अथवा कनिष्ठ साधक कृष्णभावनामृत को जाने बिना ही कर्म से विरक्त हो जाना चाहते हैं। रणांगण में कर्म से विरत हो जाने की अर्जुन की इच्छा को श्रीभगवान् ने स्वीकार नहीं किया। कल्याण के लिए कर्म करने की यथार्थ विधि को जानने की आवश्यकता है। कृष्णभावनाभावित कर्म को त्यागकर अलग बैठकर कृष्णभावनामृत का दम्भ करने की अपेक्षा श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए कर्मक्षेत्र में तत्पर रहना कहीं उत्तम है। इस श्लोक में अर्जुन को यह परामर्श दिया गया है कि वह सूर्यदेव आदि पूर्ववर्ती भगवद्भक्तों के चरणचिन्हों का अनुसरण करते हुए कृष्णभावनाभावित कर्म करे। भगवान् श्रीकृष्ण को उन सब कर्मों की स्मृति है जो उन्होंने और उनके भक्तों (कृष्णभावनाभावित पुरुषों) ने पूर्व में किये थे। इसलिए वे

सूर्यदेव के कार्य की स्तुति कर रहे हैं, जिसने करोड़ों वर्ष पूर्व उन्हीं से यह विद्या सीखी थी। भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार के सब शिष्यों को यहाँ पूर्व में होने वाले मुक्तपुरुष कहा गया है, जो श्रीकृष्ण की आज्ञा रूपी कर्तव्य के पालन में तत्पर रहे। भाव यह है कि अर्जुन भी सूर्यदेव आदि महानुभावों का अनुगमन करता हुआ कृष्णभावनाभावित कर्म करे।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

किम्=क्या है; **कर्म**=कर्म; **किम्**=क्या है; **अकर्म**=अकर्म है; **इति**=इस; **कवयः**=बुद्धिमान्; **अपि**=भी; **अत्र**=इस विषय में; **मोहिताः**=मोहित हो जाते हैं; **तत्**=उस; **ते**=तेरे प्रति; **कर्म**=कर्म तत्त्व का; **प्रवक्ष्यामि**=वर्णन करूँगा; **यत्**=जिसे; **ज्ञात्वा**=जानकर; **मोक्ष्यसे**=मुक्त हो जायगा; **अशुभात्**=दुर्भाग्य (संसारबन्धन) से।

अनुवाद

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस प्रकार निर्णय करने में बुद्धिमान् भी मोहित हैं। इसलिए मैं तेरे लिए उस कर्मतत्त्व का वर्णन करूँगा, जिसे जान कर तू सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जायगा।।१६।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित कर्म पूर्ववर्ती शुद्धभक्तों के आदर्श के अनुसार ही करना है। पन्द्रहवें श्लोक में यही निर्देश है। स्वेच्छामय कर्म का निषेध क्यों है, यह अगले श्लोक में स्पष्ट किया जायगा।

कृष्णभावनाभावित कर्म करने के लिए उन प्रामाणिक पुरुषों का अनुगमन करना आवश्यक है, जो शिष्यपरम्परा में हों, जैसा अध्याय के आदि में कहा गया है। कृष्णभावनामृत रूपी धर्म का उपदेश सर्वप्रथम सूर्यदेव को किया गया। सूर्यदेव ने उसी ज्ञानामृत को अपने पुत्र मनु को दिया और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को हृदयंगम कराया। इस प्रकार यह व्यवस्था चिरन्तन काल से पृथ्वी पर विद्यमान है। अतः परम्परा के पूर्ववर्ती आचार्यों के चरणचिन्हों की अनुगति आवश्यक है। अन्यथा, चाहे कोई मूर्धन्य मनीषी ही क्यों न हो, उसे भी कृष्णभावनाभावित आदर्श कर्म के विषय में भ्रम हो जायगा। अतएव श्रीभगवान् ने अर्जुन को कृष्णभावनामृत में स्वयं शिक्षित करने का निश्चय किया। अर्जुन को साक्षात् भगवत्-शिक्षा प्राप्त हुई; इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि जो कोई भी अर्जुन का अनुगमन करेगा, वह कभी मोहित नहीं होगा।

कहा जाता है कि दोषपूर्ण प्रायोगिक ज्ञान से धर्मपथ का निर्णय नहीं किया जा सकता। वस्तुतः धर्म की रचना स्वयं श्रीभगवान् ही कर सकते हैं। **धर्मं हि साक्षात्भगवत्प्रणीतम्।** दोषमय मनोधर्म के द्वारा कोई धर्म का निर्माण नहीं कर सकता। इसके स्थान पर ब्रह्मा, शिव, नारद, मनु, कुमार, कपिल, प्रह्लाद, भीष्म, शुकदेव गोस्वामी, यमराज, जनक आदि महाजनों का अनुसरण करना कल्याणकारी

होगा। मनोधर्म से धर्म अथवा स्वरूप-साक्षात्कार का तत्त्वनिर्णय नहीं हो सकता। अतः भक्त के लिए अपनी स्वरूपभूता अहैतुकी कृपा मे प्रेरित हुए श्रीभगवान् स्वयं अर्जुन के प्रति कर्म-अकर्म के तत्त्व का विवेचन कर रहे हैं। वास्तव में कृष्णभावना-भावित कर्म करने पर ही भवबन्धन से जीव का उद्धार हो सकता है।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

कर्मणः=कर्म का प्रकार; **हि**=निःसन्देह; **अपि**=भी; **बोद्धव्यम्**=जानना चाहिए; **बोद्धव्यम्**=जानने योग्य है; **च**=तथा; **विकर्मणः**=निषिद्ध कर्म का स्वरूप; **अकर्मणः** =अकर्म का तत्त्व; **च**=भी; **बोद्धव्यम्**=जानना चाहिए; **गहना**=गहन है; **कर्मणः**= कर्मतत्त्व की; **गतिः**=गति।

अनुवाद

कर्म, विकर्म और अकर्म के स्वरूप को भलीभाँति जानना चाहिए; क्योंकि कर्म का तत्त्व अति गहन है।।१७।।

तात्पर्य

भवबन्धन से मुक्ति के साधन में गम्भीरतापूर्वक तत्पर मनुष्य के लिए कर्म, अकर्म और विकर्म के भेद को जान लेना आवश्यक है। कर्म, अकर्म एवं विकर्म के सम्बन्ध में गम्भीर स्वाध्याय अपेक्षित है, क्योंकि यह अतिशय गहन तत्त्व है। कृष्णभावनाभावित कर्म और गुणों के अनुसार किये जाने वाले कर्म में भेद को जानने के लिए श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को जानना होगा। भाव यह है कि जो पूर्ण विद्या से युक्त है, वह जानता है कि प्रत्येक जीव भगवान् का नित्यदास है और इस कारण कृष्णभावनाभावित कर्म करना जीवमात्र का कर्तव्य है। सम्पूर्ण भगवद्गीता का यही लक्ष्य है। इस भावना का विरोध करने वाले अन्य सब निष्कर्ष एवं परिणाम 'विकर्म' हैं। इस सम्पूर्ण तत्त्व ज्ञान के लिए कृष्णभावना के प्रामाणिक आचार्यों का सत्संग करके उनसे यह रहस्य हृदयंगम करे। ऐसा करना साक्षात् श्रीभगवान् से शिक्षा ग्रहण करने जैसा कल्याणकारी है। महाभागवत के आश्रय के बिना तो बड़े से बड़ा बुद्धिमान् भी मोहित हो जाता है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

कर्मणि=कर्म में; **अकर्म**=अकर्म; **यः**=जो; **पश्येत्**=देखता है; **अकर्मणि** =अकर्म में; **च**=भी; **कर्म**=सकाम कर्म; **यः**=जो; **सः**=वह; **बुद्धिमान्**=बुद्धिमान् है; **मनुष्येषु**=मनुष्यों में; **सः**=वह; **युक्तः**=युक्त है; **कृत्स्नकर्मकृत्**=सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होने पर भी।

अनुवाद

जो कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है, वह पुरुष

मनुष्यों में बुद्धिमान् है और सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होने पर भी मुक्त ही है।।१८।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला स्वभावतः सम्पूर्ण कर्मबन्धनों से मुक्त रहता है। उसके सम्पूर्ण कार्य श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए हैं। इसलिए वह किसी भी प्रकार का कर्मजन्य सुख-दुःख नहीं भोगता। श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए ही सब कर्म करने के कारण वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है। 'अकर्म', अर्थात् कर्मफल से रहित। निर्विशेषवादी इस भयवश सकाम-कर्म से निवृत्त हो जाता है कि कहीं कर्मफल से मुक्तिपथ में व्यवधान उपस्थित न हो जाय। भक्त को नित्य भगवत्-दास के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में नित्य तत्पर रहता है। सभी कुछ श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए किया जाता है, इससे वह उस सेवा में केवल चिन्मय आनन्द ही आनन्द का अनुभव करता है। इस पद्धति में निष्ठ भक्त निजेन्द्रिय-तृप्ति की कामना से पूर्ण मुक्त हैं। 'मैं श्रीकृष्ण का नित्य दास हूँ', यह भाव सब कर्मफलों से मुक्त कर देता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

यस्य=जिसके; **सर्वे**=सब; **समारम्भाः**=उद्यम; **काम**=इन्द्रिय-तृप्ति की कामना के; **संकल्प**=निश्चय (से); **वर्जिताः**=रहित हैं; **ज्ञान**=पूर्ण ज्ञान की; **अग्नि**=अग्नि द्वारा; **दग्ध**=भस्म हुए; **कर्माणम्**=कर्म वाले; **तम्**=उस पुरुष को; **आहुः**=कहते हैं; **पण्डितम्**=विद्वान्; **बुधाः**=ज्ञानी।

अनुवाद

जिसके सब कर्म इन्द्रियतृप्ति की कामना से रहित हैं, उसको पूर्ण ज्ञानी समझा जाता है। उस पुरुष के कर्मफल ज्ञानरूप अग्नि में भस्म हो जाते हैं, ऐसा ऋषियों का कहना है।।१९।।

तात्पर्य

एक पूर्ण ज्ञानी ही कृष्णभावनाभावित पुरुष की क्रियाओं को समझ सकता है। कृष्णभावनाभावित पुरुष में इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति का अत्यन्त अभाव रहता है, इससे यह समझा जाता है कि भगवान् के नित्य दास के रूप में अपने स्वरूप को जानकर उसने सम्पूर्ण कर्मफल को भस्म कर दिया है। इस ज्ञानमयी कृतकृत्यता को प्राप्त मनुष्य ही यथार्थ में विद्वान् है। 'मैं भगवान् का नित्य दास हूँ', यह ज्ञान अग्नि की सी गरिमा रखता है। एकदा प्रदीप्त हुई यह ज्ञान रूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मबन्धन को अविलम्ब भस्म कर देती है।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।।२०।।

त्यक्त्वा=त्याग कर; **कर्मफलासंगम्**=कर्मफल की आसक्ति को; **नित्य**=सदा; **तृप्तः**=तृप्त; **निराश्रयः**=आश्रयरहित; **कर्मणि**=कर्म में; **अभिप्रवृत्तः**=पूर्ण तत्पर होने पर; **अपि**=भी; **न**=नहीं; **एव**=निःसन्देह; **किंचित्**=कुछ भी; **करोति**=करता है; **सः**=वह।

अनुवाद

कर्मफल की आसक्ति को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर नित्यतृप्त और स्वतन्त्र पुरुष सब कर्म करतां हुआ भी कभी कोई सकाम कर्म नहीं करता।।२०।।

तात्पर्य

कर्मबन्धन से इस प्रकार की मुक्ति एकमात्र कृष्णभावनाभावित होकर श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए सब कर्म करने से ही हो सकती है। कृष्णभावनाभावित भक्त विशुद्ध भगवत्प्रेम से प्रेरित होकर कर्म करता है। इसलिए उसके लिए कर्मफल में कुछ भी आकर्षण नहीं रहता। वह पूर्णतया कृष्णाश्रित हो जाता है, इसलिए अपने परिपोषण तक में आसक्त नहीं रहता और न ही उसे अपने योगक्षेम की चिन्ता रहती। पूर्ण सामर्थ्य से स्वधर्म का आचरण करता हुआ भी वह सर्वतोभावेन कृष्णचरणाश्रित रहता है। इस कोटि का अनासक्त पुरुष शुभ-अशुभ कर्मफल से नित्य मुक्त है, जैसे वह कभी कुछ करता ही न हो। यह 'अकर्म' अर्थात् निष्काम कर्म का लक्षण है। कृष्णभावना से रहित अन्य सब कर्म बन्धनकारी हैं, और जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, उन्हीं का नाम विकर्म है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

निराशी.=फल की कामना से रहित; **यत**=वश में किए हुए; **चित्तात्मा**=मन तथा बुद्धि से युक्त; **त्यक्त**=त्याग दिया है; **सर्व**=सम्पूर्ण; **परिग्रहः**=सामग्री पर स्वामीपन का भाव; **शारीरम्**=प्राणरक्षा का; **केवलम्**=मात्र; **कर्म**=कर्म; **कुर्वन्**=करते हुए भी; **न**=नहीं; **आप्नोति**=प्राप्त होता; **किल्बिषम्**=पाप को।

अनुवाद

ऐसा ज्ञानी पुरुष, जिसने मन-बुद्धि को पूर्ण रूप से वश में करके और अपनी सम्पूर्ण सामग्री में स्वामीपन के भाव को त्याग दिया है, केवल शरीरधारण के लिए कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता।।२१।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष को अपने कर्मों से शुभ-अशुभ किसी भी फल की अपेक्षा नहीं होती। उसके चित्त एवं बुद्धि पूर्णतया वश में रहते हैं। वह जानता है कि वह परमेश्वर का भिन्न-अंश है, इसलिए अंशी के अंश के रूप में उसकी भूमिका का निर्णय श्रीभगवान् ने किया है, उसने स्वयं नहीं। जीव तो भगवत्-इच्छा की पूर्ति में निमित्तमात्र है; जैसे हाथ स्वेच्छापूर्वक नहीं, बल्कि सम्पूर्ण देह के प्रयत्न से चेष्टा

करता है। कृष्णभावनाभावित पुरुष भगवत्-इच्छा की पूर्ति में ही नित्य लगा रहता है, क्योंकि उसमें निजेन्द्रियतृप्ति की कामना की गन्ध भी नहीं रहती। वह ठीक यन्त्रस्थ उपकरण के समान कार्य करता है। जिस प्रकार कार्यशीलता के लिए यन्त्र के उपकरण को तेल और सफाई अपेक्षित है, उसी भाँति कृष्णभावनाभावित मनुष्य कर्म के द्वारा अपना पालन करता है, जिससे वह दिव्य भगवत्सेवा करने के लिए स्वस्थ रह सके। इसलिए सब प्रकार के कर्मफल से वह असंग बना रहता है। पशु की भाँति उसका अपने शरीर पर कोई अधिकार नहीं होता। क्रूर स्वामी कभी-कभी पशु को मार भी डालता है परन्तु पशु विरोध नहीं करता, क्योंकि उसमें यथार्थ स्वतन्त्रता का अभाव है। स्वरूप-साक्षात्कार में पूर्णतया तत्पर कृष्णभावनाभावित पुरुष के पास इतना समय नहीं होता कि वह विषयों में स्वामीपन का मिथ्या अभिमान करे; प्राणधारण करने के हेतु धन-उपार्जन की किसी असद्वृत्ति से भी उसे कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। अतएव वह इस प्रकार के पापकर्मों से कलुषित नहीं होता। वह सब प्रकार से अपने कर्मों के बन्धन से मुक्त है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

यदृच्छालाभ=अपने आप जो कुछ प्राप्त हो (उसी में); **सन्तुष्टः**=सन्तोष करने वाला; **द्वन्द्व**=द्वन्द्वों से; **अतीतः**=मुक्त; **विमत्सरः**=ईर्ष्यारहित; **समः**=स्थिर-बुद्धि; **सिद्धौ**=सिद्धि में; **असिद्धौ**=असिद्धि में; **च**=भी; **कृत्वा**=कर्म करने पर; **अपि**=भी; **न**=नहीं; **निबध्यते**=बँधता।

अनुवाद

अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तुष्ट, द्वन्द्वों और ईर्ष्या दोष से मुक्त तथा सिद्धि और असिद्धि को समान समझने वाला पुरुष कर्म करने पर भी नहीं बँधता।।२२।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष शरीरधारण के लिए भी विशेष उद्यम नहीं करता, स्वयंप्राप्त लाभ में ही सन्तुष्ट रहता है। वह याचना अथवा ऋण नहीं लेता, वरन् यथासामर्थ्य उद्यम करता है और सद्वृत्ति से जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसी में परितृप्त रहता है। इस प्रकार अपनी जीविका के सम्बन्ध में वह स्वतन्त्र है, इसलिए किसी दूसरे की सेवा को अपने कृष्णभावनाभावित सेवा-कार्य में व्यवधान उपस्थित नहीं करने देता। दूसरी ओर, भगवत्सेवा के लिए संसार के द्वन्द्वों से प्रभावित हुए बिना वह किसी भी कर्म में प्रवृत्त हो सकता है। सांसारिक द्वन्द्वों का अनुभव शीत-ग्रीष्म, सुख-दुःखादि के रूप में होता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष द्वन्द्वों से मुक्त रहता है; कारण वह श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कुछ भी कर्म करने में संकोच नहीं करता। इसीलिए सिद्धि तथा असिद्धि दोनों में वह समभाव रखता है। पूर्ण ज्ञानी में ये सब लक्षण प्रकट रहते हैं।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

गतसंगस्य=प्राकृतिक गुणों में अनासक्त; **मुक्तस्य**=मुक्त के; **ज्ञानावस्थित**=ज्ञान में स्थित; **चेतसः**=मति से; **यज्ञाय**=यज्ञ (श्रीकृष्ण) के प्रीत्यर्थ; **आचरतः**=सम्पादित; **कर्म**=कार्य; **समग्रम्**=सम्पूर्ण; **प्रविलीयते**=पूर्णरूप से विलीन हो जाता है।

अनुवाद

जो पुरुष प्रकृति के गुणों में आसक्त नहीं है और पूर्णज्ञान में स्थित है, उसके सम्पूर्ण कर्म अप्राकृत तत्त्व में विलीन हो जाते हैं।।२३।।

तात्पर्य

पूर्ण कृष्णभावनाभावित पुरुष सम्पूर्ण द्वन्द्वों से छूट जाता है और इस प्रकार प्रकृति के गुणों से भी असंग हो जाता है। वह मुक्त हो जाता है, क्योंकि यह भलीभाँति जानता है कि वह स्वरूप से श्रीकृष्ण का नित्य दास है। अतएव उसके चित्त को कृष्णभावना से विचलित नहीं किया जा सकता। वह जो कुछ भी करता है, आदिविष्णु श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए ही करता है। इस प्रकार उसके सम्पूर्ण कर्म यज्ञमय वन जाते हैं, क्योंकि यज्ञ का तात्पर्य पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को प्रसन्न करना ही है। इस कोटि के यज्ञमय कर्मों का फल निस्सन्देह अप्राकृत तत्त्व में विलीन हो जाता है, इसलिए इनका कोई लौकिक फल नहीं भोगना पड़ता।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना।।२४।।

ब्रह्म=परा प्रकृति; **अर्पणम्**=अर्पण; **ब्रह्म**=परतत्त्व; **हविः**=घृत; **ब्रह्म**=अप्राकृत; **अग्नौ**=परमगति रूपी अग्नि में; **ब्रह्मणा**=जीवात्मा द्वारा; **हुतम्**=अर्पित; **ब्रह्म**=भगवद्धाम; **एव**=अवश्यमेव; **तेन**=उसके द्वारा; **गन्तव्यम्**=प्राप्य है; **ब्रह्म**=चिन्मय; **कर्म**=कार्य में; **समाधिना**=पूर्ण तन्मयता के कारण।

अनुवाद

जो कृष्णभावना में पूर्ण मग्न है, उस पुरुष के लिए भगवद्धाम की प्राप्ति निश्चित है; वह उन ब्रह्मरूप क्रियाओं के परायण रहता है, जिनमें ब्रह्म ही अग्निरूपी गति है और अर्पित हवि भी ब्रह्ममय है।।२४।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित क्रियाओं के द्वारा अन्त में किस प्रकार भगवद्धाम की प्राप्ति हो जाती है, यह इस श्लोक में कहा गया है। कृष्णभावनाभावित क्रियायें नाना प्रकार की हैं, जिनका अनुवर्ती श्लोकों में उल्लेख किया जायगा। उससे पूर्व, इस श्लोक में कृष्णभावनामृत के सिद्धान्त का निरूपण है। प्राकृत विकारों से युक्त वद्धजीव भव-परिवेश में कर्म किये विना नहीं रह सकता, यह निश्चित है। अतएव भवमोचन

के लिए उसे इस परिधि से मुक्त होना है। कृष्णभावना वह पद्धति है जिसके द्वारा जीव भव-परिवेश से मुक्त हो सकता है। उदाहरण के लिए, दुग्ध-पदार्थों के अतिसेवन से हुई अपच एक अन्य दुग्ध-पदार्थ, दही के सेवन से ठीक हो जाती है। ऐसे ही, विषयासक्त बद्धजीव यहाँ गीता में प्रतिपादित कृष्णभावनामृत-योग के द्वारा भवरोग से मुक्त हो सकता है। साधारणतया इस पद्धति को यज्ञ अर्थात् श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) की प्रसन्नता के लिए कर्म करना कहते हैं। लौकिक कार्यों को जितना अधिक कृष्ण-भावनाभावित होकर, अर्थात् श्रीविष्णु की प्रीति के लिए किया जायगा, पूर्ण तन्मयता के फलस्वरूप पर्यावरण उतना ही अधिक चिन्मय कृष्णभक्तिरस से परिप्लावित होगा। 'ब्रह्म' शब्द अप्राकृत तत्त्व का वाचक है। श्रीभगवान् सच्चिदानन्दघन हैं; उनके श्रीविग्रह से निस्सृत किरणराशि ब्रह्मज्योति कहलाती है। उसी ब्रह्मज्योति में सब कुछ स्थित है। मायाच्छन्न हो जाने पर उसे प्राकृत (भौतिक) कहा जाता है। इस प्राकृत आवरण को कृष्णभावनामृत से तत्काल हटाया जा सकता है। अतएव कृष्णभावना के लिए अर्पित हवि, ग्रहणकर्ता, अर्पणक्रिया, अर्पणकर्ता और यज्ञफल —ये सभी समवेत रूप में ब्रह्मतत्त्व हैं। मायाछन्न ब्रह्म ही जड़ प्रकृति कहलाता है और परब्रह्म की सेवा में नियोजित प्रकृति फिर दिव्यता को प्राप्त हो जाती है। अतएव कृष्णभावना के अनुशीलन से मायाच्छादित चेतना अपने ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती है। चित्त का कृष्णभावना में पूर्णरूप से तन्मय हो जाना समाधि है। इस भगवन्निष्ठ मति (बुद्धियोग) से युक्त होकर जो भी कर्म किया जाता है, वह 'यज्ञस्वरूप' है। ऐसे भगवद्भाव में अर्पणकर्ता, अर्पित हवि, अर्पण-क्रिया, होता और यज्ञफल अर्थात् अन्तिम लाभ—सभी कुछ परब्रह्म में एकत्व को प्राप्त हो जाता है। यही कृष्णभावना की विधि है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

दैवम्=देवयजन में; **एव**=इस प्रकार; **अपरे**=अन्य; **यज्ञम्**=यज्ञ; **योगिनः**=योगी; **पर्युपासते**=पूर्ण रूप से उपासना करते हैं; **ब्रह्म**=परतत्त्व; **अग्नौ**=अग्नि में; **अपरे**=अन्य; **यज्ञम्**=यज्ञ को; **यज्ञेन**=यज्ञ से; **एव**=इस प्रकार; **उपजुह्वति**=अर्पित करते हैं।

अनुवाद

दूसरे योगी नाना यज्ञों के द्वारा देवताओं की भलीभाँति उपासना करते हैं, जबकि अन्य ज्ञानीजन परब्रह्मरूपी अग्नि में आहुति देते हैं।।२५।।

तात्पर्य

पूर्व वर्णन के अनुसार, कृष्णभावना में कर्तव्य का पालन करने वाला परमयोगी है। परन्तु ऐसे भी मनुष्य हैं जो देवोपासना के लिए यजन करते हैं और परमेश्वर श्रीकृष्ण के निराकार तत्त्व से निमित्त यज्ञ करने वाले भी हैं। अतः विविध श्रेणियों के

अनुसार भिन्न-भिन्न यज्ञ किये जाते हैं। कर्ताभेद के अनुसार कल्पित नाना यज्ञ-श्रेणियाँ केवल बाह्यरूप से यज्ञों का वर्गीकरण करती हैं। यथार्थ यज्ञ का एकमात्र तात्पर्य तो 'यज्ञ' नामक परमेश्वर श्रीविष्णु का सन्तोष है। यज्ञों के मुख्य रूप से दो वर्ग हैं—द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ। कृष्णभावनाभावित महापुरुष भगवान् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए सर्वस्वत्याग कर देते हैं, जबकि क्षणिक प्राकृत सुख के अभिकांक्षी अन्य मनुष्य इन्द्र, सूर्यादि को प्रसन्न करने के लिए अपनी लौकिक सम्पत्ति का यजन करते हैं। इनके अतिरिक्त, निर्विशेषवादी तो निराकार ब्रह्म में विलीन होकर स्वरूप का ही यजन कर डालते हैं। देवताओं को ब्रह्माण्डीय तेज, जल, प्रकाशादि प्राकृत क्रियाओं की व्यवस्था के लिए श्रीभगवान् ने नियुक्त किया है। फिर भी भोगों के अभिलाषी वैदिक कर्मकाण्डमय यज्ञों के द्वारा देवोपासना करते हैं। इस कोटि के मनुष्य 'बहवीश्वरवादी' कहलाते हैं। दूसरी ओर, निर्विशेषवादी देव-वपुओं को अनित्य मानते हुए ब्रह्माग्नि में अपने स्वरूप का ही यजन कर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ये निर्विशेषवादी ब्रह्मतत्त्व के चिन्मय स्वरूप को जानने के लिए दार्शनिक मनोधर्म के परायण रहते हैं। इस प्रकार, सकाम कर्मी इन्द्रियतृप्ति के लिए लौकिक स्वत्व का यजन करते हैं, और निर्विशेषवादी ब्रह्म में विलय के लिए अपनी प्राकृत उपाधियों का यजन करता है। निर्विशेषवादी के लिए यज्ञाग्नि ही परब्रह्म है एवं ब्रह्माग्नि में स्वरूप विलय होना यज्ञार्पण है। परन्तु अर्जुन की श्रेणी के कृष्णभावनाभावित भक्त श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए अपने सर्वस्व का अर्पण कर देते हैं। इस प्रकार आत्मस्वरूप सहित भक्त का सब कुछ श्रीकृष्ण की प्रीति-सम्पादन में समर्पित रहता है। अतएव भक्त परम योगी हैं; परन्तु उसका पृथक् स्वरूप नष्ट नहीं होता।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

श्रोत्रादीनि=श्रोत्र आदि; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियों को; **अन्ये**=दूसरे; **संयम**=संयमरूप; **अग्निषु**=अग्नि में; **जुह्वति**=अर्पित करते हैं; **शब्दादीन्**=शब्द आदि; **विषयान्**=इन्द्रियतृप्ति के विषयों का; **अन्ये**=दूसरे; **इन्द्रिय**=इन्द्रियों की; **अग्निषु**=अग्नि में; **जुह्वति**=यजन करते हैं।

अनुवाद

उनमें से कुछ श्रवणादि क्रियाओं और इन्द्रियों का चित्तसंयमरूपी अग्नि में यजन करते हैं तो दूसरे शब्दादि इन्द्रियविषयों का इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं।।२६।।

तात्पर्य

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—मानव जीवन के इन चारों आश्रमों का प्रयोजन पूर्ण योगी बनने में मनुष्य की सहायता करना है। मनुष्य योनि पशुओं के समान इन्द्रियतृप्ति करने के लिए नहीं है। अतएव मानव जीवन के ये चारों आश्रम

इस प्रकार व्यवस्थित हैं जिससे मनुष्य भगवत्परायण जीवन की कृतार्थता को प्राप्त हो जाय। ब्रह्मचारीगण सद्गुरु के आश्रय में रहते हुए इन्द्रियतृप्ति का परिहार कर मन को वश में करते हैं। इस श्लोक के अनुसार वे श्रवण आदि क्रियाओं का और इन्द्रियों का चित्तसंयमरूपी अग्नि में यजन करते हैं। ब्रह्मचारी के लिए कृष्णभावना सम्बन्धी शब्द ही सुनने योग्य हैं। श्रवण ज्ञान की कुञ्जी है। इसलिए शुद्ध ब्रह्मचारी **हरेर्नामानुकीर्तनम्** अर्थात् भगवत्-कीर्तन-श्रवण में पूर्ण मग्न रहता है। वह लौकिक वार्ता को नहीं सुनता; उसकी श्रवणेन्द्रिय हरे **कृष्ण** हरे **कृष्ण** के श्रवण में ही तत्पर रहती है। इन्द्रियभोग करने की सीमित छूट होते हुए भी गृहस्थ अत्यन्त मर्यादित विषयभोग में प्रवृत्त होते हैं। मैथुन-परायणता, मादक पदार्थ सेवन और मांसाहार मानव समाज की सामान्य वृत्तियाँ हैं। परन्तु संयमी गृहस्थ मैथुन आदि विषयभोगों में अनियन्त्रित रूप से प्रवृत्त नहीं होता। इसी उद्देश्य से प्रत्येक सभ्य मानव समाज में धर्मविवाह का प्रचलन है। यह संयमित, आसक्तिरहित काम भी एक प्रकार का यज्ञ है, क्योंकि इसके माध्यम से संयमी गृहस्थ अपनी विषयभोगोन्मुखी सामान्य प्रवृत्ति का परमार्थ के लिए यजन करता है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

सर्वाणि=सब; **इन्द्रिय**=इन्द्रियों की; **कर्माणि**=क्रियाओं का; **प्राणकर्माणि**=प्राण-क्रियाओं का; **च**=भी; **अपरे**=दूसरे; **आत्मसंयम**=मनोनिग्रह; **योग**=प्राप्तिपथ; **अग्नौ**=अग्नि में; **जुह्वति**=अर्पण करते हैं; **ज्ञानदीपिते**=स्वरूप-साक्षात्कार की जिज्ञासा से युक्त।

अनुवाद

दूसरे, जो मन और इन्द्रियों का संयम कर के स्वरूप-साक्षात्कार करना चाहते हैं, वे सम्पूर्ण इन्द्रिय और प्राण क्रियाओं का चित्तसंयमरूपी अग्नि में यजन करते हैं।।२७।।

तात्पर्य

इस श्लोक में पंतजलि द्वारा प्रणीत योगपद्धति का निर्देश है। पतंजलि के 'योगसूत्र' में आत्मा को 'प्रत्यगात्मा' एवं 'परगात्मा' कहा गया है। जब तक जीवात्मा विषयासक्त रहता है, तब तक उसे 'परगात्मा' कहा जाता है। जीवमात्र के अन्तर में दस प्राण सक्रिय रहते हैं, जो श्वास-प्रक्रिया द्वारा अनुभवगम्य हैं। पातंजल योगदर्शन देह में स्थित प्राण की सम्पूर्ण क्रियाओं को वश में करने की विधि सिखाता है, जिससे ये सब प्राण-क्रियाएँ विषयासक्ति से जीवात्मा के शुद्धिकरण में सहायक हो जायँ। इस योगपद्धति के अनुसार प्रत्यगात्मा ही परम लक्ष्य है। यह प्रत्यगात्मा प्राकृतिक क्रियाओं का प्रत्याहार है। इन्द्रियाँ इन्द्रियविषयों के साथ अन्तर्क्रिया करती हैं, जैसे श्रवण के लिए श्रोत्र, दर्शन के लिए नेत्र, गन्ध के लिए घ्राण,

स्वाद के लिए जिह्वा, स्पर्श के लिए त्वचा। इस प्रकार ये सभी आत्मस्वरूप के बाहर क्रियाशील हैं। ये सब प्राणवायु के कार्य हैं। अपानवायु अधोगामी है, व्यानवायु प्रसरण-संकुचन करती है, समानवायु समता बनाये रखती है और उदानवायु ऊर्ध्वगामिनी है। प्रवुद्ध मनुष्य इन सबको आत्मतत्त्व की जिज्ञासा में लगाता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

द्रव्ययज्ञाः=अपनी सम्पत्ति का यजन; **तपोयज्ञाः**=तप द्वारा यजन; **योगयज्ञाः**=अष्टांगयोग द्वारा यज्ञ; **तथा**=इस प्रकार; **अपरे**=दूसरे; **स्वाध्याय**=वेदाध्ययन रूपी यज्ञ; **ज्ञानयज्ञाः**=दिव्य ज्ञान का अनुशीलन रूप यज्ञ; **च**=भी; **यतयः**=प्रबुद्ध; **संशितव्रताः**=दृढ़ व्रतधारी।

अनुवाद

दूसरे मनुष्य कठोर तप में अपनी सम्पत्ति का त्याग करने से प्रबुद्ध होकर दृढ़ व्रत धारण कर के अष्टांगयोग का अभ्यास करते हैं, जबकि और दूसरे ज्ञानप्राप्ति के लिए वेद का स्वाध्याय करते हैं।।२८।।

तात्पर्य

यहाँ कहे गये यज्ञों के नाना अवान्तर भेद किये जा सकते हैं। बहुत से मनुष्य विविध प्रकार से दान के रूप में अपनी सम्पत्ति का यजन करते हैं। धनाढ्य व्यापारी वर्ग अथवा राजवंश द्वारा धर्मशाला, अन्नक्षेत्र, अतिथिशाला, अनाथालय, विद्यापीठ, आदि दातव्य संस्थाओं की स्थापना की जाती है। अन्य देशों में भी प्रचुर संख्या में चिकित्सालय, वृद्धगृह एवं अन्यान्य दातव्य संस्थान हैं, जिनका उद्देश्य दरिद्रों में अन्न, शिक्षा, औषधियों का निःशुल्क वितरण करना है। ये सब दानकर्म द्रव्यमय यज्ञ हैं। दूसरे संसार में पदोन्नति अथवा स्वर्गारोहण के निमित्त से चन्द्रायण तथा चातुर्मास्य आदि कठोर तपों का स्वेच्छा से पुरश्चरण करते हैं। इन पद्धतियों के अन्तर्गत जीवन भर कुछ नियमों के पालन का दृढ़ व्रत धारण करना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, चातुर्मास्य का व्रती चार मास तक क्षौर नहीं करता, निषिद्ध पदार्थ नहीं खाता, दिन में दो बार भोजन नहीं करता और गृह में ही निवास करता है। सांसारिक सुखों को इस विधि से त्यागना 'तपोयज्ञ' है। इसके अतिरिक्त, कुछ दूसरे मनुष्य (ब्रह्मैक्य के लिए) पातंजलयोग, हठयोग और (अभीष्टसिद्धि के लिए) अष्टांगयोग आदि में प्रवृत रहते हैं। कुछ सम्पूर्ण पवित्र तीर्थों की यात्रा करते हैं। ये सब क्रियाएँ 'योगयज्ञ' हैं। ऐसे भी मनुष्य हैं जो विविध वैदिक शास्त्रों का, विशेष रूप से उपनिषद्, वेदान्तसूत्र अथवा सांख्यदर्शन का अध्ययन करते हैं। ये कर्म 'स्वाध्याय-यज्ञ' हैं। नाना प्रकार के यज्ञों में श्रद्धापूर्वक लगे हुए ये सभी योगी उदात्त जीवन के अभिलाषी हैं; परन्तु कृष्णभावनामृत इन सबसे विलक्षण है, क्योंकि वह साक्षात् परम रसमयी भगवत्सेवा है। श्रीभगवान्

और यथार्थ भगवद्भक्त की महती अमोघ कृपा से ही कृष्णभावनामृत प्राप्त होती है, उपरोक्त किसी यज्ञ से नहीं। इसलिए कृष्णभावनामृत सर्वथा दिव्य (लोकोत्तर) है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।।२९।।

अपाने=अपानवायु में; **जुह्वति**=हवन करते हैं; **प्राणम्**=प्राण को; **प्राणे**=प्राण में; **अपानम्**=अपानवायु को; **तथा**=ऐसे ही; **अपरे**=अन्य; **प्राण**=प्राण; **अपान**=अपान की; **गती**=गति को; **रुद्ध्वा**=वश में करके; **प्राणायाम**=प्राणनिरोध से हुई समाधि में; **परायणाः**=प्रवृत्त; **अपरे**=अन्य; **नियत**=संयमित; **आहाराः**=भोजन; **प्राणान्**=प्राण को; **प्राणेषु**=प्राण में ही; **जुह्वति**=हवन करते हैं।

अनुवाद

दूसरे मनुष्य समाधि के लिए प्राणायाम के परायण रहते हैं। वे अपान में प्राण का और प्राण में अपान को रोकने का अभ्यास करते हैं और अन्त में प्राण-अपान की गति को पूर्णरूप से रोककर समाधि में स्थित हो जाते हैं। दूसरे संयमित भोजन करने वाले योगी प्राण का प्राण में ही हवन किया करते हैं।।२९।।

तात्पर्य

श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया के निग्रह से सम्बन्धित इस योगपद्धति को 'प्राणायाम' कहते हैं। प्रारम्भ में हठयोग के विविध आसनों की सहायता से इसका अभ्यास किया जाता है। इन्द्रियों को वश में करने और स्वरूप-साक्षात्कार के पथ में प्रगति के लिए ही इन सब साधन-वीथिओं का विधान किया गया है। इस पद्धति के अन्तर्गत देह में स्थित वायु का संयम किया जाता है, जिससे परस्पर विपरीत दिशाओं में एक समय संक्रमण करना सम्भव हो जाय। अपानवायु अधोमुखी है और प्राणवायु ऊर्ध्वगामिनी है। 'पूरक' में इन दोनों वायुओं के तटस्थ हो जाने तक प्राणायाम-परायण योगी विलोक-उच्छ्वास का अभ्यास करता है। इसी भाँति, जब प्राण का अपान में यजन किया जाता है, तो उसे 'रेचक' कहते हैं। प्राण-अपान, दोनों के पूर्ण अवरोध को 'कुम्भकयोग' कहा जाता है। कुम्भकयोग के अभ्यास से योनियों की आयु में अनेक वर्षों की अभिवृद्धि हो जाती है। परन्तु भक्तियोग से नित्य युक्त रहने वाला कृष्णभावनाभावित पुरुष स्वयमेव जितेन्द्रिय बन जाता है। निरन्तर श्रीकृष्णसेवा में तत्पर होने से उसकी इन्द्रियों के लिए विषयों में प्रवृत्त होना सम्भव नहीं रहता। अतएव जीवन-अवधि का अन्त होने पर वह अनायास ही चिन्मय कृष्णलोक में प्रविष्ट हो जायगा। इसलिए वह चिरायु की प्राप्ति के लिए उद्यम नहीं करता; सत्य तो यह है कि कृष्णभावनाभावित होते ही उसकी सद्योमुक्ति हो जाती है। कृष्णभावनाभावित महात्मा की श्रेणी का प्रारम्भ ही ब्रह्मभूत स्तर से होता है; वह उस बुद्धियोग से सदा युक्त है। इस से उसका कभी पतन नहीं हो सकता। अन्त में उसे अतिशीघ्र

भगवद्धाम की प्राप्ति भी हो जाती है। केवल श्रीकृष्णप्रसाद को ग्रहण करने से अल्पाहार का अभ्यास अपने-आप हो जाता है। अल्पाहार इन्द्रियनिग्रह में बड़ा सहायक है; इन्द्रियों को वश में किए बिना प्रापञ्चिक बन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।।३०।।

सर्वे=सब; **अपि**=बाह्य दृष्टि से भिन्न प्रतीत होने पर भी; **एते**=ये; **यज्ञविदः**=यज्ञ के प्रयोजन को जाने वाले; **यज्ञ**=यज्ञ द्वारा; **क्षपित**=शुद्ध हुए; **कल्मषाः**=पाप से; **यज्ञशिष्ट अमृतभुजः**=जो यज्ञों के प्रसाद रूप अमृत का आस्वादन कर चुके हैं; **यान्ति**=प्राप्त करते हैं; **ब्रह्म**=परमब्रह्म; **सनातनम्**=नित्य धाम को।

अनुवाद

ये सभी यज्ञ करने वाले, जो यज्ञों का तात्पर्य जानते हैं, पापकर्मों से मुक्त हो जाते हैं और इन यज्ञों के प्रसादरूप अमृत का आस्वादन करके शाश्वत् परमधाम को प्राप्त करते हैं।।३०।।

तात्पर्य

द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, योगयज्ञ आदि विविध यज्ञों के पूर्व वर्णन से ज्ञात होता है कि इन सभी का उद्देश्य इन्द्रियों को वश में करना है। भवरोग का मूल कारण इन्द्रियतृप्ति-परायणता है; अतएव इन्द्रियतृप्ति से ऊपर उठे बिना सच्चिदानन्द-तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह शाश्वत् ब्रह्म-परिवेश का स्तर है। पूर्वोक्त यज्ञ प्रापञ्चिक जीवन में बनने वाले अपकर्मों से कर्ता का शोधन करते हैं। इस आत्मोन्नति के द्वारा केवल इस जीवन में ही सुख-वैभव की प्राप्ति नहीं होती, वरन् अन्त में यथायोग्य निर्विशेष ब्रह्मैक्य अथवा भगवान् श्रीकृष्ण के सान्निध्य में भगवद्धाम की प्राप्ति भी हो जाती है।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

न=नहीं; **अयम्**=यह; **लोकः**=संसार; **अस्ति**=है; **अयज्ञस्य**=यज्ञ न करने वाले मूर्ख का; **कुतः**=कैसे होगा; **अन्यः**=दूसरे (परलोक); **कुरुसत्तम**=हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन।

अनुवाद

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ न करने वाले के लिए यह लोक अथवा यह जीवन भी सुखदायक नहीं, फिर परलोक कैसे होगा?।।३१।।

तात्पर्य

जीव भवसागर की किसी भी योनि में क्यों न हो, अपना यथार्थ स्वरूप उसे अज्ञात ही रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने पिछले पापमय जीवनों के फलस्वरूप ही हमें संसार-बन्धन की प्राप्ति हुई है। पापमय जीवन का कारण अज्ञान है और जब तक जीवन पापपूर्ण रहता है, तब तक भवरोग निरन्तर बना रहता है। इस बन्धन-चक्र से मुक्ति का एकमात्र द्वार मानव शरीर है। अतएव धर्म, अर्थ, मर्यादित

काम और अन्त में इस दुःखालय से पूर्ण मुक्ति का पथ प्रशस्त करके वेद हमें मोक्ष-प्राप्ति का अवसर प्रदान करते हैं। धर्मपथ से अथवा उपरोक्त नाना यज्ञों के द्वारा आर्थिक समस्याओं का अपने-आप समाधान हो जाता है। जनसंख्या में वृद्धि होने पर भी यज्ञ करने से अन्न, दुग्धादि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं। शरीर के पोषण के बाद स्वभावतः इन्द्रियतृप्ति का स्थान आता है। इसलिए वेदों में संयमित इन्द्रियतृप्ति के लिए धर्मसम्मत विवाह का विधान है। इससे मनुष्य शनैः-शनैः भवबन्धन से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति की परम सिद्धि श्रीभगवान् का संग प्राप्त करने में है। पूर्व कथन के अनुसार, यज्ञ से कृतकृत्यता हो जाती है। इस पर भी यदि कोई वेद के अनुसार यज्ञ नहीं करे तो वह सुखी जीवन की आशा किस प्रकार कर सकता है? विभिन्न स्वर्गीय लोकों में प्राकृत सुख के अलग-अलग स्तर हैं। अतः सभी दृष्टियों से यज्ञ करने वाले को प्रचुर सुख की उपलब्धि होती है। परन्तु मानव का सर्वोच्च सुख तो कृष्णभावनामृत के अभ्यास द्वारा भगवद्धाम को प्राप्त कर लेना है। जीवन के कृष्णभावनाभावित हो जाने से भवसागर के सम्पूर्ण दुःख दूर हो जाते हैं।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

एवम्=इस प्रकार; **बहुविधाः**=नाना प्रकार के; **यज्ञाः**=यज्ञ; **वितताः**=विस्तृत हुए हैं; **ब्रह्मणः**=वेदों के; **मुखे**=मुख में; **कर्मजान्**=कर्मजन्य; **विद्धि**=जान; **तान्**=उन; **सर्वान्**=सभी को; **एवम्**=इस प्रकार; **ज्ञात्वा**=जानकर; **विमोक्ष्यसे**=मुक्त हो जायगा।

अनुवाद

वेदों में वर्णित इन सभी यज्ञों को कर्म से उत्पन्न जान। इस प्रकार यज्ञतत्त्व को जान कर तू संसार से मुक्त हो जायगा।।३२।।

तात्पर्य

पूर्व कथन के अनुसार, वेदों में कर्ताभेद के अनुसार भिन्न-भिन्न यज्ञों का विधान है। अधिकांश मनुष्य प्रायः देहात्मबुद्धि में डूबे जा रहे हैं। अतएव यज्ञों की व्यवस्था इस प्रकार की गयी है कि मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार देह, मन अथवा बुद्धिके द्वारा उनका अनुष्ठान कर सके। परन्तु इन सब का अन्तिम लक्ष्य देह से मुक्त कराना है। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं श्रीमुखवचन से यह प्रमाणित किया है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

श्रेयान्=श्रेष्ठ है; **द्रव्यमयात् यज्ञात्**=द्रव्यमय यज्ञ से; **ज्ञानयज्ञः**=ज्ञानयज्ञ; **परंतप**=हे शत्रु-विजयी अर्जुन; **सर्वम्**=समूचे; **कर्म**=कर्म; **अखिलम्**=पूर्णरूप से; **पार्थ**=हे कुन्तीपुत्र; **ज्ञाने**=ज्ञान में; **परिसमाप्यते**=पर्यवसान को प्राप्त होते हैं।

अनुवाद

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ उत्तम है, क्योंकि हे पार्थ! सब कर्मों का पर्यवसान दिव्यज्ञान ही है।।३३।।

तात्पर्य

सब यज्ञों का बस यही प्रयोजन है कि जीव को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो, जिससे वह भवरोग के दुःखों से मुक्त होकर अन्त में भक्तियोग के परायण हो जाय। तब भी ये विविध यज्ञ क्रियायें रहस्यमयी हैं। यह रहस्य मनुष्यमात्र के लिए जानने योग्य है। कर्ता की श्रद्धा के अनुपात में यज्ञों के विविध रूप हैं। जब यजनकर्ता की श्रद्धा ज्ञान के स्तर पर पहुँच जाय, तो उसे ज्ञानरहित द्रव्ययज्ञ करने वाले से श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि ज्ञानशून्य यज्ञ प्राकृत स्तर पर हैं; वे कल्याण-प्राप्ति में सहायक सिद्ध नहीं हो सकते। यथार्थ ज्ञान का पर्यवसान कृष्णभावना है, जो ब्रह्मविद्या की पराकाष्ठा है। ज्ञान के बिना यज्ञ लौकिक क्रियामात्र रह जाता है। परन्तु ज्ञान के साथ ऐसी सब क्रियाएँ दिव्यता प्राप्त कर लेती हैं। मतिभेद के आधार पर यज्ञक्रियाओं को कर्मकाण्ड (सकामकर्म) अथवा ज्ञानकाण्ड (सत्यजिज्ञास) कहा जाता है। अस्तु, वही यज्ञ श्रेष्ठ है, जिससे अन्त में ज्ञान की प्राप्ति हो जाय।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

तत्=उस ज्ञान को; **विद्धि**=जान; **प्रणिपातेन**=सद्गुरु की शरण में जाकर; **परिप्रश्नेन**=विनीत आज्ञानुवर्ती जिज्ञासा से; **सेवया**=सेवा द्वारा; **उपदेक्ष्यन्ति**=दीक्षित करेंगे; **ते**=तुझ को; **ज्ञानम्**=ज्ञान में; **ज्ञानिनः**=आत्मज्ञानी; **तत्त्वदर्शिनः**=तत्त्वदर्शी।

अनुवाद

सद्गुरु के शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम, विनम्र जिज्ञासा और निष्कपट भाव से उनकी सेवा करके उस तत्त्व को जान। वे तत्त्व को जानने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष तेरे लिए ज्ञान का उपदेश करेंगे।।३४।।

तात्पर्य

भगवत्प्राप्ति का मार्ग निःसन्देह कठिन है। अतएव श्रीभगवान् का परामर्श है कि उनसे प्रारम्भ हुई शिष्यपरम्परा के प्रामाणिक आचार्य की शरण ग्रहण करे। शिष्यपरम्परा के इस सिद्धान्त का उल्लंघन करने वाला यथार्थ गुरु नहीं हो सकता। श्रीभगवान् सबके आदिगुरु हैं, इसलिए उनकी परम्परा के आचार्य अपने शिष्य को यथार्थ भगवत्-तत्त्व का ज्ञान करा सकते हैं। मूर्ख पाखण्डियों की परिपाटी के अनुसार स्वनिर्मित पद्धति का अनुसरण करके कोई भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकता। श्रीमद्भागवत की प्रामाणिक उक्ति है— **धर्मं हि साक्षात्भगवत्प्रणीतम्** 'धर्मपथ का निर्णय स्वयं श्रीभगवान् ने किया है। अतएव मनोधर्म अथवा शुष्क तर्क भगवत्प्राप्ति के पथ में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। ज्ञान के लिए यथार्थ सद्गुरु की शरण का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक है। गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण कर दे, और मिथ्या अहंकार को

त्यागकर सेवक की भाँति उनकी परिचर्या में रात-दिन निष्ठ रहे। आत्मज्ञानी सद्गुरु का संतोष ही भगवत्प्राप्ति के पथ में द्रुत प्रगति करने की गुप्त कुञ्जी है। जिज्ञासा तथा आज्ञानुगमन, ये दोनों ज्ञानप्राप्ति के लिए उपयुक्त साधन हैं। आज्ञापालन एवं सेवाभाव के अभाव में विद्वान् सद्गुरु से की गयी तत्त्वजिज्ञासा प्रभावोत्पादक नहीं होगी। शिष्य के लिए गुरु की परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक है। जब गुरु देखते हैं कि शिष्य में यथार्थ पारमार्थिक जिज्ञासा का उदय हो गया है, तो कृपापूर्वक उसके हृदय-प्रांगण में यथार्थ ज्ञान का संचार कर देते हैं। इस श्लोक में अन्धानुकरण एवं अनर्गल जिज्ञासा, इन दोनों की निन्दा है। गुरुदेव के शरणागत होकर उनसे श्रवण ही नहीं करे, वरन् आज्ञानुगमन, सेवा और जिज्ञासा के द्वारा उनसे विशद ज्ञान भी प्राप्त करे। यथार्थ सद्गुरु स्निग्ध शिष्य पर स्वभावतः अतिशय कृपा का परिवर्षण किया करते हैं। अतएव जब शिष्य विनीत आज्ञानुवर्ती सेवा में निरन्तर तत्पर रहता है, तो ज्ञान और जिज्ञासा का विनिमय (आदान-प्रदान) पूर्ण हो जाता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

यत्=जिसे; **ज्ञात्वा**=जानकर; **न**=कभी नहीं; **पुनः**=फिर; **मोहम्**=मोह को; **एवम्**=इस प्रकार; **यास्यसि**=प्राप्त होगा; **पाण्डव**=हे पाण्डुपुत्र; **येन**=जिससे; **भूतानि**=जीवों को; **अशेषेण**=सम्पूर्ण; **द्रक्ष्यसि**=तू देखेगा; **आत्मनि**=परमात्मा में; **अथो**=अर्थात्; **मयि**=मुझ में।

अनुवाद

हे अर्जुन! उस ज्ञान के हो जाने पर तू फिर इस प्रकार मोह को कभी प्राप्त नहीं होगा; साथ ही यह जान जायगा कि सब जीव मेरे भिन्न-अंश हैं और मुझ में ही स्थित हैं।।३५।।

तात्पर्य

यथार्थ तत्त्वज्ञानी से ज्ञानप्राप्ति होने पर यह समझा जाता है कि सब जीव भगवान् श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं। श्रीकृष्ण से सम्बन्धहीन अस्तित्व की धारणा को 'माया' कहते हैं (मा=नहीं, या=यह)। कतिपय मनुष्यों की धारणा में, 'श्रीकृष्ण से हमें कोई प्रयोजन नहीं, श्रीकृष्ण ऐतिहासिक महापुरुष मात्र हैं; परतत्त्व तो निर्विशेष ब्रह्म ही है।' भगवद्गीता के मत में यह निर्विशेष ब्रह्म यथार्थतः भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह का प्रकाशमात्र है। भगवान् श्रीकृष्ण सब के कारण हैं। ब्रह्मसंहिता में श्रीकृष्ण को स्पष्ट रूप में स्वयं भगवान् और समस्त कारणों का परम कारण कहा गया है। सब प्रकार के कोटि-कोटि अवतार उनके अंश-कला मात्र हैं। इसी भाँति, जीवात्मा भी श्रीकृष्ण के अंश हैं। मायावादियों की यह धारणा मिथ्या है कि विविध अंशों में प्रकट हुए श्रीकृष्ण का निजी स्वरूप समाप्त हो जाता है। यह विचार सर्वथा प्राकृत है। प्राकृत-जगत् में हमारा अनुभव है कि जब किसी वस्तु का विखण्डन किया जाय तो

उसका अपना मूल स्वरूप नष्ट हो जाता है। किन्तु मायावादी यह हृदयंगम करने में असमर्थ हैं कि परतत्त्व का अर्थ यह है कि एक धन एक (१+१) भी एक के ही बराबर होता है और एक ऋण एक (१-१) भी एक ही होता है। परब्रह्म का यही परात्पर स्वरूप है।

ब्रह्मविद्या की अल्पज्ञतावश हम इस समय मायाबद्ध हैं और इसीलिए अपने को श्रीकृष्ण से अलग (विछिन्न) समझते हैं। वास्तव में तो श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश होने पर भी हम उनसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। जीवों के शारीरिक भेद मायाजन्य हैं, यथार्थ सत्य नहीं हैं; हम सभी का ऐकान्तिक प्रयोजन श्रीकृष्ण की प्रीति का सम्पादन करना है। अतः यह माया का ही प्रभाव है कि अर्जुन अनित्य देहजन्य स्वजन-संबंध को श्रीकृष्ण से अपने नित्य अलौकिक सम्बन्ध से भी अधिक महिमामय मान बैठा है। सम्पूर्ण गीतोपदेश इसी दिशा की ओर लक्षित है कि श्रीकृष्ण का नित्य दास होने के कारण जीव उनसे असम्बन्धित नहीं हो सकता, वस्तुतः जीव को श्रीकृष्ण से विछिन्न समझना ही माया है। परब्रह्म के भिन्न-अंश के रूप में जीवों को एक विशिष्ट प्रयोजन परिपूर्ण करना है। उस लक्ष्य को भुला देने से ही वे अनादि काल से मानव, पशु, सुर आदि देहों में भटक रहे हैं। इन शारीरिक भेदों का एकमात्र कारण है चिन्मयी भगवद्भक्ति का विस्मरण। परन्तु कृष्णभावनामृत के सेवन से चिन्मयी भगवत्सेवा में निष्ठ हो जाने पर इस माया से सद्योमक्ति प्राप्त हो जाती है। यह निर्मल ज्ञान उस सद्गुरु से मिलता है, जो जीव और श्रीकृष्ण को बराबर समझने के भ्रम से मुक्त है। पूर्णज्ञान से यह बोध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण जीवमात्र के परमाश्रय हैं। इसी आश्रय को त्याग देने पर जीवों को यह भ्रान्ति हुआ करती है कि उनका श्रीकृष्ण से कोई स्वरूपभूत सम्बन्ध नहीं है; इस प्रकार वे माया के बन्धन में आ जाते हैं। विविध प्रकार की योनियों में जीवों की आत्मबुद्धि हो जाती है, जिससे वे श्रीकृष्ण को भूल बैठते हैं। परन्तु जब ऐसे मायाबद्ध जीव कृष्णभावना में पहुँच जाते हैं तो समझना चाहिए कि ये मुक्तिपथ पर अग्रसर हो रहे हैं। जैसा श्रीमद्भागवत में कथन है: **मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।** 'मुक्ति का अर्थ श्रीकृष्ण के नित्य दास के रूप में अपने स्वरूप (कृष्णभावनामृत) में स्थित हो जाना है।'

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।३६।।

अपि चेत्=यदि; **असि**=(तू) है; **पापेभ्यः**=पापियों से; **सर्वेभ्यः**=सब; **पापकृत्तमः**=सर्वाधिक पापी; **सर्वम्**=सम्पूर्ण; **ज्ञानप्लवेन**=ज्ञान की तरणी से; **एव**=निःसन्देह; **वृजिनम्**=(पापकर्म रूप) दुःखसागर से; **संतरिष्यसि**=पूर्णतया तर जायगा।

अनुवाद

यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञानरूपी तरणी द्वारा इस दुःखसागर से अच्छी प्रकार तर जायगा।।३६।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपने जीवस्वरूप का पूर्ण ज्ञान इतना उत्तम है कि अविद्या-सागर में नित्य चल रहे जीवन-संघर्ष से मनुष्य का अविलम्ब उद्धार कर सकता है। इस संसार को अविद्या-सागर अथवा जलते हुए वन की उपमा दी जाती है। तैराक कितना भी दक्ष क्यों न हो, किन्तु सागर में जीवन के लिए घोर संघर्ष करना ही पड़ता है। जो साहसपूर्वक आगे बढ़कर सागर में डूबते हुए प्राणी को उबार ले, वह परम त्राता (उद्धारक) है। श्रीभगवान् से प्राप्त पूर्ण ज्ञान साक्षात् मुक्तिपथ है। कृष्णभावनारूपी तरणी अति सुगम है और साथ ही परम प्रभविष्णु (उदात्त) भी है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

यथा=जैसे; **एधांसि**=ईंधन को; **समिद्धः**=प्रज्वलित; **अग्निः**=अग्नि; **भस्मसात्**=भस्म; **कुरुते**=कर देती है; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **ज्ञानाग्निः**=ज्ञान रूपी अग्नि; **सर्वकर्माणि**=प्राकृत कर्मों के सब बन्धनों को; **भस्मसात्**=भस्म; **कुरुते**=करती है; **तथा**=वैसे ही।

अनुवाद

जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी भाँति हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि प्राकृत क्रियाओं के सम्पूर्ण बन्धनों को जला डालती है।।३७।।

तात्पर्य

इस श्लोक में आत्मा, परमात्मा और उनके सम्बन्ध के पूर्ण ज्ञान को अग्नि की उपमा दी गई है। यह अग्नि अशुभ कर्मफल का ही दहन नहीं करती, वरन् शुभ कर्मफलों को भी भस्मसात् कर देती है। कर्मफल के प्रारब्ध, संचित, बीज, कूट आदि अनेक रूप हैं; किन्तु जीव के स्वरूप का ज्ञान इन सभी को जला डालता है। पूर्ण ज्ञानी के सम्पूर्ण कर्मबन्धन भस्म हो जाते हैं। वेदों में कहा है— **उभे उभैवैषेते तरत्यमृतः साधवसाधूनी** अर्थात्, 'शुभ तथा अशुभ—दोनों ही प्रकार के कर्म-बन्धनों से ज्ञानी की मुक्ति हो जाती है।'

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

न=नहीं; **हि**=निस्सन्देह; **ज्ञानेन**=ज्ञान के; **सदृशम्**=समान; **पवित्रम्**=पावन; **इह**=इस संसार में; **विद्यते**=है; **तत्**=उसका; **स्वयम्**=अपने आप; **योग**=भक्ति के; **संसिद्धः**=सिद्ध होने पर; **कालेन**=यथासमय; **आत्मनि**=अन्तर में; **विन्दति**=आस्वादन करता है।

अनुवाद

इस संसार में ज्ञान के समान उदात्त (प्रभविष्णु) और पवित्र कुछ भी नहीं है। यह ज्ञान सम्पूर्ण योग का परिपक्व फल है। इसे प्राप्त मनुष्य यथासमय अपने आत्मस्वरूप का आस्वादन करता है।।३८।।

तात्पर्य

ज्ञान का तात्पर्य पारमार्थिक वोध से है। वास्तव में ज्ञान के समान दिव्य एवं पावन कुछ भी नहीं है। हमारे भवबन्धन का कारण अज्ञान है, जबकि ज्ञान मोक्ष का हेतु है। यह ज्ञान भक्तियोग का परिपक्व फल है। अतएव ज्ञानवान् को शान्ति अन्यत्र नहीं खोजनी पड़ती; उसे अपने में ही शान्ति का आस्वादन सुलभ हो जाता है। अभिप्राय यह है कि इस ज्ञान एवं शान्ति का पर्यवसान कृष्णभावना ही है। यही भगवद्गीता के दर्शन की अवधि है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

श्रद्धावान्=श्रद्धालु; **लभते**=प्राप्त करता है; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **तत्परः**=उसमें अतिशय अनुरक्त; **संयतेन्द्रियः**=संयमित इन्द्रियों वाला; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **लब्ध्वा**=लाभ कर; **पराम्**=दिव्य; **शान्तिम्**=शान्ति को; **अचिरेण**=अतिशीघ्र; **अधिगच्छति**=प्राप्त हो जाता है।

अनुवाद

जो पुरुष श्रद्धावान् है, जितेन्द्रिय है और ज्ञान में लीन है, वह तत्काल परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।।३९।।

तात्पर्य

कृष्णभावना का ज्ञान श्रीकृष्ण में दृढ़ श्रद्धावान् को ही प्राप्त हो सकता है। श्रद्धावान् वही है जिसे यह विश्वास हो कि केवल कृष्णभावनाभावित कर्म करने से वह परम सिद्धि को प्राप्त हो जायगा। श्रद्धा की उद्भावना भक्तियोग एवं **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** —इस महामन्त्र के कीर्तन से होती है जो सम्पूर्ण विषयवासना से चित्त का परिमार्जन कर देता है। इसके साथ, इन्द्रियसंयम भी अनिवार्य है। श्रीकृष्ण में श्रद्धावान् जितेन्द्रिय पुरुष अविलम्ब कृष्णभावनारूप ज्ञान की कृतार्थता को सुगमता से प्राप्त हो जाता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

अज्ञः=शास्त्रों के ज्ञान से शून्य मूर्ख; **च**=तथा; **अश्रद्दधानः**=शास्त्र में श्रद्धाशून्य; **च**=भी; **संशयात्मा**=शंकाग्रस्त मनुष्य; **विनश्यति**=फिर गिर जाता है; **न**=न; **अयम्**=यह; **लोकः**=संसार; **अस्ति**=है; **न**=न; **परः**=भावी जीवन; **न**=न; **सुखम्**=सुख; **संशय आत्मनः**=संशयी मनुष्य के लिए।

अनुवाद

परन्तु सद्शास्त्रों में संशययुक्त, अज्ञानी और अश्रद्धालु मनुष्यों को भगवद्भाव की प्राप्ति नहीं होती। संशयात्मा के लिए तो इस लोक में अथवा परलोक में भी कोई सुख नहीं है।।४०।।

तात्पर्य

नाना प्रकार के प्रामाणिक एवं मान्य शास्त्रों में भगवद्गीता सर्वोत्तम है। दुर्भाग्यवश, नरपशुओं में शास्त्रों के ज्ञान का और उनके प्रति श्रद्धाभाव का भी अभाव रहता है। यहाँ तक कि बहुत से शास्त्रवेत्ता अथवा शास्त्रोद्धरण करने की योग्यता वाले मनुष्य भी वास्तव में इनमें विश्वास नहीं रखते। कुछ दूसरे व्यक्ति भगवद्गीता आदि शास्त्रों में विश्वास तो रखते हैं, पर भगवान् श्रीकृष्ण में विश्वास का उनमें भी अभाव है और न ही वे उनकी उपासना करते। ऐसे व्यक्तियों की कृष्णभावनामृत में कोई परिनिष्ठा नहीं हो सकती। वरन्, उनका अधःपतन होता है। इन सब में, श्रद्धाशून्य संशयात्मा तो कुछ भी पारमार्थिक प्रगति नहीं करते। श्रीभगवान् और उनके वचनामृत में श्रद्धा न रखने वालों का इस लोक में अथवा परलोक में कभी कल्याण नहीं होता। उनके लिए कोई सुख नहीं है। अतएव श्रद्धाभाव से शास्त्र-सिद्धान्तों का अनुगमन करते हुए ज्ञान प्राप्त करे। पारमार्थिक बोध रूपी शुद्ध-सत्त्व के स्तर पर आरूढ़ होने में एकमात्र यह ज्ञान ही सहायक है। अभिप्राय यह है कि संशयात्मा की मुक्ति नहीं हो सकती। अतएव मनुष्यमात्र को चाहिये कि शिष्य-परम्परा के महान् आचार्यवृन्द के चरणचिन्हों का अनुसरण करते हुए अपने जीवन को कृतार्थ एवं सार्थक करे।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।४१।।

योग=कर्मयोगमय भक्ति द्वारा; **संन्यस्त**=त्यागकर; **कर्माणम्**=कर्मों को; **ज्ञान**=तत्त्वबोध द्वारा; **संछिन्न**=नष्ट हो गये हैं; **संशयम्**=संशय; **आत्मवन्तम्**=आत्म-परायण; **न**=नहीं; **कर्माणि**=कर्म; **निबध्नन्ति**=बाँधते; **धनंजय**=हे ऐश्वर्यविजयी अर्जुन।

अनुवाद

इसलिए हे धनंजय! जिसने कर्मफल का त्याग, अर्थात् श्रीभगवान् को अर्पण कर दिया है और विवेक द्वारा सब संशयों का नाश कर दिया है, उस आत्मपरायण पुरुष को कर्म नहीं बाँधते।।४१।।

तात्पर्य

जो मनुष्य भगवद्गीता की शिक्षा का उसी रूप में अनुसरण करता है जैसा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने उसका प्रवचन किया, वह दिव्य ज्ञान की कृपा से सब संशयों से मुक्त हो जाता है। पूर्ण कृष्णभावनाभावित होने के प्रभाव से उसे श्रीभगवान् के भिन्न-अंश के रूप में अपने स्वरूप का ज्ञान पहले ही हो जाता है। अतएव वह निस्सन्देह कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त है।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

तस्मात्=अतएव; **अज्ञानसंभूतम्**=अज्ञान से उत्पन्न हुए; **हृत्स्थम्**=हृदय में स्थित; **ज्ञान**=तत्त्वबोध रूप; **असिना**=शस्त्र से; **आत्मनः**=अपने; **छित्त्वा**=काट कर; **एनम्**=इस; **संशयम्**=संशय को; **योगम्**=योग में; **आतिष्ठ**=स्थित हुआ; **उत्तिष्ठ**=युद्ध के लिए खड़ा हो; **भारत**=हे भरतवंशी अर्जुन।

अनुवाद

अतएव हे भरतवंशी अर्जुन! हृदय में अज्ञान से उत्पन्न संशय का ज्ञानरूप शस्त्र से छेदन कर डाल और फिर योग में स्थित होकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा।।४२।।

तात्पर्य

इस अध्याय में उपदिष्ट योगमार्ग 'सनातनयोग' अर्थात् 'जीवात्मा की नित्य क्रिया' कहलाता है। इस योग में दो प्रकार के यज्ञकर्म किए जाते हैं—स्वत्व-त्यागमय द्रव्ययज्ञ एवं शुद्ध आत्मज्ञानयज्ञ। यदि द्रव्ययज्ञ को भगवत्प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं किया जाय तो वह प्राकृत यज्ञ बन कर रह जायगा। परन्तु यदि इन्हीं यज्ञों को आध्यात्मिक लक्ष्य से अथवा भक्तिभाव से किया जाता है तो ये सर्वांगीण पूर्ण हो जाते हैं। आध्यात्मिक क्रियाओं की भी दो कोटियाँ हैं—स्वरूप-बोध एवं भगवान् के तत्त्व का बोध। गीता के यथार्थ पथ का अनुगामी ज्ञान के इन दोनों वर्गों को बड़ी सुगमता से आत्मसात् कर लेता है। जीवात्मा श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है—इस पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में उसे कुछ भी कठिनाई नहीं होती। यह ज्ञान परम कल्याणकारी है, क्योंकि इसके ज्ञाता को श्रीभगवान् की दिव्य लीला के तत्त्व का सहज में बोध हो जाता है। अध्याय के आदि में श्रीभगवान् ने अपनी अलौकिक अतिमानवीय लीला का वर्णन किया है। जो गीतोपदेश को नहीं समझ सकता, वह अश्रद्धालु है और श्रीभगवान् से प्राप्त आंशिक स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर रहा है। जो मनुष्य इस शिक्षा की प्राप्ति के बाद भी श्रीभगवान् के सच्चिदानन्दमय यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ सकता, वह निस्सन्देह प्रथम श्रेणी का मूढ़ है। कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को शनैः-शनैः स्वीकार करने से ही अज्ञान का अन्त हो सकता है। कृष्णभावनामृत देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, ब्रह्मचर्ययज्ञ, गृहस्थपालनरूप यज्ञ, इन्द्रिय-निग्रहयज्ञ, योगाभ्यासयज्ञ, तपयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याययज्ञ तथा वर्णाश्रम धर्म के पालन आदि के द्वारा जागृत होती है। 'यज्ञ' कहलाने वाली ये सभी क्रियाएँ नियत कर्मों पर आधारित हैं। परन्तु इन सब का सार स्वरूप-साक्षात्कार है। उसका जिज्ञासु ही भगवद्गीता का यथार्थ शिष्य है; पर श्रीकृष्ण के प्रामाण्य में संशय करने वाले का अवश्य पतन हो जाता है। अतः भगवद्गीता अथवा अन्य शास्त्रों का अध्ययन यथार्थ सद्गुरु के आश्रय में सेवामय प्रपन्नभाव से ही करना योग्य है। चिरन्तनकाल से चली आ रही शिष्यपरम्परा के पद पर आसीन गुरु ही प्रामाणिक हैं। वे श्रीभगवान् की उस शिक्षा से लेशमात्र भी च्युत नहीं होते, जिसका उपदेश उन्होंने करोड़ों वर्ष पूर्व सूर्यदेव को किया था। सूर्य से ही 'गीतोपदेश' इस धराधाम पर अवतरित हुआ। अतएव भगवद्गीता के उसी पथ

का अनुसरण करना चाहिए। साथ ही, उन स्वार्थपरायण व्यक्तियों से नित्य सजग रहे जो दूसरों को सन्मार्ग से भ्रष्ट करते हैं। श्रीभगवान् निश्चित् रूप से परम पुरुषोत्तम हैं तथा उनका लीला-विलास अप्राकृत है, जो इस सत्य को हृदय में धारण कर लेता है, वह गीताध्ययन के उपक्रम से ही जीवन्मुक्त हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः।।

अथ पंचमोऽध्यायः

कर्मसंन्यासयोग

(कृष्णभावनाभावित कर्म)

अर्जुन उवाच।
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **संन्यासम्**=संन्यास की; **कर्मणाम्**=सम्पूर्ण कर्मों के; **कृष्ण**=हे श्रीकृष्ण; **पुनः**=फिर; **योगम्**=भक्तियोग (की); **च**=भी; **शंससि**=आप स्तुति कर रहे हैं; **यत्**=जो; **श्रेयः**=कल्याणकारी हो; **एतयोः**=इन दोनों में; **एकम्**=एक; **तत्**=वह; **मे**=मेरे लिए; **ब्रूहि**=कहिये; **सुनिश्चितम्**=निश्चित।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा हे कृष्ण! पहले आप मुझे कर्मों का संन्यास करने को कहते हैं और फिर भक्तिभावित कर्म की प्रशंसा करते हैं। इसलिये अब कृपापूर्वक इन दोनों में से जो एक निश्चित किया हुआ कल्याणकारी साधन हो, वह मेरे लिये कहिये।।१।।

तात्पर्य

भगवद्गीता के इस पाँचवें अध्याय में श्रीभगवान् कहते हैं कि भक्तिभावित कर्म शुष्क (स्वारस्यशून्य) मनोधर्म से उत्तम है। भक्तिपथ अधिक सुगम है, क्योंकि दिव्य स्वरूपा होने के कारण भक्ति साधक को कर्मबन्धन से मुक्त कर देती है।

दूसरे अध्याय में जीवात्मा और उसके प्राकृत देहबन्धन के प्राथमिक ज्ञान का वर्णन किया गया। 'बुद्धियोग' अर्थात् 'भक्तियोग' द्वारा इस भवबन्धन से मुक्त होने की पद्धति का भी वहाँ निरूपण है। तीसरे अध्याय में कहा है कि ज्ञानी के लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। चौथे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि ज्ञान सम्पूर्ण यज्ञों का पर्यवसान है। पर फिर अध्याय के अन्त में अर्जुन को आज्ञा दी कि वह सचेत हो जाय और पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर युद्ध करे। इस प्रकार भक्ति-भावित कर्म तथा ज्ञानयुक्त अकर्म के महत्त्व पर एक साथ बल देकर मानो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को द्विविधा में डाल कर उसके संकल्प को सम्भ्रमित कर दिया। अर्जुन समझता है कि ज्ञानमय संन्यास का अर्थ इन्द्रियक्रिया के रूप में किए जाने वाले सब कर्मों का परित्याग है। परन्तु यदि भक्तियोग में कर्म करना है तो कर्मत्याग कैसे होगा? भाव यह है कि अर्जुन के विचार से ज्ञानयुक्त संन्यास के लिये कर्म-सम्पादन से बिल्कुल मुक्त होना चाहिये, क्योंकि उसे कर्म और ज्ञान असंगत से लगते हैं। अर्जुन की इस जिज्ञासा से स्पष्ट है कि वह इस तथ्य को समझ पाने में असफल रहा है कि पूर्ण ज्ञान के साथ किया गया कर्म बन्धनकारी न होने से अकर्म के ही तुल्य है। अतएव उसकी जिज्ञासा है कि आत्मकल्याण के लिए वह सब प्रकार से कर्मत्याग कर दे अथवा पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर कर्म करे।

श्रीभगवानुवाच।
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **संन्यासः**=कर्मों का संन्यास; **कर्म-योगः**=भक्तिभावित कर्म; **च**=और; **निःश्रेयसकरौ**=कल्याणकारी हैं; **उभौ**=दोनों ही; **तयोः**=उन दोनों में; **तु**=किन्तु; **कर्मसंन्यासात्**=कर्म को त्यागने की तुलना में; **कर्मयोगः**=भक्तिभावित कर्म; **विशिष्यते**=विशेष उत्तम है।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, कर्मों का संन्यास और भक्तिभावित कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं। परन्तु इन दोनों में भी, भक्तिभावित कर्मयोग कर्मसंन्यास से श्रेष्ठ है।।२।।

तात्पर्य

इन्द्रियतृप्ति के लिए की जाने वाली सकाम क्रियाओं से भवबन्धन होता है। जब तक जीव शारीरिक सुख के लिए क्रियाओं में प्रवृत्त है, तब तक विविध योनियों में उसका देहान्तर मिट नहीं सकता। इस प्रकार भवबन्धन सदा बना रहेगा। यह श्रीमद्भागवत से भी प्रमाणित है:

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्मः यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देहः।।

पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः।।
एवं मनः कर्मवशं प्रयुंक्ते अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्।।

'साधारण लोग इन्द्रियतृप्ति के लिये उन्मत्त हो रहे हैं। वे नहीं जानते कि यह क्लेशमयी देह उनके पूर्वकृत सकाम कर्मों का फल है। नश्वर होने के साथ ही यह निरन्तर नाना प्रकार से कष्ट देती है। अतः इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करना श्रेयस्कर नहीं है। सकाम कर्म की तत्त्वजिज्ञासा न करने वाले को जीवन में परास्त समझा जाता है, क्योंकि जब तक जीव इन्द्रियतृप्ति में आसक्त रहता है, तब तक उसे बारम्बार देहान्तर की प्राप्ति होती ही रहती है। मनके सकाम कर्मों में आसक्त और अज्ञानग्रस्त होने पर भी श्रीवासुदेव की भक्ति में प्रीतिभाव का वर्धन करता ही रहे, तभी शरीरबन्धन से मुक्ति सुलभ होगी।'' (श्रीमद्भागवत ५.५.४-६)

अतः मुक्ति के लिये केवल ज्ञान (देह से अतीत आत्मतत्त्व का बोध) पर्याप्त नहीं है। जीवात्मा के स्वरूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा भवबन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म सकाम कर्म के समान नहीं होता। ज्ञानमय कर्म तो वस्तुतः यथार्थ ज्ञान में प्रगति को दृढ़ करता है। कृष्णभावना के अभाव में सकाम कर्मों का संन्यास मात्र बद्धजीव के हृदय को यथार्थ रूप में स्वच्छ नहीं कर पाता और जब तक हृदयमार्जन नहीं हो जाता, तब तक सकाम कर्म बनते ही रहते हैं। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म साधक को कर्मबन्धन से स्वतः मुक्त कर देता है, जिससे उसे फिर प्राकृत स्तर पर नहीं उतरना पड़ता। अतएव कृष्णभावनाभावित कर्म संन्यास से सदा उत्तम है, क्योंकि संन्यास में भी पतन का भय नित्य बना रहता है। कृष्णभावनाशून्य वैराग्य अपूर्ण है, जैसा श्रील रूप गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में प्रमाणित किया है—

प्रापंचिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते।।

'मुमुक्षुओं का श्रीभगवान् से सम्बन्धित वस्तुओं को प्रापञ्चिक समझकर त्याग देना अपूर्ण वैराग्य कहा जाता है।' वैराग्य पूर्णता को तब प्राप्त होता है जब वह इस ज्ञान से युक्त हो कि जो कुछ भी विद्यमान वस्तु है, वह श्रीभगवान् की ही है; अतः जीव को किसी भी वस्तु पर अधिकार का भाव नहीं रखना चाहिये। यह वस्तुतः समझ ले कि अपना कुछ भी नहीं है। इस निष्किञ्चन अवस्था में त्याग का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जो यह जानता है कि सब कुछ श्रीकृष्ण की सम्पत्ति है, वह नित्य वैराग्यवान् है। सब कुछ श्रीकृष्ण का है, इसलिए सब वस्तुओं को श्रीकृष्णसेवा में ही लगाना चाहिए। यह शुद्ध कृष्णभावनाभावित कर्म मायावादी संन्यासियों के उत्कट से उत्कट कृत्रिम वैराग्य से कहीं उत्तम है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।३।।

ज्ञेयः=जानना चाहिए; **सः**=उसे; **नित्य**=सदा; **संन्यासी**=संन्यासी; **यः**=जो; **न**=नहीं; **द्वेष्टि**=द्वेष करता; **न**=नहीं; **कांक्षति**=इच्छा करता; **निर्द्वन्द्वः**=द्वन्द्वों से मुक्त; **हि**=निस्सन्देह; **महाबाहो**=हे महाबाहु; **सुखम्**=सुखपूर्वक; **बन्धात्**=बन्धन से; **प्रमुच्यते**=मुक्त हो जाता है।

अनुवाद

जो पुरुष न तो कर्मफल से द्वेष करता और न कर्मफल की इच्छा करता, उसे नित्य संन्यासी ही जानना चाहिए, क्योंकि हे महाबाहु! ऐसा निर्द्वन्द्व मनुष्य सुखपूर्वक भवबन्धन से मुक्त हो जाता है।।३।।

तात्पर्य

पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष नित्य संन्यासी है, क्योंकि उसमें अपने कर्मफल के प्रति द्वेष अथवा कामना का अत्यन्त अभाव हो जाता है। अलौकिक भक्तियोग के परायण ऐसे संन्यासी को पूर्ण ज्ञानी जानना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपने स्वरूप को जानता है। वह भलीभाँति जानता है कि श्रीकृष्ण अंशी हैं और वह उनका भिन्न-अंश है। यह ज्ञान पूर्ण है, क्योंकि इसमें यह सत्य स्पष्ट झलकता है कि चिद्गुणों में श्रीकृष्ण और जीवों में अभेद है और विस्तार में भेद है। श्रीकृष्ण से जीव के एक होने की धारणा भ्रान्तिमूलक है; वह अंशी के बराबर कभी नहीं हो सकता। जीव चिद्गुणों में श्रीभगवान् से अभिन्न है, किन्तु विस्तार में भिन्न है—इस यथार्थ ज्ञान के द्वारा आकांक्षा और शोक से मुक्त आत्मतुष्टि की प्राप्ति होती है। ऐसे ज्ञानी के चित्त में द्वन्द्वों का अत्यन्त अभाव हो जाता है, क्योंकि वह जो कुछ भी करता है, श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही करता है। द्वन्द्वातीत हो जाने से इस प्राकृत-जगत् में रहते हुए भी वह जीवन्मुक्त है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

सांख्य=प्राकृत-जगत् के तत्त्वज्ञान (और); **योगौ**=भक्तिभावित कर्म को; **पृथक्**=भिन्न; **बालाः**=अल्पज्ञ; **प्रवदन्ति**=कहते हैं; **न**=नहीं; **पण्डिताः**=विद्वान्; **एकम्**=एक में; **अपि**=भी; **आस्थितः**=स्थित हुआ; **सम्यक्**=भलीभाँति; **उभयोः**=दोनों का; **विन्दते**=प्राप्त होता है; **फलम्**=फल।

अनुवाद

अज्ञानी ही भक्ति और भक्तिभावित कर्मयोग को सांख्ययोग से भिन्न कहते हैं। यथार्थ विद्वानों का तो कहना है कि इनमें से एक मार्ग का भी भलीभाँति अनुसरण करने वाला दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है।।४।।

तात्पर्य

सांख्य का उद्देश्य जीवन की आत्मा को प्राप्त करना है। परमात्मा विष्णु ही प्राकृत-जगत् की आत्मा हैं। भक्तियोग का अर्थ उन्हीं परमात्मा की सेवा करना है। परमार्थ की एक पद्धति में वृक्ष के मूल का अन्वेषण किया जाता है, जबकि दूसरी में जल से उसका अभिसिञ्चन किया जाता है। सांख्यदर्शन का यथार्थ विद्यार्थी जगत् के मूल—श्रीविष्णु को जानकर और फिर पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर उनकी सेवा में प्रवृत्त हो जाता है। सारांश में, दोनों पद्धतियों में कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों के आराध्य श्रीविष्णु हैं। अतएव परम लक्ष्य को न जानने वाले मनुष्य ही सांख्य तथा कर्मयोग के प्रयोजन में भेद करते हैं। यथार्थ पण्डितजन इन पृथक्-पृथक् पद्धतियों के समीकृत (एकाकार) लक्ष्य को जानते हैं।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

यत्=जो; **सांख्यैः**=सांख्य दर्शन द्वारा; **प्राप्यते**=प्राप्त होता है; **स्थानम्**=स्थान; **तत्**=वह; **योगैः**=भक्तियोग से; **अपि**=भी; **गम्यते**=प्राप्त होता है; **एकम्**=एक; **सांख्यम्**=सांख्य; **च**=तथा; **योगम्**=भक्तिभावित कर्म को; **च**=तथा; **यः**=जो; **पश्यति**=देखता है; **सः**=वही; **पश्यति**=यथार्थ में देखता है।

अनुवाद

जो यह जानता है कि संन्यास से प्राप्त होने वाला स्थान भक्तिभावित कर्म से भी प्राप्त हो सकता है और इसलिए जो कर्मयोग तथा संन्यासपथ को एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।।५।।

तात्पर्य

दार्शनिक गवेषणा का यथार्थ प्रयोजन जीवन के परम लक्ष्य को पाना है। जीवन का परम लक्ष्य स्वरूप-साक्षात्कार है; इसलिए दोनों पद्धतियों से एक ही तत्त्व की उपलब्धि होती है। सांख्यदर्शन से यह निर्णय होता है कि जीवात्मा प्राकृत-जगत् का नहीं, वरन् अंशी श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। अतएव आत्मा का प्राकृत-जगत् से कुछ भी प्रयोजन नहीं है, उसके कर्म श्रीभगवान् से ही सम्बद्ध होने चाहिए। जब वह कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, तो अपने यथार्थ स्वरूप में रहता है। सांख्यरूपी साधन में प्रकृति से अनासक्त होना होता है और भक्तियोग की पद्धति में श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कर्मों में आसक्ति का सेवन करना है। अतः दोनों पद्धतियाँ एक ही हैं। केवल बाह्य दृष्टि से लगता है कि एक पद्धति में अनासक्ति का अभ्यास करना है और दूसरी में आसक्ति का। प्रकृति से अनासक्ति तथा श्रीकृष्ण में आसक्ति एक ही वस्तु है। जो इस दृष्टि से युक्त है, वही यथार्थ तत्त्वदर्शी है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

संन्यासः=संन्यास; **तु**=परन्तु; **महाबाहो**=हे महाबाहु; **दुःखम्**=दुःखदायक है; **आप्तुम्**=प्राप्त होना; **अयोगतः**=भक्तियोग के अभाव में; **योगयुक्तः**=भक्त; **मुनिः**=चिन्तक; **ब्रह्म**=परतत्त्व को; **न**=बिना; **चिरेण**=विलम्ब; **अधिगच्छति**=प्राप्त हो जाता है।

अनुवाद

भक्तियोग के बिना केवल कर्मसंन्यास द्वारा सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु भक्तिभावित कर्म से शुद्ध हुए ऋषिजन श्रीभगवान् को अति शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं।।६।।

तात्पर्य

संन्यासी दो प्रकार के होते हैं—एक मायावादी, दूसरे वैष्णव। मायावादी सांख्यदर्शन के स्वाध्याय में लगे रहते हैं तथा वैष्णव संन्यासी वेदान्तसूत्र के सच्चे भाष्य—श्रीमद्भागवत-दर्शन का अध्ययन करते हैं। मायावादी संन्यासी वेदान्तसूत्र का अध्ययन तो करते हैं; परन्तु वे केवल शंकराचार्य द्वारा रचित अपने सम्प्रदाय के शारीरक भाष्य को उपयोग में लाते हैं। दूसरी ओर, भागवतधर्म के अनुयायी पाँचरात्रिक की विधि के अनुसार भगवद्भक्ति में संलग्न रहते हैं। वैष्णव संन्यासी वास्तव में चिन्मय भगवद्भक्ति में नाना कार्य करते हैं। वैष्णव संन्यासियों को सांसारिक क्रियाओं से लेशमात्र भी प्रयोजन नहीं; फिर भी भगवद्भक्ति के सम्पादन में वे त्रिविध क्रियाएँ करते हैं। पर सांख्य और वेदान्त के स्वाध्याय एवं मनोधर्म में लगे हुए मायावादी संन्यासी भगवद्भक्ति का आस्वादन नहीं कर पाते। उनका अध्ययन अत्यन्त श्रमावह हो जाता है, इसलिए कभी-कभी ब्रह्मविषयक मनोधर्मी से श्रान्त, भ्रान्त एवं क्लान्त होकर पर्याप्त बोध के बिना ही वे श्रीमद्भागवत का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। इस कारण उनके लिए श्रीमद्भागवत का अध्ययन भी क्लेशप्रद है। मायावादी संन्यासियों का शुष्क मनोधर्म तथा वाग्चातुर्य उनके लिए बिल्कुल निरर्थक सिद्ध होता है। दूसरी ओर, भगवद्भक्ति-परायण वैष्णव संन्यासी अपने दिव्य कर्तव्यों के पालन में सुखानुभूति करते हैं और यह भी निश्चित रहता है कि अन्त में उन्हें भगवद्धाम की प्राप्ति हो जायगी। मायावादी संन्यासी तो कभी-कभी आत्मतत्त्व के मार्ग से भ्रष्ट होकर समाजसेवा, परोपकार आदि प्राकृत क्रियाओं में ही फिर प्रवृत्त हो जाते हैं। अतः सारांश में कृष्णभावनाभावितभक्त केवल ब्रह्मपरक मनोधर्म करने वाले संन्यासियों से श्रेष्ठ हैं, यद्यपि इन्हें भी बहु जन्मान्तरों के पश्चात् कृष्णभावनामृत की प्राप्ति हो जाती है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

योगयुक्तः=भक्तियोग में तत्पर; **विशुद्धात्मा**=शुद्ध अन्तःकरण वाला; **विजित-आत्मा**=आत्मसंयमी; **जितेन्द्रियः**=इन्द्रियविजयी; **सर्वभूत आत्मभूत आत्मा**=सब जीवों

के प्रति दयामय; **कुर्वन् अपि**=कर्म करता हुआ भी; **न**=नहीं; **लिप्यते**=बँधता।

अनुवाद

जो शुद्ध अन्तःकरण, आत्मसंयमी तथा जितेन्द्रिय पुरुष भक्तिभाव से कर्म करता है, वह सब प्राणियों को प्रिय होता है उसे भी सब प्राणी प्रिय होते हैं। नित्य कर्म करते हुए भी वह कभी नहीं बँधता।।७।।

तात्पर्य

कृष्णभावना के साधन से मुक्तिपथ का पथिक प्राणीमात्र का अतिशय प्रेमपात्र है और उसे भी प्राणीमात्र प्रिय होता है। इसका कारण उसकी कृष्णभावना है। ऐसा व्यक्ति किसी भी प्राणी को श्रीकृष्ण से सम्बन्धरहित नहीं समझ सकता, उसी भाँति जैसे वृक्ष के पत्ते-शाखा आदि वृक्ष से अलग नहीं होते। वह भलीभाँति जानता है कि तरुमूल को जल द्वारा सींचने से जल सम्पूर्ण पत्तों और शाखाओं में वितरित हो जायगा, जैसे भोजन द्वारा उदरपूर्ति करने से सम्पूर्ण शरीर में शक्ति का संचार हो जाता है। कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला प्राणीमात्र की सेवा में निष्ठ रहता है, इसलिए सर्वप्रिय हो जाता है। वह शुद्धमति भी है, क्योंकि उसके कार्य से सभी का परितोषण होता है। शुद्धमति के प्रभाव से उसका चित्त पूर्णतया संयमित रहता है, जिसके परिणाम में इन्द्रियाँ भी संयमित हो जाती हैं। उसका चित्त सदा श्रीकृष्ण पर केन्द्रित रहता है। अतः उसके लिए श्रीकृष्ण से विचलित होने की कोई सम्भावना नहीं और न ही उसकी इन्द्रियाँ भगवत्सेवा के अतिरिक्त अन्य विषय में प्रवृत्त हो सकती हैं। श्रीकृष्ण से सम्बन्धरहित विषयों का श्रवण उसे अप्रिय होता है; वह ऐसा कोई भी पदार्थ खाना नहीं चाहता, जो श्रीकृष्ण को अर्पित न किया गया हो। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध बिना वह कहीं जाना भी नहीं चाहता। इस प्रकार उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। ऐसा जितेन्द्रिय पुरुष किसी का अपराध नहीं कर सकता। इस पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि तब अर्जुन ने (युद्ध में) शत्रु पर प्रत्याघात क्यों किया? क्या वह कृष्णभावनाभावित नहीं था? वस्तुतः अर्जुन तो केवल बाह्यरूप से आक्रमण कर रहा था, क्योंकि जैसा द्वितीय अध्याय में कहा जा चुका है, आत्मा की अवध्यता के कारण युद्धस्थल में इकट्ठे हुए सब योद्धाओं का अपना निजी स्वरूप सदा बना रहेगा। अतएव आत्मा की दृष्टि से तो कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में किसी की भी मृत्यु नहीं हुई। श्रीकृष्ण के आज्ञानुसार, (जो वहाँ स्वयं विराजमान थे) केवल उनके देहरूपी परिधान को बदला गया। कुरुक्षेत्र में युद्ध करते हुए भी अर्जुन वास्तव में युद्ध नहीं कर रहा था। उसने तो बस पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर श्रीकृष्ण की आज्ञा का केवल पालन किया। ऐसे पुरुष को कभी कर्मबन्धन नहीं होता।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्।।८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

न=नहीं; **एव**=निःसन्देह; **किंचित्**=कुछ भी; **करोमि**=मैं करता हूँ; **इति**=इस प्रकार; **युक्तः**=बुद्धियोग से युक्त; **मन्येत**=माने; **तत्त्ववित्**=तत्त्ववेत्ता; **पश्यन्**=देखता हुआ; **श्रृण्वन्**=सुनता हुआ; **स्पृशन्**=स्पर्श करता हुआ; **जिघ्रन्**=सूंघता हुआ; **अश्नन्**=खाता हुआ; **गच्छन्**=गमन करता हुआ; **स्वपन्**=स्वप्न देखता हुआ; **श्वसन्**=श्वास लेता हुआ; **प्रलपन्**=वार्ता करता हुआ; **विसृजन्**=त्यागता हुआ; **गृह्णन्**=ग्रहण करता हुआ; **उन्मिषन्**=खोलता हुआ; **निमिषन्**=बन्द करता हुआ; **अपि**=भी; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **इन्द्रियार्थेषु**=इन्द्रियतृप्ति में; **वर्तन्ते**=प्रवृत्त हैं; **इति**=इस प्रकार; **धारयन्**=समझता हुआ।

अनुवाद

बुद्धियोग से युक्त पुरुष देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, जाते, सोते तथा श्वास लेने में प्रवृत्त होते हुए भी अपने अन्तर में यही मानता है कि वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता; बोलते, त्यागते, ग्रहण करते, और नेत्रों को खोलते-मीचते हुए भी वह निरन्तर जानता है कि इन्द्रियाँ ही अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं और वह उनसे पृथक् है।।८-९।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित महापुरुष का जीवन पवित्र होता है। इसलिए कर्ता, कर्म, अधिष्ठान, चेष्टा तथा दैव—इन पाँच प्रकार के निमित्त-उपादान कारणों पर आधारित किसी भी कर्म से उसका कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। इसका कारण यह है कि वह श्रीकृष्ण के दिव्य भक्तियोग में तत्पर है। यद्यपि वह देह तथा इन्द्रियों से कर्म करता प्रतीत होता है, परन्तु उसे अपने यथार्थ स्वरूप—'भगवद्भक्ति-परायणता' का सदा बोध रहता है। मोहावस्था में इन्द्रियाँ इन्द्रियतृप्ति में तत्पर रहती हैं, जबकि कृष्णभावनामृत में वे श्रीकृष्ण की तुष्टि में प्रवृत्त रहती हैं। अतः इन्द्रियविषयों में संलग्न लगने पर भी कृष्णभावनाभावित पुरुष नित्यमुक्त है। देखने, सुनने, बोलने, त्यागने आदि कर्मों के लिए इन्द्रियक्रियाएँ की जाती हैं। कृष्णभावनाभावित पुरुष इन्द्रियक्रियाओं से कभी प्रभावित नहीं होता। वह भगवत्सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि जानता है कि वह श्रीभगवान् का नित्य दास है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

ब्रह्मणि=भगवान् श्रीकृष्ण में; **आधाय**=समर्पित कर; **कर्माणि**=सम्पूर्ण कर्म; **संगम्**=आसक्ति को; **त्यक्त्वा**=त्यागकर; **करोति**=करता है; **यः**=जो; **लिप्यते**=लिपायमान होता; **न**=नहीं; **सः**=वह; **पापेन**=पाप से; **पद्मपत्रम्**=कमल के पत्ते के; **इव**=समान; **अम्भसा**=जल से।

अनुवाद

श्रीभगवान् में कर्मफल का समर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर स्वधर्म

का आचरण करने वाला पाप से लिपायमान नहीं होना, उसी भाँति जैसे जल में रहने पर भी कमलपत्र का जल स्पर्श नहीं करता।।१०।।

तात्पर्य

ब्रह्मणि का अर्थ कृष्णभावनामृत है। प्राकृत-जगत् प्रकृति के त्रिविध गुणों अर्थात् 'प्रधानं' की अभिव्यक्ति है। वेद-मन्त्र **सर्वमेतद्ब्रह्म तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते** तथा भगवद्गीता के वचन **मम योनिर्महद्ब्रह्म** से प्रकट होता है कि प्राकृत-जगत् की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और कार्यों की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न होते हुए भी वे कारण से अभिन्न हैं। 'ईशोपनिषद्' में कथन है कि सब कुछ परब्रह्म श्रीकृष्ण से सम्बन्धित है; उन्हीं का है। जो यह भलीभाँति जान जाता है कि सब श्रीकृष्ण का है तथा वे सब पदार्थों के अधिपति हैं और इस कारण प्रत्येक वस्तु भगवत्-सेवा में ही नियोजित है, उस पुरुष का स्वाभाविक रूप से शुभ-अशुभ कर्मफलों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। श्रीभगवान् द्वारा कर्म के लिए दिए गए प्राकृत शरीर को भी किसी विशेष सेवाकार्य के लिए कृष्णभावनामृत में संलग्न किया जा सकता है। ऐसा करने वाला पापपंक से अतीत हो जाता है, ठीक उसी भाँति जैसे जल में स्थित होने पर भी कमलपत्र जल से लिपायमान नहीं होता। गीता में श्रीभगवान् ने कहा है—**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य:** 'सम्पूर्ण कर्मों को मेरे प्रति समर्पण कर।' सारांश यह है कि कृष्णभावनाशून्य व्यक्ति प्राकृत देह और इन्द्रियों को अपना स्वरूप समझ कर कर्म करता है, जबकि कृष्णभावनाभावित पुरुष यह समझ कर कर्म करता है कि यह देह श्रीकृष्ण की सम्पत्ति है, अतः इसे श्रीकृष्णसेवा के ही परायण होना चाहिए।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

कायेन=शरीर से; **मनसा**=मन द्वारा; **बुद्ध्या**=बुद्धि से; **केवलैः**=शुद्ध; **इन्द्रियैः**=इन्द्रियों सें **अपि**=भी; **योगिनः**=कृष्णभावनाभावित भक्त; **कर्म**=कर्म; **कुर्वन्ति**=करते हैं; **संगम्**=आसक्ति को; **त्यक्त्वा**=त्यागकर; **आत्म**=अन्तःकरण की; **शुद्धये**=शुद्धि के लिए।

अनुवाद

योगीजन आसक्ति को त्यागकर शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा भी केवल आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।।११।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर, मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियों द्वारा किया गया कृष्णभावनाभावित कर्म प्राकृत विकारों से मुक्त है। कृष्णभावनाभावित पुरुष की क्रियाओं का कोई लौकिक फल नहीं होता। अतः कृष्णभावनाभावित कर्म करने पर सदाचार सुगमता से सम्पन्न हो जाता है। श्रील रूप गोस्वामिचरण ने 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' में इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते।।

शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से निरन्तर कृष्णभावनाभावित कर्म (श्रीकृष्णसेवा) परायण महात्मा प्राकृत क्रियाओं में संलग्न प्रतीत होने पर भी वास्तव में इस प्राकृत जगत् में भी जीवन्मुक्त है। उसमें मिथ्या अहंकार नहीं रहता। वह इस प्राकृत देह में अहंता-ममता नहीं रखता। उसे बोध हो जाता है कि स्वरूप से वह इस देह से भिन्न है और यह देह भी उसकी नहीं है। उसके तथा उसकी देह के श्रीकृष्ण ही एकमात्र स्वामी हैं। देह, मन, बुद्धि, वाणी, जीवन, धन, आदि सम्पूर्ण स्वत्व को श्रीकृष्णसेवा में समर्पित करने पर वह तत्क्षण श्रीकृष्ण से युक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण में तन्मय पुरुष देह में आत्मबुद्धि करने वाले मिथ्या अहंकार से मुक्त रहता है। यही कृष्णभावना की पूर्णावस्था है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

युक्तः=भक्तियोगी; **कर्मफलम्**=सम्पूर्ण कर्मफल को; **त्यक्त्वा**=त्यागकर; **शान्तिम्**=पूर्ण शान्ति को; **आप्नोति**=प्राप्त होता है; **नैष्ठिकीम्**=अचल; **अयुक्तः**=कृष्णभावनामृतशून्य; **कामकारेण**=कर्मफल भोगने के लिए; **फले**=फल में; **सक्तः**=आसक्त होने से; **निबध्यते**=बँधते है।

अनुवाद

निश्चल भक्त मेरे प्रति सम्पूर्ण कर्मफल का अर्पण करके अचल शान्ति को प्राप्त हो जाता है, और जो मुझ से युक्त नहीं है, वह कर्मफल की कामना से बँधता है।।१२।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष और देह को अपना स्वरूप समझने वाले में भेद वस इतना ही है कि कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण में आसक्त रहता है, जबकि शरीरवद्ध व्यक्ति अपने कर्मों के फल में आसक्त होता है। जो मनुष्य श्रीकृष्ण में आसक्त है और श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए ही कर्म करता है, वह निश्चित रूप से जीवन्मुक्त है क्योंकि उसे कर्मफल की कामना नहीं है। श्रीमद्भागवत में परतत्त्व के ज्ञान के विना अथवा द्वैत-धारणा के साथ कर्म करने को कर्मफल के लिए होने वाले उद्वेग का कारण बताया है। श्रीकृष्ण परम अद्वय तत्त्व भगवान् हैं। अतएव कृष्णभावना द्वैत से मुक्त हैं। जो कुछ भी विद्यमान है, वह सभी कुछ कृष्णशक्ति का कार्य है तथा श्रीकृष्ण सर्वमंगलमय हैं। अतः कृष्णभावनाभावित क्रियाएँ ब्रह्ममयी हैं; दिव्य होने के कारण उनसे वन्धन नहीं होता। इस कारण कृष्णभावनाभावित हो जाने पर जीव शान्ति से आपूरित हो जाता है। परन्तु इन्द्रियतृप्ति के लिए फल का अभिलाषी उस शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। यही कृष्णभावनामृत का रहस्य

है—श्रीकृष्ण से सम्बन्धरहित कुछ भी सत्ता नहीं है, इस अनुभूति से परम शान्ति और अभय पद की प्राप्ति होती है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

सर्व=सम्पूर्ण; **कर्माणि**=कर्म; **मनसा**=मन से; **संन्यस्य**=त्याग कर; **आस्ते**=रहता है; **सुखम्**=सुखपूर्वक; **वशी**=आत्मसंयमी; **नवद्वारे**=नौ द्वार वाले; **पुरे**=नगर में; **देही**=देहवद्ध जीवात्मा; **न**=नहीं; **एव**=निस्सन्देह; **कुर्वन्**=करता हुआ; **न**=नहीं; **कारयन्**=कराता हुआ।

अनुवाद

जब शरीरवद्ध जीवात्मा अपनी प्रकृति का संयम करके मन से सब कर्मों का त्याग कर देता है, तब वह नौ द्वार वाले नगर (प्राकृत देह) में कुछ भी करते अथवा करवाते विना सुख से रहता है।।१३।।

तात्पर्य

देहवद्ध जीवात्मा नौ द्वार वाली पुरी का निवासी है। देहरूपी नगरी के कार्य प्राकृतिक गुणों द्वारा स्वयमेव होते रहते हैं। अपने आप देह की परिस्थितियों के आधीन हुआ जीव इच्छा होने पर इनसे मुक्त भी हो सकता है। अपने दिव्य स्वरूप की विस्मृतिवश ही वह अपने को प्राकृत देह मान बैठता है और परिणाम में दुःख भोगता है। कृष्णभावनामृत से यथार्थ स्वरूप को फिर प्राप्त करके वह देह के बन्धन से मुक्त हो सकता है। वास्तव में कृष्णभावना धारण करते ही जीव तत्क्षण सब शारीरिक क्रियाओं से सर्वथा असंग हो जाता है। इस प्रकार के मर्यादित जीवन के प्रभाव से उसके चिन्तन में भी परिवर्तन आ जाता है जिससे वह नौ द्वार वाली पुरी में सुखपूर्वक निवास करता है। नौ द्वार ये हैं—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।।

'जीवात्मा की देह में निवास करने वाले श्रीभगवान् ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जीवों के स्वामी हैं। देह के नौ द्वार हैं—दो नेत्र, दो नासाछिद्र, दो कर्ण, मुख, गुदा तथा उपस्थ। बद्धावस्था में जीव अपने को देह समझता है; किन्तु जब उसे अन्तर्यामी भगवान् और अपने में सादृश्य का बोध होता है, तो देहस्थ होने पर भी वह श्रीभगवान् के समान ही मुक्त हो जाता है।' (श्वेत ३१८)

अतएव कृष्णभावनाभावित पुरुष प्राकृत देह की बाह्य-आंतरिक, दोनों ही प्रकार की क्रियाओं से मुक्त है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।

न=न; **कर्तृत्वम्**=कर्तापन को; **न**=न; **कर्माणि**=कर्म को; **लोकस्य**=लोगों के; **सृजति**=रचता है; **प्रभुः**=देहरूपी नगर का स्वामी; **न**=नहीं; **कर्मफल**=कर्मफल के; **संयोगम्**=संयोग को; **स्वभावः**=प्राकृतिक गुण; **तु**=किन्तु; **प्रवर्तते**=कार्य करते हैं।

अनुवाद

देहरूपी नगरी का स्वामी देहबद्ध जीवात्मा कर्म अथवा कर्मफल को नहीं रचता और न ही किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों का ही कार्य है।।१४।।

तात्पर्य

सातवें अध्याय के अनुसार, जीव की प्रकृति श्रीभगवान् के समान 'परा' है। यह चिच्छक्ति श्रीभगवान् की ही एक अन्य 'अपरा' नामक प्रकृति से भिन्न है। येन केन प्रकारेण परा प्रकृति का अंश जीवात्मा अनादिकाल से अपरा प्रकृति के संसर्ग में है। उसे प्राप्त नाशवान् देहरूपी निवास विविध कर्म तथा कर्मफलों का परिणाम है। ऐसी बद्धावस्था में जीव अपने को अज्ञानवश देह मान बैठता है और इस कारण अपार दुःख भोगता है। शारीरिक दुःख-क्लेश का हेतु अनादिकाल से उपार्जित यही अज्ञान है। शारीरिक क्रियाओं से विरत होते ही जीवात्मा कर्मफलबन्धन से भी मुक्त हो जाता है। जब तक वह देहरूपी पुरी में है, तब तक उसका स्वामी प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः वह उसके कर्म या कर्मफल का स्वामी अथवा ईश्वर नहीं है। वह तो बस भवसागर में डूबता हुआ जीवन के लिए भीषण संघर्ष कर रहा है। सागर की तरंगें उसका उत्क्षेप कर रही हैं, पर उन पर उसका कुछ भी नियन्त्रण नहीं है। उसके उद्धार का सर्वोत्तम साधन यह है कि कृष्णभावनामृत रूपी चिन्मय तरणी द्वारा इस भवसागर से तर जाय। इसी के द्वारा सम्पूर्ण विप्लव से उसकी रक्षा हो सकती है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

न=नहीं; **आदत्ते**=ग्रहण करते; **कस्यचित्**=किसी के; **पापम्**=पाप को; **न**=नहीं; **च**=भी; **एव**=निःसन्देह; **सुकृतम्**=पुण्य को; **विभुः**=परमेश्वर; **अज्ञानेन**=अज्ञान से; **आवृतम्**=आछन्न है; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **तेन**=उससे; **मुह्यन्ति**=मोहित हैं; **जन्तवः**=जीव।

अनुवाद

श्रीभगवान् किसी के भी पाप पुण्य को ग्रहण नहीं करते; जीवों के ज्ञान को अज्ञान ने ढक रखा है, इसी से वे मोह को प्राप्त हो रहे हैं।।१५।।

तात्पर्य

विभु शब्द का अर्थ परमेश्वर श्रीकृष्ण से है, जो अनन्त ज्ञान, श्री, वीर्य, यश, रूप तथा त्याग से युक्त हैं। वे सदा आत्मतृप्त हैं, पाप-पुण्य से उद्वेलित नहीं होते। किसी के लिए किसी विशिष्ट परिस्थिति का सृजन वे नहीं करते। अज्ञान से विमोहित जीवात्मा ही जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों की कामना करता है, जिससे कर्म

तथा कर्मफल की शृंखला चल पड़ती है। परा प्रकृति का अंश होने से जीव वास्तव में ज्ञानमय है। फिर भी अल्प सामर्थ्यवश वह अज्ञानमग्न हो जाता है। श्रीभगवान् सर्वसमर्थ हैं, परन्तु जीव नहीं। श्रीभगवान् विभु हैं, जबकि जीव अणु है। जीवात्मा को इच्छा करने की स्वतन्त्रता तो प्राप्त है, परन्तु उसकी पूर्ति करना केवल सर्वसमर्थ श्रीभगवान् के हाथ में है। अतः जब इच्छाओं से जीव विमोहित हो जाता है, तो श्रीभगवान् उसे अपनी इच्छा-पूर्ति करने देते हैं; पर किसी भी अभिलाषित परिस्थिति के कर्म और कर्मफल के लिए वे स्वयं उत्तरदाता नहीं हैं। इस प्रकार मोह के वशीभूत हुआ बद्धजीव प्रासंगिक प्राकृत देह को अपना स्वरूप समझ कर जीवन के क्षणिक दुःख-सुख भोगता है। परमात्मा के रूप में श्रीभगवान् जीव के नित्य सहचर हैं। वे जीवात्मा की इच्छा जान सकते हैं, उसी भाँति जैसे समीपवर्ती पुष्प की सौरभ को सूंघा जा सकता है। वासना जीवात्मा के बन्धन का सूक्ष्म रूप है। श्रीभगवान् उसकी कामना को यथायोग्य पूरा करते हैं। स्वयं अपनी इच्छा को पूर्ण करने की शक्ति का जीव में अभाव है; परन्तु श्रीभगवान् सर्वसमर्थ वाञ्छाकल्पतरु हैं। प्राणीमात्र में उनका समभाव है, इसलिए अणु स्वतन्त्रता वाले जीवों की इच्छाओं में वे हस्तक्षेप नहीं करते। विशेष रूप से जब कोई स्वयं श्रीकृष्ण की इच्छा करता है तो वे विशेष ध्यान देते हैं और उसे इस प्रकार प्रोत्साहित करते हैं कि वह उन्हें प्राप्त हो कर शाश्वत् सुख का आस्वादन कर सके। वैदिक मन्त्रों का उद्घोष है:

एष उह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते।
एष उ एवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषते।।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वाश्वभ्रमेव च।।

'जीव के उत्थान के लिए श्रीभगवान् उसे सत्कर्म में प्रवृत्त करते हैं और असत्कर्म में इसलिए लगाते हैं, जिससे वह नरकगामी हो। जीवात्मा अपने सुख-दुःख में पूर्णतया परतन्त्र है। वायुप्रेरित मेघ की भाँति भगवत्-इच्छा से ही वह स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।'

अस्तु, कृष्णभावनामृत की उपेक्षा करने की अपनी अनादिकालीन प्रवृत्ति के कारण बद्धजीव अपने बन्धन का स्वयं कारण बनता है। स्वभावतः सच्चिदानन्दमय होते हुए भी अपनी बद्ध, अल्प सत्ता के कारण वह यह भूल जाता है कि स्वरूप से वह भगवान् का दास है और परिणाम में मायाबद्ध हो जाता है। अज्ञान-आवरण के वश में ही जीव ऐसा कहता है कि उसके भवबन्धन के लिए श्रीभगवान् उत्तरदायी है। वेदान्त से यह समर्थित है:

वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति।

'प्रभु वास्तव में किसी के भी प्रति घृणा अथवा आसक्तिभाव नहीं रखते।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम।।१६।।

ज्ञानेन=ज्ञान द्वारा; **तु**=किन्तु; **तत्**=वह; **अज्ञानम्**=अज्ञान; **येषाम्**=जिनका; **नाशितम्**=नष्ट हो गया है; **आत्मनः**=जीवात्मा का; **तेषाम्**=उनका; **आदित्यवत्**=उदित सूर्य के समान; **ज्ञानम्**=ज्ञान्; **प्रकाशयति**=प्रकाशित करता है; **तत्परम्**=कृष्ण-भावनामृत में।

अनुवाद

परन्तु जब जीव अज्ञान का नाश करने वाले ज्ञान से प्रबुद्ध हो जाता है, तो उसका वह ज्ञान सम्पूर्ण तत्त्व को उसी प्रकार प्रकट कर देता है, जैसे दिन में सूर्य सब कुछ प्रकाशित करता है।।१६।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण को भूल बैठने वाले अवश्य मोहित होते हैं। इसके विपरीत, कृष्णभावनाभावित पुरुष कभी मोहित नहीं हो सकते। भगवद्गीता (चतुर्थ अध्याय) में उल्लेख है: **सर्वं ज्ञानप्लवेन, ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि** तथा **न हि ज्ञानेन सदृशं।** ज्ञान सदा परम सम्मान्य है। उस ज्ञान का स्वरूप क्या है? पूर्ण ज्ञान श्रीकृष्ण के चरणयुगल की शरण ग्रहण करने से ही होता है, जैसा सातवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में कहा है: **बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।** अनेक-अनेक जन्मान्तरों के उपरान्त जब पूर्ण ज्ञानी श्रीकृष्ण के शरणागत होता है अथवा कृष्णभावनाभावित बन जाता है तो उसके प्रति समग्र तत्त्व प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार जैसे दिन में सूर्य सम्पूर्ण पदार्थ प्रकाशित करता है। जीवात्मा कितने ही प्रकार से मोहित होता है। उदाहरणस्वरूप, जब वह धृष्टतापूर्वक अपने को भगवान् मान बैठता है तो माया के सब से भीषण पाश में बँध जाता है। यदि जीव ईश्वर है तो वह मायामोहित कैसे हो सकता है? यदि ऐसा सम्भव है तो माया श्रीभगवान् से गुरुतर सिद्ध हुई। यथार्थ ज्ञान कृष्णभावनाभावित महापुरुष से ही प्राप्य है। अतएव ऐसे यथार्थ सद्गुरु के शरणागत होकर कृष्णभावनामृत की शिक्षा को हृदयंगम करे। जिस प्रकार भुवनभास्कर सूर्य अंधकार का निवारण करता है, उसी भाँति सद्गुरु सम्पूर्ण अज्ञान को दूर कर सकते हैं। यह हो सकता है कि देह से अतीत आत्मतत्त्व को पूर्ण रूप से जानने वाला भी आत्मा तथा परमात्मा में भेद न कर सके, पर भगवत्प्राप्त कृष्णभावनाभावित सद्गुरु की शरणागति से वह पूर्ण तत्त्वज्ञ हो सकता है। श्रीभगवान् के प्रतिनिधि के सान्निध्य में ही श्रीभगवान् का और श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है। श्रीभगवान् के प्रतिनिधि का उनके समान आदर किया जाता है, क्योंकि वे भगवत्-तत्त्व को जानते हैं, परन्तु वे स्वयं अपने को भगवान् कभी घोषित नहीं करते। श्रीभगवान् और जीव में भेद का ज्ञान आवश्यक है। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय (२.१२) में कहा है कि प्रत्येक जीव का और उन (श्रीभगवान्) का अपना-अपना स्वरूप है। पूर्वकाल में

भी उनका पृथक् स्वरूप था, वर्तमान में भी है और भविष्य में मुक्ति हो जाने पर भी रहेगा। रात्रि के अंधकार में सब कुछ एकरूप भासता है; किन्तु उषाकाल में सूर्योदय होते ही प्रत्येक वस्तु अपने यथार्थ रूप में दृष्टिगोचर हो जाती है। जीव और भगवान् में अचिन्त्य-भेद-अभेद का ज्ञान ही सच्चा पारमार्थिक ज्ञान है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

तत् बुद्धयः=नित्य भगवत्-परायण मति वाले; **तत्-आत्मनः**=नित्य भगवान् में चित्त वाले; **तत्-निष्ठाः**=नित्य श्रीभगवान् में निष्ठ मन वाले; **तत्परायणाः**=जो पूर्णतया भगवान् के शरणागत हो गये हैं; **गच्छन्ति**=जाते हैं; **अपुनरावृत्तिम्**= मुक्ति को; **ज्ञान**=ज्ञान द्वारा; **निर्धूत**=शुद्ध हुए; **कल्मषाः**=पापों से।

अनुवाद

अपनी बुद्धि, चित्त और निष्ठा श्रीभगवान् में केन्द्रित करके जब जीव उन्हीं के परायण हो जाता है, तब वह पूर्ण ज्ञान द्वारा पाप और संशयों से शुद्ध होकर तत्काल मुक्तिपथ पर आरूढ़ हो जाता है।।१७।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण परात्पर सच्चिदानन्द तत्त्व हैं। सम्पूर्ण भगवद्गीता श्रीकृष्ण की भगवत्ता के उद्घोष पर आश्रित है। यह सकल वैदिक शास्त्रों का मत है। तत्त्ववेत्ता परतत्त्व को ब्रह्म,'परमात्मा तथा श्रीभगवान् के रूप में जानते हैं। पर श्रीभगवान् ही इस परतत्त्व की अवधि हैं। उनसे अधिक कुछ भी नहीं है। स्वयं श्रीभगवान् का वचन है: **मत्तः परतरं नान्यत् किंचित् अस्ति धनंजय।** निर्विशेष ब्रह्म के आधार भी श्रीकृष्ण **ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्** अतः सब प्रकार से श्रीकृष्ण परात्पर हैं। जिस के मन, बुद्धि, निष्ठा और आश्रयता नित्य श्रीकृष्ण में केन्द्रित हैं, जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है, वह पुरुष निःसन्देह सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर परम सत्य के पूर्णज्ञान में परिनिष्ठित हो जाता है। कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण के अचिन्त्य-भेद-अभेद तत्त्व को भलीभाँति जानता है। इस दिव्य ज्ञान से युक्त होकर वह मुक्तिपथ में उत्तरोत्तर सुस्थिर प्रगति कर सकता है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

विद्या=शिक्षा; **विनय**=नम्रता से; **सम्पन्ने**=युक्त; **ब्राह्मणे**=ब्राह्मण में; **गवि** =गाय में; **हस्तिनि**=गजराज में; **शुनि**=कुत्ते में; **च**=तथा; **एव**=निःसन्देह; **श्वपाके**= चाण्डाल में; **च**=भी; **पण्डिताः**=ज्ञानी; **समदर्शिनः**=समान दृष्टि से देखते हैं।

अनुवाद

यथार्थ ज्ञानी विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समदर्शी होते हैं।।१८।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित महानुभाव जाति-वर्णादि का कोई भेद नहीं मानता। यद्यपि ब्राह्मण और चाण्डाल में सामाजिक दृष्टि से भेद हो सकता है तथा श्वान, गौ, हाथी, आदि में जातिभेद है, परन्तु विद्वान् योगी की दृष्टि में ये शारीरिक भेद निरर्थक हैं। इसका कारण यह है कि परतत्त्व से उन सभी का सम्बन्ध है, क्योंकि परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अपने अंशस्वरूप परमात्मा के रूप में प्राणीमात्र के हृदय में विराजमान हैं। परम सत्य का ऐसा ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। जहाँ तक जीवन के विभिन्न वर्ण तथा जातियों की देहों का सम्बन्ध है, श्रीभगवान् सब पर समान रूप से अपनी कृपा करते हैं, क्योंकि वे जीवमात्र को अपना सखा मानते हैं और जीवों की परिस्थितियों की उपेक्षा करते हुए परमात्मा-रूप से सर्वव्यापक हैं। ब्राह्मण और चाण्डाल की देह में भेद है, पर परमात्मा दोनों ही में समान रूप से हैं। जीवशरीर नाना प्रकार के प्राकृतिक गुणों के कार्य हैं, परन्तु देह में स्थित जीवात्मा और परमात्मा के चिद्गुण समान हैं। चिद्गुणों के समान होने पर भी जीवात्मा तथा परमात्मा विस्तार में भिन्न हैं, क्योंकि जीवात्मा किसी एक देह में ही स्थित रहता है, जबकि परमात्मा प्रत्येक देह में विद्यमान हैं। कृष्णभावनाभावित पुरुष को इसका पूर्ण ज्ञान रहता है। अतएव वही यथार्थ में पण्डित तथा समदर्शी है। जीवात्मा तथा परमात्मा के गुण सजातीय हैं; दोनों ही सच्चिदानन्दमय हैं। दोनों में भेद यह है कि जीवात्मा व्यष्टि-चैतन्य है, जबकि परमात्मा समष्टि-चैतन्य हैं। अर्थात् जीवात्मा की चेतना अपने शरीर तक ही सीमित रहती है, जबकि परमात्मा को सब देहों का बोध है। परमात्मा बिना किसी भेद के सब देहों में हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

इह=इस जीवन में; **एव**=ही; **तैः**=उनके द्वारा; **जितः**=जीत लिया गया है; **सर्गः**=जन्म-मृत्यु का चक्र; **येषाम्**=जिनका; **साम्ये**=समता में; **स्थितम्**=स्थित है; **मनः**=चित्त; **निर्दोषम्**=दोषरहित; **हि**=निःसन्देह; **समम्**=सम है; **ब्रह्म**=परतत्त्व; **तस्मात्**=इसलिए; **ब्रह्मणि**=परतत्त्व में; **ते**=वे; **स्थिताः**=परिनिष्ठत हैं।

अनुवाद

जिनका चित्त समता में स्थित है, उन्होंने इसी जीवन में जन्म-मृत्यु आदि बन्धनों पर विजय प्राप्त कर ली है। ब्रह्म के समान निर्दोष होने के कारण वे सदा ब्रह्म में ही स्थित हैं।।१९।।

तात्पर्य

उपरोक्त कथन के अनुसार, मन की समता स्वरूप-साक्षात्कार का लक्षण है। वास्तव में ऐसी स्थिति प्राप्त करने वाले के सम्बन्ध में यह समझना चाहिये कि वह जन्म-मृत्यु आदि सब प्राकृत बन्धनों पर विजय प्राप्त कर चुका है। जब तक जीव

देहात्मबुद्धि से ग्रस्त है, अर्थात् देह को अपना स्वरूप मानता है, तब तक उसे बद्ध समझा जाता है; किन्तु स्वरूप-साक्षात्कार द्वारा समता के स्तर पर आरूढ़ होते ही वह बद्ध जीवन से मुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में, उसका प्राकृत-जगत् में पुनरागमन नहीं होता, वरन् देहान्त होने पर वह भगवद्धाम में प्रविष्ट हो सकता है। रागद्वेषशून्य होने से श्रीभगवान् सर्वथा निर्दोष हैं। इसी भाँति, रागद्वेष से छूट जाने पर जीवात्मा भी निर्दोष होकर परव्योम में प्रवेश का अधिकारी बन जाता है। ऐसे जीवों को जीवन्मुक्त समझना चाहिये। उनके लक्षणों का वर्णन अधोलिखित है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

न प्रहृष्येत्=हर्षित नहीं हो; **प्रियम्**=प्रिय को; **प्राप्य**=प्राप्त होकर; **न उद्विजेत्**=उद्विग्न न हो; **प्राप्य**=मिलने पर; **च**=भी; **अप्रियम्**=अप्रिय के; **स्थिर-बुद्धिः**=आत्मबुद्धि; **असंमूढः**=मोहरहित; **ब्रह्मवित्**=परतत्त्व का पूर्ण ज्ञानी; **ब्रह्मणि**=ब्रह्मतत्त्व में; **स्थितः**=स्थित है।

अनुवाद

जो न तो प्रिय वस्तु की प्राप्ति से हर्षित होता और न अप्रिय की प्राप्ति होने पर उद्विग्न होता, जो मोहरहित स्थिरबुद्धि पुरुष भगवान् के तत्त्व को जानता है, उसे नित्य ब्रह्मतत्त्व में ही स्थित जानना चाहिए।।२०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में आत्मतत्त्व के ज्ञाता महापुरुष के लक्षणों का उल्लेख है। उसका प्रथम लक्षण यह है कि वह मिथ्या देहात्मबुद्धि से मोहित नहीं होता। अपितु, भलीभाँति जानता है कि वह प्राकृत देह नहीं है, वरन् श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। अतः देह सम्बन्धी किसी भी वस्तु की प्राप्ति में उसे हर्ष नहीं होता और न ही किसी वस्तु की हानि में वह शोकाकुल होता। मन की इस समता को स्थिरबुद्धि कहते हैं। अतः स्थूल देह को आत्मा समझने का भ्रम उसे कभी नहीं होता और न ही देह को नित्य मान कर वह आत्मा की उपेक्षा करता है। यही ज्ञान उसे ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान् नामक परतत्त्व के सम्पूर्ण विज्ञान में स्थित कर देता है। इस प्रकार, श्रीभगवान् से सर्वथा एक हो जाने के लिए मिथ्या प्रयत्न से मुक्त होकर वह अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से जान जाता है। यही ब्रह्मानुभूति अथवा स्वरूप-साक्षात्कार है। ऐसी स्थिरमति (चेतना) ही कृष्णभावना कहलाती है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

बाह्यस्पर्शेषु=बाह्य इन्द्रियसुख में; **असक्तात्मा**=अनासक्त पुरुष; **विन्दति**=आस्वादन करता है; **आत्मनि**=आत्मा में; **यत्**=जो; **सुखम्**=सुख; **सः**=वह;

ब्रह्मयोग=ब्रह्म में एकाग्र; **युक्तात्मा**=आत्मसंयुक्त; **सुखम्**=सुख का; **अक्षयम्**=अनन्त; **अश्नुते**=आस्वादन करता है।

अनुवाद

ऐसा मुक्त पुरुष इन्द्रियसुख अथवा बाह्य विषयों में अनासक्त होकर अपने स्वरूप में आनन्द अनुभव करता हुआ नित्य समाधिस्थ रहता है। इस प्रकार श्रीभगवान् में एकाग्र होकर स्वरूपप्राप्त पुरुष अनन्त सुख का आस्वादन करता है।।२१।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित महाभागवत श्रीयामुनाचार्य ने कहा है:

यदावधि मम चेतः कृष्णपदारविन्दे नव नव रसधामनुद्यतरन्तुमासीत्।
तदावधि बत नारीसंगमे स्मर्यमाने भवति मुखविकारः सुष्ठु निष्ठीवनं च।।

'जब से मैं श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेममयी भक्ति में संलग्न होकर उनके नित्य नव-नव रस का आस्वादन करने लगा हूँ, तब से स्त्रीसंगम का विचार आते ही उस पर उद्वमन कर बैठता हूँ, यहाँ तक कि मेरे ओष्ठ भी अरुचि से संकुचित हो जाते हैं।'

ब्रह्मयोगी अथवा कृष्णभावनाभावित भक्त भगवद्भक्ति में इतना अधिक विभोर हो जाता है कि इन्द्रियसुख में उसकी लेशमात्र भी अभिरुचि नहीं रहती। जड़ प्रकृति की दृष्टि से काम परम सुख है। सम्पूर्ण विश्व इसी के मोह में क्रियाशील है; विषयी तो इसके बिना कोई कर्म ही नहीं कर सकता। किन्तु कृष्णभावनाभावित भक्त कामसुख का परिहार करके भी द्विगुणित उत्साह के साथ कार्य कर सकता है। यह भगवत्प्राप्ति की कसौटी है। भगवत्प्राप्ति तथा कामसुख एक साथ कभी नहीं हो सकते, दोनों का एक साथ होना सम्भव नहीं। जीवन्मुक्त कृष्णभावनाभावित किसी भी इन्द्रियसुख की ओर आकृष्ट नहीं होता।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

ये=जो; **हि**=निस्सन्देह; **संस्पर्शजाः**=इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले; **भोगाः**=भोग हैं; **दुःख**=दुःख के; **योनयः**=कारण; **एव**=ही (हैं); **ते**=वे; **आदि**=आदि; **अन्तवन्तः**=अन्त वाले; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **न**=कभी नहीं; **तेषु**=उनमें; **रमते**=रमण करते; **बुधः**=बुद्धिमान् (विवेकीजन)।

अनुवाद

हे अर्जुन! ये जो इन्द्रियों और विषयों से उत्पन्न होने वाले भोग हैं, वे केवल दुःख के कारण हैं और आदि-अन्त वाले हैं। इसलिए विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।।२२।।

तात्पर्य

प्राकृत इन्द्रियसुखों का उदय इन्द्रियों और विषयों के संघात से होता है। ये

सभी अनित्य हैं, क्योंकि स्वयं शरीर ही नाशवान् है। जीवन्मुक्त पुरुष की किसी अनित्य पदार्थ में अभिरुचि नहीं रहती। भगवदीय रसानन्द का पूर्ण ज्ञाता जीवन्मुक्त पुरुष मिथ्या सुखोपभोग के उन्मुख कैसे हो सकता है? पद्मपुराण का वचन है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दचिदात्मनि।
इति राम पदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते।।

"योगीजन परतत्त्व में रमण करते हुए अपरिमित चिदानन्द का आस्वादन करते हैं। इसी से उस परब्रह्मतत्त्व को 'राम' कहा जाता है।"

श्रीमद्भागवत में भी उल्लेख है—

नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येद् यस्माद्ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्।।

"हे पुत्रो! इस मनुष्ययोनि में इन्द्रियसुख के लिए अधिक श्रम करना व्यर्थ है। विषयसुख तो मलभक्षी शूकरों को भी सदा प्राप्त रहता है। इसकी अपेक्षा, इस मनुष्य जीवन में तुम्हें तप करना चाहिए, जिससे पवित्र होकर अपरिमित ब्रह्मसुख का आस्वादन कर सकोगे।" (श्रीमद्भागवत ५.५.१)

अतः जो यथार्थ योगी हैं, वे उन इन्द्रियसुखों की ओर आकृष्ट नहीं होते, जो नित्य-निरन्तर भवरोग के कारण हैं। जीव में जितनी अधिक भोगासक्ति होगी, उतना ही वह प्राकृत दुःखों में अधिक बँधेगा।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

शक्नोति=समर्थ है; **इह एव**=वर्तमान देह में; **यः**=जो; **सोढुम्**=सहन करने में; **प्राक्**=पूर्व; **शरीर**=शरीर; **विमोक्षणात्**=त्यागने से; **काम**=काम; **क्रोध**=क्रोध से; **उद्भवम्**=उत्पन्न; **वेगम्**=वेग को; **सः**=वह; **युक्तः**=योगी है; **सः**=वह; **सुखी**=सुखी; **नरः**=मनुष्य है।

अनुवाद

जो मनुष्य शरीर का नाश होने से पूर्व इन्द्रियों की उत्तेजना और काम-क्रोध के वेगों को सहन कर सकता है, वह इस संसार में योगी है और वही सुखी है।।२३।।

तात्पर्य

जिसे स्वरूप-साक्षात्कार के पथ पर उत्तरोत्तर स्थिर प्रगति की अभिलाषा हो, उसे इन्द्रियवर्गों को वश में करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। ये वेग छः प्रकार के हैं—वाणीवेग, क्रोधवेग, मनोवेग, उदरवेग, उपस्थवेग तथा जिह्वावेग। जो मनुष्य इन विविध इन्द्रियों के वेगों को और मन को वश में कर सकता है, उसे 'गोस्वामी' अथवा 'स्वामी' कहा जाता है। गोस्वामी तीक्ष्ण व्रतपालन द्वारा मर्यादित जीवन-यापन करते हुए इन्द्रियवेगों को पूर्णतया त्याग देते हैं। अतृप्त विषय कामना से क्रोध उत्पन्न होता है, जिससे चित्त, नेत्र और वक्षस्थल आदि अंग उत्तेजित हो उठते

हैं। अतः इस प्राकृत देह को त्यागने से पूर्व ही इन विकारों को जीतने के लिए यथाशक्ति प्रयास करे। जो ऐसा कर सकता है, उसे आत्मज्ञानी समझा जाता है। वह स्वरूप-साक्षात्कार में सुखास्वादन करता है। काम-क्रोध को वश में करने के लिए प्राणपण से सतत प्रयत्न करना योगी का परम कर्तव्य है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

यः=जो; **अन्तःसुखः**=अन्तर में सुखी; **अन्तः आरामः**=अन्तर में क्रियाशील; **तथा**=तथा; **अन्तः ज्योतिः**=आत्म-प्रदीप है; **एव**=निःसन्देह; **यः**=जो; **सः**=वह; **योगी**=योगी; **ब्रह्मनिर्वाणम्**=परतत्त्व में मुक्ति; **ब्रह्मभूतः**=स्वरूपज्ञानी; **अधिगच्छति**=प्राप्त करता है।

अनुवाद

जो आत्मा में सुख का अनुभव करता है, आत्मा में क्रियाशील है और आत्मा में ही दृष्टि वाला है, वही यथार्थ में संसिद्ध योगी है और अन्त में परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।।२४।।

तात्पर्य

जिसने आत्मसुख का आस्वादन न किया हो, वह मिथ्या सुख के लिए की जाने वाली वाह्य क्रियाओं से विरत कैसे होगा? जीवन्मुक्त पुरुष यथार्थ अनुभूति में सुखास्वादन करता है। अतः एक स्थान पर शान्तिपूर्वक स्थित रहकर वह आन्तरिक जीवन की क्रीड़ा का आनन्द ले सकता है। ऐसे जीवन मुक्त में वाह्य प्राकृत-सुख की कामना शेष नहीं रहती। इस 'ब्रह्मभूत' नामक स्थिति को प्राप्त पुरुष के लिए अपने घर—भगवद्धाम की फिर प्राप्ति निश्चित हो जाती है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

लभन्ते=प्राप्त होते हैं; **ब्रह्मनिर्वाणम्**=मुक्ति को; **ऋषयः**=ऋषिगण; **क्षीणकल्मषाः**=सम्पूर्ण पापों से मुक्त हैं; **छिन्न**=निवृत्त हुआ; **द्वैधाः**=द्वैत; **यतात्मानः**=स्वरूप-साक्षात्कार के साधन में तत्पर; **सर्वभूत**=जीवों के; **हिते**=कल्याण में; **रताः**=संलग्न।

अनुवाद

जो द्वैत तथा संशय से मुक्त हो चुके हैं, जिनका चित्त आत्मपरायण है, जो सम्पूर्ण पापों से रहित हैं और सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण में संलग्न हैं, वे मुक्ति को प्राप्त होते हैं।।२५।।

तात्पर्य

एकमात्र पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष को ही जीवमात्र के कल्याणकार्य में संलग्न कहा जा सकता है। जो मनुष्य तत्त्व से जानता है कि श्रीकृष्ण सबके

आदिकारण हैं और इसी भावना से भावित होकर कर्म करता है, वह सबका कल्याण-कार्य करता है। मानवता के दुःखों का कारण यह भूल जाना है कि श्रीकृष्ण परम भोक्ता, परम ईश्वर और सबके परम सुहृद हैं। अतः पूरे मानवीय समाज में इस भावना के पुनर्जागरण के लिए कर्म करना परमोच्च कल्याणकार्य है। एक मुक्तपुरुष ही उत्तम कल्याण-कार्य कर सकता है। कृष्णभावनाभवित पुरुष को श्रीकृष्ण की परात्परता में लेशमात्र संशय नहीं रहता। पूर्ण पापमुक्त हो जाने के कारण उसमें संशय का अभाव हो जाता है। यह दिव्य भगवत्प्रेम की अवस्था है।

जो व्यक्ति मानव समाज का भौतिक कल्याण करने में ही लगा हुआ है, वह यथार्थ में किसी की भी सहायता नहीं करता। देह और चित्त को दिया गया क्षणिक सुख सन्तोषकारी नहीं कहा जा सकता। जीवन-संघर्ष में आने वाली भीषण कठिनाइयों का यथार्थ कारण तो जीव का श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को भूल जाना ही है। जिस मनुष्य को श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध का बोध हो जाता है वह संसार रूपी सराय में रहता हुआ भी वास्तव में जीवन्मुक्त है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

काम=काम; **क्रोध**=क्रोध से; **वियुक्तानाम्**=जो मुक्त हैं; **यतीनाम्**=सन्तों के लिए, **यतचेतसाम्**=जीते हुए चित्त वाले; **अभितः**=सब ओर से; **ब्रह्म निर्वाणम्**=मुक्ति; **वर्तते**=प्राप्त है; **विदितात्मनाम्**=जो आत्मतत्त्व के ज्ञाता हैं।

अनुवाद

जो काम-क्रोध से मुक्त हैं, आत्मस्वरूप को जानते हैं, आत्मसंयमी हैं और संसिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं, उन्हें सब ओर से परमगति प्राप्त है।।२६।।

तात्पर्य

मुक्ति के लिए निरन्तर साधन-परायण सब प्रकार के सन्तों में कृष्णभावनाभावित पुरुष सर्वश्रेष्ठ है। श्रीमद्भागवत (४.२२.३९) में इस तथ्य की पुष्टि इस प्रकार प्रकार है—

यत्पादपंकजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्नरिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।।

"जो सकाम कर्मों की सुदृढ़ कामना को निर्मूल करके भगवच्चरणारविन्द के सेवामृत से प्राप्त होने वाले चिन्मय आनन्द में विभोर हैं, उन भक्तों के समान तो महर्षिजन भी इन्द्रियवेगों को रोक नहीं पाते। इसलिए सबको भक्तिभाव से भगवान् वासुदेव का ही भजन करना चाहिए।"

मायाबद्ध जीव में सकाम कर्म की इच्छा इतनी दृढ़ है कि भगीरथ-प्रयत्न करने

वाले महर्षियों के लिए भी इनका संयम करना दुष्कर है। परन्तु कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग के परायण हुए भक्त की सद्योमुक्ति हो जाती है। आत्मतत्त्व का पूर्ण ज्ञाता होने से वह नित्य समाधिस्थ रहता है। उदाहरणार्थः

दर्शन ध्यान संस्पर्शैर्मत्स्यकूर्मविहंगमाः।
स्वान्यपत्यानि पुष्णन्ति तथाहमपि पद्मज।।

'मछली, कछुआ और पक्षी क्रमशः दर्शन, ध्यान तथा स्पर्श द्वारा अपनी सन्तति का पालन करते हैं। हे पद्मयोनि (ब्रह्मा)! मैं भी ऐसा ही करता हूँ।'

मछली केवल देखकर अपनी संतान का पालन करती है। कूर्म केवल ध्यान द्वारा अपनी सन्तान का पोषण करता है; उसके अण्डे भूमि पर रहते हैं और वह स्वयं जल में उनका ध्यान करता रहता है। इसी भाँति, भगवद्धाम से अति दूर होने पर भी कृष्णभावनाभावित पुरुष भगवान् का निरन्तर चिन्तन करने मात्र से, अर्थात् कृष्ण-भावनामृत में संलग्न रहकर भगवद्धाम को प्राप्त हो सकता है। उसे प्राकृत दुःख नहीं सताता। जीवन की इस स्थिति को 'ब्रह्मनिर्वाण' कहते हैं, जिसका अर्थ है परतत्त्व में निरन्तर निमग्नता के फलस्वरूप प्राकृत दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

स्पर्शान्=शब्दादि इन्द्रियविषयों को; **कृत्वा**=करके; **बहिः**=बाहर; **बाह्यान्**=अप्रयोजनीय; **चक्षुः**=नेत्र; **च**=भी; **एव**=निःसन्देह; **अन्तरे**=मध्य में; **भ्रुवोः**=भृकुटी के; **प्राण-अपानौ**=प्राण-अपान; **समौ**=सम; **कृत्वा**=करके; **नासा-अभ्यन्तर**=नासा के भीतर; **चारिणौ**=चलने वाले; **यत**=संयमित; **इन्द्रिय**=इन्द्रिय; **मनः**=मन; **बुद्धिः**=बुद्धि; **मुनिः**=योगी मुनि; **मोक्षपरायणः**=मोक्षपरायण; **विगत**=रहित; **इच्छा**=कामना; **भय**=भय; **क्रोधः**=क्रोध से; **यः**=जो (है); **सदा**=नित्य; **मुक्तः एव**=मुक्त ही है; **सः**=वह।

अनुवाद

सम्पूर्ण इन्द्रिय विषयों को बाहर ही त्याग कर, दृष्टि को भृकुटी के मध्य में केन्द्रित रखते हुए नासिका में विचरने वाले प्राणापान को रोक कर चित्त, इन्द्रियों तथा बुद्धि को वश में करने वाला योगी इच्छा, भय और क्रोध से पूर्ण मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में निरन्तर रहने वाला निस्सन्देह जीवन्मुक्त है।।२७-२८।।

तात्पर्य

कृष्णभावनामृत में संलग्न होते ही तत्काल अपने आत्मस्वरूप का बोध हो

जाता है। फिर भक्तियोग के द्वारा परमेश्वर श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान हो सकता है। भक्तियोग का भलीभाँति साधन करने से शुद्ध सत्त्व में स्थित हुआ साधक अपनी क्रियाओं की परिधि में श्रीभगवान् की संन्निधि का अनुभव करने के योग्य हो जाता है। यही विशिष्ट स्थिति सामान्य रूप में 'मुक्ति' कहलाती है।

मुक्ति से सम्वन्धित ऊपर कहे गए सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके श्रीभगवान् अर्जुन को अष्टांगयोग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) के अभ्यास द्वारा उस स्थिति को प्राप्त करने की विधि का उपदेश कर रहे हैं। योगतत्त्व का विशद वर्णन छठे अध्याय में है; पाँचवें के अन्त में उसकी केवल अवतारणा है। योग की प्रत्याहार पद्धति के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—इन इन्द्रियविषयों को त्यागकर तथा चक्षुदृष्टि को भृकुटी के मध्य में स्थिर करके अर्धमीलित नेत्रों से नासाग्र पर ध्यान लगाना चाहिए। नेत्रों को पूरा बन्द नहीं करे, क्योंकि ऐसा करने पर निद्राग्रस्त हो जाने का भय रहता है। नेत्रों को पूरा खुला भी नहीं रखे। इससे इन्द्रियविषयों की ओर आकृष्ट हो जाने की सम्भावना रहेगी। नासिका के भीतर प्राण-अपान को समान करके श्वास-प्रक्रिया को रोका जाता है। इस योग के अभ्यास से इन्द्रियों को वश में करने और इन्द्रियविषयों को त्यागने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। परिणाम में साधक मुक्ति के योग्य हो जाता है।

यह योगपद्धति सव प्रकार के भय, क्रोधादि से मुक्त करके शुद्ध सत्त्वमय स्थिति में परमात्मा की अनुभूति करने में सहायक है। भाव यह है कि योगचर्या की सवसे सुगम पद्धति कृष्णभावनामृत ही है। अगले अध्याय में इसका पूर्णरूप में प्रतिपादन किया जायगा। कृष्णभावनाभावित पुरुष भक्तियोग में नित्य संलग्न रहता है जिससे उसकी इन्द्रियों के लिए अन्यथा प्रवृत्त होना सम्भव नहीं रह जाता। अतएव अष्टांगयोग की अपेक्षा यह इन्द्रियों को वश में करने का अधिक उत्तम मार्ग है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

भोक्तारम्=भोगनेवाला; **यज्ञ**=यज्ञ; **तपसाम्**=तप-त्याग का; **सर्वलोक**=सम्पूर्ण लोकों और उनमें स्थित देवों का; **महेश्वरम्**=परमेश्वर; **सुहृदम्**=स्वार्थरहित प्रेमी; **सर्व**=सव; **भूतानाम्**=प्राणियों का; **ज्ञात्वा**=इस प्रकार जानकर; **माम्**=मुझ (श्रीकृष्ण) को; **शान्तिम्**=प्राकृत यन्त्रणा से मुक्ति को; **ऋच्छति**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

मुझे सम्पूर्ण यज्ञ-तप का परम प्रयोजन (भोक्ता), सम्पूर्ण लोकों और देवताओं का परमेश्वर तथा प्राणीमात्र का सुहृद जानकर ऋषिजन संसार के दुःखों से शान्ति-लाभ करते हैं।।२९।।

तात्पर्य

माया के आधीन सभी बद्धजीव प्राकत-जगत् में शान्ति के लिए आतुर हैं,

परन्तु भगवद्गीता के इस श्लोक में वर्णित शान्ति-लाभ की यथार्थ-विधि को वे नहीं जानते। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण मानवीय क्रियाओं के भोक्ता हैं—यह ज्ञान परम-शान्ति का सरल मार्ग है। इसके अतिरिक्त, वे ही सम्पूर्ण लोकों तथा उनमें स्थित देवताओं के परमेश्वर हैं। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि अपना सर्वस्व उन्हीं की दिव्य सेवा में समर्पित कर दें। उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई तत्त्व नहीं। वे देवाधिदेव शिव-ब्रह्मा आदि से भी महान् हैं। वेदों में परमेश्वर श्रीकृष्ण का यह वर्णन है: **तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्** माया-मोहवश जहाँ दृष्टि जाती है, जीव वहीं अपना प्रभुत्व करने का प्रयास कर रहे हैं, परन्तु वास्तव में वे सब भगवान् की माया के आधीन हैं। भगवान् श्रीकृष्ण माया के स्वामी हैं, जबकि जीव माया कठोर नियमों के परवश हैं। इस नितान्त सत्य को जाने बिना व्यक्तिगत अथवा संयुक्त रूप से भी संसार में शान्ति की उपलब्धि कभी नहीं हो सकती। कृष्णभावनामृत का भाव यह है: भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, और देवताओं सहित सारे जीव उनके अनुचर हैं। इस पूर्ण कृष्णभावनामृत में ही शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।

पाँचवें अध्याय में कृष्णभावनामृत का व्यावहारिक (क्रियात्मक) निरूपण है, जैसे सामान्यतः कर्मयोग कहा जाता है। कर्मयोग मुक्तिकारक कैसे हो सकता है?—इस मनोधर्मप्रेरित प्रश्न का उत्तर यहाँ दिया गया है। कृष्णभावनाभावित कर्म करना इस पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर कर्म करना है कि श्रीकृष्ण परम ईश्वर हैं। ऐसे कर्म में और ज्ञान में भेद नहीं है। कृष्णभावनामृत साक्षात् भक्तियोग है, जबकि ज्ञानयोग भक्तियोग की प्राप्ति का केवल एक पथ है। कृष्णभावनामृत का अर्थ परमसत्य से अपने सम्बन्ध के पूर्ण ज्ञान के साथ कर्म करना है; इस भावना की पूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण को पूर्ण रूप से जानने में है। शुद्ध आत्मा भगवान् के भिन्न-अंश के रूप में उनका नित्य दास है। माया पर प्रभुत्व की इच्छा के कारण ही वह माया के संसर्ग में आता है। यही उसे प्राप्त होने वाले नाना दुःखों का कारण भी है। जब तक वह प्रकृति के संसर्ग में रहता है, तब तक प्राकृत आवश्यकता के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य है। किन्तु कृष्णभावनामृत की यह विशेषता है कि जड प्रकृति की परिधि में स्थित जीव को भी वह दिव्य जीवन प्रदान कर सकती है, क्योंकि प्राकृत-जगत् में भक्ति का अभ्यास करने पर जीव का दिव्य स्वरूप पुनः उद्भावित हो जाता है। भक्ति में उत्तरोत्तर प्रगति करने के अनुपात में प्रकृति-बन्धन से मुक्ति होती जाती है। श्रीभगवान् किसी जीव से पक्षपात नहीं करते। सब कुछ इन्द्रियनिग्रह और काम-क्रोध का दमन करने के लिए किए गए व्यावहारिक कर्तव्य-पालन पर निर्भर करता है। इन विकारों को निगृहीत कर कृष्णभावनामृत को प्राप्त हो जाने वाला वास्तव में शुद्ध सत्त्व, ब्रह्मनिर्वाण में परिनिष्ठित हो जाता है अष्टांगयोग का अन्तिम लक्ष्य कृष्णभावना को प्राप्त करना ही है। अतएव साक्षात् कृष्णभावनामृत में अष्टांगयोग का अभ्यास अपने-आप हो जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे प्रगति हो सकती है।

परन्तु भक्तियोग के प्रारम्भ में ही इन सब की सिद्धि हो जाती है। एकमात्र भक्तियोग मानव को शान्ति प्रदान कर सकता है। वास्तव में भक्तियोग ही जीवन की परमोच्च संसिद्धि है।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्याय.।।५।।
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये पंचमोऽध्यायः।।

अथ षष्ठोऽध्यायः

ध्यानयोग

(अभ्यास)

श्रीभगवानुवाच।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **अनाश्रितः**=न चाहता हुआ; **कर्मफलम्**=कर्मफल को; **कार्यम्**=कर्तव्य; **कर्म**=कर्म; **करोति**=करता है; **यः**=जो; **सः**=वह; **संन्यासी**=संन्यासी है; **च**=और; **योगी**=योगी; **च**=भी; **न**=नहीं; **निरग्निः**=अग्नि को त्यागने वाला; **न**=नहीं; **च**=तथा; **अक्रियः**=क्रियाहीन।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, जो पुरुष कर्मफल में अनासक्त रहकर अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही सच्चा संन्यासी और योगी है, अग्नि को त्यागने वाला अथवा कर्म को त्यागने वाला नहीं।।१।।

तात्पर्य

इस अध्याय में श्रीभगवान् ने मन-इन्द्रियों को वश में करने के साधन के रूप में अष्टांगयोग का वर्णन किया है। परन्तु सामान्य जनता के लिए, विशेषतः कलियुग में, यह बड़ा कठिन है। अष्टांगयोग की पद्धति का वर्णन करते हुए श्रीभगवान् ने भी इस सत्य पर बल दिया है कि कृष्णभावनाभावित कर्म अर्थात् 'कर्मयोग' इससे श्रेष्ठ

है। इस संसार में मनुष्य मात्र अपने परिवार और उसकी सामग्री आदि के पालनार्थ कर्म करता है। किसी का भी कर्म स्वार्थ अथवा किसी न किसी निजी तृप्ति से पूर्णरूप में मुक्त नहीं है, चाहे वह अपने तक सीमित हो अथवा अधिक व्यापक ही क्यों न हो। संसिद्धि की कसौटी कृष्णभावनाभावित कर्म करना है, कर्मफल को भोगने की इच्छा से प्रेरित कर्म करना नहीं। कृष्णभावनाभावित कर्म सब जीवों का परम कर्तव्य है, क्योंकि स्वरूप से सभी श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं। शरीर के विविध अंग-प्रत्यंग सम्पूर्ण शरीर के पोषण के लिए कार्य करते हैं, स्वार्थ के लिए नहीं। इसी भाँति, जो पुरुष स्वार्थ के स्थान पर परब्रह्म की तृप्ति के लिए कर्म करता है, वह पूर्ण संन्यासी और पूर्ण योगी है।

कुछ संन्यासी मिथ्या रूप से अपने को सम्पूर्ण लौकिक कर्तव्यों से मुक्त हुआ मानकर अग्निहोत्र को त्याग देते हैं। परन्तु वास्तव में वे स्वार्थी हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य निराकार ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त करना है। प्राकृत कामनाओं से ऊपर होने मर भी यह इच्छा स्वार्थप्रेरित ही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राकृत क्रियाओं को त्याग कर अर्धमीलित नेत्रों से योगाभ्यास करने वाला भी स्वार्थ तृप्ति से प्रेरित है। कृष्णभावनाभावित भक्त ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो परमेश्वर की प्रीति के लिए निस्वार्थ भाव से कर्म करता है। अतएव उसमें स्वार्थ कामना की गन्ध तक नहीं रहती। श्रीकृष्ण के सन्तोष में ही वह अपनी सफलता मानता है। इसलिए एकमात्र वह पूर्ण योगी और पूर्ण संन्यासी है। संन्यास के परम आदर्श श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु की प्रार्थना है:

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ।।

"हे सर्वसमर्थ प्रभो! मुझे धन-सञ्चय की कोई कामना नहीं है और न ही मैं सुन्दर स्त्री अथवा बहुत से अनुयायियों का इच्छुक हूँ। जन्म-जन्मान्तर आपकी कृपामयी अहैतुकी भक्ति की ही मुझे अभिलाषा है।"

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

यम्=जिसको; **संन्यासम्**=संन्यास; **इति**=इस प्रकार; **प्राहुः**=कहते हैं; **योगम्**=योग (श्रीभगवान् से युक्त होना); **तम्**=उसे; **विद्धि**=जान; **पाण्डव**=हे पाण्डुपुत्र; **न**=कभी नहीं; **हि**=निःसन्देह; **असंन्यस्त**=त्यागे बिना; **संकल्पः**=स्वार्थ-तृप्ति को; **योगी**=योगी; **भवति**=होता; **कश्चन**=कोई।

अनुवाद

हे अर्जुन! जिसे संन्यास कहते हैं, वही योग अर्थात् परतत्त्व से युक्त होना है क्योंकि इन्द्रियतृप्ति की इच्छा को त्यागे बिना कोई भी योगी नहीं हो सकता।।२।।

तात्पर्य

सच्चे 'संन्यासयोग' अथवा 'भक्तियोग' का तात्पर्य यह है कि जीवात्मा

अपने स्वरूप को जानकर उसके अनुसार कर्म करे। जीवात्मा का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह भगवान् की तटस्था शक्ति है। मायामोहित होने पर वह बँध जाता है; दूसरी ओर, कृष्णभावनाभावित हो जाने पर, अर्थात् अपनी परा-प्रकृति ज्ञान से युक्त होते पर अपने यथार्थ और स्वाभाविक जीवन को फिर प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार का पूर्ण ज्ञानी जीव प्राकृत इन्द्रियतृप्ति के भाव को सम्पूर्ण रूप से त्याग देता है, अर्थात् इन्द्रियतृप्ति की क्रियाओं का पूर्ण रूप से संन्यास कर देता है। इसका अभ्यास विषयासक्ति से इन्द्रियों का संयम करने वाले योगी करते हैं। पर कृष्णभावनाभावित पुरुष को तो किसी ऐसे कार्य में इन्द्रियों को प्रवृत्त करने का अवसर ही नहीं मिलता, जिसका सीधा सम्बन्ध श्रीकृष्ण से न हो। इसलिए वह संन्यासी होने के साथ-साथ योगी भी है। ज्ञान और इन्द्रियनिग्रह—योग के ये दोनों प्रयोजन कृष्णभावना में अपने आप पूर्ण हो जाते हैं। जो स्वार्थप्रेरित क्रियाओं को त्याग नहीं सकता, उस मनुष्य के लिए ज्ञान अथवा योग व्यर्थ है। जीवात्मा का यथार्थ लक्ष्य स्वार्थतृप्ति को पूर्णरूप में त्याग कर भगवत्प्रीति के कार्य में लग जाना है। कृष्णभावनाभावित पुरुष में स्वार्थ की लेशमात्र अभिलाषा शेष नहीं रहती। वह तो नित्य भगवत्-प्रीति के कार्य में ही निमग्न रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिसे भगवान् का ज्ञान नहीं है, वह मनुष्य अवश्य स्वार्थतृप्ति में लगा हुआ है, क्योंकि कुछ न कुछ कर्म किए बिना कोई नहीं रह सकता। कृष्णभावनामृत के अभ्यास से इन सब प्रयोजनों की पूर्ण सिद्धि हो जाती है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

आरुरुक्षोः=योग का प्रारम्भ करने वाले; **मुनेः**=मुनि का; **योगम्**=अष्टांगयोग; **कर्म**=कर्म; **कारणम्**=कारण; **उच्यते**=कहा जाता है; **योग**=अष्टांगयोग में; **आरूढस्य**=आरुढ़ हुए; **तस्य**=उसका; **एव**=निःसन्देह; **शमः**=सम्पूर्ण प्राकृत-क्रियाओं का त्याग; **कारणम्**=हेतु; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

अष्टांगयोग के प्रारम्भिक साधक के लिए कर्म साधन कहा जाता है और योगारूढ़ साधक के लिए प्राकृत क्रियाओं को सम्पूर्ण रूप से त्याग देना हेतु कहा जाता है।।३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् से युक्त होने की पद्धति का नाम **योग** है। यह उस निःश्रेणी (सीढ़ी) के समान है, जिससे परमोच्च तत्त्व की अनुभूति होती है। जीव की सबसे अधम अवस्था से प्रारम्भ होकर यह निःश्रेणी शुद्ध परमार्थ में पूर्ण स्वरूप-साक्षात्कार तक जाती है। विविध स्तरों के अनुसार इसके सोपानों के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस सम्पूर्ण योग-सीढ़ी के तीन भाग हैं—ज्ञानयोग, ध्यानयोग तथा भक्तियोग। सीढ़ी

के पहले और अन्तिम चरण को क्रमशः **योगारुरुक्षु** और **योगारूढ** अवस्था कहा जाता है।

अष्टांगयोग की प्राथमिक अवस्था में मर्यादित जीवन तथा आसनाभ्यास द्वारा ध्यान लगाने के लिए किए जाने वाले प्रयत्न सकाम कर्म ही माने जाते हैं। इन क्रियाओं से क्रमशः इन्द्रियविजय करने के लिए पूर्ण मानसिक समता की प्राप्ति होती है। ध्यानाभ्यास की सिद्धि होने पर उद्वेगकारी मानसिक क्रियाओं का सम्पूर्ण रूप से त्याग हो जाता है।

परन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष तो श्रीकृष्ण का नित्य स्मरण करता हुआ पहले से ही ध्यानमग्न रहता है। नित्य कृष्णसेवा में लगा रहने के कारण उसे सम्पूर्ण प्राकृत-क्रियाओं का त्यागी समझा जाता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

यदा=जिस समय; **हि**=निःसन्देह; **न**=नहीं; **इन्द्रिय-अर्थेषु**=इन्द्रियतृप्ति में; **न**=नहीं; **कर्मसु**=सकाम कर्म में; **अनुषज्जते**=प्रवृत्त होता; **सर्वसंकल्प**=सम्पूर्ण विषयवासना का; **संन्यासी**=संन्यासी; **योगारूढः**=योगारूढ; **तदा**=उस समय; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो विषयवासना को सम्पूर्ण रूप से त्याग कर फिर इन्द्रियतृप्ति अथवा सकाम कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, उस पुरुष को योगारूढ़ कहते हैं।।४।।

तात्पर्य

पूर्ण रूप से भक्तियोग के परायण मनुष्य आत्मतृप्त हो जाता है, अतएव इन्द्रियतृप्ति अथवा सकाम कर्म को त्याग देता है। भक्तियोग के अभाव में वह इन्द्रियतृप्ति में अवश्य लगा रहेगा, क्योंकि कर्म किए विना कोई नहीं रह सकता। कृष्णभावनामृत के विना स्वार्थ-क्रियाओं की इच्छा बनी रहती है, चाहे वे अपने तक ही सीमित हों अथवा परिवार, राष्ट्र, विश्व आदि के विस्तारित रूपों में हों। कृष्ण-भावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही सब कुछ करता है और इस प्रकार इन्द्रियतृप्ति की ओर से पूर्ण अनासक्त वना रहता है। दूसरी ओर जिसे यह अनुभूति नहीं हुई है, उसको योग-निःश्रेणी के चरम सोपान पर आरूढ़ होने से पूर्व विषयवासना से मुक्त होने के लिए यन्त्रवत् प्रयत्न करना होगा।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

उद्धरेत्=उद्धार करे; **आत्मना**=चित्त द्वारा; **आत्मानम्**=अपने आत्मा का; **न**=कभी नहीं; **आत्मानम्**=अपने को; **अवसादयेत्**=पतन में पहुँचाए; **आत्मा**=चित्त;

एव=निःसन्देह; **हि**=ही; **आत्मनः**=बद्धजीव का; **बन्धुः**=मित्र है; **आत्मा**=चित्त; **एव**=निःसन्देह; **रिपुः**=शत्रु है; **आत्मनः**=बद्धजीव का।

अनुवाद

मनुष्य अपने मन के द्वारा अपना उद्धार करे; अपने को दुर्गति को न पहुँचाए, क्योंकि मन ही बद्धजीव का मित्र है और मन ही उसका शत्रु है।।५।।

तात्पर्य

सन्दर्भ के अनुसार **आत्मा** शब्द का प्रयोग शरीर, मन अथवा आत्मा के अर्थ में होता है। योगपद्धति में मन का विशेष महत्त्व है। यहाँ **आत्मा** शब्द से मन कहा है, क्योंकि वह योगाभ्यास का केन्द्र है। योग का प्रयोजन मन को वश में करके इन्द्रियविषयों से खींचना है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि मन को इस प्रकार साधना चाहिए जिससे वह अज्ञानसागर से बद्धजीव का उद्धार कर सके। भवरोग से पीड़ित प्राणी मन-इन्द्रियों के आधीन है। वास्तव में प्रकृति पर प्रभुत्व करने विषयक मन के मिथ्या अहंकार के कारण ही शुद्ध जीव जड़जगत् में बँधता है। अतः मन को इस प्रकार शिक्षा देनी चाहिए कि वह माया की मिथ्या चमक-दमक की ओर आकृष्ट न हो और बद्धजीव का उद्धार हो सके। इन्द्रियविषयों में आसक्त हो कर अपना अधःपतन नहीं करना चाहिएं। विषयों में जितना अधिक आकर्षण होगा, उतना ही संसार अधिक बन्धनकारी होगा। मोक्ष का सर्वोत्तम पथ यह है कि चित्त से निरन्तर कृष्णभावनामृत में निमग्न रहे। हि पद का प्रयोग इसी बात पर बल देने के लिए किया गया है; अर्थात् ऐसा अवश्य-अवश्य करना चाहिए।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगो मुक्त्यै निर्विषयं मनः।।

'मन ही मनुष्य के बन्धन-मोक्ष का कारण है। इन्द्रियविषयों में डूबा मन बंधनकारी है और विषयों से अनासक्त होने पर वही मन मुक्ति का हेतु है।' अतः निरन्तर कृष्णभावनामृत में तन्मय मन परम मोक्ष का कारण सिद्ध होता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

बन्धुः=मित्र है; **आत्मा**=मन; **आत्मनः**=जीवात्मा का; **तस्य**=उसका; **येन**=जिसके द्वारा; **आत्मा**=मन; **एव**=निःसन्देह; **आत्मना**=जीवात्मा द्वारा; **जितः**=वश में है; **अनात्मनः**=जिसके द्वारा मन को वश में नहीं किया है, उसका; **तु**=किन्तु; **शत्रुत्वे**=शत्रुता में; **वर्तेत**=रहता है; **आत्मा एव**=वही मन; **शत्रुवत्**=शत्रु की भाँति।

अनुवाद

जिसने मन को वश में कर लिया है, उसके लिए मन सर्वश्रेष्ठ बन्धु है, और जिसने मन को वश में नहीं किया है, उसका मन ही परम शत्रु है।।६।।

तात्पर्य

अष्टांगयोग के अभ्यास का प्रयोजन मन को वश में करना है, जिससे मानव योनि की प्रयोजनसिद्धि में वह बन्धु का सा कार्य करे। मन का संयम किए विना योगाभ्यास करना समय का केवल नाश है। मन को वश में न कर सकने वाला निरन्तर अपने परम शत्रु के साथ रहता है। इस प्रकार उसका जीवन और लक्ष्य, दोनों नष्ट हो जाते हैं। जीव का स्वरूप स्वामी की आज्ञा का पालन करना है। अतः जब तक चित्त न जीता हुआ शत्रु है, तब तक उसे काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। परन्तु मन के संयमित हो जाने पर परमात्मा रूप से हृदय में विराजमान श्रीभगवान् की आज्ञा-पालन में वह अपने-आप प्रवृत्त हो जाता है। हृदय में परमात्मा से संयोग कर उनका आज्ञा-पालन करना ही सच्चा योगाभ्यास है। जो साक्षात् कृष्णभावनामृत के आश्रित हो जाता है, भगवत्-आज्ञा के प्रति उसकी पूर्ण शरणागति अपने-आप सिद्ध हो जाती है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

जित आत्मनः=जीते हुए मन वाले; **प्रशान्तस्य**=शान्त पुरुष के लिए **परमात्मा**=परमात्मा; **समाहितः**=पूर्णरूप से प्राप्त है; **शीत**=सर्दी, **उष्ण**=गर्मी; **सुख**=सुख; **दुःखेषु**=दुःख में; **तथा**=और; **मान**=सम्मान; **अपमानयोः**=अपमान में।

अनुवाद

जीते हुए मन वाले को परमात्मा नित्य प्राप्त हैं, क्योंकि वह शान्तिलाभ कर चुका है। ऐसे पुरुष के लिए सुख-दुःख, शीत-ताप, मान-अपमान आदि एक समान हो जाते हैं।।७।।

तात्पर्य

परमात्मा के रूप में सब जीवों के हृदय में बैठे श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन करना ही जीवमात्र का सच्चा लक्ष्य है। जब मन बहिरंगा माया शक्ति से मोहित हो जाता है, तब जीव जड़ क्रियाओं के बन्धन में पड़ जाता है। अतः जैसे ही किसी एक योगपद्धति के द्वारा मन वश में आता है, वैसे ही उसे लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा जानना चाहिए। जीव के लिए भगवत्-आज्ञा का पालन अनिवार्य है। परा प्रकृति पर मन के एकाग्रित हो जाने पर तो भगवत्-आज्ञा को शिरोधार्य और कार्यान्वित करने के अतिरिक्त जीव के लिए कोई विकल्प ही नहीं रहता। मन को तो किसी न किसी उच्च आदेश को मानकर उसका पालन करना है। अतः मन का संयम होने पर जीव स्वाभाविक रूप में परमात्मा का आज्ञा-पालन करता है। कृष्णभावनाभावित भक्त को यह स्थिति बिना विलम्ब सुलभ हो जाती है। इसी से वह सुख-दुःख, शीत-ताप आदि सांसारिक द्वन्द्वों से प्रभावित नहीं होता। यह अवस्था आचारात्मक समाधि अथवा परतत्त्व में निमग्नता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

ज्ञान=संचित ज्ञान; **विज्ञान**=अनुभूत ज्ञान में; **तृप्त**=सन्तुष्ट; **आत्मा**=जीवात्मा; **कूटस्थः**=आत्मतत्त्व में स्थित; **विजितेन्द्रियः**=जितेन्द्रिय; **युक्तः**=स्वरूपसाक्षात्कार के योग्य; **इति**=इस प्रकार; **उच्यते**=कहा जाता है; **योगी**=योगी; **सम**=समदृष्टि वाला; **लोष्ट**=मिट्टी; **अश्म**=पत्थर; **काञ्चनः**=स्वर्ण (में)।

अनुवाद

ज्ञान-विज्ञान से तृप्त पुरुष को आत्मज्ञानी योगी कहा जाता है। ब्रह्मतत्त्व में स्थित ऐसा जितेन्द्रिय मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण आदि पदार्थों में समभाव रखता है।।८।।

तात्पर्य

परतत्त्व की अनुभूति से शून्य पुस्तकीय ज्ञान की कोई सार्थकता नहीं है। शास्त्र (पद्मपुराण) में उल्लेख है:

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ।।

'सांसारिक विकारमयी कुंठित इन्द्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीलादि के दिव्य स्वरूप को नहीं जाना जा सकता। परन्तु भगवत्सेवा में निमग्न हो जाने पर श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण तथा लीला के चिन्मय स्वरूप की अपने-आप अनुभूति हो जाती है।'

यह श्रीमद्भगवद्गीता कृष्णभावनामृत का अनुपम विज्ञान है। केवल लौकिक विद्वत्ता से कृष्णभावनामृत की प्राप्ति नहीं होती। इसके लिए शुद्धहृदय भक्त का सत्संग आवश्यक है। श्रीकृष्णकृपा से कृष्णभावनाभावित महात्मा को तत्त्व का साक्षात्कार सुलभ हो जाता है, क्योंकि वह शुद्ध भक्तियोग से परितृप्त है। विज्ञान से कृतार्थता तथा दिव्य ज्ञान से दृढ़ निष्ठा होती है जबकि केवल पुस्तकीय ज्ञान से तो बाह्य विरोधाभासों द्वारा मोहित तथा भ्रमित हो जाना बड़ा सरल है। श्रीकृष्ण का शरणागत तत्त्वानुभवी जीव ही वास्तव में आत्मसंयमी है। वह माया-मुक्त हो जाता है, लौकिक विद्वत्ता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। औरों के लिए लौकिक विद्वत्ता और मनोधर्मी सोने के समान उत्तम हो सकती है; परन्तु श्रीकृष्ण-भक्त के लिए तो इनका मूल्य कंकड़-पत्थर से कुछ भी अधिक नहीं है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

सुहृद्=स्वार्थरहित हितैषी; **मित्र**=स्नेहमय हितकारी; **अरि**=शत्रु; **उदासीन**=शत्रुओं में तटस्थ; **मध्यस्थ**=शत्रुओं में पँच; **द्वेष्य**=ईर्ष्यालु; **बन्धुषु**=संबन्धियों में;

साधुषु=साधुओं में; **अपि**=भी; **च**=तथा; **पापेषु**=पापात्माओं में; **समबुद्धिः**=समान-बुद्धिवाला; **विशिष्यते**=विशेष है।

अनुवाद

सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, ईर्ष्यालु, पुण्यात्मा और पापात्मा में भी जिसकी समबुद्धि हो उसे विशेष उत्तम जानना चाहिए।।९।।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

योगी=योगी; **युञ्जीत**=कृष्णभावनामृत में एकाग्र रखे; **सततम्**=निरन्तर; **आत्मानम्**=अपने को (देह, चित्त और आत्मा से); **रहसि**=निर्जन स्थान में; **स्थितः**=रहे; **एकाकी**=अकेला; **यतचित्तात्मा**=सदा सचेत; **निराशीः**=किसी अन्य वस्तु की ओर आकृष्ट हुए बिना; **अपरिग्रहः**=संग्रह-भाव से मुक्त।

अनुवाद

योगी अपना चित्त परमात्मा विष्णु पर ही एकाग्र करने का निरन्तर प्रयत्न करे; उसे एकान्त में रहकर सावधानीपूर्वक मन को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार कामनाओं और संग्रह के भाव से मुक्त हो जाय।।१०।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की अनुभूति ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्, इन तीन रूपों में उत्तरोत्तर अधिक होती है। कृष्णभावनामृत का सार निरन्तर भगवत्सेवा में संलग्न रहना है। निर्विशेष ब्रह्म और एकदेशीय परमात्मा में आसक्त साधक भी एक अंश में कृष्णभावनाभावित हैं, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म श्रीकृष्ण की चिन्मय अंग-कांति है और परमात्मा श्रीकृष्ण के ही सर्वव्यापक अंश हैं। अतएव निर्विशेषवादी और ध्यानयोगी भी अप्रत्यक्ष रूप में कृष्णभावनाभावित हैं। फिर भी, यह मानना होगा कि जो सीधे-सीधे कृष्णभावनाभावित हो गया है, वह भक्त ही परम योगी है, क्योंकि वही ब्रह्म और परमात्मा के तत्त्व को वास्तव में जानता है। भक्त को परतत्त्व का पूर्ण ज्ञान रहता है, जबकि निर्विशेषवादी अथवा ध्यानयोगी पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित नहीं होता।

उपरोक्त सभी प्रकार के साधकों को अपने-अपने कार्यकलापों में निरन्तर लगे रहने की अनुमति दी गई है, जिससे वे यथासमय परमसिद्धि-लाभ कर सकें। योगी का प्रथम कर्तव्य चित्त को सदा श्रीकृष्ण में एकाग्र रखना है। श्रीकृष्ण का चिन्तन नित्य बना रहे, क्षणमात्र के लिए भी उनका विस्मरण कभी न हो। भगवान् श्रीकृष्ण में इस मनोयोग का नाम ही 'समाधि' है। मनोयोग के लिए नित्य एकान्तसेवन करता हुआ बाह्य विषय रूपी उपद्रवों से दूर रहे। योगी को चाहिए कि वह यथाशक्ति पूर्ण प्रयास के साथ अपने साध्य-साधन के लिए अनुकूल परिस्थितियों को ग्रहण करे और प्रतिकूलताओं को त्याग दे। उसे पूर्ण निश्चयपूर्वक चित्त को अनावश्यक भोगों के लिए लालायित नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि ये परिग्रहभाव के रूप में बन्धनकारी सिद्ध होते हैं।

· इन सब साधनों और सतर्कताओं का पूर्ण पालन वही कर सकता है जो साक्षात् कृष्णभावना से युक्त हो, क्योंकि कृष्णभावनामृत का अर्थ आत्मोत्सर्ग है। ऐसे त्याग में विषयों के संग्रह की सम्भावना नहीं रहती। श्रील रूप गोस्वामिचरण ने कृष्णभावनामृत की व्याख्या इस प्रकार की है:

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसंबन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते।।
प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते।।

'पदार्थासक्ति से विल्कुल मुक्त होने पर भी जो पुरुष श्रीकृष्ण से सम्बन्धित, अर्थात् श्रीकृष्ण की सेवा के लिए किसी भी वस्तु को स्वीकार कर लेता है, उसी का वैराग्य सच्चा है। दूसरी ओर, जो श्रीकृष्ण से उनका सम्बन्ध जाने बिना सब पदार्थों को त्याग देता है, उसका वैराग्य तुच्छ है। (भक्तिरसामृतसिन्धु, २.२५५-२५६)

कृष्णभावनाभावित भक्त भलीभाँति जानता है कि सब पदार्थ श्रीकृष्ण की सम्पत्ति हैं। इस कारण वह स्वामीपन के भाव से सदा मुक्त रहता है। अपने लिए उसे किसी भी पदार्थ की लालसा नहीं रहती। कृष्णभावनामृत के अनुकूल वस्तुओं को ग्रहण करने और प्रतिकूल वस्तुओं को त्यागने की परिपाटी में वह कुशल होता है; नित्य योगी होने के रूप में विषयभोगों के प्रति सदा उदासीन रहता है और कृष्णभावनाशून्य व्यक्तियों से कोई प्रयोजन न होने से नित्य एकान्तवास करता है। इस सबसे स्पष्ट है कि कृष्णभावनाभावित भक्त पूर्ण योगी है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

शुचौ=पवित्र; **देशे**=भूमि में; **प्रतिष्ठाप्य**=स्थापित करके; **स्थिरम्**=दृढ़; **आसनम्**=आसन; **आत्मनः**=आत्मनिर्भर; **न**=न; **अति**=अधिक; **उच्छ्रितम्**=ऊँचा; **न**=न; **अति**=अति; **नीचम्**=नीचा; **चैलाजिन**=मृदु वस्त्र एवं मृगछाल; **कुशोत्तरम्**=कुशा; **तत्र**=उस पर; **एकाग्रम्**=एकाग्र; **मनः**=मन को; **कृत्वा**=करके; **यतचित्तेन्द्रियक्रियः**=चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को वश में करके; **उपविश्य**=बैठकर; **आसने**=आसन पर; **युञ्ज्यात्**=अभ्यास करे; **योगम्**=योग का; **आत्म**=हृदय की; **विशुद्धये**=शुद्धि के लिए।

अनुवाद

योगाभ्यास के लिए एकान्त में जाकर भूमि पर क्रमशः कुशा, मृगछाल तथा मृदु

वस्त्र बिछाए। पवित्र स्थान में स्थित ऐसा आसन न तो अधिक ऊँचा हो और न अति नीचा हो। इसके बाद उस पर दृढ़तापूर्वक बैठकर योगी मन-इन्द्रियों को वश में करके हृदय की शुद्धि के लिए मन की एकाग्रता के साथ योग का अभ्यास करे।।११-१२।।

तात्पर्य

पवित्र देश शब्द तीर्थस्थानों का वाचक है। प्रायः सब योगी और भक्त गृहत्याग कर प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, हृषीकेश एवं हरिद्वार जैसे तीर्थों में निवास करते हुए गंगा-यमुना आदि नदियों के एकान्त तट पर योगाभ्यास करते हैं। पर आज प्रायः ऐसा करना साध्य नहीं रहा है। महानगरों के नामधारी योगसंघ भोगप्राप्ति में तो सफल हो सकते हैं, परन्तु सच्ची योगसाधना के लिए वे बिल्कुल अनुपयुक्त हैं। उद्विग्न चित्तवाला असंयमी ध्यान का अभ्यास कैसे कर सकेगा? अतः बृहन्नारदीय पुराण के अनुसार वर्तमान कलिकाल में, जबकि लोग प्रायः अल्पायु हैं, भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मन्द हैं और नित्य नाना उपद्रवों से पीड़ित रहते हैं, भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन हरे कृष्ण महामन्त्र का संकीर्तन करना है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।

'कलह और दम्भाचरण के इस युग में मुक्ति का एकमात्र साधन हरेकृष्ण महामन्त्र का संकीर्तन करना है। कलिकाल में अन्य कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

समम्=सीधा; **कायशिरः**=देह-सिर; **ग्रीवम्**=गले को; **धारयन्**=धारण करते हुए; **अचलम्**=अविचलित; **स्थिरः**=सुस्थिर; **संप्रेक्ष्य**=देखते हुए; **नासिका**=नासिका के; **अग्रम्**=अग्रभाग में; **स्वम्**=अपनी; **दिशः**=सब दिशाओं (को); **च**=तथा; **अनवलोकयन्**=न देखते हुए; **प्रशान्त**=शान्त; **आत्मा**=मन वाला; **विगतभीः**=भयमुक्त; **ब्रह्मचारिव्रते**=ब्रह्मचर्यव्रत में; **स्थितः**=स्थित; **मनः**=चित्त को; **संयम्य**=पूर्णतया संयमित करके; **मत्**=मुझ में; **चित्तः**=चित्त वाला; **युक्तः**=यथार्थ योगी; **आसीत**==स्थित हो; **मत्**=मेरे; **परः**=परायण।

अनुवाद

शरीर, गले और सिर को सीधा धारण करके नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को एकाग्र करना चाहिए। इस प्रकार, मैथुन से पूर्ण मुक्त होकर, शान्त, संयमित और भयशून्य मन से हृदय में मेरा ध्यान करते हुए मेरे परायण हो जाय, मुझे ही जीवन का परम लक्ष्य बना ले।।१३-१४।।

तात्पर्य

जीवन का लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण को जानना है, जो चतुर्भुज विष्णु रूप से प्राणीमात्र के हृदय में अभिराजित हैं। योगपद्धति का अभ्यास केवल इस एकदेशीय विष्णुरूप की प्राप्ति के लिए किया जाता है, किसी अन्य प्रयोजन से नहीं। जीव-हृदय में स्थित विष्णु श्रीकृष्ण के अंश हैं। इस विष्णुमूर्ति की प्राप्ति के अतिरिक्त जो किसी दूसरे उद्देश्य से कपट-योग के परायण है, वह निस्सन्देह अपने समय का अपव्यय कर रहा है। श्रीकृष्ण जीवन के परमोच्च लक्ष्य हैं और योगाभ्यास का उद्देश्य हृदय में स्थित विष्णुमूर्ति है। हृदय में विष्णुमूर्ति की उपलब्धि के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन अनिवार्य है। इसके लिए योगी के लिए गृहत्याग कर पूर्वोक्त विधि से एकान्त में निवास करना उपयुक्त होगा। जो घर में अथवा घर के बाहर नित्य मैथुन का आनन्द लेता है, वह नामधारी योगकक्षा में जाने मात्र से योगी नहीं बन सकता। यह आवश्यक है कि मन को वश में करके मैथुनादि विषयभोगों को त्याग दिया जाय। ब्रह्मचर्यव्रत के सन्दर्भ में महर्षि याज्ञवल्क्य का मन्तव्य इस प्रकार है:

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते।।

'सदा-सर्वदा, सब परिस्थितियों में मन, वचन और कर्म से मैथुन का पूर्ण त्याग ब्रह्म-चर्य कहलाता है।' मैथुन में लगा व्यक्ति यथार्थ योगाभ्यास की साधना नहीं कर सकता। इसलिए वैदिक संस्कृति में बाल्यकाल से ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी जाती है, जब मैथुन का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। पाँच वर्ष की आयु में बालकों को गुरुकुल भेजा जाता है, जहाँ गुरुदेव उन्हें ब्रह्मचर्य के दृढ़ संयम में शिक्षित करते हैं। ऐसे अभ्यास के अभाव में ध्यान, ज्ञान अथवा भक्ति आदि किसी भी योगपद्धति में प्रगति नहीं हो सकती। वैवाहिक जीवन के विधि-विधान के अनुसार केवल अपनी स्त्री के साथ मर्यादित संभोग करने वाला भी ब्रह्मचारी है। ऐसे संयमी गृहस्थ को भक्ति सम्प्रदाय अंगीकार कर लेता है, पर ज्ञान तथा ध्यान के वर्ग ऐसे गृहस्थ को भी स्थान नहीं देते। उनके लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। भक्ति-सम्प्रदाय में गृहस्थ के लिए मर्यादित मैथुन की अनुमती है, क्योंकि भक्तियोग की पद्धति इतनी बलवती है कि दिव्य भगवत्सेवा में सतत निमग्नता से मैथुन का आकर्षण अपने-आप दूर हो जाता है। भगवद्गीता में कहा है:

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

एक ओर जहाँ अभक्त को विषयभोग से आत्मसंयम करना पड़ता है, दूसरी ओर, दिव्य भगवद्रसास्वादन को प्राप्त करके भगवद्भक्त इन्द्रियतृप्ति से अपने-आप विरत हो जाते हैं। भक्त के अतिरिक्त किसी दूसरे को उस अनुपमेय रस की जानकारी नहीं है।

विगतभीः पूर्ण कृष्णभावनाभावित हुए बिना निर्भयता नहीं हो सकती।

बद्धजीव अपनी विकृत स्मृति अर्थात् श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाने के कारण ही सदा भयभीत रहता है। श्रीमद्भागवत का कथन है: **भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः** कृष्णभावनामृत भय-मुक्ति का एकमात्र आधार है। अतः कृष्णभावनाभावित भक्त योग का पूर्ण अभ्यास कर सकता है। योग का परमलक्ष्य अन्तर्यामी श्रीकृष्ण का दर्शन करना है। इसलिए निस्सन्देह. कृष्णभावनाभावित भक्त सर्वोत्तम योगी है। ध्यान रहे, यहाँ प्रतिपादित योग के सिद्धान्त जनसाधारण में लोकप्रिय योगसंघों की पद्धति से भिन्न हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

युञ्जन्=अभ्यास करता हुआ; **एवम्**=इस प्रकार; **सदा**=निरन्तर; **आत्मानम्**=शरीर, मन एवं आत्मा को; **योगी**=योगाभ्यासी; **नियत मानसः**=जीते हुए मन वाला; **शान्तिम्**=शान्ति को; **निर्वाणपरमाम्**=भवरोग की समाप्तिरूप; **मत्संस्थाम्**=परव्योम में स्थित भगवद्धाम को; **अधिगच्छति**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

इस प्रकार देह, मन और क्रियाओं के संयम का निरन्तर अभ्यास करने से योगी का भवरोग शान्त हो जाता है और वह मेरे धाम को प्राप्त होता है।।१५।।

तात्पर्य

यहाँ योग के अन्तिम लक्ष्य को स्पष्ट किया गया है। योगाभ्यास का प्रयोजन किसी भोगसुविधा की उपलब्धि कराना नहीं है; अपितु सम्पूर्ण भवरोग की निवृत्ति ही उसका लक्ष्य है। योगाभ्यास द्वारा स्वास्थ्य-सुधार अथवा लौकिक सिद्धि का अभिलाषी भगवद्गीता के मत में योगी नहीं है। साथ ही, भवरोग के शान्त होने का अर्थ कपोलकल्पित शून्य में प्रविष्ट होना भी नहीं है। भगवान् की सृष्टि में शून्य नाम की वस्तु कहीं नहीं है। भवरोग की निवृत्ति से तो परव्योम में स्थित भगवद्धाम में प्रवेश प्राप्त होता है। भगवद्धाम का भगवद्गीता में स्पष्ट वर्णन है: उस वैकुण्ठधाम में सूर्य, चन्द्रमा अथवा अग्नि की कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ के सब वैकुण्ठ नामक लोक प्राकृत आकाश के सूर्य के समान ही स्वयंप्रकाश हैं। भगवान् का राज्य सर्वव्यापक है; परन्तु परव्योम और उसमें स्थित वैकुण्ठ-लोकों को ही परमधाम कहा जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व का मर्मज्ञ पूर्णयोगी, जिसे स्वयं श्रीभगवान् ने यहाँ **मच्चित्त, मत्पर, मत्स्थानम्** कहा है, सच्ची शान्तिलाभ कर अन्त में कृष्णलोक अथवा गोलोक वृन्दावन नामक उनके परम धाम में प्रवेश के योग्य हो जाता है। ब्रह्मसंहिता में स्पष्ट कहा है: **गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः**, अर्थात् नित्य गोलोकविहारी श्रीभगवान् आपनी पराशक्ति के प्रताप से सर्वव्यापक ब्रह्म तथा एकदेशीय परमात्मा के रूप में भी लीलायमान हैं। श्रीकृष्ण और उनके अंश विष्णु के पूर्णज्ञान के बिना परव्योम अथवा नित्य भगवद्धाम वैकुण्ठ या

गोलोक वृन्दावन में किसी का भी प्रवेश नहीं हो सकता। कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला पूर्ण योगी है, क्योंकि उसका चित्त अनुक्षण कृष्णलीलामृत-कल्लोलिनी में निमज्जित रहता है। **स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः**। वेदों में भी यही कहा है। **तमेव विदित्वातिमृत्युमेति** : जन्म-मृत्यु के चक्र की निवृत्ति का एकमात्र साधन भगवान् श्रीकृष्ण को जान लेना है। सारांश यह है कि योगपद्धति की सफलता भवरोग से मुक्ति कराने में है, मायावी चातुर्य अथवा उछल-कूद की प्रवणता से अबोध जनता को ठगने में नहीं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

न=न; **अति**=अधिक; **अश्नतः**=खाने वाले का; **तु**=तो; **योगः**=श्रीभगवान् से योग; **अस्ति**=होता है; **न**=नहीं; **च**=तथा; **एकान्तम्**=बिल्कुल; **अनश्नतः**=भोजन न करने वाले का; **न**=नहीं; **च**=तथा; **अति**=अत्यधिक; **स्वप्नशीलस्य**=सोने वाले का; **जाग्रतः**=(अथवा) जो रात्रि में अधिक जागता है, उसका; **न**=नहीं; **एव**=ही; **च**=तथा; **अर्जुन**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन ! अधिक भोजन करने वाले अथवा बहुत कम खाने वाले के लिए, अधिक सोने अथवा अधिक जाग्रत रहने वाले के लिए योगी बनना सम्भव नहीं है।।१६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में योगियों के लिए भोजन और निद्रा को नियमित करने का कारण दिखाया गया है। अधिक भोजन का अर्थ है प्राणधारण की आवश्यकता से अधिक अन्न-ग्रहण करना। अन्न, शाक, फल और दुग्धादि खाने योग्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं; अतः मनुष्य के लिए माँसाहार सब प्रकार से अनावश्यक है। भगवद्गीता में अन्नादि पदार्थों को सात्त्विक कहा है। माँस तमोगुणी मनुष्यों के योग्य है। माँस, मदिरा, धूम्रपान तथा श्रीकृष्ण को अर्पण (भोग) करने के अयोग्य पदार्थों का सेवन करने वाले आहार-दोष के फलस्वरूप निस्सन्देह पापकर्म के बंधन में पड़ जायेंगे। **भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्**। अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए भोजन बनाने वाला अथवा श्रीकृष्ण को भोग न लगाने वाला केवल पाप खाता है। जो पापमय भोजन करता है अथवा अपने अधिकार से अधिक सामग्री को भोगता है वह कल्याणकारी योग का अभ्यास नहीं कर सकता। केवल श्रीकृष्ण-प्रसाद खाना सर्वश्रेष्ठ विधि है। कृष्णभावनाभावित भक्त ऐसी कोई वस्तु कभी नहीं खाता, जिसको पहले श्रीकृष्ण के अर्पण न कि गया हो। अतः केवल कृष्णभावनाभावित पुरुष ही योगाभ्यास की संसिद्धि को प्राप्त कर सकता है। वह मनुष्य भी योग का अभ्यास नहीं कर सकता जो मनमानी विधि से उपवास करता हो। कृष्णभावनाभावित भक्त शास्त्र के अनुसार व्रतधारण

करता है। वह आवश्यकता से अधिक न तो भोजन करता है और न उपवास ही, इसलिए योगाभ्यास के लिए सब प्रकार से योग्य है। अतिभोजी को स्वप्न भी अधिक आते हैं, जिससे वह आवश्यकता के अधिक समय निद्रामग्न रहता है। दिन में छः घण्टे से अधिक सोने वाला अवश्य तमोगुणी है। तमोगुणी व्यक्ति मन्द और अत्यधिक निद्रोन्मुखी होता है। ऐसा मनुष्य योग का अभ्यास नहीं कर सकता।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

युक्त=नियमित; आहार=भोजन; **विहारस्य**=विहार करने वाले का; **युक्त**=नियमित; **चेष्टस्य**=शरीर-निर्वाह के लिए प्रयत्न करने वाले का; **कर्मसु**=कर्तव्य-पूर्ति में; **युक्त**=नियमित; **स्वप्न अवबोधस्य**=सोने और जागने वाले का; **योगः**=योगाभ्यास; **भवति**=होता है; **दुःखहा**=दुःखों का नाश करने वाला।

अनुवाद

जो यथायोग्य आहार, निद्रा, कर्म और विहार करता है, वही योगाभ्यास के द्वारा सम्पूर्ण सांसारिक दुःखों से मुक्त हो सकता है।।१७।।

तात्पर्य

आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि शारीरिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में उच्छृंखलता योगाभ्यास की प्रगति में बाधक सिद्ध हो सकती है। खाना तभी संयमित हो सकता है जब केवल भगवत्प्रसाद ग्रहण किया जाय। भगवद्गीता (९.२६) के अनुसार अन्न, शाक, फल, फूल तथा दुग्ध आदि पदार्थ भगवान् श्रीकृष्ण को अर्पण करने योग्य हैं। इस प्रकार कृष्णभावनाभावित भक्त को मानव के अयोग्य राजसी और तामसी भोजन ग्रहण न करने की शिक्षा अपने-आप मिल जाती है। जहाँ तक निद्रा का सम्बन्ध है, कृष्णभावनाभावित भक्त अपने कृष्णभावनामय कर्तव्यों के पालन में सदा सचेत रहता है। अतः निद्रा में आवश्यकता से अधिक समय के व्यय को वह महान् हानि मानता है। वह जीवन का एक भी क्षण भगवत्सेवा के बिना नहीं बिता सकता इसलिए कम से कम सोता है। इस सन्दर्भ में उसके आदर्श श्रील रूप गोस्वामी हैं, जो सदा-सर्वदा कृष्णसेवामृत में तन्मय रहते हुए दो घण्टे से अधिक और कभी-कभी तो इतना भी नहीं सोते थे। क्षणभर के लिए सोना तो दूर, नामाचार्य ठाकुर हरिदास तो प्रतिदिन तीन लाख बार भगवन्नाम का जप किये बिना प्रसाद भी ग्रहण नहीं करते थे। जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, कृष्णभावनाभावित महात्मा ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जो श्रीकृष्ण के मन के अनुकूल न हो। इस प्रकार मर्यादित हुए उसके कर्म इन्द्रियतृप्ति से कलुषित नहीं होते। इन्द्रियतृप्ति को स्थान न होने से कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए किसी भी प्रकार का इन्द्रिय-सुख असम्भव हो जाता है। वह अपने कर्म, वाणी, निद्रा, जागृति तथा अन्य सब शारीरिक क्रियाओं में मर्यादित रहता है; इसलिए उसे कभी किसी लौकिक दुःख की प्राप्ति नहीं होती।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

यदा=जिस काल में; **विनियतम्**=विशेष रूप से वश में हुआ; **चित्तम्**=अपने कार्यों सहित मन; **आत्मनि**=परतत्त्व में; **एव**=ही; **अवतिष्ठते**=स्थित हो जाता है; **निःस्पृहः**=स्पृहामुक्त; **सर्व**=सब प्रकार की; **कामेभ्यः**=कामनाओं से; **युक्तः**=योग में भलीभाँति स्थित; **इति**=इस प्रकार; **उच्यते**=कहा जाता है; **तदा**=उस समय।

अनुवाद

जिस काल में योगी योग के अभ्यास से चित्त को वश में करके दिव्य तत्त्व में ही भलीभाँति स्थिर हो जाता है, तब उस सम्पूर्ण कामनाओं से मुक्त पुरुष को योगयुक्त कहा जाता है।।१८।।

तात्पर्य

साधारण मनुष्यों की तुलना में योगी की क्रियाओं में यह विशेषता है कि वह मैथुन आदि सब प्रकार की प्राकृत इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। पूर्ण योगी की मनःक्रिया इतनी संयमित हो जाती है कि वह किसी भी विषय वासना से उद्विग्न नहीं हो सकता। यह सिद्ध अवस्था कृष्णभावनाभावित भक्तों को अपने आप प्राप्त हो जाती है, जैसा श्रीमद्भागवत (९.४.१८-२०) में उल्लेख है:

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठ गुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये।।
मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्र स्पर्शेऽगसंगमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते।।
पादौ हरेः क्षेत्र पदानुसर्पणे शिरो हृषीकेश-पदाभिवदने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः।।

'महाराज अम्बरीष ने सबसे पहले अपने मन को श्रीकृष्ण के चरणकमलों में एकाग्र किया; फिर, क्रमशः वाणी को श्रीकृष्ण के गुणानुवाद में लगाया, हरि मन्दिर का मार्जन करने में हाथों को, भगवान् अच्युत की परम पावन लीलाकथा के हृत्कर्ण रसायन श्रवण में कानों को तथा भगवत्-मूर्तिदर्शन में नेत्रों को नियुक्त किया। वे त्वचा से भक्तों का स्पर्श करते, नासिका से कृष्णपादार्पित पुष्पों और तुलसी की सौरभ-ग्रहण करते, रसना से कृष्णचरणार्पित प्रसाद चखते, चरणों से कृष्णमन्दिरों और तीर्थों की यात्रा तथा सिर से श्रीकृष्ण की वन्दना करते थे। अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को उन्होंने भगवत्सेवा में लगा दिया था। ये सभी दिव्य कर्म सब प्रकार से शुद्ध भगवद्भक्त के योग्य हैं।'

निराकारवादियों के लिए इस दिव्य अवस्था का वर्णन असम्भव सा हो सकता है, पर कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए यह बड़ी सुगम और व्यावहारिक है, जैसा महाराज अम्बरीष के कार्यकलापों के वर्णन से स्पष्ट है। नित्य भगवत्स्मरण द्वारा जब

तक चित्त श्रीकृष्णचरणारविन्द में एकाग्र नहीं हो जाये, तव तक दिव्य भगवत्सेवा में ऐसी तत्परता नहीं हो सकती। भक्तिपथ में इन विहित क्रियाओं को **अर्चना**, अर्थात् भगवत्सेवा में सव इन्द्रियों को नियोजित करना कहते हैं। इन्द्रियों तथा मन को कुछ न कुछ कार्य अवश्य चाहिए। इसलिए केवल प्रतिषेध सफल नहीं हो सकता। सामान्य जनता के लिए, विशेषतः उनके लिए जो संन्यासाश्रम में नहीं हैं, पूर्ववर्णित विधि से इन्द्रियों और मन को भगवत्सेवा में लगाना भगवत्प्राप्ति का सिद्धि पथ है। भगवद्गीता में इसी को युक्त कहा गया है।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

यथा=जिस प्रकार; **दीपः**=दीपक; **निवातस्थः**=वायुरहित स्थान में स्थित; **न**=नहीं; **इंगते**=चलायमान होता; **सा उपमा स्मृतः**=वही उपमा कही गयी है; **योगिनः**=योगी के; **यतचित्तस्य**=जीते हुए चित्त की; **युञ्जतः**=निरन्तर तत्पर; **योगम्**=ध्यान में; **आत्मनः**=दिव्य तत्त्व के।

अनुवाद

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता, उसी भाँति संयतचित्त योगी नित्य दिव्य आत्मतत्त्व के ध्यान में एकाग्र रहता है।।१९।।

तात्पर्य

दिव्यतत्त्व में निरन्तर तन्मय रहने वाला यथार्थ कृष्णभावनाभावित पुरुष अपने आराध्यपद भगवान् श्रीकृष्ण के निरन्तर अचल ध्यान में उसी प्रकार स्थिर रहता है, जैसे वायुरहित स्थान में दीपक।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।।२३।।

यत्र=जिस अवस्था में; **उपरमते**=दिव्य आनंद की अनुभूति होती है; **चित्तम्**=मन को; **निरुद्धम्**=विषयों से निवृत्त; **योगसेवया**=योग के अभ्यास द्वारा; **यत्र**=जव; **च**=तथा; **एव**=निःसन्देह; **आत्मना**=शुद्ध चित्त से; **आत्मानम्**=आत्म-स्वरूप की; **पश्यन्**=स्थिति का अनुभव करता हुआ; **आत्मनि**=आत्म-स्वरूप में; **तुष्यति**=संतुष्ट रहता है; **सुखम्**=सुख; **आत्यन्तिकम्**=परम; **यत्**=जो; **तत्**=वह;

बुद्धि=मनीषा द्वारा; **ग्राह्यम्**=ग्रहणीय; **अतीन्द्रियम्**=इन्द्रियों से परे; **वेत्ति**=जानता है; **यत्र**=जिस अवस्था में; **न**=नहीं; **च**=तथा; **एव**=निःसंदेह; **अयम्**=यह योगी; **स्थितः**=स्थित हुआ; **चलति**=विचलित होता; **तत्त्वतः**=तत्त्व से; **यम्**=जिसे; **लब्ध्वा**=प्राप्त होकर; **च**=तथा; **अपरम्**=अन्य कोई; **लाभम्**=लाभ; **मन्यते**=मानता; **न**=नहीं; **अधिकम्**=अधिक (श्रेष्ठ); **ततः**=उससे; **यस्मिन्**=जिसमें; **स्थितः**=स्थित होने पर; **न**=नहीं; **दुःखेन**=दुःख द्वारा; **गुरुणा अपि**=बड़े से बड़े; **विचाल्यते**=चलायमान होता; **तम्**=उसे; **विद्यात्**=जानना चाहिए; **दुःखसंयोग**=सांसारिक संसर्ग से उत्पन्न दुःख को; **वियोगम्**=दूर करने वाले; **योगसंज्ञितम्**=योगरूप समाधि।

अनुवाद

योग की पूर्ण अवस्था को समाधि कहते हैं, जब योगाभ्यास के द्वारा चित्त सांसारिक क्रियाओं से बिल्कुल संयमित हो जाता है और विशुद्ध चित्त के द्वारा आत्मस्वरूप का दर्शन और आस्वादन सुलभ होता है। उस आनन्दमयी स्थिति में अनन्त रसानन्द में योगी दिव्य इन्द्रियों के द्वारा आत्मस्वरूप में रमण करता है। इस प्रकार निष्ठ योगी तत्त्व से कभी विचलित नहीं होता और इस सुख की प्राप्ति होने पर वह इससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं समझता। ऐसी स्वरूप-स्थिति को प्राप्त पुरुष बड़े से बड़े दुःखों के मध्य में भी इससे चलायमान नहीं होता। यह विषयसंग से उत्पन्न सम्पूर्ण दुःखों से वास्तव में मुक्ति है।।२०-२३।।

तात्पर्य

योगाभ्यास के द्वारा शनैः शनैः विषय-धारणा से अनासक्ति हो जाती है। यह योग का प्रमुख लक्षण है। इसके बाद योगी समाधि में स्थित हो जाता है, अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा को एक समझने के भ्रम से मुक्त होकर दिव्य इन्द्रियों और चित्त द्वारा परमात्मा की अनुभूति करता है। योगमार्ग अधिकांश में पतञ्जलि की पद्धति पर आधारित है। अप्रामाणिक व्याख्याकार जीवात्मा तथा परमात्मा में अभेद को स्थापित करने का असत् प्रयत्न करते हैं और अद्वैतवादियों के मत में भी यही मुक्ति है। पर वे पातञ्जल योगपद्धति के यथार्थ प्रयोजन को नहीं जानते। पातञ्जल योगदर्शन ह्लादिनी शक्ति को स्वीकार करता है। अद्वैतवादी इस ह्लादिनी को नहीं मानते, क्योंकि उन्हें इससे अद्वैत-मत में बाधा उपस्थित होने का भय रहता है। ज्ञान और ज्ञाता में द्वैत है—यह अद्वैतवादियों को मान्य नहीं; पर इस श्लोक में दिव्य इन्द्रियों द्वारा ह्लादिनी के आस्वादन को स्वीकार किया गया है। योग के महान् प्रतिपादक पतंजलि मुनि ने भी इसकी परिपुष्टि की है। 'योगसूत्र' में महर्षि का उद्घोष है: **पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः। कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।।**

यह **चिति** अथवा अन्तरंगा शक्ति दिव्य है। पुरुषार्थ का अर्थ धर्म, अर्थ, काम और अन्त में, मोक्ष (परतत्त्व से एक होने का प्रयास) है। इस परतत्त्व से एक होने को ही अद्वैतवादी 'कैवल्य' कहते हैं। परन्तु पतंजलि के मत में कैवल्य

वह अन्तरंगा अप्राकृत शक्ति-विशेष है जिसके द्वारा जीवात्मा को अपने शाश्वत् स्वरूप का बोध होता है। श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव ने अपने वचनामृत में इस दशा को **चेतो दर्पण मार्जनम्** कहा है। भाव यह है कि इस दशा में चित्तरूपी दर्पण का मार्जन हो जाता है। हृदय की ऐसी शुद्धि ही यथार्थ मुक्ति **(भव महादावाग्नि निर्वापणम्)** है। प्रारम्भिक निर्वाणमत इस सिद्धान्त के समान है। श्रीमद्भागवत में इस अवस्था को **स्वरूपेण व्यवस्थितिः** कहा गया है। इस श्लोक में भगवद्गीता भी इस दशा की पुष्टि करती है।

निर्वाण अथवा प्राकृत क्रियाओं की निवृत्ति हो जाने पर कृष्णभावना नामक भगवत्सेवामय दिव्य क्रियाकलाप की अभिव्यक्ति होती है। श्रीमद्भागवत की वाणी में **स्वरूपेण व्यवस्थितिः**—जीवात्मा का यथार्थ जीवन वास्तव में यही है। स्वरूप का विषयदोष से ढक जाना माया है। इस विषयदोष से मुक्ति का यह तात्पर्य नहीं है कि जीव के आदि नित्य स्वरूप का विनाश हो जाता है। पतञ्जलि ने इस सत्य का समर्थन किया है: **कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चिति शक्तिरिति**—यह चितिशक्ति ही यथार्थ जीवन है। वेदान्तसूत्र में अनुमोदन है: **आनन्दमयोऽभ्यासात्**। यह 'चितिशक्ति' योग का चरम लक्ष्य है और भक्तियोग के आचरण से इसकी प्राप्ति सुगमता से हो जाती है। सातवें अध्याय में भक्तियोग का विशद वर्णन है।

इस अध्याय में प्रतिपादित योगपद्धति से होने वाली समाधि दो प्रकार की है: **सम्प्रज्ञात** और **असम्प्रज्ञात**। नाना दार्शनिक अन्वेषणों से शुद्ध सत्त्वमयी स्थिति की उपलब्धि **सम्प्रज्ञात समाधि** कहलाती है। **असम्प्रज्ञात समाधि** में जड़ विषयानन्द के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि उसमें निष्ठ महानुभाव सब इन्द्रियों से उत्पन्न सुखों से परे हो जाता है। एक बार इस चिन्मय स्वरूपनिष्ठा को प्राप्त हुआ योगी फिर कभी इससे चलायमान नहीं होता। साथ ही इसकी प्राप्ति के बिना वह कृतार्थ नहीं हो पाता। आज का नाममात्र का योगाभ्यास नाना प्रकार के इन्द्रियसुखों से युक्त होने के कारण अन्तर्विरोधात्मक (असंगत) है। मैथुन एवं मद्यपान करते हुए भी जो अपने को योगी कहता हो, वह उपहास का ही पात्र होगा। यहाँ तक कि जिनका चित्त यौगिक सिद्धियों की ओर आकृष्ट है, वे योगी भी संसिद्धि को प्राप्त नहीं हुए हैं। योग की गौण उपलब्धियों में आसक्त योगी इस श्लोक में वर्णित संसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकते। अतः व्यायाम-कुशलता के कपट-अभ्यास में अथवा सिद्धिप्राप्ति में लगे व्यक्तियों को जान लेना चाहिए कि इस प्रकार करने से योग का लक्ष्य बिल्कुल नष्ट हो जाता है।

इस युग के लिए सर्वोत्तम योगपद्धति कृष्णभावना है, क्योंकि इससे कभी निराशा नहीं होती। कृष्णभावनाभावित भक्त अपनी कार्यस्थिति में इतना अधिक आनन्दविभोर रहता है कि उसे अन्य किसी सुख की लेशमात्र भी अभिलाषा नहीं हो सकती। विशेष रूप से इस कपटप्रधान कलियुग में हठयोग, ध्यानयोग, तथा ज्ञानयोग के अभ्यास में बहुत बाधाएँ आती हैं, पर कर्मयोग अथवा भक्तियोग का पथ तो आज भी सब प्रकार से निरापद है।

जब तक प्राकृत देह विद्यमान है, तब तक भोजन, निद्रा, भय एवं मैथुन—इन शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी आवश्यक है। परन्तु शुद्ध भक्तियोगी अथवा कृष्णभावनाभावित पुरुष शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए इन्द्रियों को उत्तेजित नहीं करता। वह केवल जीवन के लिए अनिवार्य पदार्थों को स्वीकार करता है और बुरे सौदे से अच्छे से अच्छा लाभ लेता हुआ कृष्णभावनामृत में दिव्य आनन्द का आस्वादन करता है। दुर्घटना, रोग, अभाव तथा मृत्यु आदि प्रासंगिक घटनाओं के प्रति उपेक्षाभाव रखता है, पर कृष्णभावनामृत अथवा भक्तियोगरूपी स्वधर्म के आचरण में सदा सचेत रहता है। बड़े से बड़ा दुःख भी उसे कभी कर्तव्य-पालन से विमुख नहीं कर सकता। भगवद्गीता में कहा गया है, **आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।** वह इन प्रासंगिक घटनाओं को सहन करता है, क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि दुःख आते हैं और फिर अपने-आप चले जाते हैं, पर इससे उसके कर्तव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार वह योग के अभ्यास से परम-संसिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

सः=उस योगपद्धति का; **निश्चयेन**=दृढ़ निश्चयपूर्वक; **योक्तव्यः**=अवश्य अभ्यास करे; **योगः**=योग; **अनिर्विण्ण चेतसा**=विचलित हुए बिना; **संकल्प**=विषयवासना से; **प्रभवान्**=उत्पन्न; **कामान्**=इन्द्रियतृप्ति को; **त्यक्त्वा**=त्यागकर; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **अशेषतः**=पूर्ण रूप से; **मनसा**=मन द्वारा; **एव**=निःसन्देह; **इन्द्रियग्रामम्**=सम्पूर्ण इन्द्रियों को; **विनियम्य**=वश में करके; **समन्ततः**=सब ओर से।

अनुवाद

उस योग का अभ्यास अचल दृढ़ता और श्रद्धा के साथ अवश्य करना चाहिए। मिथ्या अहंकार से उत्पन्न विषय-कामनाओं को सम्पूर्ण रूप से त्याग कर मन द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों को सब ओर से वश में कर ले।।२४।।

तात्पर्य

योगाभ्यासी निश्चय और धैर्य से युक्त होकर विचलित हुए बिना अभ्यास करे। अन्त में लक्ष्यसिद्धि अवश्य होगी—इस प्रकार पूर्ण आशा और महान् धैर्य के साथ इस पद्धति का अनुसरण करे। कृतार्थता में विलम्ब होने से हतोत्साहित होना उचित नहीं, क्योंकि अशिथिल अभ्यासी अवश्य-अवश्य सफल होता है। भक्तियोग के सम्बन्ध में श्रील रूपगोस्वामिचरण का वचन है:

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्तत्तत्कर्मप्रवर्तनात् ।
संगत्यागात्सतोवृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिद्ध्यति।।

"हार्दिक उत्साह, धैर्य, निश्चय, भक्तों के संग में भक्ति के अनुकूल क्रियाओं का सम्पादन और केवल सात्त्विकी क्रियाएँ करने से भक्तियोग सिद्ध होता है।"

दृढ़ निश्चय के सम्बन्ध में उस गौरैया का अनुसरण करना चाहिये, जिसके अण्डे सागर की तरंगों में नष्ट हो गये थे। एक गौरैया ने सागर तट पर अण्डे दिये, परन्तु महासमुद्र अपनी तरंगों पर उन्हें बहा ले गया। इस पर गौरैया अत्यन्त विक्षुब्ध हो गयी और समुद्र से अण्डे लौटाने को कहा। जैसा स्वाभाविक था, सागर ने उसके निवेदन पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस पर गौरैया ने समुद्र को सुखा डालने का निश्चय कर लिया। अपनी नन्हीं चोंच से वह उसका जल उलीचने लगी। सभी उसके असम्भव से निश्चय का उपहास कर रहे थे। इतने में उसकी क्रियाओं का समाचार सर्वत्र प्रसारित हो गया। भगवान् विष्णु के दिव्य वाहन पक्षीराज गरुडजी ने भी उसका श्रवण किया। अपनी नन्हीं बहन पर द्रवित होकर वे उसे देखने पधारे। गौरैया के दृढ़ निश्चय से हार्दिक प्रसन्न होकर गरुड़जी ने उसे सहायता का वचन दिया। उन्होंने तत्काल समुद्र को चेतावनी दी कि वह चिड़िया के अण्डे लौटा दे, नहीं तो वे स्वयं उसको सुखाने लगेंगे। इससे भयभीत होकर सागर ने अण्डे लौटा दिये। इस प्रकार गरुड़जी के अनुग्रह से गौरैया सुखी हो गई।

ऐसे ही योगाभ्यास, विशेष रूप से कृष्णभावनाभावित भक्तियोग पहले-पहल बड़ा कठिन लग सकता है। परन्तु जो भक्तिसिद्धान्तों का दृढ़ता से सेवन करता है उस पर श्रीगोविन्द अशेष-विशेष कृपा करते हैं। प्रसिद्ध है कि अपनी सहायता करने वालों की श्रीभगवान् भी सब प्रकार से सहायता करते हैं।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

शनैः=धीरे-धीरे; **शनैः**=क्रम-क्रम से; **उपरमेत्**=विषयों से निवृत्त कर; **बुद्ध्या**=वुद्धि के द्वारा; **धृतिगृहीतया**=विश्वासपूर्वक; **आत्मसंस्थम्**=समाधि में; **मनः**=चित्त को; **कृत्वा**=करके; **न**=नहीं; **किंचित्**=अन्य कुछ; **अपि**=भी; **चिन्तयेत्**=चिन्तन करे।

अनुवाद

धीरे-धीरे पूर्ण विश्वासपूर्वक बुद्धि द्वारा समाधि में स्थित हो जाय और मन से आत्मस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ भी चिन्तन न करे।।२५।।

तात्पर्य

पर्याप्त विश्वास एवं बुद्धि के माध्यम से धीरे-धीरे इन्द्रियक्रियाओं को रोक देना 'प्रत्याहार' कहलाता है। विश्वास, ध्यान एवं इन्द्रियों के निग्रह से संयमित हुए चित्त को समाधि में स्थिर करे। ऐसा करने पर देह में आत्मबुद्धि रहने का भय नहीं रहता। भाव यह है कि जव तक प्राकृत देह विद्यमान है, तव तक चाहे लौकिक पदार्थों से सम्पर्क वना रहे, परन्तु इन्द्रियतृप्ति का चिन्तन करना ठीक नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण

की तृप्ति के अतिरिक्त किसी अन्य सुख की कल्पना भी न करे। सीधे कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने से यह स्थिति अनायास हो जाती है।

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

यतः यतः=जिस-जिस कारण से; **निश्चलति**=विचलित हो; **मनः**=चित्त; **चञ्चलम्**=चञ्चल; **अस्थिरम्**=चलायमान; **ततः ततः**=वहाँ-वहाँ से; **नियम्य**=वश में कर; **एतत्**=इसे; **आत्मनि**=आत्मा के; **एव**=ही; **वशम्**=वश में; **नयेत्**=करे।

अनुवाद

चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ भी विषयों में भटके, वहाँ-वहाँ से खींचकर इसे फिर आत्मा के ही वश में स्थापित करे।।२६।।

तात्पर्य

मन स्वभाव से अति चंचल और अस्थिर है। परन्तु आत्मज्ञानी योगी के लिए इसका संयम करना अनिवार्य है; उस पर मन का अधिकार होना ठीक नहीं। मन और इन्द्रियों को वश में करने वाला 'गोस्वामी' अथवा 'स्वामी' कहलाता है, जबकि मन के आधीन रहने वाला गोदास (इन्द्रियों का सेवक) है। गोस्वामी को विषयसुख की तुच्छता भलीभाँति पता रहती है। उसकी इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से चिन्मय इन्द्रिय-रसानन्द में, इन्द्रियों के अधीश्वर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में नियोजित हैं। विशुद्ध इन्द्रियों से श्रीकृष्ण का सेवन करने का नाम ही कृष्णभावनामृत है। इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में करने का यह एकमात्र साधन है। इससे अधिक, योग के अभ्यास की परम सिद्धि भी यही है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

प्रशान्तमनसम्=श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में जिसका चित्त इस प्रकार केन्द्रित है; **हि**=निःसन्देह; **एनम्**=यह; **योगिनम्**=योगी; **सुखम्**=सुख; **उत्तमम्**=परमोच्च; **उपैति**=प्राप्त करता है; **शान्तरजसम्**=जिसका रजोगुण शान्त हो गया है; **ब्रह्मभूतम्**=जो ब्रह्मभूत होकर मुक्त हो गया है; **अकल्मषम्**=जो पाप से रहित है।

अनुवाद

मुझ में एकाग्र मन वाले योगी को निःसन्देह परम सुख की उपलब्धि होती है। वह ब्रह्मभूत होकर मुक्तिलाभ करता है; उसका चित्त शान्त रहता है, रजोगुण समाप्त हो जाता है और सम्पूर्ण पापकर्म निवृत्त हो जाते हैं।।२७।।

तात्पर्य

विषयवासना से मुक्त होकर दिव्य भगवद्भक्तियोग में स्थिर होना 'ब्रह्मभूत'

अवस्था है। **मद्भक्तिं लभते पराम्** (भगवद्गीता १८.५४) श्रीकृष्णचरणारविन्द में मन को अर्पित किए बिना ब्रह्मभूत अर्थात् ब्रह्मतुल्य चिद्गुणों से युक्त नहीं हुआ जा सकता। **स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः।** निरन्तर भगवद्भक्ति के परायण अथवा कृष्णभावना से भावित रहना रजोगुण और सम्पूर्ण दोषों से वास्तव में मुक्ति है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

युञ्जन्=योगाभ्यास में तत्पर; **एवम्**=ऐसे; **सदा**=निरन्तर; **आत्मानम्**=आत्मा; **योगी**=योगी; **विगत**=मुक्त; **कल्मषः**=सम्पूर्ण सांसारिक दूषणों से; **सुखेन**=दिव्य सुख से; **ब्रह्मसंस्पर्शम्**=परतत्त्व के नित्य सान्निध्य में स्थित; **अत्यन्तम्**=सर्वोपरि; **सुखम्**=सुख को; **अश्नुते**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

इस प्रकार आत्मस्वरूप में दृढ़तापूर्वक स्थिर होकर सब पापों से मुक्त हुआ योगी परमचेतन की सन्निधि में परम सुख का अनुभव करता है।।२८।।

तात्पर्य

स्वरूप-साक्षात्कार का अर्थ परतत्त्व श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपने स्वरूप को जानना है। जीव भगवान् का भिन्न-अंश है, अतएव उसका स्वरूप भगवान् की सेवा करना है। भगवान् से इस अलौकिक सम्पर्क को **ब्रह्मसंस्पर्श** कहते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

सर्वभूतस्थम्=सब प्राणियों में स्थित; **आत्मानम्**=परमात्मा को; **सर्व**=सम्पूर्ण; **भूतानि**=प्राणियों को; **च**=भी; **आत्मनि**=परमात्मा में; **ईक्षते**=देखता है; **योग-युक्त-आत्मा**=कृष्णभावनाभावित पुरुष; **सर्वत्र**=सब में; **समदर्शनः**=समभाव से देखने वाला।

अनुवाद

सच्चा योगी सब प्राणियों में मुझे देखता है और प्राणीमात्र को मुझ में स्थित देखता है। उस आत्मज्ञानी महापुरुष को वास्तव में सब में मेरा दर्शन होता है।।२९।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित योगी पूर्ण द्रष्टा है, क्योंकि वह परब्रह्म श्रीकृष्ण को परमात्मा के रूप में प्राणीमात्र के हृदय में विराजमान देखता है। **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।** अपने परमात्मा रूप से श्रीभगवान् कुत्ते और ब्राह्मण, दोनों के हृदय में हैं। संसिद्ध योगी जानता है कि प्रभु नित्य प्रकृति से परे हैं; अतः कुत्ते अथवा ब्राह्मण में स्थित होने पर भी माया उनका स्पर्श नहीं कर सकती। यही श्रीभगवान् की परम समता है। जीव-हृदय में जीवात्मा भी विद्यमान है, परन्तु वह सर्वव्यापक नहीं है। जीवात्मा तथा परमात्मा में यही अन्तर है। जो वास्तव में योग का अभ्यास नहीं करता,

वह इस स्पष्ट सत्य को नहीं देख पाता। कृष्णभावनाभावित पुरुष को आस्तिक और नास्तिक, दोनों के ही हृदय में श्रीकृष्ण का दर्शन होता है। स्मृतिप्रमाण है: **आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः।**

सम्पूर्ण प्राणियों के रचयिता होने से भगवान् श्रीकृष्ण सभी का माता के समान पोषण करते हैं। जिस प्रकार माता अपने सब पुत्रों में समता रखती है, परम पिता श्रीकृष्ण का भी सबमें समभाव है। यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि प्राणीमात्र में परमात्मा का निवास है। बाह्यरूप से भी, प्रत्येक प्राणी भगवत्-शक्ति में स्थित है। जैसा सातवें अध्याय में वर्णन है, श्रीभगवान् की दो प्रधान शक्तियाँ हैं: परा और अपरा। परा-शक्ति का अंश होते हुए भी जीवात्मा अपरा-शक्ति में बँधा है। इस प्रकार वह सदा भगवत्-शक्ति में स्थित है; एक न एक प्रकार से जीव श्रीकृष्ण में ही स्थित है। योगी को समदृष्टि कहा है, क्योंकि वह देखता है कि अपने-अपने कर्मफल के अनुसार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में होते हुए भी सभी जीव वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण के नित्यदास हैं। अपरा-शक्ति में जीव जड़ इन्द्रियों की सेवा करता है; पराशक्ति में स्थित होने पर वही साक्षात् श्रीभगवान् की सेवा में तत्पर हो जाता है। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में जीव श्रीकृष्ण का दास है। कृष्णभावनाभावित भक्त में यह समदृष्टि पूर्ण रूप से पाई जाती है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

यः=जो; **माम्**=मुझे; **पश्यति**=देखता है; **सर्वत्र**=सब में; **सर्वम्**=सब कुछ; **च**=तथा; **मयि**=मुझ में; **पश्यति**=देखता है; **तस्य**=उसके लिए; **अहम्**=मैं; **न**=नहीं; **प्रणश्यामि**=अप्राप्त होता; **सः**=वह; **च**=भी; **मे**=मेरे लिए; **न**=नहीं; **प्रणश्यति**=लुप्त होता।

अनुवाद

जो मुझे सबमें देखता है और सब कुछ मुझ में स्थित देखता है, उसके लिए म कभी अदृश्य नहीं होता, अर्थात् सदा प्राप्त रहता हूँ और वह भी मेरे लिए कभी अदृश्य नहीं होता।।३०।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित भक्त निःसन्देह सर्वत्र श्रीकृष्ण का दर्शन करता है और सब कुछ श्रीकृष्ण में ही स्थित देखता है। वह भले ही माया की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों को देखता हुआ प्रतीत हो, परन्तु सभी कुछ श्रीकृष्ण की शक्ति की अभिव्यक्ति है, इस चेतना के कारण वह नित्य-निरन्तर कृष्णभावना से ही भावित रहता है। श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं; इसलिए उनके बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। यह कृष्णभावनामृत का प्रधान सिद्धान्त है। कृष्णभावनामृत का तात्पर्य कृष्णप्रेम का विकास करना है। यह भवमुक्ति से परे की अवस्था है। यह आत्मानुभूति से

लोकोत्तर वह स्थिति है, जिसमें भक्त श्रीकृष्ण से इस रूप में एक हो जाता है कि श्रीकृष्ण भक्त के प्राणाराध्य सर्वस्व बन जाते हैं और वह पूर्णतया कृष्णप्रेमाविष्ट हो जाता है। उस अवस्था में भगवान् और उनके भक्त में एक अंतरंग प्रेममय रस-सम्बन्ध रहता है और जीवात्मा को अपने अमृत-स्वरूप की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण भक्त की दृष्टि से कभी ओझल नहीं होते। श्रीकृष्ण से सायुज्य को प्राप्त होना तो आत्मविनाश होगा। भक्त ऐसी भूल कभी नहीं करता। 'ब्रह्मसंहिता' में कहा है :

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्ति विलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

'मैं आदिपुरुष भगवान् गोविन्द का भजन करता हूँ, भक्त जिनका दर्शन प्रेमरूपी अञ्जन से विच्छुरित नेत्रों के द्वारा निरन्तर किया करते हैं। भक्तों के हृदय में अपने श्यामसुन्दर रूप में वे नित्य दर्शनीय हैं।' (ब्रह्मसंहिता ५.३८)

इस प्रेमावस्था में श्रीकृष्ण भक्तों की दृष्टि से कभी तिरोहित नहीं होते, भक्तों को उनका दर्शन नित्य प्राप्त रहता है। हृदय में विराजमान परमात्मा विष्णु के रूप में उनका दर्शन करने वाले योगी के विषय में भी यही सत्य है। वह यथासमय शुद्धभक्त बन जाता है और क्षणमात्र के लिए भी अन्तर्यामी प्रभु का दर्शन किये बिना नहीं रह सकता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

सर्वभूतस्थितम्=प्राणीमात्र के हृदय में स्थित; **यः**=जो; **माम्**=मेरी; **भजति**=भक्तिभावपूर्वक सेवा करता है; **एकत्वम्**=एकत्व में; **आस्थितः**=स्थित; **सर्वथा**=सब प्रकार से; **वर्तमानः**=स्थित हुआ; **अपि**=भी; **सः**=वह; **योगी**=योगी; **मयि**=मुझ में; **वर्तते**=निवास करता है।

अनुवाद

जो योगी मुझे और सब प्राणियों के अन्तर्यामी परमात्मा विष्णु को एक समझकर मेरा भजन करता है, वह सदा-सर्वदा मुझमें ही निवास करता है।।३१।।

तात्पर्य

परमात्मा के ध्यान के परायण योगी अपने हृदय में श्रीकृष्ण के अंश, शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारी चतुर्भुज विष्णु का दर्शन करता है। योगी को जानना चाहिए कि विष्णु श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं हैं। परमात्मा विष्णु के रूप में श्रीकृष्ण ही प्राणीमात्र के हृदय में विराज रहे हैं। इससे अधिक, असंख्य जीवों के हृदयों में स्थित परमात्मा विष्णु के रूपों में भेद नहीं है। अतएव भक्तियोग में निमग्न कृष्णभावनाभावित भक्त और परमात्मा विष्णु का ध्यान करने वाले पूर्णयोगी में कोई भेद नहीं है। संसार में विविध क्रियाओं में संलग्न रहने पर भी कृष्णभावनाभावित योगी नित्य श्रीकृष्ण में स्थित रहता है। श्रील रूप गोस्वामिचरण के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में इसकी सम्पुष्टि है :

निखिलेषु अवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते। नित्य कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण रहने वाला भगवद्भक्त स्वतः मुक्त हो जाता है। 'नारद पञ्चरात्र' द्वारा यह अनुमोदित है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो विधाय च।
तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवो ब्रह्मणि योजयेत्।।

'श्रीकृष्ण के देशकाल से अतीत सर्वव्यापक श्रीविग्रह पर ध्यान एकाग्र करने से उनके चिन्तन में विभोरता होती है और फिर श्रीकृष्ण की दिव्य संनिधि रूपी सुखावस्था प्राप्त हो जाती है।'

कृष्णभावनामृत योगाभ्यास द्वारा प्राप्त समाधि की परम अवस्था है। श्रीकृष्ण का परमात्मा रूप से प्राणीमात्र के हृदय में वास है— केवल इतना जानने मात्र से योगी सब प्रकार के दोषों से मुक्त हो जाता है। वेद श्रीभगवान् की इस अचिन्त्य शक्ति का समर्थन करते है:

एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति।
ऐश्वर्याद्रूपमेकं च सूर्यवद् बहुधेयते।।

अद्वितीय होने के साथ श्रीविष्णु निःसन्देह सर्वव्यापक भी हैं। अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा एक विग्रह से भी वे सर्वत्र विद्यमान हैं। सूर्य के समान अनेक स्थलों में एक ही काल में प्रकट हैं।'

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

आत्म-औपम्येन=आत्मा के समान; **सर्वत्र**=सब में; **समम्**=समतापूर्वक, **पश्यति**=देखता है; **यः**=जो; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **सुखम्**=सुख; **वा**=अथवा; **यदि**=यदि; **वा**=अथवा; **दुःखम्**=क्लेश; **सः**=वह; **योगी**=योगी; **परमः**=परमश्रेष्ठ; **मतः**=माना गया है।

अनुवाद

हे अर्जुन! वह योगी परमश्रेष्ठ है जो अपनी आत्मा की उपमा से सुख-दुःख की प्राप्ति में सब प्राणियों को समान देखता है।।३२।।

तात्पर्य

जो कृष्णभावनाभावित है वह परम योगी है। अपने निजी अनुभव के आधार पर उसे प्राणीमात्र के सुख-दुःख का बोध रहता है। जीव के क्लेशों का कारण भगवान् श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भुला देना है। दूसरी ओर, श्रीकृष्ण को मानवीय क्रियाओं का परम भोक्ता मानना सुख का हेतु है। एकमात्र श्रीकृष्ण संपूर्ण भूमि और लोकों के सार्वभौम अधिपति हैं—ऐसा जानने वाला पूर्ण योगी जीवमात्र का परम सुहृद् है। वह जानता है कि श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाने के कारण जीवात्मा माया के गुणों में बँधता है और इसी कारण उसे त्रिविध क्लेशों की प्राप्ति होती है।

कृष्णभावनाभावित पुरुष नित्य सौख्यामृतसिन्धु में निमज्जित रहता है। दूसरों को भी इस परम सुख की प्राप्ति हो, इसके लिए वह कृष्णतत्त्वज्ञान को सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करने का प्राणपण से प्रयास करता है। कृष्णभावना को प्रसारित करने का प्रयास करने वाला पूर्ण योगी विश्व का सर्वोत्तम परोपकारी है। इससे भी अधिक, वह श्रीभगवान् का प्राणाधिक परम प्रेमास्पद सेवक है। **न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।** भाव यह है कि भगवद्भक्त जीवमात्र का कल्याण करने में निरन्तर लीन रहता है, इस कारण वह सब का सुहृद् है। उसे सर्वोत्तम योगी कहा गया है, क्योंकि वह योग की सिद्धि स्वार्थलाभ के लिए नहीं चाहता, अपितु निरन्तर अन्य प्राणियों के कल्याण के लिए उद्यत रहता है। वह किसी प्राणी से भी ईर्ष्या नहीं करता। शुद्ध भगवद्भक्त और स्वार्थसिद्धि की कामना वाले योगी में यह महान् अन्तर है। एकान्त में ध्यान लगाने वाला योगी उस भक्त के समान कभी सफल नहीं हो सकता, जो मनुष्यमात्र को कृष्णभावनाभावित बनाने के उद्देश्य से यथाशक्ति प्राणपण से पूर्ण प्रयास करता है।

अर्जुन उवाच।
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **यः**=जो; **अयम्**=यह; **योगः**=योग; **त्वया**=आपके द्वारा; **प्रोक्तः**=कहा गया; **साम्येन**=समत्वभाव से; **मधुसूदन**=हे मधु दैत्य के हन्ता; **एतस्य**=इसकी; **अहम्**=मैं; **न**=नहीं; **पश्यामि**=देखता हूँ; **चञ्चलत्वात्**=चञ्चलता के कारण; **स्थितिम्**=गति; **स्थिराम्**=स्थायी।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन! आपने जिस योगपद्धति का संक्षेप से वर्णन किया है, वह मन की चञ्चलता और अस्थिरता के कारण मुझे अव्यावहारिक और अस्थायी दिखती है।।३३।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए **शुचौ देशे** से लेकर **योगी परमः** तक जिस योगपद्धति का वर्णन किया, अर्जुन ने यहाँ उसे अस्वीकार किया है; वह अपने को इसके योग्य नहीं समझता। इस कलियुग में साधारण मनुष्य के लिए योग-अभ्यास के लिए घर त्यागकर पर्वतीय क्षेत्र अथवा वनप्रदेश में जाना सम्भव नहीं है। वर्तमान समय में अल्प आयु के लिए घोर संघर्ष चल रहा है। आजकल साधारण व्यक्ति स्वरूप-साक्षात्कार के सुगम एवं व्यावहारिक साधनों में भी गम्भीरतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होते। फिर ऐसी कठिन योगपद्धति के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, जो जीवनविधि, आसन, स्थान और भोगों में मन की आसक्ति को संयमित करती हो। अर्जुन में इसके अभ्यास की अनेक अनुकूलताएँ थीं; फिर भी प्रवृत्ति-मार्ग का पथिक होने से उसने इस योगविधि को असाध्य बताया। अर्जुन अपने राजकुल के योग्य

गुणशील, शूरवीर तथा दीर्घायु था। इससे भी अधिक, भगवान् श्रीकृष्ण का वह परम अन्तरंग सखा था। आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुन को हमारी तुलना में निःसन्देह कहीं श्रेष्ठ सुविधायें उपलब्ध थीं। तब भी, उसने इस योगपद्धति को अंगीकार नहीं किया। उसने किसी समय इस पद्धति का अभ्यास किया हो, ऐसा कोई प्रमाण इतिहास में नहीं मिलता। इसलिए कलियुग में तो इस विधि को बिल्कुल असम्भव ही समझना चाहिए। कुछ दुर्लभ व्यक्तियों को छोड़कर अधिकांश साधारण मनुष्यों के लिए तो यह असाध्य ही है। यदि पाँच हजार वर्ष पूर्व यह स्थिति थी तो वर्तमान के विषय में क्या कहना है? योग के नाममात्र के विद्यालयों और संघों में इस योगपद्धति का अन्धानुकरण करने वाले दृष्टिहीन मनुष्य अपने अमूल्य समय का केवल अपव्यय कर रहे हैं। योग के सच्चे लक्ष्य के सम्बन्ध में वे पूर्ण अज्ञानी हैं।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

चञ्चलम्=अस्थिर; **हि**=निःसन्देह; **मनः**=चित्त; **कृष्ण**=हे कृष्ण; **प्रमाथि**=उद्वेगकारक; **बलवत्**=बलवान्; **दृढम्**=दुराग्रही; **तस्य**=उसका; **अहम्**=मैं; **निग्रहम्**=वश में करना; **मन्ये**=मानता हूँ; **वायोः**=वायु की; **इव**=भाँति; **सुदुष्करम्**=कठिन।

अनुवाद

क्योंकि हे कृष्ण! मन बड़ा चंचल, उद्वेगकारक, बलवान् और दुराग्रही है। इस कारण, मुझे मन को वश में करना वायु को वश में करने से भी कठिन लगता है।।३४।।

तात्पर्य

मन इतना अधिक बलवान् और दुराग्रही हो गया है कि कभी-कभी तो बुद्धि पर भी अधिकार कर लेता है, यद्यपि उसकी स्वाभाविक स्थिति बुद्धि के अधीन रहने की है। सांसारिक मनुष्य को कितनी ही प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ता है; अतः मन को वश में करना निःसन्देह बड़ा कठिन कार्य है। शत्रु-मित्र दोनों में मन को सम करना कृत्रिम रूप में ही सम्भव हो सकता है। वास्तव में तो कोई भी संसारी मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि यह प्रचण्ड वेगवती वायु को वश में करने से भी कठिन है। वैदिक शास्त्रों में उल्लेख है:

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।

'जीवात्मा प्राकृत देह रूपी रथ में सवार है। बुद्धि इसका सारथि है, मन लगाम है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इस प्रकार मन और इन्द्रियों के संग में आत्मा सुख-दुःख भोगता है—ऐसा मूर्धन्य मनीषियों का कहना है।'' बुद्धि को मन का नियंत्रण करना

चाहिये, पर मन इतना बलिष्ठ एवं दुराग्रही हो गया है कि प्रायः बुद्धि पर भी अधिकार कर लेता है। इसी कारण मन को वश में करने के लिये योगाभ्यास का विधान है। परन्तु अर्जुन जैसे संसारी मनुष्य के लिये इस प्रकार का योगाभ्यास कभी सम्भव नहं हो सकता। फिर आधुनिक मानव के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? यहाँ वायु की उपमा बड़ी उपयुक्त है। वेगवती वायु को वश में करना किसी के वश की बात नहीं। फिर अस्थिर मन को वश में करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। मन को वश में करने का सबसे सरल साधन श्रीमन्महाप्रभु की शिक्षा का पालन करते हुए पूर्ण दैन्य भाव से हरे कृष्ण महामन्त्र का संकीर्तन करना है। यह पद्धति इस प्रकार है—**स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः** अर्थात् मन को पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण में ही लगा देना चाहिये। तभी चित्त में उद्वेग करने वाला कोई दूसरा कार्य नहीं रहेगा।

श्रीभगवानुवाच।
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **असंशयम्**=निःसन्देह; **महाबाहो**=हे महापराक्रमी अर्जुन; **मनः**=मन को; **दुर्निग्रहम्**=वश में करना कठिन है; **चलम्**=चंचल; **अभ्यासेन**=अभ्यास द्वारा; **तु**=किन्तु; **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र; **वैराग्येण**=अनासक्ति से; **च**=भी; **गृह्यते**=इस प्रकार वश में किया जा सकता है।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे महाबाहु कुन्तीनन्दन! चंचल मन का संयम करना निःसन्देह बड़ा कठिन है; परन्तु निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से मन वश में हो सकता है।।३५।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् अर्जुन के इस कथन को स्वीकार करते हैं कि दुराग्रही मन को वश में करना बड़ा कठिन कार्य है। परन्तु साथ ही, उनका कहना है कि अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा यह सम्भव हो जाता है। इस अभ्यास का स्वरूप जानना आवश्यक है। वर्तमान कलियुग में तीर्थवास, परमात्मा का ध्यान, मन तथा इन्द्रियों का निग्रह, ब्रह्मचर्य, एकान्तवास आदि कठोर विधि-विधानों का पालन नहीं हो सकता। परन्तु कृष्णभावना के अनुशीलन से मनुष्य नवधा भगवद्भक्ति के परायण हो जाता है। भक्ति में सब से पहले कृष्णकथा का श्रवण करना आता है। मन को सम्पूर्ण अनर्थों से शुद्ध करने की यह बड़ी शक्तिशाली और दिव्य विधि है। कृष्णकथा का जितना अधिक श्रवण किया जायगा, मन उतना ही अधिक प्रबुद्ध होकर श्रीकृष्ण से विमुख करने वाली वस्तुओं से अनासक्त होता जायगा। जिन कार्यों का श्रीकृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं, उनसे मन के अनासक्त हो जाने पर सुगमता से वैराग्य हो सकता है। वैराग्य का अर्थ है पदार्थों में अनासक्ति और भगवान् में चित्त की आसक्ति। कृष्णलीला में मन को

आसक्त करने की तुलना में निर्विशेष वैराग्य अधिक दुःसाध्य है। कृष्णलीलासक्ति वास्तव में बड़ी सुखसाध्य है, क्योंकि लीला-श्रवण करने मात्र से श्रोता परमेश्वर श्रीश्यामसुन्दर में अनुरक्त हो जाता है। इस आसक्तिभाव को **परेशानुभूति** कहते हैं। यह भाव भूखे को अन्न के कण-कण से प्राप्त होने वाली संतुष्टि के जैसा है। इसी प्रकार, भक्ति के प्रभाव से मन की पदार्थासक्ति शान्त हो जाती है तथा चिद्रसानन्द संतोषण की अनुभूति होती है। यह कुशल चिकित्सा एवं उपयुक्त आहार से रोग-नाश होने जैसा है। भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य लीला-चरित्र का श्रवण विषयों से उन्मत मन के लिये कुशल उपचार का काम करता है और कृष्णप्रसाद भवरोग के लिए उपयुक्त आहार है। यह उपचार ही कृष्णभावनामृत की पद्धति है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

असंयत=उच्छृंखल; **आत्मना**=मन के लिए; **योगः**=स्वरूप-साक्षात्कार; **दुष्प्रापः**=कठिन है; **इति**=ऐसा; **मे**=मेरा; **मतिः**=मत है; **वश्य**=वश में किए;**आत्मना**=मन द्वारा; **तु**=किन्तु; **यतता**=प्रयत्न करने पर; **शक्यः**=सम्भव है; **अवाप्तुम्**=प्राप्त होना; **उपायतः**=उपयुक्त साधनों द्वारा।

अनुवाद

जिसने मन को वश में नहीं किया है, उसके लिए स्वरूप-साक्षात्कार को प्राप्त होना कठिन है, परन्तु जीते हुए मन वाले के लिए उपयुक्त साधन करने पर सफलता निश्चित है। ऐसा मेरा मत है।।३६।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण की घोषणा है कि जो मनुष्य सांसारिक क्रियाओं से मन को अनासक्त करने के उचित उपचार को अंगीकार नहीं करता, वह स्वरूप-साक्षात्कार के मार्ग में कुछ भी सफल नहीं हो सकता। योगाभ्यास का प्रयत्न करते हुए भी मन से विषयभोग के परायण रहना अग्नि पर जल उंडेलते हुए साथ-साथ उसे प्रज्वलित करने के लिए प्रयत्न करने जैसा है। भाव यह है कि मन को वश में किए बिना योगाभ्यास करना समय का अपव्यय मात्र होगा। ऐसा कपटपूर्ण योगाभ्यास विषय-भोगप्रद तो हो सकता है, परन्तु स्वरूप-साक्षात्कार की दृष्टि से उसका कोई लाभ नहीं। इसलिए मन को नित्य-निरन्तर श्रीगोविन्द की प्रेममयी दिव्य सेवा में लगाए रखकर उसका अवश्य संयम करना चाहिए। कृष्णभावनाभावित कर्मों में तत्पर हुए बिना मन को स्थायी रूप से संयमित नहीं किया जा सकता। कृष्णभावनाभावित भक्त को योगाभ्यास का फल सुगमता से प्राप्त हो जाता है, उसे इसके लिए अलग प्रयास नहीं करना पड़ता। पर दूसरी ओर, कृष्णभावनाभावित हुए बिना योग का साधक कभी सफल नहीं हो सकता।

अर्जुन उवाच।
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **अयतिः**=शिथिल प्रयत्न वाला असफल योगी; **श्रद्धया**=श्रद्धापूर्वक; **उपेतः**=संलग्न; **योगात्**=योग से; **चलित**=विचलित; **मानसः**=मन वाला; **अप्राप्य**=प्राप्त न होकर; **योगसंसिद्धिम्**=योग के परमोच्च लक्ष्य को; **काम्**=किस; **गतिम्**=गति को; **कृष्ण**=हे कृष्ण; **गच्छति**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे माधव! उस शिथिल यत्न वाले श्रद्धावान् योगी की क्या गति होती है, जो प्रारम्भ में तो स्वरूप-साक्षात्कार का मार्ग ग्रहण करता है, पर फिर विषयों में चित्त की आसक्ति के कारण योग से विचलित हो जाता है और योग की कृतार्थता को प्राप्त नहीं हो पाता।।३७।।

तात्पर्य

भगवद्गीता में स्वरूप-साक्षात्कार रूप योगपथ का सर्वांग प्रतिपादन है। स्वरूप-साक्षात्कार का मूल सिद्धान्त यह है कि जीवात्मा प्राकृत देह नहीं है, अपितु देह से भिन्न है और उसका नित्य सुख सच्चिदानन्दमय जीवन में है। यह सच्चिदानन्द देह और चित्त, दोनों से परे है। स्वरूप-साक्षात्कार के लिए ज्ञान, अष्टांगयोग अथवा भक्तियोग के पथ का अनुगमन किया जाता है। इनमें से प्रत्येक पद्धति में साधक को जीव के स्वरूप का, श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध का और उन क्रियाओं का बोध होना आवश्यक है जिनसे वह श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को फिर से स्थापित कर परम प्रयोजनीय कृष्णप्रेम (कृष्णभावना) को प्राप्त कर सकता है। उपरोक्त तीनों मार्गों में से किसी एक पर चलने से यथासमय परम लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित है। द्वितीय अध्याय में श्रीभगवान् ने घोषणा की है कि परमार्थ के मार्ग में किया गया अल्प साधन भी महाभय से बचा लेता है। इन तीनों पथों में भक्तियोग का पथ इस युग के लिये विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि यह भगवत्प्राप्ति का सब से सीधा मार्ग है। इस सम्बन्ध में पूर्ण आश्वस्त होने के लिए अर्जुन श्रीकृष्ण से अपने पूर्वकथित वाक्य की सम्पुष्टि करने का अनुरोध कर रहा है। इस युग में स्वरूप-साक्षात्कार के मार्ग को गम्भीरतापूर्वक अंगीकार करने वाले के लिए भी ज्ञान और अष्टांगयोग की पद्धतियाँ अत्यन्त कठिन हैं। अजस्र प्रयास करने पर भी अनेक कारणों से इनका साधक असफल रह सकता है। सबसे पहले तो सम्भव है, पथ का ठीक-ठीक अनुगमन ही न हो। परमार्थ के पथ पर बढ़ना माया पर आक्रमण करने जैसा है। जब भी कोई जीव मायाबन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करता है तो माया नाना प्रकार के प्रलोभन देकर उसे परास्त करने का भरपूर प्रयत्न करती है। बद्धजीव माया के तीनों गुणों से पहले ही मोहित है। इस कारण परमार्थ साधना करते हुए फिर मोहित हो जाने की पूरी

सम्भावना है। इसी को योगाच्चलित मानसः अर्थात् योगमार्ग से भ्रष्ट होना कहते हैं। अर्जुन का प्रश्न है कि इस प्रकार के योगभ्रष्ट पुरुष की क्या गति होती है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

कच्चित्=क्या; **न**=नहीं; **उभय**=दोनों ओर से; **विभ्रष्टः**=भ्रष्ट हुआ; **छिन्न**=छिन्न-भिन्न; **अभ्रम्**=मेघ की; **इव**=भाँति; **नश्यति**=नष्ट हो जाता; **अप्रतिष्ठः**=आश्रयरहित; **महाबाहो**=हे पराक्रमी श्रीकृष्ण; **विमूढः**=विमोहित; **ब्रह्मणः**=भगवत्प्राप्ति के; **पथि**=मार्ग में।

अनुवाद

हे महाबाहु श्रीकृष्ण! भगवत्प्राप्ति के पथ से भ्रष्ट हुआ ऐसा आश्रयरहित मनुष्य कहीं छिन्न मेघ की भाँति नष्ट तो नहीं हो जाता?।।३८।।

तात्पर्य

उन्नति के दो मार्ग हैं। जो विषयी हैं, उनकी तो दिव्य वस्तु में कुछ भी रुचि नहीं होती। वे आर्थिक उन्नति के द्वारा विषय भोगों को बढ़ना अथवा पुण्य कर्म द्वारा उच्च लोकों की प्राप्ति करना चाहते हैं। परन्तु, जो भगवत्प्राप्ति के पथ को अंगीकार करता है, उसके लिए सब सांसारिक क्रियाओं का अन्त करके नाममात्र के लौकिक सुख को पूर्ण रूप से त्याग देना आवश्यक है। यदि महत्त्वाकांक्षी योगी अकृतकृत्य रहता है, तो वह दोनों प्रकार से हानिग्रस्त लगता है —वह न तो विषयसुख का उपभोग कर पाता है और न भगवत्प्राप्ति का आनन्द ही उसे मिलता है। इस प्रकार वह छिन्न-भिन्न मेघ के समान सब प्रकार से आश्रयरहित हो जाता है। कभी-कभी आकाश में कोई एक मेघ, बड़े मेघ में समाने के लिए छोटे मेघ-समूह से अलग हो जाता है। परन्तु बड़े बादल से मिलने में असफल रहने पर वह वायु के प्रवाहवश विशाल गगन में अपना अस्तित्व ही खो बैठता है। **ब्रह्मणः पथ** दिव्य-अनुभूति का वह मार्ग है, जिसका पथिक अनुभव करता है कि वह ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् के रूप में प्रकट परमेश्वर श्रीकृष्ण का भिन्न-अंश है। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण परब्रह्म हैं; अतएव उन पुरुषोत्तम का शरणागत भक्त अवश्य सिद्ध योगी है। ब्रह्म और परमात्मा की अनुभूति करते हुए जीवन के इस लक्ष्य को प्राप्त करने में बहुत जन्म लग सकते हैं: **बहूनां जन्मनामन्ते**। अतएव भगवत्प्राप्ति का सीधा मार्ग होने के रूप में *भक्तियोग अथवा कृष्णभावना* ही परमोच्च योग है।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

एतत्=इस; **मे**=मेरे; **संशयम्**=संशय को; **कृष्ण**=हे श्यामसुन्दर; **छेत्तुम्**=दूर करने के लिए; **अर्हसि**=(आप ही) योग्य हैं; **अशेषतः**=पूर्णरूप से; **त्वत्**=आपके; **अन्यः**=अतिरिक्त; **संशयस्य**=संशय का; **अस्य**=इस; **छेत्ता**=दूर करने वाला; **न**=

नहीं; हि=निःसन्देह; उपपद्यते=मिलना सम्भव है।

अनुवाद

हे कृष्ण! मेरे इस संशय का पूर्णरूप से निवारण करने में एकमात्र आप ही समर्थ हैं। आपके अतिरिक्त इस संशय को दूर करने वाला मिलना सम्भव नहीं है।।३९।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण त्रिकालज्ञ हैं, अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य के पूर्ण ज्ञाता हैं। भगवद्गीता के उपोद्घात में उन्होंने कहा है कि सम्पूर्ण जीव पहले भी अपने-अपने निज स्वरूप में विद्यमान थे, वर्तमान में भी हैं और भविष्य में मायाबन्धन से मुक्ति के बाद भी उनका जीवस्वरूप बना रहेगा। अतः जीवात्मा के भविष्य विषयक प्रश्न का उत्तर वे पूर्व में दे चुके हैं। यहाँ अर्जुन जानना चाहता है कि असफल योगी की क्या गति होती है। श्रीकृष्ण असमोर्ध्व हैं, उसके समान अथवा उससे अधिक कोई नहीं है। अतः माया में बँधे हुए महर्षि और दार्शनिक निःसन्देह उनके बराबर नहीं हो सकते। भगवान् श्रीकृष्ण का निर्णय सम्पूर्ण संशयों का अन्तिम एवं पूर्ण समाधान है; कारण, श्रीकृष्ण त्रिकालज्ञ हैं, जबकि उन्हें कोई भी नहीं जानता। एकमात्र श्रीकृष्ण और कृष्णभावनाभावित भक्त ही वास्तव में तत्त्वज्ञ हैं।

श्रीभगवानुवाच।
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **पार्थ**=हे पृथापुत्र (अर्जुन); **न एव**=कभी नहीं; **इह**=इस संसार में; **न**=नहीं; **अमुत्र**=अगले जन्म में; **विनाशः**=नाश; **तस्य**=उसका; **विद्यते**=होता; **न**=नहीं; **हि**=निःसन्देह; **कल्याणकृत्**=कल्याणकारी कर्म करने वाला; **कश्चित्**=कोई भी; **दुर्गतिम्**=पतन को; **तात**=हे सखे; **गच्छति**=प्राप्त होता।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! कल्याणकारी कर्म करने वाले योगी का इस लोक में अथवा परलोक में भी विनाश नहीं होता। हे सखे! सदाचारी का कभी अमंगल नहीं हुआ करता।।४०।।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत (१.५.१७) में श्रीनारद मुनि ने व्यासदेव को यह उपदेश दिया है:

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।

"सम्पूर्ण सांसारिक आशाओं को त्यागकर जो पूर्णरूप से हरिचरणाश्रित हो गया है, उस भक्त के लिए हानि अथवा पतनरूपी अमंगल की आशंका नहीं रहती।

दूसरी ओर, भलीभाँति स्वधर्माचरण करते हुए भी अभक्त को कोई लाभ नहीं हो सकता।'' लौकिक लाभ के लिए अनेक शास्त्रीय एवं लौकिक क्रियाओं का विधान है। परमार्थ, अर्थात् कृष्णभावना में उन्नति करने के लिए यह आवश्यक है कि योगी सब सांसारिक क्रियाओं को त्याग दे। यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि कृष्णभावना की पूर्णता होने पर तो परम सिद्धि हो सकती है; परन्तु जो इस संसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सके, उसकी तो लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार से हानि हो जायगी। शास्त्र का विधान है कि स्वधर्म के आचरण में प्रमाद के दोषी को पापफल अवश्य भोगना पड़ता है। परन्तु परमार्थ सम्बन्धी साधन के अपूर्ण रह जाने पर प्रमाद-दोष नहीं बनता। श्रीमद्भागवत आश्वस्त करती है कि अकृतार्थ योगी के लिए चिन्ता का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं है। स्वधर्म-पालन में प्रमाद का दोषी होने पर भी वह क्षतिग्रस्त नहीं होगा, क्योंकि परम कल्याणकारी कृष्णभावना के अल्प साधन का भी कभी नाश नहीं होता। इसके परायण पुरुष जन्मान्तर में निम्न योनि को प्राप्त होने पर भी पहले की ही भाँति भक्ति करता है। इसके विपरीत, जो केवल दृढ़तापूर्वक स्वधर्म का आचरण करता रहता है, उस कृष्णभावनाविहीन को कल्याण की प्राप्ति निश्चित नहीं है।

इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार समझा जा सकता है। मानव समाज में संयमित और उच्छृंखल, मनुष्यों की ये दो श्रेणियाँ हैं। पुनर्जन्म और मुक्ति के ज्ञान के बिना पशु के समान इन्द्रियतृप्ति में लगे मनुष्य दूसरी श्रेणी में आते हैं। संयमित मनुष्यों की श्रेणी में वे हैं जो शास्त्र के अनुसार स्वधर्म का आचरण करते हैं। सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित, बलिष्ठ अथवा दुर्बल—सभी प्रकार के असंयमित मनुष्यों में पशुओं के योग्य वृत्तियों की प्रबलता रहती है। उनकी क्रियाएँ कल्याणकारी नहीं होतीं, अतः आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन जैसी पशुतुल्य वृत्तियों का उपभोग करते हुए वे सदा दुःखमय भवरोग से पीड़ित रहते हैं। दूसरी ओर, शास्त्र के अनुसार संयम का अभ्यास करने वाले शनैः-शनैः कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं और जीवन में निश्चित रूप से उन्नति करते हैं।

कल्याण-मार्ग के पथिकों के तीन वर्ग हैं: (१) सांसारिक समृद्धि के लिए शास्त्रोक्त विधि-विधान का पालन करने वाले, (२) भवरोग से मुक्ति के लिए साधन करने वाले तथा (३) कृष्णभावनाभावित भक्त। जो सांसारिक सुख के लिए शास्त्रीय विधान का पालन करते हैं, उनकी दो उपश्रेणियाँ हैं: सकाम कर्मी और इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रहित। इन्द्रियतृप्ति के लिए सकाम कर्म करने वालों को उच्च लोकादि की प्राप्ति हो सकती है, पर संसार से मुक्त न होने के कारण वे वास्तव में कल्याण-पथ पर नहीं चल रहे हैं। केवल मुक्ति की ओर ले जाने वाली क्रियाओं को ही कल्याणकारी कहा जा सकता है। स्वरूप-साक्षात्कार अथवा देहात्मबुद्धि से मुक्ति के लक्ष्य को लेकर न की गई कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं हो सकती। कृष्णभावनाभावित क्रिया ही कल्याणप्रद कर्म है। जो इस भक्ति-पथ में प्रगति के लिए स्वेच्छापूर्वक सब प्रकार

की शारीरिक असुविधाओं को सहन करता है, वह पुरुष निःसन्देह तपोनिष्ठ पूर्णयोगी है। अष्टांगयोग का चरम-लक्ष्य कृष्णभावनामृत को प्राप्त करना ही है। इसलिए इसका अभ्यास करना कल्याणकारी है और इसके लिए यथाशक्ति पूर्ण प्रयत्न में लगे मनुष्य को पतन का भय नहीं होना चाहिए।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

प्राप्य=प्राप्त होकर; **पुण्यकृताम्**=पुण्यात्माओं के; **लोकान्**=लोकों को; **उषित्वा**=निवास कर; **शाश्वतीः**=अनेक; **समाः**=वर्ष; **शुचीनाम्**=सदाचारी; **श्रीमताम्**=धनवानों के; **गेहे**=घर में; **योगभ्रष्टः**=स्वरूप-साक्षात्कार के पथ से भ्रष्ट योगी; **अभिजायते**=जन्म लेता है।

अनुवाद

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोकों में अनेक वर्षों तक सुख को भोगकर सदाचारी धनवानों के कुल में जन्म लेता है।।४१।।

तात्पर्य

योगभ्रष्ट योगी दो प्रकार के होते हैं। एक श्रेणी में वे हैं, जो अल्प साधना के उपरान्त ही भ्रष्ट हो जाते हैं तथा दूसरी ओर वे योगी हैं, जो चिरकाल तक योगाभ्यास कर के योगभ्रष्ट हुए हों। प्रथम श्रेणी के योगी पुण्यात्माओं के उच्च लोक प्राप्त करते हैं। वहाँ सुदीर्घ जीवन के बाद फिर इस पृथ्वी पर किसी शुद्धात्मा ब्राह्मण वैष्णव अथवा धनवान् कुल में जन्म लेते हैं।

योगाभ्यास का सच्चा प्रयोजन कृष्णभावनामृतरूपी परम सिद्धि को प्राप्त करना है। परन्तु सांसारिक प्रलोभनों के कारण इस सीमा तक साधन में दृढ़ न रह पाने वाले असफल मनुष्यों को भगवत्कृपा से अपनी विषयतृष्णा को तृप्त करने का अवसर दिया जाता है। इसके वाद, उन्हें पवित्र अथवा धनाढ्य कुल में सम्पन्न-जीवन मिलता है। अतएव इस प्रकार के कुलों में जन्मे मनुष्यों को चाहिए कि इस महान् सुविधा का लाभ उठाते हुए पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित होने के लिए प्राणपण सहित प्रयास करें।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

अथवा=अथवा; **योगिनाम्**=विद्वान् योगियों के; **एव**=ही; **कुले**=कुल में; **भवति**=जन्म लेता है; **धीमताम्**=बुद्धिमानों के; **एतत्**=यह; **हि**=निःसन्देह; **दुर्लभतरम्**=अति दुर्लभ है; **लोके**=इस संसार में; **जन्म**=जन्म; **यत्**=जो; **ईदृशम्**=इस प्रकार का।

अनुवाद

अथवा (चिरकाल तक योगाभ्यास करके भ्रष्ट हुआ योगी उन लोकों में न

जाकर) ज्ञानी योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। ऐसा जन्म इस संसार में निःसन्देह अति दुर्लभ है।।४२।।

तात्पर्य

इस श्लोक में ज्ञानवान् योगियों के कुल में जन्म की प्रशंसा की गई है, क्योंकि ऐसे कुल में उत्पन्न बालक को जीवन के प्रारम्भ से ही भागवत-शिक्षा का संस्कार अनायास प्राप्त हो जाता है। 'आचार्य' अथवा 'गोस्वामी' कुलों में विशेष रूप से यह परिपाटी रही है। परम्परा और प्रशिक्षण के कारण ऐसे कुल विद्या तथा भक्तिभाव में अत्यन्त समृद्ध होते थे, इसी कारण उन्हें गुरुपद प्राप्त था। किन्तु विद्या एवं प्रशिक्षण के अभाव में अब वे प्रायः भ्रष्ट हो गये हैं। भगवत्कृपा से आज भी ऐसे कुल विद्यमान हैं, जिनकी पीढ़ी-पीढ़ी में योगी उत्पन्न होते हैं। इन कुलों में जन्म होना निःसन्देह सौभाग्यसूचक है। सौभाग्यवश, हमारे गुरुदेव ओम् विष्णुपाद परमहंस श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज का और हमारा भी जन्म ऐसे ही सत्कुलों में हुआ। इस प्रकार भगवत्कृपा के फलस्वरूप हम दोनों को जीवन के आदिकाल से भगवद्भक्ति की शिक्षा प्राप्त हुई। बाद में, दिव्य शिष्यपरम्परा के अनुसार हमारा मिलन हो गया।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

तत्र=वहाँ; **तम्**=उस; **बुद्धिसंयोगम्**=बुद्धियोग को; **लभते**=फिर से प्राप्त हो जाता है; **पौर्व**=पहले; **देहिकम्**=शरीर के; **यतते**=साधन करता है; **च**=तथा; **ततः**=उससे; **भूयः**=फिर **संसिद्धौ**=संसिद्धि के लिए; **कुरुनन्दन**=हे कुरुपुत्र अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन ! उस देह में वह जन्मान्तर के बुद्धियोग को फिर प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार योगयुक्त होकर पूर्ण सिद्धि के लिए आगे साधन करता है।।४३।।

तात्पर्य

राजा भरत, जिन्हें योगभ्रष्ट हो जाने पर तीसरा जन्म श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल में मिला था, इस सत्य के प्रतीक हैं कि योगभ्रष्ट पुरुष का जन्म ऐसे सत्कुल में होता है, जहाँ पूर्व शरीर का बुद्धियोग उसे फिर से प्राप्त हो जाय। भरत सम्पूर्ण विश्व के सार्वभौम सम्राट् थे। उन्हीं के समय से यह लोक देवताओं में भारतवर्ष के नाम से विख्यात है। उनसे पूर्व इसे इलावर्त वर्ष कहा जाता था। महामहिम सम्राट् ने भगवत्प्राप्ति के लिए अल्प आयु में ही संन्यास ले लिया, परन्तु सफल नहीं हो सके। मृग बनना पड़ा। फिर अगले जन्म में श्रेष्ठ ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए। वहाँ उनका नाम जड़भरत हुआ; वे किसी से भी वार्तालाप किये विना नित्य एकान्तसेवन किया करते थे। यथासमय राजा रहूगण को परम योगी के रूप में उनका साक्षात्कार हुआ। उनके चरित्र से सिद्ध होता है कि भगवत्प्राप्ति के लिये किया गया साधन अथवा योगाभ्यास कभी व्यर्थ नहीं

जाता। श्रीभगवान् के अनुग्रह से योगी को बारंबार ऐसे अवसरों की प्राप्ति होती है, जिससे वह कृष्णभावना में पूर्ण सिद्धि-लाभ कर सके।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

पूर्व=पिछले; **अभ्यासेन**=अभ्यास से; **तेन**=उस; **एव**=ही; **ह्रियते**=आकर्षित होता है; **हि**=निःसन्देह; **अवशः**=असहाय हुआ; **अपि**=भी; **सः**=वह; **जिज्ञासुः**=जानने का अभिलाषी; **अपि**=भी; **योगस्य**=योग का; **शब्दब्रह्म**=शास्त्र के कर्मकाण्ड का; **अतिवर्तते**=उल्लंघन करता है।

अनुवाद

पूर्वजन्म के भगवद्भाव (बुद्धियोग) के प्रभाव से वह अपने आप योग की ओर आकृष्ट हो जाता है। योग के लिए प्रयास करने वाला ऐसा जिज्ञासु योगी भी शास्त्र के कर्मकाण्ड का उल्लंघन कर जाता है।।४४।।

तात्पर्य

उच्च योगी शास्त्रीय कर्मकाण्ड में अधिक आसक्त नहीं होते; परन्तु वे योग के प्रति अपने-आप आकृष्ट हो जाते हैं, जो उन्हें सर्वोच्च यौगिकसिद्धि—कृष्णभावना में आरूढ़ कर सकता है। श्रीमद्भागवत (३.३३.७) में भी कहा है कि सिद्ध योगी को वैदिक-कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं रहती:

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते।।

'हे प्रभो! जो आपके पावन नामों को ग्रहण करते हैं, वे चाहे चाण्डालकुल में ही क्यों न उत्पन्न हुए हों, पर उनका परमार्थ सफल हो चुका है। आपका नाम लेने वाले निःसन्देह सम्पूर्ण तप, यज्ञ, तीर्थस्नान और शास्त्र-स्वाध्याय कर चुके हैं।'

इस भक्तिसिद्धान्त का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण श्रीमन्महाप्रभु चैतन्य देव ने ठाकुर हरिदास को अपना परम अंतरंग शिष्य बनाकर प्रस्तुत किया है। ठाकुर हरिदास मुस्लिम कुल में जन्मे थे, पर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें नामाचार्य पद पर आरूढ़ कर दिया, क्योंकि वे नित्यप्रति नियम से **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—कृष्णनाम का तीन लाख बार जप करते थे। उनके अजस्र नामकीर्तन से स्पष्ट है कि पूर्वजन्म में उन्होंने 'शब्दब्रह्म' नामक वेदों के सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का पारगमन कर लिया था, क्योंकि हृदय-शुद्धि हुए बिना कोई भी कृष्णभावना को धारण नहीं कर सकता और न भगवन्नाम हरे कृष्ण कीर्तन में ही संलग्न हो सकता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

प्रयत्नात्=दृढ़ अभ्यास द्वारा; **यतमानः**=प्रयत्नशील; **तु**=किन्तु; **योगी**=योग का अभ्यासी; **संशुद्ध**=भलीभाँति शुद्ध होकर; **किल्बिषः**=संपूर्ण पापों से; **अनेक**=बहुत; **जन्म**=जन्मों से; **संसिद्धः**=पूर्णता को प्राप्त हुआ; **ततः**=उससे; **याति**=पाता है; **पराम्**=परम; **गतिम्**=लक्ष्य को।

अनुवाद

दृढ़ अभ्यास के साथ प्रयत्न करता हुआ योगी अनेक जन्मों के अभ्यास के प्रभाव से संपूर्ण पापों से शुद्ध होकर अन्त में परम गति को प्राप्त हो जाता है।।४५।।

तात्पर्य

शुद्ध, भगवान् अथवा पवित्र कुल में उत्पन्न पुरुष को यह बोध रहता है कि उसे योगाभ्यास के अनुकूल स्थिति की प्राप्ति हुई है। इसलिए वह दृढ़तापूर्वक अपने अपूर्ण कार्य की पूर्ति में लगता है और इस प्रकार संपूर्ण पापों से शुद्ध हो जाता है। पापों की पूर्ण निवृत्ति हो जाने पर ही परमगति—कृष्णभावना की प्राप्ति होती है। कृष्णभावना पापसंशुद्धि की परमोच्च अवस्था है। भगवद्गीता में अन्यत्र भी इसकी पुष्टि है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मनाम्।
ते द्वन्द्वमोह निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।

'अनेक जन्मों तक पुण्यकर्मों को करने से जब कोई सम्पूर्ण पापों और मोहमय द्वन्द्वों से पूर्ण मुक्त हो जाता है, तभी वह श्रीकृष्ण की सेवा के परायण होता है।'

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

तपस्विभ्यः=तपस्वियों से; **अधिकः**=श्रेष्ठ है; **योगी**=योगी; **ज्ञानिभ्यः**=ज्ञानियों से; **अपि**=भी; **मतः**=माना जाता है; **अधिकः**=श्रेष्ठ; **कर्मिभ्यः**=सकाम कर्मियों से **च**=भी; **अधिकः**=श्रेष्ठ है; **योगी**=योगी; **तस्मात्**=इसलिए; **योगी**=योगी; **भव**=हो; **अर्जुन**=हे अर्जुन।

अनुवाद

योगी पुरुष सब तपस्वियों, ज्ञानियों और सकाम कर्मियों से श्रेष्ठ माना गया है। इसलिए हे अर्जुन! तू सब प्रकार से योगी हो।।४६।।

तात्पर्य

योग का अर्थ है परमसत्य से मति का जुड़ना। साधनविधियों के भेद से इस पद्धति के विविध नाम हैं। जब योगपद्धति प्रधानतः कर्मों से सम्बन्धित हो तो उसे कर्मयोग कहा जाता है; प्रधान रूप में प्रत्यक्ष अनुभव से सम्बन्धित होने पर उसे ज्ञानयोग कहते हैं और जब उसमें श्रीभगवान् से भक्तिभावमय सम्बन्ध की प्रधानता हो तो उसे भक्तियोग कहते हैं। जैसा अगले श्लोक में श्रीभगवान् ने कहा है,

भक्तियोग अथवा कृष्णभावनामृत सभी योगों की परम संसिद्धि है। यद्यपि श्रीभगवान् यहाँ योग को श्रेष्ठ तो बताया है, परन्तु उसे भक्तियोग से उत्तम नहीं कहा है भक्तियोग पूर्ण दिव्य ज्ञानमय है, इसलिए अन्य कोई योग भक्ति से उत्तम नहीं हो सकता। आत्मज्ञानशून्य तपस्या अपूर्ण है और भगवत्-शरणागति के विना ज्ञान भी अपूर्ण ही है। ऐसी स्थिति में कृष्णभावनाविहीन सकाम कर्म करना तो समय का केवल अपव्यय होगा। इसलिए भक्तियोग को यहाँ सर्वोत्तम योगपद्धति कहा है। अगले श्लोक में भगवान् यही अधिक स्पष्ट रूप से कहते हैं।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

योगिनाम्=योगियों में; **अपि**=भी; **सर्वेषाम्**=सव प्रकार के; **मद्गतेन**=मेरे परायण; **अन्तरात्मना**=हृदय से नित्य मेरा चिन्तन करते हुए; **श्रद्धावान्**=पूर्ण श्रद्धा-सहित; **भजते**=दिव्य सेवा करता है; **यः**=जो; **माम्**=मेरी; **सः**=वह; **मे**=मुझे; **युक्ततमः**=परम योगी; **मतः**=मान्य है।

अनुवाद

सब योगियों में भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अन्तरंग रूप में युक्त है और परम श्रेष्ठ है।।४७।।

तात्पर्य

इस श्लोक में **भजते** पद का गूढ़ आशय है। **भजते** पद 'भज' धातु से वना है, जिसका अर्थ है 'सेवा करना'। पूजना और भजना समानार्थक नहीं। पूजने का अर्थ है पूज्य का अभिवादन। परन्तु प्रेम एवं श्रद्धाभावमयी सेवा का प्रयोजन विशेष रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के लिए है। पूज्य मनुष्य अथवा देवता का पूजन न करने से मनुष्य को केवल यह सुनना पड़ता है कि वह सौजन्यशून्य है, परन्तु परमेश्वर श्रीकृष्ण की सेवा न करने वाला तो घोर अपराधी हो जाता है। जीवमात्र श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है; इसलिए भगवान् की सेवा करना उसका अपना स्वरूप ही है। इस स्वरूपधर्म के पालन में हुआ प्रमाद अधःपतन का कारण वनता है। श्रीमद्भागवत में प्रमाण है :

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टा पतन्त्यधः।।

'जो जीवमात्र के जन्मदाता आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा रूपी परम धर्म के पालन में प्रमाद करता है, वह अपनी सहज स्थिति से निःसन्देह गिर जाता है।'

इस श्लोक में भी **भजन्ति** पद आया है। **भजन्ति** का प्रयोग श्रीभगवान् के सम्वन्ध में ही किया जा सकता है, जवकि 'पूजन' शब्द देवता अथवा अन्य साधारण जीवों के लिए भी प्रयुक्त होता है। श्रीमद्भागवत के इस श्लोक का **अवजानन्ति**

शब्द भगवद्गीता में भी है: **अवजानन्ति मां मूढा:**, अर्थात् जो मूर्ख एवं मूढ़ हैं, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण का उपहास करते हैं। भगवत्सेवाभाव से शून्य होते हुए भी ऐसे मूढ़ भगवद्गीता पर भाष्यों की रचना करते हैं। इसका परिणाम यह है कि वे 'भजने' और 'पूजने' में ठीक-ठीक भेद नहीं कर पाते।

भक्तियोग सम्पूर्ण योगों का अन्तिम फल है। अन्य योग तो वास्तव में भक्तियोग की प्राप्ति के साधनमात्र हैं। 'योग' का अर्थ वास्तव में 'भक्तियोग' ही है। ज्ञानादि अन्य योग भक्तियोग रूपी लक्ष्य की ओर ही अग्रसर करते हैं। स्वरूप-साक्षात्कार का विस्तृत पथ कर्मयोग से प्रारम्भ होकर भक्तियोग में समाप्त होता है। निष्काम कर्मयोग इस पथ का उपक्रम है। कर्मयोग के ज्ञान-वैराग्य में बढ़ जाने पर ज्ञानयोग में स्थिति होती है। जब विविध शारीरिक विधियों द्वारा चित्त परमात्मा विष्णु के प्रगाढ़ ध्यान में तन्मय हो जाता है, तो ज्ञानयोग ध्यानयोग में परिणत हो जाता है। अन्त में, अष्टांगयोग का उल्लंघन कर भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति होने पर लक्ष्यरूप भक्तियोग की उपलब्धि होती है। यथार्थ में भक्तियोग ही परम प्रयोजनीय तत्त्व है, परन्तु भक्तियोग के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए इन अन्य योगपद्धतियों का ज्ञान आवश्यक है। अतएव इन योगों में क्रमशः उन्नति करने वाला योगी शाश्वत् सौभाग्य के सच्चे पथ पर चल रहा है। किसी एक स्तर पर स्थित रहकर आगे उन्नति न करने वाले को उस-उस स्तर के अनुसार कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, राजयोगी, हठयोगी आदि कहा जाता है। परन्तु यदि कोई सौभाग्यशाली भक्तियोग तक पहुँच जाय तो समझना चाहिए कि उसने अन्य सब योगों का उल्लंघन कर लिया है। इस प्रकार कृष्णभावना की प्राप्ति योग की परमोच्च अवस्था है, उसी भाँति जैसे हिमालय विश्व के सर्वोच्च पर्वत हैं और उनमें भी एवरेस्ट शिखर सबका पर्यवसान है।

कोई दुर्लभ भाग्यशाली ही वैदिक विधान के अनुसार स्थित होने के लिए भक्तियोग के पथ को अंगीकार कर कृष्णभावनाभावित हो जाता है। आदर्श योगी श्रीश्यामसुन्दर के अनन्य ध्यान में तन्मय रहता है। श्रीकृष्ण श्यामसुन्दर इसलिए कहलाते हैं कि उनके श्रीविग्रह का वर्ण नवोदित मेघ जैसा सौन्दर्य-सदन नीलाभ है, मुखारविन्द नित्य सूर्य के समान प्रफुल्लित है और श्रीअंग में वे उज्ज्वल परिधान, अलंकार एवं वैजयन्ती माला धारण किए हुए हैं। उनके श्रीअंग से बिखरती ब्रह्मज्योति नामक सर्वैश्वर्यमयी प्रभा से सब दिशायें आलोकित हो रही हैं। राम, नृसिंह, वराह तथा स्वयं कृष्ण रूप से वे अवतरित होते हैं, विशेषतः यशोदानन्दन के रूप में नराका अवतार ग्रहण करते हैं। इस प्रकार वे कृष्ण, गोविन्द, वासुदेव, आदि नामों द्वारा गीयमान हैं। वे पूर्ण बालक, पूर्ण पति, पूर्ण सखा और पूर्ण स्वामी के रूप में लीला करते हैं और समग्र ऐश्वर्यों और दिव्य गुणों के आश्रय हैं। जो श्रीभगवान् के इन दिव्य गुणादि से पूर्ण भावित है, वह परम योगी है।

वैदिक शास्त्रों का प्रमाण है कि योग-संसिद्धि की यह चरम अवस्था भक्तियोग के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है:

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

'श्रीभगवान् और गुरुदेव में परम श्रद्धा वाले महात्माओं के हृदय में वैदिक ज्ञान का सम्पूर्ण तात्पर्य अपने-आप प्रकाशित हो जाता है।'

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधि नैरास्येनामुष्मिन् मनः कल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम् : 'भक्ति का अर्थ लौकिक अथवा पारलौकिक—सब विषय-कामनाओं से रहित भगवत्सेवा करना है। त्रिपर्यैषणा से मुक्त होकर मन को पूर्णरूप से श्रीकृष्ण में तन्मय कर देना ही 'नैष्कर्म्य' का प्रयोजन है।'

ये कुछ वे साधन हैं, जिनसे योग की परम संसिद्धि—भक्तियोग अथवा कृष्णभावना का आचरण हो सकता है।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये षष्ठोऽध्यायः।।

अथ सप्तमोऽध्याय:

ज्ञानविज्ञानयोग
(श्रीभगवान् का ज्ञान)

श्रीभगवानुवाच।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **मयि**=मुझ में; **आसक्तमनाः**=आसक्त मन वाला; **पार्थ**=हे पृथापुत्र अर्जुन; **योगम्**=स्वरूप-साक्षात्कार; **युञ्जन्**=अभ्यास करता हुआ; **मदाश्रयः**=मेरे भक्तिभाव (कृष्णभावना) के परायण; **असंशयम्**=निःसन्देह; **समग्रम्**=पूर्ण रूप से; **माम्**=मुझे; **यथा**=जिस प्रकार; **ज्ञास्यसि**=जानेगा; **तत्**=वह; **श्रृणु**=श्रवण कर।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ (अर्जुन)! मेरे भक्तिभाव से युक्त होकर मुझमें आसक्त मन के द्वारा योगाभ्यास करने से तू मुझे निःसन्देह जिस प्रकार पूर्णरूप से जानेगा, उसका श्रवण कर।।१।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता के इस सातवें अध्याय में कृष्णभावनामृत के स्वरूप का पूर्ण निरूपण है। भगवान् श्रीकृष्ण में सम्पूर्ण ऐश्वर्यो का परिपूर्णतम प्रकाश है। इस अध्याय में उनके द्वारा अपने ऐश्वर्य के प्रकटीकरण का वर्णन है। इसके अनिरिवत, श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट होने वाले चार प्रकार की सुकृतियों और कभी न कृष्णोन्मुख होने वाले चार प्रकार के दुर्जनों का उल्लेख भी है।

प्रथम छः अध्यायों में जीव को अप्राकृत आत्मतत्त्व कहा गया है, जो विविध योगपद्धतियों के द्वारा स्वरूप-साक्षात्कार कर सकता है। छठे अध्याय के अन्त में निश्चित उल्लेख है कि श्रीकृष्ण में मन की अचल एकाग्रता, अर्थात् कृष्णभावना परमोच्च योगपद्धति है। मन को श्रीकृष्ण में एकाग्र करने से ही परतत्त्व का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं। निर्विशेष ब्रह्मज्योति तथा एकदेशीय परमात्मा विष्णु की अनुभूति परतत्त्व का पूर्ण ज्ञान नहीं है। श्रीकृष्ण पूर्ण विज्ञान हैं; अतएव कृष्णभावनाभावित भक्त को सम्पूर्ण तत्त्व स्फुरित हो जाता है। पूर्ण कृष्णभावनाभावित पुरुष को यह निश्चित प्रबोध हो जाता है कि श्रीकृष्ण ज्ञान की अवधि हैं। विविध योग पद्धतियाँ तो कृष्णभावनामृत-पथ की प्रवेशिका मात्र हैं। जिसने सीधे कृष्णभावनामृत के पथ को ग्रहण कर लिया है, वह ब्रह्मज्योति एवं परमात्मा के सम्बन्ध में अपने आप सब कुछ जान जाता है। सारांश में, कृष्णभावना-योग के अभ्यास से परतत्त्व, जीवतत्त्व, मायातत्त्व और इनके द्वारा अभिव्यञ्जित अन्य सब तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

अस्तु, छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक के निर्देशानुसार योग का अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए। नवधाभक्ति करने से मन अपने-आप भगवान् श्रीकृष्ण के अभिराम ध्यान में एकाग्र रहेगा। भक्ति की इन विधियों में श्रवण करना सर्वप्रधान है। इसीलिए श्रीभगवान् ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा हैः तच्छृणु 'मुझसे सुन।' भगवान् श्रीकृष्ण परम प्रमाण हैं। अतः उनके मुखचन्द्र से निस्यन्दित वचनामृत को श्रवण करना कृष्णभावनामृत में प्रगति करने का सर्वोत्तम सुयोग है। इस कारण भगवत्-तत्त्व की शिक्षा साक्षात् श्रीकृष्ण अथवा उनके शुद्ध भक्त से ही ग्रहण करनी चाहिए, विद्वत्ता के घमण्डी धूर्त अभक्त से नहीं।

श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध, द्वितीय अध्याय में परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण को जानने की पद्धति का वर्णन हैः

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवण कीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्।।
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी।।
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति।।
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते।।
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे।।

'वैदिक शास्त्रों से श्रीकृष्ण की कथा सुनने अथवा भगवद्गीता के रूप में साक्षात् श्रीकृष्ण से उनकी कथा को सुनने मात्र से पुण्य होता है। प्राणीमात्र के

हृदय में बैठे भगवान् श्रीकृष्ण सुहृद की भाँति कार्य करते हैं और अपनी कथा नित्य सुनने वाले भक्त को शुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार भक्त का सुप्त ज्ञान अपने शुद्ध रूप में फिर से उद्भासित हो जाता है। श्रीमद्भागवत और भक्तों से कृष्णकथा को वह जितना अधिक सुनता है, उतनी ही भगवद्भक्ति में निष्ठा हो जाती है। भक्ति की प्रगाढ़ता होने पर रजोगुण एवं तमोगुण से मुक्ति होती है और इस प्रकार काम, लोलुपता आदि का क्षय हो जाता है। इन अशुद्धियों के दूर होने पर भक्त शुद्ध सत्त्व में स्थिर रहता है। फिर भक्तियोग से उत्पन्न आह्लाद के फलस्वरूप उसे भगवत्-तत्त्व का पूर्ण बोध हो जाता है। इस प्रकार विषयैषणा की तीक्ष्ण ग्रन्थी का भेदन कर भक्तियोग उसे तत्क्षण परतत्व भगवान् श्रीकृष्ण के ज्ञान में (**असंशयं समग्रम्**) आरूढ़ कर देता है। (भागवत १.२.१७-२१)

अतः श्रीकृष्ण से या कृष्णभावनाभावित भक्तों के मुख से श्रवण करने पर ही कृष्णतत्त्व जाना जा सकता है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।२।।

ज्ञानम्=तत्त्वज्ञान; **ते**=तेरे लिए; **अहम्**=मैं; **स विज्ञानम्**=विशेष ज्ञान सहित; **इदम्**=यह; **वक्ष्यामि**=कहूँगा; **अशेषतः**=पूर्णरूप से; **यत्**=जिसे; **ज्ञात्वा**=जानने पर; **न**=नहीं; **इह**=इस संसार में; **भूयः**=फिर; **अन्यत्**=अन्य कुछ भी; **ज्ञातव्यम्**=जानने योग्य; **अवशिष्यते**=शेष रहता है।

अनुवाद

अब मैं तेरे लिए विज्ञानसहित उस ज्ञान को सम्पूर्णता से कहूँगा, जिसको जानकर संसार में फिर कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता।।२।।

तात्पर्य

पूर्णज्ञान में इन्द्रियगोचर जगत् तथा उसमें शक्ति का संचार करने वाले आत्मतत्त्व के ज्ञान का समावेश रहता है। इन दोनों का मूल दिव्य ज्ञान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इस ज्ञान का वर्णन करना चाहते हैं, क्योंकि अर्जुन उनका अन्तरंग भक्त एवं सखा है। चौथे अध्याय के आदि में श्रीकृष्ण ने यह भाव अभिव्यक्त किया है कि शिष्यपरम्परा के भगवद्भक्त को ही साक्षात् श्रीभगवान् से पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। वही यहाँ भी कहते हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो समग्र ज्ञान के उद्गम, सब कारणों के परम कारण और सम्पूर्ण योगमार्गों के एकमात्र ध्येय तत्त्व को जान ले। सब कारणों के परम कारण श्रीभगवान् का तत्त्वज्ञान हो जाने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है, कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता। वेदवाणी है: **यस्मिन् विज्ञते सर्वमेव विज्ञातं भवति।**

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।३।।

मनुष्याणाम्=मनुष्यों में; **सहस्रेषु**=हजारों; **कश्चित्**=कोई एक; **यतति**=प्रयास करता है; **सिद्धये**=कृतार्थता के लिए; **यतताम्**=इस प्रकार यत्नशील मनुष्यों में; **अपि**=भी; **सिद्धानाम्**=सिद्धों में; **कश्चित्**=कोई एक; **माम्**=मुझे; **वेत्ति**=जानता है; **तत्त्वतः**=तत्त्व से।

अनुवाद

हजारों मनुष्यों में से कोई एक संसिद्धि के लिए यत्न करता है और उन सिद्ध हुए पुरुषों में भी कोई दुर्लभ मनुष्य ही मुझे तत्त्व से जानता है।।३।।

तात्पर्य

विभिन्न श्रेणियों के हजारों मनुष्यों में से किसी एक दुर्लभ मनुष्य की आत्मतत्त्व, देहतत्त्व एवं परतत्त्व को जानने के लिए पारमार्थिक अनुभूति में पर्याप्त रुचि होती है। मानव-समाज साधारणतया आहार, निद्रा, मैथुन, भय आदि पशुवृत्तियों में मग्न है; दिव्यज्ञान के लिए प्रायः सभी में रुचि का अभाव है। गीता के प्रथम छः अध्याय दिव्यज्ञान के उन जिज्ञासुओं के लिए हैं, जो आत्मज्ञान तथा परमात्मज्ञान के लिए ज्ञानयोग, ध्यानयोग, विवेक-बुद्धि आदि तत्त्व-साक्षात्कार मार्गों का अनुगमन करते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण के तत्त्व को तो केवल कृष्णभावनाभावित भक्त ही जान सकते हैं। अन्य योगियों को निर्विशेष ब्रह्मानुभूति हो सकती है, क्योंकि श्रीकृष्ण के तत्त्वज्ञान की तुलना में यह सुगम है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ब्रह्म और परमात्मा के ज्ञान से भी परे हैं। निर्विशेषवादियों के अग्रगण्य श्रीपाद शंकराचार्य ने अपने गीताभाष्य में श्रीकृष्ण को परमब्रह्म स्वयं भगवान् स्वीकार किया है; फिर भी योगी और ज्ञानी श्रीकृष्ण को समझने के प्रयास में संभ्रमित हो रहे हैं। शंकराचार्य के अनुगामी श्रीकृष्ण को भगवान् नहीं मानते। कारण, निर्विशेष ब्रह्मानुभूति हो जाने पर भी श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान पाना बड़ा कठिन है।

भगवान् श्रीकृष्ण आदिपुरुष गोविन्द और सब कारणों के परम कारण हैं। '**ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण-कारणम्।**' अभक्तों के लिए उन्हें जानना बड़ा कठिन है। उन अभक्तों का कहना है कि भक्ति-मार्ग अति सुगम है, परन्तु उसका अभ्यास वे नहीं कर सकते। अभक्तों के कथन के अनुसार यदि भक्ति-मार्ग वास्तव में इतना सुगम है तो वे इसको त्याग कर कष्टसाध्य निर्विशेष-पथ को ही क्यों ग्रहण करते हैं? सत्य यह है कि भक्ति-मार्ग सुगम नहीं है। भक्ति के ज्ञान के बिना अप्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा आचरित नाममात्र का भक्ति-पथ सुगम हो सकता है, पर विधि-विधान के अनुसार भक्ति-पथ का अनुसरण करना मनोधर्मी विद्वानों एवं दार्शनिकों के वस की बात नहीं। इसी से वे अतिशीघ्र भक्तिपथ से नीचे गिर जाते हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में श्रील रूप गोस्वामिचरण का कथन है—

श्रुति स्मृति पुराणादि पञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।।

'उपनिषद्, पुराण, नारद पञ्चरात्र आदि प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों की उपेक्षापूर्वक की गयी भगवद्भक्ति समाज में व्यर्थ उत्पातकारी ही सिद्ध होती है।'

ब्रह्मवेत्ता निर्विशेषवादी अथवा परमात्मतत्त्वज्ञ योगी भगवान् श्रीकृष्ण के यशोदा-नन्दन अथवा पार्थसारथि रूप को नहीं जान सकते। मनुष्यों की तो बात ही क्या, महिमामय देवता भी कदाचित् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मोहित हो जाते हैं। **मुह्यन्ति यत्सूरयः, मां तु वेद न कश्चन,** स्वयं श्रीभगवान् का कहना है कि उन्हें तत्त्व से कोई भी नहीं जानता। यदि कोई उनके तत्त्व में निष्णात हो तो, **स महात्मा सुदुर्लभः,** 'ऐसा महात्मा परम दुर्लभ है।' इस प्रकार भगवद्भक्ति की आश्रयता ग्रहण किये बिना उच्च विद्वान् अथवा दार्शनिक तक को श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु भक्तों के लिए श्रीकृष्ण नित्य अनुग्रहशील हैं। एकमात्र शुद्ध भक्त ही उनके सर्वकारणकारणत्व, सर्वशक्तित्व, श्री, यश, वीर्य, सौन्दर्य, ज्ञान एवं वैराग्यादि अचिन्त्य चिन्मय गुणों को यत्किंचित् जानते हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्मतत्त्व की पराकाष्ठा हैं। अतएव उनका तत्त्वज्ञान एकमात्र भक्तों को हो सकता है। शास्त्रवचन है:

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।।

'कुण्ठित प्राकृत इन्द्रियों से श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। भक्तों द्वारा समर्पित भक्ति से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण स्वयं उनके हृदय में अपना तत्त्व प्रकाशित करते हैं।' (पद्मपुराण)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

भूमिः=पृथ्वी; **आपः**=जल; **अनलः**=अग्नि; **वायुः**=पवन; **खम्**=आकाश; **मनः**=चित्त; **बुद्धिः**=प्रज्ञा; **एव**=निःसन्देह; **च**=तथा; **अहंकारः**=मिथ्या अभिमान; **इति**=इस प्रकार; **इयम्**=यह; **मे**=मेरी; **भिन्ना**=विभाजित; **प्रकृतिः**=प्रकृति है; **अष्टधा**=आठ प्रकार से।

अनुवाद

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ऐसे यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी भिन्ना (अपरा) प्रकृति है।।४।।

तात्पर्य

भगवत्-विद्या श्रीभगवान् के स्वरूप और विविध शक्तियों का तात्त्विक विश्लेषण करती है। भौतिक शक्ति को प्रकृति अथवा श्रीभगवान् के विभिन्न पुरुष-अवतारों की शक्ति कहा जाता है, जैसा कि 'सात्वततन्त्र' में उल्लेख है—

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकन्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते।

'प्राकृत-सृष्टि के लिए भगवान् श्रीकृष्ण के अंश तीन विष्णु-रूपों में प्रकट होते हैं। सर्वप्रथम, महाविष्णु महत्तत्त्व नामक सम्पूर्ण भौतिकशक्ति का सृजन करते हैं। दूसरे पुरुषावतार गर्भोदकशायी विष्णु सब ब्रह्माण्डों में नानाविध सृष्टि करने के लिए उनमें प्रवेश करते हैं। तीसरे, क्षीरोदकशायी विष्णु परमात्मा के रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-निकाय में सर्वव्यापक हैं। वे अणु-अणु में हैं। जो इन तीनों विष्णु-रूपों को जानता है, वह भवबन्धन से मुक्ति के योग्य है।

यह प्राकृत-जगत् श्रीभगवान् की एक शक्ति-विशेष का क्षणिक प्रकाशमात्र है। जगत् की सम्पूर्ण क्रियायें भगवान् श्रीकृष्ण के इन तीन विष्णु-रूपों द्वारा संचालित हैं। ये तीनों पुरुषावतार कहलाते हैं। सामान्यतः भगवान् कृष्ण के तत्त्व को न जानने वाले में यह धारणा रहती है कि यह जगत् जीवों के भोगने के लिए है और जीव ही प्रकृति के कारण (पुरुष), नियन्ता एवं भोक्ता हैं। भगवद्गीता के अनुसार यह अनीश्वरवादी निष्कर्ष मिथ्या है। विचारणा विषयक उपरोक्त श्लोक में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण प्राकृत सृष्टि के आदिकारण हैं। श्रीमद्भागवत द्वारा भी यह प्रमाणित है। प्राकृत सृष्टि के घटक पँच-तत्त्व श्रीभगवान् की भिन्ना शक्तियाँ हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादियों की परमलक्ष्य 'ब्रह्मज्योति' भी परव्योम में अभिव्यक्त होने वाली एक भगवत्-शक्ति मात्र है। ब्रह्मज्योति में वैकुण्ठ लोकों के समान चिद्विलास नहीं है, पर फिर भी निर्विशेषवादी इसी को अपना परमलक्ष्य मानते हैं। परमात्मा भी क्षीरोदकशायी विष्णु का अशाश्वत् सर्वव्यापक रूप है। भगवद्धाम में परमात्मा रूप की अभिव्यक्ति नित्य नहीं होती। अतः परमसत्य केवल भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वे समग्र शक्तिमान् पुरुष हैं और नाना प्रकार की भिन्ना (बहिरंगा) और अन्तरंगा शक्तियों से युक्त हैं।

पूर्व कथन के अनुसार, अपरा-प्रकृति (भौतिक-शक्ति) आठ प्रधानरूपों में अभिव्यक्त होती है। इनमें से प्रथम पाँच, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश को स्थूल सृष्टि कहा जाता है। इनकी सृष्टि में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध—ये पाँच इन्द्रियविषय अन्तर्भूत रहते हैं। प्राकृत विज्ञान इन दस तत्त्वों तक सीमित है। अन्य तीनों तत्त्व (मन, बुद्धि एवं मिथ्या अहंकार) विषयियों द्वारा उपेक्षित हैं। सबके परम उद्गम—श्रीकृष्ण को न जानने के कारण मनोधर्मी दार्शनिक पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकते। मिथ्या अहंकार (मैं-मेरा) में, जो भवरोग का मूल कारण है विषयभोग के लिए दस इन्द्रियों का समावेश है। 'बुद्धि' शब्द महत्तत्त्व का वाचक है। इस प्रकार, इन आठ शक्तियों से जगत् के चौबीस तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं, जो नास्तिक सांख्य के विषय हैं। ये भिन्न तत्त्व मूल रूप में श्रीकृष्ण की शक्तियों से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु अल्पज्ञ अनीश्वरवादी सांख्य दार्शनिक श्रीकृष्ण को सब कारणों का परम कारण नहीं समझते। वास्तव में श्रीकृष्ण की वहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति ही सांख्य दर्शन का विवेचनीय विषय है, जैसा भगवद्गीता में वर्णन है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

अपरा=जड़ प्रकृति है; **इयम्**=यह; **इतः**=इसके अतिरिक्त; **तु**=किन्तु; **अन्याम्**=दूसरी; **प्रकृतिम्**=शक्ति को; **विद्धि**=जानने का प्रयत्न कर; **मे**=मेरी; **पराम्**=चेतन; **जीवभूताम्**=जीव रूप; **महाबाहो**=हे बलिष्ठ भुजदण्डों वाले अर्जुन; **यया**=जिसके द्वारा; **इदम्**=यह; **धार्यते**=भोग के लिए ग्रहण किया जाता है; **जगत्**=प्राकृत-संसार।

अनुवाद

हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा (जड़ प्रकृति) के अतिरिक्त मेरी एक जीवरूप परा (चेतन) प्रकृति भी है, जो भौतिक शक्ति से संघर्ष करते हुए ब्रह्माण्ड को धारण करती है।।५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जीव परमेश्वर श्रीकृष्ण की परा प्रकृति (उत्कृष्ट शक्ति) के अंश हैं। अपरा प्रकृति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं मिथ्या अहंकार के रूप में अभिव्यक्त जड़ तत्त्व हैं। भौतिक प्रकृति के भूमि आदि स्थूल और मन आदि सूक्ष्म, दोनों रूप अपरा शक्ति के कार्य हैं। विविध उद्देश्यों से इन अपरा शक्तियों का उपयोग कर रहे जीव परमेश्वर की परा शक्ति हैं। इसी जीव-शक्ति से सम्पूर्ण जगत् कार्यान्वित हो रहा है। जीव रूपी परा शक्ति से संचारित हुए बिना भौतिक सृष्टि कुछ भी क्रिया नहीं कर सकती है। शक्तियाँ नित्य शक्तिमान् के आधीन रहती हैं; इस न्याय से जीव पर सदा श्रीभगवान् का प्रभुत्व रहता है, उनका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं है। इसके अतिरिक्त जीव भगवान् के समान शक्तिमान् भी कभी नहीं हो सकते, जैसा बुद्धिहीन मनुष्यों का मत है। श्रीमद्भागवत (१०.८७.३०) में जीवों और श्रीभगवान् में भेद का निरूपण इस प्रकार है:

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि
न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया।।

हे परम शाश्वत् विभो! यदि बद्धजीव आपके समान ही नित्य एवं सर्वव्यापक होते तो उन पर आपका प्रभुत्व नहीं होता। परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि वे आपकी शक्ति के लघु अंश हैं, तो वे आपके आधीन सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए मुक्ति का सच्चा अर्थ जीवों का आपकी प्रभुता के शरणागत हो जाना है। ऐसी शरणागति उन्हें शाश्वत् आनन्द प्रदान करती है। वस्तुतः इस स्वरूप-स्थिति में ही वे स्वतन्त्रता को पाते हैं। अतएव जो अल्पज्ञ मनुष्य इस अद्वैतवाद का प्रचार करते हैं कि ईश्वर और जीव सब प्रकार से एक हैं, वे वास्तव में अपने को और दूसरों को भ्रमित ही करते हैं।'

परमेश्वर श्रीकृष्ण एकमात्र ईश्वर हैं और सब जीव उनके आधीन हैं। ये जीव श्रीभगवान् की परा-शक्ति हैं, क्योंकि दोनों में समान चिद्गुण हैं। परन्तु जीव शक्ति में भगवान् के तुल्य कभी नहीं हो सकते। जड़ प्रकृति के स्थूल और सूक्ष्म रूपों का

उपभोग करते हुए पराशक्तिस्वरूप जीव को अपने यथार्थ दिव्य चित्त तथा बुद्धि का विस्मरण हो जाता है। इस विस्मृति का कारण जीवात्मा पर जड़ प्रकृति के प्रभाव का पड़ना है। परन्तु जब जीव माया के इस बन्धन से स्वतन्त्र हो जाता है तो मुक्तिलाभ करता है। माया से उत्पन्न मिथ्या अहंकार के प्रभाव में वह सोचता है, 'मैं पाँचभौतिक तत्त्व हूँ, और जड़ पदार्थ मेरे हैं।' श्रीभगवान् से एक हो जाने जैसी सब जड़ धारणाओं से मुक्त हो जाने पर ही उसे अपने स्वरूप की फिर प्राप्ति होती है। अस्तु, यह निष्कर्ष निकलता है कि गीता के अनुसार जीव श्रीकृष्ण की असंख्य शक्तियों में से एक शक्ति मात्र है और सांसारिक पाप से पूर्ण शुद्ध हो जाने पर यह शक्ति पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित, अर्थात् मुक्त हो जाती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

एतत्=ये दोनों शक्तियाँ; **योनीनि**=जन्म की कारण हैं; **भूतानि**=सृष्ट तत्त्वों की; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **इति**=इस प्रकार; **उपधारय**=जान; **अहम्**=मैं; **कृत्स्नस्य**=सम्पूर्ण; **जगतः**=संसार का; **प्रभवः**=उत्पत्ति; **प्रलयः**=प्रलयरूप हूँ; **तथा**=और।

अनुवाद

इस जगत् में जड़ चेतन जो कुछ भी है, वह सब इन दोनों प्रकृतियों से उत्पन्न होता है; इसलिए वास्तव में मैं ही सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति और प्रलय रूप हूँ।।६।।

तात्पर्य

सम्पूर्ण रचित पदार्थ जड़ प्रकृति और आत्मा के कार्य हैं। आत्मा सृष्टि का आधार है; जड़ प्रकृति इसी आत्मतत्त्व के द्वारा रची गयी है। भौतिक सृष्टि के किसी भी काल में आत्मा का सृजन नहीं होता, अपितु पराशक्ति के रूप में वही इस जगत् का आधार है। इस प्राकृत देह का विकास हुआ है, क्योंकि जड़तत्त्व में आत्मा स्थित है। आत्मा के कारण ही बालक क्रमशः कौमार एवं यौवन को प्राप्त होता है। इसी भाँति बृहत्काय ब्रह्माण्डों की सम्पूर्ण सृष्टि में परमात्मा विष्णु की उपस्थिति कारण है। विराट् ब्रह्माण्डीय सृष्टि के लिए मिलीं आत्मा और जड़ प्रकृति, दोनों मूल रूप में श्रीभगवान् की शक्तियाँ हैं। अतएव श्रीभगवान् ही सम्पूर्ण सृष्टि के आदिकारण सिद्ध हुए। श्रीभगवान् का भिन्न-अंश जीव भौतिकशक्ति का कुशल प्रयोग करके गगनचुम्बी प्रासाद, उत्पादनशाला अथवा नगर आदि का निर्माण कर सकता है, पर शून्य से किसी पदार्थ की संरचना नहीं कर सकता और न ही लोक, ब्रह्माण्ड आदि को रच सकता। सम्पूर्ण जीव-समवाय के परम स्रष्टा और सब कारणों के आदिकारण परमात्मस्वरूप श्रीकृष्ण ही सृष्टि के मूल हैं। इसके प्रमाण में कठोपनिषद् में कहा है: 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।'

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

मत्तः=मुझ से; **परतरम्**=श्रेष्ठ; **न**=नहीं; **अन्यत्**=अन्य; **किञ्चित्**=कुछ भी; **अस्ति**=है; **धनञ्जय**=हे धनविजयी अर्जुन; **मयि**=मुझ में; **सर्वम्**=सब कुछ; **इदम्**=जो दृष्टिगोचर है; **प्रोतम्**=ग्रथित है; **सूत्रे**=धागे में; **मणिगणाः**=मुक्ताहल; **इव**=की भाँति।

अनुवाद

हे धनञ्जय! मुझ से श्रेष्ठ अन्य कोई तत्त्व नहीं है। सूत्र में ग्रथित मणियों की भाँति यह सब कुछ मेरे आश्रित हैं।।७।।

तात्पर्य

परमसत्य साकार है या निराकार—इस सम्बन्ध में बहुचर्चित विवाद है। जहाँ तक भगवद्गीता का सम्बन्ध है, भगवान् श्रीकृष्ण मूर्तिमान् परमसत्य हैं। गीता के पद-पद पर यह प्रमाणित हुआ है। विशेष रूप से इस श्लोक में यह बलपूर्वक कहा गया है कि परतत्त्व (परब्रह्म) एक विशिष्ट पुरुष हैं। ब्रह्मसंहिता में भी भगवान् श्रीकृष्ण की परात्परता प्रमाणित है: **'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः'**, सच्चिदानन्दमय विग्रह से युक्त, गोविन्द नामक आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म परतत्त्व हैं। ये सब प्रमाण निर्विवाद रूप से सिद्ध करते हैं कि श्रीकृष्ण सब कारणों के परम कारण पुरुषोत्तम हैं। फिर भी, निराकारवादी श्वेताश्वतरोपनिषद् में उपलब्ध इस वैदिक मन्त्र के आधार पर असत् तर्क उठाते हैं: **ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति**। ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा को देवता, मनुष्य और पशु आदि संसार के सब प्राणियों में सर्वोपरि माना जाता है। पर ब्रह्मा से भी परे एक परतत्त्व है, जिसका कोई प्राकृत रूप नहीं है और जो प्राकृत विकारों से पूर्ण मुक्त है। उस तत्त्व को जानने वाला भी जगत् से अतीत हो जाता है, जबकि उसके अज्ञानी जीव जागतिक यन्त्रणायें भोगते रहते हैं।

निराकारवादी **अरूपम्** शब्द को बहुत महत्त्व देते हैं। वास्तव में यह **अरूपम्** शब्द निराकारता का वाचक नहीं है। इससे तो केवल यही कहा गया है कि श्रीभगवान् का विग्रह सच्चिदानन्दमय है, जैसा उपरोक्त ब्रह्मसंहिता में वर्णन है। श्वेताश्वरोपनिषद् के अन्य श्लोक भी इस तथ्य के पोषक हैः

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्।।

'संसार के अन्धकार से सर्वथा परे श्रीभगवान् को मैं जानता हूँ। उनके तत्त्व को जानने वाला ही जन्म-मृत्यु के बन्धन का उल्लंघन कर सकता है। परम पुरुषोत्तम के ज्ञान से अतिरिक्त मोक्ष का कोई अन्य पथ नहीं है।'

'उन परम पुरुषोत्तम से उत्तम अन्य कोई तत्त्व नहीं है। वे अणुतम तत्त्व से भी अणुतर हैं एवं महान् से भी महान् हैं। वृक्ष के समान मौन स्थित रहते हुए वे

परव्योम को उद्भासित करते हैं और वृक्ष के मूल के समान अपनी विविध शक्तियों का विस्तार भी करते हैं।'

इन श्लोकों से सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् परतत्त्व परब्रह्म हैं और अपनी विविध परा-अपरा शक्तियों के रूप में सर्वव्यापक हैं।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

रसः=रस हूँ; **अहम्**=मैं; **अप्सु**=जल में; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **प्रभा अस्मि**=मैं प्रकाश हूँ; **शशिसूर्ययोः**=चन्द्रमा एवं सूर्य में; **प्रणवः**=ओम्; **सर्व**=सम्पूर्ण; **वेदेषु**=वेदों में; **शब्दः**=ध्वनिस्फुरण; **खे**=आकाश में; **पौरुषम्**=सामर्थ्य; **नृषु**=पुरुषों में।

अनुवाद

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! मैं जल में रस हूँ और सूर्य एवं चन्द्रमा में प्रभा हूँ तथा वैदिक मन्त्रों में ओंकार हूँ; आकाश में शब्द हूँ तथा मनुष्यों में पुरुषत्व हूँ।।८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में वर्णन किया गया है कि किस प्रकार अपनी विविध प्राकृत एवं चिन्मय शक्तियों के द्वारा श्रीभगवान् सर्वव्यापक हैं। परमेश्वर श्रीकृष्ण की प्रारम्भिक अनुभूति उनकी नाना शक्तियों के रूप में ही होती है। यह उनकी निर्विशेष अनुभूति है। जैसे सूर्य का अधिष्ठातृ-देवता एक पुरुष-विशेष है जिसका अनुभव उसकी सर्वव्यापक शक्ति, सूर्यप्रभा के रूप में होता है। उसी प्रकार अपने नित्य धाम में विराजमान होते हुए भी भगवान् अपनी सर्वव्यापी शक्तियों के द्वारा अनुभवगम्य हैं। रस जल का धर्म है। सागर का जल पीने योग्य नहीं है क्योंकि उसमें जल का शुद्ध स्वारस्य लवण द्वारा दूषित रहता है। जल के प्रति आकर्षण उसके रस की शुद्धता पर निर्भर करता है; यह विशुद्ध रस भी भगवान् की एक शक्ति है। निराकारवादी को जल के स्वारस्य से ईश्वर-सन्निधि का बोध होता है, जबकि साकारवादी प्यास-निवृत्ति के लिए कृपापूर्वक जल दान करने के लिए श्रीभगवान् का जयकार भी करता है। भगवत्-अनुभूति की यह पद्धति है। वस्तुतः साकारवाद और निराकारवाद में कोई मतभेद नहीं है। श्रीभगवान् के तत्त्व को जानने वाला जानता है कि निराकार एवं साकार दोनों प्रत्येक पदार्थ में एक साथ विद्यमान हैं। परस्पर विरोध का प्रश्न नहीं उठता। इसी कारण श्रीचैतन्य महाप्रभु ने **अचिन्त्यभेदाभेद** नामक दिव्य सिद्धान्त को स्थापित किया है।

सूर्य तथा चन्द्रमा की ज्योत्स्ना मूलरूप में ब्रह्मज्योति, अर्थात् श्रीभगवान् की निर्विशेष प्रभा से निकली है। प्रत्येक वैदिक मन्त्र के प्रारम्भ में श्रीभगवान् के सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त होने वाला **प्रणव** अथवा **ओंकार** भी उन्हीं से प्रकट हुआ है। निर्विशेषवादियों को परमेश्वर श्रीकृष्ण को उनके असंख्य नामों में से किसी से

पुकारने में भय का अनुभव होता है; उन की धारणा में 'ओंकार' अधिक उत्तम है। परन्तु वे नहीं जानते कि ओंकार श्रीकृष्ण का ही नादविग्रह है। कृष्णभावनामृत की सार्वभौम प्रभुसत्ता है; अतः जो कृष्णभावनामृत का तत्त्वज्ञ हो जाता है, वह सौभाग्यशाली है। इनके विपरीत, जो श्रीकृष्ण को नहीं जानता, वह माया के बन्धन में है। श्रीकृष्ण का ज्ञान मुक्ति है और श्रीकृष्ण अज्ञान ही बन्धन है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

पुण्यः=अविकृत (आद्य); **गन्धः**=सौरभ; **पृथिव्याम्**=पृथ्वी में; **च**=तथा; **तेजः**=तापमान; **च**=भी; **अस्मि**=मैं हूँ; **विभावसौ**=अग्नि में; **जीवनम्**=आयु; **सर्वभूतेषु**=सब प्राणियों में; **तपः**=द्वन्द्व सहना; **च**=तथा; **अस्मि**=मैं हूँ; **तपस्विषु**=तपस्वियों में।

अनुवाद

मैं पृथ्वी में आद्य सौरभ हूँ और मैं ही अग्नि में तेज हूँ। मैं ही सब प्राणियों में उनका जीवन और तपस्वियों में तप हूँ।।९।।

तात्पर्य

पुण्य उसे कहते हैं जिसमें विकार नहीं होता; 'पुण्य' आद्य है। पुष्प, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जगत् की प्रत्येक वस्तु में एक विशिष्ट सौरभ रहती है। विशुद्ध आद्य सुगन्ध, जो सर्वव्यापक है, श्रीकृष्ण का रूप है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ का अपना विशिष्ट रस होता है, जिसे रासायनिक सम्मिश्रण से यथारुचि बदला जा सकता है। अतः सभी मूल पदार्थों में किसी विशिष्ट गन्ध, सुरभि और रस की प्राप्ति होती है। **विभावसौ** का अर्थ अग्नि है। अग्नि के अभाव में निर्माण, रन्धन आदि कर्म नहीं किये जा सकते। अतः अग्नि भी श्रीकृष्ण का रूप है। अग्नि का ताप श्रीकृष्ण हैं। आयुर्वेद के अनुसार, अपच का कारण उदर में मन्दाग्नि का होना है। अतएव पाचन के लिए भी अग्नि अनिवार्य है। कृष्णभावना में हम जानते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि सब रासायनिक और भौतिक तत्त्वों के स्रोत श्रीकृष्ण हैं। मानव जीवन की अवधि भी श्रीकृष्ण द्वारा निर्धारित है। अतः गोविन्द-अनुग्रह के अनुसार मनुष्य अपने जीवनकाल को बढ़ा-घटा सकता है। इस प्रकार कृष्णभावना प्रत्येक क्षेत्र में क्रियाशील है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

बीजम्=कारण; **माम्**=मुझे; **सर्वभूतानाम्**=सब प्राणियों का; **विद्धि**=जान; **पार्थ**=हे पृथापुत्र; **सनातनम्**=आद्य, नित्य; **बुद्धिः**=प्रज्ञा; **बुद्धिमताम्**=बुद्धिमानों की; **अस्मि**=मैं हूँ; **तेजः**=शक्ति; **तेजस्विनाम्**=शक्तिशालियों की; **अहम्**=मैं हूँ।

अनुवाद

हे पार्थ! सब प्राणियों का आदि बीज मुझे ही जान। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज भी मैं ही हूँ।।१०।।

तात्पर्य

बीजम् का अर्थ कारण है। श्रीकृष्ण सबके बीज हैं। भौतिक प्रकृति के संग में बीज चराचर नाना जीव योनियों के रूप में फलित होता है। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चर जीव हैं, जबकि वृक्ष, तरु आदि अचर हैं। जीवमात्र की चराचर ८४,००,००० योनियाँ हैं। इन सब के जीवन के बीज श्रीकृष्ण हैं। वैदिक शास्त्रों में उल्लेख है कि ब्रह्म सम्पूर्ण पदार्थों का उद्गम है। श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं; ब्रह्म निर्विशेष तत्त्व है, जबकि परब्रह्म सविशेष-साकार हैं। भगवद्गीता के अनुसार निर्विशेष ब्रह्म साकार परब्रह्म के आश्रय में स्थित है। अतः मूल रूप से श्रीकृष्ण ही सबके उद्गम हैं। जिस प्रकार जड़ पूरे वृक्ष का परिपालन करती है, उसी भाँति सम्पूर्ण पदार्थों के आदि कारण श्रीकृष्ण इस सृष्टि के सम्पूर्ण योगक्षेम का वहन करते हैं। वैदिक शास्त्रों द्वारा यह प्रमाणित है: **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।** 'परमसत्य वह है जिससे सब कुछ उत्पन्न हुआ है।' वे नित्य तत्त्वों में परम नित्य हैं, चेतनाधारियों में परम चैतन्य हैं और सम्पूर्ण जीवन के पोषक हैं। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि वे सम्पूर्ण बुद्धि-शक्ति के स्रोत हैं। अतएव एकमात्र बुद्धिमान् मनुष्य ही भगवान् श्रीकृष्ण को जान सकता है।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

बलम्=पराक्रम; **बलवताम्**=बलवानों का; **च**=तथा; **अहम्**=मैं हूँ; **काम**=काम; **राग**=आसक्ति; **विवर्जितम्**=शून्य; **धर्म अविरुद्धः**=धर्म के अनुकूल; **भूतेषु**=जीवों में; **कामः**=मैथुन; **अस्मि**=मैं हूँ; **भरतर्षभ**=हे भरतवंशियों के नाथ (अर्जुन)।

अनुवाद

मैं बलवानों का कामना और आसक्ति से रहित बल हूँ। और हे अर्जुन! जीवों में धर्मसम्मत काम भी मैं ही हूँ।।११।।

तात्पर्य

बलवान् अपने बल का उपयोग निर्बल की रक्षा के लिए ही करे, स्वार्थप्रेरित आक्रमण के लिए नहीं। इसी भाँति, धर्मसम्मत मैथुन का उद्देश्य केवल संतति करना हो, विषयसुख नहीं। अपनी सन्तान को कृष्णभावनाभावित बनाना माता-पिता का परम कर्तव्य है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

ये=जो; **च**=तथा; **एव**=निःसन्देह; **सात्त्विकाः**=सात्त्विक; **भावाः**=भाव हैं; **राजसाः**=राजसिक; **तामसाः**=तामसिक; **च**=भी; **ये**=जो; **मत्तः**=मुझ से; **एव**=ही (हैं); **इति**=इस प्रकार; **तान्**=उन्हें; **विद्धि**=जान; **न**=नहीं; **तु**=परन्तु; **अहम्**=मैं; **तेषु**=उनमें (हूँ); **ते**=वे; **मयि**=मुझ में।

अनुवाद

जो भी सत्त्वगुण, रजोगुण अथवा तमोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, वे सब मेरी ही शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। एक दृष्टि से मैं सब कुछ हूँ, फिर भी माया के गुणों के आधीन न होने के कारण मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूँ।।१२।।

तात्पर्य

सम्पूर्ण सांसारिक क्रियाएँ माया के तीन गुणों की आधीनता में हो रही हैं। इन मायिक गुणों के मूल होने पर भी परमेश्वर श्रीकृष्ण इनके वशवर्ती नहीं हैं। उदाहरण के लिए, राजकीय विधान के अनुसार अपराधी दण्डित किया जाता है, पर विधानकर्ता राजा पर उसका अधिकार नहीं होता। वैसे ही सत्त्व, रज और तम—माया के इन गुणों के मूल होने पर भी परमेश्वर श्रीकृष्ण माया के आधीन नहीं हैं। इसी से उन्हें 'निर्गुण' कहा जाता है, जिसका तात्पर्य यह है कि उनसे प्रकट होने पर भी ये गुण उन्हें अभिभूत नहीं कर सकते। यह श्रीभगवान् का एक विशिष्ट स्वरूप-लक्षण है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

त्रिभिः=तीनों प्रकार के; **गुणमयैः**=गुणमय; **भावैः**=भावों से; **एभिः**=इन; **सर्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **इदम्**=यह; **जगत्**=संसार; **मोहितम्**=भ्रांत; **नाभिजानाति**=नहीं जानता; **माम्**=मुझे; **एभ्यः**=इनसे; **परम्**=परे; **अव्ययम्**=सनातन।

अनुवाद

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों प्रकार के गुणों द्वारा मोहित यह सारा संसार इन गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता।।१३।।

तात्पर्य

सम्पूर्ण जगत् माया के त्रिविध गुणों के वशीभूत हो रहा है। इन गुणों द्वारा मोहित जीव माया से परे भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं पहचानता। त्रिविध गुणों के आधीन होने से इस जगत् में सभी विमोहित हैं।

स्वभाव-भेद के अनुसार जीवों के नाना शरीर और मानसिक एवं शारीरिक कार्य-कलाप होते हैं। मायिक गुणों के आधीन कार्य करने वाले मनुष्यों की चार कोटियाँ हैं। विशुद्ध सत्त्वगुणी मनुष्य ब्राह्मण कहलाते हैं और रजोगुणी क्षत्रिय कोटि में आते हैं। रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण में स्थित मनुष्य वैश्य हैं और पूर्णतया तमोगुणी मनुष्य शूद्र कहलाते हैं। इनसे भी अधम जीव पशुयोनि ग्रहण करते हैं। परन्तु ये उपाधियाँ चिरस्थायी नहीं हैं। वर्तमान में मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि

किसी भी वर्ग में गिना जा सकता हूँ, परन्तु कोई भी अवस्था क्यों न हो, जीवन नाशवान् है। यद्यपि जीवन क्षणभंगुर है और हमें पता नहीं कि अगले जन्म में हमें कौन सी देह प्राप्त होगी, फिर भी माया से उत्पन्न देहात्मबुद्धि के कारण हम अपने को अमरीकी, भारतीय, रूसी अथवा ब्राह्मण, हिन्दू, मुस्लिम आदि मान बैठे हैं। माया के गुणों में बँध जाने से इनके ईश्वर—श्रीभगवान् की हमें विस्मृति हो गयी है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि माया के इन गुणों द्वारा मोहित मनुष्य यह नहीं जानते कि सृष्टि के पीछे मैं (परात्पर) हूँ।

जीवों की मनुष्य, देवता, पशु आदि अनेक कोटियाँ हैं। माया की आधीनता में इन सभी को भगवान् का विस्मरण हो गया है, जो माया से परे हैं। रजोगुणी और तमोगुणी जीवों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, यहाँ तक कि सत्त्वगुणी जीव भी परतत्त्व के निर्विशेष ब्रह्मरूप का उल्लंघन नहीं कर सकते। सम्पूर्ण श्री, ऐश्वर्य, ज्ञान, वीर्य, यश एवं वैराग्य से युक्त श्रीभगवान् के साकार रूप के सम्बन्ध में वे संमोहित से रहते हैं। जब सत्त्वगुणी जीव तक भगवान् के तत्त्व को जानने में असमर्थ हैं तो रजोगुणी और तमोगुणी जीवों के लिए क्या आशा हो सकती है? कृष्णभावनामृत माया के इन तीनों गुणों से बिल्कुल परे है। अतएव जो यथार्थ में कृष्णभावनाभावित हैं, वे पुरुष ही वास्तव में मुक्त हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

दैवी=अलौकिक, अद्भुत; **हि**=निःसन्देह; **एषा**=यह; **गुणमयी**=त्रिविध गुणमयी; **मम**=मेरी; **माया**=शक्ति; **दुरत्यया**=बड़ी दुस्तर है; **माम्**=मेरी; **एव**=ही; **ये**=जो; **प्रपद्यन्ते**=शरण ग्रहण करते हैं; **मायाम् एताम्**=इस संमोहिनी शक्ति से; **तरन्ति**=तर जाते हैं; **ते**=वे।

अनुवाद

मेरी यह दैवी शक्ति, अर्थात् त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे सुगमतापूर्वक इससे तर जाते हैं।।१४।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् की असंख्य दिव्य शक्तियाँ हैं। यद्यपि उनकी शक्ति के अंश होने के रूप में जीव भी दिव्य हैं, पर माया के संसर्ग से उनकी आदि पराशक्ति ढक सी गई है। इस प्रकार माया से ढका जीव उसके बन्धन से छूट नहीं पाता। जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, श्रीभगवान् से प्रकट अपरा और परा, दोनों शक्तियाँ नित्य हैं। जीव श्रीभगवान् की नित्य पराशक्ति के अंश हैं, परन्तु अपरा प्रकृति (माया) के बन्धनवश उनका मोह भी अनादि है। इसी कारण बद्धजीव को 'नित्यबद्ध' कहा जाता है। सांसारिक इतिहास की दृष्टि से यह निश्चित करना सम्भव नहीं है कि वह कब बन्धन में पड़ा। परिणामस्वरूप, चाहे माया अपरा (निकृष्ट) शक्ति है, पर उसके

बन्धन से मुक्ति बड़ी कठिन है। कारण, माया की नियन्त्री परमेश्वर की वह इच्छाशक्ति है जिसका जीव उल्लंघन नहीं कर सकते। माया (अपरा प्रकृति) को इस श्लोक में 'दैवी' कहा गया है, क्योंकि वह भगवान् से सम्बन्धित है और भगवत्-इच्छा के अनुसार कार्य करती है। श्रीभगवान् की इच्छा-शक्ति द्वारा संचालित होने के कारण यह अपरा प्रकृति निकृष्ट होने पर भी सृष्टि की संरचना-विनाश जैसे अद्‌भुत कार्य कर लेती है। वेदों से प्रमाणित है:

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

माया अनित्य है, परन्तु उसके पृष्ठ-आधार स्वयं महेश्वर श्रीभगवान् हैं।

'गुण' शब्द का एक अर्थ रज्जु (रस्सी) भी है। यह समझना चाहिए कि बद्धजीव मोह की रस्सी में जकड़ा हुआ है। वह मनुष्य, जिसके सब अंग बँधे हुए हों, स्वयं अपने को मुक्त नहीं कर सकता। इसके लिए आवश्यक है कि कोई मुक्त मनुष्य उसकी सहायता करे। एक बन्दी दूसरे बन्दी को मुक्त नहीं करा सकता; त्राता वही हो सकता है, जो स्वयं स्वतन्त्र हो। अतः भगवान् श्रीकृष्ण अथवा उनके सच्चे प्रकाश—गुरुदेव ही बद्धजीव को मुक्त कर सकते हैं। ऐसी सहायता के बिना माया-बन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती। भगवद्‌भक्ति अथवा कृष्णभावना मुक्ति-पथ में परम सहायक सिद्ध होती है। मायाधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही इस दुस्तर माया शक्ति को जीव को मुक्त कर देने का आदेश दे सकते हैं। शरणागत जीव पर अपनी अहैतुकी करुणा और मूल रूप में अपने प्रिय पुत्र जीव पर वात्सल्य स्नेह से प्रेरित होकर वे उसकी मुक्ति का आदेश दे देते हैं। अतः भगवान् के चरणों की शरणागति माया के भीषण बन्धन से मुक्ति का एकमात्र साधन है।

माम् एव पद भी बड़ा सारगर्भित है। **माम्** का तात्पर्य भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु) से है, ब्रह्मा अथवा शिव से नहीं। उच्च देव-पदासीन होने के रूप में ब्रह्मा और शिव प्रायः श्रीविष्णु के समकक्ष हैं, पर रजोगुण-तमोगुण के ये अवतार बद्धजीव को माया बन्धन से मुक्त नहीं करा सकते। भाव यह है कि ब्रह्मा और शिव भी माया के आधीन हैं। माया से स्वामी एकमात्र श्रीविष्णु हैं। अतएव बद्धजीव की मुक्ति करने में एकमात्र वे समर्थ हैं। वेदों में इस सत्य का समर्थन है: **तमेव विदित्वा**, अर्थात् 'श्रीकृष्ण के तत्त्व-ज्ञान से ही मुक्ति हो सकती है।' स्वयं श्रीशिव ने स्वीकार किया है कि श्रीविष्णु के अनुग्रह से ही मुक्ति होती है। उनका वचन है:

मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः

'सम्पूर्ण जीवों को मुक्ति देने वाले निःसन्देह श्रीविष्णु ही हैं।'

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

न=नहीं; **माम्**=मेरे; **दुष्कृतिनः**=दुष्ट; **मूढाः**=मूर्ख; **प्रपद्यन्ते**=शरणागत होते; **नराधमाः**=मनुष्यों में अधम; **मायया**=माया द्वारा; **अपहृत ज्ञानाः**=हरे हुए ज्ञान वाले; **आसुरम्**=आसुरी; **भावम्**=स्वभाव को; **आश्रिताः**=धारण किए हुए।

अनुवाद

माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले, आसुरी स्वभाव को धारण किए हुए, मनुष्यों में अधम और पापकर्म करने वाले मूढ़ मेरी शरण नहीं लेते ।।१५।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता में कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणाविन्द की शरण में जाने मात्र से जीव माया के कठोर नियमों को लाँघ सकता है। इस पर एक जिज्ञासा उठती है। क्या कारण है कि विद्वान् दार्शनिक, वैज्ञानिक, व्यापारी, प्रशासक तथा लोगों के अन्य सब अग्रणी सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में नहीं जाते ? मानवता के पथप्रदर्शक नाना प्रकार की बड़ी-बडी योजना बनाकर अनेक वर्षों और जन्मान्तरों तक अध्यवसायपूर्वक मुक्ति के लिए उद्यम करते रहते हैं। परन्तु जब भगवान् के चरणारविन्द में प्रपन्न होने मात्र से मुक्ति सुलभ हो सकती है, तो क्यों नहीं ये बद्धिमान् और परिश्रमी लोग इस सुगम पथ को अंगीकार करते ?

गीता में इस जिज्ञासा का स्पष्ट उत्तर उपलब्ध है। समाज के सच्चे विद्वान् अग्रणी— ब्रह्मा, शिव, कपिल, कुमार, मनु, व्यास, देवल, असित, जनक, प्रह्लाद, वलि, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा अन्य श्रद्धालु दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, शिक्षक आदि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण अवश्य लेते हैं। परन्तु जो वास्तव में दार्शनिक, वैज्ञानिक, शिक्षक, प्रशासक आदि नहीं हैं, केवल लौकिक लाभ के लिए ऐसी योग्यताओं से युक्त होने का कपट भर करते हैं, वे भगवत्-विधान अथवा भागवतपथ को स्वीकार नहीं कर सकते। भगवान् के सम्बन्ध में वे कुछ भी नहीं जानते, इसलिए सांसारिक योजनाएँ ही बनाते रहते है। वे भवरोग की समस्याओं का उपचार तो कर नहीं पाते, अपितु उन्हें और भी अधिक जटिल वना देते हैं। शक्तिशाली मायाशक्ति इन अनीश्वरवादियों की योजनाओं का प्रतिकार कर 'योजना आयोगों' के ज्ञान को ध्वस्त कर देती है।

अनीश्वरवादी योजनाकारों को इस श्लोक में **दुष्कृतिन** अर्थात् पापात्मा कहा गया है। **कृतिन** शब्द का अर्थ पुण्यात्मा होता है। नास्तिक योजनाकार भी कभी-कभी अत्यन्त बुद्धिमान् एवं श्लाध्य सिद्ध होता है, क्योंकि अच्छी-बुरी किसी भी बड़ी योजना के लिए बुद्धि चाहिए। पर परमेश्वर की योजना के विरोध में अपनी मति का दुरुपयोग करने के कारण अनीश्वरवादी योजनाकार **दुष्कृतिन** है। भाव यह है कि उसकी बुद्धि और चेष्टा उल्टी दिशा की ओर हैं।

गीता में स्पष्ट कहा है कि माया-शक्ति पूर्णरूप से परमेश्वर श्रीकृष्ण के नियन्त्रण में कार्य करती है; उसका कोई स्वतन्त्र प्रभुत्व नहीं है। जिस प्रकार छाया पदार्थ का अनुसरण करती है, माया भी वैसे ही कार्य करती है। फिर भी, माया-शक्ति

अत्यन्त वलिष्ठ है। अपने अनीश्वरवादी स्वभाव के कारण नास्तिक उसकी क्रिया-विधि से अवगत नहीं हो सकता और न ही श्रीभगवान् की योजना को जान सकता। सम्मोह, रजोगुण और तमोगुण से आवृत होने के कारण उसकी सब योजनाएँ विफल हो जाती हैं, उसी प्रकार जैसे वैज्ञानिक, दार्शनिक, प्रशासक तथा शिक्षावित् होते हुए भी हिरण्यकशिपु, रावण आदि की योजनाएँ धूल में मिल गई थीं। दुष्टों के चार वर्ग हैं—

(१) **मूढः** भारवाहक पशुओं जैसे महामूर्ख व्यक्तियों को मूढ़ कहा जाता है। वे अपने परिश्रम के फल को स्वयं भोगने की तृष्णा रखते हैं, इसलिए उसे श्रीभगवान् को अर्पित करना उन्हें अच्छा नहीं लगता। इस प्रकार के नरपशुओं का सबसे उपयुक्त उदाहरण गधा है। इस दीन पशु से उसका स्वामी अतिश्रम कराता है। गधा नहीं जानता कि वह किसके लिए दिन-रात इतना उद्यम करता है। सूखे तिनकों से पेट भरने, स्वामी से नित्यभयभीत रहते कुछ समय विश्राम करने, और बारम्बार गधी की लात खा-खाकर भी गधा मैथुन में तृप्ति मानता है। कभी-कभी वह कविता अथवा दर्शन का भी गान करता है, परन्तु उसका खरनाद दूसरों को क्षोभ पहुँचाने में ही सफल होता है। कर्म किसके लिए करना चाहिए, इस ज्ञान से रहित मूढ़ सकाम कर्मी की ठीक यही स्थिति है। वह नहीं जानता कि कर्म केवल यज्ञ (विष्णु) के लिये करना चाहिये।

स्वकल्पित कर्तव्यों के बोझ से दबे रहकर दिन-रात कठोर परिश्रम करने वाले प्रायः कहते हैं कि आत्मा के अमृत-स्वरूप की चर्चा सुनने के लिये उनके पास समय नहीं है। ऐसे मूढ़ों के लिए अनित्य विषय-लाभ जीवन का सर्वस्व है, हाँलाकि वे अपने परिश्रम-फल के अल्पांश का ही उपभोग कर पाते हैं। मूढ़ विषय-लाभ के लिये निद्रारहित दिन-रात विताते हैं; उदरव्रण अथवा मन्दाग्नि से पीड़ित होने पर भी उत्तम से उत्तम भोजन से उनकी तृप्ति नहीं हो पाती। मायिक स्वामी के लिए दिन-रात अथक परिश्रम करने में वे अभिरत रहते हैं। अपने सच्चे स्वामी को न जानकर ऐसे मूढ़ कर्मी माया की सेवा में अपने अमूल्य समय का अपव्यय कर रहे हैं। दुर्भाग्यवश, सब स्वामियों के परम स्वामी (भगवान्) की शरण में वे कभी नहीं जाते और न ही समय निकाल कर प्रामाणिक आचार्यमुख से उनकी कथा का श्रवण करते हैं। विष्ठा खाने वाले सुअर को चीनी और घी से बने मिष्ठान्न कभी अच्छे नहीं लग सकते। ऐसे ही, मूढ़ कर्मी जगत् को आन्दोलित करने वाली चंचल प्राकृत शक्ति की इन्द्रियतृप्तिदायक वार्ताओं को ही निरन्तर सुना करता है।

(२) द्वितीय कोटि के दुष्ट **नराधम**, अर्थात् मनुष्यों में परम अधम कहलाते हैं। ८४,००,००० योनियों में ४,००,००० मानवीय योनियाँ हैं। इनमें अनेक नीच योनियों के मनुष्य प्रायः असभ्य होते हैं। जो सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विधि-विधान से युक्त हैं, वे सभ्य कहे जाते हैं। सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से

विकसित होने पर भी जो धर्म से शून्य हैं, वे नराधम हैं। श्रीभगवान् की धारणा से शून्य धर्म वास्तव में धर्म नहीं है, क्योंकि धर्माचरण का एकमात्र प्रयोजन परम सत्य को और उससे मनुष्य के सम्बन्ध को जानना है। गीता में श्रीभगवान् ने स्पष्ट घोषणा की है कि उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई प्रमाण नहीं है, वे ही परम सत्य हैं। सभ्य मानव-जीवन सर्वशक्तिमान् परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध की खोयी चेतना को फिर से जागृत करने के लिये है। जो इस परम दुर्लभ सुअवसर का लाभ नहीं उठाता, वह नराधम है। शास्त्रों से ज्ञात है कि मातृगर्भ की परम दुःखदायी अवस्था में शिशु श्रीभगवान् से अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करता है और बाहर निकलते ही उनकी आराधना करने का वचन भी देता है। विपदा में श्रीभगवान् की स्तुति करना जीवमात्र के लिये स्वाभाविक है, क्योंकि वास्तव में श्रीभगवान् से उसका शाश्वत् सम्बन्ध है। परन्तु प्रसव होते ही बालक गर्भ की पीड़ा को भूल जाता है और माया के प्रभाव में आकर अपने रक्षक की भी उसे विस्मृति हो जाती है।

अपने बालकों के सोए भगवत्प्रेम को फिर जागृत करना अभिभावकों का प्रधान कर्तव्य है। वर्णाश्रम-पद्धति में धर्मशास्त्र मनुस्मृति के अनुसार किए जाने वाले दस प्रकार के शुद्धि संस्कारों का उद्देश्य इस भगवत्प्रेम का पुनर्जागरण ही है। परन्तु अब किसी भी अंचल में इस पद्धति का दृढ़ता से अनुसरण नहीं किया जाता। परिणामस्वरूप आज विश्व में ९९.९ प्रतिशत लोग नराधम हैं।

सम्पूर्ण जनता के नराधम हो जाने पर यह स्वाभाविक ही है कि उसकी सारी नाममात्र की शिक्षा जड़ प्रकृति की महान् शक्ति के प्रभाव से निष्फल हो जाती है। गीता के मापदण्ड के अनुसार जिसकी विद्वान् ब्राह्मण, कुत्ते, गाय, हाथी और चाण्डाल में समदृष्टि हो, वह पण्डित है। यह सच्चे भक्त की दृष्टि है। गुरुरूप भगवदवतार श्रीनित्यानन्द प्रभु ने नराधम-शिरोमणि जगाई-मधाई बन्धुओं का उद्धार कर के नराधमों पर शुद्धभक्त की अनुकम्पा के परिवर्षण का अनुपम आदर्श स्थापित किया। इस प्रकार भगवद्भक्त की अहैतुकी कृपा से श्रीभगवान् द्वारा दण्डित नराधम में भी भगवत्प्रेम का फिर से उदय हो सकता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भागवतधर्म का प्रवर्तन करते हुए उपदेश किया है कि लोग दैन्यभाव से भगवत्कथा का श्रवण करें। भगवद्गीता इस कथा की सार-सर्वस्व है। भागवती कथा को विनम्रता से सुनने पर नराधमों की भी मुक्ति हो सकती है। दुर्भाग्यवश, भगवत्-इच्छा के प्रति समर्पण करना तो दूर रहा, वे तो इस कथा का श्रवण तक नहीं करते। इस प्रकार ये नराधम मनुष्ययोनि के सर्वप्रधान कर्तव्य की पूर्णरूप से उपेक्षा कर रहे हैं।

(३) तीसरी श्रेणी के दुरात्मा **माययापहृत ज्ञान** कहलाते हैं, अर्थात् जिनका प्रकाण्ड ज्ञान माया शक्ति के प्रभाव से हर लिया गया है। इस श्रेणी के लोग अधिकांश में बड़े विद्वान्, दार्शनिक, कवि, साहित्यकार, वैज्ञानिक आदि होते हैं। परन्तु

माया उन्हें सत्पथ से भ्रष्ट कर देती है,—वे भी *श्रीभगवान् की अवज्ञा कर बैठते हैं।*

वर्तमान काल में गीता के विद्वानों में भी बहुत से **माययापहृत ज्ञान** मूढ़ हैं। गीता में सीधी सरल भाषा में बार-बार कहा गया है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। वे असमोर्ध्व हैं, अर्थात् उनके समान या उनसे अधिक कोई नहीं है, क्योंकि वे सब मनुष्यों के पिता—ब्रह्मा के भी पिता हैं। ब्रह्मा के ही नहीं, वे तो सम्पूर्ण जीव-योनियों के जन्मदाता हैं। वे ही निर्विशेष ब्रह्म के आश्रय हैं, और जीवमात्र के अन्तर्यामी परमात्मा उन्हीं का अंश है। वे सबके स्रोत हैं, अतः सभी को उनके शरणागत हो जाना चाहिए। इन स्पष्ट वाक्यों के होते हुए भी **माययापहृत ज्ञान** मूढ़ श्रीभगवान् को साधारण मनुष्य समझकर उनका उपहास किया करते हैं। वे नहीं जानते हैं कि महाभाग मनुष्य-शरीर श्रीभगवान् के नित्य-चिन्मय श्रीविग्रह के अनुसार ही रचा गया है।

माययापहृत ज्ञान श्रेणी के मूढ़ों ने परम्परा के बाहर गीता की जो भी अप्रामाणिक व्याख्याएँ की हैं, वे सब ज्ञान के पथ में बाधक सिद्ध होती हैं। मूढ़ *व्याख्याकार न तो स्वयं श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण लेते हैं और न दूसरों को ही* ऐसा करने की शिक्षा देते हैं।

(४) अन्तिम कोटि के दुष्ट **आसुरभावाश्रित**—आसुरी स्वभाव धारी हैं। यह श्रेणी खुले रूप में अनीश्वरवादी है। इस कोटि के मनुष्य रूपधारी असुरों का तर्क हैं कि परमेश्वर इस प्राकृत-जगत् में कभी अवतरित नहीं हो सकते। परन्तु अपने इस तर्क को वे किसी ठोस प्रमाण के आधार पर सिद्ध नहीं कर पाते। दूसरे श्रीभगवान् को निर्विशेष ब्रह्म के आधीन कहते हैं, यद्यपि गीता में इससे ठीक विपरीत वर्णन है। श्रीभगवान् से ईर्ष्यावश ये अनीश्वरवादी अनेक कपोलकल्पित झूठे अवतारों को प्रकट करते हैं। जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य भगवान् की निन्दा करना है, ऐसे ये दुर्जन श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण कभी नहीं ले सकते।

भक्तराज श्रीयामनाचार्य का उद्गार है, 'प्रभो! आप विलक्षण गुण, रूप, लीला से विभूषित हैं। सब शास्त्रों से आपका विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह प्रमाणित है और दैवी गुणशील ज्ञानी आचार्य भी आप का जय-जयकार करते हैं। फिर भी आसुरभाव रखने वाले आपको जानने में सफल नहीं होते।'

अस्तु, (१) मूढ़, (२) नराधम, (३) भ्रमित मनोधर्मी तथा (४) अनीश्वर-वादी—ये चारों प्रकार के पापी सब शास्त्रों एवं आचार्यों की सम्मति के विरुद्ध श्रीभगवान् के चरणकमलों की शरण में कभी नहीं आते।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

चतुर्विधाः=चार प्रकार के; **भजन्ते**=सेवा करते हैं; **माम्**=मेरी; **जनाः**=मनुष्य; **सुकृतिनः**=पुण्यात्मा; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **आर्तः**=विपदाग्रस्त; **जिज्ञासुः**=ज्ञान का

अभिलाषी; **अर्थार्थी**=विषय भोग की इच्छा वाला; **ज्ञानी**=तत्त्वज्ञ; **च**=तथा; **भरतर्षभ** =हे भरतवंशशिखामणि (अर्जुन)।

अनुवाद

हे भारत (अर्जुन)! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा वाले, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं।।१६।।

तात्पर्य

दुष्टों के विपरीत ऐसे मनुष्य भी हैं, जो शास्त्रीय विधि-विधान का परिपालन करते हैं। ये **सुकृती** कहलाते हैं। धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विधानों का आज्ञानुसरण करने वाले ये सभी न्यूनाधिक रूप में भगवद्भक्त हैं। इन मनुष्यों की भी चार कोटियाँ हैं—विपदाग्रस्त, धन के अभिलाषी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी। ये सब भिन्न-भिन्न कारणों से भगवद्भक्ति करने के लिए भगवान् की शरण में आते हैं। ये शुद्ध भक्त नहीं हैं, क्योंकि इन्हें भक्ति के बदले में कुछ न कुछ अभिलाषा है। शुद्ध भक्ति तो किसी भी अन्य अभिलाषा अथवा कामना से रहित होती है। **भक्तिरसामृत-सिन्धु** में भक्ति की परिभाषा इस प्रकार है:

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

'सकाम कर्म अथवा ज्ञान द्वारा किसी सांसारिक लाभ की अभिलाषा से मुक्त होकर अनुकूलतापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमपूर्वक दिव्य सेवा करनी चाहिए। इसी का नाम शुद्ध भक्ति है।'

भक्तियोग के लिए श्रीभगवान् की शरण लेने और शुद्ध भक्त के सत्संग से पूर्णरूप में पवित्र हो जाने पर ये चार प्रकार के सुकृति भी शुद्ध भक्त बन जाते हैं। जहाँ तक दुष्टों का सम्बन्ध है, उनके लिए भक्तियोग के परायण होना अति कठिन है, क्योंकि उनका जीवन स्वार्थमय, असंयमित और पारमार्थिक लक्ष्य से शून्य है। परन्तु उनमें से भी कुछ जब सौभाग्यवश शुद्ध भक्त के संग में आते हैं तो वे भी शुद्ध भक्त बन जाते हैं।

जो सकाम कर्म में ही लगे रहते हैं, वे केवल सांसारिक दुःख के समय भगवान् की शरण में आते हैं और शुद्ध भक्त के संग से भक्तियोग में लगते हैं। संसार से बिल्कुल निराश व्यक्तियों में से भी कुछ कभी-कभी शुद्धभक्त का सत्संग करने आते हैं और इस प्रकार उनमें भी भगवत्-तत्त्व की जिज्ञासा का उदय हो सकता है। इसी प्रकार, ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में हार जाने पर शुष्क दार्शनिक भगवत्-ज्ञान के लिए उत्कण्ठित होकर भगवद्भक्ति करते हैं और परिणाम में भगवत्कृपा अथवा महाभागवतकृपा से ब्रह्म और परमात्मा के ज्ञान का उल्लंघन करके सविशेष श्रीभगवान् को प्राप्त कर लेते हैं। संक्षेप में, जब ये चारों (आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी) सम्पूर्ण वासना से मुक्त हो जाते हैं और यह भलीभाँति हृदयंगम कर लेते हैं

कि लौकिक लाभ का पारमार्थिक उन्नति से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तो ये सब शुद्ध भक्त बन जाते हैं। जब तक ऐसी परम शुद्ध अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक भगवत्सेवी भक्तों में सकाम कर्म के दोष बने रहते हैं और कभी-कभी वे ज्ञानादि का अन्वेषण भी किया करते हैं। अतः विशुद्ध भक्तियोग के स्तर पर आने के लिए इन सभी बाधाओं का उल्लंघन करना आवश्यक है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

तेषाम्=उनमें; **ज्ञानी**=ज्ञानवान्; **नित्ययुक्तः**=सदा तत्पर; **एकभक्तिः**=अनन्य भक्ति वाला; **विशिष्यते**=अतिश्रेष्ठ है; **प्रियः**=अतिशय प्रेमास्पद हूँ; **हि**=निःसन्देह; **ज्ञानिनः**=ज्ञानवान् का; **अत्यर्थम्**=अत्यन्त; **अहम्**=मैं; **सः**=वह; **च**=भी; **मम**=मेरा; **प्रियः**=प्रिय है।

अनुवाद

इन सब में शुद्ध भक्तियोग द्वारा मुझसे युक्त ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अतिशय प्रिय है।।१७।।

तात्पर्य

विषयासक्ति के सब दोषों से मुक्त होने पर आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं ज्ञानी, ये सब शुद्ध भक्त बन सकते हैं। परन्तु इनमें भी, निस्पृह तत्त्वज्ञानी वास्तव में शुद्ध भगवद्भक्त है। अतः चारों श्रेणियों में जो पुरुष भगवद्भक्ति-परायण है और पूर्ण ज्ञानी भी है, वह श्रीभगवान् के अनुसार सर्वश्रेष्ठ है। तत्त्वजिज्ञासु जान जाता है कि उसका आत्म-स्वरूप देह से भिन्न है। उत्तरोत्तर उन्नति करने पर उसे निर्विशेष-ब्रह्म एवं परमात्मा का ज्ञान भी उपलब्ध हो सकता है। जब वह पूर्ण शुद्ध हो जाता है तो समझता है कि वह स्वरूप से श्रीभगवान् का नित्यदास है। अतएव महाभागवतों के सत्संग से जिज्ञासु, आर्त, अर्थार्थी और ज्ञानवान्—ये सभी शुद्ध हो जाते हैं। परन्तु साधनावस्था में भगवद्भक्ति के परायण पूर्ण ज्ञानी श्रीभगवान् का अतिशय प्रेमपात्र है। श्रीभगवान् की दिव्यता के शुद्ध ज्ञानी पुरुष का श्रीभगवान् इस प्रकार संरक्षण करते हैं कि संसार के दोष उसका स्पर्श तक नहीं कर पाते।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

उदाराः=उदार हैं; **सर्वे एव**=सभी; **एते**=ये; **ज्ञानी**=ज्ञानवान्; **तु**=तो; **आत्मा एव**=मेरा आत्मा ही; **मे**=मेरा; **मतम्**=मत है; **आस्थितः**=स्थित है; **सः**=वह; **हि**=निःसन्देह; **युक्तात्मा**=भक्ति में संलग्न; **माम्**=मेरी; **एव**=निःसन्देह; **अनुत्तमाम्**=परम उत्तम; **गतिम्**=लक्ष्य।

अनुवाद

निःसन्देह ये सभी भक्त उदार हैं; परन्तु जो मेरा तत्त्वज्ञानी है, उसे तो मैं अपने में ही स्थित मानता हूँ। मेरी भक्ति के नित्य परायण रह कर वह मुझे ही प्राप्त होता है।।१८।।

तात्पर्य

यह सत्य नहीं कि अपूर्ण ज्ञान वाले दूसरे भक्त श्रीभगवान् को प्रिय नहीं हैं। श्रीभगवान् कहते हैं कि ये सभी उदार हैं, क्योंकि किसी भी कारण से श्रीभगवान् की शरण में आने वाला 'महात्मा' है। भगवद्भक्ति से किसी प्राकृत लाभ के अभिलाषी भक्तों को भी श्रीभगवान् स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनमें भी स्नेहभाव है। स्नेहवश ही वे श्रीभगवान् से किसी विषय-लाभ की कामना करते हैं। वास्तव में देखा जाता है कि इच्छा-पूर्ति से उत्पन्न तुष्टि भगवद्भक्ति के पथ में उन्नति में सहायक भी होती है। फिर भी, पूर्ण ज्ञानवान् भक्त श्रीभगवान् का परम प्रेमास्पद है, क्योंकि उसका एकमात्र प्रयोजन भगवान् की प्रेमभक्तिभावित सेवा करना है। ऐसा भक्त भगवत्-सान्निधि या भगवत्सेवा के बिना क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकता। श्रीभगवान् को अपना भक्त अति प्रिय है; वे भी उसका वियोग सहन नहीं कर सकते। श्रीमद्भागवत (९.४.६३) में भगवद्वचन है:

अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।।

'भक्त सदा मेरे हृदय में रहते हैं और मैं भी उनके हृदय में सदा रहता हूँ। मेरे अतिरिक्त वे और कुछ नहीं जानते और मैं भी उन्हें कभी नहीं भुला सकता। शुद्ध भक्तों और मुझ में प्रगाढ़ प्रेममय अंतरंग सम्बन्ध है। पूर्ण ज्ञानी शुद्ध-भक्त मेरी सन्निधि से कभी दूर नहीं होते। इसलिए वे मुझको अति प्रिय हैं।''

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

बहूनाम्=अनेक; **जन्मनाम्**=जन्मों के; **अन्ते**=अन्त में; **ज्ञानवान्**=ज्ञानी; **माम्**=मेरी; **प्रपद्यते**=शरण में आता है; **वासुदेवः**=सम्पूर्ण कारणों का परम कारण; **सर्वम्**=सर्वव्यापी; **इति**=इस प्रकार (जानकर); **सः**=ऐसा; **महात्मा**=महात्मा; **सुदुर्लभः**=दुर्लभ है।

अनुवाद

बहुत जन्मान्तरों के अन्त में तत्त्वज्ञान को प्राप्त पुरुष मुझे सब कारणों का परम कारण और सर्वव्यापक जानकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा बड़ा दुर्लभ है।।१९।।

तात्पर्य

भगवद्भक्ति करते-करते कितने ही जन्मान्तरों के अन्त में कहीं जाकर जीव को वास्तव में यह विशुद्ध ज्ञान हो सकता है कि अध्यात्म-साक्षात्कार के परमोच्च लक्ष्य

श्रीभगवान् हैं। परमार्थ के प्रारम्भ में भोगासक्ति को हटाने के लिए प्रयत्न करते हुए साधक की प्रवृत्ति कुछ-कुछ निर्विशेषवाद की ओर रहती है। परन्तु अधिक उन्नति करने पर वह जान जाता है कि पारमार्थिक दिव्य जीवन में दिव्य क्रियाएँ होती हैं, जिनका नाम भक्तियोग है। इस अनुभूति से वह श्रीभगवान् में अनुरक्त हो जाता है और उनके श्रीचरणों में सर्वात्मसमर्पण कर देता है। ऐसी अवस्था में वह समझ सकता है कि भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा सर्व-सार-सर्वस्व है, श्रीकृष्ण स्वयं सब कारणों के परम कारण हैं, यह सृष्टि उनसे स्वतन्त्र नहीं है। वह अनुभव करता है कि प्राकृत-जगत् चिद्विलास की उलटी छाया है और सब कुछ परमेश्वर श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार वह सब कुछ वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ही चिन्तन करता है। वासुदेव को सर्वत्र देखने के इस अभ्यास से परम लक्ष्य के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अति शीघ्र उसका पूर्ण समर्पण हो जाता है। इस प्रकार के शरणागत जीव बहुत दुर्लभ हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के तीसरे अध्याय में इस श्लोक का उत्तम वर्णन है—'इस देह में बोलने, देखने, सुनने और चिन्तन आदि करने की शक्तियाँ हैं; पर श्रीभगवान् से सम्बन्ध के बिना ये सब बिल्कुल व्यर्थ हैं। वासुदेव सर्वव्यापक एवं सर्वरूप हैं; इसलिए पूर्ण ज्ञानी भक्त उनके चरणों में प्रपन्न हो जाता है।' (दृष्टव्य गीता ७.१७, ११.४०)

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

कामैः=कामनाओं द्वारा; **तैः**=उन; **तैः**=उन; **हृतज्ञानाः**=हरे हुए ज्ञान वाले; **प्रपद्यन्ते**=शरण लेते हैं; **अन्य**=अन्य; **देवताः**=देवताओं की; **तम्**=उस; **तम्**=उस; **नियमम्**=विधान का; **आस्थाय**=पालन करते हुए; **प्रकृत्या**=स्वभाव द्वारा; **नियताः**=वश में हुए; **स्वया**=अपने।

अनुवाद

कामनाओं ने जिनके ज्ञान को हर लिया है, वे ही अन्य देवताओं की शरण लेकर अपने स्वभाव के अनुरूप उपासना के विधि-विधान का पालन करते हैं।।२०।।

तात्पर्य

जो सम्पूर्ण सांसारिक पापों से मुक्त हो चुके हैं, वे जीव श्रीभगवान् के शरणापन्न होकर उनकी भक्ति करते हैं। जब तक पापों का पूर्ण शोधन नहीं हो जाता, तब तक वे स्वभावतः अभक्त ही रहते हैं। परन्तु चाहे विषय-वासना से दूषित अवस्था में ही क्यों न हों, जो भगवान् के उन्मुख हो जाते हैं, वे जीव बहिरंगा प्रकृति (माया) की ओर अधिक आकृष्ट नहीं होते। वे सच्चे लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं, इसलिए शीघ्र प्राकृत काम-विकार से पूर्ण मुक्त हो जायेंगे।

'श्रीमद्भागवत' में कहा है कि मनुष्य चाहे विषय-वासना से बिल्कुल मुक्त हो, नाना प्राकृत अभिलाषाओं से पूर्ण हो, भवबन्धन से मुक्ति चाहता हो अथवा विषयभोग से प्राप्त होने वाली इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रहित शुद्ध भक्त हो, सब अवस्थाओं में भगवान् वासेदेव के शरणागत होकर उन्हीं का भजन करे।

श्रीमद्भागवत में भी कथन है कि आध्यात्मिक ज्ञान के अल्पज्ञ मनुष्य ही विषयवासना की क्षणिक पूर्ति के देवताओं का आश्रय लेते हैं। सामान्य रूप से इस कोटि के लोग भगवान् की शरण में नहीं जाते, क्योंकि रजोगुण-तमोगुण से कलुषित होने के कारण उन्हें विविध देवताओं की उपासना अधिक रुचिकर होती है और देवोपासना के विधि-विधान का पालन करने में सन्तोष का अनुभव होता है। तुच्छ मनोरथों द्वारा प्रेरित हुए ये देवोपासक परम लक्ष्य की प्राप्ति के पथ को नहीं जानते। परन्तु भगवद्भक्त सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं हो सकता। वेदों में अलग-अलग उद्देश्यों के लिए नाना देवताओं की उपासना का विधान है। जैसे, रोगी के लिए सूर्योपासना बतायी गयी है। इससे अभक्त समझ बैठते हैं कि कुछ कार्यों के लिए देवता भगवान् श्रीकृष्ण से श्रेष्ठ हैं। परन्तु शुद्ध भक्त जानता है कि परमेश्वर श्रीकृष्ण सबके एकमात्र स्वामी हैं। 'चैतन्यचरितामृत' के अनुसार एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही स्वामी हैं, और सब उनके सेवक हैं। अतः शुद्ध भक्त अपनी सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देवताओं से कभी याचना नहीं करता। वह सदा श्रीभगवान् पर निर्भर रहता है और भगवान् स्वयं जो कुछ भी दें, उस में उसे परम सन्तोष की अनुभूति होती है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

यः=जो; यः=जो; याम्=जिस; याम्=जिस; तनुम्=देवरूप को; भक्तः=सकाम भक्त; श्रद्धया=श्रद्धापूर्वक; अर्चितुम्=पूजने की; इच्छति=इच्छा करता है; तस्य=उस; तस्य=उसकी; अचलाम्=स्थिर; श्रद्धाम्=श्रद्धा को; ताम् एव=उस देवता में ही; विदधामि=कर देता हूँ; अहम्=मैं।

अनुवाद

मैं अन्तर्यामी परमात्मा रूप से जीवमात्र के हृदय में हूँ; इसलिए जो जिस इच्छा से जिस देवरूप को श्रद्धा से पूजने की इच्छा करता है, मैं उसकी श्रद्धा को उसी देवता में स्थिर कर देता हूँ।।२१।।

तात्पर्य

ईश्वर ने सबको स्वतन्त्रता दी है। इसलिए यदि किसी को विषयभोग की इच्छा हो, जिसके लिए वह हृदय से चाहे कि अमुक देवता उसे अमुक सुविधा प्रदान करे, तो परमेश्वर श्रीकृष्ण, जो परमात्मा रूप से प्राणीमात्र के अन्तर्यामी हैं, उसके मनोभाव को जान जाते हैं और उसकी अनुकूलता का विधान कर देते हैं। सम्पूर्ण जीवों के

अनुवाद

वह उस श्रद्धा से उसी देवता का आराधन करके अपने इच्छित भोगों को प्राप्त करता है। परन्तु वास्तव में इन भोगों को देने वाला मैं ही हूँ।।२२।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् की अनुमति के बिना देवता अपने भक्तों को किसी भी वरदान से पुरस्कृत नहीं कर सकते । जीव भूल सकता है कि सब कुछ परमेश्वर श्रीकृष्ण की सम्पत्ति है, परन्तु देवता यह कभी नहीं भूलते । अतः देवाराधना और उससे होने वाली अभीष्ट-सिद्धि के कारण देवता नहीं हैं, श्रीभगवान् की व्यवस्था से ही यह होता है । अल्पज्ञ जीव यह नहीं जानता और इसलिए मूर्खतावश तुच्छ भोगों के लिए देवताओं की शरण में जाया करता है । इसके विपरीत शुद्ध भक्त चाहे किसी अभाव में भी क्यों न हो, केवल श्रीभगवान् से प्रार्थना करता है। वास्तव में तो विषयसुख की याचना करना शुद्ध भक्त का लक्षण ही नहीं है। कामतृप्ति की उन्मत्तता के कारण जीव देवताओं के पास जाता है । यह तब होता है जब वह किसी अनर्थ की वाञ्छा करे, जिसकी पूर्ति भगवान् नहीं करते । 'चैतन्य चरितामृत' में कहा है कि भगवान् की आराधना करते हुए भी जिसे विषयसुख की अभिलाषा है, उस की इच्छाएँ परस्पर विरुद्ध (असंगत) हैं। देवोपासना भगवद्भक्तियोग से बराबर नहीं हो सकती; देवोपासना प्राकृत है, जबकि भगवदुपासना पूर्ण रूप से अप्राकृत है।

अपने घर—श्रीभगवान् के धाम को लौटने के अभिलाषी जीवों के लिए विषयवासना विघ्नकारी है। अतएव शुद्ध भक्त को वे प्राकृत भोग प्रदान नहीं किए जाते, जिनकी इच्छा वे अल्पज्ञ जीव करते हैं, जो भगवद्भक्तियोग की उपेक्षा कर प्राकृत-जगत् के देवताओं की उपासना में संलग्न रहते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।२३।।

अन्तवत्=सीमित और नश्वर; **तु**=परन्तु; **फलम्**=फल; **तेषाम्**=उन; **तत्**=वह; **भवति**=होता है; **अल्पमेधसाम्**=अल्पज्ञों का; **देवान्**=देवलोकों को; **देवयजः**=देवोपासक; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **मत्**=मेरे; **भक्ताः**=भक्त; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **माम्**=मुझ को; **अपि**=ही।

अनुवाद

परन्तु उन अल्पबुद्धि मनुष्यों को देवोपासना से सीमित और क्षणभंगुर फल ही होता है। देवोपासक देवलोकों को जाते हैं, जबकि मेरे भक्त अन्त में मेरे परम धाम को प्राप्त होते हैं।।२३।।

तात्पर्य

गीता के कतिपय व्याख्याकारों के अनुसार देवोपासक को भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है । परन्तु इस श्लोक से स्पष्ट है कि देवोपासक अपनी उपासना के अनुसार

भिन्न-भिन्न देवलोकों को जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, सूर्योपासक सूर्यलोक में प्रवेश करता है तथा चन्द्रोपासक को चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। तद्नुरूप, इन्द्रादि देवताओं की उपासना के अभिकांक्षी को वही-वही देवलोक मिल सकता है। यह सत्य नहीं कि किसी भी देवता की आराधना करने से भगवत्प्राप्ति हो सकती है । इस धारणा के निराकरण के लिए भगवान् ने यहाँ स्पष्ट किया है कि देवोपासकों को यथाधिकार प्राकृत-जगत् के भिन्न-भिन्न लोकों की प्राप्ति होती है, जबकि भगवद्भक्त साक्षात् परमलोक—भगवद्धाम को जाते हैं।

यह तर्क किया जा सकता है कि यदि देवता श्रीभगवान् के विश्व (विराट्) रूप के अंग-प्रत्यंग हैं, तो देवताओं की उपासना से उसी लक्ष्य (श्रीभगवान्) की प्राप्ति हो जानी चाहिए । अपने इस तर्क से देवोपासक निश्चित रूप में अल्पज्ञ सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे इतना भी नहीं जानते कि शरीर के किस अंग में भोजन पहुँचना चाहिए । उनमें से अधिक मूढ़ तो यहाँ तक कहते हैं कि भोजन ग्रहण करने के योग्य बहुत से अंग हैं जिनमें भोजन पहुँचाने की बहुत सी विधियाँ हैं। यह कहना अधिक बुद्धिसंगत नहीं है । क्या कोई कर्णरन्ध्रों अथवा नेत्रों के माध्यम से देह में भोजन पहुँचा सकता है? साधारण मनुष्य नहीं जानते कि ये देवता श्रीभगवान् के विराट् रूप के भिन्न-भिन्न अंग हैं। इस अज्ञानवश वे प्रत्येक देवता को स्वतन्त्र ईश्वर और परमेश्वर श्रीकृष्ण का प्रतिस्पर्धी मानने की भूल कर बैठते हैं।

देवता ही नहीं, साधारण जीव भी श्रीभगवान् के अंश हैं। श्रीमद्भागवत में कथन है कि ब्राह्मण विश्वरूप श्रीभगवान् के शीर्ष हैं, क्षत्रिय भुजदण्ड हैं, इत्यादि। ये सब भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। वर्ण-स्थिति चाहे कुछ भी हो, जो यह जानता है कि देवता और वह, दोनों श्रीभगवान् के भिन्न-अंश हैं, उसका ज्ञान पूर्ण है । जो यह नहीं जानता, उसे नाना प्रकार के देवलोकों की प्राप्ति होती है । भक्त की गति इससे भिन्न है ।

देवताओं के वरदान से मिलने वाले फल नश्वर हैं, क्योंकि इस प्राकृत-जगत् के लोक, देवता और उनके उपासक आदि सभी कुछ अनित्य हैं। इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि देवोपासना से उत्पन्न सब फल नश्वर हैं। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि अल्पज्ञ जीव ही देवोपासना करेगा। दूसरी ओर, कृष्णभावनाभावित भक्तियोगी शुद्ध भक्त को सच्चिदानन्दमय जीवन मिलता है। इससे सिद्ध हुआ कि उसकी और साधारण देवोपासकों की उपलब्धियों में गम्भीर अन्तराल है। भगवान् श्रीकृष्ण निरवधि हैं, उनकी करुणा-कृपा की भी अवधि-परिधि नहीं है। अपने शुद्ध भक्तों पर वे नित्य-निरन्तर अशेष कृपा-सुधा-कादम्बिनी का परिवर्षण करते रहते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।२४।।

अव्यक्तम्=अप्रकट (से); **व्यक्तिम्**=आकार को; **आपन्नम्**=प्राप्त हुआ;

मन्यन्ते=मानते हैं; **माम्**=मुझे; **अबुद्धयः**=बुद्धिहीन मनुष्य; **परम्**=परम; **भावम्**=सत्ता को; **अजानन्तः**=न जानते हुए; **मम**=मेरी; **अव्ययम्**=अविनाशी; **अनुत्तमम्**=परम उत्तम।

अनुवाद

मुझको न जानने वाले बुद्धिहीन मनुष्य समझते हैं कि मैंने यह रूप और व्यक्तित्व धारण किया है। अपने अल्पज्ञान के कारण वे मेरे परम उत्तम अविनाशी स्वरूप को नहीं जानते।।२४।।

तात्पर्य

पूर्वी श्लोकों में देवोपासकों को अल्पज्ञ कहा गया; इसी प्रकार इस श्लोक में निर्विशेषवादियों को बुद्धिहीन कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वयंरूप मे यहाँ अर्जुन को अपने वचनामृत का पान करा रहे हैं; पर फिर भी अज्ञानमोहित निर्विशेषवादी तर्क करते हैं कि अन्तिम रूप में परमेश्वर निराकार हैं। श्रीरामानुजाचार्य की परम्परा के महियामय भगवद्भक्त यामुनाचार्य ने इस सन्दर्भ में दो वड़े उपयुक्त श्लोकों की रचना की है। वे कहते हैं, "प्रभो! व्यासदेव, नारद आदि भक्त आपको पुरुषोत्तम भगवान् मानते हैं। वैदिक शास्त्रों से आपके स्वरूप-लक्षणों, रूप, लीलामृत आदि का बोध होता है और यह भी जाना जाता है कि आप स्वयं भगवान् हैं। फिर भी रजोगुणी और तमोगुणी अभक्त असुर आपको नहीं समझ पाते, क्योंकि आपके तत्त्व को हृदयंगम करने में वे विल्कुल असमर्थ हैं। ऐसे अभक्त वेदान्त, उपनिषद् आदि वैदिक शास्त्रों की चर्चा करने में कितने कुशल क्यों न हों, परन्तु आप के स्वयंरूप को नहीं जान सकते।"

'ब्रह्मसंहिता' के अनुसार वेदान्त का स्वाध्याय करने मात्र से भगवत्तत्त्व का ज्ञान होना दुर्लभ है। श्रीभगवान् के निरुपाधिक अनुग्रह के प्रताप से ही उनके स्वरूप का बोध हुआ करता है। अतः इस श्लोक में स्पष्ट कहा है कि देवोपासकों के साथ-साथ, जो वेदान्त तथा वैदिक शास्त्रों के सम्वन्ध में मनोधर्मी करते हैं, वे सच्ची कृष्णभावना से विहीन अभक्त भी अल्पज्ञ हैं। इस श्रेणी के व्यक्ति ईश्वर के नराकार पुरुष स्वरूप को कभी नहीं जान सकते। इसी से परमसत्य को निर्विशेष मानने वालों को असुर कहा है। असुर उसे कहते हैं जो परमसत्य के परमोच्च स्वरूप को नहीं जानता। श्रीमद्भागवत की वाणी है कि परमसत्य की अनुभूति निर्विशेष ब्रह्मरूप से प्रारम्भ होती है; इसके आगे एकदेशीय (अन्तर्यामी) परमात्मा की अनुभूति है। परन्तु परमसत्य की सीमा तो पुरुष रूप श्रीभगवान् ही हैं। आधुनिक निर्विशेष-वादी तो और भी अधिक अल्पज्ञ हैं —वे अपने महान् पूर्वगामी शंकराचार्य तक का अनुगमन नहीं करते। शंकराचार्य ने विशेष रूप से श्रीकृष्ण को भगवान् घोषित किया है। पर परम सत्य के तत्त्व को न जानने वाले ये निर्विशेषवादी श्रीकृष्ण को वसुदेव-देवकी का सामान्य पुत्र, राजकुमार अथवा शक्तिशाली जीव वताते हैं। भगवद्गीता में इसकी निन्दा है: "जो मूर्ख हैं वे मनुष्य ही मुझे साधारण व्यक्ति

समझते हैं।'' वास्तव में भक्तियोग का आचरण तथा कृष्णभावनामृत का विकास किए बिना किसी को भी श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। गीता इसका प्रमाण है।

मनोधर्म के द्वारा अथवा वैदिक शास्त्रों पर वार्तालाप करने मात्र से भगवान् श्रीकृष्ण को अथवा उनके रूप, चिद्गुण, नामादि को नहीं जाना जा सकता। उनका ज्ञान केवल विशुद्ध भक्तियोग से हो सकता है। **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—इस महामन्त्र के कीर्तन से भक्तियोग में प्रवृत्त हो कर जो पूर्ण रूप से कृष्णभावना में निरत हो गया है, वह पुरुष ही श्रीभगवान् को तत्त्व से जान सकता है। अभक्त निर्विशेषवादियों की धारणा में श्रीकृष्ण का विग्रह माया-निर्मित है और उनके सब लीला-विलास, रूप आदि तत्त्व भी मायिक हैं। अपनी इसी मान्यता के कारण ये निर्विशेषवादी 'मायावादी' कहलाते हैं। ये परम सत्य को नहीं जानते।

बीसवें श्लोक में स्पष्ट कहा है—'जो कामनाओं से अंधे हो गए हैं, वे मनुष्य ही विभिन्न देवताओं की उपासना में प्रवृत्त होते हैं।' यह स्वीकृत तथ्य है कि श्रीभगवान् के अतिरिक्त ऐसे बहुत से देवता हैं जिनके अपने-अपने लोक हैं (भगवद्गीता ७.२३); और श्रीभगवान् का भी अपना निज धाम है। यह भी उल्लेख है कि देवोपासक भिन्न-भिन्न देवलोकों में गमन करते हैं, जबकि कृष्णभक्त परमधाम कृष्णलोक को जाते हैं। इन स्पष्ट वाक्यों के होते हुए भी मूढ़ निर्विशेषवादियों का हठ है कि परमेश्वर निराकार हैं, और ये सब भगवत्-रूप आरोपण मात्र हैं। क्या गीता के स्वाध्याय से लगता है कि देवता और उनके लोक निर्विशेष हैं? स्पष्ट है कि न तो देवता निराकार हैं और न भगवान् श्रीकृष्ण ही निराकार हैं। वे सभी सविशेष-साकार हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और उनका अपना लोक है, जैसे देवताओं के भी अपने-अपने लोक हैं।

अस्तु, अद्वैतवादियों का यह तर्क सत्य सिद्ध नहीं होता कि परम सत्य निराकार है, उस पर केवल रूप का आरोपण है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि भगवान् पर रूप का आरोपण नहीं है। गीता से यह भी स्पष्ट है कि देवताओं और परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्न-भिन्न रूप एक साथ विद्यमान हैं। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के विग्रह में वैशिष्ट्य है, वे सच्चिदानन्द हैं। वेदप्रमाण कहता है कि परतत्त्व **आनन्मय** है; **अभ्यासात्**, अर्थात् स्वरूपतः निरवधि चिन्मय गुणों का निधान है। गीता में स्वयं श्रीभगवान् का कथन है कि अजन्मा होते हुए भी वे प्रकट होते हैं। पाठक इन सब तथ्यों को गीता से भलीभाँति हृदयंगम करें। श्रीभगवान् को निर्विशेष नहीं माना जा सकता, क्योंकि गीता के वचनों से निर्विशेष अद्वैतवादियों का आरोपणवाद मिथ्या सिद्ध होता है। यह श्लोक प्रमाण है कि परतत्त्व-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का अपना विशिष्ट रूप और व्यक्तित्व है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५॥

न=नहीं; **अहम्**=मैं; **प्रकाशः**=प्रकट होता; **सर्वस्य**=सबके आगे; **योगमाया**=अन्तरंगा शक्ति से; **समावृतः**=छिपा हुआ; **मूढः**=मूर्ख; **अयम्**=यह; **न**=नहीं; **अभिजानाति**=जान सकता; **लोकः**=मनुष्य; **माम्**=मुझ; **अजम्**=अजन्मा; **अव्ययम्**=अविनाशी अच्युत को।

अनुवाद

मैं मूढ़ और अल्पज्ञ मनुष्यों के सामने कभी प्रकट नहीं होता; उनके लिए अपनी नित्य योगमाया में छिपा रहता हूँ। इस प्रकार मोहित हुआ यह जगत् मुझ अजन्मा अविनाशी अच्युत को नहीं जानता।।२५।।

तात्पर्य

यह तर्क उठाया जा सकता है कि यदि श्रीकृष्ण पृथ्वी पर वास्तव में विद्यमान थे और सभी के दृष्टिगोचर थे, तो अब वे सबके आगे प्रकट क्यों नहीं हैं? परन्तु वास्तव में तो पृथ्वी पर श्रीकृष्ण के अवतरण काल में भी कुछ दुर्लभ व्यक्ति ही यह जान पाये कि वे भगवान् हैं। कौरव-सभा में, जब शिशुपाल ने सभा के अध्यक्ष के रूप में श्रीकृष्ण के निर्वाचन का विरोध किया, तो भीष्म ने श्रीकृष्ण का समर्थन कर उन्हें परमेश्वर घोषित किया। इसी प्रकार पाण्डव आदि केवल कुछ इने-गिने व्यक्ति ही उनकी परात्परता को जानते थे, सब नहीं। अभक्तों एवं जन-साधारण के प्रति वे प्रकट नहीं थे। इसी से गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि उनके शुद्ध भक्तों के अतिरिक्त अन्य सब मनुष्य उन्हें अपने समान समझते हैं। रसराज के रूप में वे अपने भक्तों के प्रति ही प्रकट थे, अल्पज्ञ अभक्तों के लिए अपनी नित्य अन्तरंगाशक्ति में छिपे रहते थे।

श्रीमद्भागवत (१.८.१८) में कुन्तीदेवी की स्तुति में उल्लेख है कि भगवान् योगमाया रूपी यवनिका से छिपे हुए हैं, अतः साधारणजन उन्हें जान नहीं सकता। कुन्तीदेवी स्तुति करती हैं: 'प्रभो! आप सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पालक हैं और आपकी भक्ति करना परम धर्म है। इसलिए मेरी विनती है कि आप मेरे योगक्षेम का भी वहन करें। आपका दिव्य विग्रह योगमाया से छिपा हुआ है। ब्रह्मज्योति ही आपकी अन्तरंगा शक्ति का वह आवरण है। अपने दर्शन में बाधा डालने वाले इस देदीप्यमान प्रकाश को हटाकर अपने सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रह का मुझे दर्शन दीजिए।'

इस योगमाया रूपी यवनिका का वर्णन गीता के पन्द्रहवें अध्याय में भी है। श्रीभगवान् का दिव्य सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रह ब्रह्मज्योति नामक नित्य शक्ति में छिपा हुआ है। इस कारण अल्पज्ञ निर्विशेषवादी भगवान् का दर्शन नहीं कर सकते। श्रीमद्भागवत (१०.१४.७) में ब्रह्मस्तुति में निवेदन है: 'हे भगवन्! हे परमात्मन्! हे सकल रहस्यों के स्वामिन्! इस संसार में आपकी शक्तियों और लीलाओं की गणना करने की किस में सामर्थ्य है? अपनी उस अन्तरंगा शक्ति का आप नित्य विस्तार करते रहते हैं, अतः किसी के लिए भी आपको जानना सम्भव

नहीं। विद्वान् वैज्ञानिक और पण्डितजन इस जगत् के अथवा अन्य लोकों के अणुकणों की गणना तो कर भी लें, पर आपकी शक्तियों की गणना नहीं हो सकती, यद्यपि आप सबके सामने विद्यमान हैं।' भगवान् श्रीकृष्ण अजन्मा ही नहीं हैं, अविनाशी (अव्यय) भी हैं। उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दघन है और सम्पूर्ण शक्तियाँ अनन्त हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

वेद=जानता हूँ; **अहम्**=मैं; **सम**=समान रूप से; **अतीतानि**=पूर्वकाल के; **वर्तमानानि**=वर्तमान के; **च**=तथा; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **भविष्याणि**=भविष्य के; **च**=भी; **भूतानि**=जीवों को; **माम्**=मुझको; **तु**=परन्तु; **वेद**=जानता; **न**=नहीं; **कश्चन**=कोई।

अनुवाद

हे अर्जुन! मैं स्वयं भगवान् पूर्वकाल के, वर्तमान के और भविष्य के सम्पूर्ण घटना-चक्र को जानता हूँ। मैं सब जीवों को जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता।।२६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में साकारता-निराकारता के विवाद की स्पष्ट विवेचना है। यदि निर्विशेषवादियों की धारणा के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण माया अर्थात् प्राकृत होते, तो जीव के समान उनका भी देहान्तर होता, जिससे उन्हें भी पिछले जीवन की पूर्ण रूप से विस्मृति हो जाती। कोई भी प्राकृत देहधारी न तो अपने पूर्व जीवन की स्मृति बनाए रख सकता और न ही अपने भावी अथवा वर्तमान जीवन के परिणाम की भविष्यवाणी कर सकता है। भाव यह है कि वह भूत, वर्तमान एवं भविष्य के घटनाक्रम को नहीं जानता; सांसारिक विकारों से मुक्त हुए बिना कोई भी त्रिकालज्ञ नहीं हो सकता।

साधारण मनुष्यों से विलक्षण, भगवान् श्रीकृष्ण की स्पष्ट घोषणा है कि वे पूर्ण रूप से जानते हैं कि पूर्व में क्या हुआ, वर्तमान में क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होगा। चौथे अध्याय में हम देख चुके हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण को करोड़ों वर्ष पूर्व सूर्यदेव विवस्वान् को दिए उपदेश की पूर्ण स्मृति है। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जीवों के हृदय में परमात्मा के रूप में हैं, इसलिए जीवमात्र से परिचित हैं। वे जीवमात्र में परमात्मा रूप से तथा इस जगत् के परे वैकुण्ठ-जगत् में भगवत्स्वरूप में स्थित हैं; परन्तु अल्पज्ञ उनको परम पुरुषोत्तम के रूप में नहीं जान सकते। श्रीकृष्ण का दिव्य श्रीविग्रह निःसन्देह अविनाशी है। वे सूर्य-तुल्य हैं और माया ठीक मेघ के समान है। प्राकृत आकाश में सूर्य, नक्षत्र और अनेक लोक हैं। मेघ इन सबको अस्थायी रूप से ढक सकते हैं, परन्तु ऐसा हमें अपनी सीमित

दृष्टि के कारण ही लगता है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि वास्तव में नहीं ढकते। ऐसे ही, माया भी श्रीकृष्ण को आवृत नहीं कर सकती। अपनी अंतरंगा शक्ति के द्वारा वे स्वेच्छा से अल्पज्ञों के सामने नहीं प्रकट होते। जैसा अध्याय के तीसरे श्लोक में कहा है, करोड़ों मनुष्यों में से कोई एक दुर्लभ व्यक्ति मानव देह की संसिद्धि के लिए प्रयास करता है और ऐसे हजारों सिद्धों में भी कोई एक ही भगवान् श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानता है। जिसे निर्विशेष ब्रह्म अथवा एकदेशीय परमात्मा की पूर्ण अनुभूति हो गई हो, वह भी कृष्णभावनाभावित हुए बिना भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को नहीं जान सकता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप।।२७।।

इच्छा=मनोरथ; **द्वेष**=घृणा (से); **समुत्थेन**=उत्पन्न हुए; **द्वन्द्व**=द्वन्द्व रूप; **मोहेन**=मोह से; **भारत**=हे भरतश्रेष्ठ; **सर्व**=सम्पूर्ण; **भूतानि**=जीव; **संमोहम्**=मोह को; **सर्गे**=सृष्टि में; **यान्ति**=प्राप्त हो रहे हैं; **परंतप**=हे शत्रुविजयी अर्जुन।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन! इच्छा-द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के कारण सब जीव संसार में मोह को प्राप्त हो रहे हैं।।२७।।

तात्पर्य

जीव का सच्चा स्वरूप यह है कि वह भगवान् का नित्यदास है। यही शुद्ध ज्ञान है। जब मोहवश जीव इस शुद्ध ज्ञान को भुला बैठता है तो माया के नियन्त्रण में आ जाता है और फिर श्रीभगवान् के तत्त्व को नहीं जान सकता। माया की अभिव्यक्ति इच्छा-द्वेष आदि द्वन्द्वों के रूप में है। इच्छा-द्वेष के कारण ही अज्ञानी मनुष्य परमेश्वर से एक हो जाना चाहता है और भगवान् कृष्ण से द्वेष कर बैठता है। इन इच्छा-द्वेष आदि विकारों से मोहित न होने वाले शुद्धभक्त जानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा अवतरित होते हैं, पर द्वन्द्वों एवं अविद्या से मोहित मूढ़ समझते हैं कि श्रीभगवान् प्राकृत शक्तियों के कार्य हैं। यह उनका परम दुर्भाग्य है। ऐसे मोहित जीव मानो मान-अपमान, सुख-दुःख, स्त्री-पुरुष, शुभ-अशुभ, हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्वों में ही स्थित रहते हैं। वे सोचा करते हैं कि, 'यह मेरी स्त्री है, यह मेरा घर है, मैं इस घर और स्त्री का स्वामी हूँ।' ये सब मोहकारी द्वन्द्व हैं। जो इस प्रकार के द्वन्द्वों से भ्रमित हैं, वे परम मूर्ख हैं और इसलिए श्रीभगवान् को नहीं जान सकते।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

येषाम्=जिन; **तु**=परन्तु; **अन्तगतम्**=पूर्ण नष्ट हो गया है; **पापम्**=पापकर्म; **जनानाम्**=मनुष्यों का; **पुण्य**=पवित्र; **कर्मणाम्**=कर्म करने वाले; **ते**=वे; **द्वन्द्व**=इच्छा-

द्वेष आदि द्वन्द्वरूप; **मोह**=मोह से; **निर्मुक्ताः**=मुक्त हुए; **भजन्ते**=भजन करते हैं; **माम्**=मेरा; **दृढव्रताः**=निष्ठापूर्वक।

अनुवाद

परन्तु जिन्होंने पुण्य कर्मों का आचरण किया है और जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त पुरुप निष्ठापूर्वक मेरी सेवा करते हैं।।२८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में दिव्य शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था की प्राप्ति के अधिकारियों का उल्लेख है। जो पापात्मा, अनीश्वरवादी, मूढ़ और कपटी हैं, उन के लिए इच्छा-द्वेष आदि द्वन्द्वों का उल्लंघन करना वड़ा कठिन है। जिन्होंने सम्पूर्ण जीवन में धर्म का आचरण किया है और पुण्यकर्म करते हुए पापों का नाश कर दिया है, वे पुरुष ही भक्तियोग को अंगीकार करते हैं और इस प्रकार शनैः-शनैः श्रीभगवान् के शुद्ध ज्ञान को पाते हैं। फिर शनैः-शनैः उन्हें समाधि में भगवान् का ध्यान होने लगता है। यह शुद्ध सत्त्व में स्थित होने की विधि है। जीव को मोहमुक्त करने में समर्थ शुद्ध भक्तों के सत्संग से कृष्णभावनाभावित हो जाने पर यह स्थिति बड़ी सुलभ हो जाती है।

श्रीमद्भागवत में कथन है कि यदि मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो नित्य-निरंतर भक्तसेवा करे। इसके विपरीत, जो विषयी जीवों का संग करता है, वह अन्धकारमय भवसमुद्र के पथ पर अग्रसर हो रहा है। महाभागवत जन इसी प्रकार के वद्धजीवों को मायामुक्त करने के लिए वसुधा पर परिव्राजन करते हैं। निर्विशेषवादी नहीं जानते कि 'मैं भगवान् का नित्यदास हूँ,' अपने इस स्वरूप को भुला देना भगवान् के नियम की सवसे गम्भीर अवहेलना है। यह निश्चित है कि अपने स्वरूप में फिर स्थित हुए विना भगवान् को जानना अथवा उनके भक्तियोग में निष्ठापूर्वक पूर्णरूप से संलग्न होना सम्भव नहीं है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

जरा=वृद्धावस्था; **मरण**=मृत्यु (से); **मोक्षाय**=मुक्ति के लिए; **माम्**=मेरे; **आश्रित्य**=परायण होकर; **यतन्ति**=यत्न करते हैं; **ये**=जो; **ते**=वे; **ब्रह्म**=ब्रह्म को; **तत्**=उस; **विदुः**=जानते हैं; **कृत्स्नम्**=पूर्ण; **अध्यात्मम्**=अध्यात्म को; **कर्म**=सकाम कर्म को; **च**=भी; **अखिलम्**=सम्पूर्ण।

अनुवाद

जो जरा-मरण से मुक्ति के लिए यत्नशील हैं, वे सुधीजन मेरी भक्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं। वे वास्तव में ब्रह्मभूत हैं, क्योंकि वे अध्यात्म और सकाम कर्म के तत्त्व को सम्पूर्ण रूप से जानते हैं।।२९।।

तात्पर्य

जन्म, मृत्यु जरा और व्याधि आदि विकार जड़ देह को पीड़ित करते हैं; परन्तु दिव्य देह में ऐसा नहीं है। दिव्य देह इन चारों विकारों के विल्कुल मुक्त है। अतः सिद्ध दिव्य देह को प्राप्त होकर जो जीव भगवान् का पार्षद वन जाता है और शाश्वत् भक्तियोग का आचरण करता है, वह यथार्थ में मुक्त है। **अहं ब्रह्मास्मिः**, 'मैं आत्मतत्त्व हूँ।' शास्त्रों का निर्देश है कि अपने को ब्रह्म, अर्थात् आत्मतत्त्व समझे। यह ब्राह्मी धारणा भी भक्तियोग है, जैसा इस श्लोक में कहा गया है। शुद्धभक्त ब्रह्मभूत हो जाते हैं; उन्हें प्राकृत-अप्राकृत क्रियाओं का पूर्णज्ञान रहता है।

भगवत्सेवा-परायण चारों प्रकार के अशुद्ध भक्तों की अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है और अहैतुकी भगवत्कृपा से पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो जाने पर वे भी भगवान् के संग का आस्वादन करते हैं। परन्तु देवोपासकों को परम धाम में श्रीभगवान् का संग कभी नहीं मिलता। अल्पज्ञ ब्रह्मज्ञानी भी श्रीकृष्ण के परम धाम गोलोक-वृन्दावन में प्रवेश के अधिकारी नहीं हैं। एकमात्र कृष्णभावनाभावित क्रिया करने वालों (**माम् आश्रित्य**) को ही यथार्थ में 'ब्रह्म' कहा जा सकता है, क्योंकि श्रीकृष्णलोक की प्राप्ति के लिए वास्तव में वे ही यत्नशील हैं। इन भक्तों को श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहता। अतः वे वस्तुतः **ब्रह्म** हैं।

बन्धन-मुक्ति के लिए जो भगवत्-अर्चा-भक्ति अथवा भगवत् ध्यान करते हैं, वे श्रीभगवान् के अनुग्रह से ब्रह्म, अधिभूत आदि के तत्त्व को जान जाते हैं। अगले अध्याय में श्रीभगवान् ने यह सब वर्णन किया है।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।३०।।

साधिभूत=प्राकृत सृष्टि के तत्त्व सहित; **अधिदैवम्**=देवताओं के आधार; **माम्**=मुझ को; **साधियज्ञम्**=सम्पूर्ण यज्ञों को धारण करने वाला; **च**=तथा; **ये**=जो; **विदुः**=जानते हैं; **प्रयाण**=मृत्यु के; **काले**=काल में; **अपि**=भी; **च**=तथा; **माम्**=मुझको; **ते**=वे; **विदुः**=जानते हैं; **युक्तचेतसः**=स्थिरचित्त पुरुष।

अनुवाद

जो परमेश्वर, अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के रूप में मेरे तत्त्व को जानते हैं, वे स्थिरचित्त से अन्तकाल में भी मुझ को जान सकते हैं।।३०।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाले पुरुष भगवान् के तत्त्वज्ञान के पथ से पूर्ण रूप से कभी नहीं भटक सकते। कृष्णभावनामृत के अलौकिक सत्संग में यह वोध हो जाता है कि श्रीभगवान् ही अधिभूत एवं अधिदैव हैं। ऐसे दिव्य समागम से शनैः-शनैः भगवान् में विश्वास बढ़ता जाता है। इसलिए कृष्णभावनाभावित पुरुष अन्तकाल में भी श्रीकृष्ण को नहीं भूलता। अतएव वह सहज ही भगवद्धाम

गोलोक-वृन्दावन में प्रविष्ट हो जाता है।

इस सातवें अध्याय में पूर्ण कृष्णभावनाभावित होने की विधि का विशेष रूप से प्रतिपादन है। कृष्णभावना का उन्मेष कृष्णभावनाभावित भक्तों के सत्संग से होता है। ऐसा भागवत-सत्संग साक्षात् श्रीभगवान् का संग देने वाला है। फिर भगवत्कृपा से श्रीकृष्ण की परम-ईश्वरता को बोध हो जाता है। साथ ही, यह ज्ञान भी होता है कि जीव वास्तव में स्वरूप से श्रीकृष्ण का दास है, पर किसी कारणवश श्रीकृष्ण को भूल बैठता है और परिणाम में प्राकृत क्रियाओं के बन्धन में पड़ जाता है। सत्संग द्वारा कृष्णभावना का उत्तरोत्तर विकास करने पर जीव समझता है कि श्रीकृष्ण को भूल बैठने से ही वह माया के नियमों में बँध गया है। तब वह यह भी समझ सकता है कि यह मनुष्य-शरीर एक ऐसा सुयोग है, जिसके द्वारा कृष्णभावना को फिर उद्‌भावित किया जा सकता है: अतः अहैतुकी भगवत्कृपाकल्लोलिनी में निमज्जन के लिए इसका पूरा सदुपयोग करना चाहिए।

अध्याय में अनेक तत्त्वों का निरूपण हुआ है—आर्त भक्त, जिज्ञासु भक्त, अर्थार्थी भक्त, ज्ञानीभक्त, ब्रह्मज्ञान, परमात्मज्ञान, जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मुक्ति एवं भगवद्‌भक्ति आदि का यहाँ विवेचन किया गया। परन्तु जो वास्तव में कृष्णभावनाभावित हो गया है, उस पुरुष को अन्य पद्धतियों की अपेक्षा नहीं रहती। वह पूर्ण रूप से साक्षात् कृष्णभावनाभावित क्रियाओं के परायण होकर श्रीकृष्ण के नित्यदास के रूप में अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में वह भगवत्कथा के श्रवण तथा कीर्तन में ही निरन्तर शुद्धभक्ति का आस्वादन करता है। उसे पूर्ण विश्वास रहता है कि केवल इतना करने से उसकी सर्वाभीष्ट सिद्धि हो जायगी। इस निश्चयात्मिका श्रद्धा को दृढव्रत कहा जाता है और यही भक्तियोग का प्रारम्भ है—ऐसा सम्पूर्ण शास्त्रों का निर्णय है। गीता का सातवाँ अध्याय इसी निश्चय का मूर्त सार-सर्वस्व है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये सप्तमोऽध्यायः।।

अथाष्टमोऽध्यायः

अक्षरब्रह्मयोग

(भगवत्प्राप्ति)

अर्जुन उवाच।
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **किम्**=क्या है; **तत्**=वह; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **किम्**=क्या है; **अध्यात्मम्**=आत्मतत्त्व; **किम्**=क्या है; **कर्म**=कर्म; **पुरुषोत्तम**=हे परम पुरुष; **अधिभूतम्**=प्राकृत सृष्टि; **च**=तथा; **किम्**=क्या; **प्रोक्तम्**=कही जाती है; **अधिदैवम्**=अधिदैव; **किम्**=क्या; **उच्यते**=कहा जाता है ।

अनुवाद

अर्जुन ने जिज्ञासा की, हे देव! हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म का क्या स्वरूप है? यह भौतिक सृष्टि क्या है? तथा अधिदैव क्या है? कृपया कहिये।।१।।

तात्पर्य

इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के **किं तद्ब्रह्म** ? आदि प्रश्नों का समाधान किया है । इसके अतिरिक्त, उन्होंने कर्म, भक्ति, योगविधि और विशुद्ध भक्तियोग का भी वर्णन किया है । श्रीमद्भागवत के अनुसार परतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—इन तीन रूपों में जाना जाता है । इसके अतिरिक्त, जीवात्मा

को भी ब्रह्म कहते हैं। अर्जुन ने 'आत्मा' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की है। वैदिक शब्दकोष के अनुसार 'आत्मा' शब्द प्रसंगानुसार मन, आत्मा, देह तथा इन्द्रियों के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अर्जुन ने श्रीभगवान् को **पुरुषोत्तम** कहा, क्योंकि वह उन्हें केवल अपना सखा समझ कर नहीं, अपितु निर्णायक उत्तर देने में समर्थ परम प्रमाण पुरुषोत्तम जानकर जिज्ञासा कर रहा है।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

अधियज्ञः=यज्ञ का अधीश्वर; **कथम्**=कैसे है; **कः**=कौन है; **अत्र**=यहाँ; **देहे**=देह में; **अस्मिन्**=इस; **मधुसूदन**=हे कृष्ण; **प्रयाणकाले**=अन्तकाल में; **च**=तथा; **कथम्**=किस प्रकार; **ज्ञेयः**=जानने योग्य हैं; **असि**=आप; **नियत आत्मभिः**=संयमी पुरुषों द्वारा।

अनुवाद

हे मधुसूदन! यज्ञपुरुष इस शरीर में कैसे हैं और किस अंग के निवासी हैं? तथा भक्तियोगी अन्तकाल में आपको कैसे जान सकते हैं?।।२।।

तात्पर्य

यज्ञाधिपति (अधियज्ञ) का अर्थ विष्णु भी हो सकता है और इन्द्र भी। श्रीविष्णु ब्रह्मा-शिवादि सब देवों के आदिदेव हैं तथा इन्द्र प्रधान देवता हैं। इन्द्र और विष्णु, दोनों की यज्ञों द्वारा आराधना की जाती है। यहाँ अर्जुन की जिज्ञासा है कि वास्तव में **अधियज्ञ** कौन है तथा जीव की देह में किस प्रकार से है।

अर्जुन ने श्रीभगवान् को **मधुसूदन** सम्बोधित किया है, यह स्मरण कराने के लिए कि एक समय उन्होंने मधु दैत्य का संहार किया था। वास्तव में अर्जुन के चित्त में इन सब संदेहमूलक प्रश्नों को नहीं उठना चाहिए था, क्योंकि वह कृष्णभावनाभावित है। इसलिये ये सन्देह असुरों के समान हैं और श्रीकृष्ण असुर संहार में अति कुशल हैं। अर्जुन ने उन्हें यहाँ **मधुसूदन** कहकर पुकारा, जिससे वे उसके चित्त के सन्देह रूपी असुरों को नष्ट कर दें।

इस श्लोक में **प्रयाणकाले** पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम जीवनभर जो कुछ भी करते हैं, उसकी अन्तकाल में परीक्षा होती है। अर्जुन को भय है कि जो कृष्णभावनाभावित हैं, वे भी मृत्यु-समय श्रीभगवान् को भूल सकते हैं। कारण, उस काल में देह के सब कार्य रुक जाते हैं और मन भयरूप मोह से अति व्याकुल हो उठता है। इसी कारण महाभागवत कुलशेखर महाराज की प्रार्थना है, 'प्रभो! इस स्वस्थ अवस्था में ही मेरी तुरन्त मृत्यु हो जाय, जिससे मेरा मन रूपी राजहंस सुगमता से आपके चरणारविन्द की कर्णिका में प्रवेश कर सके।'' यहाँ राजहंस के रूपक का उल्लेख इसलिये है कि प्रायः कमलकर्णिका में प्रवेश करके हंस आनन्दित होता है। शुद्ध भक्त का चित्त भी श्रीभगवान् के चरणारविन्द में प्रवेश करने को सदा

आतुर रहता है। महाराज कुलशेखर को भय है कि अन्त समय में उनका कण्ठ कफ और वात से इतना अधिक स्तंभित हो जायगा कि वे भगवन्नाम का कीर्तन भी नहीं कर सकेंगे। इसलिए इस समय जबकि शरीर सब प्रकार से स्वस्थ है, देह को त्याग देना श्रेयस्कर होगा। अर्जुन की जिज्ञासा है कि ऐसे अवसरों पर किस साधन से मन कृष्णचरणाम्बुज में निश्चल रह सकता है।

श्रीभगवानुवाच।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।३।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **अक्षरम्**=अविनाशी; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **परमम्**=दिव्य; **स्वभावः**=सनातन जीवस्वरूप; **अध्यात्मम्**=अध्यात्म; **उच्यते**=कहा जाता है; **भूतभाव उद्भवकरः**=जीवों के पाञ्चभौतिक देहों की रचना करने वाला कार्य; **विसर्गः**=सृष्टि; **कर्म**=कर्म; **संज्ञितः**=कहलाता है।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, अविनाशी जीवात्मा को ब्रह्म कहते हैं, उसका नित्य स्वभाव अध्यात्म है और इन प्राकृत देहों की सृष्टिरूप कार्य कर्म कहलाता है।।३।।

तात्पर्य

ब्रह्म का स्वरूप अविनाशी, नित्य और अव्यय (अविकारी) है। परन्तु इस ब्रह्म से परे परब्रह्म भी है। **ब्रह्म** शब्द से जीवात्मा निर्दिष्ट है, जबकि **परब्रह्म** शब्द स्वयं भगवान् का वाचक है। जीव का स्वरूप उस स्थिति से भिन्न है जो उसने जगत् में ग्रहण कर रखी है। मोहावस्था में वह प्रकृति पर प्रभुत्व करने का प्रयास करता है; परन्तु दिव्य कृष्णभावना से भावित हो जाने पर केवल भगवत्सेवा करना चाहता है। मायामोहित जीव संसार में विभिन्न देह धारण करने को बाध्य है। इसी का नाम **कर्म** अथवा मोहमयी विषयैषणा से उत्पन्न होने वाली नानाविध सृष्टि है।

वैदिक शास्त्रों में जीवात्मा को ब्रह्म कहा है; उसके लिए **परब्रह्म** संज्ञा का प्रयोग कहीं नहीं है। जीवात्मा नाना स्थितियाँ ग्रहण करता है—कभी माया के अन्धकारमय अवगाह में निमज्जित होकर जड़-तत्त्व को अपना स्वरूप मान बैठता है तो कभी पराशक्ति को। इसी कारण उसे श्रीभगवान् की *'तटस्था शक्ति'* कहा गया है। अपरा अथवा परा प्रकृति में स्थिति के अनुसार उसे क्रमशः पाँचभौतिक अथवा अप्राकृत देह मिलती है। अपरा प्रकृति में ८४,००,००० योनियों में से कोई देह मिल सकती है, जबकि परा प्रकृति में एक ही प्रकार का दिव्य शरीर मिलता है। अपरा प्रकृति में वह कर्मानुसार देव, पशु पक्षी आदि किसी एक शरीर में जाता है। प्राकृत स्वर्गीय लोकों में पहुँचकर उनमें उपलब्ध विषयसुख के उपभोग के लिए वह कभी-कभी यज्ञ करता है; पर पुण्य के क्षीण हो जाने पर मानव योनि में पृथ्वी पर फिर से लौटना पड़ता है।

यज्ञपद्धति में जीवात्मा अभीष्ट लोक की प्राप्ति के लिए विशिष्ट यज्ञ करता है और फलस्वरूप अपने इच्छित लोक में पहुँच जाता है। फिर यज्ञजन्य पुण्य के समाप्त हो जाने पर वह वर्षा के रूप में पृथ्वी पर उतर कर अन्न का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य उस अन्न को खा कर वीर्य में परिणत कर देता है, जिससे स्त्री में गर्भाधान होता है। इस प्रकार, जीवात्मा फिर मनुष्य-शरीर धारण कर यज्ञ करता है। यह चक्र इसी प्रकार चल रहा है। परिणामस्वरूप जीव जन्म-मृत्यु रूप भवबन्धन में ही भटकता रहता है। परन्तु जो कृष्णभावनाभावित है, वह ऐसे यज्ञों को नहीं करता। वह सीधे-सीधे कृष्णभावना को अंगीकार कर लेता है और इस विधि से भगवद्धाम को फिर लौटने के लिए कटिबद्ध रहता है।

गीता के निर्विशेषवादी व्याख्याकारों का अयुक्तियुक्त पूर्वाग्रह है कि प्राकृत-जगत् में परब्रह्म ने जीवत्व धारण कर लिया है। इसको प्रमाणित करने के लिए वे गीता के पन्द्रहवें अध्याय के सातवें श्लोक को उद्धृत करते हैं। परन्तु इस श्लोक में भी जीव को **ममैवांशो**, अर्थात् **श्रीभगवान का नित्य भिन्न-अंश** कहा गया है। श्रीभगवान् का भिन्न-अंश जीव संसार में गिर सकता है, पर अच्युत कहलाने वाले परमेश्वर श्रीकृष्ण का पतन कभी नहीं होता। अतः इस धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि परब्रह्म जीवरूप ग्रहण करते हैं। स्मरणीय है कि वैदिक शास्त्रों में ब्रह्म (जीवात्मा) और परब्रह्म (परमेश्वर श्रीभगवान्) में स्पष्ट भेद है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥४॥

अधिभूतम्=अधिभूत हैं; **क्षरः**=नश्वर; **भावः**=पदार्थ; **पुरुषः**=समष्टि-विराट्; **च**=तथा; **अधिदैवतम्**=अधिदैव है; **अधियज्ञः**=अधियज्ञ हूँ; **अहम् एव**=मैं (कृष्ण) ही; **अत्र**=इस; **देहे**=देह में; **देहभृताम् वर**=हे देहधारियों में श्रेष्ठ (अर्जुन)।

अनुवाद

नित्य परिवर्तनशील प्रकृति अधिभूत है; विराट् पुरुष अधिदैव है और हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! जीवमात्र के हृदय में रहने वाला मैं ही अधियज्ञ हूँ।॥४॥

तात्पर्य

भौतिक प्रकृति नित्य विकारी है। सभी प्राकृत शरीर छः अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं: जन्म लेते हैं, बढ़ते हैं, कुछ समय तक विद्यमान रहते हैं, प्रजनन करते हैं, क्षीण होते हैं और अन्त में नष्ट हो जाते हैं। यह भौतिक प्रकृति **अधिभूत** है। परमेश्वर के विराट् रूप की वह धारणा, जिसमें देवता और उनके लोकों का भी समावेश है, **अधिदैव** कहलाती है, क्योंकि उसके उद्भव-विनाश का निश्चित समय है। जीवात्मा शरीर का सहगामी है। जीव का अन्तर्यामी, भगवान् श्रीकृष्ण का अंश परमात्मा **अधियज्ञ** है। **एव** शब्द इस श्लोक के सन्दर्भ में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा श्रीभगवान् ने यह दृढ़तापूर्वक सिद्ध किया है कि

परमात्मा उनसे भिन्न नहीं है। जीव-हृदय में परमात्मा रूपधारी श्रीभगवान् जीवात्मा के कार्यकलाप के साक्षी और चेतना के स्रोत हैं। जीव को स्वतन्त्रतापूर्वक क्रिया करने का अवसर देकर परमात्मा उसके कार्यकलाप की समीक्षा करते हैं। परमेश्वर श्रीकृष्ण की इन विविध अभिव्यक्तियों के कार्य भगवद्भक्तियोग में लगे शुद्ध कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए अपने-आप स्पष्ट हो जाते हैं। **अधिदैव** नामक प्रभु का विराट् रूप उन नवदीक्षितों के लिए है, जो परमेश्वर के परमात्मा रूप को नहीं जानते। नवदीक्षित भक्त के लिए उसी विराट् रूप के ध्यान का विधान है, जिसके निम्न लोक चरण हैं, शशि-सूर्य जिसके चक्षु हैं तथा उच्च लोकों को जिसका शीर्ष भाग माना जाता है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

अन्तकाले=जीवन के अन्त में; **च**=भी; **माम्**=मेरा; **एव**=ही; **स्मरन्**=स्मरण करता हुआ; **मुक्त्वा**=त्याग कर; **कलेवरम्**=शरीर को; **यः**=जो; **प्रयाति**=जाता है; **सः**=वह; **मद्भावम्**=मेरे स्वभाव को; **याति**=प्राप्त होता है; **न**=नहीं; **अस्ति**=है; **अत्र**=इसमें; **संशयः**=सन्देह।

अनुवाद

जो कोई अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ देह को त्यागता है, वह तत्काल मेरे स्वभाव को प्राप्त हो जाता है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।।५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में कृष्णभावनामृत का माहात्म्य प्रकट हुआ है। कृष्णभावनाभावित दशा में देह त्यागने वाला बिना विलम्ब दिव्य भगवद्धाम में प्रविष्ट हो जाता है। **स्मरन्** शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण का स्मरण उस अशुद्ध जीव को नहीं हो सकता, जिसने कृष्णभावनाभावित भक्तियोग का सम्पादन न किया हो। श्रीकृष्ण की शाश्वत् स्मृति के लिए श्रीचैतन्य महाप्रभु का अनुगमन करते हुए वृक्ष से भी अधिक सहनशील और तृण से भी अधिक दीन होकर, दूसरों को पूरा सम्मान देते हुए और अपने लिए मान की इच्छा न रखकर **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—इस महामन्त्र का निरन्तर कीर्तन करना चाहिए। ऐसा करने वाला सफलतापूर्वक श्रीकृष्ण का स्मरण करता हुआ देह से प्रयाण कर परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

यम् यम्=जिस; **वा**=किसी; **अपि**=भी; **स्मरन्**=स्मरण करते हुए; **भावम्**=प्रकृति का; **त्यजति**=त्यागता है; **अन्ते**=अन्त में; **कलेवरम्**=शरीर को; **तम् तम्**=उसको; **एव**=ही; **एति**=प्राप्त होता है; **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र; **सदा**=नित्य; **तत्**=उस; **भाव**=भाव का; **भावितः**=स्मरण करता हुआ।

अनुवाद

जिस-जिस भी भाव का स्मरण करते हुए जीव देह को त्यागता है, उस उसको ही निःसन्देह प्राप्त होता है, क्योंकि वह जीवन में सदा उसी भाव से भावित रहा है।।६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में बताया गया है कि देहान्त के संकटपूर्ण काल में अपने स्वभाव को किस प्रकार बदला जा सकता है। यह जिज्ञासा बहुधा होती है कि सद्गति के अनुकूल मनोस्थिति में मनुष्य का देहान्त किस साधन से हो सकता है? महाराज भरत ने अन्त समय में मृग-शावक का चिन्तन किया था जिससे उन्हें उसी योनि में जाना पड़ा। परन्तु मृग-वपु में भी उन्हें अपने पूर्वकर्मों की स्मृति बनी रही। अवश्य ही जीवनभर के कर्मों और विचारों के संचित संस्कार का अन्तकाल के चिन्तन पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार वर्तमान जीवन के कार्य-कलाप भावी जीवन को निर्धारित करते हैं। अतएव यदि कोई दिव्य श्रीकृष्णसेवा में मग्न रहे तो उसका अगला कलेवर चिन्मय होगा, प्राकृत नहीं। इस कारण **हरे कृष्ण** महान्त्र का कीर्तन अपने स्वभाव को दिव्य बनाने का सर्वोत्तम साधन है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।७।।

तस्मात्=इसलिए; **सर्वेषु कालेषु**=सब समय (प्रतिक्षण); **माम्**=मेरा; **अनुस्मर**=नित्य स्मरण कर; **युध्य च**=युद्ध भी कर; **मयि**=मुझ में; **अर्पित**=अर्पण किए; **मनः**=मन; **बुद्धिः**=बुद्धि (से युक्त हुआ); **माम्**=मुझ को; **एव**=ही; **एष्यसि**=प्राप्त होगा; **असंशयम्**=निःसन्देह।

अनुवाद

इसलिए हे अर्जुन! तू मेरे कृष्णरूप का निरन्तर चिन्तन कर और साथ-साथ युद्धरूपी स्वधर्म का आचरण भी कर। इस प्रकार अपनी क्रियाओं को मेरे अर्पण करके मन-बुद्धि को मुझमें एकाग्र करने से तू निःसन्देह मुझ को ही प्राप्त होगा।।७।।

तात्पर्य

अर्जुन को भगवान् का यह उपदेश सभी लौकिक कर्मपरायण मनुष्यों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रीभगवान् ने स्वधर्म-त्याग का आदेश नहीं दिया है। कर्तव्य-पालन किया जा सकता है, परन्तु साथ ही **हरेकृष्ण** महामन्त्र का जप करते हुए श्रीकृष्ण का स्मरण रखना चाहिए। इससे सांसारिक दोषों से मुक्ति हो जायगी और मन-बुद्धि श्रीकृष्ण में अनुरक्त हो जायेंगे। कृष्णनाम-संकीर्तन करने से निःसन्देह परमधाम कृष्णलोक की प्राप्ति हो जाती है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

अभ्यासयोगयुक्तेन=भगवान् के ध्यानरूप अभ्यास से युक्त; **चेतसा**=चित्त से; **न अन्य गामिना**=अनन्य (अचल); **परमम्**=परम; **पुरुषम्**=श्रीभगवान् को; **दिव्यम्**=अलौकिक; **याति**=प्राप्त होता है; **पार्थ**=हे पृथापुत्र; **अनुचिन्तयन्**=निरन्तर चिन्तन करते हुए।

अनुवाद

हे पार्थ (अर्जुन) ! जो पुरुष अनन्य चित्त से निरन्तर परम पुरुष के स्मरण का अभ्यास करता है, वह निःसन्देह मुझ को ही प्राप्त होता है।।८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने स्मरण के माहात्म्य पर बल दिया है। **हरे कृष्ण** संकीर्तन से श्रीकृष्ण की स्मृति जागृत हो उठती है। भगवन्नाम-ध्वनि के श्रवण-कीर्तन का यह अभ्यास कर्ण, रसना और चित्त को भक्तियोग में लगा देता है। यह यौगिक ध्यान बड़ा ही सुखसाध्य और भगवत्प्राप्ति के अनुकूल है। **पुरुषम्** का तात्पर्य भोक्ता है। श्रीभगवान् की तटस्था शक्ति होते हुए भी जीव प्राकृत विकारों से ग्रस्त हैं। वे अपने को भोक्ता समझते हैं, परन्तु वास्तव में वे परम-भोक्ता नहीं हैं। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि नारायण, वासुदेव, आदि अपने विभिन्न अंश-प्रकाशों में एकमात्र श्रीभगवान् परम-भोक्ता हैं।

भक्तगण **हरे कृष्ण** महामन्त्र का संकीर्तन करते हुए अपने आराध्य श्रीभगवान् का नारायण, कृष्ण, राम आदि किसी भी रूप में नित्य-निरन्तर चिन्तन कर सकते हैं। इस अभ्यास से साधक की शुद्धि होगी और जीवन के अन्त में, निरन्तर कीर्तन के प्रताप से वह भगवद्धाम को चला जायगा। योगाभ्यास का अर्थ अन्तर्यामी परमात्मा का ध्यान करना है। इसी प्रकार, **हरे कृष्ण** महामन्त्र का कीर्तन करने से मन सदा श्रीभगवान् में एकाग्र रहता है। मन बड़ा चंचल है; इसलिए यह आवश्यक है कि उसे हठपूर्वक कृष्णस्मरण में लगाया जाय। इस सन्दर्भ में उस कीट का दृष्टान्त प्रसिद्ध है, जो भृंग का चिन्तन करते-करते उसी जीवन में भृंग बन जाता है। ऐसे ही, यदि हम श्रीकृष्ण का नित्य स्मरण किया करें, तो यह निश्चित है कि जीवन के अन्त में हमें श्रीकृष्ण के तुल्य दिव्य देह मिलेगी।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।

कविम्=सर्वज्ञ; **पुराणम्**=अनादि; **अनुशासितारम्**=ईश्वर; **अणोः**=अणु से भी; **अणीयांसम्**=लघु; **अनुस्मरेत्**=नित्य चिन्तन करता है; **यः**=जो; **सर्वस्य**=सबका; **धातारम्**=पालनकर्ता; **अचिन्त्य**=अतर्क्य स्वरूप; **रूपम्**=आकार; **आदित्यवर्णम्**=सूर्य के समान तेजोमय; **तमसः**=अन्धकार से; **परस्तात्**=परे।

अनुवाद

उन परम पुरुषोत्तम का ध्यान करे जो सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता और शिक्षक, अणु

से भी सूक्ष्म, सर्वपालक, जगत् से परे अचिन्त्य पुरुष हैं। वे सूर्य के समान तेजोमय और दिव्यस्वरूप हैं—इस भौतिक प्रकृति से परे हैं।।९।।

तात्पर्य

यहाँ अनन्य भगवच्चिन्तन करने की पद्धति का प्रतिपादन है। सर्वप्रथम यह स्मरणीय है कि परमेश्वर निर्विशेष अथवा शून्य नहीं है। निर्विशेष अथवा शून्य वस्तु कभी ध्यान का विषय नहीं हो सकती। निर्विशेष अथवा शून्य का ध्यान करना वहुत कठिन होगा। परन्तु श्रीकृष्ण का स्मरण अतिशय सुगम है, जैसा इस श्लोक में स्पष्ट कहा है। इसलिए सवसे पहले यह जानना आवश्यक है कि भगवान् राम-कृष्ण आदि रूपों में दिव्य पुरुष हैं। उन्हें **कविम्** कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे त्रिकालज्ञ हैं। सवके आदि होने के कारण **पुराण** हैं; प्रत्येक वस्तु का उद्भव उन से हुआ है। वे ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता हैं और मानवता के परिपालक तथा उपदेष्टा भी हैं। वे अणु से भी सूक्ष्मतर हैं। जीवात्मा केश की नोक के १०,०००वें भाग के वरावर है, परन्तु प्रभु की सूक्ष्मता इतनी अचिन्त्य है कि वे इस जीवाणु के हृदय में भी प्रविष्ट रहते हैं। अतः उन्हें **अणोरणीयांसम्** कहा गया है। इतने सूक्ष्य होने पर भी वे सर्वव्यापक एवं सर्वपालक हैं और सब लोकों को धारण करते हैं। हमें प्रायः आश्चर्य होता है कि ये वृहत्काय लोक अन्तरिक्ष में किस प्रकार स्थिर हैं। यहाँ उल्लेख है कि अपनी अचिन्त्य-शक्ति द्वारा श्रीभगवान् इन भीमकाय लोकों तथा नक्षत्रों को धारण कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में **अचिन्त्य** शव्द महत्त्वपूर्ण है। हमारी धारणा तथा चिन्तन-परिधि से परे होने के कारण भगवत्-शक्ति को **अचिन्त्य** कहा जाता है। इस सन्दर्भ में कोई तर्क क्या करेगा ? प्राकृत-जगत् में व्याप्त होने पर भी प्रभु इससे सर्वथा परे हैं। हमारे लिए तो यह पूरा जगत् भी, जो भगवद्धाम् की तुलना में नगण्य है, वुद्धिगम्य नहीं; फिर इससे परे का तत्त्व क्योंकर तर्क का विषय होगा ? **अचिन्त्य** शव्द उस तत्त्व का वाचक है, जिसका हमारे तर्क, न्याय-युक्ति तथा दार्शनिक मनोधर्म आदि स्पर्श तक नहीं कर सकते। अतः सुधीजनों को चाहिए कि निरर्थक तर्क और मनोधर्मी करने के स्थान पर वेद, गीता, श्रीमद्भागवत, आदि शास्त्रों के कथन को प्रमाण मानकर उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का अनुसरण करें। इस साधन से ज्ञानप्राप्ति हो जायगी।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

प्रयाण काले=अन्तकाल में; **मनसा**=मन से; **अचलेन**=स्थिर; **भक्त्या**=पूर्ण भक्तिभाव से; **युक्तः**=युक्त पुरुष; **योगबलेन**=योगाभ्यास के वल से; **च**=और; **एव**=निस्सन्देह; **भ्रुवोः**=दोनों भृकुटियों के; **मध्ये**=मध्य में; **प्राणम्**=प्राणवायु को; **आवेश्य**=स्थापित करके; **सम्यक्**=भलीभाँति; **सः**=वह; **तम्**=उस; **परम्**=परम; **पुरुषम्**=भगवान् को; **उपैति**=प्राप्त होता है; **दिव्यम्**=दिव्य भगवद्धाम में।

अनुवाद

जो पुरुष अन्तकाल में अपने प्राणों को भृकुटी के मध्य में स्थापित करके पूर्ण

भक्तिभाव से भगवत्स्मरण करता है, वह निःसन्देह श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाता है।।१०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में निश्चित कथन है कि अन्तकाल में मन को भक्तिभाव से श्रीभगवान् में एकाग्र कर देना चाहिए। उत्तम योगियों के लिए प्राण को ऊर्ध्वारोहण के द्वारा भृकुटी के मध्य-देश में स्थापित करने का विधान है। इस प्रकार का योगाभ्यास न करने वाले शुद्ध-भक्त का चित्त सदा कृष्णभावनाभावित रहे, जिससे अन्तकाल में भगवत्कृपा से श्रीभगवान् की स्मृति अवश्य हो जाय। चौदहवें श्लोक में इसका विशद वर्णन है।

योवलेन पद विशेष है, क्योंकि योगाभ्यास के विना अन्तकाल में इस भाव की प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी योगपद्धति, विशेष रूप से भक्तियोग का अभ्यास किए विना मरणकाल में सहसा भगवत्स्मरण नहीं हुआ करता। मरणासन्न मनुष्य का चित्त अत्यन्त विक्षुब्ध हो जाता है। इसलिए योग के द्वारा भगवत्स्मरण का आजीवन अभ्यास करना चाहिए।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

यत्=जिस ब्रह्म को; **अक्षरम्**=अविनाशी ओंकार; **वेदविदः**=वेदों को जानने वाले विद्वान्; **वदन्ति**=कहते हैं; **विशन्ति**=प्रवेश करते हैं; **यत्**=जिसमें; **यतयः**=महर्षि; **वीतरागाः**=आसक्तिरहित; **यत्**=जिसकी; **इच्छन्तः**=इच्छावाले; **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचारी-व्रत का; **चरन्ति**=अभ्यास करते हैं; **तत्**=उस; **ते**=तेरे लिए; **पदम्**=पद को; **संग्रहेण**=संक्षेप से; **प्रवक्ष्ये**=(मैं) कहूँगा।

अनुवाद

ओंकार का उच्चारण करने वाले वेदवादी विद्वान् और अनासक्त महर्षि जिस ब्रह्म में प्रवेश करते हैं, जिस संसिद्धि के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का सेवन किया जाता है, तेरे लिए अब मैं उसी मुक्तिपथ का वर्णन करूँगा।।११।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्म अद्वितीय है, परन्तु उसके नाना प्राकट्य एवं रूप हैं। निर्विशेषवादियों के लिए ओम् शब्द ब्रह्म से अभिन्न है। श्रीकृष्ण ने यहाँ उसी निर्विशेष ब्रह्म का वर्णन किया है, जिसमें सर्वत्यागी महर्षिजन प्रवेश करते हैं।

वैदिक विद्या की परिपाटी के अनुसार, विद्यार्थियों को प्रारम्भ से ओम् के उच्चारण की शिक्षा दी जाती है। इस विधि से पूर्ण ब्रह्मचर्य का अनुशीलन करते हुए आचार्य के सान्निध्य में रहकर वे निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उन्हें ब्रह्म के दो स्वरूपों का बोध हो जाता है। यह पद्धति शिष्य की पारमार्थिक

उन्नति के लिए बड़ी आवश्यक है, परन्तु वर्तमान में ऐसा ब्रह्मचारी-जीवन व्यतीत करना प्रायः असम्भव सा हो गया है। विश्व के सामाजिक-गठन में इतना अधिक परिवर्तन आ चुका है कि विद्यार्थी-जीवन के प्रारम्भ से ब्रह्मचर्यव्रत का अभ्यास करना सम्भव नहीं रहा है। सारे विश्व में ज्ञान के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लिए अनेक संस्थान हैं, पर ऐसा एक भी प्रामाणिक संस्थान नहीं है, जहाँ विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य के नियमों में प्रशिक्षित किया जा सके। ब्रह्मचर्य का आचरण किए बिना परमार्थ में उन्नति बड़ी कठिन है। अतएव श्रीचैतन्य महाप्रभु का उद्घोष है कि वर्तमान कलियुग के लिए शास्त्र-विधान के अनुसार **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** —इस पावन कृष्णनाम का संकीर्तन करने के अतिरिक्त भगवत्प्राप्ति का कोई अन्य साधन नहीं है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।।१२।।

सर्व द्वाराणि=सब इन्द्रियरूप द्वारों को; **संयम्य**=विषयों से हटाकर; **मनः**=चित्त को; **हृदि**=हृदय में; **निरुध्य**=स्थिर कर; **च**=और; **मूर्ध्नि**=मस्तक में; **आधाय**=स्थापित कर; **आत्मनः**=अपने; **प्राणम्**=प्राणवायु को; **आस्थितः**=स्थित हो; **योगधारणाम्**=मेरे आनखशिख ध्यान में।

अनुवाद

इन्द्रियक्रियाओं की निवृत्ति को योगधारणा कहा जाता है। सम्पूर्ण इन्द्रियद्वारों को विषयों से हटाकर जो मन को हृदय में तथा प्राणवायु को मस्तक में स्थापित करता है वह मेरे ध्यानरूप योग में स्थित हो जाता है।।१२।।

तात्पर्य

योगाभ्यास के लिए पहले इन्द्रियतृप्ति के सम्पूर्ण द्वारों को बन्द कर देना चाहिए। इस अभ्यास का नाम **प्रत्याहार** है, जिसका तात्पर्य है इन्द्रियविषयों से इन्द्रियों को हटा लेना। चक्षु, कर्ण, नासिका, रसना एवं स्पर्श—इन ज्ञानेन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में करके इन्द्रियतृप्ति में प्रवृत्त नहीं होने देना चाहिए। इस विधि से मन अन्तर्यामी परमात्मा पर एकाग्र हो जाता है तथा प्राण का मस्तक में ऊर्ध्वारोहण होता है। छठे अध्याय में इस पद्धति का विस्तृत निरूपण है। परन्तु जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, इस युग में यह अभ्यास सम्भव नहीं है। सर्वोत्तम साधन कृष्णभावनामृत ही है। जो पुरुष भक्तिभाव से अपने चित्त को नित्य-निरन्तर श्रीकृष्ण में केन्द्रित रख सकता है, उसके लिए शाश्वत् समाधि में रहना अत्यन्त सुगम है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।१३।।

ॐ=ओंकार; **इति**=इस प्रकार; **एक अक्षरम्**=परम अविनाशी; **ब्रह्म**=ब्रह्म का; **व्याहरन्**=उच्चारण करते हुए; **माम्**=मुझ कृष्ण का; **अनुस्मरन्**=स्मरण करते

हुए; **यः**=जो; **प्रयाति**=जाता है; **त्यजन्**=त्यागकर; **देहम्**=कलेवर; **सः**=वह; **याति**=प्राप्त होता है; **परमाम् गतिम्**=परमगतिरूप मेरे लोक को।

अनुवाद

इस योगधारणा में स्थित होकर अक्षरब्रह्म पवित्र ओंकार के उच्चारण के साथ जो मेरा स्मरण करते हुए देह त्यागता है, वह निःसन्देह भगवद्धाम को प्राप्त होता है।।१३।।

तात्पर्य

स्पष्ट है कि ओम्, ब्रह्म तथा भगवान् श्रीकृष्ण में भेद नहीं है। **ओम्** श्रीकृष्ण का निर्विशेष नाद है, पर **हरे कृष्ण** नाद में ओम् का भी समावेश है। *इस युग के लिए यह स्पष्ट विधान है कि जो **हरे कृष्ण** महामन्त्र का कीर्तन करते हुए देह त्यागता है, वह भगवद्धाम को प्रयाण करता है।* कृष्णभक्त कृष्णलोक अथवा गोलोक-वृन्दावन में प्रवेश करते हैं, जबकि निर्विशेषवादी ब्रह्मज्योति में ही स्थित हो जाते हैं। साकारवादी यथाधिकार परव्योम के वैकुण्ठ नामक असंख्य लोकों में भी प्रवेश करते हैं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

अनन्यचेताः=अनन्य मन से; **सततम्**=नित्य; **यः**=जो कोई भी; **माम्**=मेरा (कृष्ण का); **स्मरति**=स्मरण करता है; **नित्यशः**=सदा; **तस्य**=उसके लिए; **अहम्**=मैं; **सुलभः**=सुलभ हूँ; **पार्थ**=हे अर्जुन; **नित्य युक्तस्य**=निरन्तर मेरे में युक्त हुए; **योगिनः**=भक्त के (लिए)।

अनुवाद

जो नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से मेरा स्मरण करता है, उस के लिए हे अर्जुन ! मैं सुलभ हूँ, क्योंकि वह नित्य मेरे भक्तियोग के परायण रहता है।।१४।।

तात्पर्य

इस श्लोक में अनन्य भगवद्भक्तों के भक्तियोग का प्रतिपादन है। पूर्ववर्ती श्लोकों में आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी—इन चार प्रकार के भक्तों का वर्णन किया जा चुका है। भवबन्धन से मुक्ति के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग आदि विविध पथों का भी विवरण हुआ। परन्तु यहाँ इन के सम्मिश्रण से रहित विशुद्ध भक्तियोग का वर्णन है। भक्तियोग में भक्तों को श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अभीप्सित नहीं रहता। शुद्ध भक्त स्वर्गारोहण अथवा भवबन्धन से मुक्ति तक की इच्छा नहीं करते। शुद्ध भक्त सर्वथा निःस्पृह होते हैं। 'चैतन्य चरितामृत' में शुद्ध भक्त को 'निष्काम' कहा है, जिसका अर्थ है कि उन्हें निजेन्द्रियतृप्ति विषयक कामना की गन्ध भी नहीं होती। पूर्ण शान्ति एकमात्र उसी की सम्पत्ति है, उनकी नहीं, जो स्वार्थ के निमित्त से चेष्टा करते हैं। शुद्ध भक्त तो केवल भगवान् को प्रसन्न करना चाहता

है। इसलिए श्रीभगवान् कहते हैं कि अनन्य भक्त के लिए वे सुलभ हैं। भक्त भगवान् के किसी भी दिव्य विग्रह की सेवा कर सकता है; अन्य योगों का अभ्यास करने वालों के आगे आने वाले व्यवधान उसके मार्ग में कभी नहीं आते। भक्तियोग बड़ा सुगम, शुद्ध एवं सुखसाध्य है। हरे कृष्ण मन्त्र के कीर्तन द्वारा इसका प्रारम्भ किया जा सकता है। श्रीकृष्ण अपने सेवकों के लिए कृपा से ओतप्रोत, अति द्रवितहृदय हैं। इसलिए वे पूर्ण शरणागत भक्त की सब प्रकार से सहायता करते हैं और वह उनके तत्त्व को जान जाता है। ऐसे भक्त को भगवान् वह पर्याप्त बुद्धि देते हैं, जिससे अन्त में वह भगवद्धाम में उन्हें प्राप्त कर ले।

शुद्ध भक्त की यह एक विशेष योग्यता है कि वह देश-काल का विचार किए बिना सदा श्रीकृष्ण का चिन्तन करता रहता है। उसकी भगवत्स्मृति में कभी अन्तर नहीं आता। वह किसी भी देश-काल में भगवत्सेवा कर सकता है। कुछ व्यक्तियों का कहना है कि भक्त को वृन्दावन आदि तीर्थों अथवा प्रभु-वासस्थलों में ही निवास करना चाहिए। परन्तु शुद्धभक्त तो जहाँ भी रहेगा, वहीं उसके भक्तियोग के प्रताप से वृन्दावन प्रकट हो जायगा। इसी कारण श्रीअद्वैताचार्य ने श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव से निवेदन किया था, 'प्रभो! जहाँ आपका निवास है, वहीं वृन्दावन धाम है।'

शुद्ध भक्त श्रीकृष्ण के अभिराम स्मरण-ध्यान में अविराम तन्मय रहता है। यही वे सद्गुण हैं जिनके कारण शुद्ध भक्त के लिए कृष्ण अति सुलभ हैं। भक्तियोग के पथ को गीता में अन्य सभी पथों से उत्तम कहा गया है। भक्तियोगी सामान्यतः शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, एवं माधुर्य—इन पाँच रसों में निष्ठ होते हैं। इनमें से किसी भी रस में निष्ठ शुद्ध भक्त निरन्तर भगवत्सेवा के परायण रहता है। वह क्षणभर को भी अपने प्रियतम श्रीभगवान् को नहीं भूल सकता। इसी से उसके लिए श्रीभगवान् अति सुलभ हैं। श्री श्यामसुन्दर की क्षणमात्र की विस्मृति भी शुद्ध भक्त के लिए असह्य है। इसी प्रकार भगवान् भी अपने शुद्ध भक्त को क्षणभर के लिए भी नहीं भुला सकते। हरे कृष्ण महामन्त्र का संकीर्तन करने की कृष्णभावना पद्धति का यह महान् वरदान है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

माम्=मुझ को; **उपेत्य**=प्राप्त होकर; **पुनः**=फिर; **जन्म**=जन्म को; **दुःखालयम्**=दुःखों से पूर्ण; **अशाश्वतम्**=अनित्य; **न**=नहीं; **आप्नुवन्ति**=प्राप्त होते; **महात्मानः**=महात्माजन; **संसिद्धिम्**=पूर्णता को; **परमाम्**=अन्तिम; **गताः**=प्राप्त हुए।

अनुवाद

मुझ को प्राप्त हुए भक्तियोगी महात्माजनों का इस दुःखों से भरे अनित्य जगत् में फिर जन्म नहीं होता, क्योंकि वे परम संसिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं।।१५।।

तात्पर्य

यह अनित्य प्राकृत-जगत् जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिरूप दुःखों से पूर्ण है।

इसलिए यह स्वाभाविक सा है कि जो पुरुष परम संसिद्धि-लाभ करके परमधाम कृष्णलोक, गोलोक वृन्दावन को प्राप्त हो गया है, वह यहाँ लौटने की इच्छा नहीं करता। वैदिक शास्त्रों के अनुसार परमधाम हमारी प्राकृत धारणा से अति परे है, वही परम लक्ष्य है। महात्माजन भगवत्प्राप्त भक्तों के मुखारविन्द से निस्यन्दित भगवत्-कथामृत को कर्णपुटों से पीकर क्रमशः कृष्णभावनाभावित भक्तियोग का विकास करते हैं। इस प्रकार वे भगवत्सेवा में इतने निमग्न रहते हैं कि किसी उच्च लोक अथवा परव्योम में जाने की इच्छा उनके मन में कभी नहीं उठती। उन्हें नित्य श्रीकृष्ण के सान्निध्य की ही अभिलाषा रहती है; वे और कुछ नहीं चाहते। इस कोटि के कृष्णभावनाभावित महात्मा जीवन की परम संसिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव वे परम श्रेष्ठ हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

आब्रह्मभुवनात् =ब्रह्मलोक सहित; **लोकाः** =सम्पूर्ण लोक; **पुनरावर्तिनः** = पुनरावर्ती हैं; **अर्जुन** =हे अर्जुन; **माम्** =मुझ को; **उपेत्य** =प्राप्त होकर; **तु** =किन्तु; **कौन्तेय** =हे कुन्तीपुत्र; **पुनर्जन्म** =पुनर्जन्म; **न** =कभी नहीं; **विद्यते** =होता।

अनुवाद

हे अर्जुन! प्राकृत-जगत् में सबसे ऊपर ब्रह्मलोक से लेकर नीचे तक सब के सब लोक बारम्बार जन्म-मृत्यु रूपी क्लेश से पूर्ण हैं। परन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त हो जाता है, उसका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता।।१६।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण के दिव्य धाम में प्रवेश करके संसार में कभी न लौटना पड़े, इसके लिए कर्म, ज्ञान, हठ आदि अन्य सब योगों का अभ्यास करने वालों को भक्तियोग अथवा कृष्णभावनामृत की परम संसिद्धि को प्राप्त करना आवश्यक है। परमोच्च प्राकृत लोक अथवा देवलोकों में प्रवेश करने वाले भी जन्म-मृत्यु के चक्र के आधीन बने रहते हैं; उससे मुक्त नहीं हो पाते। जिस प्रकार पृथ्वीवासी उच्च लोकों को जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म, चन्द्र, इन्द्र आदि उच्च लोकों के निवासियों का इस लोक में पतन होता है। 'कठोपनिषद्' में उल्लिखित 'पञ्चाग्नि विद्या' द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो सकती है; परन्तु यदि ब्रह्मलोक में कृष्णभावनामृत का अनुशीलन नहीं किया जाय तो कुछ काल बाद पृथ्वी पर फिर लौटना होगा। जो उच्च लोकों में कृष्णभावनामृत का आचरण करते हैं, वे उत्तरोत्तर उच्चलोकों को जाते हैं और फिर महाप्रलय होने पर नित्य भगवद्धाम पहुँचते हैं। इसी प्रकार प्राकृत-जगत् में प्रलय हो जाने पर ब्रह्मा और उनके भक्त, जो निरन्तर कृष्णभावना-परायण हैं, परव्योम में पहुँचकर इच्छानुसार वैकुण्ठ लोकों में प्रवेश करते हैं।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

सहस्र=हजार; **युग**=युगों; **पर्यन्तम्**=तक अवधि वाला; **अहः**=दिन; **यत्**=जो; **ब्रह्मणः**=ब्रह्मा का; **विदुः**=जानते हैं; **रात्रिम्**=रात्रि; **युग सहस्र अन्ताम्**=उसी प्रकार हजार युग वाली; **ते**=वह; **अहःरात्र**=दिन-रात के तत्त्व को; **विदः**=जानते हैं; **जनाः**=मनुष्य।

अनुवाद

मानवीय गणना के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन की अवधि एक हजार चतुर्युग है और इतनी ही वड़ी उसकी रात्रि है।।१७।।

तात्पर्य

प्राकृत ब्रह्माण्ड की अवधि परिमित है। इसका प्राकट्य कल्पचक्र में होता है। ब्रह्मा का एक दिन 'कल्प' कहलाता है। इस एक कल्प में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चारों युग एक हजार वार व्यतीत हो जाते हैं। सत्ययुग के लक्षण हैं सदाचार, वुद्धिमानी और धर्म; अज्ञान और पाप का अत्यन्त अभाव। यह युग १७,२८,००० वर्ष तक रहता है। त्रेता में पापकर्म होने लगता है। इस युग की अवधि १२,९६,००० वर्ष है। द्वापर में धर्म का ह्रास वढ़ जाता है और अधर्म का अभ्युत्थान हुआ करता है। इस युग की अवधि ८,६४,००० वर्ष है। सवके अन्त में कलियुग (जिसका हम पिछले ५,००० वर्ष से अनुभव कर रहे हैं) आता है। इसमें कलह, अज्ञान, अधर्म और पापाचार का प्रावल्य रहता है तथा यथार्थ धर्माचरण प्रायः लुप्त हो जाता है। इस युग का काल ४,३२,००० वर्ष है। कलियुग में अधर्म इतना अधिक वढ़ता है कि युग के अन्त में श्रीभगवान् स्वयं कल्कि अवतार ग्रहण कर दैत्यों का मर्दन और निज भक्तों का परित्राण करके नये सत्ययुग का सूत्रपात करते हैं। स्रष्टा ब्रह्मा के एक दिन में ये चारों युग एक-एक हजार वार व्यतीत हो जाते हैं। ब्रह्मा की रात्रि भी इतनी ही वड़ी है। इतने वड़े दिन-रात वाले सौ वर्ष तक जीवन-धारण करके ब्रह्मा का निधन हो जाता है। ये 'सौ वर्ष' पृथ्वी के ३१,१०,००,०४,००,००,००० वर्षों के तुल्य हैं। इस गणना के अनुसार, ब्रह्मा की आयु विलक्षण और कभी न समाप्त होने वाली प्रतीत हो सकती है; पर नित्यता की दृष्टि से तो वह विजली के कौंधने के समान ही है। आन्ध्र महासागर के वुद्‌वुदों के समान कारण-समुद्र में असंख्य ब्रह्माओं का नित्य उदय-विलय होता रहता है। प्राकृत-जगत् के अंश—ब्रह्मा और उसकी सृष्टि नित्य परिवर्तनशील हैं।

प्राकृत-जगत् में ब्रह्मा तक जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के चक्र से मुक्त नहीं है। फिर भी, इस जगत् की व्यवस्था के रूप में साक्षात् भगवत्सेवा करने से ब्रह्मा की सद्योमुक्ति हो जाती है। उच्च संन्यासी ब्रह्मा के उस विशिष्ट ब्रह्मलोक को जाते हैं, जो प्राकृत-जगत् में सर्वोच्च है और जो अन्य स्वर्गीय लोकों का विनाश हो जाने पर शेष

रहता है। परन्तु भौतिक प्रकृति के नियमानुसार, ब्रह्मा और ब्रह्मलोक के सारे निवासियों की भी यथासमय मृत्यु हो जाती है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके।।१८।।

अव्यक्तात्=अव्यक्त से; **व्यक्तयः**=जीवात्मा; **सर्वाः**=सब; **प्रभवन्ति**=प्रकट होते हैं; **अहः आगमे**=दिन के प्रवेशकाल में; **रात्रि आगमे**=रात्रि के आने पर; **प्रलीयन्ते**=विलीन हो जाते हैं; **तत्र**=उस; **एव**=ही; **अव्यक्त**=अप्रकट; **संज्ञके**=कहे जाने वाले में।

अनुवाद

ब्रह्मा के दिन के आने पर यह जीव-समूह अव्यक्त से प्रकट होता है और ब्रह्मा की रात्रि का आगमन होने पर फिर उसी में लय हो जाता है।।१८।।

तात्पर्य

अल्पज्ञ जीव इसी संसार में रहने के लिये यत्न किया करते हैं; फलस्वरूप नाना लोकों में उनका क्रमशः उत्थान-पतन होता रहता है। वे ब्रह्मा के दिन में अपने कार्य-कलापों को प्रकट करते हैं और ब्रह्मा की रात्रि का आगमन होने पर पुनः अव्यक्त में उनका विलय हो जाता है। ब्रह्मा के दिन में उन्हें विविध कलेवरों की प्राप्ति होती है और रात्रि होने पर ये कलेवर नष्ट हो जाते हैं। इस समय जीव श्रीविष्णु के वपु में रहते हैं। ब्रह्मा के दिवस की आवृत्ति के साथ वे फिर अभिव्यक्त हुआ करते हैं। ब्रह्मा के जीवन-काल की समाप्ति होने पर वे सभी विलीन होकर करोड़ों वर्ष तक अव्यक्त रहते हैं। फिर अगले युग में ब्रह्मा का पुनर्जन्म होता है और वे भी फिर से व्यक्त होते हैं। इस प्रकार जीव प्राकृत-जगत् में बद्ध बना रहता है। परन्तु जो सुधीजन कृष्णभावनामृत को अंगीकार कर भक्तियोग के साथ **हरे कृष्ण हरे राम** कीर्तन करते हैं, वे इसी जीवन में श्रीकृष्ण के दिव्य धाम में प्रवेश करके पुनर्जन्म से रहित सच्चिदानन्दमय जीवन को प्राप्त कर लेते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

भूतग्रामः=चराचर जीवों का समूह; **सः एव**=वही; **अयम्**=यह; **भूत्वा भूत्वा**=बारम्बार उत्पन्न होकर; **प्रलीयते**=लय होता है; **रात्रि**=रात्रि के; **आगमे**=आने पर; **अवशः**=कर्म के आधीन हुआ; **पार्थ**=हे पृथापुत्र; **प्रभवति**=व्यक्त होता है; **अहः**=दिन के; **आगमे**=उपस्थित होने पर।

अनुवाद

वही यह जीव-समुदाय प्रकट हो-होकर रात्रि के आने पर लय होता है और दिन के आने पर कर्म के वश हुआ फिर व्यक्त होता है।।१९।।

परस्तस्मात्तु भावाऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

परः=श्रेष्ठ है; **तस्मात्**=उस; **तु**=परन्तु; **भावः**=प्रकृति; **अन्यः**=भिन्न; **अव्यक्तः**=अव्यक्त; **अव्यक्तात्**=अव्यक्त से; **सनातनः**=नित्य; **यः**=जो; **सः**=वह; **सर्वेषु**=सब; **भूतेषु**=भूतों की; **नश्यत्सु**=प्रलय होने पर भी; **न विनश्यति**=नष्ट नहीं होती।

अनुवाद

इस व्यक्त-अव्यक्त होने वाली जड़ प्रकृति से परे एक अन्य सनातन प्रकृति भी है, जो परा और अविनाशी है। इस संसार के नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता।।२०।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की परा (अन्तरंगा) शक्ति दिव्य और नित्य है। ब्रह्मा के रात्रि-दिवस में क्रमशः व्यक्त और अव्यक्त होने वाली अपरा प्रकृति के संपूर्ण विकारों से वह अति परे है। श्रीकृष्ण की यह परा अंतरंगा शक्ति गुणों में अपरा प्रकृति के ठीक विपरीत है। सातवें अध्याय में इन परा-अपरा शक्तियों का विशद विवेचन है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

अव्यक्तः=अप्रकट; **अक्षरः**=अविनाशी; **इति**=इस प्रकार (जो); **उक्तः**=कहा गया है; **तम्**=उसे; **आहुः**=कहते हैं; **परमाम्**=परम; **गतिम्**=गति; **यम्**=जिसे; **प्राप्य**=प्राप्त हुए; **न निवर्तन्ते**=संसार में फिर नहीं आते; **तत्**=वह; **धाम**=धाम है; **परमम्**=परम; **मम**=मेरा।

अनुवाद

वह परमधाम अव्यक्त अक्षर कहलाता है और वही परम गति है। जहाँ जाने वाला संसार में फिर नहीं आता, वही मेरा परमधाम है।।२१।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण के परमधाम को 'ब्रह्मसंहिता' में **चिन्तामणिधाम** कहा गया है, जहाँ सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। गोलोकवृन्दावन नामक श्रीकृष्ण का परमधाम चिन्तामणि से रचित प्रासादों से परिपूर्ण है। वहाँ के वृक्ष कल्पतरु हैं, जो इच्छा करने मात्र से कोई भी पदार्थ दे सकते हैं; वहाँ की 'सुरभि' गाएँ अपरिमित मात्रा में दुग्धामृत प्रदान करती हैं। इस धाम में प्रभु सहस्रों लक्ष्मियों द्वारा सेवित हैं। वे सब कारणों के कारण आदिपुरुष 'गोविन्द' नाम से जाने जाते हैं। श्रीकृष्ण विदग्ध वेणुवादन-निरत हैं **(वेणुं क्वणन्तम्)**। उनका दिव्य श्रीविग्रह त्रिभुवन में परमाकर्षक है—नयन कमलदल के तुल्य हैं और विग्रह का वर्ण है नवोदित घनश्याम। उनकी सुरम्यांगता कोटि-कोटि कन्दर्प-दर्प-दलन है। वे शरीर पर पीताम्बर, कण्ठ में वैजयन्ती माला एवं केशराशि में मोरमुकुट धारण किए हुए हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने

परव्योम के परमलोक—अपने निजधाम (गोलोक-वृन्दावन) का दिग्दर्शन मात्र कराया है। परन्तु 'ब्रह्मसंहिता' में उसका विशद वर्णन है। वैदिक वाङ्मय के अनुसार भगवद्धाम से उत्तम अन्य कुछ भी नहीं है, इसलिए वही परमगति है। उसमें प्रविष्ट प्राणी प्राकृत-जगत् में फिर कभी नहीं आता। श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के परमधाम में भेद नहीं है, दोनों समान दिव्यगुणों से युक्त हैं। इस पृथ्वी पर, दिल्ली से नब्बे मील दक्षिण-पूर्व में स्थित वृन्दावन परव्योम के उसी गोलोक-वृन्दावन का प्रतिरूप है। श्रीकृष्ण ने धराधाम पर अवतरित होकर इस वृन्दावन धाम में दिव्य लीलारस का परिवेषण किया था।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

पुरुषः=पुरुष; **सः**=वह; **परः**=परम; **पार्थ**=हे पृथापुत्र; **भक्त्या**=भक्तियोग द्वारा; **लभ्यः**=प्राप्त होने योग्य है; **तु**=परन्तु; **अनन्यया**=शुद्ध तथा अविचल (अनन्य); **यस्य**=जिसके; **अन्तःस्थानि**=भीतर; **भूतानि**=सम्पूर्ण जीव हैं; **येन**= जिसके द्वारा; **सर्वम्**=सब कुछ; **इदम्**=यह; **ततम्**=व्याप्त है।

अनुवाद

वे परम पुरुष भगवान् अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो सकते हैं। अपने परमधाम में विराजमान होते हुए भी वे सर्वत्र व्याप्त हैं और सभी कुछ उन में स्थित है।।२२।।

तात्पर्य

स्पष्ट कथन है कि वह परम-लक्ष्य, जहाँ से पुनरागमन नहीं होता, परमपुरुष श्रीकृष्ण का धाम ही है। 'ब्रह्मसंहिता' में इस परमधाम को **आनन्दचिन्मयरस** कहा गया है, अर्थात् वह स्थान जहाँ सभी कुछ दिव्य रस से पूर्ण है। वहाँ अभिव्यक्त सम्पूर्ण वैचित्री भौतिक जड़ता से रहित दिव्य रसमयी है। यह सारी वैचित्री श्रीभगवान् का दिव्य आत्म-विस्तार है, क्योंकि वह धाम पूर्णरूप से अन्तरंगा शक्ति का कार्य है, जैसा सातवें अध्याय में वर्णन है। जहाँ तक इस प्राकृत-जगत् का सम्बन्ध है, अपने परमधान में नित्य विराजमान रहने के साथ ही श्रीभगवान् अपनी अपरा शक्ति के रूप में सर्वव्यापक हैं। इस प्रकार अपनी परा-अपरा शक्तियों के माध्यम से वे प्राकृत-अप्राकृत ब्रह्माण्डों में सर्वत्र हैं। **यस्यान्तःस्थानि,** अर्थात् सभी कुछ उन्होंने धारण कर रखा है, चाहे वह पराशक्ति हो अथवा अपरा शक्ति।

यहाँ निश्चित उल्लेख है कि एकमात्र भक्ति के द्वारा वैकुण्ठ लोकों में प्रवेश हो सकता है। सम्पूर्ण वैकुण्ठ धामों में एक भगवान् श्रीकृष्ण ही असंख्य अंश-रूपों में हैं। ये सब चतुर्भुजधारी अंश असंख्य वैकुण्ठ लोकों के अधिपति हैं। उनके अलग-अलग नाम हैं, जैसे—पुरुषोत्तम, त्रिविक्रम, केशव, माधव, अनिरुद्ध, हृषीकेश, संकर्षण, प्रद्युम्न, श्रीधर, वासुदेव, दामोदर, जनार्दन, नारायण, वामन, पद्मनाभ आदि। ये स्वांशरूप उस वृक्ष के पत्तों के समान हैं, जिसके मूल श्रीकृष्ण हैं। अपने परमधाम

गोलोक वृन्दावन में विराजमान श्रीकृष्ण अपनी सर्वव्यापकता के बल पर प्राकृत और अप्राकृत, दोनों ब्रह्माण्डों का त्रुटिरहित पूर्ण संचालन करते हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

यत्र=जिस; **काले**=काल (मार्ग) में; **तु**=किन्तु; **अनावृत्तिम्**=पीछे न आने वाली गति को; **आवृत्तिम्**=पीछे आने वाली गति को; **च**=तथा; **एव**=निःसन्देह; **योगिनः**=योगी; **प्रयाताः**=शरीर त्याग कर जाने वाले; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **तम्**=उस; **कालम्**=काल को; **वक्ष्यामि**=कहूँगा; **भरतर्षभ**=हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन।

अनुवाद

हे भारत! अब मैं तेरे लिए उन दोनों कालों का वर्णन करूँगा जिनमें से एक में तो संसार से प्रयाण करने पर संसार में फिर आना होता है और दूसरे में जाने पर संसार में फिर जन्म नहीं होता।।२३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् के पूर्ण शरणागत अनन्यभक्तों को यह चिन्ता नहीं सताती कि उनका देह-त्याग किस समय होगा अथवा किस प्रकार से होगा। वे सब कुछ श्रीकृष्ण की इच्छा पर छोड़ देते हैं और इस प्रकार सुखपूर्वक भगवद्धाम को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु जो अनन्य भक्त नहीं हैं, जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग आदि अन्य साधनों पर निर्भर हैं, उनके लिए आवश्यक है कि किसी उपयुक्त काल में देहत्याग करें, जिससे उन्हें यह निश्चय रहे कि जन्म-मृत्युमय संसार में उन्हें फिर नहीं आना पड़ेगा।

सिद्ध योगी इच्छा के अनुसार संसार से जाने के देश-काल को चुन सकता है। परन्तु जो सिद्ध नहीं हुआ है, उसे प्रकृति के इच्छानुसार देह-त्याग करना होगा। श्रीभगवान् ने इस प्रकरण में उस काल का वर्णन किया है, जो आवागमन से मुक्ति के लिए सब से उपयुक्त है। आचार्य बलदेव विद्याभूषण के अनुसार यहाँ प्रयुक्त **काल** शब्द कालाभिमानी देवता का वाचक है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

अग्निः=अग्नि का अभिमानी देवता; **ज्योतिः**=प्रकाशमय; **अहः**=दिन का अभिमानी देवता; **शुक्लः**=शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता; **षट्-मासाः उत्तरा-यणम्**=उत्तरायण के छः मासों का अमिनी देवता; **तत्र**=उस मार्ग में; **प्रयाताः**=जो देह को त्याग कर प्रयाण करते हैं; **गच्छन्ति**=प्राप्त होते हैं; **ब्रह्म**=ब्रह्म को; **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मवेत्ता; **जनाः**=पुरुष।

अनुवाद

जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि का अभिमानी देवता है, दिन का अभिमानी देवता है, शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण का अभिमानी देवता है, उस

मार्ग में देह को त्याग कर गये हुए ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।।२४।।

तात्पर्य

अग्नि, प्रकाश, दिन, सूर्य आदि के उल्लेख से जान पड़ता है कि इन सभी के अपने-अपने अभिमानी देवता हैं, जो आत्मा के गमन की व्यवस्था करते हैं। देहान्तकाल में जीव एक नये जीवन की ओर अग्रसर होता है। दैवयोग से अथवा साधन के बल पर यदि इस श्लोक में बताये काल में किसी का देह-त्याग हो, तो वह निर्विशेष ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर सकता है। उत्तम योगी इष्ट देश-काल में देह-त्याग करने की सामर्थ्य रखते हैं। दूसरों का इसमें कोई बस नहीं चलता; यदि दैववश उनका देहान्त भद्रवेला में हो जाय, तो वे भी बार-बार जन्म-मृत्यु रूप चक्र से मुक्त हो सकते हैं। अन्यथा, उनका पुनरागमन अवश्य होगा। परन्तु कृष्णभावनाभावित शुद्धभक्त के लिए पुनर्जन्म का भय कभी नहीं हो सकता, चाहे उसका देह-त्याग मंगल वेला में हो अथवा अमंगलमय समय में, दैववश हो चाहे स्वेच्छा से।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

धूमः=धूमाभिमानी देवता; **रात्रिः**=रात्रि का अभिमानी देवता; **तथा**=और; **कृष्णः**=कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता; **षट् मासाः दक्षिणायनम्**=दक्षिणायन के छः मासों का अभिमानी देवता है; **तत्र**=उस मार्ग में; **चान्द्रमसम्**=चन्द्रलोक की; **ज्योतिः**=ज्योति को; **योगी**=योगी; **प्राप्य**=प्राप्त होकर; **निवर्तते**=फिर पीछे आता है।

अनुवाद

और जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है, रात्रि का अभिमानी देवता है, कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः मासों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में गया योगी चन्द्रलोक को प्राप्त होकर संसार में फिर आता है।।२५।।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध में उल्लेख है कि जो मनुष्य पृथ्वी पर सकाम-कर्म एवं यज्ञ करते हैं, वे देह का अन्त होने पर चन्द्रलोक को जाते हैं। वहाँ वे देवगणना के अनुसार १०,००० वर्ष तक रहते हैं और सोमरस-पान करते हुए जीवन का उपभोग करते हैं। परन्तु अन्त में उन्हें पृथ्वी पर लौटना पड़ता है। इसका अर्थ है कि चन्द्रमा पर ऐसे उच्चकोटि के जीवों का निवास है, जो स्थूल इन्द्रियों द्वारा गोचर नहीं हैं।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

शुक्ल=अर्चि; **कृष्णे**=धूम; **गती**=मार्ग; **हि**=निःसन्देह; **एते**=ये दोनों; **जगतः**=जगत् के; **शाश्वते**=वेदों में; **मते**=माने गये हैं; **एकया**=एक के द्वारा; **याति**=प्राप्त होता है; **अनावृत्तिम्**=मोक्ष को; **अन्यया**=दूसरे से; **आवर्तते पुनः**=संसार में फिर जन्म लेता है।

अनुवाद

वेदों के मत में इस जगत् से प्रयाण करने के—शुक्ल (प्रकाश) और कृष्ण (अन्धकार), यही दो मार्ग हैं। शुक्ल-गति से गए हुए का पुनरागमन नहीं होता और अन्धकारमय गति से प्रयाण करने वाला संसार में फिर आता है।।२६।।

तात्पर्य

आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने 'छान्दोग्य उपनिषद्' से गमनागमन का यही विवरण उद्धृत किया है। इस प्रकार, ज्ञान और कर्म के अधिकारी अनादिकाल से संसार में गमनागमन कर रहे हैं। श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण में न जाने से उनकी मुक्ति नहीं होती।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

न=नहीं; **एते**=इन दोनों; **सृती**=मार्गों को; **पार्थ**=हे पृथापुत्र अर्जुन; **जानन्**=जानता हुआ; **योगी**=भगवद्भक्त; **मुह्यति**=मोहित होता; **कश्चन**=कोई भी; **तस्मात्**=इसलिए; **सर्वेषु कालेषु**=नित्य-निरन्तर; **योगयुक्तः**=कृष्णभावनाभावित; **भव**=हो; **अर्जुन**=हे अर्जुन।

अनुवाद

इन दोनों मार्गों के तत्त्व को जानकर भक्त कभी मोहित नहीं होता। इसलिए हे अर्जुन! तू सदा भक्तियोग से युक्त हो।।२७।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण अर्जुन को परामर्श देते हैं कि वह इस बात से चिन्तित न हो कि प्राकृत-जगत् को त्याग कर जाता हुआ जीवात्मा इनमें से किसी भी मार्ग को ग्रहण कर सकता है। भगवद्भक्त को यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि संसार से उसका प्रयाण उसकी अपनी इच्छा के अनुसार होगा अथवा दैवयोग से होगा । उसे तो बस सदा कृष्णभावना में दृढ़तापूर्वक निष्ठ रहकर हरे कृष्ण जप-कीर्तन करते रहना चाहिए। वह यह जान ले कि इनमें से किस मार्ग की प्राप्ति होगी, यह चिन्ता केवल दुःख का कारण है। कृष्णभावनाभावित होने का सर्वोत्तम साधन भगवत्सेवामृत में तन्मय हो जाना है। इससे भगवद्धाम-प्राप्ति का पथ निरापद, निश्चित और प्रत्यक्ष हो जायगा। श्लोक में आया योगयुक्त पद विशेष रूप से सारगर्भित है। जो योग में दृढ़ है, उसकी सब क्रियायें कृष्णभावनाभावित होती हैं। श्रील रूप गोस्वामिचरण का सदुपदेश है कि जगत् में अनासक्त रहे, और सम्पूर्ण कार्य-कलाप कृष्णभावनाभावित हों। इस रीति से परमसिद्धि सुलभ हो जाती है। अतएव इस सब विवरण से भक्त कभी चिन्तित नहीं होता। वह जानता है कि भक्तियोग के प्रताप से भगवद्धाम में उसका प्रवेश निश्चित है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

वेदेषु=वेद-स्वाध्याय में; **यज्ञेषु**=यज्ञ करने में; **तपःसु**=विविध तपों में; **च**=भी; **एव**=निःसन्देह; **दानेषु**=दान देने में; **यत्**=जो; **पुण्यफलम्**=पुण्यफल; **प्रदिष्टम्**=कहा है; **अत्येति**=उल्लंघन कर जाता है; **तत्**=उस; **सर्वम्**=सबका; **इदम्**=इस ज्ञान को; **विदित्वा**=जानकर; **योगी**=भक्त; **परम्**=सर्वोपरि; **स्थानम्**=धाम को; **उपैति**=प्राप्त हो जाता है; **च**=तथा; **आद्यम्**=अनादि।

अनुवाद

भक्तियोगी वेद-स्वाध्याय, तप, यज्ञ, दान तथा दार्शनिक-सकाम क्रियाओं के सम्पूर्ण पुण्यफल का उल्लंघन कर अन्त में मेरे अनादि परम धाम को प्राप्त हो जाता है।।२८।।

तात्पर्य

यह श्लोक सातवें और आठवें अध्याय में आए कृष्णभावनामृत और भक्तियोग के विशेष वर्णन का उपसंहार है। गुरु के आश्रय में वेदाध्ययन तथा तपश्चर्या के अनुशीलन को नितान्त आवश्यक माना गया है। ब्रह्मचारी का धर्म है कि सेवक की भाँति गुरुकुल में निवास करते हुए द्वार-द्वार से भिक्षा माँगे और जो कुछ मिल जाय उसको गुरु को समर्पण करे। इसके बाद गुरु की आज्ञानुसार भोजन करे। यदि किसी दिन गुरु उसे भोजन के लिए न कहें तो उस दिन उपवास रखे। ये ब्रह्मचर्यव्रत के कतिपय वैदिक सिद्धान्त हैं।

जो पाँच से बीस वर्ष की आयु के बीच गुरु के आश्रय में वेदाध्ययन करता है, वह परम चरित्रवान् बन जाता है। वेदाध्ययन का वास्तविक प्रयोजन विषयी मनोधर्मियों का मनोरंजन करना न होकर चरित्र-निर्माण करना है। इस प्रशिक्षण के बाद ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकता है। गृहस्थाश्रम में भी बहुत से यज्ञ और परमार्थ-साधन करना आवश्यक है। तदुपरान्त, गृहस्थ से निवृत्त होकर 'वानप्रस्थ' अंगीकार करने पर वनवास, छालवसन धारण, अक्षौर आदि तपश्चर्या का सेवन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा अन्त में संन्यास धर्म के पालन से जीवन की संसिद्धि हो जाती है। इनमें से कुछ साधक स्वर्गीय लोकों को जाते हैं; फिर वहाँ और अधिक उन्नति कर लेने पर परव्योम की निर्विशेष ब्रह्मज्योति, वैकुण्ठ लोकों या कृष्णलोक में मुक्ति-लाभ करते हैं। वैदिक शास्त्रों में इस पथ का दिग्दर्शन कराया गया है।

परन्तु कृष्णभावनामृत की अनुपम सुन्दरता इसमें है कि भक्त पुरुष केवल भक्ति करके जीवन के इन सभी आश्रमों के सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का उल्लंघन कर लेता है।

गीता के सातवें और आठवें अध्यायों को विद्वत्ता अथवा मनोधर्मी से समझने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इन्हें शुद्धभक्तों के सत्संग में सुनकर हृदयगंम करने का प्रयास करे। छठे अध्याय से बारहवें अध्याय तक के छः अध्याय गीता के सार-सर्वस्व हैं। यदि कोई भाग्यवान् सत्संग में गीता को, विशेष रूप से इन छः अध्यायों को आत्मसात् कर ले, तो उसका जीवन ऐसी दिव्य कीर्ति-सौष्ठव से सुवासित

हो उठेगा जो सम्पूर्ण तप, यज्ञ, दान मनोधर्मादि से दिव्य है। गीता का श्रवण भक्त के मुखारविन्द से ही करना योग्य है, क्योंकि चौथे अध्याय के आरम्भ में कहा है कि एकमात्र भक्तजन गीता के रहस्य को पूर्णरूप से जान सकते हैं। मनोधर्मियों के स्थान पर भक्तों के मुखारविन्द से गीता का श्रवण करने का ही नाम श्रद्धाभाव है। वस्तुतः भक्तों के प्रसंग से ही भक्तियोग में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार की सेवा से श्रीकृष्ण के लीलाविलास, रूप, कार्य-कलाप, नाम आदि हृदय में स्फुरित हो उठते हैं और सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार सब संशय-भ्रम के दूर हो जाने पर गीता का स्वाध्याय अतिशय आनन्दवर्धन लगने लगता है और कृष्णभावनामृत के प्रति रसज्ञता एवं भाव का उदय होता है। आगे चलकर श्रीकृष्ण में पूर्ण अनुराग हो जाता है। यह जीवन की उस परमसिद्ध अवस्था का आरम्भ है, जिससे भक्त परव्योम में श्रीकृष्ण के गोलोक-वृन्दावन धाम में प्रविष्ट होकर सच्चिदानन्दमय जीवन में मग्न होने के योग्य हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ।।८।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये अष्टमोऽध्यायः ।।

अथ नवमोऽध्यायः

राजविद्याराजगुह्ययोग

(परम गोपनीय ज्ञान)

श्रीभगवानुवाच।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **इदम्**=इस; **तु**=केवल (शुद्धभक्ति लक्षण); **ते**=तेरे लिए; **गुह्यतमम्**=परम गोपनीय; **प्रवक्ष्यामि**=कहूँगा; **अनसूयवे**=ईर्ष्यारहित; **ज्ञानम्**=ज्ञान को; **विज्ञानसहितम्**=विज्ञान के साथ; **यत्**=जिसे; **ज्ञात्वा** =जानकर; **मोक्ष्यसे**=मुक्त हो जायगा; **अशुभात्**=इस दुःखमय संसार से।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! तुझ ईर्ष्यारहित शुद्धभक्त के लिए इस परम गोपनीय ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा, जिसे जानकर तू संसार के क्लेशों से मुक्त हो जायगा।।१।।

तात्पर्य

भक्त भगवान् की कथा को जितना अधिक सुनता है, उतना ही प्रबुद्ध होता जाता है। इस श्रवण-पद्धति की महिमा का श्रीमद्भागवत में गान है, 'श्रीभगवान् की कथा दिव्य शक्तियों से पूर्ण है, जिनकी अनुभूति भक्तों की गोष्ठी में उत्सुकतापूर्वक भगवत्कथा का श्रवण-कीर्तन करने से होती है। मनोधर्मियों अथवा लौकिक विद्वानों के सग से इस विज्ञान को नहीं जाना जा सकता।'

भगवद्भक्त नित्य-निरन्तर भगवत्सेवा के परायण रहते हैं। कृष्णभावना-परायण जीव के मनोभाव और निष्कपटता को जानने वाले श्रीभगवान् उसे वह बुद्धि देते हैं, जिससे वह भक्तों के संग में उनके तत्त्व को हृदयंगम कर ले। श्रीकृष्ण-विषयक चर्चा में अलौकिक शक्ति है। यदि किसी सौभाग्यशाली को ऐसा सत्संग सुलभ है और वह इस ज्ञान के लिए प्रयत्नशील है, तो भगवत्प्राप्ति के पथ में उसकी प्रगति निश्चित है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को अपनी सर्वसमर्थ सेवा के उत्तरोत्तर उत्तम स्तर को प्राप्त करने के लिए उत्साहित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस नौवें अध्याय में उस रहस्य का वर्णन किया है, जो सम्पूर्ण पूर्व विषय से अधिक गोपनीय है।

भगवद्गीता का प्रथम अध्याय शेष ग्रन्थ का उपोद्घात है। दूसरे और तीसरे अध्याय में आये मोक्षोपयोगी ज्ञान को गुह्य (गोपनीय) कहा गया है। सातवें तथा आठवें अध्याय का विषय विशेष रूप से भक्तियोग से सम्बन्धित है। कृष्णभावनामृत का प्रकाशक होने से यह प्रकरण गुह्यतर (अधिक गोपनीय) है। परन्तु नौवें अध्याय में तो केवल शुद्धभक्ति का वर्णन है। इसलिए यह अध्याय परम गुह्यतम् (परम गोपनीय) है। श्रीकृष्ण के परम गोपनीय ज्ञान से युक्त महानुभाव निस्सन्देह प्रकृति से परे हो जाता है; प्राकृत जगत् में रहते हुए भी उसे कोई सांसारिक दुःख नहीं सताता। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में कथन है कि जो पुरुष वास्तव में सदा श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा के लिए उत्कण्ठित रहता है, वह संसार-बन्धन में प्रतीत होने पर भी वास्तव में मुक्त है। भगवद्गीता के दसवें अध्याय में श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि जो इस प्रकार भक्तियोग के परायण है, वह पुरुष जीवन्मुक्त है।

इस प्रथम श्लोक का विशेष महत्त्व है। **इदं ज्ञानम्** का अभिप्राय शुद्ध भक्तियोग से है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और सर्वात्म-समर्पण—भक्तियोग के इन नौ अंगों के आचरण से कृष्णभावनामृत प्राप्त होती है। हृदय-शुद्धि हो जाने पर ही इस कृष्णविज्ञान को जाना जा सकता है। केवल यह जानना पर्याप्त नहीं कि जीवात्मा अप्राकृत है। यह तो भगवत्प्राप्ति के पथ का केवल प्रथम चरण है। वास्तव में जीव के लिए शारीरिक क्रियाओं और अप्राकृत क्रियाओं के भेद को जानना आवश्यक है; इससे यह जागृति होती है कि 'मैं देह नहीं हूँ।'

सातवें अध्याय में श्रीभगवान् की ऐश्वर्यशालिनी सामर्थ्य, परा-अपरा आदि नाना शक्तियों और इस प्राकृत सृष्टि का वर्णन हुआ । सम्प्रति, नौवें और दसवें अध्याय में भगवान् की कीर्ति का गान है।

अनसूयवे पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः उच्च विद्वान् होने पर भी गीता के प्रायः सभी व्याख्याकार भगवान् श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करते हैं। बड़े से बड़े विद्वान् तक भगवद्गीता की बिल्कुल अशुद्ध व्याख्या कर बैठते हैं। उनके भाष्य बिल्कुल निरर्थक हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्ण के प्रति ईर्ष्या से भरे हैं। भगवद्भक्तों द्वारा रचित टीकायें ही प्रामाणिक मान्य हैं। जो श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करता है, वह न तो भगवद्गीता का वर्णन

कर सकता है और न श्रीकृष्ण का पूर्ण ज्ञान ही दे सकता है। जो श्रीकृष्ण के तत्त्व को न जानते हुए उनके चरित्र पर आक्षेप करता है, वह मूढ़ है। अतः ऐसे भाष्यों को बड़ी सावधानी से त्याग देना चाहिए। जो पुरुष जानता है कि श्रीकृष्ण शुद्ध दिव्य पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं, उसके लिए ये अध्याय परम कल्याणकारी हैं।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

राजविद्या=सब विद्याओं का राजा; **राजगुह्यम्**=सब गोपनीय ज्ञान का राजा; **पवित्रम्**=सबसे अधिक पावन; **इदम्**=यह; **उत्तमम्**=दिव्य; **प्रत्यक्ष अवगमम्**=जिसका फल प्रत्यक्ष अनुभव में आता है; **धर्म्यम्**=धर्ममय; **सुसुखम्**=अति सुगम है; **कर्तुम्**=साधन करने में; **अव्ययम्**=अविनाशी है।

अनुवाद

यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा, सम्पूर्ण गोपनीय रहस्यों का राजा, परम शुद्ध और स्वरूप-साक्षात्कार कराने वाला परम धर्म है। यह अविनाशी है और साधन करने में बड़ा सुगम है।।२।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता के इस अध्याय को **राजविद्या** कहा गया है क्योंकि यह सभी पूर्ववर्णित मतों एवं दर्शनों का सार है। गौतम, कणाद, कपिल, याज्ञवल्क्य, शाण्डिल्य, वैश्वानर तथा वेदान्तसूत्र के रचयिता व्यासदेव—ये सात प्रधान दर्शनवेत्ता हुए हैं। इस प्रकार दर्शन अथवा दिव्य ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त संवृद्ध है। श्रीभगवान् कहते हैं कि यह नौवाँ अध्याय इन सब विद्याओं का राजा तथा वेदों और विभिन्न दर्शनों से अध्ययन से प्राप्त होने वाले सम्पूर्ण ज्ञान का सार है। यह दिव्यज्ञान परम गोपनीय है, क्योंकि इससे आत्मा और देह में भेद जाना जाता है। सम्पूर्ण गोपनीय ज्ञान की स्वामिनी इस राजविद्या का फल भक्तियोग है।

सामान्यतः लोगों को इस राजविद्या की शिक्षा नहीं दी जाती; उनकी शिक्षा बाह्य ज्ञान तक ही सीमित रहती है। जहाँ तक साधारण शिक्षा का सम्बन्ध है, राजनीति, समाज-शास्त्र, भौतिकी, रसायन-शास्त्र, गणित, खगोल, यन्त्र-शास्त्र, आदि कितने ही क्षेत्रों में बहुत से मनुष्य व्यस्त हैं। विश्व में ज्ञान के कितने ही विभाग और विश्वविद्यालय विद्यमान हैं। दुर्भाग्यवश ऐसा कोई विश्वविद्यालय अथवा विद्या-संस्थान नहीं है जो आत्मतत्त्व की शिक्षा देता हो। देह में आत्मा का महत्त्व सबसे अधिक है; यहाँ तक कि उसके बिना देह बिल्कुल निरर्थक हो जाती है। फिर भी लोग इस प्राण के आधार (आत्मा) की उपेक्षा कर केवल शारीरिक आवश्यकताओं को महत्त्व दे रहे हैं।

गीता में, विशेष रूप से द्वितीय अध्याय से आत्मतत्त्व की महिमा को गौरवान्वित किया गया है। श्रीभगवान् ने अपने उपदेश को प्रारम्भ करते हुए इस देह को नश्वर और आत्मा को नित्य बताया है। देह से भिन्न आत्मा निर्विकार, अविनाशी,

एवं सनातन है—यह गोपनीय ज्ञान है। परन्तु इससे आत्मा के सम्वन्ध में कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता। कभी-कभी लोग इस भ्रान्ति में रहते हैं कि आत्मा देह से भिन्न तो है, परन्तु देहान्त अथवा देह से मुक्ति हो जाने पर वह शून्य अथवा निर्विशेष में लीन हो जाती है। परन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं। यह किस प्रकार सम्भव है कि देह में अत्यन्त क्रियाशील रहने वाला आत्मा देह-मुक्ति होने पर निष्क्रिय हो जाय। आत्मा नित्य क्रियाशील है, क्योंकि यदि वह नित्य है तो नित्य क्रियाशील भी है। भगवद्धाम में उसके द्वारा सम्पादित कार्य-कलाप का ज्ञान परम गोपनीय है। आत्मा की इन्हीं क्रियाओं को यहाँ राजविद्या कहा गया है।

यह ज्ञान परम विशुद्ध क्रिया है, जैसा वैदिक शास्त्रों में उल्लेख है। 'पद्मपुराण' में मनुष्य के पापकर्मों का विश्लेषण कर यह सिद्ध किया गया है कि वे पाप के ही फल हैं। सकामकर्मी नाना प्रकार के पापों के वन्धन में पड़े हैं। उदाहरणस्वरूप, जब किसी वृक्ष के वीज का आरोपण किया जाता है तो वह तत्काल वढ़ता प्रतीत नहीं होता; उसे कुछ समय लगता है। पहले-पहले वह छोटे से अंकुर के रूप में दृष्टिगोचर होता है; वाद में वृक्ष के रूप में फलता-फूलता है। इस क्रम के पूर्ण होने पर ही बीज वोने वाला उसके फल-फूल का उपभोग कर पाता है। वीज के समान, मनुष्य के पापकर्म को भी फलित होने में समय लगता है। कर्मफल की भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं। पापकर्म से हट जाने पर भी पापकर्म के फल भोगने पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि सव पाप एक साथ फल नहीं देते। जहाँ बहुत से पापकर्म अभी वीजरूप में ही होते हैं, वहाँ दूसरे पापों का फल सुख-दुःख के रूप में फलित हो जाता है। सातवें अध्याय के वीसवें श्लोक में यह कहा जा चुका है।

पापकर्म से विल्कुल हटकर और प्राकृत-जगत् के द्वन्द्वों से मुक्त होकर जो पूर्ण रूप से सत्कर्म-परायण हो गया है, वह सज्जन भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति में निष्ठ हो जाता है। भाव यह है कि जो भक्तियोग के परायण हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो चुके हैं। भगवद्भक्ति से भगवद्दासों का प्रारव्ध, संचित, बीज और क्रियमाण —सव प्रकार का पापकर्मफल शनैः-शनैः नष्ट हो जाता है। अतः भगवद्भक्ति में वड़ी पावनकारी शक्ति है। इसी को यहाँ **पवित्रं उत्तमम्** अर्थात् परम पवित्र कहा है। 'तम' का अर्थ प्राकृत-जगत् या अंधकार होता है। अतः 'उत्तम' उस तत्त्व का वाचक है, जो प्राकृत क्रियाओं से परे हो। भक्ति की क्रियाओं को प्राकृत कभी नहीं समझना चाहिए, चाहे कभी-कभी भक्त विषयी व्यक्तियों के समान ही क्रियाशील क्यों न लगें। भक्तियोग से परिचित तत्त्वद्रष्टा जानता है कि भक्तों की क्रियाएँ प्राकृत नहीं होतीं। वे सभी मायिक गुणों के विकार से पूर्ण मुक्त, अप्राकृत तथा भगवत्परायण हैं।

कहा जाता है कि भगवद्भक्ति का साधन इतना पूर्ण है कि परिणाम प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाता है। हमें स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव है कि जो कोई भी श्रीकृष्ण के पावन नाम, **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** का कीर्तन करता है, उसे यथासमय चिन्मय रसानुभूति होती है और वह

अतिशीघ्र सम्पूर्ण सांसारिक दोषों से पूर्ण शुद्ध हो जाता है। यह वास्तव में देखा गया है। इससे आगे श्रवण करने के साथ-साथ जो पुरुष भक्तियोग की क्रियाओं के प्रसार-प्रचार अथवा कृष्णभावना की धर्म प्रसारिणी क्रियाओं में सहयोग करता है, उसे शनैः-शनैः पारमार्थिक उन्नति का अनुभव होता है। पारमार्थिक उन्नति किसी भी प्रकार की पूर्व-शिक्षा अथवा योग्यता पर निर्भर नहीं करती। यह पथ स्वरूप से ही इतना पावन है कि इसके परायण होने मात्र से मनुष्य अपने-आप शुद्ध हो जाता है।

वेदान्तसूत्र में भी इस सिद्धान्त का निरूपण हैः **प्रकाशश्च कर्मण्यभ्या-सात्** अर्थात् भक्ति इतनी समर्थ है कि उसकी क्रियाओं के परायण होने मात्र से सन्देहरहित जागृति हो जाती है। नारदजी त्रिभुवन में भक्तों के अग्रणी हैं, पर उनका पूर्वजन्म एक दासी के घर हुआ था। इस कारण उनके लिए शिक्षा अथवा कुलीनता की प्राप्ति का कोई अवसर न था। परन्तु जब उनकी जननी महाभागवतों की सेवा करती, तो वे भी तन्निष्ठ हो जाते थे। इस प्रकार कभी-कभी माँ की अनुपस्थिति में वे अपने-आप भी महाभागवतों की सेवा करने लगे। नारदजी स्वयं कहते हैं, 'उनकी आज्ञा से एक बार मैंने उनका उच्छिष्ट भोजन किया। इससे मेरी सम्पूर्ण पापराशि तत्काल नष्ट हो गई और हृदय शुद्ध हो गया। उस समय मुझे योगी का स्वभाव अति रमणीय लगने लगा।' (श्रीमद्भागवत १.५.२५) अपने शिष्य व्यासदेव को नारदजी ने बताया कि पूर्वजन्म के बाल्यकाल में वे चातुर्मास के दिनों में महाभागवतों की सेवा किया करते थे। इस प्रकार उन्हें उन सन्तों का अन्तरंग संग सुलभ हो गया। कभी-कभी वे ऋषि अपने पात्रों में उच्छिष्ट भोजन छोड़ देते। पात्र धोते समय बालक के हृदय में उस उच्छिष्ट के आस्वादन की इच्छा उठती। अतः उसने इसके लिए उन महाभागवतों से अनुमति की याचना की। महज्जनों की अनुमति से उसने उनका वह प्रसाद खा लिया और परिणाम में सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो गया। महज्जनों के प्रसाद को ग्रहण करने के प्रताप से शनैः-शनैः वह भी उन्हीं के समान शुद्ध-हृदय हो गया तथा उसमें भी वही रुचि जाग उठी। महाभागवत नित्य-निरन्तर भक्तिभाव से श्रवण, कीर्तन, आदि का रसास्वादन करते थे। उसी रुचि का उन्मेष होने पर नारद भी भगवत्कथा के श्रवण-कीर्तन के लिये अति उत्कंठित हो गये। इस प्रकार स्पष्ट है कि साधु-संग से उनमें भगवद्भक्ति के लिये लौल्य का उदय हुआ। इसमें वे 'वेदान्तसूत्र' से प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—**प्रकाशश्च कर्मण्य-भ्यासात्**, जो भगवद्भक्ति में अनन्यभाव से निष्ठ है, उस भक्त के हृदय में सम्पूर्ण तत्त्व अपने-आप स्फुरित हो जाता है। इसका नाम **प्रकाशः** अथवा प्रत्यक्ष अनुभूति है।

जैसा कहा जा चुका है, नारद पूर्व में एक दासीपुत्र थे। इसलिये उन्हें विद्यालय जाने का कोई अवसर नहीं मिला। वे केवल माता की सहायता किया करते थे। सौभाग्यवश माँ ने भक्तों का कुछ सेवाकार्य कर लिया। बालक नारद को भी यह अवसर मिला और इस प्रसंग में प्राप्त सत्संग के द्वारा धर्म के परम लक्ष्य—भक्तियोग

की उपलब्धि हो गई। श्रीमद्भागवत का कथन है कि सामान्यतः धार्मिक मनुष्य भी प्रायः यह नहीं जानते कि धर्म का परम लक्ष्य भक्तियोग ही है। साधारणतया स्वरूप-साक्षात्कार के पथ को जानने के लिए वैदिक ज्ञान आवश्यक है। परन्तु नारदजी को वैदिक सिद्धान्तों की शिक्षा के विना भी वैदिक स्वाध्याय के परम प्रयोजन की प्राप्ति हो गयी। भक्तिपथ इतना समर्थ है कि धार्मिक पद्धति का नियमित पालन किए विना भी परम संसिद्धि हो सकती है। वेद में प्रमाण है, **आचार्यवान् पुरुषो वेद**। जिसे महान् आचार्यों का सत्संग प्राप्त है, वह पुरुष विद्या-वेद विहीन होने पर भी साक्षात्कार के लिए पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

भक्तिपथ बड़ा सुखसाध्य है। भक्तियोग का स्वरूप है: **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः**। श्रीभगवान् का श्रवण-कीर्तन करने अथवा प्रामाणिक आचार्यों के भक्ति-ज्ञानपरक दार्शनिक प्रवचनों को सुनने मात्र से भक्ति का सम्पादन हो जाता है। सत्संग में वैठने से यह सव शिक्षा सुलभ है। फिर श्रीभगवान् के स्वादिष्ट प्रसाद का आस्वादन किया जा सकता है। इस प्रकार भक्तियोग सव अवस्थाओं में आह्लाददायी है। परम दरिद्रता की अवस्था में भी भक्तियोग का साधन हो सकता है। श्रीभगवान् की वाणी है, **पत्रं पुष्पं फलम्**: भक्त के किसी भी समर्पण को ग्रहण करने के लिए भगवान् सदा आतुर रहते हैं। पत्र, पुष्प, फल, जल, आदि पदार्थ, जो विश्व में सर्वत्र उपलब्ध हैं, किसी भी वर्ण के मनुष्य द्वारा श्रीभगवान् को अर्पण किए जा सकते हैं। भक्तिभावमय समर्पण को वे अवश्य अंगीकार करते हैं। इतिहास में इसके अगणित उदाहरण हैं। भगवच्चरणारविन्द में अर्पित तुलसी की सौरभ का आघ्राण करने मात्र से सनत्कुमार आदि महर्षि महाभागवत वन गए। इस प्रकार भक्तिमार्ग अति उत्तम भी है और सुखसाध्य भी है। श्रीमाधव तो वस भावग्राही हैं।

यहाँ भक्तियोग को शाश्वत् (नित्य) कहा गया है। इससे मायावादी दार्शनिकों का मत ध्वस्त हो जाता है। मायावादी कभी-कभी नाममात्र की भक्ति को अंगीकार कर लेते हैं और मोक्ष होने तक उसका आचरण किया करते हैं। परन्तु अन्त में भक्ति को त्यागकर वे 'भगवान् से एक हो जाते हैं'। ऐसी क्षणिक स्वार्थप्रेरित भक्ति को शुद्ध भक्तियोग नहीं कहा जा सकता। सच्चा भक्तियोग तो मोक्ष हो जाने पर भी पूर्ववत् चलता रहता है। वैकुण्ठ-जगत् में प्रविष्ट होकर भक्त वहाँ भी भगवत्सेवा के ही परायण रहता है। वह भगवान् से एक होने के लिए कभी प्रयत्न नहीं करता।

जैसा आगे वर्णन है, सच्चे भक्तियोग का आरंम्भ मुक्ति के वाद होता है। इसी कारण भगवद्गीता में भक्त को 'व्रह्मभूत' कहा है। मुक्त अथवा व्रह्मभूत हो जाने पर ही भक्तियोग का श्रीगणेश हुआ करता है। भक्तियोग से भगवान् के तत्त्व को जाना जा सकता है। भक्ति के विना कर्मयोग, ज्ञानयोग, अष्टांगयोग अथवा किसी अन्य योग का स्वतन्त्र साधन करने से श्रीभगवान् के तत्त्व का बोध नहीं हो सकता। भक्तियोग में संलग्न हुए विना श्रीभगवान् का तत्त्व दुर्वोध वना रहता है।

श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि भक्तियोग के साधन से, विशेषतः महाभागवतों के मुखपद्म से श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्गीता को सुनने से हृदय के शुद्ध हो जाने पर ही श्रीकृष्ण का तत्त्व जाना जा सकता है। **एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।** जब हृदय सम्पूर्ण अनर्थों से शुद्ध हो जाता है तो भगवत्-ज्ञान उद्बुद्ध होता है। इस प्रकार भक्ति अथवा कृष्णभावनामृत का पथ **राजविद्या** और **राजगुह्य** है। यह परम विशुद्ध धर्म साधन में बड़ा सुखदायी है। अतएव इस पथ को अवश्य ग्रहण करे।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

अश्रद्दधानाः=अश्रद्धालु; **पुरुषाः**=व्यक्ति; **धर्मस्य**=धर्मपथ के; **अस्य**=इस; **परंतप**=हे शत्रुमर्दन अर्जुन; **अप्राप्य**=न पाकर; **माम्**=मुझे; **निवर्तन्ते**=भटकते रहते हैं; **मृत्यु**=मृत्युरूप; **संसार वर्त्मनि**=संसाररूपी चक्र में।

अनुवाद

हे शत्रुविजयी अर्जुन! जो इस भक्तियोग के पथ में श्रद्धाहीन हैं, वे मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। वे इस मृत्युरूप संसार में ही बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं।।३।।

तात्पर्य

अश्रद्धालुओं के लिए यह भक्तिपथ असाध्य है—ऐसा इस श्लोक का तात्पर्य है। श्रद्धा की उद्भावना भक्तसंग से होती है। परन्तु जो अभागे हैं, उनके हृदय में महत्पुरुषों के मुखारविन्द से वेद के सारे प्रमाणों को सुन लेने पर भी श्रीभगवान् में श्रद्धा जागृत नहीं हो पाती। सन्देहशील स्वभाव के कारण वे भक्तियोग में स्थिर नहीं रह सकते। अतः कृष्णभावनामृत में उन्नति करने के लिए श्रद्धा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा है कि भक्त में यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा करने मात्र से उसे सम्पूर्ण संसिद्धिलाभ हो जायगा। इसी का नाम सच्ची श्रद्धा है। श्रीमद्भागवत (३.४.१२) में कथन है कि जैसे वृक्ष के मूल को सींचने से उसकी शाखा-प्रशाखा और पत्तों की अपने-आप तुष्टि हो जाती है और जैसे उदरपूर्ति से सम्पूर्ण इन्द्रियों का संतोष होता है, उसी प्रकार चिन्मयी भगवत्सेवा करने से सब देवता और जीव अपने-आप सन्तुष्ट हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता को पढ़कर उसके इस निष्कर्ष को तुरन्त धारण कर लेना चाहिए कि अन्य सब कार्यों को त्याग कर भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा करना ही कर्तव्य है। जीवन के इस दर्शन में विश्वास होना ही श्रद्धा है। कृष्णभावना इस श्रद्धा को बढ़ाने की पद्धति है।

कृष्णभावनाभावित मनुष्यों की तीन कोटियाँ हैं। कनिष्ठ श्रेणी में वे हैं, जिनमें श्रद्धा का अभाव है। वे किसी स्वार्थवश दम्भपूर्वक भक्ति करते हैं, इसलिए भक्तियोग की परमसंसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकते। अधिकांश में कुछ समय बाद वे गिर जायेंगे। वे भक्तिमार्ग में लग तो सकते हैं, परन्तु पूर्ण श्रद्धाविश्वास से युक्त न

होने के कारण उनके लिए कृष्णभावनामृत में अधिक समय तक रहना बहुत कठिन है। अपनी प्रचार क्रियाओं में हमें यह प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है कि वहुत से व्यक्ति निहित स्वार्थ से कृष्णभावनामृत को अपनाते हैं और आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत सम्पन्न होते ही इसको त्याग कर फिर पूर्ववत् आचरण करने लग जाते हैं। कृष्णभावनामृत में प्रगति केवल श्रद्धा के द्वारा ही हो सकती है। जहाँ तक श्रद्धा की अभिवृद्धि का सम्बन्ध है, भक्तियोग के शास्त्रों में पारंगत दृढ़ श्रद्धावान् भक्त उत्तम अधिकारी है। मध्यम अधिकारी वह है जो शास्त्र-ज्ञान में अधिक पारंगत नहीं है, परन्तु स्वाभाविक रूप में यह दृढ़ विश्वास रखता है कि कृष्णभक्ति (कृष्णसेवा) सर्वोत्तम मार्ग है और इसलिए जो शुद्धभाव से उसे अंगीकार कर लेता है। मध्यम अधिकारी उन कनिष्ठ अधिकारियों से श्रेष्ठ है जिनमें शास्त्र-ज्ञान और श्रद्धा, दोनों का अभाव है, परन्तु जो सत्संग एवं निष्कपटता के द्वारा गुरु-आज्ञापालन के लिए प्रयत्न करता है। कृष्णभावनामृत के कनिष्ठ अधिकारियों का पतन हो सकता है, परन्तु मध्यम अथवा उत्तम भक्त अपनी स्थिति से नहीं गिरता। उत्तम अधिकारी निश्चित रूप से उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ अन्त में लक्ष्य को प्राप्त हो जायगा। कनिष्ठ अधिकारी में यह श्रद्धाभाव तो रहता है कि भगवद्भक्ति वड़ी कल्याणकारी है, परन्तु श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता आदि शास्त्रों के आधार पर श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान उसे नहीं होता। कृष्णभावना के इन कनिष्ठ अधिकारियों की कर्मयोग तथा ज्ञानयोग में भी कुछ-कुछ प्रवृत्ति वनी रहती है और कभी-कभी वे भक्तिमार्ग से विचलित भी हो जाते हैं। परन्तु कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि दूषणों से मुक्त होकर वे भी कृष्णभावना के मध्यम अथवा उत्तम अधिकारी वन सकते हैं। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण में श्रद्धाभाव को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। ग्यारहवें स्कन्ध में उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ अनुरक्ति का विशद विवरण है। कृष्णकथा और भक्तियोग की अनुपमेयता का वर्णन सुनकर भी जिनमें श्रद्धा का उदय नहीं होता, जो इनके माहात्म्य को अर्थवाद (स्तुतिमात्र) समझते हैं, उन्हें यह पथ अति दुर्गम लगता है, चाहे वे नाममात्र की भक्ति में लगे भी क्यों न हों। उनके लिए संसिद्धि की कोई आशा नहीं। अतएव भक्तियोग के साधन में श्रद्धा वड़ी महत्त्वपूर्ण है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

मया=मेरे द्वारा; **ततम्**=व्याप्त है; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण; **जगत्**=सृष्टि; [illegible]**तना**=मेरे इन्द्रियों से अतीत स्वरूप द्वारा; **मत्स्थानि**=मुझ में हैं; **सर्वभूतानि**=सम्पूर्ण चराचर; **न**=नहीं; **च**=तथा; **अहम्**=मैं; **तेषु**=उनमें; **अवस्थितः**=स्थित हूँ।

अनुवाद

मैंरे प्राकृत इन्द्रियों से अतीत अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। सम्पूर्ण चराचर प्राणी मुझमें स्थित हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ।।४।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् को कुंठित जड़ इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह सिद्धान्त है कि भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, यश, लीला-विलास आदि को जड़ इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। जो प्रामाणिक आचार्य के आश्रय में शुद्ध भक्तियोग के परायण है, उस भक्त के हृदय में ही वे प्रकट होते हैं। 'ब्रह्मसंहिता' में उल्लेख है, **प्रेमाञ्जनच्छुरित**—भगवान् गोविन्द के प्रति अनुरागमय प्रेमभाव का सेवन करने से अन्तर में और बाहर भी उनका दर्शन नित्य प्राप्त रहता है। अतः जनसाधारण के लिए वे अगोचर हैं। यहाँ उल्लेख है कि यद्यपि वे सर्वव्यापक हैं और सर्वत्र विद्यमान हैं, पर जड़ इन्द्रियों से उनकी अनुभूति नहीं होती। परन्तु चाहे हम उन्हें देख नहीं सकते, फिर भी सब कुछ वस्तुतः उन्हीं के आश्रय में स्थित है। सातवें अध्याय के अनुसार, सम्पूर्ण विश्वीय सृष्टि उनकी परा-अपरा नामक शक्तियों का समुच्चयमात्र है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूर्यकिरणराशि के विस्तार के समान भगवत्-शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि में विस्तीर्ण हो रही है; सब कुछ उसी के आश्रय में है।

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि श्रीभगवान् सर्वव्याप्त हैं, इसलिए उनका अपना निजी स्वरूप समाप्त हो गया है। इस कुतर्क का निराकरण करने के लिए श्रीभगवान् कहते हैं, 'मैं सर्वव्यापक हूँ और सब कुछ मेरे आश्रित है, फिर भी इस सम्पूर्ण सृष्टि से मैं असंग हूँ।' उदाहरणस्वरूप, राजा अपने प्रशासन का अधीश्वर होता है; प्रशासन उसकी शक्तियों का एक प्रकाशमात्र है। विविध प्रशासकीय विभाग राजा की विभिन्न शक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक विभाग राजा की सामर्थ्य पर आश्रित है। परन्तु राजा से यह आशा नहीं की जाती कि वह प्रत्येक विभाग में स्वयं उपस्थित रहेगा। यह एक स्थूल उदाहरण है। इसी प्रकार हम जो कुछ भी देखते हैं, प्राकृत-अप्राकृत जितनी सृष्टि है, वह सब श्रीभगवान् की शक्ति पर आश्रित है। उनकी विभिन्न शक्तियों के प्रसारण से सृष्टि होती है और जैसा भगवद्गीता में कहा है, अपनी शक्तियों के प्रसारण और स्वांश-प्रकाश के रूप में वे सर्वत्र विद्यमान हैं।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

न=नहीं (है); **च**=तथा; **मत्स्थानि**=मुझ में स्थित है; **भूतानि**=सम्पूर्ण सृष्टि; **पश्य**=देख; **मे**=मेरी; **योगम् ऐश्वरम्**=अचिन्त्य योगशक्ति को; **भूतभृत्**=सम्पूर्ण जीवों का भर्ता; **न**=नहीं; **च**=तथा; **भूतस्थः**=प्राकृत सृष्टि में स्थित; **मम**=मेरा; **आत्मा**=स्वरूप; **भूतभावनः**=सम्पूर्ण सृष्टि का कारण।

अनुवाद

और यह सृष्टि भी मुझमें स्थित नहीं है। मेरे इस योगैश्वर्य को देख! सम्पूर्ण जीवों को धारण-पोषण और उत्पन्न करने वाला होने पर भी मेरा आत्मा उनमें स्थित नहीं है।।५।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् का कथन है कि सम्पूर्ण सृष्टि उन पर आश्रित है। इसका अर्थ अन्यथा नहीं समझना चाहिए। प्राकृत सृष्टि के पालन-पोषण से श्रीभगवान् का सीधा सम्बन्ध नहीं है। चित्र में पृथ्वी को स्कन्धों पर उठाए हुए ग्रीक देवता एटलस इस बृहत्काय लोक के भार से अति श्रान्त प्रतीत होता है। श्रीकृष्ण ब्रह्माण्ड को इस प्रकार धारण नहीं करते। उनका कहना है कि यद्यपि सब कुछ उन्हीं के आश्रय में है, तथापि वे सृष्टि से बिल्कुल असंग हैं। लोक-समूह अन्तरिक्ष में विचरण कर रहे हैं। यह अन्तरिक्ष भी एक भगवत्-शक्ति है, परन्तु श्रीभगवान् इससे भिन्न हैं। उनका अपना निजी स्वरूप है। इसी कारण उन्होंने कहा है कि, 'यद्यपि ये सब रचित पदार्थ मेरी अचिन्त्य शक्ति में स्थित हैं, पर भगवान् के रूप में मैं इन सबसे असंग (अतीत) हूँ।' यही श्रीभगवान् का अचिन्त्य वैभव है।

वेद में उल्लेख है, 'अपनी शक्ति के विलास को प्रकट करते हुए श्रीभगवान् अद्भुत अचिन्त्य लीलामृत का परिवेषण कर रहे हैं। वे विविध शक्तियों से सम्पन्न एवं सत्यसंकल्प हैं। श्रीभगवान् के तत्त्व को इसी प्रकार जानना चाहिए।' हम कितने ही कार्य करना चाहते हैं, परन्तु मार्ग में इतने अधिक व्यवधान आते रहते हैं कि कभी-कभी तो इच्छा को कार्यरूप देना असम्भव सा हो जाता है। परन्तु जब श्रीकृष्ण को कोई कार्य करना अभीष्ट होता है, तो उनके संकल्पमात्र से सब कार्य ऐसी कुशलता से पूर्ण हो जाता है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। श्रीभगवान् ने इसी सत्य का वर्णन किया है—वे सम्पूर्ण सृष्टि का धारण-पोषण करते हैं, परन्तु इसका स्पर्श नहीं करते। उनकी परम बलवती इच्छा-शक्ति के द्वारा ही सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन, धारण, पालन एवं संहार होता है। हमारे प्राकृतचित्त और स्वयं हममें भेद है, जबकि उनके चित्त और उनमें अभेद है, क्योंकि वे अद्वय-चेतन हैं। श्रीभगवान् एक साथ सर्वव्यापक भी हैं और अपने निजी स्वरूप में भी हैं। सामान्य मनुष्य इस तत्त्व को बिल्कुल नहीं समझ सकता। प्रभु इस सृष्टि से भिन्न हैं, पर सब कुछ उन्हीं के आश्रित है—इसी अचिन्त्य सत्य को यहाँ **योगैश्वरम्**—श्रीभगवान् की योगशक्ति कहा गया है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

यथा=जैसे; **आकाशस्थितः**=आकाश में स्थित; **नित्यम्**=सदा-सर्वदा; **वायुः**=पवन; **सर्वत्रगः**=सर्वत्र विचरणशील; **महान्**=महान्; **तथा**=वैसे ही; **सर्वाणि**=सब; **भूतानि**=प्राणी; **मत्स्थानि**=मुझ में स्थित हैं; **इति**=इस प्रकार; **उपधारय**=जान।

अनुवाद

जैसे सब ओर विचरणशील वायु नित्य आकाश में स्थित रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों को मुझ में स्थित जान।।६।।

तात्पर्य

जनसाधारण के लिए यह सत्य प्रायः अचिन्त्य है कि महान् प्राकृत सृष्टि किस प्रकार भगवान् के आश्रित है। अतएव इस सत्य को लोकबुद्धि में प्रवेश कराने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण आकाश का दृष्टान्त दे रहे हैं। इस सृष्टि में हमारी कल्पना-शक्ति के लिए आकाश सबसे बड़ा है। सम्पूर्ण सृष्टि आकाश पर अवलम्बित है। इस आकाश में अणु से लेकर सूर्य, चन्द्र आदि बड़े से बड़े ग्रह परिभ्रमण कर सकते हैं। महान् वायु भी आकाश में स्थित है; वह आकाश से अतीत नहीं है।

इसी प्रकार, सम्पूर्ण आश्चर्यमयी सृष्टि श्रीभगवान् के संकल्प के आधार पर स्थित है और पूर्ण रूप से उसी के आधीन है। जैसा लोकप्रसिद्ध है, भगवत्-इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। इस प्रकार सब कुछ उन्हीं के संकल्प के अनुसार हो रहा है। उनके संकल्प से सारी सृष्टि होती है, सबका पालन होता है और अन्त में नाश होता है। फिर भी, वे सबसे असंग हैं, उसी भाँति जैसे गगन वायुमण्डल से सदा असंग है। उपनिषद्-वाणी है: श्रीभगवान् के भय से ही वायु विचरता है।' **गर्गोपनिषद्** में कहा है, '*श्रीभगवान् की आज्ञा की आधीनता में चन्द्र, सूर्य आदि भीमकाय ग्रह घूम कर रहे हैं।*' ब्रह्मसंहिता में भी इसका उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि तेज और प्रकाश के विस्तार की अनन्त शक्तिवाला सूर्य श्रीभगवान् का एक चक्षु है। श्रीगोविन्द की आज्ञा और संकल्प के अनुसार वह अपनी निश्चित कक्षा में घूम रहा है। इस प्रकार, वैदिक साहित्य से प्रमाणित होता है कि अति अद्भुत एवं महान् प्रतिभासित होने वाली यह प्राकृत सृष्टि पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के नियन्त्रण में है। अगले श्लोकों में इस तथ्य का अधिक विशद वर्णन है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

सर्वभूतानि=सब प्राणी; **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र; **प्रकृतिम्**=प्रकृति में; **यान्ति** =प्रवेश करते हैं; **मामिकाम्**=मेरी; **कल्पक्षये**=कल्प का अन्त होने पर; **पुनः**= फिर; **तानि**=उन सब को; **कल्प आदौ**=कल्प के प्रारम्भ में; **विसृजामि**=रचता हूँ; **अहम्**=मैं।

अनुवाद

हे अर्जुन! कल्प का अन्त होने पर सम्पूर्ण सृष्टि मेरी प्रकृति में लय हो जाती है और नए कल्प के आरम्भ में अपनी शक्ति द्वारा मैं उसे फिर रचता हूँ।।७।।

तात्पर्य

इस प्राकृत सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहार पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के परम संकल्प पर निर्भर करता है। **कल्पक्षय** का अर्थ ब्रह्मा की मृत्यु से है। ब्रह्मा के जीवन की अवधि सौ वर्ष है, जिसका एक दिन पृथ्वी के ४,३०,००,००,००० वर्षों के

तुल्य है। उसकी रात्रि की भी यही परिधि है। इस परिमाण के तीस दिवा-रात्रि से उसका एक मास बनता है और बारह मास का एक वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षों के बाद ब्रह्मा का देह शान्त होने पर प्रलय हो जाती है। इसका अर्थ है कि श्रीभगवान् द्वारा अभिव्यक्त की गई शक्ति पुनः उन्हीं में लय हो जाती है। समय आने पर उनकी इच्छानुसार फिर सृष्टि-प्रकाश होता है। वैदिक सूक्ति है, 'एक होने पर मैं बहुरूप धारण करूँगा।' इस संकल्प से वे माया शक्ति में अपना प्रकाश करते हैं और सम्पूर्ण प्राकृत सृष्टि फिर प्रकट हो जाती है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

प्रकृतिम्=अपरा प्रकृति में; **स्वाम्**=अपनी; **अवष्टभ्य**=प्रवेश कर; **विसृजामि**=रचता हूँ; **पुनः-पुनः**=वारम्बार; **भूतग्रामम्**=प्राकृत सृष्टि को; **इमम्**=इस; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **अवशम्**=परतन्त्र; **प्रकृतेः**=प्रकृति के; **वशात्**=वश से।

अनुवाद

सम्पूर्ण सृष्टि मेरे आधीन है। मेरे संकल्प से ही यह वारंवार प्रकट होती है और मेरे ही संकल्प से अन्त में इसका नाश होता है।।८।।

तात्पर्य

पूर्ववर्णन के अनुसार, यह जड़तत्त्व श्रीभगवान् की अपरा (निकृष्ट) शक्ति की अभिव्यक्ति है। सृष्टिकाल में अपरा शक्ति 'महत्तत्व' के रूप में अभिव्यक्त होती है और प्रथम पुरुषावतार महाविष्णु के रूप में श्रीभगवान् उसमें प्रवेश करते हैं। वे कारणार्णव में लेट कर असंख्य ब्रह्माण्डों को उच्छ्वसित करते हैं और फिर प्रत्येक ब्रह्माण्ड में गर्भोदकशायी विष्णु के रूप से प्रविष्ट हो जाते हैं। इस विधि से ब्रह्माण्ड सरंचना होती है। फिर वे ही क्षीरोदकशायी विष्णुरूप धारण करके सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त हो जाते हैं। इस श्लोक में यह तत्त्वनिरूपण है।

जहाँ तक जीवात्माओं का सम्बन्ध है, अपरा प्रकृति में उनका गर्भाधान किया जाता है, जिससे पूर्वकर्म के अनुसार उन्हें विभिन्न योनियों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह प्राकृत-जगत् क्रियान्वित हो उठता है। सृष्टि के आदि-काल से सभी भिन्न-भिन्न जीवयोनियों के कार्य-कलाप प्रारम्भ हो जाते हैं। ऐसा नहीं कि ये योनियाँ क्रमशः प्रकट होती हों। सव जीवयोनियों की सृष्टि ब्रह्माण्ड-रचना के साथ होती है। मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि की एक साथ सृष्टि होती है, क्योंकि प्रलय के समय जीव जिस-जिस योनि की इच्छा रखते हैं, अगली सृष्टि होने पर वे उसी योनि में प्रकट होते हैं। यहाँ निश्चित रूप से कहा गया है कि जीव इस प्रक्रिया में सर्वथा परवश हैं। उनकी प्राचीन वासना ही भगवत्-संकल्प के अनुसार फिर प्रकट होती है। यह श्रीभगवान् की अचिन्त्य शक्ति का ही प्रभाव है कि विभिन्न जीवयोनियों की सृष्टि करने पर भी वे उनसे असंग वने रहते हैं। जीव की कर्मवासना के कारण सृष्टि होती है; अतएव श्रीभगवान् स्वयं उसमें नहीं पड़ते।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

न=नहीं; **च**=तथा; **माम्**=मुझे; **तानि**=वे सब; **कर्माणि**=कार्य-कलाप; **निबध्नन्ति**=बाँधते; **धनंजय**=हे वैभवविजयी अर्जुन; **उदासीनवत्**=तटस्थ की भाँति; **आसीनम्**=स्थित हूँ; **असक्तम्**=अनासक्तभाव से; **तेषु**=उन; **कर्मसु**=कर्मों में।

अनुवाद

हे धनंजय! यह सब कार्य मेरे लिए बन्धनकारी नहीं हो सकता, क्योंकि मैं इसमें उदासीन के समान अनासक्तभाव से स्थित हूँ।।९।।

तात्पर्य

इस सन्दर्भ में यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीभगवान् निष्क्रिय हैं। अपने वैकुण्ठ-जगत् में वे नित्य क्रीड़ारत हैं। ब्रह्मसंहिता में उल्लेख है: 'प्राकृत क्रियाओं से सर्वथा असंग होते हुए भी वे अपनी आनन्दचिन्मयरसात्मिका लीला में नित्य तत्पर हैं।' प्राकृत क्रियाएँ उनकी विविध शक्तियों द्वारा घटती हैं; श्रीभगवान् स्वयं सृष्ट जगत् की संपूर्ण प्राकृत क्रियाओं से नित्य उदासीन रहते हैं। यहाँ उनकी इस उदासीनता का वर्णन है। जड़ प्रकृति पूर्णरूप से उनके आधीन है, फिर भी वे उदासीन के सदृश बैठे हैं। इस सन्दर्भ में न्यायाधीश का दृष्टान्त उल्लेखनीय है। वह स्वयं अपने आसन पर बैठा रहता है, परन्तु उसकी आज्ञा से कितनी ही घटनायें घटित होती हैं—किसी को प्राणदण्ड दिया जाता है, किसी को कारावास तो किसी को विपुल लक्ष्मी; परन्तु इस सबसे वह स्वयं सर्वथा असंग है। उस हानि-लाभ से उसे कोई प्रयोजन नहीं। ऐसे ही, यद्यपि प्रभु का हाथ हर कार्यक्षेत्र में रहता है, फिर भी वे सबसे असंग हैं। 'वेदान्तसूत्र' में उल्लेख है कि वे इस जगत् के द्वन्द्वों से अतीत हैं। इस संसार के सृजन-संहार में भी उनकी आसक्ति नहीं है। जीव पूर्वकर्म के अनुसार नाना योनियों को ग्रहण करते हैं, श्रीभगवान् इसमें हस्तक्षेप नहीं करते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

मया=मेरी; **अध्यक्षेण**=अध्यक्षता में; **प्रकृतिः**=माया शक्ति; **सूयते**=रचती है; **स**=सहित; **चराचरम्**=चर-अचर; **हेतुना अनेन**=इस कारण से; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **जगत्**=प्राकृत सृष्टि; **विपरिवर्तते**=उत्पत्ति-विनाश के चक्र में क्रियाशील है।

अनुवाद

हे कुन्तीपुत्र! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इसी कारण इस जगत् का बारम्बार सृजन और संहार होता है।।१०।।

तात्पर्य

यहाँ स्पष्ट कथन है कि प्राकृत-जगत् की सारी क्रियाओं से विल्कुल असंग होते

हुए भी श्रीभगवान् इनके परम ईश्वर हैं। सत्यसंकल्प परमेश्वर इस प्राकृत सृष्टि के अध्यक्ष और आधार हैं; केवल इसकी व्यवस्था अपरा प्रकृति (माया) द्वारा संचालित है। भगवद्गीता में ही श्रीकृष्ण ने अन्यत्र कहा है कि "विभिन्न रूप-योनियों वाले सम्पूर्ण जीवों का मैं पिता हूँ।" संतान-प्राप्ति के लिए पिता माता में गर्भाधान करता है। इसी प्रकार, परमेश्वर केवल अपनी दृष्टि से अपरा प्रकृति में अखिल जीवसमूह का गर्भाधान कर देते हैं, जिससे वे सभी जीव अपनी पूर्व कर्मवासना के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप-योनि ग्रहण करते हैं। अतः श्रीभगवान् का इस प्राकृत सृष्टि से सीधा सम्बन्ध नहीं है। वे केवल अपरा-प्रकृति पर दृष्टि डालते हैं; इससे वह क्रियान्वित हो जाती है, और परिणाम में तुरन्त संपूर्ण सृष्टि हो जाती है। माया पर दृष्टिपात करने के कारण श्रीभगवान् सृष्टि के निमित्त तो सिद्ध होते हैं, परन्तु प्राकृत सृष्टि से उनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं है। स्मृति में यह दृष्टान्त दिया गया है—कुसुम की सुगंध को घ्राणेन्द्रिय ग्रहण करती है, फिर भी ये दोनों परस्पर असंग हैं। प्राकृत-जगत् और श्रीभगवान् में भी ऐसा ही सम्बन्ध है। इस जगत् से वस्तुतः असंग होते हुए भी वे दृष्टिपात करके सृजन और विधान करते हैं। सारांश में, श्रीभगवान् की अध्यक्षता के बिना अपरा प्रकृति कुछ नहीं कर सकती। तथापि, श्रीभगवान् सम्पूर्ण लौकिक क्रियाओं से असंग हैं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

अवजानन्ति=उपहास करते हैं; **माम्**=मेरा; **मूढाः**=बुद्धिहीन मनुष्य; **मानुषीम्**=नराकार; **तनुम्**=विग्रह; **आश्रितम्**=नित्य प्राप्त; **परम्**=दिव्य; **भावम्**=स्वभाव को; **अजानन्तः**=न जानते हुए; **मम**=मुझ; **भूत**=सम्पूर्ण सृष्टि के; **महेश्वरम्**=परम स्वामी (का)।

अनुवाद

मेरे नराकार में अवतरित होने पर मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।।११।।

तात्पर्य

इस अध्याय के पूर्ववर्ती श्लोकों की व्याख्या से स्पष्ट है कि नररूप में अवतरित होने पर भी श्रीभगवान् साधारण मनुष्य नहीं हैं। सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहार करने वाले श्रीभगवान् मनुष्य-तुल्य कैसे हो सकते हैं? फिर भी बहुत से मूढ़ श्रीकृष्ण को केवल एक शक्तिशाली मनुष्य मानते हैं। वास्तव में तो वे आदिपुरुष परमेश्वर हैं, जैसा ब्रह्मसंहिता में प्रमाण है—**ईश्वरः परमः कृष्णः।**

सृष्टि में कितने ही ईश्वर हैं, जिनमें एक एक से बड़ा प्रतीत होता है। प्राकृत जगत् में सामान्यतः प्रत्येक प्रशासक पर सचिव, सचिव पर मन्त्री तथा मन्त्री पर राष्ट्रपति शासन करता है। इनमें से प्रत्येक नियन्ता है; परन्तु साथ ही किसी अन्य द्वारा

नियन्त्रित भी है। 'ब्रह्मसंहिता' में कहा है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं। यह सत्य है कि प्राकृत-जगत् तथा वैकुण्ठ-जगत्, दोनों में बहुत से ईश्वर हैं; परन्तु श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं—**ईश्वरः परमः कृष्णः** और उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दघन, अर्थात् अप्राकृत है।

पूर्वश्लोकों में वर्णित अद्भुत कार्यकलापों का सम्पादन प्राकृत कलेवर से नहीं हो सकता। इस प्रकार सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् का विग्रह सच्चिदानंदमय है। निःसंदेह वे साधारण मनुष्य नहीं हैं, तथापि मूढ़ व्यक्ति उनका उपहास करते हैं और उन्हें साधारण मनुष्य ही मानते हैं। उनके वपु को यहाँ **मानुषीम्** कहा गया है, क्योंकि वे कुरुक्षेत्र के युद्ध में एक राजनीतिज्ञ और अर्जुन के सखा के रूप में ठीक नरवत् लीला कर रहे हैं। वे नाना प्रकार से साधारण मनुष्य के समान कार्य कर रहे हैं, पर वास्तव में उनका विग्रह सच्चिदानन्दमय है। वैदिक वाङ्मय में संपुष्टि है (**सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णाय**) 'मैं सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम करता हूँ।' वेदों में इस सत्य के अन्य प्रमाण भी उपलब्ध हैं: **तमेकं गोविन्दम्** 'आप इन्द्रियों और गोधन को रस का परिवेषण करने वाले श्रीगोविन्द हैं। **सच्चिदानन्द विग्रहम्**—'आपका विग्रह सांद्रांग सच्चिदानन्द है।'

श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह में इन चिद्गुणों के होते हुए भी श्रीमद्भगवद्गीता के बहुत से नाममात्र के विद्वान् एवं व्याख्याकार श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य कहकर उनका उपहास उड़ाते हैं। पिछले पुण्यकर्म के फलस्वरूप ऐसे विद्वान् असाधारण प्रतिभावान् हो सकते हैं, परन्तु श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में इस प्रकार की भ्रान्त धारणा अल्पज्ञता की स्पष्ट परिचायक है। अतः ऐसे विद्वानों को 'मूढ़' कहा गया है, क्योंकि परमेश्वर श्रीकृष्ण की अंतरंग लीलाओं एवं शक्ति-वैचित्र्य को न जानने वाला मूर्ख ही उन्हें सामान्य मनुष्य समझने की धृष्टता करेगा। ऐसे मूढ़ नहीं जानते कि श्रीकृष्ण का विग्रह समग्र सत्, चित् और आनन्द का उत्स (निधान) है, वे ही सकल सृष्टि के स्वामी हैं तथा जीवमात्र को मुक्ति का दान कर सकते हैं। श्रीकृष्ण के इन चिन्मय गुणों को न जानकर मूढ़-मनुष्य उनका उपहास किया करते हैं।

मूढ़ यह भी नहीं जानते कि इस संसार में श्रीभगवान् का अवतरण उनकी आत्ममाया (अन्तरंगा शक्ति) का प्रकाश है। वे अपरा माया शक्ति के स्वामी हैं। जैसा बहुधा कहा गया है, **मम माया दुरत्यया।** उनकी घोषणा है कि अति प्रबला अपरा शक्ति माया सब प्रकार से उनके आधीन हैं; अतः उनके चरणारविन्द के शरणागत होकर जीव इसके नियन्त्रण से मुक्त हो सकता है। जब श्रीकृष्ण का शरणागत जीव भी माया से मुक्त हो जाता है, तो सम्पूर्ण अपरा प्रकृति के सृजन, पोषण एवं संहार के संचालक उन परमेश्वर का रूप हमारे समान पाञ्चभौतिक कैसे हो सकता है ? अतः श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ऐसी असत् धारणा एकदम मूढ़तापूर्ण है। फिर भी मूर्ख यह नहीं समझ सकते कि नराकार में अवतीर्ण हुए भगवान् श्रीकृष्ण अणु से लेकर विराट् विश्वरूप तक के ईश्वर कैसे हैं। बृहत्तम और अणुतम तत्त्व उनके लिये अचिन्त्य है, इसलिए वे यह सोच भी नहीं सकते कि एक नराकार विग्रह एक साथ

अनन्त और अणु का ईश्वर कैसे हो सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि अनन्त और अणु का नियन्त्रण करते हुए भी श्रीभगवान् इस समूची सृष्टि से असंग हैं। यही उनका योगैश्वर्य अर्थात् अचिन्त्य दिव्य शक्ति है। जहाँ मूढ़ यह कल्पना नहीं कर सकते कि नराकार श्रीकृष्ण अणु-अनन्त के परमेश्वर हैं, शुद्ध भक्तों को इसमें सन्देह नहीं होता, क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीकृष्ण साक्षात् स्वयं भगवान् हैं—**कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**। अतएव भगवच्चरणारविन्द में सर्वात्मसमर्पण करके वे कृष्णभावनामृत (भगवद्भक्ति) के परायण हो जाते हैं।

श्रीकृष्ण के नरावतार के सम्बन्ध में निर्विशेषवादियों तथा सविशेषवादियों में बहुत मतभेद है। परन्तु यदि हम कृष्णविज्ञान के प्रामाणिक शास्त्रों—भगवद्गीता एवं श्रीमद्भागवत का आश्रय लें, तो स्पष्ट हो जायेगा कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। इस धराधाम पर नररूप में अवतरित होने पर भी वे सामान्य मनुष्य नहीं हैं। श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध, प्रथम अध्याय में श्रीकृष्ण की लीलाओं के सम्बन्ध में ऋषियों की जिज्ञासा के उत्तर में कहा गया है कि उनका नरावतार मूढ़ों के लिए विडम्बनाकारी है। पृथ्वी पर अपने अवतरण काल में श्रीकृष्ण ने जो-जो अद्भुत कार्य किये, कोई भी साधारण मनुष्य उनका आचरण नहीं कर सकता। जननी-जनक वसुदेव-देवकी के आगे श्रीकृष्ण पहले चतुर्भुज रूप से ही प्रकट हुए थे। परन्तु माता-पिता की वात्सल्य प्रेममयी स्तुति से प्रेरित होकर वे बालरूप हो गए। सामान्य मनुष्य के रूप में प्रकट होना उनके चिन्मय श्रीविग्रह का एक मधुर विलास है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में भी **तेनैव रूपेण** आदि उल्लेख हैं। अर्जुन ने चतुर्भुज रूप को फिर देखने के लिए श्रीभगवान् से प्रार्थना की। इस पर उस रूप का दर्शन देकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना मूल द्विभुज रूप पुनः धारण कर लिया। श्रीभगवान् के ये विविध रूप निःसन्देह साधारण मनुष्यों से विलक्षण हैं।

कुछ मूढ़, जो मायावाद से कलुषित होने के कारण श्रीकृष्ण का उपहास करते हैं, श्रीकृष्ण को सामान्य मनुष्य सिद्ध करने के लिए श्रीमद्भागवत से इस श्लोक का प्रमाण देते हैं: **अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा**—'परमेश्वर जीवमात्र में विद्यमान है।' (श्रीमद्भागवत ३.२९.२१)। श्रीकृष्ण का उपहास करने वाले अप्रामाणिक व्यक्तियों की मनोकल्पित व्याख्याओं का अनुसरण करने की अपेक्षा इस श्लोक का तात्पर्य श्रील जीव गोस्वामी आदि वैष्णव आचार्यों के अनुसार समझना चाहिए। इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए श्रील जीव गोस्वामिचरण कहते हैं कि श्रीकृष्ण परमात्मारूप से चराचर जीवमात्र में हैं। इसलिए जो प्राकृत भक्त केवल मन्दिर में प्रतिष्ठित श्रीभगवान् की अर्चामूर्ति की परिचर्या में संलग्न रहता है, अन्य जीवों को सम्मान नहीं देता, उसकी अर्चा-पूजा व्यर्थ है। भगवद्भक्तों की तीन श्रेणियों में प्राकृत भक्त सबसे कनिष्ठ श्रेणी में आता है। वह अन्य भक्तों की उपेक्षा कर अर्चा-विग्रह के प्रति ही एकाग्र रहता है। श्रील जीव गोस्वामिपाद की चेतावनी है कि इस मनोदशा को शुद्ध करना आवश्यक है। भक्त को जीवमात्र के हृदय में श्रीकृष्ण के

परमात्मा रूप का दर्शन करना चाहिए। प्राणीमात्र भगवान् का निवास, अर्थात् मन्दिर है; अतः जिस प्रकार भगवत्-मन्दिर का अभिवादन किया जाता है, वैसे ही परमात्मा के निवासस्वरूप प्राणीमात्र का यथोचित सम्मान करे; किसी का भी अपमान कभी न करे।

वर्तमान काल में ऐसे बहुत से निर्विशेषवादी हैं, जो मन्दिर-अर्चन का उपहास करते हैं। उनका तर्क है कि जब ईश्वर सर्वव्यापक है, तो उसे मन्दिर-पूजन तक सीमित क्यों किया जाय? इसके उत्तरस्वरूप कहा जा सकता है कि यदि ईश्वर सर्वव्यापक है, तो क्या वह मन्दिर अथवा अर्चाविग्रह में नहीं है? सविशेषवादी और निर्विशेषवादी इस प्रकार नित्य तर्क किया करें, परन्तु कृष्णभावनाभावित शुद्ध भक्त वास्तव में जानता है कि पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् होने के साथ-साथ श्रीकृष्ण सर्वव्यापक भी हैं, जैसा ब्रह्मसंहिता द्वारा समर्थित है। अपने परमधाम गोलोक वृन्दावन में नित्य विराजते हुए भी अपनी विविध शक्तियों और अंशों के रूप में वे प्राकृत-अप्राकृत सृष्टिओं में सर्वत्र हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

मोघाशाः=व्यर्थ मनोरथ; **मोघकर्माणः**=निष्फल सकाम कर्म; **मोघज्ञानाः**=निष्फल ज्ञान; **विचेतसः**=मोहित; **राक्षसीम्**=राक्षस; **आसुरीम्**=अनीश्वरवादी; **च**=तथा; **एव**=निस्संदेह; **प्रकृतिम्**=स्वभाव को; **मोहिनीम्**=मोहकारी; **श्रिताः**=धारण किए हुए।

अनुवाद

जो इस प्रकार संमोहित हैं, वे आसुरी तथा अनीश्वरवादी स्वभाव को धारण किये रहते हैं। उस मोहमयी अवस्था में उनकी मुक्ति की आशा, उनके सकाम कर्म और उनके द्वारा अर्जित ज्ञान आदि सभी कुछ निष्फल हो जाता है।।१२।।

तात्पर्य

बहुत से मनुष्य अपने को कृष्णभावनाभावित और भक्तियोगी तो समझते हैं, परन्तु हृदय से भगवान् श्रीकृष्ण को परमसत्य नहीं मानते। उन्हें भक्तियोग के फल—भगवद्धाम की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसी प्रकार, जो भगवान् श्रीकृष्ण का उपहास करते हैं, वे सकामकर्मनिष्ठ व्यक्ति और मुमुक्षु ज्ञानी भी कृतार्थ नहीं हो सकेंगे। भाव यह है कि श्रीकृष्ण का तिरस्कार करने वालों को असुर अथवा अनीश्वरवादी जानना चाहिए। सातवें अध्याय के अनुसार, ऐसे आसुरभाव वाले दुष्ट श्रीकृष्ण के शरणागत नहीं होते। परतत्त्व की प्राप्ति के लिए वे जो कुछ भी मनोधर्मी करते हैं, उससे इसी असत् निर्णय पर पहुँचते हैं कि जीव और श्रीकृष्ण में कोई अन्तर नहीं है। इस भ्रमवश वे समझते हैं कि मनुष्य की देह इस समय केवल माया से ढक गई है और जैसे ही जीव इस देह से मुक्त होता है, वैसे ही उसमें और ईश्वर में कोई भेद नहीं रहता। श्रीकृष्ण से एक होने की यह मोहमयी चेष्टा अवश्य असफल रहेगी।

ज्ञान का ऐसा अनीश्वरवादी अथवा आसुरी अनुशीलन सदा निष्फल सिद्ध होता है, यह इस श्लोक का तात्पर्य है। ऐसे व्यक्ति 'वेदान्तसूत्र' तथा 'उपनिषद्' आदि वैदिक वाङ्मय से जो कुछ ज्ञान अर्जन करते हैं, वह सब भी निष्फल (व्यर्थ) है।

इस प्रकार, भगवान् श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मानना घोर अपराध है। जो ऐसा करते हैं, वे अवश्य भ्रान्त हैं; वे श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्दघन श्रीविग्रह को तत्त्व से नहीं जान सकते। 'बृहद् वैष्णवमन्त्र' में तो यहाँ तक कहा है कि जो श्रीकृष्ण के कलेवर को प्राकृत मानता हो, उसे श्रुति के सम्पूर्ण विधान से बहिष्कृत कर देना चाहिए; यदि दैववश उसका मुख दिख जाय, तो दोष-निवृत्ति के लिए तत्काल वस्त्रों सहित गंगास्नान करे। भगवान् श्रीकृष्ण का उपहास वही लोग करते हैं, जो उनके प्रति ईर्ष्यालु हैं। उनका बारम्बार आसुरी तथा अनीश्वरवादी योनियों में ही जन्म होता है; सच्चा ज्ञान सदा मोह से लुप्त रहता है, और वे उत्तरोत्तर अधम योनियों में गिरते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

महात्मानः=महात्माजन; **तु**=तो; **माम्**=मुझे; **पार्थ**=हे पृथापुत्र (अर्जुन); **दैवीम्**=दिव्य; **प्रकृतिम्**=प्रकृति के; **आश्रिताः**=आश्रित हुए; **भजन्ति**=सेवा करते हैं; **अनन्यमनसः**=अविचल भाव से; **ज्ञात्वा**=जानकर; **भूत**=सृष्टि का; **आदिम्**=आदि कारण; **अव्ययम्**=अमोघ।

अनुवाद

परन्तु हे पार्थ ! मोहमुक्त महात्माजन तो मेरी दिव्य प्रकृति के आश्रित होकर और मुझे अविनाशी आदिपुरुष जानकर अनन्य चित्त से मेरी भक्ति के ही परायण रहते हैं।।१३।।

तात्पर्य

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि महात्मा वास्तव में कौन है। सच्चे महात्मा का प्रथम लक्षण यह है कि वह दिव्य प्रकृति में स्थित रहता है; माया के आधीन नहीं होता। इस स्थिति को प्राप्त करने की विधि का निर्देश सातवें अध्याय में है। जो भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होता है, वह अविलम्ब मायामुक्त हो जाता है। इस पथ के लिए यही पात्रता है। भगवान् के चरणकमलों में सर्वात्मसमर्पण करते ही तत्क्षण मायाबन्धन से मुक्ति हो जाती है। मुक्ति का बस यही ऐकान्तिक उपाय है। जीव श्रीभगवान् की तटस्था शक्ति है; अतः जैसे ही वह माया से मुक्त होता है, वैसे ही दैवी प्रकृति के आश्रय में आ जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् के चरणारविन्द की शरण लेकर जीव महात्मा पद पर आरूढ़ हो सकता है।

महात्मा का ध्यान श्रीकृष्ण से अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं जाता, क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि श्रीकृष्ण आदिपुरुष हैं और सब कारणों के परम कारण हैं। उसे इसमें कुछ संदेह नहीं रहता। ऐसे महात्मा का उदय अन्य महात्माओं अथवा

शुद्धभक्तों के संग से होता है। देवताओं के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, शुद्ध भक्त तो श्रीकृष्ण के चतुर्भुज महाविष्णु आदि अन्य रूपों की ओर तक आकृष्ट नहीं होते। वे तो बस श्रीकृष्ण के वेणुवादननिरत द्विभुज रूप में ही नित्य अनुरक्त रहते हैं। वे किसी देवरूप अथवा मनुष्य से कोई अपेक्षा नहीं रखते; उनका ध्यान कृष्णभावना में केवल श्रीकृष्ण पर एकाग्र रहता है। ऐसे कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण के ध्यान और अचल भगवत्सेवा में ही नित्य निमग्न रहते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

सततम्=नित्य; **कीर्तयन्तः**=कीर्तन करते हुए; **माम्**=मुझे; **यतन्तः च**=पूर्ण चेष्टा करते हुए भी; **दृढव्रताः**=निश्चयपूर्वक; **नमस्यन्तः च**=प्रणाम करते हुए; **माम्**=मुझ को; **भक्त्या**=भक्ति भाव से; **नित्ययुक्ताः**=सदा तत्पर; **उपासते**=आराधना करते हैं।

अनुवाद

ये महात्माजन नित्य-निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़ निश्चयपूर्वक चेष्टा करते हुए तथा प्रणाम करते हुए भक्तिभाव से निरन्तर मेरी आराधना करते हैं।।१४।।

तात्पर्य

कोई साधारण व्यक्ति नाममात्र देने से महात्मा नहीं बन जाता। सच्चे महात्मा के स्वरूप लक्षणों का यहाँ वर्णन है। महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के कीर्तन में तन्मय रहता है। नित्य-निरन्तर भगवत्-कीर्तन करने के अतिरिक्त उसे कोई और काम नहीं होता। दूसरे शब्दों में, महात्मा निर्विशेषवादी नहीं हो सकता। सच्चा महात्मा वही है, जो भगवद्धाम, भगवन्नाम, भगवत्-रूप, भगवद्गुण तथा अद्भुत भगवच्चरित्र की स्तुति के रूप में श्रीभगवान् का कीर्तन करे। ये सब भगवत्-तत्त्व सदा कीर्तनीय हैं। अतः सच्चा महात्मा श्रीभगवान् में ही अनुरक्त रहता है।

जो श्रीभगवान् के निर्विशेषरूप—ब्रह्मज्योति में आसक्त है, उसे श्रीमद्भगवद्-गीता में महात्मा नहीं कहा गया है। उसका अगले श्लोक में पृथक् रूप से उल्लेख है। महात्मा किसी देवता अथवा मानव को नहीं पूजता; वह स्वयं श्रीविष्णु के श्रवण, कीर्तन, आदि भक्तियोग के साधनों में तत्पर रहता है, जैसा श्रीमद्भागवत में वर्णन है। उस भक्ति का स्वरूप यह है: **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम्...**। यथार्थ महात्मा में पाँच दिव्य रसों में से किसी एक रस में श्रीभगवान् का संग प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय रहता है। तत्सम्बन्धी सफलता के लिए वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक क्रियाओं से भगवत्सेवानिष्ठ हो जाता है। इसी का नाम पूर्ण कृष्णभावना है।

भक्तियोग में कुछ क्रियाएँ अनिवार्य हैं, जैसे एकादशी, अवतारजयन्ती, आदि उपवासव्रतों का पालन इत्यादि। ये विधि-विधान महान् आचार्यों द्वारा उन्हीं के लिए

कहे गये हैं, जो भगवद्धाम में श्रीभगवान् को प्राप्त करने के सच्चे अभिलाषी हैं। महात्माजन इन विधानों का दृढ़ता से पालन करते हैं; अतएव उनके लिए अभिलषित लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित है।

जैसा अध्याय के द्वितीय श्लोक में वर्णन है, यह भक्तियोग सुगम होने के साथ ही आह्लादपूर्वक सम्पादित किया जा सकता है। इसके लिए किसी कठोर तप-त्याग की अपेक्षा नहीं है। विदग्ध सद्गुरु के आश्रय में गृहस्थी, संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी–किसी भी स्थिति में, विश्व के किसी भी स्थान में, भक्तिभावित जीवन व्यतीत करने वाला कोई भी मनुष्य इस भगवद्भक्तियोग के द्वारा वास्तव में महात्मा बन सकता है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

ज्ञानयज्ञेन=ज्ञान के अनुशीलन से; **च**=भी; **अपि**=निस्सन्देह; **अन्ये**=दूसरे; **यजन्तः**=यज्ञ से; **माम्**=मुझे; **उपासते**=उपासते हैं; **एकत्वेन**=एकत्व में; **पृथक्त्वेन**=द्वैत भाव में; **बहुधा**=अनेक प्रकार से; **विश्वतःमुखम्**=विश्वरूप (में)।

अनुवाद

दूसरे जो ज्ञान के अनुशीलन में तत्पर हैं, वे मुझे परमेश्वर को अद्वय-रूप में, विविध रूपों में और विश्वरूप में भी उपासते हैं।।१५।।

तात्पर्य

यह श्लोक इस प्रकरण के पूर्ववर्ती श्लोकों का उपसंहार है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जो अनन्य भक्त उन (कृष्ण) के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते और विशुद्ध कृष्णभावना से भावित हैं, वे महात्मा कहलाते हैं। परन्तु ऐसे भी मनुष्य हैं, जो यथार्थ में महात्मा तो नहीं हैं, पर वे भी नाना रीतियों से श्रीकृष्ण की आराधना करते हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख पूर्व में हो चुका है, जैसे—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इनसे भी निम्न मनुष्यों की तीन अन्य कोटियाँ हैं: (१) अहंग्रहोपासक (परमेश्वर और अपने में एकीभाव मानकर उपासना करने वाले), (२) प्रतीकोपासक (परमेश्वर के किसी मनोकल्पित रूप के उपासक), और (३) विश्वरूपोपासक (जो श्रीभगवान् के विश्वरूप को स्वीकार कर उसकी आराधना करते हैं)। इन तीनों में, जो अपने को परमेश्वर समझ कर उपासते हैं वे अद्वैतवादी सबसे अधम हैं। मनुष्यों में इन्हीं की प्रधानता है। ये अपने को परमेश्वर मानकर अपनी ही उपासना करते हैं। यह भी एक प्रकार से ईश्वर की उपासना है, क्योंकि इससे वे यह जान सकते हैं कि उनका स्वरूप प्राकृत देह न होकर चिन्मय आत्मा है। उनमें कम से कम इस विवेक का अतिरेक तो रहता ही है। सामान्यतः निर्विशेषवादी परमेश्वर को इसी विधि से उपासते हैं। द्वितीय कोटि में देवोपासक हैं। ये मनोकल्पना के अनुसार किसी भी रूप को भगवत्-रूप मान लेते हैं। तृतीय श्रेणी में वे मनुष्य हैं, जो इस प्राकृत ब्रह्माण्डीय अभिव्यक्ति (विश्वरूप) से परे किसी भी तत्त्व का चिन्तन नहीं कर

सकते; अतः परतत्त्व के रूप में ब्रह्माण्ड की ही उपासना करते हैं। ब्रह्माण्ड भी श्रीभगवान् का एक रूप है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

अहम्=मैं; **क्रतुः**=कर्मकाण्ड हूँ; **अहम्**=मैं ही; **यज्ञः**=यज्ञ हूँ; **स्वधा**=तर्पण; **अहम्**=मैं; **अहम्**=मैं; **औषधम्**=रोगहारी जड़ी; **मन्त्रः**=चिन्मय ध्वनि; **अहम्**=मैं; **अहम् एव**=मैं ही; **आज्यम्**=घृत; **अहम्**=मैं; **अग्निः**=अग्नि; **अहम्**=मैं ही; **हुतम्**=आहुति हूँ।

अनुवाद

क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूँ, यज्ञ अर्थात् स्मार्तकर्म मैं हूँ, पितृतर्पण मैं हूँ, औषधि और मन्त्र भी मैं हूँ तथा मैं ही घी, अग्नि और हवनरूप क्रिया हूँ।।१६।।

तात्पर्य

ज्योतिष्टोम् नामक यज्ञ भी श्रीकृष्ण का रूप है। इसी से श्रीकृष्ण का एक नाम 'महायज्ञ' है। पितृलोक को अर्पित स्वधा अथवा औषधि के रूप में घृत का हवन भी श्रीकृष्ण का रूप है। इस क्रिया में उच्चारित मन्त्र श्रीकृष्णमय हैं। यज्ञ में जिन दुग्धनिर्मित पदार्थों की आहुति दी जाती है, वे भी श्रीकृष्ण के रूप हैं। अग्नि को श्रीकृष्ण कहा गया है, क्योंकि पञ्चमहातत्त्वों में से एक होने के कारण वह श्रीकृष्ण की भिन्ना-शक्ति है। भाव यह है कि वैदिक कर्मकाण्ड में प्रतिपादित विविध यज्ञ पूर्ण रूप से कृष्णमय हैं। प्रकारान्तर से, ऐसा जानना चाहिये कि जो पुरुष कृष्णभक्तिनिष्ठ हैं, वे सब वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान कर चुके हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च।।१७।।

पिता=जन्मदाता; **अहम्**=मैं (हूँ); **अस्य**=इस; **जगतः**=ब्रह्माण्ड का; **माता**=माँ; **धाता**=पोषक; **पितामहः**=पितामह; **वेद्यम्**=जानने योग्य; **पवित्रम्**=पावन; **ओंकारः**=ओम् शब्दब्रह्म; **ऋक्**=ऋग्वेद; **साम**=सामवेद; **यजुः**=यजुर्वेद; **एव**=भी; **च**=तथा।

अनुवाद

मैं इस जगत् का पिता, माता, पोषण करने वाला और पितामह हूँ। मैं ही जानने योग्य परम पावन ओंकार हूँ तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।।१७।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण-शक्ति की विविध क्रियाओं से ही इस चराचर सम्पूर्ण सृष्टि की अभिव्यक्ति है। संसार में हम अलग-अलग जीवों से नाना प्रकार के सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। ये सभी जीव वस्तुतः श्रीकृष्ण की तटस्था शक्ति हैं; परन्तु

प्रकृति की सृष्टि के अन्तर्गत हमारे पिता, माता आदि के रूप में भासते हैं। वास्तव में ये सब श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं। इस न्याय से माता, पिता आदि के रूप में प्रतीत होने वाले ये सब जीव श्रीकृष्ण के रूप हैं। श्लोक में आए **धाता** शब्द का अर्थ पोषण करने वाला है। केवल हमारे माता-पिता ही श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश नहीं हैं; अपितु उनको जन्म देने वाले माता-पिता आदि भी श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण का भिन्न-अंश होने के कारण वस्तुतः जीवमात्र श्रीकृष्ण का रूप है। अतएव सम्पूर्ण वेद के लक्ष्य एकमात्र श्रीकृष्ण हैं। वेद से जो कुछ भी जिज्ञासा की जायगी, वह हमें क्रमशः श्रीकृष्ण के तत्त्व की ओर ही अग्रसर करेगी। जो तत्त्व अन्तर्शुद्धि के द्वारा स्वरूप को फिर प्राप्त करने में हमारी सहायता करे, वह विशेषरूप से श्रीकृष्ण का रूप है। इसके सदृश, जिसे सम्पूर्ण वैदिक सिद्धान्तों की जिज्ञासा हो, वह भी श्रीकृष्ण का भिन्न-अंश है, और इसलिए उनका रूप है। ऋक्, साम, यजुः और अथर्व—इन चारों वेदों के सब मन्त्रों में 'प्रणव' नामक चिन्मय नादब्रह्म, ॐ का प्रयोग होता है। अतः वह श्रीकृष्ण का स्वरूप है।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

गतिः=लक्ष्य; **भर्ता**=पालनकर्ता; **प्रभुः**=ईश्वर; **साक्षी**=शुभ-अशुभ का देखने वाला; **निवासः**=धाम; **शरणम्**=शरण; **सुहृत्**=परम अन्तरंग सखा; **प्रभवः**=सृष्टि; **प्रलयः**=प्रलय; **स्थानम्**=आधार; **निधानम्**=विश्राम-स्थल; **बीजम्**=बीज (कारण); **अव्ययम्**=अविनाशी।

अनुवाद

प्राप्त होने योग्य गति, सब का पालन करने वाला, परम ईश्वर, शुभ-अशुभ का साक्षी, परमधाम, शरण लेने योग्य, जीवमात्र का सुहृद्, उत्पत्ति-प्रलयरूप, सबका आधार, विश्राम-स्थल और अविनाशी बीज भी मैं हूँ।।१८।।

तात्पर्य

गति शब्द उस स्थान का वाचक है, जहाँ हम जाना चाहते हैं। यद्यपि जनसाधारण यह नहीं जानता, परन्तु सबके परम लक्ष्य श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण को न जानने वाला निश्चित रूप से पथभ्रष्ट है; वह समझता है वह उन्नति कर रहा है, परन्तु श्रीकृष्ण रूपी लक्ष्य से रहित ऐसी उन्नति वास्तव में या तो एकांगी है अथवा भ्रमात्मक है। ऐसा होते हुए भी, बहुत से मनुष्य विभिन्न देवताओं को अपना गन्तव्य बना लेते हैं। ध्येय देवता के अनुसार दृढ़ साधन करने से उन्हें चन्द्रलोक, सूर्यलोक, इन्द्रलोक, महर्लोक आदि विभिन्न लोकों की प्राप्ति भी हो जाती है। किन्तु श्रीकृष्ण द्वारा रचित ये सब लोक श्रीकृष्ण के रूप होने पर भी वस्तुतः उनसे भिन्न हैं। भाव यह है कि ये लोक कृष्णशक्ति द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, इसलिए श्रीकृष्ण के रूप हैं; परन्तु इनके रूप में श्रीकृष्ण की पूर्ण प्राप्ति नहीं हो सकती। देवलोक की प्राप्ति श्रीकृष्ण की

अनुभूति के पथ में केवल एक चरण आगे बढ़ाने के समान है। श्रीकृष्ण की नाना शक्तियों के उन्मुख होना श्रीकृष्ण की ओर परोक्ष रूप से बढ़ने जैसा है। अतएव समय और सामर्थ्य का व्यर्थ अपव्यय किए बिना प्रत्यक्ष रूप से श्रीकृष्ण के ही उन्मुख हो जाना अधिक श्रेयस्कर है। उदाहरणार्थ, यदि किसी भवन के ऊपर जाने के लिए उत्थापनयन्त्र (लिफ्ट) की सुविधा उपलब्ध है तो फिर एक-एक पग रखकर सीढ़ियों से क्यों जाया जाय? सभी कुछ श्रीकृष्ण की शक्ति के आश्रय में स्थित है; श्रीकृष्ण-आश्रय के अभाव में किसी भी सत्त्व का अस्तित्व नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, सब कुछ उनकी सम्पत्ति है और उन्हीं की शक्ति के आश्रय में है। जीवमात्र के अन्तर्यामी रूप में श्रीकृष्ण परम साक्षी हैं। हमारे निवास, देश, लोकादि, भी श्रीकृष्ण के रूप हैं। श्रीकृष्ण परम शरण्य हैं, अतएव अपनी रक्षा के लिए अथवा विपत्ति-निवारण के लिए उन्हीं की शरण में जाय। त्राणदाता शरण्य-तत्त्व चैतन्य ही हो सकता है; अतः श्रीकृष्ण परम चेतन सिद्ध होते हैं। श्रीकृष्ण हम सभी के जन्मदाता परमपिता और जीव के परम श्रेष्ठ सखा एवं सुहृद् हैं। श्रीकृष्ण सृष्टि के आदिकारण और प्रलय होने पर परम निधान हैं। यह सम्पूर्ण विवरण प्रमाण है कि श्रीकृष्ण सब कारणों के पःम कारण हैं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।

तपामि=सूर्य के रूप में तपता हूँ; **अहम्**=मैं; **अहम्**=मैं; **वर्षम्**=वर्षा (का); **निगृह्णामि**=आकर्षण करता हूँ; **उत्सृजामि च**=फिर बरसाता हूँ; **अमृतम्**=अमृत; **च**=तथा; **एव**=निःसन्देह; **मृत्युः**=मृत्यु; **च**=भी (मैं हूँ); **सत्**=सत्ता; **असत्**=सत्ता का अभाव; **च**=भी; **अहम्**=मैं (हूँ); **अर्जुन**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन! मैं ही सूर्यरूप से जगत् को तपाता हूँ, वर्षा का आकर्षण करता हूँ और फिर उसे बरसाता हूँ। मैं मूर्तिमान् अमृत और मृत्युरूप हूँ तथा मैं ही सत् और असत् हूँ।।१९।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण अपनी विविध शक्तियों के द्वारा विद्युत् और सूर्य के माध्यम से तेज और प्रकाश का प्रसारण करते हैं। ग्रीष्म ऋतु में वे वर्षा को आकाश से गिरने नहीं देते और वर्षा ऋतु वे ही अविराम प्रचण्ड परिवर्षण कराते हैं। हमारी जीवन-अवधि को बढ़ा कर हमें धारण करने वाली शक्ति भी श्रीकृष्ण का रूप है और जीवन के अन्त में मृत्यु के रूप में श्रीकृष्ण से ही हमारा मिलन होना है। श्रीकृष्ण की इन नाना शक्तियों के विश्लेषण से जाना जाता है कि उनकी दृष्टि में आत्मा और जड़ प्रकृति (अनात्मा) में भेद नहीं है। श्रीकृष्ण आत्मा और अनात्मा दोनों हैं। अतएव कृष्णभावना की उत्तम अवस्था में ऐसे सम्पूर्ण भेद समाप्त हो जाते हैं। इस अवस्था

को प्राप्त महानुभाव को सर्वत्र सबमें श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण दृष्टिगोचर होते हैं।

ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि जड़ प्रकृति और आत्मतत्त्व—दोनों श्रीकृष्ण के रूप हैं; अतएव जिस विश्वरूप में सब प्राकृत तत्त्वों का समावेश है, वह भी श्रीकृष्ण का रूप है। वेणुधारी द्विभुज श्यामसुन्दर रूप में उनकी वृन्दावन लीला तो भगवदीय है ही।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

त्रैविद्याः=तीनों वेदों में वर्णित सकाम कर्मों को करने वाले; **माम्**=मुझे; **सोमपाः**=सोम रस को पीने वाले; **पूत**=पवित्र हुए मनुष्य; **पापाः**=पापों से; **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा; **इष्ट्वा**=पूजकर; **स्वर्गतिम्**=स्वर्ग की प्राप्ति के लिए; **प्रार्थयन्ते**=प्रार्थना करते हैं; **ते**=वे; **पुण्यम्**=पुण्य; **आसाद्य**=प्राप्त होकर; **सुरेन्द्रलोकम्**=इन्द्रलोक को; **अश्नन्ति**=भोगते हैं; **दिव्यान्**=दिव्य; **दिवि**=स्वर्ग में; **देवभोगान्**=देवभोगों को।

अनुवाद

तीनों वेदों में वर्णित कर्मों को करने वाले, सोमरस पीने वाले पापरहित मनुष्य स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञों द्वारा मेरी अप्रत्यक्ष रूप से आराधना करते हैं। वे अपने पुण्य से स्वर्गलोक को प्राप्त होकर देवताओं के भोगों को भोगते हैं।।२०।।

तात्पर्य

त्रैविद्याः शब्द *ऋक्, साम* एवं *यजुः* नामक तीनों वेदों का वाचक है। वह ब्राह्मण, जिसने इन तीनों वेदों का स्वाध्याय किया हो, त्रिवेदी कहलाता है और जिसकी इन तीनों वेदों से उपलब्ध ज्ञान में प्रीति हो, वह मनुष्य समाज में प्रतिष्ठा पाता है। दुर्भाग्यवश, वेदों के ऐसे बहुत से महान् विद्वान् हैं, जो उनके स्वाध्याय के परम तात्पर्य को नहीं जानते। अतएव श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में घोषित किया है कि त्रिवेदियों का परम लक्ष्य मैं ही हूँ। सच्चे त्रिवेदी श्रीकृष्णचरणारविन्द की शरण लेकर उनकी प्रीति के लिए विशुद्ध भक्तियोग में तत्पर रहते हैं। इस भक्तियोग का आरम्भ हरेकृष्ण महामन्त्र के कीर्तन और श्रीकृष्णतत्त्व को जानने के लिए प्रयत्न करने से होता है। दुर्दैववश, जो केवल नाममात्र का वेदाध्ययन करते हैं, वे इन्द्र, चन्द्र आदि देवताओं की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करने में अधिक आसक्त हो जाया करते हैं। इस प्रकार के प्रयास से देवोपासक प्रकृति के अधम गुणों के दोष से निःसन्देह शुद्ध होकर महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, आदि उच्च लोकों को प्राप्त हो जाते हैं। इन स्वर्गीय लोकों में इस लोक की अपेक्षा इन्द्रियतृप्ति के लक्ष-लक्ष गुणा श्रेष्ठ साधन सुलभ हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

ते=वे; **तम्**=उस; **भुक्त्वा**=भोग कर; **स्वर्गलोकम्**=स्वर्ग को; **विशालम्**=

विशाल; क्षीणे=क्षीण होने पर; पुण्ये=पुण्य के; मर्त्यलोकम्=मृत्युलोक पृथ्वी में; विशन्ति=गिरते हैं; एवम्=इस प्रकार; त्रयी=तीनों वेदों के; धर्मम्=सकाम-कर्म-मत के; अनुप्रपन्नाः=अनुगामी; गतागतम्=जन्म-मृत्यु को; कामकामाः=भोगकामना वाले; लभन्ते=प्राप्त होते हैं।

अनुवाद

वे उस स्वर्गीय विषयसुख को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर फिर इस मृत्युलोक में गिरते हैं। इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड से उन्हें क्षणभंगुर सुख की ही प्राप्ति होती है—वे जन्म-मृत्यु रूप चक्र में पड़े रहते हैं।।२१।।

तात्पर्य

स्वर्गीय लोकों को प्राप्त जीव जगत् की तुलना में अधिक जीवन और इन्द्रियतृप्ति की श्रेष्ठ सुविधाओं को भोगता है। परन्तु उसे वहाँ सदा के लिए नहीं रहने दिया जाता। पुण्यकर्मफल के क्षीण होने पर उसे फिर इस मृत्युलोक में भेज दिया जाता है। वेदान्तसूत्र में निर्दिष्ट पूर्णज्ञान (जन्माद्यस्य यतः) की प्राप्ति जिसे नहीं हुई है अथवा जो सब कारणों के परम कारण—श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जानता, वह मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति में विफल रहता है। वह बार-बार उच्च लोकों में जाने और फिर मृत्यु-संसार में लौटनेरूप चक्र में ही भटकता रहता है। भाव यह है कि देवोपासक को उस वैकुण्ठ-जगत् की प्राप्ति नहीं होती, जहाँ से फिर कभी गिरने का भय नहीं रहता। वह तो उच्च-निम्न लोकों में आवागमन रूपी जन्म-मृत्यु के चक्र में ही भ्रमण करता रहता है। अतएव अच्छा हो यदि सच्चिदानन्दमय जीवन के आस्वादन के लिए वैकुण्ठ-जगत् को चला जाय, जिससे इस दुःखमय भयंकर संसार में फिर कभी न आना पड़े।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

अनन्याः=अनन्य भाव से; चिन्तयन्तः=चिन्तन करते हुए; माम्=मुझे; ये=जो; जनाः=मनुष्य; पर्युपासते=भलीभाँति निष्कामभाव से भजते हैं; तेषाम्=उन; नित्य=निरन्तर; अभियुक्तानाम्=भक्तिनिष्ठ मनुष्यों की; योगक्षेमम्=सम्पूर्ण आवश्यकताओं का; वहामि=वहन करता हूँ; अहम्=मैं (स्वयं)।

अनुवाद

परन्तु जो मनुष्य अनन्य-मन से मेरे दिव्य रूप का चिन्तन करते हुए भक्तिभाव सहित मेरा भजन करते हैं, उनके योगक्षेम का मैं स्वयं वहन करता हूँ।।२२।।

तात्पर्य

जिसे क्षणभर के लिये भी कृष्णभावना का विरह असह्य है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, वन्दन, अर्चन, दास्य, सख्यभाव और आत्मनिवेदन—इस नवधा भक्ति के परायण हुआ वह भक्त चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण के अनन्य चिन्तन में ही तन्मय रहता

है। भक्ति की ये सारी क्रियाएँ परम मंगलमय और दिव्य शक्तिसम्पन्न हैं। वस्तुतः इनसे भक्त को पूर्ण स्वरूप-साक्षात्कार हो जाता है। तब उसमें केवल श्रीभगवान् का संग प्राप्त कर लेने की अभिलाषा रहती है। इसी का नाम **योग** है। श्रीगोविन्द के अनुग्रह से ऐसे भक्त का इस संसार में फिर कभी जन्म नहीं होता। **क्षेम** का अर्थ है, श्रीभगवान् का कृपामय संरक्षण। श्रीभगवान् योग द्वारा कृष्णभावना की प्राप्ति में भक्त की सहायता करते हैं और उसके पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो जाने पर दुःखमय बद्धजीवन में फिर गिरने से वे ही उसकी रक्षा करते हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

ये=जो; **अपि**=भी; **अन्य**=दूसरे; **देवताः**=देवताओं को; **भक्ताः**=भक्त; **यजन्ते**=पूजते हैं; **श्रद्धया-अन्विताः**=श्रद्धाभाव से; **ते**=वे; **अपि**=भी; **माम्**=मुझे; **एव**=ही; **कौन्तेय**=हे कुन्तीनन्दन अर्जुन; **यजन्ति**=यज्ञरूप से भजते हैं; **अविधि-पूर्वकम्**=अविधिपूर्वक, अर्थात् अज्ञान से।

अनुवाद

हे अर्जुन ! जो सकाम भक्त श्रद्धासहित अन्य देवताओं को यज्ञ द्वारा उपासते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं; परन्तु उनकी वह आराधना अविधिपूर्वक है, अर्थात् यथार्थ ज्ञान से युक्त नहीं है।।२३।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण का कथन है, 'देवताओं के उपासक अल्पज्ञ हैं, यद्यपि ऐसी उपासना भी अविधि से मेरी ही उपासना है।' उदाहरणार्थ, वृक्ष के मूल का सिंचन करने के स्थान पर जब मनुष्य पत्ते, शाखा आदि को जल से सींचता है, तो वह ऐसा अल्पज्ञता के कारण अथवा विधान के प्रमादवश ही करता है। ऐसे ही, केवल उदर की पूर्ति करने से देह के सभी अंग-प्रत्यंगों की सेवा हो जाती है। परमेश्वर श्रीकृष्ण के सार्वभौम प्रशासन में देवता अलग-अलग पदाधिकारी और निदेशक हैं। प्रजा के लिए राज्य के विधान पालनीय हैं, पदाधिकारियों अथवा निदेशकों के कल्पित विधान नहीं। इसी प्रकार, एकमात्र श्रीभगवान् ही जीवमात्र के आराध्य हैं। श्रीभगवान् की आराधना से उनके विभिन्न पदाधिकारी एवं निदेशक देवता अपने-आप तुष्ट हो जायेंगे। शासन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने वाले अधिकारियों को घूस देना अपराध समझा जाता है। इसी को यहाँ **अविधिपूर्वकम्** कहा है। भाव यह है कि अनावश्यक रूप से देवोपासना करना श्रीकृष्ण को प्रिय नहीं है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

अहम्=मैं; **हि**=ही; **सर्व**=सारे; **यज्ञानाम्**=यज्ञों का; **भोक्ता**=भोक्ता; **च**=और; **प्रभुः**=स्वामी; **एव**=भी (हूँ); **च**=तथा; **न**=नहीं; **तु**=परन्तु; **माम्**=मुझे; **अभिजानन्ति**

=जानते; **तत्त्वेन**=तत्त्व से; **अतः**=इसलिए; **च्यवन्ति**=गिरते हैं; **ते**=वे।

अनुवाद

वास्तव में एकमात्र मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी (लक्ष्य) हूँ। परन्तु वे मेरे इस यथार्थ दिव्य स्वरूप को तत्त्व से नहीं जानते, इसीलिए गिरते हैं, अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं।।२४।।

तात्पर्य

स्पष्ट उल्लेख है कि वेदों में जितने भी प्रकार के यज्ञों का विधान है, उन सबका यथार्थ लक्ष्य श्रीभगवान् को प्रसन्न करना है। **यज्ञ** शब्द श्रीविष्णु का वाचक है। द्वितीय अध्याय में कहा जा चुका है कि कर्म का आचरण यज्ञ अर्थात् श्रीविष्णु की प्रीति के लिए ही करना चाहिए। 'वर्णाश्रमधर्म' नामक मानव संस्कृति की सिद्ध व्यवस्था का प्रयोजन विशेष रूप से श्रीविष्णु का तोषण करना है। अतएव श्रीकृष्ण स्वयं इस श्लोक में कहते हैं, 'मैं सम्पूर्ण यज्ञों का एकमात्र भोक्ता हूँ, क्योंकि मैं परमेश्वर हूँ।'' इस पर भी अल्पज्ञ मनुष्य क्षणभंगुर भोगों के लिए देवोपासना करते हैं। इसी कारण वे संसार में गिरते हैं और जीवन के अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त नहीं हो पाते। यदि किसी को कोई लौकिक इच्छा हो तो उसके लिए भी परमेश्वर श्रीभगवान् से ही याचना करनी चाहिए। यद्यपि इसे शुद्ध भक्ति नहीं कहा जा सकता है; परन्तु फिर भी यह देवोपासना से कहीं श्रेष्ठ है। इससे अभीष्ट सिद्धि हो जायगी।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

यान्ति=प्राप्त होते हैं; **देवव्रताः**=देवताओं की उपासना करने वाले; **देवान्**=देवताओं को; **पितॄन्**=पितरों को; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **पितृव्रताः**=पितरो को पूजने वाले; **भूतानि**=भूतों को; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **भूतेज्याः**=भूतों के उपासक; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **मत्**=मेरे; **याजिनः**=भक्त; **अपि**=ही; **माम्**=मुझ को।

अनुवाद

देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं; भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं, और मेरे भक्त मुझ को ही प्राप्त होते हैं।।२५।।

तात्पर्य

यदि किसी मनुष्य को चन्द्र, सूर्य, आदि लोकों को जाने की कामना हो तो लक्ष्य के अनुसार वैदिक-विधान का पालन करने से अभिलाषित लोक प्राप्त किया जा सकता है। इन विधानों का वेदों के 'दर्शपौर्णमासी' कर्मकाण्ड में विशद वर्णन है। वहाँ नाना लोकों के अधिपति देवताओं की अलग-अलग उपासना का विधान है। इसी प्रकार एक विहित यज्ञ से पितृलोक प्राप्त हो सकता है। ऐसे ही प्रेतलोकों में जाकर यक्ष, रक्ष अथवा पिशाच योनि को प्राप्त किया जा सकता है। पिशाचोपासना को

अभिचार एवं तिमिर इन्द्रजाल कहा जाता है। इस तामसिक विद्या का अभ्यास करने वाले मनुष्य इसे आध्यात्मिकता समझते हैं। परन्तु वास्तव में ये क्रियाएँ पूर्णतया भौतिक हैं। इसी प्रकार जो अनन्य भाव से श्रीभगवान् की आराधना के परायण है, वह शुद्ध भक्त निस्सन्देह वैकुण्ठ और कृष्णलोक को प्राप्त हो जाता है। इस महत्त्वपूर्ण श्लोक से यह सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है कि यदि देवोपासना से स्वर्ग-प्राप्ति हो जाती है, पितरों की पूजा से पितृलोक सुलभ हो जाता है और तिमिर इन्द्रजाल के अभ्यास से प्रेतलोक मिलता है, तो शुद्ध भक्त श्रीकृष्ण के अथवा विष्णु के लोक को प्राप्त क्यों नहीं हो सकता? दुर्भाग्यवश, बहुत से मनुष्यों को श्रीकृष्ण और विष्णु के इन अलौकिक धामों की जानकारी नहीं है और इसी कारण वे बारम्बार संसार में गिरते हैं। निर्विशेषवादी तो 'ब्रह्मज्योति' से भी गिर जाते हैं। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन सम्पूर्ण मानव समाज में इस परम कल्याणकारी ज्ञान का मुक्त वितरण कर रहा है कि **हरे कृष्ण** महामन्त्र का कीर्तन करने मात्र से मनुष्य इस जीवन को सार्थक करते हुए अपने घर—भगवान् के पास लौट सकता है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

पत्रम्=पत्ता; **पुष्पम्**=पुष्प; **फलम्**=फल; **तोयम्**=जल; **यः**=जो; **मे**=मेरे लिए; **भक्त्या**=भक्तिभाव से; **प्रयच्छति**=अर्पण करता है; **तत्**=वह; **अहम्**=मैं; **भक्ति-उपहृतम्**=भक्तिभाव से अर्पण किया हुआ; **अश्नामि**=खाता हूँ; **प्रयतात्मनः**=शुद्धमति भक्त का।

अनुवाद

भक्त प्रेमभक्ति के साथ पत्र, पुष्प, फल, जल आदि जो कुछ भी मेरे अर्पण करता है, उसे मैं प्रीतिसहित खाता हूँ।।२६।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ववर्ती श्लोकों में स्थापित कर चुके हैं कि वे यज्ञों के एकमात्र भोक्ता, परमेश्वर और यथार्थ प्रयोजन हैं। इस श्लोक में उन्होंने बताया है कि कौन-कौन सा समर्पण उन्हें प्रिय है। यदि कोई अन्तःकरण की शुद्धि और जीवन के परम प्रयोजन—प्रेममयी भगवत्सेवा की प्राप्ति के लिए भक्तियोग में तत्पर होने का अभिलाषी हो, तो उसे यह जानना चाहिए कि श्रीभगवान् उससे क्या चाहते हैं। श्रीकृष्ण का प्रेमी उनके लिये उन्हीं पदार्थों का अर्पण करेगा, जो उनके मन के अनुकूल हों; अवाञ्छित अथवा प्रतिकूल वस्तु का अर्पण वह कभी नहीं करेगा। अस्तु, माँस, मछली और अण्डे श्रीकृष्ण के भोग के योग्य नहीं हैं। यदि श्रीकृष्ण इन पदार्थों का अर्पण चाहते, तो वे ऐसा कह देते। इसके विपरीत, उन्होंने स्पष्ट किया है कि उनके लिए पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि पदार्थों का ही अर्पण किया जाय। इस प्रकार के भोग के सम्बन्ध में उनका कहना है कि 'मैं उसे स्वीकार करूँगा।' अतः यह

समझना चाहिए कि वे माँस, मछली और अण्डे स्वीकार नहीं करते। शाक, अन्न, फल, दुग्ध और जल मनुष्य के योग्य आहार हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इनका विधान किया है। इन सात्त्विक पदार्थों के अतिरिक्त हम जो कुछ भी खायेंगे, वह श्रीकृष्ण को भोग नहीं लगाया जा सकता क्योंकि वे उसे स्वीकार नहीं करते। अतएव यदि हम माँस आदि निषिद्ध पदार्थों का अर्पण करेंगे तो यह प्रेममयी भक्ति के प्रतिकूल होगा।

तीसरे अध्याय के तेरहवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने वर्णन किया है कि एकमात्र यज्ञ से शेष बचा अन्न ही शुद्ध होता है। अतएव जो जीवन में अभ्युदय और मायाबन्धन से मुक्ति के अभिलाषी हैं उनके लिए केवल यही अन्न खाने योग्य है। जो अपने अन्न का अर्पण नहीं करते, उनको भगवान् ने उसी श्लोक में पाप खाने वाला कहा है। भाव यह है कि उनके द्वारा खाए अन्न का एक-एक ग्रास उनके लिए मायाजाल में अधिक बन्धनकारी सिद्ध होता है। दूसरी ओर, स्वादु शाकाहारी व्यंजन बनाने और श्रीकृष्ण के चित्र अथवा अर्चा-विग्रह को अर्पित करके वन्दनापूर्वक तुच्छ भेंट को स्वीकार करने के लिए उनसे निवेदन करना जीवन की निरन्तर उन्नति, देह की शुद्धि और शुद्ध चिन्तन के योग्य सूक्ष्म बौद्धिक कोशिकाओं के गठन में सहायक है। सबसे अधिक महत्त्व इस बात का है कि भोग प्रेमपूर्वक लगाया जाय। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के एकमात्र स्वामी हैं; अतएव उन्हें भोजन की कोई आवश्यकता नहीं। फिर भी, जो उन्हें इस रीति से प्रसन्न करना चाहता है, उस मनुष्य के नैवेद्य-अर्पण को वे अंगीकार कर लेते हैं। वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम का भाव ही भोग को बनाने और अर्पण करने की क्रिया का सार है।

निर्विशेषवादी दार्शनिक परमसत्य को हठपूर्वक इन्द्रियशून्य कहते हैं; इसलिए उनके लिए भगवद्गीता का यह श्लोक बुद्धिगम्य नहीं है। उनके लिये यह एक अलंकार-मात्र है अथवा यही सिद्ध करता है कि गीतागायक श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य हैं। सत्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य इन्द्रियों से युक्त हैं। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि उनकी प्रत्येक इन्द्रिय अन्य सब इन्द्रियों का कार्य कर सकती है। श्रीकृष्ण को अद्वय परतत्त्व इसी अर्थ में कहा जाता है। इन्द्रियों के बिना वे सब ऐश्वर्यों में पूर्ण नहीं कहलाते। सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा है कि वे अपरा प्रकृति में सम्पूर्ण जीव-समूह का गर्भाधान करते हैं; ऐसा प्रकृति पर उनके दृष्टिपात से होता है। अतएव इस संदर्भ में श्रीकृष्ण का भोग अर्पण करते हुए भक्त की प्रेममयी प्रार्थना को सुनना भोग को आरोगना ही है। यह स्मरण रखना चाहिए कि वे परतत्त्व हैं, अतएव उनके सुनने, भोजन करने और चखने में कोई भेद नहीं है। जो भक्त श्रीकृष्ण को ठीक उसी प्रकार मानता है, जैसा श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने विषय में वर्णन किया है, अर्थात् जो श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मनोधर्मी नहीं करता है, वही यह समझ सकता है कि अद्वय परतत्त्व श्रीकृष्ण अर्पित भोजन को खाते हैं और इससे उन्हें आनन्द की अनुभूति भी होती है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

यत्=जो; **करोषि**=(तू) करता है; **यत्**=जो भी; **अश्नासि**=खाता है; **यत्**=जो कुछ; **जुहोषि**=हवन करता है; **ददासि**=दान देता है; **यत्**=जो; **यत्**=जो; **तपस्यसि**=तप करता है; **कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र; **तत्**=वह सब; **कुरुष्व**=कर; **मत्**=मेरे; **अर्पणम्**=अर्पण।

अनुवाद

इसलिए हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।।२७।।

तात्पर्य

सारांश में मनुष्य का यह प्रधान कर्तव्य है कि वह अपने जीवन को इस प्रकार ढाल ले कि किसी भी परिस्थिति में श्रीकृष्ण की विस्मृति न हो। प्राणधारण के लिए कर्म करना सब के लिए आवश्यक है, अतएव श्रीकृष्ण यहाँ आदेश दे रहे हैं कि उन्हीं के लिए सारे कर्म करे। जीवन-धारण के लिए भोजन करना पड़ेगा; अतएव श्रीकृष्ण का प्रसाद ही खाय। सभ्य मनुष्य के लिए कुछ धार्मिक कर्मकाण्ड आवश्यक हैं, अतः श्रीकृष्ण की आज्ञा है, 'यह सब मेरे अर्पण कर।' इसका नाम 'अर्चन' है। दान देने की प्रवृत्ति सब में रहती है; श्रीकृष्ण कहते हैं, 'धन का दान मुझे कर।' इसका तात्पर्य है कि सारे संचित धन का सदुपयोग कृष्णभावना आन्दोलन को अधिकाधिक प्रसारित करने में ही करना चाहिए। आजकल ध्यानयोग की पद्धति में लोगों की अभिरुचि अधिक हो रही है; पर इस युग में यह व्यावहारिक नहीं है। परन्तु जो पुरुष जपमाला पर हरेकृष्ण महामन्त्र का जप करते हुए चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण के ध्यान में निमग्न रहने का अभ्यास करता है, वह निश्चित रूप से परम योगी है, जैसा छठे अध्याय में प्रमाण है।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

शुभ=शुभ; **अशुभ**=अशुभ; **फलैः**=फलों से; **एवम्**=इस प्रकार; **मोक्ष्यसे**=मुक्त हो जायगा; **कर्मबन्धनैः**=बन्धन से; **संन्यास**=संन्यास (त्याग) के; **योग**=योग से; **युक्तात्मा**=युक्त मन वाला; **विमुक्तः**=मुक्त हुआ; **माम्**=मुझे (ही); **उपैष्यसि**=प्राप्त होगा।

अनुवाद

इस प्रकार तू सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मफलों से छूट जायगा और फिर इस संन्यासयोग से युक्त चित्तवाला मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।।२८।।

तात्पर्य

आचार्य के आश्रय में कृष्णभावनाभावित कर्म करने के परायण मनुष्य को

युक्त कहा जाता है। श्रील रूप गोस्वामिचरण ने युक्तवैराग्य नामक इस अवस्था का विशद विवेचन किया है।

श्रील रूप गोस्वामिचरण कहते हैं कि जब तक हम इस प्राकृत-जगत् में हैं, तब तक कर्म करना होगा; हम क्रियाहीन कभी नहीं हो सकते। अतएव यदि कर्म किए जायें और उनका फल श्रीकृष्ण को अर्पित कर दिया जाय तो उसे युक्तवैराग्य कहा जायगा। ये संन्यासयोग की क्रियाएँ चित्त रूपी दर्पण का मार्जन कर देती हैं। इसके फलस्वरूप, शनैः शनैः भागवत-पथ पर अग्रसर होता हुआ साधक पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के शरणागत हो जाता है और अन्त में विशिष्ट मुक्तिलाभ करता है। मुक्ति का अर्थ 'ब्रह्मज्योति' से एकत्व को प्राप्त होना नहीं वरन् वह तो श्रीभगवान् के धाम में प्रवेश करना है। स्पष्ट कहा है: **मामुपैष्यसि**—"वह अपने घर — मेरे पास लौट आता है।" मुक्ति पाँच प्रकार की है। परन्तु यहाँ उल्लेख है कि जो सम्पूर्ण जीवन में भगवत्-आज्ञा का पालन करता है, वह भक्त उस अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जहाँ से देह का अन्त होने पर वह भगवद्धाम में प्रविष्ट होकर साक्षात् श्रीभगवान् का संग कर सकता है।

भगवत्सेवा में जीवन समर्पित कर देने के अतिरिक्त जिसकी कोई रुचि नहीं, कोई स्वार्थ नहीं है, वह वास्तव में 'संन्यासी' है। ऐसा मनुष्य सदासर्वदा अपने को श्रीभगवान् का नित्यदास मानता है, भगवत्-संकल्प के आश्रित रहता है। इसलिए वह जो कुछ कर्म करता है, श्रीभगवान् के परितोष के लिये ही करता है। इससे उसके सारे कर्म भगवत्सेवामय बन जाते हैं। वह वेदविहित सकाम कर्म और स्वधर्म को महत्त्व नहीं देता। सामान्य पुरुषों के लिए ही वैदिक स्वधर्म का पालन अनिवार्य है। परन्तु फिर भी पूर्ण रूप से भगवत्सेवानिष्ठ शुद्धभक्त वैदिक विधान के विपरीत आचरण नहीं करता, यद्यपि कभी-कभी ऐसा लगता है।

वैष्णव आचार्यों का कथन है कि मूर्धन्य मनीषी भी शुद्धभक्त के संकल्प और क्रिया-कलाप के भाव को समझ नहीं सकता—**वैष्णवेर क्रिया मुद्रा विज्ञेह न बुझय**। इस प्रकार, जो मनुष्य नित्य-निरन्तर भगवत्सेवा में तत्पर रहता है अथवा सदा इस चिन्तन में निमग्न रहता है कि किस प्रकार भगवान् की सेवा की जाय, वह देह का अन्त होने पर मुक्तिलाभ करता हो, ऐसा नहीं; वह तो वर्तमान में भी पूर्णरूप से मुक्त ही है। उसके लिए अपने घर—भगवद्धाम की प्राप्ति निश्चित है। श्रीकृष्ण के समान वह भी किसी लौकिक आलोचना का विषय नहीं हो सकता।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

समः=सम भाव रखता हूँ; **अहम्**=मैं; **सर्वभूतेषु**=सब जीवों में; **न**=न (कोई); **मे**=मेरा; **द्वेष्यः**=अप्रिय; **अस्ति**=है (और); **न**=न; **प्रियः**=प्रिय (है); **ये**=जो; **भजन्ति**=सेवा करते हैं; **तु**=परन्तु, **माम्**=मेरी; **भक्त्या**=भक्तिभाव से; **मयि**=

मुझ में; ते=वे (हैं); तेषु=उनमें; च=तथा, अपि=भी; अहम्=मैं (हूँ)।

अनुवाद

मैं किसी से द्वेष नहीं करता और न किसी का पक्षपात करता हूँ; जीवमात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे प्रिय मुझमें ही स्थित हैं और मैं भी उनका प्रेमी हूँ, उनमें हूँ।।२९।।

तात्पर्य

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि श्रीकृष्ण का जीवमात्र में समभाव है और कोई भी उनका विशेष प्रिय नहीं है, तो फिर वे अपनी भक्ति में निरन्तर तत्पर रहने वाले भक्तों का विशेष ध्यान क्यों रखते हैं? वास्तव में यह भेदभाव नहीं है; यह तो स्वाभाविक ही है। कोई मनुष्य महादानी हो सकता हैं, परन्तु वह भी अपनी सन्तान में विशेष रुचि रखता है। श्रीभगवान् कहते हैं कि जीवमात्र, चाहे वह किसी भी योनि में क्यों न हो, उनका पुत्र है और इसीलिए वे सम्पूर्ण प्राणियों की आवश्यकताओं की उदारता से पूर्ति करते हैं। वे उस मेघ जैसे हैं जो पाषाण, थल अथवा जल में भेद किये विना सर्वत्र समान रूप से वर्षा करता है। परन्तु भक्त अवश्य उनके विशेष कृपापात्र हैं, अर्थात् श्रीभगवान् विशेषरूप से भक्तवत्सल हैं। उन भक्तों का यहाँ वर्णन है—ये नित्य-निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहते हैं; इसलिए इनकी सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण में दिव्य स्थिति है। 'कृष्णभावना' शब्द से ही प्रकट हो जाता है कि इस प्रकार भावित मति मनुष्य श्रीभगवान् में स्थित जीवन्मुक्त योगी हैं। श्रीकृष्ण ने यहाँ स्पष्ट कहा है: **मयि ते**—'वे मुझ में हैं।' अतएव यह स्वाभाविक है कि भगवान् श्रीकृष्ण की भी उनमें स्थिति है। यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इससे श्रीभगवान् के इन शब्दों का तात्पर्य भी स्पष्ट हो जाता है: **अस्ति न प्रियः, ये भजन्तिः।** 'जीव जिस अनुपात में मेरी शरण लेता है, उसी के अनुसार मैं उसका ध्यान रखता हूँ।' श्रीभगवान् एवं भक्त—दोनों चेतन हैं; इसी से यह चिन्मय रस-विनिमय होता है। इसे स्वर्णमणि न्याव से समझा जा सकता है। मुद्रिका में जड़ित मणि अधिक सुन्दर लगती है। एक साथ होने पर वास्तव में दोनों स्वर्ण और मणि की शोभा बढ़ जाती है। श्रीभगवान् और जीव में शाश्वत् प्रभा है। भगवत्सेवा के उन्मुख जीव स्वर्ण की सी शोभा पाता है; श्रीभगवान् मणि हैं ही। इस प्रकार यह जोड़ी बड़ी अभिराम है। शुद्धान्तःकरण जीव भक्त कहलाते हैं। श्रीभगवान् भी अपने भक्त के भक्त वन जाते हैं। भक्त और भगवान् में इस विनिमय-सम्वन्ध के विना भागवत-दर्शन (सविशेषवाद) तो सिद्ध ही नहीं हो सकता। निर्विशेषवाद में परतत्त्व और जीव में परस्पर कोई रस-विनिमय नहीं है; सविशेषवाद में ऐसा अवश्य है।

यह अति प्रसिद्ध है कि श्रीभगवान् कल्पवृक्ष हैं। सामान्य रूप से माना जाता है कि कल्पवृक्ष की भाँति भगवान् सवकी इच्छापूर्ति करते हैं। परन्तु यहाँ इस तत्त्व का विशेष विवेचन है। यहाँ श्रीभगवान् को अपने भक्तों का पक्षपाती कहा गया है, जो केवल उनकी विशिष्ट भक्तवत्सलता को प्रकट करता है। भक्तों के साथ श्रीभगवान्

के रस-विनिमय को कर्म-सिद्धान्त के आधीन नहीं समझना चाहिए। वह तो उस दिव्य राज्य की वस्तु है, जिसमें श्रीभगवान् एवं उनके भक्त क्रियाशील हैं। भगवद्भक्ति इस प्राकृत-जगत् की क्रिया नहीं है; वह उस वैकुण्ठ-जगत् की वस्तु है, जहाँ सच्चिदानन्द का अधिकार है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

अपि=भी; **चेत्**=यदि; **सुदुराचारः**=अतिशय दुराचारी; **भजते**=भक्तियोग में तत्पर हो जाता है; **माम्**=मेरे; **अनन्यभाक्**=अनन्य भाव से; **साधुः**=सन्त; **एव**=ही; **सः**=वह; **मन्तव्यः**=मानने योग्य है; **सम्यक्**=यथार्थ; **व्यवसितः**=निष्ठा वाला है; **हि**=क्योंकि; **सः**=वह।

अनुवाद

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरी अनन्यभक्ति के परायण हो जाय, तो उसे साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि वह मेरी एकान्त निष्ठारूपी श्रेष्ठ निश्चय वाला है।।३०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में **सुदुराचारः** शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है; इसके अर्थ को भलीभाँति समझना चाहिए। बद्धजीव की क्रियाएँ दो प्रकार की हैं—एक सांसारिक और दूसरी स्वरूपभूता। देह-धारण अथवा समाज और राष्ट्र के विधान के पालन में भिन्न-भिन्न सांसारिक क्रियाएँ होती हैं। बद्धजीवन में भक्तों के लिये भी ये कर्तव्य हैं। इन बद्ध क्रियाओं के अतिरिक्त, जो जीव अपने दिव्य स्वरूप को पूर्ण रूप से जानकर भक्तियोग अथवा कृष्णभावना के परायण हो गया है, वह दिव्य क्रियाओं का सम्पादन भी करता है। इन स्वरूपभूता क्रियाओं को ही भक्तियोग कहते हैं। बद्धावस्था में सामान्यतः भक्तियोगमयी सेवा और देहसम्बन्धी सेवा समानान्तर रूप में एक साथ सम्पादित होती रहती हैं। परन्तु कभी-कभी इन दोनों कार्यों में परस्पर विरोध भी उत्पन्न हो सकता है। भक्त यथासम्भव पूरा ध्यान रखता है कि वह कोई ऐसा कार्य न कर बैठे जिससे उसकी हितावह अवस्था में बाधा आए। वह जानता है कि कृष्णभावना की शनैः-शनैः उत्तरोत्तर अनुभूति पर ही उसकी सम्पूर्ण क्रियाओं की सफलता निर्भर करती है। ऐसा होने पर भी, कदाचित् देखा जाता है कि कृष्णभावनाभावित मनुष्य कोई ऐसा कर्म कर बैठता है, जो समाज अथवा राज की दृष्टि से अति विगर्हित है। परन्तु इस प्रकार के क्षणिक पतन से वह भक्ति के अयोग्य नहीं हो जाता है। 'श्रीमद्भागवत' में कहा है कि जो अनन्यभाव से भगवद्भक्ति के परायण है, वह यदि गिर भी जाय, तो अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरि उसका परिष्कार करके पाप से मुक्त कर देते हैं। माया इतनी प्रबल है कि पूर्ण भगवद्भक्तिनिष्ठ योगी भी कदाचित् उससे ग्रस्त हो जाता है। परन्तु कृष्णभावना अधिक शक्तिसम्पन्न है, जिससे इस प्रकार के प्रासंगिक स्खलन-पतन का तत्काल शोधन हो जाता है। इस प्रकार, भक्तिमार्ग की सफलता नित्यसिद्ध है। यदि

भक्त अकस्मात् आदर्श भागवत पथ से कभी गिर जाय, तो भी कोई उसका उपहास न करे। जैसा अगले श्लोक में स्पष्ट है, उसके पूर्ण कृष्णभावनाभावित होते ही ऐसे आकस्मिक पतन समाप्त हो जायेंगे।

अतएव जो पुरुष कृष्णभावना में स्थित है और निश्चयपूर्वक **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का जप करता है, वह यदि प्रसंगवश अथवा अकस्मात् दुर्घटना के कारण अपनी स्थिति से गिर जाय, तो भी उसे महात्मा ही समझना चाहिए। इस संदर्भ में **साधुरेव** (वह महात्मा) शब्द अति निश्चयात्मक है। इससे अभक्तों को चेतावनी दी गयी है कि वे आकस्मिक पतन के लिए भक्त का उपहास न करें; उसे साधु ही मानें। **मन्तव्यः** शब्द तो और भी अधिक बलपूर्ण है। इस श्लोक के विधान को न मानकर आकस्मिक पतन के लिए भक्त का उपहास करना भगवान् के आदेश की अवहेलना होगी। भक्त में केवल इतनी योग्यता होनी चाहिए कि भक्तियोग में उसकी अनन्य-अचल निष्ठा हो।

चन्द्रमा पर दिखायी देने वाले कलंक से चन्द्रिका प्रतिहत नहीं होती। इसी प्रकार साधुपथ से भक्त का प्रसंगवश गिर जाना उसे पापात्मा नहीं बना देता। परन्तु साथ ही, इस भ्रम में न रहे कि भगवत्-परायण भक्त सब प्रकार के निन्दनीय कर्मों में प्रवृत्त हो सकता है। इस श्लोक का तात्पर्य केवल विषय संसर्ग की प्रबलता के कारण घटित हुई दुर्घटना से है। भगवद्भक्ति करना वस्तुतः माया पर आक्रमण करना है। जब तक भक्त माया से लड़ने में पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हो जाता, तब तक इस प्रकार की दुर्घटनाओं के घटित होने की सम्भावना रहेगी। परन्तु जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, पूर्ण सशक्त हो जाने पर उसका फिर कभी पतन नहीं होता। इस श्लोक की आड़ में पापाचरण करते हुए कोई यह न समझे कि वह तब भी भक्त है। यदि भगवद्भक्ति के साधन से उसका चरित्र शुद्ध नहीं होता तो समझना चाहिए कि वह श्रेष्ठ भक्त नहीं है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

क्षिप्रम्=अति शीघ्र; **भवति**=हो जाता है; **धर्मात्मा**=धर्मपरायण; **शश्वत्-शान्तिम्**=सदा रहने वाली परम शान्ति को; **निगच्छति**=प्राप्त करता है; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **प्रतिजानीहि**=निश्चयपूर्वक घोषणा कर; **न**=कभी नहीं; **मे**=मेरा; **भक्तः**=भक्त; **प्रणश्यति**=नष्ट होता।

अनुवाद

वह शीघ्र धर्मात्मा होकर सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! निश्चयपूर्वक घोषणा कर कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।।३१।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण के इस कथन का अर्थ अन्यथा नहीं लगाना चाहिए। सातवें अध्याय में

श्रीभगवान् कहते हैं कि दुष्ट कर्म करने वाला उनका भक्त नहीं बन सकता। जो भक्त नहीं है, उसमें कोई सद्गुण नहीं होता। इस पर यह प्रश्न शेष रहता है कि स्वेच्छा से या दुर्घटना के कारण पापकर्म में प्रवृत्त हुआ मनुष्य शुद्धभक्त कैसे हो सकता है? वर्तमान सन्दर्भ में यह जिज्ञासा ठीक भी है। जैसा सातवें अध्याय में उल्लेख है, जो दुष्ट सदा भगवद्भक्ति से विमुख रहते हैं, उनमें श्रीमद्भागवत के अनुसार कोई सद्गुण नहीं होता। नवधा भक्ति का साधक सम्पूर्ण प्राकृत दोषों से हृदय को शुद्ध करने में संलग्न है। वह श्रीभगवान् को अपने हृदयकमल पर अभिराजित कर लेता है, जिससे सभी पापमय दोषों का अपने-आप परिमार्जन हो जाता है। निरन्तर भगवच्चिन्तन के प्रभाव से उसका स्वभाव निर्मल बन जाता है। वेदों में विधान है कि परमार्थ के पथ से भ्रष्ट हुआ पुरुष अन्तःकरण की शुद्धि के लिए प्रायश्चित करे। किन्तु यहाँ ऐसा कोई विधान नहीं किया गया है, क्योंकि भक्त के हृदय में निरन्तर भगवच्चिन्तन रूपी शुद्धि का साधन पहले से ही विद्यमान है। अतएव **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का निरन्तर कीर्तन करते रहना चाहिए। इसके द्वारा भक्त की सभी प्रासंगिक पतनों से रक्षा हो जायगी और वह सम्पूर्ण प्राकृत विकारों से सदा मुक्त रहेगा।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

माम्=मेरे; **हि**=निस्सन्देह; **पार्थ**=हे पृथापुत्र अर्जुन; **व्यपाश्रित्य**=अनन्य भाव से शरणागत होकर; **ये**=जो कोई; **अपि**=भी; **स्युः**=हों; **पापयोनयः**=पापयोनि वाले; **स्त्रियः**=स्त्रियाँ; **वैश्याः**=वैश्य; **तथा**=भी; **शूद्राः**=शूद्र; **ते अपि**=वे भी; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **पराम्**=परम; **गतिम्**=गति को।

अनुवाद

हे पार्थ! मेरी शरण होकर तो पापयोनि वाले, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परम गति को प्राप्त हो जाते हैं।।३२।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने इस श्लोक में स्पष्ट घोषणा की है कि भक्तियोग में सभी का समान अधिकार है, इसमें जाति-पाँति का भेद नहीं है। उच्च-निम्न जातियों के भेद देह को अपना स्वरूप समझने से हैं; परन्तु भगवद्भक्त के लिए ऐसा कोई भेदभाव नहीं रहता। परम गति की प्राप्ति में सभी का अधिकार है। श्रीमद्भागवत में कथन है कि अधमयोनि चाण्डाल तक शुद्धभक्त के सत्संग से शुद्ध हो जाते हैं। भगवद्भक्ति एवं शुद्धभक्त की आश्रयता इतनी शक्तिसम्पन्न है कि इनमें ऊँच-नीच जातियों का कोई भेदभाव नहीं है; कोई भी जीव भक्तिमार्ग को ग्रहण कर सकता है। बिल्कुल विद्याहीन मनुष्य भी यदि शुद्धभक्त का आश्रय ग्रहण करे, तो उसके मार्गदर्शन से शुद्ध हो सकता है। प्राकृतिक गुणों के अनुसार मनुष्यों का चार वर्गों में वर्गीकरण किया गया

है—सत्त्वगुणी (ब्राह्मण), रजोगुणी (क्षत्रिय), रजोगुण एवं तमोगुण से युक्त (वैश्य) और तमोगुणी (शूद्र)। इनसे भी अधम मनुष्य पापयोनि चाण्डाल कहलाते हैं। सामान्यतः उच्च वर्ण इन्हें अन्त्यज समझते हैं। पर भगवद्भक्तियोग एवं शुद्धभक्त इतने अधिक समर्थ हैं कि इनकी कृपा से सब नीच वर्ण तक मानव जीवन की परम कृतार्थता को प्राप्त हो सकते हैं। श्रीकृष्ण के शरणागत होने से यह स्थिति सुलभ हो जाती है। अतएव अनन्यभाव से श्रीकृष्ण का आश्रय लिया जाय, यह सभी के लिए अनिवार्य है। ऐसा करने वाला ज्ञानियों और योगियों से कहीं अधिक गौरवान्वित होगा।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

किम्=क्या; **पुनः**=फिर; **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण; **पुण्याः**=सदाचारी; **भक्ताः**=भक्त-जन; **राजर्षयः**=राजर्षि; **तथा**=और; **अनित्यम्**=क्षणभंगुर; **असुखम्**=दुःखमय; **लोकम्**=लोक को; **इमम्**=इस; **प्राप्य**=प्राप्त होकर; **भजस्व**=भज; **माम्**=मुझे (ही)।

अनुवाद

फिर क्या कहना है कि मेरी प्रेमसेवा के परायण पुण्यात्मा ब्राह्मण और राजर्षि परमगति को पाते हैं। इसलिए इस क्षणभंगुर और दुःखमय संसार को प्राप्त होकर मेरा ही भजन कर।।३३।।

तात्पर्य

इस प्राकृत-जगत् में मनुष्यों के विविध वर्ग हैं, परन्तु अन्तिम परिणाम में देखा जाय तो यह किसी के लिए भी सुखद नहीं है। यहाँ स्पष्ट उक्ति है—**अनित्यमसुखं लोकम्**—यह क्षणभंगुर और दुःखमय संसार किसी भी बुद्धिमान् मनुष्य के लिए निवास के योग्य नहीं है। स्वयं श्रीभगवान् ने इस जगत् को अनित्य और दुःखमय कहा है। कुछ दार्शनिक, विशेषरूप से गौण दर्शनवेत्ता कहते हैं कि जगत् मिथ्या है। परन्तु 'भगवद्गीता' से स्पष्ट है कि संसार मिथ्या नहीं है, अपितु अनित्य है। 'अनित्यत्व' और 'मिथ्यापन' में गम्भीर भेद है। यह जगत् अनित्य है, परन्तु एक अन्य नित्य जगत् भी है। यह जगत् दुःखालय है, जबकि वह (वैकुण्ठ-जगत्) सच्चिदानन्दमय है।

अर्जुन का जन्म राजर्षिकुल में हुआ था। अतएव श्रीभगवान् उसका आह्वान करते हुए कहते हैं—'हे अर्जुन! मेरी भक्ति को अंगीकार करके शीघ्र अपने घर—मेरे धाम को लौट आ।' यह दुःखमय जगत् किसी के भी रहने योग्य नहीं है। अतएव जीवमात्र को चाहिए कि भगवान् के परिरम्भण में आसक्त होकर शाश्वत् सुख को प्राप्त हो जाय। भगवद्भक्ति ही सब वर्गों के मनुष्यों के सम्पूर्ण दुःखों को दूर करने का एकमात्र उपाय है। अतएव मनुष्यमात्र कृष्णभावना को अंगीकार कर अपने जीवन को कृतार्थ और सार्थक करे।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

मन्मनाः=मन से नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाला; **भव**=हो; **मत्**=मेरा; **भक्तः**=भक्त (हो); **मत्**=मेरा; **याजी**=पूजन कर; **माम्**=मुझे; **नमस्कुरु**=दण्डवत् प्रणाम कर; **माम्**=मुझको; **एव**=ही; **एष्यसि**=प्राप्त होगा; **युक्त्वा एवम्**=इस प्रकार युक्त होकर; **आत्मानम्**=अपने आत्मा से; **मत्परायणः**=मेरी शरण हुआ।

अनुवाद

मन से नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से मेरा चिन्तन कर, मेरा भक्त बन, मेरा ही पूजन कर और अतिशय प्रेम सहित मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार पूर्ण रूप से मुझमें तन्मय हुआ तू मुझ को ही प्राप्त होगा।।३४।।

तात्पर्य

इस श्लोक में निर्णय है कि इस दूषित प्राकृत-जगत् के बन्धनों से मुक्ति का एकमात्र साधन कृष्णभावना है। यद्यपि यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि सम्पूर्ण भक्तियोग के लक्ष्य श्रीकृष्ण हैं; परन्तु दुर्भाग्यवश, असाधु व्याख्याकार इस अति स्पष्ट तथ्य को तोड़-मरोड़ कर पाठक का चित्त बिल्कुल असाध्य कुपथ में मोड़ देते हैं। ये व्याख्याकार नहीं जानते हैं कि श्रीकृष्ण के चित्त और स्वयं श्रीकृष्ण में भेद नहीं है। श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य नहीं हैं; वे परतत्त्व पुरुषोत्तम हैं। उनके देह, चित्त और स्वयं वे एकतत्त्व हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत, आदिलीला, अध्याय पाँच, श्लोक ४१-४८ पर अपने अनुभाष्य में श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ने 'कूर्म पुराण' में यह प्रमाण उद्धृत किया है: **देह देहि विभेदोऽयं नेश्वरे विद्यते क्वचित्**, अर्थात् परमेश्वर श्रीकृष्ण में और उनके देह में कोई भेद नहीं है। इस कृष्णतत्त्व को न जानने वाले व्याख्याता शब्दों की चातुरी से श्रीकृष्ण को छिपाते हुए कहते हैं कि श्रीकृष्ण का यथार्थ स्वरूप उनके देह और मन से अलग है। ऐसा कहना कृष्णतत्त्व के नितान्त अज्ञान का प्रतीक है, पर कुछ मनुष्य तो इस प्रकार जनता को पथभ्रष्ट करके ही बड़ा भारी धन अर्जित कर लेते हैं।

कुछ आसुरीभाव वाले मनुष्य हैं। वे भी श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं, परन्तु उनका वह चिन्तन कंस की भाँति द्वेषपूर्वक होता है। कंस वैरी-रूप में श्रीकृष्ण के चिन्तन में निरन्तर तन्मय रहता था। उसे सदा यही चिन्ता बनी रहती थी कि कहीं श्रीकृष्ण इसी क्षण उसे मारने न आ जायें। इस प्रकार के प्रतिकूल चिन्तन से लाभ नहीं हो सकता। अतएव श्रीकृष्ण का चिन्तन प्रेमभाव से करे; इसी का नाम 'भक्ति' है। श्रीकृष्णतत्त्व का नित्य अनुकूल अनुशीलन (सेवन) करते रहना चाहिए। प्रामाणिक गुरु के आश्रय में शिक्षा ग्रहण करना ही श्रीकृष्णतत्त्व का अनुकूल अनुशीलन (सेवन) है। हम बहुधा विवेचन कर चुके हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, उनका विग्रह प्राकृत नहीं है, सच्चिदानन्दघन है। इस प्रकार की वार्ता भक्त बनने में सहायक है। दूसरी ओर, अवाँछित व्यक्तियों से श्रीकृष्ण के तत्त्व को समझना निरर्थक है।

अस्तु, चित्त को श्रीकृष्ण के नीलोत्पलश्यामल सर्वगुणनिलय माधुर्य-सार-सर्वस्व, आद्य, नित्य श्रीविग्रह में ही निवेशित रखे और श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं—इस हार्दिक विश्वास के साथ उनकी पूजा में तत्पर रहे। इस भक्तियोग का एक अंग श्रीकृष्ण को प्रणाम करना है। भगवत्-विग्रह के सामने दण्डवत् प्रणाम करते हुए चित्त, देह और क्रिया-कलाप, आदि सब कुछ श्रीकृष्ण के परायण कर देना चाहिए। इससे श्रीकृष्ण में अविचल तन्मयता हो जायगी और अन्त में कृष्णलोक की प्राप्ति भी सुलभ होगी। असाधु व्याख्याकारों की वाग्चातुरी से पथभ्रष्ट न होकर श्रीकृष्ण के श्रवण, कीर्तन, आदि नवधा भक्ति के साधनों में निष्ठ रहे। यह शुद्ध कृष्णभक्ति मानव समाज की परम उपलब्धि है।

सातवें और आठवें अध्याय में ज्ञानयोग, ध्यानयोग और सकाम कर्मों से स्वतन्त्र, शुद्धभक्तियोग का प्रतिपादन है। जो पूर्णरूप से शुद्ध नहीं हुए हैं, वे ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति, एकदेशीय परमात्मा आदि श्रीभगवान् के अन्यान्य रूपों की ओर आकृष्ट होते हैं। शुद्धभक्त तो सीधे भगवत्-सेवा का पथ अंगीकार कर लेता है।

श्रीकृष्ण विषयक एक अति मधुर कविता में उल्लेख है कि जो देवोपासना करता है, वह मनुष्य परम अज्ञानी है; उसे भक्ति के परम फल—श्रीकृष्ण की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। यद्यपि भक्तियोग के प्रारम्भिक साधक (कनिष्ठ भक्त) का कदाचित् पतन हो सकता है, फिर भी वह सब दार्शनिकों और योगियों से उत्तम मान्य है। जो नित्य निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहता हो, वह निस्सन्देह परम सन्त है। उसके द्वारा प्रसंगवश बनने वाली भक्ति की प्रतिकूल क्रियाएँ शनैः-शनैः समाप्त हो जायेंगी और वह शीघ्र ही परम संसिद्धि को प्राप्त कर लेगा। शुद्धभक्त के पतन का तो वस्तुतः प्रश्न ही नहीं बनता, क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं अपने शुद्धभक्त का ध्यान रखते हैं। अतएव बुद्धिमान् पुरुष को इस कृष्णभावना-वीथि को अवश्य अंगीकार करना चाहिए। तब वह प्राकृत जगत् में सुख से रह सकता है। उसे यथासमय श्रीकृष्ण रूपी परम फल की प्राप्ति हो जायगी।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये नवमोऽध्यायः।।

अथ दशमोऽध्यायः

विभूतियोग

(श्रीभगवान् का ऐश्वर्य)

श्रीभगवानुवाच।
भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **भूयः**=फिर; **एव**=निःसन्देह; **महाबाहो**=हे महाबाहु अर्जुन; **शृणु**=सुन; **मे**=मेरे; **परमम्**=परम; **वचः**=वचन को; **यत्**=जो; **ते**=तुझे; **अहम्**=मैं; **प्रीयमाणाय**=अपना प्रिय समझ कर; **वक्ष्यामि**=कहता हूँ; **हितकाम्यया**=तेरे कल्याण के लिए।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे सखे! हे महाबाहु अर्जुन! मेरे परम वचन को फिर सुन, जो मैं तुझे अपना प्रिय समझकर तेरे कल्याण के लिये कह रहा हूँ और जिसे सुनकर तू अतिशय आनन्द का अनुभव करेगा।।१।।

तात्पर्य

पराशर मुनि के अनुसार जो समग्र बल, समग्र यश, समग्र ऐश्वर्य, समग्र ज्ञान, समग्र श्री और समग्र वैराग्य—इन छः ऐश्वर्यों से युक्त हो, उसे भगवान् कहते हैं। पृथ्वी पर अपने अवतरण के समय श्रीकृष्ण ने इन षडैश्वर्यों का पूर्ण प्रकाश किया

था। अतएव पराशर आदि सब महर्षियों ने श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् माना है। अब श्रीकृष्ण स्वयं श्रीमुख से अर्जुन को अपने ऐश्वर्य और कार्य-कलाप के विशेष गोपनीय ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं। सातवें, आठवें और नौवें अध्यायों में वे अपनी शक्तियों और उनके कार्यों का निरूपण कर चुके हैं; अब इस अध्याय में अर्जुन के लिए अपने विशिष्ट ऐश्वर्यों का वर्णन करते हैं। भक्ति को दृढ़ निष्ठा सहित स्थापित करने के लिए पिछले अध्याय में अपनी विविध शक्ति का विवेचन करने के बाद अब इस अध्याय में वे फिर अर्जुन को अपनी नाना विभूतियों और ऐश्वर्यों का वर्णन सुनाते हैं।

श्रीभगवान् की कथा का जितना अधिक श्रवण किया जाता है, उतनी ही भक्ति में निष्ठा बढ़ती है। अतएव भक्तों के संग में भगवत्-कथा को नित्य सुनना चाहिए: इससे भक्तियोग में अवश्य उन्नति होगी। कृष्णभावना की प्राप्ति के यथार्थ लोलुप ही भक्तगोष्ठी में भागवती-वार्ता का आस्वादन कर सकते हैं; दूसरों का इसमें प्रवेश नहीं हो सकता। श्रीभगवान् अर्जुन से स्पष्ट कहते हैं कि वह उनका प्रेमभाजन है, इसीलिए उसके कल्याण की भावना से वे गीतामृत का परिवेषण कर रहे हैं।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

न=नहीं; **मे**=मेरे; **विदुः**=जानते; **सुरगणाः**=देवता; **प्रभवम्**=ऐश्वर्यमय आविर्भाव को; **न**=न; **महर्षयः**=महर्षि (ही जानते); **अहम्**=मैं; **आदिः**=आदि (हूँ); **हि**=क्योंकि; **देवानाम्**=देवताओं का; **महर्षीणाम्**=महर्षियों का; **च**=भी; **सर्वशः**=सब प्रकार से।

अनुवाद

मेरे आविर्भाव को न तो देवता जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों का भी आदिकारण हूँ।।२।।

तात्पर्य

'ब्रह्मसंहिता' से प्रमाण है कि भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं; उनसे बड़ा कोई नहीं है, वे सब कारणों के परम कारण हैं। यहाँ श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं कि वे सब देव-महर्षियों के आदिकारण हैं। अतएव ये देवता और महर्षि तक श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान नहीं सकते। वे न तो उनके नाम के तत्त्व को समझ सकते हैं और न ही उनके स्वरूप को जानने में समर्थ हैं। फिर इस तुच्छ लोक के नाममात्र के विद्वानों के सम्बन्ध में कहना ही क्या? नररूप में पृथ्वी पर अवतरित होकर नरवत् परम अद्भुत कार्य करने में श्रीभगवान् का क्या प्रयोजन है, यह कोई नहीं समझ सकता। इससे यह जान लेना चाहिये कि श्रीकृष्ण के तत्त्वबोध के लिये विद्वत्ता की योग्यता नहीं चाहिए। मनोधर्मी से श्रीकृष्ण के तत्त्व को समझने के प्रयास में तो देवता और महर्षि भी विफल ही रहते हैं। श्रीमद्भागवत में स्पष्ट उक्ति है कि बड़े से बड़े देवता भी श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जान सकते। अपनी दोषमयी इन्द्रियों की सीमा तक मनोधर्म करके वे

त्रिगुणातीत निर्विशेष रूपी विपरीत निर्णय पर पहुँच सकते हैं अथवा कोई मनमानी कल्पना कर सकते हैं; परन्तु ऐसी मूर्खतापूर्ण मनोधर्मी से श्रीकृष्ण को कभी नहीं जाना जा सकता।

इस कथन के रूप में मानो श्रीभगवान् परतत्त्व के जिज्ञासुओं का आह्वान करते हुए कह रहे हैं, 'यहाँ विद्यमान मैं भगवान् ही परमसत्य हूँ।' सत्य जानना नितान्त आवश्यक है। साक्षात् विराजमान अचिन्त्य शक्तिशाली श्रीभगवान् होते हुए भी चाहे उनका तत्त्व साधारण मनुष्य न समझ पायें; पर फिर भी उनका अस्तित्व तो है ही। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत रूपी श्रीभगवान् के वचनामृत में अवगाहन करने मात्र से श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्द तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। शुद्धसत्त्व में स्थित हुए विना श्रीभगवान् का तत्त्वबोध नहीं हो सकता, जबकि निर्विशेष ब्रह्म की अनुभूति तो मायामोहित मनुष्यों को भी हो जाया करती है।

अधिकांश मनुष्यों के लिए श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानना सम्भव नहीं है। अतएव अपनी अहैतुकी करुणा से प्रेरित हुए भगवान् इन मनोधर्मियों को निरवधि कृपा-कादम्बिनी से आप्यायित करने के लिए अवतीर्ण होते हैं। परन्तु श्रीभगवान् की परम विलक्षण लीलाओं को देखने पर भी ये मनोधर्मी माया-संसर्ग से उत्पन्न दोषवश निर्विशेष ब्रह्म को ही परात्पर मानते हैं। एकमात्र पूर्ण शरणागत भगवद्भक्त भगवत्-कृपा से जान सकते हैं कि श्रीकृष्ण परात्पर हैं। भक्त ईश्वर की निर्विशेष ब्रह्म धारणा को बिल्कुल ठुकरा देते हैं; उनकी श्रद्धा और भक्तिभावना उन्हें तुरन्त श्रीकृष्ण की शरण में पहुँचा देती है; श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपा से वे उन्हें जान जाते हैं। दूसरा कोई उन्हें नहीं जान सकता। अतएव महर्षिजन भी आत्मा और परतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में एकमत हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण ही सबके आराध्य हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

यः=जो; **माम्**=मुझे; **अजम्**=अजन्मा; **अनादिम्**=अनादि; **च**=तथा; **वेत्ति**=जानता है; **लोकमहेश्वरम्**=सम्पूर्ण लोकों का परमेश्वर; **असंमूढः**=ज्ञानी (है); **सः**=वह; **मर्त्येषु**=मनुष्यों में; **सर्वपापैः**=सब पापों से; **प्रमुच्यते**=मुक्त हो जाता है।

अनुवाद

जो मुझे अजन्मा अनादि और सम्पूर्ण लोकों का परमेश्वर तत्त्व से जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।।३।।

तात्पर्य

सातवें अध्याय में उल्लेख के अनुसार, परमार्थ के पथ पर अग्रसर होने के लिये प्रयत्न करने वाले मनुष्य साधारण नहीं होते। वे उन करोड़ों मनुष्यों से कहीं श्रेष्ठ हैं, जिन्हें भगवत्प्राप्ति का कोई बोध नहीं है। अपने दिव्य स्वरूप को जानने में तत्पर हुए इन साधकों में जो पुरुष वास्तव में जानता है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान्, सब लोकों

के परमेश्वर और अजन्मा हैं, वह अध्यात्म-साक्षात्कार में सबसे सफल समझा जाता है। उस अवस्था में श्रीकृष्ण की परम सत्ता को पूर्ण रूप से जान जाने पर ही पूर्ण रूप से पापमुक्त हुआ जा सकता है।

यहाँ **अजम्** ('अजन्मा') का अर्थ द्वितीय अध्याय में जीवात्मा के लिए आए 'अजम्' शब्द से भिन्न है। जीवात्मा विषयासक्ति के परवश हुए बारंबार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं, जबकि श्रीभगवान् में ऐसा नहीं है। जीव देहान्तर करते हैं, पर श्रीभगवान् के विग्रह में परिवर्तन नहीं होता। प्राकृत-जगत् में अवतीर्ण होने पर भी वे अजन्मा हैं। इसी से चौथे अध्याय में कहा है कि भगवान् अपनी आत्ममाया के प्रभाव से अपरा प्रकृति के वश में कभी नहीं आते; वे नित्य परा प्रकृति में अवस्थित हैं।

वे सृष्टि से पूर्व थे, इसलिए अपनी इस सृष्टि से भिन्न हैं। ब्रह्मादि सब देवताओं का इस प्राकृत-जगत् के अन्तर्गत सृजन हुआ, परन्तु श्रीकृष्ण नित्य अजन्मा हैं। यही कारण है कि वे ब्रह्मा, शिव आदि महादेवों से भी सर्वथा श्रेष्ठ हैं। वस्तुतः ब्रह्मा, शिव आदि सम्पूर्ण देव-समूह के स्रष्टा होने के कारण वे सब लोकों के परमेश्वर हैं।

श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि से विलक्षण हैं। उनके इस तत्त्व को जानने वाला तत्क्षण सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। भगवत्-ज्ञान की प्राप्ति के लिए पापों से पूर्ण मुक्त हो जाना आवश्यक है। जैसा भगवद्गीता में कथन है, केवल भक्ति से श्रीभगवान् को जाना जा सकता है, किसी और विधि से नहीं।

श्रीकृष्ण में मनुष्यबुद्धि कभी न करे। पूर्वकथन के अनुसार, मूढ़ मनुष्य ही उन्हें मनुष्य समझने की भूल करता है। प्रकारान्तर से, यहाँ इसी तत्त्व का प्रतिपादन है। जो मूढ़ नहीं है, अर्थात् जिसमें भगवत्-स्वरूप को जानने के लिये पर्याप्त बुद्धि है, वह मनुष्य पाप से नित्यमुक्त है।

यदि श्रीकृष्ण देवकीनन्दन हैं तो फिर अजन्मा कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर श्रीमद्भागवत में है। वसुदेव-देवकी के सम्मुख वे सामान्य बालक के समान प्रकट नहीं हुए थे। अपने विष्णु रूप में प्रकट होकर ही उन्होंने सामान्य सा बालरूप धारण किया।

श्रीकृष्ण के आज्ञानुसार जो भी कर्म किया जाता है, वह दिव्य होता है। वह शुभ-अशुभ प्राकृत फलों से दूषित नहीं हो सकता। प्राकृत-जगत् की वस्तुओं में शुभ-अशुभ की धारणा एक प्रकार का मनोधर्म ही है, क्योंकि इस जगत् में ऐसा कुछ नहीं है जिसे शुभ कहा जा सके। यहाँ सब कुछ अशुभ है, क्योंकि स्वयं प्राकृत आवरण परम अशुभ है। हमने इसमें केवल मंगल (शुभ) की कल्पना सी कर ली है। सच्चा मंगल तो केवल पूर्ण भक्ति और सेवाभाव से युक्त कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में है। अतएव यदि हमें कुछ भी इच्छा हो कि हमारी क्रियाएँ मंगलदायक हों, तो श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार कार्य करना चाहिए। श्रीभगवान् की आज्ञा श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता आदि सत्-शास्त्रों और सद्गुरु से प्राप्त होती है। गुरु श्रीभगवान् के प्रकाश हैं, अतएव उनकी आज्ञा साक्षात् भगवान् की आज्ञा है। गुरु,

साधु और शास्त्र एक मार्ग का निर्देश करते हैं। इन तीनों में अन्तर्विरोध नहीं है। इनके निर्देश में सम्पादित सारे कर्म संसार के शुभ-अशुभ कर्मफल से मुक्त रहते हैं। भक्तजन संन्यास के दिव्य भाव से कर्म करते हैं। जो भगवत्-आज्ञा का अनुगमन करते हुए कर्म करता है, वह वास्तव में संन्यासी ही है; केवल संन्यासी का वेष धारण करनेवाला अथवा कपट-योगी संन्यासी नहीं है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।४।।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

बुद्धिः=बुद्धि; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **असंमोहः**=संशय से मुक्ति; **क्षमा**=क्षमा; **सत्यम्**=सत्य; **दमः**=इन्द्रियों का संयम; **शमः**=मन का संयम; **सुखम्**=सुख; **दुःखम्**=दुःख; **भवः**=जन्म; **अभावः**=मृत्यु; **भयम्**=भय; **च**=तथा; **अभयम्**=निर्भयता; **एव**=निःसन्देह; **च**=तथा; **अहिंसा**=अहिंसा; **समता**=समभाव; **तुष्टिः**=सन्तोष; **तपः**=तपस्या; **दानम्**=दान; **यशः**=यश; **अयशः**=अपयश; **भवन्ति**=होते हैं; **भावाः**=भाव; **भूतानाम्**=जीवों के; **मत्तः**=मुझ से; **एव**=ही; **पृथग्विधाः**=नाना प्रकार के।

अनुवाद

बुद्धि, ज्ञान, संशय और मोह का अभाव, क्षमाभाव, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, मन की सौम्यता, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश आदि जीवों के सब नाना प्रकार के भाव मुझ से ही होते हैं।।४-५।।

तात्पर्य

यहाँ वर्णित जीव के सब अच्छे-बुरे गुणों की रचना श्रीकृष्ण ने की है।

बुद्धिः का अर्थ सूक्ष्मार्थ विवेचन की सामर्थ्य है और **ज्ञान** का अर्थ है चित् और अचित् वस्तु का तत्त्वबोध। विश्वविद्यालय की शिक्षा से प्राप्त होने वाला सामान्य ज्ञान केवल जड़ अनात्मा से सम्बन्ध रखता है। अतएव उसे यहाँ ज्ञान नहीं कहा गया है, क्योंकि आत्मा और अनात्मा में भेद का बोध ही यथार्थ ज्ञान है। आधुनिक शिक्षा में आत्मा का ज्ञान नहीं है। केवल भौतिक तत्त्वों और शारीरिक आवश्यकताओं की परिचर्या में संलग्न होने के कारण विश्वविद्यालय की शिक्षा एकांगी और अपूर्ण है।

***असंमोहः** अर्थात् संशय एवं भ्रम का अभाव।* इसकी प्राप्ति संकोच त्याग कर भागवतधर्म को समझने से होती है। इस पद्धति से मनुष्य शनैः-शनैः निश्चित रूप से मायामुक्त हो जाता है। किसी भी विषय में अन्धविश्वास करना ठीक नहीं। गम्भीर विचार करने के बाद ही किसी मान्यता को स्वीकार करना उचित है। **क्षमा**

का अभ्यास करते हुए दूसरों के साधारण अपराधों की उपेक्षा कर देनी चाहिए। **सत्यम्** का अर्थ तथ्य को विकृत किये विना दूसरों के हित के लिये यथार्थ भाषण करना है। लोक-परिपाटी के अनुसार सत्य का भाषण तभी करना चाहिए, जब वह दूसरों को प्रिय लगे। परन्तु यह सत्य का यथार्थ स्वरूप नहीं है। सीधे-सरल भाव से सत्यभाषण करना चाहिए, जिससे सुनने वाले यथार्थ रूप में तथ्य को जान सकें। किसी को चोर से सावधान करना सत्यभाषण के ही अन्तर्गत है। अतएव यह आवश्यक है कि अप्रिय होने पर भी सत्य बोलने में संकोच न करे। परहित के लिए यथार्थ वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करना ही वास्तव में सत्यभाषण है।

दमः का अर्थ है कि इन्द्रियों से अनावश्यक विषयभोग नहीं करना चाहिए। इन्द्रियों की उचित आवश्यकता की पूर्ति का निषेध नहीं है; पर यह अवश्य है कि आवश्यकता से अधिक इन्द्रियतृप्ति करने से परमार्थ में बाधा पड़ती है। अतएव अनावश्यक विषयभोग से इन्द्रियों का संयम करना चाहिए। इसी प्रकार, चित्त का व्यर्थ चिन्तन से संयम करना है। इसे **शमः** कहते हैं। धनोपार्जन की चिन्ता में भी समय को नष्ट न करे; इससे शक्ति का दुरुपयोग होता है। जीवन का सदुपयोग इसी में है कि चित्त से मनुष्य जीवन के मुख्य प्रयोजन की जिज्ञासा की जाय। शास्त्रज्ञों, साधुओं, गुरुजनों और मनीषियों के सत्संग में चित्त की विचार-शक्ति का सन्मार्ग की ओर विकास करना चाहिए। **सुखम्** (सुख) का अनुभव उसी पदार्थ या परिस्थिति में हो, जो कृष्णभावनारूप दिव्य ज्ञान के अनुशीलन (सेवन) में सहायक हो। दूसरी ओर, जो प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थिति कृष्णभावना के प्रतिकूल हो, उसे दुःखदायी समझना चाहिए। जो कुछ भी कृष्णभावना को विकसित करने में सहायक हो, उसे ग्रहण करे और जो कृष्णभावना के प्रतिकूल हो, उसे त्याग दे।

भवः, अर्थात् जन्म का सम्बन्ध देह से है। आत्मा का न तो जन्म होता है और न मृत्यु होती है, यह गीता के आदि में कहा जा चुका है। अतएव जन्म-मृत्यु का सम्बन्ध प्राकृत-जगत् के बन्धन से ही है। भय का कारण भविष्य के लिए चिन्ता करना है। कृष्णभावनाभावित पुरुष सर्वथा निर्भय हो जाता है, क्योंकि अपने सत्कर्मों के प्रताप से उसके लिए वैकुण्ठ धाम की प्राप्ति निश्चित है। उसका भविष्य अतिशय उज्ज्वल है। दूसरे अपने भावी जीवन के विषय में कुछ नहीं जानते; इसलिए नित्य-निरन्तर उद्वेग से पीड़ित रहते हैं। श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानकर कृष्णभावनाभावित हो जाना इस प्रकार के उद्वेग से मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है। ऐसा करने वाला पूर्णतया निर्भय हो जायगा। श्रीमद्भागवत के अनुसार, माया से मोहित होने के कारण ही हमें भय की प्राप्ति होती है। जो माया के बन्धन से मुक्त हो चुके हैं, जिन्हें यह विश्वास है कि वे प्राकृत देह से भिन्न भगवान् के दिव्य अंश हैं और इसलिए जो चिन्मय भगवत्सेवा के परायण हैं, उन भक्तों के लिये भय का कोई कारण नही रहता। उनका भविष्य भी परम उज्ज्वल है। वास्तव में एकमात्र कृष्णभावनाभावित पुरुष ही अभय-पद **अभयम्** को पाते हैं।

अपने किसी कर्म से दूसरों को पीड़ित अथवा व्याकुल न करने का नाम **अहिंसा** है। राजनीतिज्ञों, समाजवादियों, परोपकारियों की लौकिक क्रियाएँ इसीलिए कल्याणकारी सिद्ध नहीं होतीं, क्योंकि वे आत्म-दृष्टि से विहीन हैं। वे तो वास्तव में यह जानते ही नहीं कि मानवसमाज के लिये वास्तव में क्या कल्याणकारी है और क्या नहीं। **अहिंसा** सिद्धान्त का अभिप्राय जनता को इस रीति से सिखाना है, जिससे मानव शरीर का सब प्रकार सदुपयोग हो सके। मानव देह का एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति करना है। अतएव जिन कार्य-कलापों से इस लक्ष्य की दिशा में उन्नति न हो, वे सब मानव-देह की हिंसा करते हैं। अहिंसा तो वह साधन है, जिससे जनसाधारण के लिये भावी आध्यात्मिक सुख हो।

समता का अर्थ राग-द्वेष से मुक्ति है। न गाढ़ राग अच्छा है और न अत्यधिक द्वेष होना ही उत्तम है। इस प्राकृत-जगत् में राग और द्वेष, दोनों ही से मुक्त रहना सर्वोत्तम नीति है। कृष्णभावना के अनुकूल प्राणी-पदार्थों को अंगीकार कर लेना और इसके प्रतिकूल सम्पूर्ण वस्तुओं को त्याग देना—इसी का नाम **समता** है। कृष्णभावनाभावित पुरुष किसी भी वस्तु का ग्रहण-त्याग स्वेच्छा से नहीं करता; वह वस्तु कृष्णभावना के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल है—इसके आधार पर ही उसे अपनाता या त्यागता है।

तुष्टिः अर्थात् सन्तोष का तात्पर्य है कि अनर्थकारी क्रियाओं के द्वारा अधिकाधिक विषयभोग जोड़ने का लोभ न करे। भगवत्कृपा से जो कुछ मिले, उसी में सन्तोष का अनुभव करना चाहिए। **तपः** के सम्बन्ध में वेदों में अनेक विधि-विधान हैं, जैसे ब्राह्ममुहूर्त में शयन-त्याग, स्नान करना, इत्यादि। ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा-त्याग करने में कभी-कभी अतीव कष्ट सा होता है। इस प्रकार के कष्टों को स्वेच्छापूर्वक सहन करना तप है। इसी प्रकार, कुछ दिवसों में उपवास रखने का विधान है। इच्छा न होने पर भी कृष्णभावना में प्रगति के दृढ़ उद्देश्य को लेकर उपवास जैसे शास्त्र-विहित शारीरिक कष्टों को प्रसन्नता के साथ सहन करना चाहिये। परंतु ऐसा उपवास करना ठीक नहीं, जो निष्प्रयोजन हो अथवा जो वेदविरुद्ध हो, जैसे किसी राजनीतिक उद्देश्य के लिए उपवास करना। भगवद्गीता में इस प्रकार के व्रत को तामसी कहा गया है। यह सिद्धान्त है कि तामसी अथवा राजसी कर्म से पारमार्थिक उन्नति नहीं हो सकती। एकमात्र सात्त्विक कर्मों से ही उन्नति होती है। वैदिक विधान के अनुसार उपवास करना ज्ञान के विकास में विशेष सहायक है।

दानः के सम्बन्ध में शास्त्र की आज्ञा है कि आय का आधा भाग सत्कार्य में लगाना चाहिए। कृष्णभावनाभावित कर्म ही यथार्थ सत्कर्म है—वास्तव में सर्वोत्तम है। श्रीकृष्ण सत्स्वरूप हैं, इसलिए उनका निमित्त भी सत्स्वरूप है। अतएव दान कृष्णभावना-परायण मनुष्य को करना चाहिए। वैदिक शास्त्रों के अनुसार, ब्राह्मण दान के पात्र हैं। यह परिपाटी आज भी प्रचलित है, यद्यपि इसका स्वरूप वैदिक-विधान से प्रायः भ्रष्ट हो गया है। फिर भी, विधान है कि दान ब्राह्मणों को

ही करे, क्योंकि वे अध्यात्म ज्ञान के गम्भीर अनुशीलन में तत्पर रहते हैं। ब्राह्मण का कर्तव्य है कि अपना सारा जीवन ब्रह्मजिज्ञासा करने में उत्सर्ग कर दे। ब्रंहाजन वह है जो ब्रह्म का ज्ञाता हो; वही ब्राह्मण कहलाने के योग्य है। ब्राह्मणों को दान किया जाता है, क्योंकि नित्य भगवत्सेवा में लगे रहने से वे स्वयं धन का अर्जन नहीं कर सकते। वैदिक विधान में संन्यासी भी दान का सत्पात्र है। साधु द्वार-द्वार पर मधुकरी करते हैं। वे ऐसा धन-प्राप्ति के लिये नहीं करते; वरन् उनका उद्देश्य प्रचार करना है। यह पद्धति है कि वे द्वार-द्वार पर जाकर गृहस्थों को प्रगाढ़ अज्ञान-निद्रा से जगाते हैं। कुटुम्ब के प्रपंच में फंसे गृहस्थों को अपने जीवन के इस लक्ष्य का विस्मरण हो गया है कि हृदय में सोयी कृष्णभावना को उद्‌बुद्ध करना है। अतः संन्यासियों का कर्तव्य बनता है कि भिक्षा के लिए उनके घरों में जाकर उनमें कृष्णभावना का संचार करें। वेद आह्वान कर रहे हैं कि जागृत होकर मानव योनि के प्रयोजन को सिद्धकर लेना चाहिये। संन्यासी इसी ज्ञान और साधन-पद्धति का प्रचार करते हैं। अतएव इन संन्यासी, ब्राह्मण, आदि सत्पात्रों को ही दान करना चाहिए; स्वेच्छापूर्वक जिस-किसी को नहीं।

यशः का स्वरूप श्रीचैतन्य महाप्रभु के अनुसार होना चाहिये। उनका कहना है कि जो मनुष्य शुद्धभक्त के रूप में प्रख्यात हो जाता है, उसे शाश्वत् यश की प्राप्ति होती है। यही सच्चा यश है और कृष्णभावनाभावित महापुरुष ही यथार्थ में यशस्वी है। जिसे यह यश नहीं है, वह कलंकित **(अयशः)** है।

उपरोक्त सारे गुण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मानव और देव समाजों में प्रकट रहते हैं। अन्य लोकों में रहने वाले नाना प्रकार के मनुष्यों में भी इनकी अभिव्यक्ति है। कृष्णभावना में उन्नति के अभिलाषी के लिए श्रीकृष्ण इन गुणों का सृजन करते हैं, जिससे साधक अपने अन्तर में उन्हें स्वयं विकसित कर लेता है। भाव यह है कि भगवान् के विधान के अनुसार भगवद्भक्ति-परायण मनुष्य में सम्पूर्ण सद्‌गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

हम जो कुछ अच्छा-बुरा देखते हैं, श्रीकृष्ण उस सब के मूल हैं। इस संसार में अभिव्यक्त होने वाला ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो श्रीकृष्ण में स्थित न हो। इसका नाम ज्ञान है। वस्तुओं में परस्पर भेद होते हुए भी हमें यह जान लेना चाहिये कि सब कुछ श्रीकृष्ण से ही आता है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

महर्षयः=महर्षि; **सप्त**=सात; **पूर्वे**=पूर्व में होने वाले; **चत्वारः**=चार; **मनवः**=मनु; **तथा**=भी; **मद्भावाः**=मुझ से उत्पन्न; **मानसाः**=संकल्प से; **जाताः**=उत्पन्न हुए हैं; **येषाम्**=जिनकी; **लोके**=लोकों में; **इमाः**=यह सम्पूर्ण; **प्रजाः**=प्रजा है।

अनुवाद

सात महर्षि, चार उनसे भी पूर्व में होने वाले सनकादि और चौदह मनु—ये सब मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं और मेरे ही चिन्तन के परायण हैं, जिनकी संसार में यह सम्पूर्ण प्रजा है।।६।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् संसार की प्रजा का आनुवंशिक वर्णन कर रहे हैं। ब्रह्मा उन परमेश्वर की हिरण्यगर्भ नामक शक्ति से जन्मे प्रथम जीव हैं। यथासमय ब्रह्मा से सात महर्षि, चार उनसे भी पूर्व के सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार नामक महर्षि, और मनु प्रकट होते हैं। यही पच्चीस महर्षि ब्रह्माण्डवर्ती सम्पूर्ण प्राणियों के प्रजापति हैं। ब्रह्माण्ड असंख्य हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में असंख्य लोक हैं। प्रत्येक लोक विविध योनियों के प्राणियों से परिपूर्ण है। इन सब का जन्म पच्चीस प्रजापतियों से होता है। ब्रह्मा को एक हजार दिव्य वर्षों तक तपस्या करने के बाद श्रीकृष्ण की कृपा से सृष्टि करने की विधि का ज्ञान हुआ था। फिर उनसे सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार, रुद्र और सात महर्षि आदि उत्पन्न हुये। इस प्रकार श्रीभगवान् की शक्ति ही ब्राह्मणों और क्षत्रियों आदि की उत्पत्ति का कारण है। इसीलिए ग्यारहवें अध्याय (११.३९) में ब्रह्मा को पितामह और श्रीकृष्ण को **प्रपितामह** कहा है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

एताम्=इस सम्पूर्ण; **विभूतिम्**=ऐश्वर्य; **योगम् च**=योग शक्ति को भी; **मम**=मेरी; **यः**=जो; **वेत्ति**=जानता है; **तत्त्वतः**=तत्त्व से; **सः**=वह; **अविकल्पेन**=अनन्य; **योगेन**=भक्तियोग से; **युज्यते**=युक्त हो जाता है; **न**=नहीं है; **अत्र**=इस में; **संशयः**=शंका।

अनुवाद

जो मेरे इस ऐश्वर्य और योगशक्ति को तत्त्व से जानता है, वह निस्सन्देह मेरी अनन्य भक्ति के परायण हो जाता है।।७।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् का तत्त्वज्ञान अध्यात्म-सिद्धि का परम शिखर है। जब तक श्रीभगवान् के अद्‌भुत ऐश्वर्यों में मनुष्य का दृढ़ विश्वास नहीं हो जाता, तब तक वह भक्ति के परायण नहीं हो सकता। लोग प्रायः यह तो जानते हैं कि श्रीभगवान् महान् हैं, पर उनकी महिमा के तत्त्व को व्यापक रूप से वे नहीं जानते। अतएव इस अध्याय में श्रीभगवान् की महिमा का विस्तृत विवरण किया जाता है। जिसे श्रीभगवान् की असमोर्ध्व महिमा का तत्त्वबोध हो जाता है, वह उनके शरणागत होकर भक्ति अवश्य करने लगता है। श्रीभगवान् के ऐश्वर्यों का तत्त्वज्ञानी उनकी शरण में गए बिना नहीं रह सकता। श्रीमद्‌भागवत; भगवद्‌गीता आदि शास्त्रों से यह तत्त्व जाना जा सकता है।

इस ब्रह्माण्ड के संचालन में नियुक्त नाना देवताओं में ब्रह्मा, शिव, चारों कुमार और अन्य प्रजापति प्रधान हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की प्रजा के बहुत से पितामह हैं; वे सभी परमेश्वर श्रीकृष्ण से उत्पन्न हुए हैं। इस न्याय से भगवान् श्रीकृष्ण सब पितामहों के भी आदि पितामह हैं।

श्रीभगवान् के ये कतिपय ऐश्वर्य हैं। इनमें अटूट विश्वास हो जाने पर मनुष्य श्रीकृष्ण को अतिशय श्रद्धासहित स्वीकार करके निःसन्देह उनकी भक्ति करता है। प्रेममयी भगवद्भक्ति में अनुरक्ति और अभिरुचि को बढ़ाने के लिए यह विशिष्ट ज्ञान आवश्यक है। श्रीकृष्ण की महिमा को पूर्णरूप से हृदयंगम करने में प्रमाद न करे, क्योंकि श्रीकृष्ण की महिमा के ज्ञान से निष्किंचन भक्तियोग में अचल निष्ठा हो जाती है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

अहम्=मैं; **सर्वस्य**=सबकी; **प्रभवः**=उत्पत्ति का कारण हूँ; **मत्तः**=मुझ से ही; **सर्वम्**=सब कुछ; **प्रवर्तते**=चेष्टा करता है; **इति**=इस प्रकार; **मत्वा**=तत्त्व से जान कर; **भजन्ते**=भक्ति करते हैं; **माम्**=मेरी; **बुधाः**=बुद्धिमान्; **भावसमन्विताः**=अतिशय श्रद्धा और भक्ति के साथ।

अनुवाद

मैं प्राकृत-जगत् और वैकुण्ठ, दोनों का कारण हूँ; मुझ से ही सब कुछ उत्पन्न होता है और चेष्टा करता है, इस प्रकार तत्त्व से समझ कर बुद्धिमान् भक्तजन श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रेमपूरित हृदय से निरन्तर मेरा भजन करते हैं।।८।।

तात्पर्य

जो वेदाध्ययन में निष्णात् विद्वान् है, श्रीचैतन्य महाप्रभु की कोटि के आचार्य से ज्ञान प्राप्त कर चुका है और इस ज्ञान का प्रयोग करना जानता है, वह यह जान जाता है कि श्रीकृष्ण सम्पूर्ण प्राकृत-जगत् और वैकुण्ठ-जगत् के मूल हैं। इसी पूर्ण ज्ञान के प्रताप से वह भगवद्भक्ति में निष्ठ हो जाता है। बड़ी से बड़ी अनर्थमयी व्याख्या अथवा मूर्खों में सामर्थ्य नहीं कि उसे कभी भटका सके। सम्पूर्ण वैदिक शास्त्र इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि श्रीकृष्ण ब्रह्मा, शिव आदि सब देवताओं के आदिकारण हैं। अथर्ववेद में उल्लेख है: **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च गापयति स्म कृष्णः**, "कल्प के आदि में श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा के हृदय में ज्ञान का संचार किया और उन्होंने ही पूर्व में वैदिक ज्ञान को प्रचारित किया।" पुनः कथन है, **अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेय इत्युपक्रम्य**, "फिर भगवान् नारायण ने प्रजा-सृजन की इच्छा की।" वैदिक मन्त्रों में आगे उल्लेख है: **नारायणाद् ब्रह्मा जायते नारायणाद् प्रजापतिः प्रजायते नारायणाद् इन्द्रो जायते नारायणादष्टौ वसवौ जायन्ते नारायणादेकादश रुद्रा जायन्ते नारायणाद्द्वादशादित्याः।**

''नारायण से ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है, नारायण से प्रजापति उत्पन्न होते हैं, नारायण से ही इन्द्र और आठ वसु होते हैं और नारायण से ही ग्यारह रुद्रों और बारह आदित्यों का जन्म होता है।''

अर्थववेद में ही आगे कथन है: **ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रः**—'देवकीनन्दन श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म हैं।' पुनः कहा गया है: **एको वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्नि समौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यः। स एकाकी न रमते तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यत्र छान्दोगैः क्रियमाणाष्टकादिसंज्ञका स्तुतिस्तोमः स्तोममुच्यते।**

''सृष्टि के आदिकाल में एकमात्र भगवान् नारायण थे। उस समय न ब्रह्मा था, न शिव, न अग्नि, न चन्द्रमा, न नक्षत्र, न आकाश और न सूर्य ही था। उस काल में केवल श्रीकृष्ण थे, जो जीवमात्र को रच कर उसमें रमण करते हैं।''

पुराणों में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि शिव का जन्म परमेश्वर श्रीकृष्ण से हुआ और वेद भी कहते हैं कि ब्रह्मा, शिव, आदि के स्रष्टा परमेश्वर श्रीकृष्ण ही उपास्य हैं। 'मोक्षधर्म' में श्रीकृष्ण का वचन है **प्रजापतिं च रुद्रं चाप्यहमेव सृजामि वै तौ हि मां न विजानीतो मम माया विमोहितौ।** ''प्रजापति, शिव, आदि का सृजन मैं ही करता हूँ, यद्यपि मेरी माया से मोहित होने के कारण वे यह नहीं जानते।'' 'वराह पुराण' में कहा है—**नारायणः परो देवस्तस्माज्जातश्चतुर्मुखः तस्माद्रुद्रोऽभवद्देवः स च सर्वज्ञतां गतः।** ''नारायण परम पुरुष हैं। उनसे ब्रह्मा का जन्म हुआ और उससे रुद्र का।''

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण प्रजा के जनक हैं। इसी से उन्हें सब प्राणी-पदार्थों का परम निमित्त कारण कहा जाता है। स्वयं उनका कथन है, ''मैं सम्पूर्ण लोकों का आदिकारण हूँ, सब कुछ मुझ से ही उत्पन्न होता है। इसलिए सब तत्त्व मेरे आधीन हैं, मुझ से स्वतन्त्र कुछ भी नहीं है।'' एकमात्र श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, दूसरा कोई नहीं। इस प्रकार प्रामाणिक सद्गुरु अथवा वैदिक शास्त्रों से श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानकर जो मनुष्य अपनी सारी शक्ति को कृष्णभावना में लगा देता है, वही सच्ची विद्वत्ता को प्राप्त होता है। उसकी तुलना में अन्य सभी, जो श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जानते, मूर्ख हैं। एक मूर्ख ही श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य समझने की धृष्टता करेगा। कृष्णभावनाभावित भक्त ऐसे मूर्खों की विचारधारा से भ्रमित न हो। गीता की सारी अप्रामाणिक टीकाओं और मीमांसाओं से बचकर उसे पूर्ण दृढ़ता और निश्चयसहित कृष्णभावना के पथ पर अग्रसर होना चाहिये।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

मच्चित्ताः=मन से निरन्तर मेरे अनन्य चिन्तन में संलग्न; **मद्गतप्राणाः**=मेरी सेवा में प्राणों को अर्पण करने वाले; **बोधयन्तः**=प्रसार करते हैं; **परस्परम्**=आपस में; **कथयन्तः च**=वार्ता करते हुये भी; **माम्**=मेरी; **नित्यम्**=सदा; **तुष्यन्ति च**=सन्तुष्ट होते

हैं; **रमन्ति च**=और चिन्मय रसानन्द का आस्वादन करते हैं।

अनुवाद

मेरे शुद्धभक्त निरन्तर मेरे चिन्तन में तन्मय रहते हैं, उनके प्राण मेरी सेवा में ही अर्पित रहते हैं। परस्पर एक दूसरे को मेरी महिमा का वोध कराने और मेरी वार्ता करने में उन्हें अतुलनीय सन्तोष और आनन्द की प्राप्ति होती है—वे उसी में रमण किया करते हैं।।९।।

तात्पर्य

यहाँ जिन शुद्धभक्तों के लक्षणों का उल्लेख है, वे नित्य-निरन्तर पूर्णरूप से अनन्य प्रेममयी भगवद्भक्ति के परायण रहते हैं। उनका चित्त श्रीकृष्ण के चरणारविन्द से क्षण भर के लिये भी विचलित नहीं किया जा सकता। वे आपस में केवल भगवच्चर्चा करते हैं। इस श्लोक में शुद्धभक्तों के लक्षणों का विशेष रूप से वर्णन है। ये भक्त चौविस घण्टे निरन्तर श्रीभगवान् के मधुर लीलारस-गुणगान में मग्न रहते हैं। उन लीलारस-लोलुपों के चित्त-प्राण निरन्तर रसराज श्रीकृष्ण में ही निमज्जित रहते हैं; अन्य भक्तों के साथ भगवच्चर्चा करने में उन्हें अनुपमेय रस का आस्वाद मिलता है।

भक्तियोग की प्रारम्भिक दशा में भक्त उस सेवा के चिन्मय आनन्द का रस लेते हैं और परिपक्व दशा में यथार्थ भगवत्प्रेम को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार शुद्ध सत्त्वमयी दिव्य अवस्था में उन्हें उस परम रस का आस्वादन सुलभ हो जाता है, जिसका प्रकाश स्वयं श्रीभगवान् अपने धाम में करते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भक्तियोग को जीव के हृदय-प्रांगण में वीज का आरोपण करने की उपमा दी है। ब्रह्माण्ड के नाना लोकों में असंख्य जीव भटक रहे हैं। इनमें से जो दुर्लभ भाग्यवान् हैं, उन जीवों को शुद्धभक्त के आश्रय में भक्तियोग की शिक्षा पाने का सुयोग मिलता है। यह भक्तियोग एक वीज जैसा है। यदि जीव-हृदय में इसका आरोपण कर दिया जाय और वह **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—इस महामन्त्र के निरन्तर श्रवण-कीर्तन रूपी जल से इसको सींचँता रहे, तो वृक्ष के वीज के समान यह भक्ति-वीज भी अंकुरित हो जायगा। इससे निकली दिव्य भक्ति-लता शनैः शनैः वढ़ती हुई ब्रह्माण्डीय आवरण का भेदन कर परव्योम की ब्रह्मज्योति में प्रविष्ट हो जाती है। परव्योम में भी वह भक्ति-लता उत्तरोत्तर वढ़ती ही जाती है और अन्त में श्रीकृष्ण के परमधाम—गोलोक वृन्दावन तक पहुँच जाती है। वहाँ वह श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का आश्रय लेकर विश्राम करती है। यदि श्रवण-कीर्तन रूपी सिंचन अविराम चलता रहे, तो भक्ति-लता में फल भी लगता है। 'चैतन्यचरितामृत' में इस भक्ति-लता का विशद वर्णन है। उसके अनुसार भक्ति-लता के द्वारा श्रीभगवान् के चरणों की शरण ले लेने पर भक्त कृष्णप्रेम में मत्त हो उठता है। इस दशा में अपने प्रभु का क्षणभर का भी विरह उसके परम असह्य हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे जल के विना मछली प्राणधारण नहीं कर सकती। इस भावाविष्ट

अवस्था में श्रीभगवान् के सान्निध्य के प्रताप से भक्त को सम्पूर्ण दिव्य गुणों की उपलब्धि हो जाती है।

श्रीमद्भागवत श्रीभगवान् और उनके भक्तों में होने वाले भक्तिरस की कथाओं से परिपूर्ण है; इसीलिए श्रीमद्भागवत भक्तों को प्राणोपम प्रिय है। श्रीमद्भागवत का यह अप्रतिम वैशिष्ट्य है कि इसके वर्णन में प्राकृत क्रियाओं, इन्द्रियतृप्ति अथवा मोक्ष का लेश भी नहीं है; यही वह कथा है जिसमें श्रीभगवान् और उनके भक्तों के स्वरूप का सर्वांगीण वर्णन हुआ है। अतएव आश्चर्य नहीं कि कृष्णभावनाभावित भगवत्प्राप्त पुरुषों को भागवती कथा के श्रवण में उसी प्रकार नित्य नवायवान आनन्दरस की अनुभूति होती है, जैसी युवक-युवती को परस्पर संग करने से होती है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

तेषाम्=उन; **सततयुक्तानाम्**=निरन्तर तत्पर; **भजताम्**=भजने वाले भक्तों को; **प्रीतिपूर्वकम्**=प्रेमभाव सहित; **ददामि**=मैं देता हूँ; **बुद्धियोगम्**=सच्ची बुद्धि; **तम्**=वह; **येन**=जिससे; **माम्**=मुझ को; **उपयान्ति**=प्राप्त होते हैं; **ते**=वे।

अनुवाद

उन निरन्तर भक्ति के परायण, प्रेमसहित मुझे भजने वाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझ को प्राप्त हो जाते हैं।।१०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में प्रयुक्त **बुद्धियोगम्** शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। द्वितीय अध्याय में अर्जुन को अनेक तत्त्वों का उपदेश करके श्रीभगवान् बोले कि वे उसके लिए बुद्धियोग का उपदेश करेंगे। यहाँ भी उसी बुद्धियोग का प्रतिपादन है। **बुद्धियोग** का तात्पर्य कृष्णभावनाभावित कर्म करना है। यही परम बुद्धिमानी है। **बुद्धि** शब्द का अर्थ है निश्चय-शक्ति और **योग** का अर्थ है दिव्य उत्कर्ष। अपने घर—भगवान् के धाम को जाने के लिए जब मनुष्य सर्वतोभावेन कृष्णभावना रूपी भक्तियोग के परायण हो जाता है तो उसके कर्म को **बुद्धियोग** कहा जाता है। **बुद्धियोग** वस्तुतः वह पद्धति है जिसके द्वारा इस संसार के बन्धन से मुक्ति होती है। उन्नति के परम लक्ष्य श्रीकृष्ण हैं—जनसाधारण इस परम सत्य को नहीं जानता। अतएव भक्तों और प्रामाणिक आचार्य (सद्गुरु) के सत्संग का बडा माहात्म्य है। यह जानना आवश्यक है कि श्रीकृष्ण जीवन के एकमात्र लक्ष्य हैं, क्योंकि लक्ष्य का निर्णय हो जाने पर पथ भी शनैः-शनैः उत्तरोत्तर पार कर ही लिया जाता है और अन्त में परम लक्ष्य की प्राप्ति भी हो जाती है।

जीवन के लक्ष्य को जानते हुए भी जो मनुष्य कर्मफल में आसक्त है, वह कर्मयोगी है। जो जानता है कि लक्ष्य श्रीकृष्ण हैं, पर फिर भी उनका ज्ञान अर्जित करने के लिए मनोधर्म में रत है, वह ज्ञानयोगी है। इन सब से विलक्षण, लक्ष्य को जानकर पूर्ण कृष्णभावना और भक्तियोग के द्वारा श्रीकृष्ण की प्राप्ति में तत्पर होने का

नाम भक्तियोग अथवा बुद्धियोग है। यही पूर्ण योग है और इसी में जीवन की सब से बड़ी सफलता है।

प्रामाणिक सद्गुरु का आश्रय और किसी भक्तसंघ से सम्बन्ध होने पर भी जो मनुष्य अल्प बुद्धि के कारण प्रगति नहीं कर पाता, उसके हृदय में श्रीकृष्ण उपदेश करते हैं, जिससे वह अन्त में सुगमता से उन्हें प्राप्त हो जाय। इसके लिये बस इतनी योग्यता चाहिए कि नित्य-निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहते हुए प्रेम और भक्तिभाव से सब प्रकार की सेवा का समर्पण करता रहे। श्रीकृष्ण के लिए कुछ न कुछ कर्म अवश्य करे। यह आवश्यक है कि ऐसा कर्म प्रेमपूर्वक किया जाय। बुद्धिमान् भक्त स्वरूप-साक्षात्कार के पथ पर अवश्य उन्नति करता है। भक्तियोग में जिसकी निष्कपट श्रद्धा है, उसको श्रीभगवान् ऐसा सुयोग देते हैं, जिससे वह प्रगति करता हुआ अन्त में उनको प्राप्त हो जाय।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

तेषाम्=उन पर; **एव**=ही; **अनुकम्पा अर्थम्**=विशेष अनुग्रह करने के लिये; **अहम्**=मैं; **अज्ञानजम्**=अज्ञान से उत्पन्न; **तमः**=अन्धकार को; **नाशयामि**=दूर कर देता हूँ; **आत्मभावस्थः**=अन्तर में स्थित हुआ; **ज्ञान**=ज्ञान के; **दीपेन**=दीपक द्वारा; **भास्वता**=प्रकाशमय।

अनुवाद

उनपर अनुग्रह करने के लिये, उनके हृदय में वैठा मैं स्वयं अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को ज्ञान के प्रकाशमय दीपक द्वारा नष्ट कर देता हूँ।।११।।

तात्पर्य

जब श्रीचैतन्य महाप्रभु वाराणसी में **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—इस महामन्त्र के संकीर्तन का प्रवर्तन कर रहे थे, तो हजारों मनुष्य उनके अनुगामी हो गए। तत्कालीन काशी के अत्यन्त प्रभावशाली विद्वान् प्रकाशानन्द श्रीचैतन्य को भावुक कहकर उनका उपहास किया करते। कभी-कभी दार्शनिक भक्तों की निन्दा करते हैं; उनकी धारणा में अधिकांश भक्त अज्ञानान्ध और दर्शन शास्त्र से अपरिचित भावुक मात्र हैं। परन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं है। भक्तों में अनेक विद्वच्चूड़ामणि हुए हैं और उन्होंने भक्ति-दर्शन का विशद प्रतिपादन भी किया है। यदि भक्त इन ग्रन्थों अथवा गुरु से लाभ न उठाये, तो भी उसकी निष्किंचन भक्ति से द्रवित होकर अन्तर्यामी श्रीकृष्ण स्वयं उसकी सहायता करेंगे। कृष्णभावना-परायण निष्किंचन भक्त अज्ञानी नहीं रह सकता। इसके लिए केवल इतना ही योग्यता चाहिए कि पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग के परायण रहे।

आधुनिक दार्शनिकों के मत में विवेक-बुद्धि के बिना शुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता।

उनके लिये श्रीभगवान् ने इस श्लोक में यह उत्तर दिया—जो शुद्ध भक्तियोग में लगे हुए हैं, वे भक्त यदि पर्याप्त शिक्षा और वैदिक ज्ञान से विहीन भी हों, तो इस श्लोक के अनुसार भगवान् स्वयं उनकी सहायता करते हैं।

श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि उनके तत्त्व को मनोधर्म से जानने की कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि परम सत्य इतना महान् है कि उसे केवल मानसिक प्रयास से जाना अथवा पाया नहीं जा सकता। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम और समर्पण भाव के विना करोड़ों वर्ष की मनोधर्मी के बाद भी उनका तत्त्वज्ञान नहीं होगा। परम सत्य श्रीकृष्ण केवल भक्तियोग से प्रसन्न होते हैं और अपनी अचिन्त्य शक्ति से शुद्धभक्त के हृदय में अपने को स्वयं प्रकट करते हैं। शुद्धभक्त के हृदय में श्रीकृष्ण का शाश्वत् निवास है; वे उस सूर्य के सदृश हैं, जो अज्ञानरूपी अन्धकार को हर लेता है। यह शुद्धभक्त पर श्रीकृष्ण की अशेष-विशेष कृपा है।

करोड़ों जन्म-जन्मान्तरों के विषयसंग के कारण जीव का चित्त निरन्तर विषयवासना रूपी मल से दूषित रहता है। परन्तु भक्तियोग में तत्पर होकर 'हरेकृष्ण' महामन्त्र का निरन्तर कीर्तन करने से यह मल तत्काल धुल जाता है और शुद्ध ज्ञान उद्दीप्त हो उठता है। परम लक्ष्य श्रीकृष्ण इस कीर्तन और भक्तिनिष्ठा से ही प्राप्त हो सकते हैं, मनोधर्म अथवा तर्क से नहीं। शुद्धभक्त जीवन की आवश्यकताओं के लिए कभी चिन्ता नहीं करता; उसे कोई चिन्ता नहीं सताती. क्योंकि जब वह अज्ञान रूपी अंधकार से हृदय को शुद्ध कर लेता है, तो उसकी भक्ति से प्रसन्न हुए श्रीभगवान् स्वयं सब पदार्थ उपलब्ध करा देते हैं। यही गीता के शिक्षामृत का सार है। गीता-अध्ययन करके मनुष्य पूर्णरूप से श्रीभगवान् के शरणागत होकर शुद्ध भक्तियोग के परायण हो सकता है। संचालन की बागडोर जैसे ही प्रभु के पाणिपल्लवों में जाती है कि वह सब प्रकार के लौकिक प्रयत्नों से मुक्त हो जाता है।

अर्जुन उवाच।
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **परम्**=चरम; **ब्रह्म**=सत्य; **परम्**=चरम; **धाम**=आश्रय; **पवित्रम्**=पावन; **परमम्**=परम; **भवान्**=आप (हैं); **पुरुषम्**=पुरुष; **शाश्वतम्**=सनातन; **दिव्यम्**=लोकोत्तर; **आदिदेवम्**=देवों के भी आदि देव; **अजम्**=अजन्मा; **विभुम्**=सब से महान्; **आहुः**=कहते हैं; **त्वाम्**=आपको; **ऋषयः**=ऋषि; **सर्वे**=सब; **देवर्षिः**=देवर्षि; **नारदः**=नारद; **तथा**=भी; **असितः**=असित; **देवलः**=देवल; **व्यासः**=व्यासदेव; **स्वयम्**=स्वयं आप; **च**=भी; **एव**=निःसन्देह; **ब्रवीषि**=कहते हैं; **मे**=मेरे प्रति।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, प्रभो ! आप परमब्रह्म, परमधाम, पावन परमतत्त्व और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप ही चिन्मय आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं। नारद, असित, देवल, व्यास आदि सारे ऋषि आप का इस प्रकार गुण-गान करते हैं और आप स्वयं भी मुझे इस का वर्णन सुना रहे हैं।।१२-१३।।

तात्पर्य

इन दो श्लोकों में श्रीभगवान् ने आधुनिक दार्शनिक को अपनी भक्ति का सुयोग प्रदान किया है। यहाँ स्पष्ट है परतत्त्व जीवतत्त्व से भिन्न है। इस अध्याय में आए भगवद्गीता के चार प्रधान श्लोकों को सुन कर अर्जुन पूर्ण रूप से संशय-मुक्त हो गया। अंतएव उसने श्रीकृष्ण को परब्रह्म स्वयं भगवान् स्वीकार कर लिया और तुरन्त उद्घोष किया, "प्रभो ! आप परब्रह्म स्वयं भगवान् हैं।" पूर्व में श्रीकृष्ण स्वयं भी कह आये हैं कि वे सब प्राणी-पदार्थों के आदिकारण हैं। सव देवता और मनुष्य उन पर आश्रित हैं; फिर भी वे अज्ञानवश अपने को ही परतत्त्व मानकर परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से स्वतन्त्र समझ बैठते हैं। भक्तियोग से इस अज्ञान का पूर्ण रूप से निवारण हो जाता है, यह श्रीभगवान् पूर्ववर्ती श्लोक में कहा ही है। अब उनकी कृपा से अर्जुन भी वैदिक विधान के अनुरूप उन्हें परम सत्य मान रहा है। ऐसा नहीं कि श्रीकृष्ण उसके अंतरंग सखा हैं, इसलिए उन को परम सत्य भगवान् कहकर अर्जुन चाटुकारी कर रहा है। अर्जुन ने इन दो श्लोकों में जो कुछ भी कहा है, वह सव कुछ वैदिक सत्य द्वारा समर्थित है। वेदों का मन्तव्य है कि एकमात्र भगवद्भक्ति-परायण पुरुष श्रीकृष्ण के तत्त्व को समझ सकता है, दूसरा कोई नहीं। अर्जुन का एक-एक शव्द वेदों से प्रमाणित है।

केन उपनिषद्' में कथन है कि **परम् ब्रह्म** सव का आश्रय है; श्रीकृष्ण भी कह चुके हैं कि सव कुछ उन पर आश्रित है। 'मुण्डक उपनिषद्' प्रमाणित करती है कि सब के आश्रय परमेश्वर की प्राप्ति उन्हीं को होती है, जो निरन्तर उन (श्रीकृष्ण) के चिन्तन में तन्मय रहते हैं। श्रीकृष्ण का यह नित्य स्मरण भक्ति का एक प्रधान अंग है। एकमात्र कृष्णभक्ति से ही जीव स्वरूपज्ञान को प्राप्त होकर प्राकृत देह से मुक्त हो सकता है।

वेदों में परमेश्वर को **पवित्रं परमम्** कहा है। श्रीकृष्ण परम पावन हैं—यह जानने वाला सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। भगवच्चरणारविन्द में शरणागति के विना पापों का शोधन नहीं होता। अतएव अर्जुन का श्रीकृष्ण को 'परम पावन' कहना वेद-सम्मत है। नारद आदि सभी महापुरुषों ने इस का समर्थन किया है।

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं; इसलिए उनके ध्यान में नित्य तन्मय रहते हुए उनसे अपने दिव्य सम्वन्ध का आस्वादन करना चाहिये। वे शारीरिक आवश्यकताओं तथा जन्म-मृत्यु से अतीत परम सत्ता हैं। अर्जुन के अतिरिक्त, सम्पूर्ण वैदिक शास्त्र, पुराण एवं इतिहास इस के प्रमाण हैं। वैदिक शास्त्रों में सर्वत्र श्रीकृष्ण का यही वर्णन है और

चौथे अध्याय में तो वे स्वयं कहते हैं, "अजन्मा होते हुए भी धर्म की स्थापना के लिए मैं इस पृथ्वी पर प्रकट होता हूँ।" वे आदिपुरुष हैं; उनका कोई कारण नहीं है, क्योंकि वे सब कारणों के परम कारण हैं; सब कुछ उन्हीं से उत्पन्न हुआ है। यह पूर्ण ज्ञान केवल भगवत्कृपा से हो सकता है।

श्रीकृष्ण की महती कृपा के बल पर अर्जुन ने यहाँ अपना मनोभाव प्रकट किया है। यदि भगवद्गीता को वास्तव में समझना हो तो इन दो श्लोकों में वर्णित सत्य को स्वीकार करना होगा। इसी का नाम परम्परा है। जो परम्परा में नहीं है, वह गीता के मर्म को कभी नहीं समझ सकता। विश्वविद्यालय से मिलने वाली नाममात्र की शिक्षा का विषय यह नहीं है। दुर्भाग्यवश, विद्या के घमण्डी मनुष्य वैदिक शास्त्रों के प्रचुर प्रमाणों को न मानकर अपने इस दुराग्रह पर ही हठपूर्वक अड़े रहते हैं कि श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

सर्वम्=सब को; **एतत्**=इस; **ऋतम्**=सत्य; **मन्ये**=मानता हूँ; **यत्**=जो कुछ भी; **माम्**=मेरे प्रति; **वदसि**=आप कह रहे हैं; **केशव**=हे कृष्ण; **न**=नहीं; **हि**=निःसन्देह; **ते**=आप के; **भगवन्**=हे भगवन्; **व्यक्तिम्**=स्वरूप को; **विदुः**=जानते हैं; **देवाः**=देवता; **न**=नहीं; **दानवाः**=असुर।

अनुवाद

हे कृष्ण ! मुझ से आपने जो कुछ भी कहा है, इसे मैं सम्पूर्ण रूप से सत्य मानता हूँ। हे भगवन् ! आप के स्वरूप को न तो देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं।।१४।।

तात्पर्य

अर्जुन का प्रमाण है कि श्रद्धाशून्य, आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों को श्रीकृष्ण का ज्ञान नहीं हो सकता। जब देवता तक उन्हें नहीं जानते, फिर इस आधुनिक जगत् में विद्वान् कहे जाने वाले मूढ़ों के विषय में तो कहना ही क्या है? भगवत्कृपा से अर्जुन जान गया है कि श्रीकृष्ण पूर्ण परमसत्य हैं। अतएव मनुष्यमात्र को अर्जुन के पथ का अनुगमन करना चाहिये, इसलिए कि उसे भगवद्गीता का अधिकार मिला है। जैसा चौथे अध्याय में कह आए हैं, भगवद्गीता के ज्ञान की शिष्यपरम्परा कालान्तर में नष्ट हो गयी थी; इसलिए अर्जुन को शिष्य बना कर श्रीकृष्ण ने उसी परम्परा का पुनरुत्थान किया। इसके लिए उन्होंने अर्जुन को ही चुना, क्योंकि वह उनका स्नेहभाजन अंतरंग सखा और कृपापात्र परम भक्त था। अतएव, जैसा गीतोपनिषद् के अन्तर्दर्शन में कहा है, गीता को शिष्यपरम्परा के अनुसार ही धारण करना चाहिए। कालान्तर में, जब वह परम्परा विशृंखलित हो गयी तो उसके पुनरुत्थान के लिए अर्जुन को पात्र बनाया गया। श्रीकृष्ण ने जो कुछ भी कहा, अर्जुन ने उसे सम्पूर्ण रूप से ग्रहण कर लिया। सबको ऐसा करना चाहिए। तभी भगवद्गीता के सार-सर्वस्व

को जाना जा सकता है और तभी यह बोध हो सकता है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

स्वयम्=स्वयं; **एव**=ही; **आत्मना**=अपने से; **आत्मानम्**=अपने को; **वेत्थ**=जानते हैं; **त्वम्**=आप; **पुरुषोत्तम**=हे पुरुषोत्तम; **भूतभावन**=हे सम्पूर्ण भूतों को उत्पन्न करने वाले; **भूतेश**=हे भूतों के ईश्वर; **देवदेव**=हे देवों के देव; **जगत्पते**=हे जगत् के स्वामिन्।

अनुवाद

हे भूतभावन ! हे परमेश्वर ! हे देवदेव ! हे पुरुषोत्तम ! हे जगत् के स्वामिन् ! वास्तव में आप स्वयं ही अपने को अपनी शक्ति से जानते हैं।।१५।।

तात्पर्य

परमेश्वर श्रीकृष्ण को वे ही मनुष्य जान सकते हैं, जो अर्जुन और उसके अनुगामियों की भाँति भक्तियोग के द्वारा उनसे सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। आसुरी अथवा निरीश्वरवादी स्वभाव वाले श्रीकृष्ण के तत्त्व को नहीं जान सकते। श्रीभगवान् से विमुखकारी मनोधर्म गम्भीर पाप है; इसलिए जो श्रीकृष्ण के तत्त्व को नहीं जानता, वह भगवद्गीता पर टीका करने का दुस्साहस न करे। गीता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की वाणी है। इस कृष्ण-विज्ञान को श्रीकृष्ण से उसी भाँति हृदयंगम करना चाहिए, जैसे अर्जुन ने किया। भाव यह है कि गीता-शास्त्र की शिक्षा अनीश्वरवादियों से कभी नहीं लेनी चाहिये।

परम सत्य की प्राप्ति निर्विशेष ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा और अन्त में श्रीभगवान् के रूप में होती है। भाव यह है कि श्रीभगवान् की प्राप्ति ज्ञान की पराकाष्ठा है। मुक्त पुरुषों को ही क्यों, निर्विशेष ब्रह्म और एकदेशीय परमात्मा की अनुभूति तो साधारण मनुष्य को भी हो सकती है; परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की वाणी—गीता के श्लोकों से उन पुरुषोत्तम का तत्त्व जानना इतना सुगम नहीं है। निर्विशेषवादी भी कभी-कभी श्रीकृष्ण को भगवान् या परमेश्वर मान लेते हैं। पर प्रायः देखा जाता है कि मुक्त पुरुष तक यह नहीं समझ पाते कि श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं और जीवमात्र के पिता हैं। यही दिखाने के लिए अर्जुन ने उन्हें **पुरुषोत्तम** सम्बोधित किया है। इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण **भूतेश** हैं, अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि के परम नियन्ता हैं। हो सकता है कि श्रीकृष्ण के परमेश्वरत्व को जान लेने पर भी यह बोध न हो कि वे देवगणों के भी आराध्य आदिदेव हैं; अतः उन्हें **देवदेव** कहा गया है। उन्हें **जगत्पति** कहकर यह सत्य स्थापित किया है कि वे विश्व की सम्पूर्ण सम्पति के परम अधीश्वर हैं। अस्तु, इस श्लोक में अर्जुन की अनुभूति के रूप में श्रीकृष्ण का तत्त्व स्थापित हुआ है। जो श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानने का जिज्ञासु हो, उसे अर्जुन के चरणचिह्नों का अनुगमन करना चाहिये।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

वक्तुम्=कहने को; **अर्हसि**=योग्य हैं; **अशेषेण**=विस्तार से; **दिव्याः**=अलौकिक; **हि**=निश्चित रूप से; **आत्म**=अपने; **विभूतयः**=ऐश्वर्य; **याभिः**=जिन; **विभूतिभिः**=ऐश्वर्यों के द्वारा; **लोकान् इमान्**=सम्पूर्ण लोकों को; **त्वम्**=आप; **व्याप्य**=व्याप्त करके; **तिष्ठसि**=स्थित हैं।

अनुवाद

कृपया मेरे लिए अपनी उन सम्पूर्ण दिव्य विभूतियों का वर्णन कीजिये, जिनके द्वारा आप इन सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं।।१६।।

तात्पर्य

प्रतीत होता है कि अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्वज्ञान से तृप्त हो चुका है। श्रीकृष्ण की विशेष अनुकम्पा से उसे प्रत्यक्ष अनुभव, बुद्धि, ज्ञान और इन तीनों से होने वाला सम्पूर्ण बोध है। वह समझ गया है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। अब इस विषय में उसके लिए कोई संशय नहीं रहा है। फिर भी श्रीकृष्ण से उसकी प्रार्थना है कि वे अपने सर्वव्यापक स्वरूप का वर्णन करें, जिससे भविष्य के मनुष्य, विशेष रूप से, निर्विशेषवादी जान सकें कि अपनी नाना शक्तियों के द्वारा वे किस प्रकार सर्वव्यापी हैं। अतएव स्मरण रहे कि अर्जुन की यह जिज्ञासा जनसाधारण की ओर से ही है।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

कथम्=किस प्रकार; **विद्याम् अहम्**=मैं जानूँ; **योगिन्**=हे योगेश्वर; **त्वाम्**=आपको; **सदा**=नित्य-निरन्तर; **परिचिन्तयन्**=चिन्तन (स्मरण) करता हुआ; **केषु-केषु**=किस-किस; **च**=और; **भावेषु**=रूपों में; **चिन्त्यः असि** आप का स्मरण करना चाहिये; **भगवन्**=हे परम पुरुषोत्तम; **मया**=मुझे।

अनुवाद

हे योगेश्वर! मैं किस प्रकार आपका नित्य स्मरण-चिन्तन करूँ? और हे भगवन्! किन-किन रूपों में मुझे आपका स्मरण करना चाहिये?।।१७।।

तात्पर्य

नौवें अध्याय में कहा जा चुका है कि श्रीभगवान् अपनी 'योगमाया' में छिपे हुए हैं; इसलिए एकमात्र शरणागत जीवों और भक्तों को उनका दर्शन हो सकता है। अर्जुन को विश्वास हो गया है कि उसके सखा श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं; फिर भी वह उस सार्वभौम पद्धति को जानने का अभिलाषी है, जिससे साधारणजन उन सर्वव्यापी प्रभु के तत्त्व को जान सकें। असुर और अनीश्वरवादियों सहित कोई भी साधारण मनुष्य श्रीकृष्ण को जानने की सामर्थ्य नहीं रखता, क्योंकि वे अपनी

'योगमाया' शक्ति की यवनिका में छिपे हुए हैं। अर्जुन के प्रश्न का प्रयोजन इसी कोटि के मनुष्यों का कल्याण करना है। उत्तम भक्त केवल इस बात की चिन्ता नहीं करता कि उसे ज्ञान हो; उसे तो यही चिन्ता रहती है कि किस प्रकार सम्पूर्ण मानवजाति ज्ञान से आलोकित हो। अर्जुन वैष्णव के योग्य अहैतुकी करुणा से प्रेरित होकर जनसाधारण को यह ज्ञान सुलभ करा रहा है कि श्रीभगवान् सर्वव्यापक हैं। उसने श्रीकृष्ण को योगिन् सम्बोधित किया, क्योंकि श्रीकृष्ण योगमाया के अधीश्वर हैं और उसी से साधारण मनुष्य के सामने यथासमय प्रकट-अप्रकट हुआ करते हैं। जिनके हृदय में श्रीकृष्ण के लिए प्रेम नहीं है, वे साधारण मनुष्य श्रीकृष्ण का निरन्तर स्मरण नहीं कर सकते; वे लौकिक चिन्तन करने को बाध्य हैं। इसलिए अर्जुन ऐसी उपयुक्त पद्धति पर विचार कर रहा है, जिससे विषयी मनुष्य भी अनायास निरन्तर भगवच्चिन्तन कर सकें। विषयी मनुष्य श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप का चिन्तन नहीं कर सकते, इसलिए उन्हें परामर्श दिया जाता है कि जिस-जिस प्राकृत वस्तु पर चित्त जाय, उस-उसके भौतिक रूप में वे श्रीकृष्ण की अभिव्यक्ति को देखने का अभ्यास करें।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

विस्तरेण=विस्तार से; **आत्मनः**=अपनी; **योगम्**=योगशक्ति; **विभूतिम्**=ऐश्वर्यों को; **च**=भी; **जनार्दन**=हे नास्तिकों के हन्ता; **भूयः**=फिर; **कथय**=कहिये; **तृप्तिः**=तृप्ति; **हि**=निःसन्देह; **शृण्वतः**=श्रवण करते हुए; **न अस्ति**= नहीं होती; **मे**=मेरी; **अमृतम्**=(आपके वचन रूपी) सुधा का।

अनुवाद

हे जनार्दन! अपनी योगशक्ति और विभूतियों को फिर विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आप के अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती।।१८।।

तात्पर्य

नैमिषारण्य के ऋषियों ने भी श्रील सूत गोस्वामी से इसी प्रकार का निवेदन किया है:

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोक विक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे।।

"उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाकथा को निरन्तर सुनते रहने पर भी तृप्ति नहीं होती, श्रवण की उत्कण्ठा नित्य-नूतन बनी ही रहती है। रसिकजन तो वस्तुतः पद-पद पर भगवत्कथामृत का आस्वादन करते हैं।" अर्जुन भी भगवान् श्रीकृष्ण की कथा सुनने को अतिशय उत्कंठित है। वह विशेष रूप से उनकी सर्वव्यापकता और परम ईश्वरता के तत्त्व को जानना चाहता है।

श्रीकृष्ण की सब कथाएँ और वाक्य अमृतमय हैं। साधन करने से यह अमृत मन, वाणी, श्रवणपुटों के द्वारा वास्तव में अनुभव किया जा सकता है। लौकिक कथानकों को बार-बार सुनना अरुचिकर एवं श्रान्तिकर लगता है, पर श्रीकृष्णकथा के श्रवण से कभी तृप्ति नहीं होती, बारंबार सुनने की उत्कण्ठा बनी ही रहती है। यही आधुनिक कहानियों, उपन्यासों और इतिहास की तुलना में श्रीभगवान् के लीलामृत का अनुपम वैशिष्ट्य है। जगत् का इतिहास श्रीभगवान् के अवतारों की लीला-कथाओं से परिपूर्ण है। पुराणों में विशेष रूप से पूर्व युगों में हुए विविध भगवत्-अवतारों के लीलाविलास का विस्तृत विवरण है। इस प्रकार की दिव्य पठन सामग्री बार-बार आवृत्ति करने पर भी नित्य नूतन बनी रहती है।

श्रीभगवानुवाच।
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **हन्त**=अब; **ते**=तेरे प्रति; **कथयिष्यामि**=मैं कहूँगा; **दिव्याः**=दिव्य; **हि**=निःसन्देह; **आत्मविभूतयः**=अपने ऐश्वर्यों को; **प्राधान्यतः**=प्रधानता से; **कुरुश्रेष्ठ**=हे कौरवश्रेष्ठ अर्जुन; **न अस्ति**=नहीं है; **अन्तः**=सीमा; **विस्तरस्य**=विस्तार की; **मे**=मेरे।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, अब मैं तेरे लिए अपनी नित्य विभूतियों को मुख्य रूप से कहूँगा, क्योंकि हे अर्जुन! मेरे ऐश्वर्य का अन्त नहीं है।।१९।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण और उनके ऐश्वर्यों की अनिर्वचनीय अतुल महिमा को हृदयंगम करना सम्भव नहीं है। जीव की दोषयुक्त इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण की लीला को समग्र रूप से समझने में बाधा उपस्थित करती हैं। फिर भी भक्त श्रीकृष्ण को जानने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं; परन्तु वे यह सोच कर चेष्टा नहीं करते कि किसी विशेष काल में अथवा जीवन की किसी अवस्था में वे श्रीकृष्ण पूर्णतया जान जायेंगे। श्रीकृष्ण की लीलाकथा अपने में इतनी आस्वाद्य है कि उन्हें अमृत सी लगती है। अतएव वे निरन्तर उस कथामृत में ही रमण किया करते हैं। श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य और विभूतियों की वार्ता में शुद्धभक्त को वस्तुतः अलौकिक रस मिलता है। श्रीकृष्ण जानते हैं कि जीव उनके ऐश्वर्य के विस्तार की सीमा को नहीं जान सकते; अतः वे केवल अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियों का वर्णन करने को सहमत हुए हैं। **प्राधान्यतः** शब्द में गम्भीर आशय है। हम असमर्थ जीव अनन्त रूपधारी श्रीभगवान् की कुछ एक प्रधान विभूतियों को ही जान सकते हैं। उनकी सम्पूर्ण विभूतियों को जान पाना हमारे लिए सम्भव नहीं। **विभूति** शब्द उन ऐश्वर्यों का वाचक है, जिनके द्वारा श्रीभगवान्

सम्पूर्ण सृष्टि पर का नियन्त्रण कर रहे हैं। 'अमरकोश' के अनुसार **विभूति** का अर्थ विलक्षण ऐश्वर्य है।

श्रीभगवान् के विलक्षण ऐश्वर्य अथवा दैवी शक्ति के प्राकट्य का बोध निर्विशेषवादियों अथवा विश्वदेवतावादियों को नहीं हो सकता। प्राकृत-जगत् और वैकुण्ठ-जगत् में नाना प्रकार की अभिव्यक्तियों के रूप में श्रीभगवान् की ही शक्ति बिखरी हुई है। अब श्रीकृष्ण उस तत्त्व का वर्णन करते हैं, जिसका अनुभव साधारण मनुष्य को प्रत्यक्ष होता है। साधारण मनुष्य उन्हें जान सकें, इसी उद्देश्य से उन्होंने अपनी सविशेष विलासमय शक्ति के एक अंश का यहाँ वर्णन किया है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

अहम्=मैं; **आत्मा**=आत्मा; **गुडाकेश**=हे अर्जुन; **सर्वभूत**=सम्पूर्ण जीवों के; **आशयस्थितः**=हृदय में स्थित; **अहम्**=मैं; **आदिः**=मूल कारण; **च**=और; **मध्यम्**=मध्य; **च**=भी; **भूतानाम्**=सम्पूर्ण जीवों का; **अन्तः**=अन्त; **एव**=निःसन्देह; **च**=और।

अनुवाद

हे गुडाकेश! मैं सम्पूर्ण जीवों के हृदय में स्थित आत्मा हूँ तथा जीवमात्र का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।।२०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में अर्जुन को **गुडाकेश** कहा गया है, जिसका भाव है कि वह निद्रा रूपी अन्धकार को विजय कर चुका है। जो मनुष्य अज्ञानरूप निद्रा में मग्न हैं, वे प्राकृत तथा वैकुण्ठ जगत् में श्रीभगवान् के प्राकट्यों को नहीं समझ सकते। अतः श्रीकृष्ण का अर्जुन को इस प्रकार सम्बोधित करना सारगर्भित है। श्रीभगवान् अर्जुन के लिए अपनी नाना विभूतियों का वर्णन करने को प्रस्तुत हैं, क्योंकि वह (अर्जुन) इस अज्ञान-तम से ऊपर है।

सबसे पहले श्रीकृष्ण अर्जुन को सूचित करते हैं कि अपने प्रधान अंश (परमात्मा विष्णु) के रूप में वे सम्पूर्ण सृष्टि के आत्मा हैं। प्राकृत सृष्टि से पूर्व परमेश्वर श्रीकृष्ण अपने अंश से पुरुषावतार ग्रहण करते हैं। इसी पुरुषावतार से सारी सृष्टि का उपक्रम होता है। अतएव वे महत्तत्त्व की आत्मा हैं। महत्तत्त्व (समग्र भौतिक शक्ति) सृष्टि का निमित्त नहीं है; महाविष्णु के महत्तत्त्व में प्रवेश करने पर ही सृष्टि होती है। अतः वे ही आत्मा हैं। रचित ब्रह्माण्डों में प्रवेश करके वे जीवमात्र में परमात्मा के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। अपने अनुभव के आधार पर हम जानते हैं कि जीवात्मा के देह का अस्तित्त्व उसमें चैतन्य स्फुलिंग की उपस्थिति पर निर्भर करता है। चैतन्य स्फुलिंग के बिना देह की सत्ता नहीं हो सकती। इसी भाँति, परमात्मारूप में श्रीकृष्ण के प्रविष्ट हुए बिना प्राकृत सृष्टि भी विकसित नहीं हो सकती।

अस्तु, श्रीभगवान् परमात्मारूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में हैं। श्रीमद्भागवत में उपरोक्त तीनों पुरुषावतारों का वर्णन उपलब्ध है। "श्रीभगवान् इस प्राकृत सृष्टि में कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु और क्षीरोदकशायी विष्णु नामक तीन अवतार लेते हैं।" परमेश्वर श्रीकृष्ण, जो सब कारणों के परम कारण हैं, महाविष्णु अथवा कारणोदकशायी विष्णु के रूप में कारणार्णव में लेटकर अपने निश्वास के साथ सृष्टि को प्रकट करते हैं; इसलिए वे ही इस सृष्टि के आदिकारण, पालनकर्ता तथा सम्पूर्ण शक्ति के अन्तिम आश्रय हैं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

आदित्यानाम्=अदिति के बारह पुत्रों में; **अहम्**=मैं; **विष्णुः**=परमेश्वर विष्णु हूँ; **ज्योतिषाम्**=ज्योतियों में; **रविः**=सूर्य; **अंशुमान्**=जाज्वल्यमान (किरणमाली); **मरीचिः**=मरीचि; **मरुताम्**=मरुद्गणों में; **अस्मि**=मैं हूँ; **नक्षत्राणाम्**=नक्षत्रों में; **अहम्**=मैं; **शशी**=सुधावर्षी चन्द्रमा (हूँ)।

अनुवाद

अदिति के बारह पुत्रों में मैं विष्णु हूँ और ज्योतियों में किरणमाली सूर्य हूँ, तथा मरुद्गणों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ।।२१।।

तात्पर्य

बारह आदित्यों में प्रधान होने से विष्णु श्रीकृष्ण के रूप हैं। आकाश की ज्योतियों में सूर्य मुख्य है। 'ब्रह्मसंहिता' में सूर्य को श्रीभगवान् का अशेष तेज और नेत्र रूप कहा गया है। मरीचि मरुद्गणों के अधीश्वर हैं। नक्षत्रों के मध्य यामिनी में चन्द्रमा का आधिपत्य रहता है; अतः वह श्रीकृष्ण का रूप हैं।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।२२।।

वेदानाम्=वेदों में; **सामवेदः**=सामवेद; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **देवानाम्**=समस्त देवताओं में; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **वासवः**=स्वर्ग का राजा इन्द्र; **इन्द्रियाणाम्**=सब इन्द्रियों में; **मनः**=मन; **च**=भी; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **भूतानाम्**=सम्पूर्ण जीवों में; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **चेतना**=जीवन-शक्ति।

अनुवाद

मैं वेदों में सामवेद हूँ; देवताओं में इन्द्र हूँ; इन्द्रियों में मन हूँ और जीवों में चेतना हूँ।।२२।।

तात्पर्य

जड़ प्रकृति और आत्मतत्त्व में भेद है; जड़ प्रकृति में जीवात्मा के समान चेतना नहीं होती। चेतना परम एवं शाश्वत् है; इसलिए चेतना की उत्पत्ति कभी जड़ तत्त्वों के संघात से नहीं हो सकती।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

रुद्राणाम्=रुद्रों में; शंकरः=शिव; च=भी; अस्मि=(मैं) हूँ; वित्तेशः=कुबेर; यक्षरक्षसाम्=यक्ष-राक्षसों में; वसूनाम्=वसुओं में; पावकः=अग्नि; च=भी; अस्मि=(मैं) हूँ; मेरुः=मेरुशिखर; शिखरिणाम्=पर्वतों में; अहम्=मैं (हूँ)।

अनुवाद

मैं सब रुद्रों में शिव हूँ; यक्ष-राक्षसों में धन-देवता कुबेर हूँ; वसुओं में मैं अग्नि हूँ और शिखरों में मेरु हूँ।।२३।।

तात्पर्य

ग्यारह रुद्रों में शंकर (शिव) प्रमुख हैं। वे श्रीभगवान् के गुणावतार हैं और ब्रह्माण्ड में तमोगुण के अधिष्ठाता हैं। देवताओं के प्रधान कोषाध्यक्ष कुबेर भी श्रीभगवान् के रूप हैं। मेरु शिखर अपनी प्राकृतिक संपदा के लिये त्रिभुवन में विख्यात है।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

पुरोधसाम्=पुरोहितों में; च=भी; मुख्यम्=प्रधान; माम्=मुझे; विद्धि=जान; पार्थ=हे अर्जुन; बृहस्पतिम्=बृहस्पति; सेनानीनाम्=सब सेनानायकों में; अहम्=मैं; स्कन्दः=स्कन्द (हूँ); सरसाम्=जलाशयों में; अस्मि=(मैं) हूँ; सागरः=समुद्र।

अनुवाद

हे अर्जुन ! पुरोहितों में मुख्य, भक्ति का स्वामी बृहस्पति मुझे जान; मैं ही सेनापतियों में युद्ध का अधीश्वर स्कन्द (कार्तिकेय) हूँ और जलाशयों में समुद्र हूँ।।२४।।

तात्पर्य

इन्द्र स्वर्ग का अधिपति और प्रधान है। उसके लोक को इन्द्रलोक कहा जाता है। देवराज इन्द्र के पुरोहित बृहस्पति सब पुरोहितों में प्रधान हैं। जिस प्रकार इन्द्र देवराज है, उसी भाँति शिव-पार्वती के पुत्र स्कन्द (कार्तिकेय) सब सेनापतियों के प्रधान हैं। सब प्रकार के जलाशयों में समुद्र की सब से अधिक महत्ता है। श्रीकृष्ण की इन विभूतियों से तो उनकी अनुपम महिमा का वस्तुतः आभास मात्र ही होता है।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

महर्षीणाम्=महर्षियों में; भृगुः=भृगु; अहम्=मैं (हूँ); गिराम्=वाणी में; अस्मि=(मैं) हूँ; एकम् अक्षरम्=प्रणव; यज्ञानाम्=यज्ञों में; जपयज्ञः=भगवन्नाम जपकीर्तनरूप यज्ञ; अस्मि=(मैं) हूँ; स्थावराणाम्=अचल पदार्थों में; हिमालयः=हिमालय पर्वतमाला।

अनुवाद

महर्षियों में मैं भृगु हूँ, वाणी में मैं दिव्य ओंकार हूँ; यज्ञों में भगवन्नामजप-रूपी यज्ञ मैं ही हूँ और स्थावरों में मैं हिमालय हूँ।।२५।।

तात्पर्य

ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा ने विविध योनियों में सन्तति-विस्तार के लिए जिन अनेक पुत्रों को उत्पन्न किया, उन सब में भृगु सर्वाधिक शक्तिशाली हैं। ये महर्षियों में प्रधान हैं। सब दिव्य वचनों में ओंकार श्रीभगवान् का रूप है। सब प्रकार के यज्ञों में **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।** महामन्त्र का जप-कीर्तन श्रीकृष्ण का सबसे शुद्ध स्वरूप है। कभी-कभी पशुयज्ञ का भी विधान किया जाता है, पर **हरे कृष्ण हरे कृष्ण** का यज्ञ इन सब से उत्तम है, क्योंकि इसमें कुछ हिंसा नहीं होती। इसीलिए यह यज्ञ परम सुगम और परम शुद्ध है। त्रिभुवन में जो कुछ भी उदात्त (भव्य) है, वह सब श्रीकृष्ण का रूप है। अतः संसार के सर्वाधिक उत्तुंग पर्वत—हिमालय भी उनके रूप हैं। 'मेरु' नामक शिखर का एक पिछले श्लोक में उल्लेख किया गया है; परन्तु मेरु कदाचित् जंगम भी हो जाता है, जबकि हिमालय नित्य स्थिर रहते हैं। इस दृष्टि से हिमालय पर्वत मेरु से भी बढ़कर हैं।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

अश्वत्थः=पीपल का पेड़; **सर्ववृक्षाणाम्**=सब प्रकार के वृक्षों में; **देवर्षीणाम्**=देवऋषियों में; **च**=तथा; **नारदः**=नारद; **गन्धर्वाणाम्**=गन्धर्वों में; **चित्ररथः**=चित्ररथ; **सिद्धानाम्**=सिद्धों में; **कपिलः मुनिः**=कपिल मुनि।

अनुवाद

सब वृक्षों में मैं पीपल का वृक्ष और देवर्षियों में नारद हूँ; गन्धर्वों में चित्ररथ तथा सिद्धों में कपिल मैं हूँ।।२६।।

तात्पर्य

पीपल का वृक्ष सबसे सुन्दर और उत्तुंग वृक्षों की कोटि में आता है; बहुत से व्यक्ति प्रायः प्रतिदिन प्रातःकाल उसकी अर्चना करते हैं। नारद मुनि की देवताओं में पूजा की जाती है, क्योंकि वे ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। भक्त होने के कारण वे भी श्रीकृष्ण के रूप हैं। गन्धर्वलोक गानप्रवण जीवों से परिपूर्ण हैं। इन सब में चित्ररथ नामक गायक सर्वोत्तम हैं। चिरंजीवियों में कपिलदेव को श्रीकृष्ण का अवतार माना जाता है। श्रीमद्भागवत में उनके दर्शन का प्रतिपादन है। परवर्ती काल में एक अन्य कपिल प्रसिद्ध हो गया, पर उसका दर्शन अनीश्वरवादी है। दोनों में वस्तुतः आकाश-पाताल का भेद है।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

उच्चैः श्रवसम्=उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा; **अश्वानाम्** =घोड़ों में; **विद्धि**=जान; **माम्**=मुझे; **अमृत उद्भवम्**=सागर मन्थन के समय अमृत से उत्पन्न हुआ; **ऐरावतम्**=ऐरावत; **गजेन्द्राणाम्**=हाथियों में; **नराणाम्**=मनुष्यों में; **च**=तथा; **नराधिपम्**=राजा।

अनुवाद

हे अर्जुन! घोड़ों में सागर के अमृत से उत्पन्न उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा और गजराजों में ऐरावत नामक हाथी तथा मनुष्यों में राजा मुझ को ही जान।।२७।।

तात्पर्य

एक समय भक्त सुरों और अभक्त असुरों ने सागर का मन्थन किया। इस मन्थन से अमृत और विष दोनों निकले, जिसमें से विष का पान श्रीशिव जी ने कर लिया था। अमृत से अनेक रत्नों का उद्भव हुआ, जिनमें से एक उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा था। अमृत से ऐरावत नाम के गजराज की भी उत्पत्ति हुई। इन पशुओं की विलक्षण महत्ता है; इसलिए ये दोनों श्रीकृष्ण के रूप हैं।

मनुष्यों में राजा श्रीकृष्ण का रूप है; जैसे श्रीकृष्ण ब्रह्माण्ड-पालन करते हैं, वैसे ही दैवी गुणशील राजा अपने-अपने राज्य का पालन किया करते हैं। भगवान् राम, युधिष्ठिर और परीक्षित महाराज जैसे सभी राजा परम सदाचारी थे और सदा जनता के हित-चिन्तन में तत्पर रहते थे। वैदिक शास्त्रों में राजा को ईश्वर का रूप माना है। दुर्भाग्यवश, धर्मभ्रष्टता के कारण वर्तमान युग में राजतन्त्र बिल्कुल नष्ट हो गया है। परन्तु यह निश्चित है कि पूर्ववती धार्मिक राजाओं के शासन में जनता आज से कहीं अधिक सुखी थी।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

आयुधानाम्=सम्पूर्ण शस्त्रों में; **अहम्**=मैं (हूँ); **वज्रम्**=वज्र; **धेनूनाम्**= गायों में; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **कामधुक्**=सुरभि गाय; **प्रजनः**=सन्तान की उत्पत्ति के लिये; **च**=तथा; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **कन्दर्पः**=कामदेव; **सर्पाणाम्**=सब सर्पों में; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **वासुकिः**=वासुकि।

अनुवाद

शस्त्रों में मैं वज्र हूँ और गायों में कामधेनु हूँ; शास्त्रोक्त रीति से सन्तान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव और सर्पों में मुख्य वासुकि भी मैं हूँ।।२८।।

तात्पर्य

वज्र वास्तव में बड़ा ही शक्तिशाली आयुध है। यह श्रीकृष्ण की शक्ति का प्रतीक है। वैकुण्ठ-जगत् में कृष्णलोक की गायों से किसी भी समय यथेष्ट मात्रा में दुग्ध का दोहन किया जा सकता है। अवश्य ही, प्राकृत-जगत् की गायें इस प्रकार की नहीं हैं, पर शास्त्रों से कृष्णलोक में उनका होना निश्चित रूप से सिद्ध होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण इन 'सुरभि' नामक गायों को प्रचुर संख्या में पालते हैं। वे नित्य गोचारण निरत हैं। सदाचारी-सन्तान की उत्पत्ति के लिये लक्षित काम 'कन्दर्प' कहलाता है, जो श्रीकृष्ण का एक रूप है। केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए किया गया मैथुन श्रीकृष्ण का रूप नहीं है। सदाचारी सन्तान की उत्पत्ति में प्रयुक्त मैथुन ही कन्दर्प कहलाता हैं। यह भी श्रीकृष्ण की एक विभूति है।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।।२९।।

अनन्तः=अनन्त (शेषनाग); **च**=भी; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **नागानाम्**=सब नागों में; **वरुणः**=जल का अधिपति देवता; **यादसाम्**=जलचरों में; **अहम्**=मैं (हूँ); **पितॄणाम्**=पितरों में; **अर्यमा**=अर्यमा नामक पितरेश्वर; **च**=भी; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **यमः**=मृत्यु का नियन्ता यमराज; **संयमताम्**=शासन करने वालों में; **अहम्**=मैं (हूँ)।

अनुवाद

दिव्य नागों में मैं शेषनाग (अनन्त) हूँ और जलचरों में उनका अधिपति वरुण देवता हूँ; पितरों में अर्यमा नामक पितरेश्वर तथा शासन करने वालों में मृत्यु का नियन्ता यमराज मैं हूँ।।२९।।

तात्पर्य

नाना प्रकार दिव्य नागों में अनन्त (शेषनाग) सबसे महान् हैं और जलचरों में वरुण सर्वश्रेष्ठ हैं। ये दोनों ही श्रीकृष्ण के रूप हैं। अर्यमा नामक पितरेश्वर एक वृक्षमय लोक के अधीश्वर हैं। ये भी श्रीकृष्ण की विभूति हैं। बहुत से शक्तिशाली दुष्टों के लिए दण्ड का विधान करते हैं; इन सब में यमराज प्रधान हैं। ये यमराज पृथ्वी के एक निकट के लोक में स्थित हैं। मृत्यु के बाद पापात्मा प्राणियों को वहाँ ले जाया जाता है और यम उनके लिये यथोचित्त दण्ड का विधान करते हैं।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

प्रह्लादः=प्रह्लाद; **च**=भी; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **दैत्यानाम्**=दैत्यों में; **कालः**=महाकाल; **कलयताम्**=दमन करने वालों में; **अहम्**=मैं (हूँ); **मृगाणाम्**=पशुओं में; **च**=तथा; **मृगेन्द्रः**=सिंह; **अहम्**=मैं (हूँ); **वैनतेयः**=गरुड़; **च**=भी; **पक्षिणाम्**=पक्षियों में।

अनुवाद

दैत्यों में मैं प्रह्लाद हूँ और दमन करने वालों में काल हूँ तथा पशुओं में सिंह और पक्षियों में मैं विष्णुवाहन गरुड़ हूँ।।३०।।

तात्पर्य

दिति और अदिति सगी बहनें हैं। इनमें से अदिति के पुत्र 'आदित्य' कहलाते

हैं और दितिपुत्रों की 'दैत्य' संज्ञा है। सभी आदित्य भगवद्भक्त हैं, जबकि दैत्य नास्तिक हैं। दैत्यकुल में उत्पन्न होने पर भी प्रह्लाद बाल्य-काल से परम भागवत थे। उनके भक्तिभाव और देवोपम स्वभाव को देखते हुए उन्हें श्रीकृष्ण का रूप कहा जाता है।

सब प्रकार के दमनकारी तत्त्वों में काल श्रीकृष्ण का रूप है, क्योंकि समय के साथ प्राकृत-जगत् की प्रत्येक वस्तु का ह्रास हो जाता है। नाना प्रकार के पशुओं में सिंह सर्वाधिक शक्तिशाली एवं खूंखार है तथा पक्षियों की लाखों योनियों में भगवान् विष्णु के वाहन श्रीगरुड़जी सब से उत्कृष्ट हैं।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

पवनः=वायु; **पवताम्**=पवित्र करने वालों में; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **रामः**=राम; **शस्त्रभृताम्**=शस्त्रधारियों में; **अहम्**=मैं (हूँ); **झषाणाम्**=जलचरों में; **मकरः**=मगरमच्छ; **च**=भी; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **स्रोतसाम्**=नदियों में; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **जाह्नवी**=गंगा।

अनुवाद

मैं पवित्र करने वालों में वायु हूँ और शस्त्रधारियों में राम हूँ; जलचरों में मैं मगरमच्छ हूँ और नदियों में गंगा हूँ।।३१।।

तात्पर्य

मगरमच्छ बड़े जलचरों में एक है और मनुष्य के लिए बहुत भयावह है। अतः यह श्रीकृष्ण की विभूति है। नदियों में माँ गंगा की सर्वोपरि महिमा है। रामायण के नायक भगवान् राम श्रीकृष्ण के एक विशेष अवतार हैं। ये योद्धाओं में सबसे बलशाली शूरवीर हैं।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

सर्गाणाम्=सम्पूर्ण सृष्टि का; **आदिः**=आदि; **अन्तः**=अन्त; **च**=तथा; **मध्यम्**=मध्य; **च**=भी; **एव**=निःसन्देह; **अहम्**=मैं (हूँ); **अर्जुन**=हे अर्जुन; **अध्यात्म-विद्या**=अध्यात्म-ज्ञान; **विद्यानाम्**=सम्पूर्ण विद्याओं में; **वादः**=तत्त्व-निर्णय; **प्रवदताम्**=तर्कों में; **अहम्**=मैं (हूँ)।

अनुवाद

हे अर्जुन! मैं ही सम्पूर्ण सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त हूँ; सम्पूर्ण विद्याओं में अध्यात्मविद्या हूँ और विवाद करने वालों में मैं तत्त्व-निर्णायक वाद हूँ।।३२।।

तात्पर्य

सृष्टिक्रम में सब से पहले महाविष्णु पाँच महाभूतों को रचते हैं और अन्त में

शिवजी इन सब का प्रलय करते हैं। ब्रह्मा तो केवल उपस्रष्टा हैं। ये सब रचित तत्त्व श्रीभगवान् की अपरा शक्ति के गुणों के अवतार हैं; अतः वास्तव में श्रीभगवान् ही सम्पूर्ण सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त हैं।

अध्यात्मविद्या का प्रतिपादन वेद, वेदान्तसूत्र, पुराण, श्रीमद्भागवत और गीता आदि शास्त्रों में विशद रूप से है। ये सभी श्रीकृष्ण के स्वरूप हैं। नैयायिकों में अनेक प्रकार के तर्कों का प्रचलन है। इनमें प्रमाण देकर स्वपक्ष स्थापन करने का प्रयास 'जल्प' कहलाता है; परस्पर एक-दूसरे को परास्त करने का उद्यम 'वितण्डा' है और तत्त्वनिर्णय को 'वाद' कहते हैं। सम्पूर्ण तर्क-पद्धति का अन्त होने से 'वाद' श्रीकृष्ण का रूप है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।३३।।

अक्षराणाम्=अक्षरों में; **अकारः**=अकार; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **द्वन्द्वः**=द्वन्द्व नामक समास; **सामासिकस्य**=समासों में; **च**=तथा; **अहम् एव**=मैं ही (हूँ); **अक्षयः**= शाश्वत; **कालः**=महाकाल; **धाता**=स्रष्टा; **अहम्**=मैं; **विश्वतोमुखः**=ब्रह्मा।

अनुवाद

मैं अक्षरों में अकार हूँ और समासों में द्वन्द्व समास हूँ तथा मैं ही अविनाशी काल और स्रष्टाओं में सब दिशाओं में मुख वाला ब्रह्मा हूँ।।३३।।

तात्पर्य

अकार संस्कृत वर्णमाला और वैदिक साहित्य का प्रथम अक्षर है। अकार के बिना किसी भी स्वर का उच्चारण नहीं किया जा सकता; इसलिए यह स्वर का आदि है। संस्कृत में भाँति-भाँति के समासों का प्रचलन है। इनमें से 'राम-कृष्ण' जैसे शब्दों को द्वन्द्व कहा जाता है। इस शब्द में 'राम' और 'कृष्ण' दोनों का समान महत्त्व है, इसीलिए यह 'द्वन्द्व' समास है।

मारने वालों में काल सर्वोपरि है, क्योंकि यथासमय सभी कुछ कालकवलित हो जाता है। यह काल श्रीकृष्ण का रूप है। समय आने पर प्रलयाग्नि में सब कुछ नष्ट हो जायगा।

प्रजापतियों और जीवों में ब्रह्मा प्रधान हैं। किसी ब्रह्मा के चार मुख, किसी के आठ, किसी के सोलह और किसी के इससे भी अधिक मुख होते हैं। ये सब अपने-अपने ब्रह्माण्ड के मुख्य प्रजापति हैं और इसलिए श्रीकृष्ण के रूप हैं।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

मृत्युः=मृत्यु; **सर्वहरः**=सब का नाश करने वाली; **च**=भी; **अहम्**=हैं (हूँ); **उद्भवः**=उत्पत्ति का कारण; **च**=तथा; **भविष्यताम्**=आगे आने वालों की; **कीर्तिः**=ख्याति; **श्रीःवाक्**=मधुर वाणी; **च**=तथा; **नारीणाम्**=नारियों में; **स्मृतिः**=स्मृति; **मेधा**=बुद्धि; **धृतिः**=निष्ठा; **क्षमा**=क्षमा।

अनुवाद

सब का नाश करने वाला मृत्यु और आगे होने वालों की उत्पत्ति का कारण भी मैं हूँ; स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ।।३४।।

तात्पर्य

मनुष्य की मृत्यु जन्म से प्रतिक्षण होती रहती है। मृत्यु जीवमात्र को निरन्तर ग्रस रही है, परन्तु केवल अन्तिम प्रहार को ही 'मृत्यु' कहा जाता है। वह मृत्यु श्रीकृष्ण का रूप है। सब प्रकार की जीव-योनियाँ छः विकारों से युक्त हैं: जन्म, विकास, स्थिति, प्रजनन, क्षय और अन्त में विनाश। इन विकारों में से पहला गर्भ से जन्म होना है, जो श्रीकृष्ण का रूप है। जन्म से ही जीवन की सब भावी क्रियाओं का उपक्रम हुआ करता है।

यहाँ उल्लिखित सातों ऐश्वर्यों को स्त्रीवाचक माना गया है। जो नारी इनमें से कुछ अथवा सभी गुणों से युक्त हो, वह यश-लाभ करती है। संस्कृत पूर्ण रूप से सिद्ध भाषा है; इसलिए इसकी अनुपम कीर्ति है। अध्ययन को स्मरण रखने की सामर्थ्य स्मृति कहलाती है। विविध विषयों पर अधिक ग्रन्थों का अध्ययन करना आवश्यक नहीं है। थोड़े को स्मरण रखकर यथासमय उद्धृत करने की योग्यता भी एक ऐश्वर्य है।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

बृहत्साम=बृहत्साम; **तथा**=और; **साम्नाम्**=गाने योग्य सामवेद की श्रुतियों में; **गायत्री**=गायत्रीमंत्र; **छन्दसाम्**=सब छन्दों में; **अहम्**=मैं (हूँ); **मासानाम्**=महिनों में; **मार्गशीर्षः**=मार्गशीर्ष मास; **अहम्**=मैं (हूँ); **ऋतूनाम्**=ऋतुओं में; **कुसुमाकरः**=वसन्त।

अनुवाद

मैं मन्त्रों में इन्द्र के लिए गाया जाने वाला बृहत्साम गान हूँ और छन्दों में ब्राह्मणों द्वारा नित्य उच्चारित गायत्रीमंन्त्र हूँ; महीनों में मार्गशीर्ष मास हूँ और ऋतुओं में मैं वसन्त हूँ।।३५।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् पहले कह आये हैं कि सम्पूर्ण वेदों में सामवेद विशिष्ट है, क्योंकि यह विभिन्न देवताओं द्वारा गाए पद्यों से परिपूर्ण है। इन्हीं में से एक गीति का नाम 'बृहत्साम्' है। इस परमोत्तम मधुर संगीतमय श्रुति का गायन निशीथ (मध्यरात्रि) के समय किया जाता है।

संस्कृत में काव्य के लिए शास्त्र द्वारा निर्धारित विधान हैं। आधुनिक कविता की भाँति देवभाषा में लय और ताल की रचना मनमाने ढंग से नहीं की जाती। शास्त्रीय छन्दों में 'गायत्री' प्रधान है; इसलिए गुणवान् ब्राह्मण इसे जपते हैं। श्रीमद्भागवत में भी इस मन्त्र का उल्लेख है। इसका विशेष प्रयोजन स्वरूप-

साक्षात्कार है; इसलिए यह भी भगवान् का स्वरूप है। यह मन्त्र उत्तम साधकों के लिए है और इसकी जप-सिद्धि से विशुद्ध सत्त्व में स्थिति हो जाती है। अतः इस मन्त्र का जप करने के लिए सत्त्वगुण में स्थित होकर उपयुक्त सद्गुणों से युक्त हो जाना चाहिए। गायत्री मन्त्र की वैदिक संस्कृति में वस्तुतः बड़ी महिमा है। इसे ब्रह्म का नाद-अवतार माना जाता है। ब्रह्मा इसके गुरु हैं और उन्हीं की शिष्यपरम्परा में यह प्राप्त होता है।

मार्गशीर्ष मास अन्य सभी मासों से श्रेष्ठ है। इस समय खेतों से अन्न इकट्ठा किया जाता है और जनता आनन्दित रहती है। वसन्त ऋतु सम्पूर्ण विश्व में लोकप्रिय है ही, क्योंकि इस समय न अधिक उष्णता होती है और न ही अधिक शीत रहता है तथा कुसुम और वृक्ष मुकुलित होते हैं, फलते-फूलते हैं। वसन्त में श्रीकृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित बहुत से महोत्सव भी आते हैं। सबसे अधिक आनन्दमयी ऋतु होने के नाते वसन्त श्रीकृष्ण का रूप है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

द्यूतम्=जुआ; **छलयताम्**=सब छल करने वालों में; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **तेजः**=प्रभाव; **तेजस्विनाम्**=प्रभावशाली पुरुषों का; **अहम्**=मैं (हूँ); **जयः**=विजय; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **व्यवसायः**=साहस; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **सत्त्वम्**=बल; **सत्त्ववताम्**=बलवानों का; **अहम्**=मैं (हूँ)।

अनुवाद

मैं छल करने वालों में जुआ हूँ और प्रभावशालियों का प्रभाव हूँ। मैं विजय हूँ, मैं साहस हूँ और मैं ही बलवानों का बल हूँ।।३६।।

तात्पर्य

संसार भर में भाँति-भाँति के छल करने वाले हैं। द्युतकर्म इन सब छल-साधनों का मुकुटमणि है; इसलिए वह भी श्रीकृष्ण की विभूति है। परात्पर होने के कारण श्रीकृष्ण किसी भी मनुष्य से बढ़कर छल कर सकते हैं। यदि श्रीकृष्ण किसी को छलना चाहें तो उन्हें कोई भी नहीं हरा सकता। स्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण की महानता एकांगी न होकर सर्वांगीण है।

विजेताओं में श्रीकृष्ण मूर्तिमान विजय हैं; प्रभावशाली पुरुषों के प्रभाव हैं; उद्यमी उद्योगपतियों में सर्वाधिक उद्यमी हैं; साहसिकों में परम साहसी हैं और बलवानों में परम बलशाली हैं। जब श्रीकृष्ण पृथ्वी पर प्रकट थे, तो कोई भी बल में उनका पार नहीं पा सका। यहाँ तक कि बाल्यकाल में उन्होंने गोवर्धन पर्वत को खेल-खेल में ही धारण कर लिया था। श्रीकृष्ण छल करने में अतुलनीय हैं, तेज में अतुलनीय हैं, जय और साहस में अतुलनीय हैं तथा बल में भी अतुलनीय हैं।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

वृष्णीनाम्=वृष्णिवंशियों में; **वासुदेवः**=वसुदेवपुत्र कृष्ण; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **पाण्डवानाम्**=पाण्डवों में; **धनंजयः**=अर्जुन; **मुनीनाम्**=मुनियों में; **अपि**=भी; **अहम्**=मैं (हूँ); **व्यासः**=सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों का संकलनकर्ता व्यास; **कवीनाम्**=मनीषियों में; **उशना**=उशना; **कविः**=तत्त्ववेत्ता।

अनुवाद

वृष्णिवंशियों में मैं वासुदेव हूँ और पाण्डवों में अर्जुन हूँ तथा मुनियों में वेदव्यास और कवियों में उशना (शुक्राचार्य) हूँ।।३७।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण आदिपुरुष स्वयं भगवान् हैं और वासुदेव उनके स्वयंप्रकाश हैं। भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलराम दोनों वसुदेवजी ने पुत्ररूप में प्रकट होते हैं। पाण्डवों में अर्जुन सर्वाधिक प्रख्यात और शूरवीर हैं। नरोत्तम होने के कारण वे श्रीकृष्ण के ही स्वरूप हैं। वैदिक ज्ञान के विज्ञ मुनियों में व्यासदेव सबसे महान् हैं; उन्होंने वैदिक ज्ञान का नाना प्रकार से वर्णन किया, जिससे इस कलियुग के मनुष्य भी उसे समझ सकें। व्यासदेव श्रीकृष्ण के अवतार हैं, इसलिए भी श्रीकृष्ण के रूप हैं। जो मनुष्य किसी विषय का सूक्ष्मार्थ विवेचन कर सकते हैं, उन्हें 'कवि' कहा जाता है। उशना (शुक्राचार्य) नामक कवि दैत्यों के गुरु थे। राजनीतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वतः परम बुद्धिमान् और दूरदर्शी होने के कारण श्रीकृष्ण की विभूतियों में उनकी गणना की गयी है।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

दण्डः=दमनशक्ति; **दमयताम्**=दमन करने वालों की; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **नीतिः**=नीति; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **जिगीषताम्**=विजेताओं की; **मौनम्**=मौन; **च**=तथा; **एव**=भी; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **गुह्यानाम्**=गोपनीयों का; **ज्ञानम्**=तत्त्वज्ञान; **ज्ञानवताम्**=ज्ञानियों का; **अहम्**=मैं (हूँ)।

अनुवाद

मैं दण्ड करने वालों का दण्ड हूँ और विजय की इच्छा वालों की नीति हूँ; गोपनीय भावों में मौन तथा ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ।।३८।।

तात्पर्य

विविध प्रकार के दमनकारी तत्त्वों में उनका सबसे अधिक महत्त्व है, जो दुष्टों का नाश करते हैं। दुष्ट-दमन के लिये प्रयुक्त दण्ड श्रीकृष्ण का रूप है। किसी भी क्रियाक्षेत्र में विजय के अभिलाषियों में रीति की ही अन्तिम विजय होती है। सुनना, सोचना, मनन करना आदि गोपनीय क्रियाओं में मौन सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, मौन से अतिशीघ्र उन्नति होती है। ज्ञानी वह है, जो जड़ प्रकृति और आत्मा में तथा श्रीभगवान् की परा और अपरा शक्तियों में भेद को जानता हो। यह ज्ञान साक्षात् श्रीकृष्ण का स्वरूप है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

यत्=जो; **च**=भी; **अपि**=हो; **सर्वभूतानाम्**=सम्पूर्ण सृष्टि का; **बीजम्**=कारण; **तत्**=वह; **अहम्**=मैं (हूँ); **अर्जुन**=हे अर्जुन; **न**=नहीं; **तत्**=वह; **अस्ति**=है; **विना**=बिना; **यत्**=जो; **स्यात्**=हो; **मया**=मेरे; **भूतम्**=सृष्ट पदार्थ; **चराचरम्**=स्थावर-जंगम।

अनुवाद

हे अर्जुन ! अधिक क्या, मैं ही सम्पूर्ण सृष्टि का आदिबीज हूँ। ऐसा चराचर कुछ भी नहीं है जो मेरे बिना हो।।३९।।

तात्पर्य

प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। इस सृष्टि के कारण अथवा बीज श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण की शक्ति के बिना कुछ नहीं हो सकता; अतएव उन्हें सर्वशक्तिमान् कहा जाता है। उनकी शक्ति के बिना चराचर किसी भी पदार्थ का अस्तित्त्व नहीं हो सकता। जो सत्ता श्रीकृष्ण की शक्ति पर आधारित नहीं है, वह माया है; अर्थात्, वास्तव में है ही नहीं।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

न=नहीं; **अन्तः**=अन्त; **अस्ति**=है; **मम**=मेरी; **दिव्यानाम्**=दिव्य; **विभूतीनाम्**=विभूतियों का; **परतंप**=हे शत्रुविजयी अर्जुन; **एषः**=यह; **तु**=तो; **उद्देशतः**=उदाहरण के रूप में संक्षेप से; **प्रोक्तः**=कहा गया है; **विभूतेः**=विभूतियों का; **विस्तरः**=विस्तार; **मया**=मेरे द्वारा।

अनुवाद

हे शत्रुविजयी अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह तो मैंने तेरे लिए अपनी विभूतियों का विस्तार संक्षेप से कहा है।।४०।।

तात्पर्य

वैदिक शास्त्रों के अनुसार, यद्यपि श्रीभगवान् की विविध विभूतियों और शक्तियों को नाना प्रकार से समझाया जाता है, पर इनका अन्त नहीं है। इसलिए श्रीभगवान् की सम्पूर्ण विभूतियों और शक्तियों का वर्णन नहीं किया जा सकता। यहाँ तो अर्जुन की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए केवल कुछ दृष्टान्त दिये गये हैं।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।४१।।

यत् यत्=जो-जो भी; **विभूतिमत्**=ऐश्वर्य से युक्त; **सत्त्वम्**=वस्तु (हो); **श्रीमत्**=सुन्दर; **ऊर्जितम्**=यशस्वी, शक्तिशाली; **एव**=निःसन्देह; **वा**=अथवा; **तत्-तत्**=उस सब को; **एव**=निःसन्देह; **अवगच्छ**=जान; **त्वम्**=तू; **मम**=मेरे; **तेजः अंश**=तेज के अंश से; **सम्भवम्**=उत्पन्न हुई।

अनुवाद

जो जो भी ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई जान।।४१।।

तात्पर्य

वैकुण्ठ-जगत् में ही नहीं, प्राकृत-जगत् में भी जो कोई वस्तु ऐश्वर्य अथवा कांति से युक्त हो, उसे श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का अंश-प्रकाश समझना चाहिए। कोई भी विलक्षण ऐश्वर्यमय पदार्थ श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का रूप है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

अथवा=अथवा; **बहुना**=बहुत; **एतेन**=इस; **किम्**=क्या प्रयोजन है; **ज्ञातेन**=जानने से; **तव**=तेरा; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **विष्टभ्य**=धारण करके; **अहम्**=मैं; **इदम्**=इस; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **एकांशेन**=एक अंशमात्र से; **स्थितः**=स्थित (हूँ); **जगत्**=जगत् को।

अनुवाद

अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है ? तू केवल इतना जान ले कि अपने एक अंशमात्र से इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करके मैं इसमें व्याप्त हो रहा हूँ।।४२।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् परमात्मारूप से सब सत्त्वों में प्रवेश करके सम्पूर्ण प्राकृत-सृष्टि में व्याप्त हो रहे हैं। यहाँ वे अर्जुन से कहते हैं कि नाना वस्तुओं के ऐश्वर्य और उत्कर्ष को अलग-अलग जानने का कोई अर्थ नहीं है। उसके लिए केवल इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता इसीलिए है कि श्रीकृष्ण ने उन सब में परमात्मारूप से प्रवेश किया है। उसे जानना चाहिए कि सब से बड़े जीव, ब्रह्मा से लेकर तुच्छ चींटी तक सबके सब प्राणी जीवित हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक में श्रीभगवान् का प्रवेश है; वे ही उन सबका पालन-पोषण कर रहे हैं।

इस श्लोक से सिद्ध हो जाता है कि देवताओं की उपासना करना योग्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा, शिव आदि देवताओं में श्रीभगवान् के ऐश्वर्य का केवल एक अंश है। श्रीभगवान् सब के आदिकारण हैं, उनसे अधिक महिमामय दूसरा कोई नहीं है। वे असमोर्ध्व हैं, अर्थात् उनके समान कोई नहीं है, फिर बड़ा तो होगा ही क्यों कर। 'विष्णुमन्त्र' में कहा गया है कि श्रीभगवान् को ब्रह्मा और शिव आदि किसी देवता के समान माननेवाला उसी क्षण नास्तिक हो जाता है। परन्तु यदि श्रीकृष्ण की शक्ति के नाना ऐश्वर्यों और प्रकाशों की कथाओं का गम्भीर स्वाध्याय किया जाय, तो श्रीकृष्ण का तत्त्व निश्चित रूप से जानने में आ सकता है और परिणाम में मन भी श्रीकृष्ण की आराधना में अनन्य भाव से निवेशित हो सकता है। श्रीभगवान् का अंश-प्रकाश परमात्मा सब पदार्थों में प्रविष्ट है; इसलिए वे सर्वव्यापी हैं। अतः शुद्धभक्त पूर्ण

भक्तिभाव के साथ कृष्णभावना में निमग्न-चित हो जाते और इससे नित्य शुद्ध सत्त्व में स्थित रहते हैं। आंठवें से ग्यारहवें श्लोक तक भक्तियोग का तथा श्रीकृष्ण की आराधना का अतिशय विशद निर्देश है। शुद्ध भक्ति का यही मार्ग है। इस अध्याय में उस साधन का पूर्ण विवरण है, जिसके द्वारा भक्तियोग की परम संसिद्धि, अर्थात् श्रीभगवान् के संग की प्राप्ति हो जाती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगोनाम दशमोऽध्यायः ।।१०।।
इति भक्तिवेदान्तभाष्ये दशमोऽध्यायः ।।

अथैकादशोऽध्यायः

विश्वरूपदर्शनयोग

(श्रीभगवान् का विश्वरूप)

अर्जुन उवाच।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **मत् अनुग्रहाय**=मुझ पर अनुग्रह करने के लिये; **परमम्**=परम; **गुह्यम्**=गोपनीय; **अध्यात्मसंज्ञितम्**=अध्यात्म-विषयक; **यत्**=जो; **त्वया**=आपके द्वारा; **उक्तम्**=कहा गया; **वचः**=वचन; **तेन**=उससे; **मोहः**=अज्ञान; **अयम्**=यह; **विगतः**=नष्ट हो गया; **मम**=मेरा।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, प्रभो! आपने कृपापूर्वक मुझसे जिस अध्यात्म-विज्ञान का रहस्यमय उपदेश कहा, उसे सुनने से मेरा यह मोह नष्ट हो गया है।।१।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण सब कारणों के परम कारण हैं—यह अध्याय इसी रहस्य को उद्घाटित करता है। वे महाविष्णु के भी कारण हैं और उन्हीं से प्राकृत-सृष्टि उत्पन्न होती है। श्रीकृष्ण अवतार नहीं हैं; वे सम्पूर्ण अवतारों के उद्गम हैं, अवतारी हैं। पूर्ववर्ती दसवें अध्याय में यह तत्त्व सम्पूर्ण रूप से प्रतिपादित हो चुका है।

अब, जहाँ तक अर्जुन का सम्बन्ध है, वह स्वयं कहता है कि उसका मोह नष्ट

हो गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रीकृष्ण को अब वह साधारण मनुष्य और अपना सखा ही नहीं मानता; वह जान गया है कि श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के मूल हैं। अर्जुन परम प्रबुद्ध हो चुका है और यह जानकर आनन्दसिन्धु में निमग्न है कि श्रीकृष्ण जैसे महान् सखा से उसका सख्य है। परन्तु साथ ही, विचार करता है कि उसके द्वारा श्रीकृष्ण को सब कारणों का कारण स्वीकार कर लेने पर भी हो सकता है कि दूसरे ऐसा न करें। अतएव श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, इस सत्य को जीवमात्र के लिये सार्वभौम रूप से स्थापित करने के उद्देश्य से अर्जुन ने इस अध्याय में श्रीकृष्ण से अपने विश्वरूप का दर्शन कराने की प्रार्थना की है। वास्तव में जब भी किसी को श्रीकृष्ण के विश्वरूप का दर्शन होता है, तो वह अर्जुन की ही भाँति भयभीत हो जाया करता है। परन्तु श्रीकृष्ण इतने कृपामय हैं कि उस विश्वरूप का दर्शन देकर फिर से अपना मूल द्विभुज रूप धारण कर लेते हैं। श्रीकृष्ण ने बारंबार जो कुछ कहा है, अर्जुन उसे सत्य मानता है। उसका कल्याण हो, इसीलिए श्रीकृष्ण उसे उपदेश कर रहे हैं और अर्जुन भी स्वीकार करता है कि उसके मोह का निवारण उनकी अहैतुकी कृपा का ही फल है। उसे अब पूर्ण विश्वास है कि श्रीकृष्ण सब कारणों के परम कारण और जीवमात्र के अन्तर्यामी परमात्मा हैं।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

भव=उत्पत्ति; **अप्ययौ**=प्रलय; **हि**=निःसन्देह; **भूतानाम्**=समस्त जीवों का; **श्रुतौ**=सुना है; **विस्तरशः**=विस्तार से; **मया**=मैंने; **त्वत्तः**=आपसे; **कमलपत्राक्ष**=हे कमलनयन; **माहात्म्यम्**=महिमा; **अपि**=भी; **च**=तथा; **अव्ययम्**=अविनाशी।

अनुवाद

हे कमलनयन! मैंने जीवों की उत्पत्ति और प्रलय का तत्त्व आपसे विस्तारपूर्वक सुना है और आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है, जिससे इस तत्त्व की अनुभूति होती है।।२।।

तात्पर्य

अर्जुन ने श्रीकृष्ण को **कमलनयन** कहा है, क्योंकि श्रीकृष्ण के नेत्र पद्मदल के सदृश दीर्घरक्तान्त अतिरम्य हैं। श्रीकृष्ण को इस प्रकार सम्बोधित करने में उसके हृदय में उठने वाला हर्षातिरेक ही हेतु है। इसका कारण यह है कि पिछले अध्याय के अन्तिम श्लोक में उसे आश्वासन देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है कि उन्होंने अपने एक अंश से सम्पूर्ण सृष्टि को धारण कर रखा है। इस प्राकृत सृष्टि में जो कुछ है, उस सब के वे उद्गम हैं—अर्जुन श्रीभगवान् के मुखारविन्द से इस तत्त्व को विस्तारसहित सुन चुका है। अर्जुन को यह भी विदित है कि सारी उत्पत्ति-प्रलय के कारण होने पर भी वे उस सबसे बिलकुल असंग हैं। उनकी सर्वव्यापकता से उनके निज स्वरूप में कोई हानि नहीं आती। यही श्रीकृष्ण का अचिन्त्य ऐश्वर्य है और अर्जुन का कहना है कि उसने इस तत्त्व को पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लिया है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

एवम्=ऐसा; **एतत्**=यह; **यथा**=जैसा; **आत्थ**=कहते हैं; **त्वम्**=आप; **आत्मानम्**=अपने को; **परमेश्वर**=हे परमेश्वर; **द्रष्टुम्**=देखना; **इच्छामि**=चाहता हूँ; **ते**=आपके; **रूपम्**=रूप को, **ऐश्वरम्**=दिव्य; **पुरुषोत्तम**=हे पुरुषोत्तम।

अनुवाद

हे परमेश्वर! हे पुरुषोत्तम! यद्यपि यहाँ अपने सामने मैं आपके स्वयं रूप का दर्शन कर रहा हूँ, फिर भी हे प्रभो! आपका वह रूप देखना चाहता हूँ, जिससे आप इस सृष्टि में प्रविष्ट हुए हैं। विभो! मैं आपका वही रूप देखना चाहता हूँ।।३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् पूर्व में कह आये हैं कि उन्होंने अंशरूप से प्राकृत ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया है; इसी कारण इस सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति है। जहाँ तक अर्जुन का सम्बन्ध है, उसे श्रीकृष्ण के वचनों में लेशमात्र संशय नहीं है। परन्तु श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मानने वाले भावी मनुष्यों में श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, यह निष्ठा जागृत करने के लिए वह उनके विश्वरूप को प्रत्यक्ष देखना चाहता है। वह देखना चाहता है कि ब्रह्माण्ड से असंग होने पर भी श्रीकृष्ण उसमें किस प्रकार क्रियाशील हैं। श्रीकृष्ण से अर्जुन का यह निवेदन गूढ़ार्थ रखता है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और इस कारण अर्जुन के भी अन्तर्यामी हैं। अतएव वे अर्जुन की वाँछा को जानते हैं और समझ सकते हैं कि अर्जुन में निजी रूप से विश्वरूपदर्शन की कोई विशेष इच्छा नहीं है। वह उनके कृष्णरूप के दर्शन से पूर्ण तृप्त है। वे जानते हैं कि अन्य मनुष्यों में वे भगवान् हैं, इस प्रकार का विश्वास उत्पन्न करने के उद्देश्य को लेकर ही अर्जुन उनके विश्वरूप दर्शन के लिय उत्कण्ठित है। उसे अपने लिए श्रीकृष्ण की भगवत्ता का कोई प्रमाण नहीं चाहिए। श्रीकृष्ण जानते हैं कि अर्जुन विश्वरूप के दर्शन से एक कसौटी स्थापित करना चाहता है, क्योंकि भविष्य में अपने को भगवत्-अवतार कहने वाले धूर्तों की बहुलता होगी। अतः जनता सावधान रहे, जो अपने को कृष्ण बताता है, उसे जनता के सामने अपने दावे को प्रमाणित करने के लिये विश्वरूप दिखाने को तैयार रहना चाहिये।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

मन्यसे=(आप) समझते हैं; **यदि**=यदि; **तत्**=वह; **शक्यम्**=सम्भव; **मया**=मेरे द्वारा; **द्रष्टुम्**=देखना; **इति**=इस प्रकार; **प्रभो**=हे प्रभो; **योगेश्वर**=हे सम्पूर्ण योग-शक्ति के स्वामी; **ततः**=तो; **मे**=मुझे; **त्वम्**=आप; **दर्शय**=दर्शन कराइये; **आत्मानम्**=अपने स्वरूप का; **अव्ययम्**=अविनाशी।

अनुवाद

यदि आपके विचार में मेरे द्वारा आपका वह विश्वरूप देखा जा सकता है, तो हे प्रभो! हे योगेश्वर! कृपया उसी अविनाशी रूप का मुझे दर्शन कराइये।।४।।

तात्पर्य

शास्त्र का सिद्धान्त है कि प्राकृत इन्द्रियों से भगवान् श्रीकृष्ण को न तो देखा जा सकता है, न सुना जा सकता है और न अनुभव ही किया जा सकता है। किन्तु यदि कोई प्रारम्भ से भगवद्भक्ति के परायण रहे तो वह श्रीभगवान् का साक्षात्कार करने के योग्य हो जाता है। जीवात्मा चैतन्य का एक अणु मात्र है; इसलिए वह अपने बल पर परम चैतन्य परमेश्वर श्रीकृष्ण को देख अथवा तत्त्व से जान नहीं सकता। भक्त अर्जुन ज्ञानमार्ग की अनुमान शक्ति पर निर्भर नहीं है। उसने माना है कि जीव होने के कारण वह सर्वथा अपूर्ण है, जबकि श्रीकृष्ण अनन्त हैं, उनकी महिमा अगाध है। अर्जुन समझ सकता है कि जीव अपने उद्यम से अनन्त को नहीं जान सकता; अनन्त द्वारा कृपापूर्वक अपने को उद्घाटित करने पर ही वह उनका तत्त्व जान पाता है। श्रीभगवान् के लिए यहाँ **योगेश्वर** शब्द महत्त्वपूर्ण है। तात्पर्य यह है कि वे अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न हैं, इसलिए यदि चाहें तो अनन्त होने पर भी अपने को प्रकट कर सकते हैं। अस्तु, अर्जुन श्रीकृष्ण से उनके अचिन्त्य अनुग्रह की याचना कर रहा है, आदेश नहीं दे रहा। श्रीकृष्ण तब तक किसी को अपना दर्शन कराने को बाध्य नहीं हैं, जब तक वह कृष्णभावनाभावित होकर पूर्ण रूप से उनके शरणागत और भक्तिनिष्ठ न हो जाय; मनोधर्म के बल पर निर्भर रहने वाले मनुष्य के लिए उनका दर्शन अलभ्य है।

श्रीभगवानुवाच।
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **पश्य**=देख; **मे**=मेरे; **पार्थ**=हे अर्जुन; **रूपाणि**=रूप; **शतशः**=सैकड़ों; **अथ**=तथा; **सहस्रशः**=हजारों; **नानाविधानि**=नाना प्रकार के; **दिव्यानि**=अलौकिक; **नाना**=विविध; **वर्ण**=रंग; **आकृतीनि**=आकार वाले; **च**=और।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! हे पार्थ! अब तू मेरी विभूतियों—सागर के सदृश नाना वर्ण और आकार वाले सैकड़ों-हजारों दिव्य रूपों को देख।।५।।

तात्पर्य

अर्जुन श्रीकृष्ण के उस विश्वरूप के दर्शन का अभिलाषी है, जो लोकोत्तर होते हुए भी प्रकट सृष्टि के निमित्त से प्रकाशित होता है और इस कारण जो माया के अनित्य-कालचक्र से बाधित है। माया के समान ही श्रीकृष्ण का यह विश्वरूप भी समय-समय पर प्रकट-अप्रकट हुआ करता है। यह श्रीकृष्ण के स्वयंरूपों के समान

वैकुण्ठ् में नित्य नहीं रहता। भगवद्भक्त सामान्यतः इस विश्वरूप के दर्शन की इच्छा नहीं करता। परन्तु अर्जुन इसे देखने के लिए उत्कंठित है; इसलिए श्रीकृष्ण इसे प्रकट कर रहे हैं। यह विश्वरूप किसी साधारण मनुष्य के लिए दर्शनीय नहीं है। श्रीकृष्ण की शक्ति से ही इसका दर्शन हो सकता है।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

पश्य=देख; **आदित्यान्**=अदिति के बारह पुत्रों को; **वसून्**=आठ वसुओं को; **रुद्रान्**=ग्यारह रुद्रों को; **अश्विनौ**=दोनों अश्विनी कुमारों को; **मरुतः**=उन्चास मरुद्गणों को; **तथा**=भी; **बहूनि**=बहुत से; **अदृष्टपूर्वाणि**=पहले न देखे-सुने हुए; **पश्य**=देख; **आश्चर्याणि**=आश्चर्यमय रूपों को; **भारत**=हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ, अर्जुन।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन! यहाँ मुझमें आदित्यों को, अर्थात् अदिति के बारह पुत्रों को, आठ वसुओं को, ग्यारह रुद्रों को और अन्य सभी देवताओं को देख तथा और भी बहुत से ऐसे आश्चर्यमय रूपों को देख, जिन्हें पहले किसी ने देखा-सुना नहीं है।।६।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण का सखा और मूर्धन्य मनीषी होते हुए भी अर्जुन के लिये श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में सब कुछ जान पाना सम्भव न था। यहाँ उल्लेख है कि अर्जुन को दृष्टिगोचर हुए इन रूपों का अन्य मनुष्यों ने न तो श्रवण किया है और न दर्शन ही किया है। अब श्रीकृष्ण स्वयं इन आश्चर्यमय रूपों को प्रकट कर रहे हैं।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

इह=इस; **एकस्थम्**=एक स्थान में; **जगत्**=ब्रह्माण्ड को; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **पश्य**=देख; **अद्य**=अब; **स**=सहित; **चर**=जंगम; **अचरम्**=स्थावर; **मम**=मेरे; **देहे**=इस शरीर में; **गुडाकेश**=हे अर्जुन; **यत्**=जो कुछ; **च**=भी; **अन्यत्**=और; **द्रष्टुम्**=देखना; **इच्छसि**=चाहता है।

अनुवाद

तुझे जो कुछ भी देखने की इच्छा हो, वह सब मेरे इस शरीर में इसी समय देख सकता है। इस समय जो देखना चाहे अथवा भविष्य में भी जो कुछ देखने की तेरी इच्छा हो, वह सब इस विश्वरूप में देख ले। यहाँ चराचर सम्पूर्ण जगत् दृष्टिगोचर है।।७।।

तात्पर्य

एक देश में स्थित रहकर सम्पूर्ण जगत् का दर्शन कोई नहीं कर सकता। बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी यह नहीं देख सकता कि ब्रह्माण्ड के अन्य अंचलों में क्या हो रहा है। किन्तु श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ऐसी शक्ति प्रदान की है, जिससे वह भूत, वर्तमान, अथवा भविष्य की किसी भी घटना को इच्छानुसार देख सकता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के अनुग्रह से अर्जुन सर्वज्ञ हो गया है।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

न=नहीं; **तु**=किन्तु; **माम्**=मुझे; **शक्यसे द्रष्टुम्**=देख सकेगा; **अनेन**=इन; **एव**=ही; **स्वचक्षुषा**=अपने चर्म-चक्षुओं से; **दिव्यम्**=अलौकिक; **ददामि**=(मैं) देता हूँ; **ते**=तुझ को; **चक्षुः**=नेत्र; **पश्य**=देख; **मे**=मेरी; **योगम् ऐश्वरम्**=अचिन्त्य योग-शक्ति को।

अनुवाद

परन्तु अपने चर्म-चक्षुओं से तू मुझे नहीं देख सकेगा। इसलिए तुझे दिव्य-दृष्टि प्रदान करता हूँ, जिससे तू मेरी योगशक्ति और ऐश्वर्य को देख सके।।८।।

तात्पर्य

शुद्धभक्त द्विभुज-रूप के अतिरिक्त श्रीकृष्ण के अन्य किसी रूप को देखने की अभिलाषा नहीं रखता। भक्त को उनके विश्वरूप का दर्शन उन्हीं की कृपा से मिली दिव्य-दृष्टि से करना है, मन से नहीं। श्रीकृष्ण के विश्वरूप के दर्शनार्थ अर्जुन को अपनी दृष्टि बदलने को ही कहा गया है, चित्त को नहीं। श्रीकृष्ण के विश्वरूप की अधिक महत्ता नहीं है, जैसा अनुवर्ती श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा। तथापि, क्योंकि अर्जुन उसे देखने का अभिलाषी है, इसलिए श्रीभगवान् उसे वह दृष्टि दे रहे हैं, जिससे उस विश्वरूप का दर्शन हो सकता है।

श्रीकृष्ण के साथ यथार्थ रस-सम्बन्ध वाले भक्त प्रेममय रूपों के प्रति ही आकृष्ट होते हैं, ऐश्वर्यों के निरीश्वर प्रदर्शन से नहीं। श्रीकृष्ण के सहचर, सखा तथा माता-पिता यह कभी नहीं चाहते कि श्रीकृष्ण अपने ऐश्वर्य का प्रकाश करें। वे शुद्धप्रेम में डूबे रहते हैं और इतना भी नहीं जानते कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। श्रीकृष्ण के साथ प्रेमरस का विनिमय करते हुए यह विस्मृति सी हो जाती है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं। श्रीमद्भागवत में कथन है कि वृन्दावन में श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ा करने में मग्न सभी बालक परम पुण्यात्मा हैं; बहुत जन्मों तक तपश्चर्या करने के बाद कहीं जाकर उन्हें श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ा करने का सुयोग मिला है। ये बालक नहीं जानते कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं; वे तो उन्हें अपना सखा ही मानते हैं। जहाँ परमपुरुष को महर्षिगण ब्रह्म मानते हैं और भक्त भगवान् मानते हैं, वहीं साधारण मनुष्य उन्हें माया का कार्य समझते हैं। वास्तव में विश्वरूप दर्शन से भक्त का कोई प्रयोजन नहीं है। अर्जुन तो

केवल श्रीकृष्ण के वाक्य को सिद्ध करने के लिये उसे देखना चाहता था, जिससे भविष्य में होने वाले मनुष्य यह समझ सकें कि श्रीकृष्ण ने अपने को परम सत्य घोषित ही नहीं किया; बल्कि अर्जुन को वास्तव में अपने इस रूप का दर्शन भी कराया। अर्जुन के लिये इस तथ्य को प्रमाणित करना आवश्यक है, क्योंकि उससे परम्परा का प्रारम्भ हो रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्वबोध के लिये जो अर्जुन के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हैं, उन मनुष्यों को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि श्रीकृष्ण ने केवल परम सत्य होने का दावा ही नहीं किया, अपने इस रूप को वास्तव में प्रकट भी किया।

श्रीभगवान् ने अर्जुन को विश्वरूप दर्शन के लिये पर्याप्त शक्ति दी है, यद्यपि जैसा पूर्व वर्णन है, वे जानते हैं कि अर्जुन उसे अपने लिए नहीं देखना चाहता।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

सञ्जयः उवाच=सञ्जय ने कहा; **एवम्**=इस प्रकार; **उक्त्वा**=कह कर; **ततः**=उसके उपरान्त; **राजन्**=हे राजन्; **महायोगेश्वरः**=परम शक्तिशाली योगेश्वर; **हरिः**=भगवान् श्रीकृष्ण ने; **दर्शयामास**=दिखाया; **पार्थाय**=अर्जुन को **परमम्**=अलौकिक; **रूपम्**=विश्वरूप; **ऐश्वरम्**=ऐश्वर्ययुक्त।

अनुवाद

संजय ने कहा, हे राजन् ! इस प्रकार कह कर परम योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने ऐश्वर्यमय विश्वरूप का दर्शन कराया।।९।।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

अनेक=नाना; **वक्त्र**=मुख (और); **नयनम्**=नेत्रों (से युक्त); **अनेक**=विविध; **अद्भुत**=विस्मयकारी; **दर्शनम्**=दशन वाले; **अनेक**=नाना; **दिव्य**=अलौकिक; **आभरणम्**=भूषणों से युक्त; **दिव्य**=दिव्य; **अनेक**=नाना प्रकार के; **उद्यत**=उठाये हुए; **आयुधम्**=शास्त्रें को, **दिव्य**=अलौकिक; **माल्य**=माला (और); **अम्बरधरम्**=वस्त्रों को धारण किये हुए; **दिव्य गन्ध**=सौरभ (से); **अनुलेपनम्**=उपलिप्त; **सर्व**=सब प्रकार से; **आश्चर्यमयम्**=आश्चर्यमय; **देवम्**=प्रकाशवान्; **अनन्तम्**=सीमारहित; **विश्वतःमुखम्**=सर्वव्यापी (विश्वरूपधारी)।

अनुवाद

अर्जुन ने उस विश्वरूप में असंख्य मुखों और नेत्रों को देखा। श्रीभगवान् का

वह सर्वआश्चर्यमय रूप दिव्य प्रकाशवान् भूषणों और नाना प्रकार के परिधानों से अलंकृत था। उन्होंने दिव्य माला धारण कर रखी थी और हाथों में अनेक दिव्य शस्त्र उठाये हुए थे तथा उनका विग्रह विविध सुगन्धों से उपलिप्त था। अधिक क्या, वह रूप परम उज्ज्वल, सर्वव्यापक एवं अनन्त था। अर्जुन ने यह सब साक्षात् देखा।।१०-११।।

तात्पर्य

इन दो श्लोकों से स्पष्ट है कि श्रीभगवान् के हाथ, मुख, चरण आदि की इयत्ता नहीं है। उनके नाना प्रकार के अनन्त रूप सम्पूर्ण जगत् में परिव्याप्त हैं। परन्तु उनकी निरवधि कृपा से अर्जुन को एक ही स्थान में उन सब का साक्षात्कार हो गया। यह श्रीकृष्ण की अचिन्त्य शक्ति का अप्रतिम प्रभाव ही था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

दिवि=आकाश में; **सूर्य**=सूर्य; **सहस्रस्य**=हजारों; **भवेत्**=हों; **युगपत्**=एक-साथ; **उत्थिता**=उदय; **यदि**=यदि; **भाः**=प्रकाश; **सदृशी**=उसके समान; **सा**=वह (प्रकाश); **स्यात्**=(कदाचित् ही) होगा; **भासः**=तेज; **तस्य**=उन; **महात्मनः**=श्रीभगवान् का।

अनुवाद

यदि आकाश में हजारों सूर्यों का एक साथ उदय हो तो उन से उत्पन्न प्रकाश भी श्रीभगवान् के उस विश्वरूप के तेज के समान कदाचित् ही हो।।१२।।

तात्पर्य

अर्जुन ने जो कुछ देखा, वह वस्तुतः अनिर्वचनीय है। फिर भी, संजय धृतराष्ट्र के आगे उस महान् तत्त्व-प्रकाश का शब्दचित्र प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा है। वास्तविक स्थल पर न तो संजय उपस्थित था और न धृतराष्ट्र ही था; श्रीव्यास देव की कृपा से प्राप्त दिव्यदृष्टि के द्वारा ही संजय समूचे घटनाचक्र को देख सका। अतएव वस्तुस्थिति का बोध कराने के लिए वह उसे हजारों सूर्यों के उदय होने जैसी घटना की उपमा दे रहा है, जो सहज कल्पना का विषय है।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

तत्र=वहाँ; **एकस्थम्**=एक जगह स्थित; **जगत्**=ब्रह्माण्ड को; **कृत्स्नम्**=संपूर्ण; **प्रविभक्तम्**=विभाजित हुये; **अनेकधा**=अनेक प्रकार से; **अपश्यत्**=देखा; **देवदेवस्य**=भगवान् के; **शरीरे**=कलेवर में; **पाण्डवः**=अर्जुन ने; **तदा**=उस काल में।

अनुवाद

पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त सम्पूर्ण जगत् को भगवान् श्रीकृष्ण के उस कलेवर में एक स्थान पर स्थित देखा।।१३।।

तात्पर्य

तत्र शब्द का गम्भीर आशय है। इससे प्रकट होता है कि जब अर्जुन ने विश्वरूप का दर्शन किया, उस समय श्रीकृष्ण-अर्जुन दोनों रथ पर आसीन थे। युद्धभूमि में अन्य योद्धा इस रूप को नहीं देख सके, क्योंकि श्रीकृष्ण ने केवल अर्जुन को ही दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के विग्रह में सहस्रों ब्रह्माण्डों को देखा। जैसा वैदिक शास्त्रों से ज्ञात है, सृष्टि में अनेक ब्रह्माण्ड और लोक हैं। उनमें से कुछ मृण्मय हैं; कुछ हिरण्यमय हैं; कुछ मणिमय हैं; कुछ अति बड़े हैं और कुछ इतने बड़े नहीं हैं, इत्यादि। अर्जुन ने अपने रथ पर बैठे-बैठे ही इन सब लोकों को देखा। परंतु श्रीकृष्ण और अर्जुन में परस्पर क्या वार्ता हो रही है, यह कोई नहीं जान सका।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

ततः=उसके अनन्तर; **सः**=वह; **विस्मयाविष्टः**=आश्चर्य से अभिभूत हुआ; **हृष्टरोमा**=भाव-विभोरता के कारण हर्षित रोमों वाला; **धनंजयः**=अर्जुन; **प्रणम्य**=प्रणाम करते हुए; **शिरसा**=सिर से; **देवम्**=श्रीभगवान् को; **कृताञ्जलिः**=हाथ जोड़े हुए; **अभाषत**=कहने लगा।

अनुवाद

उस रूप को देखकर आश्चर्य से चकित और पुलकित शरीर वाला अर्जुन श्रीभगवान् को सिर से प्रणाम कर के हाथ जोड़े हुए प्रार्थना करने लगा।।१४।।

तात्पर्य

दिव्य विश्वरूप के प्रकट होते ही श्रीकृष्ण और अर्जुन का पारस्परिक सम्बन्ध तत्काल बदल गया। पूर्व में, श्रीकृष्ण तथा अर्जुन का सम्बन्ध सखा-भाव पर आधारित था। अब विश्वरूप का प्रकटीकरण होने पर अर्जुन अतिशय श्रद्धाभाव से श्रीकृष्ण को प्रणाम कर रहा है तथा करबद्ध प्रार्थना भी करता है; साथ ही, विश्वरूप का गुणगान करता है। इस प्रकार, श्रीकृष्ण के प्रति सख्यरस के स्थान पर अर्जुन में अद्भुतरस का उदय हो गया है। महाभागवतजनों की दृष्टि में श्रीकृष्ण अखिलरसामृतमूर्ति हैं। शास्त्रों में बारह रसों का उल्लेख है। श्रीकृष्ण में ये सभी नित्य रहते हैं। इसी कारण उन्हें जीवों, देवताओं अथवा परमेश्वर और उनके भक्तों में परस्पर आदान-प्रदान किये जाने वाले सम्पूर्ण रसों का निधान अथवा अखिलरसामृतसिन्धु कहा जाता है।

आचार्यों का कथन है कि विश्वरूपदर्शन से अर्जुन में अद्भुत रस का उन्मेष हुआ। इसी कारण स्वभावतः अत्यन्त धीर, शान्त तथा मननशील होते हुए भी वह विस्मयाविष्ट हो गया; उसका संपूर्ण शरीर पुलकित हो उठा और इसी दशा में वह श्रीभगवान् को साष्टांग प्रणाम कर करबद्ध प्रार्थना करने लगा। निस्सन्देह वह भयभीत

नहीं था; यह सब तो परमेश्वर श्रीकृष्ण के सर्व आश्चर्यमय रूप के दर्शन का ही प्रभाव था। यहाँ अद्भुतरस का सन्दर्भ है, अतः उसका स्वाभाविक सखाभाव अद्भुतरस से अभिभूत हो गया है और यही कारण है कि अर्जुन में उपरोक्त लक्षण अभिव्यंजित हुए हैं।

अर्जुन उवाच।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **पश्यामि**=मैं देखता हूँ; **देवान्**=देवों को; **तव**=आपके; **देव**=हे देव; **देहे**=शरीर में; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **तथा**=और; **भूत**=जीवों को; **विशेषसंघान्**=विशेष समुदाय वाले; **ब्रह्माणम्**=ब्रह्मा को; **ईशम्**=शिव को, **कमलासनस्थम्**=कमल पर आसीन; **ऋषीन्**=ऋषियों को; **च**=भी; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **उरगान्**=सर्पों को; **च**=तथा; **दिव्यान्**=दिव्य।

अनुवाद

हे देवाधिदेव श्रीकृष्ण! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों को और नाना प्रकार के अन्य प्राणियों को देख रहा हूँ। कमल पर आसीन ब्रह्मा, शिवजी, ऋषियों और दिव्य सर्पों को भी देखता हूँ।।१५।।

तात्पर्य

अर्जुन श्रीकृष्ण के विग्रह में सारा जगत् देख रहा है। उसे जगत् के प्रथम जीव—ब्रह्मा का और उस दिव्य सर्प का भी दर्शन हो रहा है, जिसकी शय्या पर ब्रह्माण्ड के अधोदेश में गर्भोदकशायी विष्णु शयन करते हैं। इस सर्प-शय्या को 'वासुकि' कहते हैं। वैसे अन्य सर्पों को भी वासुकि कहा जाता है। अर्जुन को गर्भोदकशायी विष्णु से लेकर ब्रह्माण्ड के शीर्षभाग तक का दर्शन हो रहा है, जहाँ जगत् के प्रथम जीव ब्रह्मा का कमल पर निवास है। इसका अर्थ है कि अपने रथ पर बैठे-बैठे उसे आदि से अन्त तक सब कुछ दृष्टिगोचर हो गया। यह परमेश्वर श्रीकृष्ण के अनुग्रह से ही घटित हुआ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

अनेक=अनेक; **बाहु**=हाथ; **उदर**=पेट; **वक्त्र**=मुख; **नेत्रम्**=नेत्र; **पश्यामि**= (मैं) देख रहा हूँ; **त्वाम्**=आपको; **सर्वतः**=सब ओर से; **अनन्तरूपम्**=अनन्त रूप वाला;

न अन्तम्= न अन्त; **न मध्यम्**=न मध्य; **न पुनः**=और न ही; **तव**=आपका; **आदिम्**=आदि; **पश्यामि**=(मैं) देखता हूँ; **विश्वेश्वर**=हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामिन्; **विश्वरूप**=हे विश्वरूपधारी प्रभो।

अनुवाद

हे सम्पूर्ण जगत् के स्वामिन्! आपके विश्वरूप को अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त और सब ओर से अनन्त रूप वाला देखता हूँ। आपके इस रूप का न तो आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है।।१६।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, अनन्त हैं; अतः उनमें सभी कुछ देखा जा सकता है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।१७।।

किरीटिनम्=मुकुटयुक्त; **गदिनम्**=गदायुक्त; **चक्रिणम्**=चक्रधारी; **च**=तथा; **तेजोराशिम्**=तेजोमय; **सर्वतः**=सब ओर से; **दीप्तिमन्तम्**=प्रकाशमान्; **पश्यामि**=(मैं) देखता हूँ; **त्वाम्**=आपको; **दुर्निरीक्ष्यम्**=देखने में अति गहन; **समन्तात्**=व्यापक; **दीप्तानल**=प्रज्वलित अग्नि; **अर्क**=सूर्य के समान; **द्युतिम्**=ज्योतियुक्त; **अप्रमेयम्**=अनन्त।

अनुवाद

नाना प्रकार के मुकुटों, गदा और चक्र से सुशोभित आपका रूप अपने उस तेजोमय प्रकाश के कारण देखने में अति गहन है, जो सूर्य के समान प्रज्वलित और अगाध है।।१७।।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

त्वम्=आप; **अक्षरम्**=अविनाशी; **परमम्**=परम; **वेदितव्यम्**=जानने योग्य हैं; **त्वम्**=आप; **अस्य**=इस; **विश्वस्य**=जगत् के; **परम्**=अन्तिम; **निधानम्**=आश्रय हैं; **त्वम्**=आप; **अव्ययः**=अविनाशी; **शाश्वतधर्मगोप्ता**=सनातनधर्म के रक्षक हैं; **सनातनः**=नित्य; **त्वम्**=आप; **पुरुषः**=स्वयं भगवान्; **मतः मे**=(ऐसा) मेरा मत है।

अनुवाद

प्रभो! आप ही जानने योग्य परमब्रह्म हैं, आप ही जगत् के परम आश्रय,

पुराण पुरुष हैं और आप ही सनातनधर्म के रक्षक अविनाशी भगवान् हैं, ऐसा मेरा मत है।।१८।।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

अनादि मध्य अन्तम्=आदि, मध्य और अन्त से रहित; **अनन्त**=अपार; **वीर्यम्**=कीर्ति से युक्त; **अनन्तबाहुम्**=अनन्त हाथ वाले; **शशिसूर्यनेत्रम्**=चन्द्र-सूर्यरूप नेत्र वाले; **पश्यामि**=देखता हूँ; **त्वाम्**=आपको; **दीप्त**=प्रज्वलित; **हुताश-वक्त्रम्**=अग्निमय मुख वाला; **स्वतेजसा**=अपने तेज से; **विश्वम्**=जगत् को; **इदम्**=इस; **तपन्तम्**=तपायमान करते हुए।

अनुवाद

देव! आप आदि, अन्त और मध्य से रहित आदिपुरुष हैं। आपकी भुजाओं और सूर्य-चन्द्ररूप नेत्रों की अनन्त संख्या है और अपने तेज से आप इस सम्पूर्ण विश्व को तपायमान कर रहे हैं।।१९।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् के छहों ऐश्वर्यों की कोई सीमा नहीं है। यहाँ पर और अन्यत्र भी इनकी पुनरुक्ति हुई है। शास्त्रों के अनुसार, श्रीकृष्ण की कीर्ति का पुनः-पुनः गान करना साहित्यिक दोष नहीं माना जाता। मोह, विस्मय अथवा महान् भावविभोरता में वाक्यों की बारम्बार आवृत्ति हो ही जाती है। यह दोष नहीं है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

द्यौ=स्वर्गीय लोगों; **आपृथिव्योः**=पृथ्वी के; **इदम्**=इस; **अन्तरम्**=बीच का आकाश; **हि**=निस्सन्देह; **व्याप्तम्**=परिव्याप्त; **त्वया**=आपके द्वारा; **एकेन**=एक; **दिशः**=दिशाएँ; **च**=तथा; **सर्वाः**=सम्पूर्ण; **दृष्ट्वा**=देखकर; **अद्भुतम्**=अद्भुत; **रूपम्**=रूप को; **उग्रम्**=भयंकर; **तव**=आपके; **इदम्**=इस; **लोकत्रयम्**=तीनों लोक; **प्रव्यथितम्**=अति व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं; **महात्मन्**=हे महापुरुष।

अनुवाद

सम्पूर्ण आकाश, विविध लोक और उनका बीच का अन्तरिक्ष, यह सब एक आप से ही परिव्याप्त हो रहा है। हे महात्मन्! आपके इस भयंकर रूप को देखकर संपूर्ण लोक अति व्यथा को प्राप्त होते हैं।।२०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में **द्यावापृथिव्योः** (स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का सम्पूर्ण

आकाश) तथा **लोकत्रयम्** शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। प्रतीत होता है कि श्रीभगवान् के विश्वरूप को न केवल अर्जुन ने देखा, वरन् त्रिलोकी में अन्य प्राणियों को भी उसका दर्शन हुआ। अतएव वह रूप स्वप्न नहीं था। त्रिभुवन में जो-जो भी भक्तिमान थे, उन सभी ने दिव्य दृष्टि से उसका दर्शन किया।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

अमी=वे सब; **हि**=निस्सन्देह; **त्वाम्**=आप में **सुरसंघाः**=देववृन्द; **विशन्ति**=प्रवेश करते हैं; **केचित्**=उनमें से कुछ; **भीताः**=भयभीत हुए; **प्राञ्जलयः**=करबद्ध; **गृणन्ति**=प्रार्थना करते हैं; **स्वस्ति**=शान्ति (हो); **इति**=इस प्रकार; **उक्त्वा**=कह कर; **महर्षि**=महान् ऋषि; **सिद्धसंघाः**=सिद्धों के समुदाय; **स्तुवन्ति**=स्तुति करते हैं; **त्वाम्**=आप की; **स्तुतिभिः**=स्तोत्रों द्वारा; **पुष्कलाभिः**=वैदिक।

अनुवाद

देववृन्द आपकी शरण लेकर आपमें प्रवेश कर रहे हैं। अत्यन्त भयभीत होने के कारण उनमें से कुछ दूर से ही हाथ जोड़े हुए प्रार्थना कर रहे हैं और महर्षि और सिद्धों के समुदाय कल्याण हो, ऐसा कहकर वैदिक मन्त्रों से आपकी स्तुति करते हैं।।२१।।

तात्पर्य

सारे त्रिभुवन के देववृन्द भयंकर विश्वरूप और उसकी जाज्वल्यमान ज्योति से महान् भय को प्राप्त हो रहे थे। अतः इस भीति से अपनी रक्षा के लिये वे श्रीभगवान् से प्रार्थना करने लगे।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

रुद्र=शिव के रूप; **आदित्याः**=बारह आदित्य; **वसवः**=आठ वसु; **ये**=जो; **च**=तथा; **साध्याः**=साध्यगण; **विश्वे**=विश्वदेव; **अश्विनौ**=दोनों अश्विनीकुमार; **मरुतः**=मरुद्गण; **च**=तथा; **उष्मपाः**=पितर; **च**=तथा; **गन्धर्व**=गन्धर्वगण; **यक्ष**=यक्ष; **असुर**=राक्षस; **सिद्धसंघाः**=सिद्धगणों के समुदाय; **वीक्षन्ते**=देखते हैं; **त्वाम्**=आपको; **विस्मिताः**=विस्मित हुए; **च**=तथा; **एव**=निस्सन्देह; **सर्वे**=सभी।

अनुवाद

ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वदेव, दोनों अश्विनी कुमार, मरुद्गण और पितर तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण आदि सभी विस्मय-विस्फारित हुए आपको देखते हैं।।२२।।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

रूपम्=रूप को; **महत्**=महान्; **ते**=आपके; **बहु**=अनेक; **वक्त्र**=मुख; **नेत्रम्**=नेत्रों वाले; **महाबाहो**=हे महाबाहु; **बहु**=अनेक; **बाहु**=भुजाओं; **उरु**=जंघा; **पादम्**=पैरों वाले; **बहु उदरम्**=अनेक उदर से युक्त; **बहुदंष्ट्राकरालम्**=बहुत सी विकराल जाड़ों वाले; **दृष्ट्वा**=देखकर; **लोकाः**=सब लोक; **प्रव्यथिताः**=व्याकुल हो रहे हैं; **तथा**=और; **अहम्**=मैं (भी)।

अनुवाद

हे महाबाहु! आपके बहुत से मुख, नेत्र, हाथ, जंघा और पैरों वाले एवं अनेक उदरों से युक्त विकराल जाड़ों वाले इस महान् रूप को देखकर देवताओं सहित सब लोक व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ।।२३।।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

नभःस्पृशम्=आकाश का स्पर्श करते हुए; **दीप्तम्**=ज्योतिर्मय; **अनेक**=विविध; **वर्णम्**=रूपों से युक्त; **व्यात्त**=फैलाये हुए; **आननम्**=मुख; **दीप्त**=प्रकाशमान्; **विशाल**=विशाल; **नेत्रम्**=नेत्रों से युक्त; **दृष्ट्वा**=देखकर; **हि**=निःसन्देह; **त्वाम्**=आपको; **प्रव्यथित**=भयभीत; **अन्तरात्मा**=अन्तःकरण वाला; **धृतिम्**=धीरज को; **न**=नहीं; **विन्दामि**=प्राप्त होता हूँ; **शमम्**=मानसिक शान्ति को; **च**=भी; **विष्णो**=हे भगवन्! हे विष्णो।

अनुवाद

हे सर्वान्तशायी विष्णो! आकाश के साथ स्पर्श करते हुए देदीप्यमान नाना रूपों से युक्त तथा फैलाये हुए मुख और तेजोमय विशाल नेत्रों वाले आप को देखकर भयभीत अन्तःकरण वाला मैं धैर्य और शान्ति को नहीं पाता हूँ।।२४।।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

दंष्ट्रा=दाँतों; **करालानि**=विकराल; **च**=तथा; **ते**=आपके; **मुखानि**=मुखों को; **दृष्ट्वा**=देखकर; **एव**=इस प्रकार; **कालानल**=प्रलय काल की अग्नि के समान;

सन्निभानि=प्रज्वलित; दिशः=दिशाओं को; न=नहीं; जाने=जानता; न=नहीं; लभे=प्राप्त होता; च=तथा; शर्म=सुख को; प्रसीद=(आप) प्रसन्न हों; देवेश =हे देवाधिदेव; जगन्निवास=हे जगत् के आश्रय।

अनुवाद

हे देवाधिदेव! हे जगन्निवास! आपके विकराल दाँतों वाले प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मैं सुख को प्राप्त नहीं होता हूँ। सब दिशाओं से मुझे मोह की ही प्राप्ति हो रही है। इसलिए हे प्रभो! आप प्रसन्न हों।।२५।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः।।२७।।

अमी=वे सब; च=भी; त्वाम्=आपसे; धृतराष्ट्रस्य=धृतराष्ट्र के; पुत्राः=पुत्र; सर्वे=सब; सह एव=सहित; अवनिपाल संघैः=योद्धा राजाओं के समुदाय के; भीष्मः=भीष्मदेव; द्रोणः=द्रोणाचार्य; सूतपुत्रः=कर्ण; तथा=और; असौ=वह; सह=सहित; अस्मदीयैः=हमारे; अपि=भी; योधमुख्यैः=प्रधान योद्धा; वक्त्राणि=मुखों में; ते=आपके; त्वरमाणाः=शीघ्रता से; विशन्ति=प्रवेश करते हैं; दंष्ट्रा करालानि=विकराल दाँतों वाले; भयानकानि=अति भयंकर; केचित्=कुछ; विलग्नाः=लगे हुए; दशनान्तरेषु=दाँतों के बीच; संदृश्यन्ते=दिखाई दे रहे हैं; चूर्णितैः=चूर्ण हुए; उत्तमांगैः=सिरों सहित।

अनुवाद

वे सभी धृतराष्ट्र के पुत्र अपने पक्ष के राजाओं के साथ तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्ष के योद्धा भी वेगपूर्वक विकराल दाँतों वाले आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कुछ तो चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के बीच लगे हुए भी दिखते हैं।।२६-२७।।

तात्पर्य

पूर्व श्लोक में श्रीभगवान् ने प्रतिज्ञा की है कि वे अर्जुन को ऐसे दृश्य दिखायेंगे, जिन्हें देखना उसे हार्दिक रुचिकर होगा। अर्जुन इस समय भीष्म, द्रोण, कर्ण और धृतराष्ट्रपुत्रों आदि महारथियों सहित विपक्षी सैनिकों को और अपने दल के योद्धाओं को भी कालकवलित होते हुए देख रहा है। यह इस ओर संकेत करता है कि

दोनों पक्षों की भारी क्षति होने पर भी अन्त में अर्जुन युद्ध में विजयी रहेगा। यहाँ यह भी इंगित है कि अजेय समझे जाने वाले भीष्म तक का विनाश हो जायगा। इसी प्रकार कर्ण भी मारा जायगा। युद्ध में भीष्म आदि विपक्षीय योद्धा ही काल के ग्रास नहीं बनेंगे; वरन् अर्जुन के पक्ष के बड़े-बड़े योद्धा भी वीरगति को प्राप्त होंगे।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

यथा=जैसे; **नदीनाम्**=नदियों के; **बहवः**=अनेक; **अम्बुवेगाः**=जल-प्रवाह; **समुद्रम्**=समुद्र की; **एव**=ही; **अभिमुखाः**=दिशा में; **द्रवन्ति**=दौड़ते हैं; **तथा**=उसी भाँति; **तव**=आपके; **अमी**=वे सब; **नरलोकवीराः**=मानवसमाज के राजा; **विशन्ति**=प्रवेश करते हैं; **वक्त्राणि**=मुखों में; **अभिविज्वलन्ति**=प्रज्वलित।

अनुवाद

जिस प्रकार नदियों के जलप्रवाह समुद्र की ओर दौड़ते हैं, वैसे ही ये सब शूरवीर आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।।२८।।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

यथा=जैसे; **प्रदीप्तम्**=देदीप्यमान; **ज्वलनम्**=अग्नि में; **पतंगाः**=कीट; **विशन्ति**=प्रवेश करते हैं; **नाशाय**=नाश के लिए; **समृद्धवेगाः**=अति वेग से; **तथा**=वैसे; **एव**=ही; **नाशाय**=अपने नाश के लिये; **विशन्ति**=प्रवेश करते हैं; **लोकाः**=ये सब लोग; **तव**=आपके; **अपि**=भी; **वक्त्राणि**=मुखों में; **समृद्धवेगाः**=पूर्ण वेग से।

अनुवाद

मैं देखता हूँ कि ये सब उसी प्रकार नाश के लिए पूर्ण वेग से आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं, जैसे पतंग अपने नाश के लिए प्रज्वलित अग्नि में वेग से गिरते हैं।।२९।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

लेलिह्यसे=चाट रहे हैं; **ग्रसमानः**=ग्रसन करते हुए; **समन्तात्**=सब ओर से;

लोकान्=लोको को; **समग्रान्**=सम्पूर्ण रूप से; **वदनैः**=मुखों द्वारा; **ज्वलद्भिः**=प्रज्वलित; **तेजोभिः**=तेज से; **आपूर्य**=परिपूर्ण कर के; **जगत्**=जगत् को; **समग्रम्**=सम्पूर्ण; **भासः**=प्रकाश; **तव**=आपका; **उग्राः**=प्रचण्ड; **प्रतपन्ति**=तपायमान करता है; **विष्णो**=हे विष्णो।

अनुवाद

हे विष्णो! हे विश्वव्यापिन्! मैं देखता हूँ कि आप अपने प्रज्वलित मुखों से सम्पूर्ण लोक को ग्रसते हुए सब ओर से चाट रहे हैं तथा आपका उग्र प्रकाश ब्रह्माण्ड को तेज से परिपूर्ण कर के जगत् को तपा रहा है।।३०।।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

आख्याहि=कृपया कहिये; **मे**=मेरे प्रति; **कः**=कौन हैं; **भवान्**=आप; **उग्ररूपः**=उग्ररूप वाले; **नमः अस्तु**=नमस्कार हो; **ते**=आपको; **देववर**=हे देवों में श्रेष्ठ; **प्रसीद**=प्रसन्न हो जाइये; **विज्ञातुम्**=जानना; **इच्छामि**=चाहता हूँ; **भवन्तम्**=आपको; **आद्यम्**=आदिस्वरूप; **न**=नहीं; **हि**=ही; **प्रजानामि**=जानता; **तव**=आपका; **प्रवृत्तिम्**=प्रयोजन।

अनुवाद

हे देवाधिदेव! कृपया कहिये कि उग्ररूपधारी आप कौन हैं? मैं आपको प्रणाम करता हूँ; मुझपर प्रसन्न होइए। हे आदिस्वरूप! मैं आपको जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता।।३१।।

श्रीभगवानुवाच।
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **कालः**=महाकाल; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **लोक**=लोकों का; **क्षयकृत**=नाश करने वाला; **प्रवृद्धः**=बढ़ा हुआ; **लोकान्**=समस्त लोकों को; **समाहर्तुम्**=नष्ट करने के लिये; **इह**=इस समय; **प्रवृत्तः**=प्रवृत्त हूँ; **ऋते अपि**=बिना भी; **त्वाम्**=तेरे; **न**=नहीं; **भविष्यन्ति**=रहेंगे; **सर्वे**=सब; **ये**=जो; **अवस्थिताः**=स्थित है; **प्रत्यनीकेषु**=विपक्षियों की सेना में; **योधाः**=सैनिक।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मैं लोकों का नाश करने के लिए बढ़ा महाकाल हूँ और इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिए तुम

पाण्डवों के अतिरिक्त यहाँ दोनों सेनाओं के सब योद्धा मृत्यु को प्राप्त होंगे; तेरे युद्ध न करने पर भी इनका नाश अवश्य होगा।।३२।।

तात्पर्य

यह जानते हुए भी कि श्रीकृष्ण उसके सखा और स्वयं भगवान् हैं, अर्जुन उनके द्वारा प्रकटित विविध रूपों को देखकर परम विस्मित हो उठा। अतएव उसने इस प्रलयकारी शक्ति-प्राकट्य का उद्देश्य जानना चाहा। वेदों में उल्लेख है कि परमसत्य श्रीभगवान् ब्रह्मासहित सभी कुछ नष्ट कर देते हैं। **यस्य ब्रह्मे च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्थावेद यत्र सः।** अन्त में ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा अन्य सभी को श्रीभगवान् ग्रस लेते हैं। परमेश्वर का वह रूप सर्वभक्षक विराट् है। यहाँ श्रीकृष्ण ने सब का नाश करने वाले अपने उसी महाकाल रूप को प्रकट किया है। पाण्डवों के अतिरिक्त, युद्धभूमि में विद्यमान सभी योद्धा उनके ग्रास बनेंगे।

अर्जुन को युद्ध करना अनुकूल प्रतीत नहीं हो रहा था। उसका विचार था कि युद्ध न करना अधिक उत्तम होगा; इससे कम से कम निराशा तो नहीं होगी। इस तर्क के उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि उसके युद्ध से उपरत हो जाने पर भी वे सब विपक्षी नष्ट अवश्य होंगे, क्योंकि उनकी ऐसी ही इच्छा है। यदि अर्जुन युद्ध नहीं करेगा, तो भी वे योद्धा किसी और प्रकार से कालकवलित हो जायेंगे। भाव यह है कि उसके युद्ध न करने से उनकी मृत्यु का निवारण नहीं हो सकेगा। वे तो वस्तुतः पहले ही मर चुके हैं। प्रकृति का नियम है कि सब का क्षयकारी काल श्रीभगवान् की इच्छा के अनुसार सब का नाश कर देता है।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

तस्मात्=इसलिए; **त्वम्**=तू; **उत्तिष्ठ**=खड़ा हो; **यशः**=कीर्ति; **लभस्व**=प्राप्त कर; **जित्वा**=जीत कर; **शत्रून्**=शत्रुओं को; **भुङ्क्ष्व**=भोग; **राज्यम्**=राज्य को; **समृद्धम्**=सम्पन्न; **मया**=मेरे द्वारा; **एव**=ही; **एते**=ये सब; **निहताः**=मारे हुए; **पूर्वम् एव**=पहले; **निमित्तमात्रम्**=केवल निमित्तमात्र; **भव**=हो; **सव्यसाचिन्**=हे सव्यसाची अर्जुन।

अनुवाद

अतएव तू खड़ा होकर युद्ध के लिये कटिबद्ध हो और शत्रुओं को मार कर महान् यश और समृद्ध राज्य को प्राप्त कर। ये सब शूरवीर पहले ही मेरे द्वारा मारे हुये हैं। हे सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र हो।।३३।।

तात्पर्य

जो दोनों हाथों से बाण चला सकता हो, उसे **सव्यसाचिन्** कहा जाता है।

अर्जुन को भगवान् ने इस प्रकार सम्बोधित किया है, क्योंकि वह शत्रु-संहार के लिए बाण चलाने में दक्ष है। **निमित्तमात्रम्** शब्द भी सारगर्भित है। सम्पूर्ण विश्व श्रीभगवान् के संकल्प के अनुसार क्रियाशील है। किन्तु मूढ़ मनुष्य अपनी अल्पज्ञतावश समझते हैं कि प्रकृति का कोई निश्चित क्रम नहीं है, सारी सृष्टि आकस्मिक है। वैज्ञानिक कहे जाने वाले मूर्ख नाना प्रकार की अटकलें लगाते रहते हैं; पर वास्तव में तो सृष्टि के सम्बन्ध में संकल्प-विकल्प (मनोधर्म) का कोई प्रश्न ही नहीं बनता। इस संसार में एक निश्चित योजना को कार्यरूप दिया जा रहा है। वह योजना क्या है? यह सृष्टि एक ऐसा सुयोग है, जिससे बद्धजीव अपने घर, श्रीभगवान् को फिर प्राप्त कर सकते हैं। जब तक उनमें प्रभुत्व का अहंकार है, तब तक वे माया पर अधिकार करने का प्रयत्न करते हुए संसार में बँधे रहते हैं। इसके विपरीत जो परमेश्वर कृष्ण की योजना को समझ कर कृष्णभावना का अभ्यास करता है, वह परम बुद्धिमान् है। सृष्टि का सृजन तथा विनाश श्रीभगवान् के श्रेष्ठ मार्गदर्शन में संचालित है। कुरुक्षेत्र के युद्ध का आयोजन भी श्रीकृष्ण की योजना के अनुसार ही हुआ। अर्जुन युद्ध से निवृत्त हो रहा था, पर श्रीभगवान् ने उसे आदेश दिया कि वह युद्ध अवश्य करे और साथ में उनका स्मरण भी करता रहे। तभी वह सुखी हो सकेगा। जो मनुष्य पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है, जिसका जीवन भगवद्भक्तिपरायण है, वह कृतार्थ हो चुका है।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

द्रोणम् च=द्रोण भी; **भीष्मम् च**=भीष्म भी; **जयद्रथम् च**=जयद्रथ भी; **कर्णम्**=कर्ण; **तथा**=भी; **अन्यान्**=अन्य; **अपि**=भी; **योधवीरान्**=योद्धाओं को; **मया**=मेरे द्वारा; **हतान्**=मारे हुए; **त्वम्**=तू; **जहि**=मार; **मा व्यथिष्ठाः**=भय मत कर; **युध्यस्व**=युद्ध कर; **जेतासि**=जीतेगा; **रणे**=युद्ध में; **सपत्नान्**=वैरियों को।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण आदि सब महारथी मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। इसलिए निर्भय होकर युद्ध कर; निःसन्देह तू युद्ध में वैरियों को जीतेगा।।३४।।

तात्पर्य

वैसे तो प्रत्येक घटना श्रीभगवान् के संकल्प के अनुसार घटित होती है; परन्तु भक्तों के प्रति वे विशेष कृपामय हैं और चाहते हैं कि भक्त उनकी इच्छानुसार उनके संकल्प की पूर्ति करके यशलाभ करें। अतएव जीवन का क्रम इस प्रकार का होना चाहिये जिससे कृष्णभावनाभावित कर्म करता हुआ प्रामाणिक सद्गुरु के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान सके। श्रीभगवान् के संकल्प का मर्म उन्हीं की कृपा

से जानने में आता है तथा उनके भक्तों की इच्छा भी उनकी इच्छा के समान ही कल्याणकारी है। इनको पूर्ण करते हुए जीवन-संघर्ष में विजय प्राप्त करें।

सञ्जय उवाच।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

सञ्जयः उवाच=सञ्जय ने कहा, **एतत्**=इस; **श्रुत्वा**=सुनकर; **वचनम्**=वचन को; **केशवस्य**=भगवान् श्रीकृष्ण के; **कृताञ्जलिः**=हाथ जोड़े हुये; **वेपमानः**=काँपता हुआ; **किरीटी**=अर्जुन; **नमस्कृत्वा**=नमस्कार करके; **भूयः**=पुनः; **एव**=भी; **आह**=बोला; **कृष्णम्**=भगवान् कृष्ण से; **सगद्गदम्**=गद्गद वाणी से; **भीतभीतः**=भयभीत हुआ; **प्रणम्यः**=प्रणाम करके।

अनुवाद

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा, हे राजन् ! श्रीभगवान् से इन वचनों को सुनकर भयभीत अर्जुन काँपता हुआ हाथ जोड़ कर बारम्बार प्रणाम करके गद्गद वाणी से बोला।।३५।।

तात्पर्य

पूर्व में वर्णन कर चुके हैं कि श्रीभगवान् के विश्वरूप-दर्शन से अर्जुन आश्चर्य-चकित रह गया। ऐसे में स्वाभाविक ही है कि वह श्रीकृष्ण को श्रद्धाभाव से बारम्बार प्रणाम करता हुआ सखा के स्थान पर रोमांचित भक्त के रूप में करबद्ध प्रार्थना कर रहा है।

अर्जुन उवाच।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।।३६।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **स्थाने**=यह योग्य ही है; **हृषीकेश**=हे इन्द्रियों के अधीश्वर; **तव**=आपके; **प्रकीर्त्या**=संकीर्तन से; **जगत्**=सम्पूर्ण संसार; **प्रहृष्यति**=अति हर्षित होता है; **अनुरज्यते**=अतिशय अनुराग को प्राप्त होता है; **च**=तथा; **रक्षांसि**=असुर; **भीतानि**=भयभीत हुए; **दिशः**=दिशाओं में; **द्रवन्ति**=भागते हैं; **सर्वे**=सब; **नमस्यन्ति**=नमस्कार करते हैं; **च**=तथा; **सिद्धसंघाः**=सिद्ध समुदाय।

अनुवाद

हे हृषीकेश ! आपका नाम-संकीर्तन सुनकर सम्पूर्ण विश्व अति हर्षित और आपमें अनुरक्त हो रहा है। सभी सिद्धप्राणी आपको प्रणाम करते हैं; जबकि राक्षसगण

भयभीत होकर दिशाओं में भाग रहे हैं। यह सब योग्य ही है।।३६।।

तात्पर्य

कुरुक्षेत्र-युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के वचन को सुनकर भक्त अर्जुन प्रबुद्ध हो गया। उसने स्वीकार किया कि श्रीकृष्ण जो कुछ करते हैं, वह सब योग्य है। वह मान रहा है कि श्रीकृष्ण भक्तों के पालनकर्ता और आराध्य हैं तथा दुष्टों का विनाश करने वाले हैं। उनकी क्रिया सभी के लिये समान रूप से कल्याणकारी है। अर्जुन जानता है कि कुरुक्षेत्र के युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण की उपस्थिति के कारण अनेक देवता, सिद्ध तथा उच्चलोकों के निवासी आकाश से उस युद्ध का निरीक्षण कर रहे हैं। जब उसे प्रभु के विश्वरूप का दर्शन हुआ तो देवता प्रसन्न हुए, परन्तु असुर और अनीश्वरवादी श्रीभगवान् के संकीर्तन को सहन नहीं कर सके। असुरों को श्रीभगवान् के उस प्रलयकारी रूप से स्वभावतः बड़ा भय होता है, इसलिए वे पलायन कर गये। अर्जुन ने भक्तों और नास्तिकों से यथायोग्य व्यवहार करने के लिए श्रीकृष्ण की स्तुति की। भक्त सब अवस्थाओं में श्रीकृष्ण का जयजयकार करता है। वह जानता है कि वे जो भी क्रिया करते हैं, उसमें प्राणीमात्र का कल्याण है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

कस्मात्=कैसे; **च**=तथा; **ते**=आपके लिये; **न**=नहीं; **नमेरन्**=प्रणाम करें; **महात्मन्**=हे महापुरुष; **गरीयसे**=बड़े हैं; **ब्रह्मणः**=ब्रह्मा से; **अपि**=भी; **आदिकर्त्रे**=आदिकर्ता; **अनन्त**=हे अनन्त; **देवेश**=हे देवों के प्रभु; **जगन्निवास**=हे जगत् के आश्रय; **त्वम्**=आप ही हैं; **अक्षरम्**=अविनाशी; **सत्-असत्**=कार्य-कारण; **तत् परम्**=माया से परे; **यत्**=जो।

अनुवाद

हे महात्मन्! आप ब्रह्मा के भी बड़े आदिकर्ता हैं। वे आपको नमस्कार कैसे न करें। क्योंकि हे अनन्त! हे जगन्निवास! आप ही तो सब कारणों के कारण और इस जगत् से परे परम अक्षर हैं।।३७।।

तात्पर्य

अर्जुन के इस प्रकार अभिवादन करने से स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण सब के आराध्य, सर्वव्यापी और परम-आत्मा हैं। अर्जुन ने यहाँ श्रीकृष्ण को **महात्मा** सम्बोधित किया, जिसका अर्थ है कि श्रीकृष्ण सर्वाधिक उदार और निरवधि हैं; **अनन्त** हैं, अर्थात् संसार में ऐसा कुछ नहीं है जो श्रीभगवान् की शक्ति और प्रभाव के अन्तर्गत न हो। **देवेश** शब्द का तात्पर्य है कि वे सब देवताओं के नियन्ता हैं.

जो सब से श्रेष्ठ हैं। इतना ही नहीं, वे सम्पूर्ण विश्व के निवास अर्थात् आश्रय हैं। अर्जुन का उद्‌गार है कि सम्पूर्ण सिद्ध-समुदाय और देववृन्द के लिए उनका जयजयकार करना योग्य ही है, क्योंकि उनसे महान् दूसरा कोई नहीं है। यह विशेष रूप से कहा गया है कि श्रीकृष्ण ब्रह्मा से भी महान् हैं, क्योंकि उसका जन्म उन्हीं से हुआ है। गर्भोदकशायी विष्णु श्रीकृष्ण के अंश है। इन्हीं गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से विकसित कमल पर ब्रह्मा का प्रादुर्भाव होता है। अतः उचित है कि ब्रह्मा और उससे जन्मे शिव आदि सब देवता श्रीकृष्ण का अभिवादन करें। **अक्षरम्** शब्द महत्त्वपूर्ण है; अभिप्राय यह है कि श्रीभगवान् इस अनित्य जगत् से परे हैं। वे सब कारणों के कारण हैं और इसलिए इस प्रकृति में बँधे जीवों से और प्राकृत सृष्टि से भी श्रेष्ठ हैं। श्रीभगवान् वस्तुतः परमोच्च महिमामय हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

त्वम्=आप; **आदिदेवः**=स्वयं भगवान्; **पुरुषः**=पुरुष; **पुराणः**=सनातन; **त्वम्**=आप; **अस्य**=इस; **विश्वस्य**=विश्व के; **परम्**=एकमात्र, **निधानम्**=आश्रय; **वेत्ता**=जानने वाले; **असि**=आप हैं; **वेद्यम् च**=जानने योग्य; **परम् च**=अलौकिक; **धाम**=आश्रय; **त्वया**=आपके द्वारा; **ततम्**=व्याप्त है; **विश्वम्**=ब्रह्माण्ड; **अनन्तरूप**=हे अनन्तरूप।

अनुवाद

प्रभो! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप ही इस प्राकृत-जगत् के एकमात्र आश्रय हैं। आप सब कुछ जानते हैं और जो कुछ जानने योग्य है, वह भी आप ही हैं। हे अनन्तरूप! यह सम्पूर्ण सृष्टि आप से व्याप्त है।।३८।।

तात्पर्य

सम्पूर्ण सृष्टि श्रीभगवान् के आश्रय में स्थित है; अतएव वे ही परमाश्रय हैं। **निधानम्** का अर्थ है कि ब्रह्मज्योति सहित सब कुछ भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित है। इस संसार में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का उन्हें ज्ञान है और वे ही सम्पूर्ण ज्ञान के लक्ष्य हैं। अतः उन्हें **वेत्ता** और **वेद्य** कहा गया है। सर्वव्यापक होने के रूप में वे वेद्य (जानने योग्य) हैं; परमधाम के कारण होने से गुणातीत हैं तथा वे ही वैकुण्ठ-जगत् में प्रधानपुरुष हैं।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

वायुः=वायु; **यमः**=यमराज; **अग्निः**=अग्नि; **वरुणः**=जल का देवता; **शशांकः**=

चन्द्रमा; प्रजापतिः=ब्रह्मा; त्वम्=आप; प्रपितामहः=पितामह; च=और; नमः=नमस्कार; नमः ते=पुनः नमस्कार; अस्तु=हो; सहस्रकृत्वः=हजारों वार; पुनः=फिर; च=भी; भूयः=वारम्वार; अपि=भी; नमः=नमस्कार; नमः ते=आपको नमस्कार है।

अनुवाद

प्रभो! आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। अतएव आपके लिये हजारों वार नमस्कार है; फिर भी वारम्वार नमस्कार है।।३९।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् को वायु कहा गया है, क्योंकि वह सर्वव्यापक प्रधान देवता है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को पितामह भी कहा है।कारण, वे जगत् के प्रथम जीव—ब्रह्मा के पिता हैं।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

नमः=नमस्कार; पुरस्तात्=आगे से; अथ=भी; पृष्ठतः=पीछे से भी; ते=आपको; नमः=नमस्कार; अस्तु=हो; ते=आपको; सर्वतः=सब ओर से; एव सर्व=(क्योंकि) आप सर्वरूप हैं; अनन्तवीर्य=हे अगाध सामर्थ्य वाले; अमितविक्रमः=अनन्त पराक्रमशाली; त्वम्=आप, सर्वम्=सव संसार को; समाप्नोषि=व्याप्त किये हुये हैं; ततः=इसलिए; असि=आप ही; सर्वः=सर्वरूप (हैं)।

अनुवाद

हे अनन्त सामर्थ्य वाले प्रभो! आपको आगे से नमस्कार है और पीछे से भी नमस्कार है। हे अमितपराक्रम! आप सव संसार को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिए आप ही सर्वरूप हैं।।४०।।

तात्पर्य

सखा श्रीकृष्ण के लिये भक्तिभाव की अतिशयता के कारण अर्जुन उन्हें सब ओर से प्रणाम कर रहा है। वह मानता है कि वे सम्पूर्ण शक्तियों और पराक्रम के स्वामी हैं तथा युद्धभूमि में स्थित सभी महारथियों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। 'विष्णुपुराण' का वचन है, **योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः। स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्।।** "हे पुरुषोत्तम! आपके सामने आने वाला चाहे देवता ही क्यों न हो, वह आप से ही उत्पन्न हुआ है।"

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।।४२।।

सखा=मित्र; **इति**=इस प्रकार; **मत्वा**=मानकर; **प्रसभम्**=हठपूर्वक; **यत्**=जो; **उक्तम्**=कहा; **हे कृष्ण**=हे कृष्ण; **हे यादव**=हे यादव; **हे सखे**=हे सखे; **इति**=ऐसा; **अजानता**=न जानते हुए; **महिमानम्**=महिमा; **तव**=आपकी; **इदम्**=यह; **मया**=मेरे द्वारा; **प्रमादात्**=प्रमाद से; **प्रणयेन**=प्रेम से; **वा अपि**=अथवा; **यत्**=जो (आप); **च**=तथा; **अवहासार्थम्**=परिहास के लिये; **असत्कृतः असि**=अपमानित किये गये; **विहार शय्या**=विश्राम करते हुए; **आसन**=बैठे हुए; **भोजनेषु**=भोजन करते हुए; **एकः**=एकान्त में; **अथवा अपि**=अथवा; **अच्युत**=हे अच्युत; **तत्समक्षम्**=उन सखाओं के सामने; **तत्**=वह सब; **क्षामये**=क्षमा करने के लिये अनुनय करता हूँ; **त्वाम्**=आपसे; **अहम्**=मैं; **अप्रमेयम्**=हे अचिन्त्यप्रभाव प्रभो।

अनुवाद

हे अचिन्त्यप्रभाव प्रभो! आपकी इस महिमा को न जानते हुए, सखा मानकर मैंने आपको प्रेम से अथवा प्रमाद से भी 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे!'—ऐसे सम्बोधित किया है और हे अच्युत! विहार, एक शय्या पर शयन करते हुए तथा साथ-साथ भोजन आदि में अनेक बार अकेले में अथवा उन सखाओं के सामने भी आप मेरे द्वारा अपमानित किये गये। कृपया मेरा वह सब अपराध क्षमा करें।।४१-४२।।

तात्पर्य

यद्यपि इस समय श्रीकृष्ण अर्जुन के सामने अपने विश्वरूप में प्रकट हैं, परन्तु अर्जुन को तो उनके साथ अपने सखाभाव का ही स्मरण हो रहा है; इसी कारण वह उनसे याचना करता है कि वे उन सभी मित्रोचित परिहासों को क्षमा कर दें, जो उसके द्वारा घटित हुये हैं। वह मानता है कि श्रीकृष्ण ने अपना अंतरंग सखा समझ कर उसे अपने विश्वरूप का वर्णन सुनाया है, पर इस विश्वरूप का साक्षात् दर्शन करने से पूर्व उसे यह ज्ञात नहीं था कि श्रीकृष्ण वास्तव में इस रूप को धारण भी कर सकते हैं। श्रीकृष्ण की महिमा न जानते हुए उन्हें 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे!'—इस प्रकार पुकारकर अर्जुन न जाने कितनी बार उन्हें अपमानित कर चुका था। परन्तु श्रीकृष्ण इतने अधिक अतिशय कृपामय एव दयालु हैं कि इस ऐश्वर्य से नित्ययुक्त होने पर भी वे अर्जुन के साथ मित्रोचित क्रीड़ा ही करते रहे। भक्त और भगवान् में परस्पर होने वाले चिन्मय प्रेमरस के आदान-प्रदान की ऐसी दिव्य महिमा है। जीव और श्रीकृष्ण का सम्बन्ध शाश्वत् और स्थायी है; उसे भुलाया नहीं जा सकता, जैसा अर्जुन के व्यवहार से स्पष्ट है। विश्वरूप के ऐश्वर्य का दर्शन करने पर भी अर्जुन श्रीकृष्ण से अपने सखाभाव को नहीं भूल सका।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

पिता=जन्मदाता; **असि**=हैं; **लोकस्य**=सम्पूर्ण जगत् के; **चराचरस्य**=चराचर; **त्वम्**=आप; **अस्य**=इसके; **पूज्यः**=अति पूजनीय; **च**=तथा; **गुरुः**=स्वामी; **गरीयान्**=महिमामय; **न**=नहीं; **त्वत्**=आपके; **समः**=समान; **अस्ति**=है; **अभ्यधिकः**=अधिक महिमामय; **कुतः**=किस प्रकार; **अन्यः**=दूसरा; **लोकत्रये**=तीनों लोकों में; **अपि**=भी; **अप्रतिम**=अनन्त; **प्रभाव**=शक्ति।

अनुवाद

हे विष्णो ! आप इस चराचर सम्पूर्ण जगत् के पिता और परम पूजनीय गुरु हैं। हे *अनन्त-प्रभाव ! त्रिलोकी में आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे होगा ?* ॥४३॥

तात्पर्य

जिस प्रकार पुत्र के लिये पिता पूज्य होता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत् के आराध्य हैं। वे जगद्गुरु हैं; सृष्टि के आदि में उन्होंने ब्रह्मा के हृदय में वैदिक ज्ञान का संचार किया था और वर्तमान में वे ही अर्जुन को श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश कर रहे हैं। अतएव वे आदिगरु हैं और वर्तमान काल में सद्गुरु वही है, जो श्रीकृष्ण की शिष्यपरम्परा में हो। श्रीकृष्ण के सच्चे प्रतिनिधि के अतिरिक्त दूसरा कोई भागवतधर्म का आचार्य नहीं हो सकता।

श्रीभगवान् को सब प्रकार से प्रणाम किया जा रहा है। वे अनन्त महिमामय हैं; प्राकृत-अप्राकृत दोनों सृष्टियों में दूसरा कोई भी श्रीकृष्ण के समान अथवा उनसे अधिक नहीं है। सभी उनसे कम हैं, उनकी समानता कोई नहीं कर सकता।

साधारण मनुष्य के सदृश, श्रीकृष्ण भी इन्द्रियों और देह से युक्त हैं। किन्तु उनमें यह वैशिष्ट्य है कि उनकी इन्द्रियों, देह, मन और स्वयं उनमें भेद नहीं है। श्रीकृष्ण के तत्त्व को पूर्णतया न जानने वाले मूर्ख ही ऐसा कहा करते हैं कि श्रीकृष्ण अपने आत्मा, हृदय, आदि से भिन्न हैं। वास्तव में तो श्रीकृष्ण भेदरहित परमसत्य हैं; इसी से उनकी क्रियाएँ और शक्तियाँ अद्वय हैं। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा है कि उनकी इन्द्रियाँ हमारी इन्द्रियों जैसी नहीं हैं; इसलिए अपनी किसी भी इन्द्रिय से वे अन्य सब इन्द्रियों की क्रिया कर सकते हैं; कारण—उनकी इन्द्रियाँ हमारे समान न तो दूषित हैं और न ही अपूर्ण हैं। अस्तु, उनके समान अथवा उनसे अधिक कोई नहीं हो सकता, सभी उनसे नीचे हैं।

श्रीकृष्ण की दिव्य देह, क्रियाओं और पूर्णता को जानने वाला पुरुष देहत्याग कर उन्हें प्राप्त कर लेता है, फिर इस दुःखमय संसार में नहीं आता। इससे सिद्ध होता

है कि श्रीकृष्ण की क्रियायें दूसरों से बिलकुल अलग हैं। श्रीकृष्ण के आदेश का पालन करना सर्वोत्तम नीति है क्योंकि इससे जीवन पूर्णतया कृतार्थ और सार्थक हो जाता है। शास्त्रों के अनुसार ऐसा कोई नहीं है, जो श्रीकृष्ण का स्वामी हो; सभी उनके सेवक हैं। एकमात्र श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, और सब उनके भृत्य हैं। प्राणीमात्र उनका आज्ञानुगामी है; उनकी अवज्ञा करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। उनके आधीन होने से जीवमात्र उनके मार्गदर्शन के अनुसार क्रिया कर रहा है। 'ब्रह्मसंहिता' के अनुसार, श्रीकृष्ण सब कारणों के परम कारण हैं।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

तस्मात्=इसलिए; **प्रणम्य**=प्रणाम करके; **प्रणिधाय**=(आपके) चरणों में रखकर; **कायम्**=शरीर को; **प्रसादये**=कृपा की याचना करता हूँ; **त्वाम्**=आप; **अहम्**=मैं; **ईशम्**=ईश्वर को; **ईड्यम्**=स्तुति के योग्य; **पिता इव**=पिता जैसे; **पुत्रस्य**=पुत्र का; **सखा इव**=सखा जैसे; **सख्युः**=सखा का; **प्रियः**=प्रेमी जैसे; **प्रियायाः**=प्रियतम का (अपराध क्षमा करता है, वैसे ही) **अर्हसि**=योग्य हैं; **देव**=हे देव; **सोढुम्**=सहने को।

अनुवाद

प्रभो! आप प्राणीमात्र के आराध्य परमेश्वर हैं। इस कारण हे नाथ! मैं आपके चरणों में गिरकर और प्रणाम करके आपकी कृपा की याचना करता हूँ। मेरे अपराधों को क्षमा करके मुझ पर उसी भाँति प्रसन्न हो जाइये, जैसे पिता पुत्र के, सखा सखा के और प्रेमी अपने प्रियतम के अपराध को सहन करता है।।४४।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण के भक्त उनसे विविध प्रकार के सम्बन्ध रखते हैं। कोई उन्हें अपना पुत्र मानता है, कोई पति, तो कोई सखा, स्वामी आदि रूपों में उन्हें अपना मानता है। जैसे पिता पुत्र के, पति पत्नी के और स्वामी सेवक के अपराध सहता है, वैसे श्रीकृष्ण भी भक्त के अपराधों को सहन करते हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

अदृष्टपूर्वम्=पहले न देखे गये आपके इस अद्भुत रूप को; **हृषितः अस्मि**=हर्षित हो रहा हूँ; **दृष्ट्वा**=देखकर; **भयेन**=भय से; **च**=भी; **प्रव्यथितम्**=अति आकुल हो रहा है; **मनः**=मन; **मे**=मेरा; **तत् एव**=वही; **मे**=मेरे को; **दर्शय**=दिखाइये;

देव=हे देव; **रूपम्**=रूप; **प्रसीद**=प्रसन्न होइये; **देवेश**=हे देवेश; **जगन्निवास**=हे जगत् के आश्रय।

अनुवाद

हे नाथ! पहले न देखे हुए आपके इस अद्भुत विश्वरूप के दर्शन से मैं हर्षित हो रहा हूँ; पर मेरा चित्त भय से आकुल भी हो रहा है। इसलिए हे देवेश! हे जगन्निवास! मुझ पर प्रसन्न होकर अपने उसी चतुर्भुज रूप को फिर से प्रकट कीजिये।।४५।।

तात्पर्य

अतिशय प्रिय सखा के रूप में अर्जुन की श्रीकृष्ण से घनिष्ठ अंतरंगता है। एक सखा अपने प्रिय सखा के ऐश्वर्य को देखकर स्वभावतः अति हर्षित होता है। इसी भाँति, अर्जुन भी यह देखकर अतिशय प्रमुदित हो रहा है कि उसके प्राणाधिक प्रिय सखा श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और इतना आश्चर्यमय विश्वरूप प्रकट कर सकते हैं। परन्तु साथ ही, विश्वरूप के दर्शन से उसे इस भय की भी अनुभूति हो रही है कि श्रीकृष्ण के लिए अपने विशुद्ध, अनन्य सख्यभाव में बहुत बार उनका अपराध कर बैठा है। इसलिए कोई युक्तिसंगत कारण न होने पर भी उसका चित्त भय से आकुल हो चला है। उसकी श्रीकृष्ण से प्रार्थना है कि वे उसे अपने चतुर्भुज नारायण रूप के दर्शन करायें। प्राकृत-जगत् के जैसे विश्वरूप भी प्राकृत और अनित्य है। परन्तु वैकुण्ठ लोकों में श्रीभगवान् चिन्मय नारायण रूप से नित्य विराजमान हैं। परव्योम में असंख्य वैकुण्ठ धाम हैं, जिनमें से प्रत्येक में श्रीकृष्ण अंशरूप से स्थित हैं। इन रूपों के विविध नाम हैं। अर्जुन वैकुण्ठ लोकों में प्रकट रहने वाले इन रूपों में से एक का दर्शन करना चाहता है। अवश्य ही प्रत्येक वैकुण्ठ में प्रकट नारायण रूप चतुर्भुज है। नारायण चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये रहते हैं। विविध नारायण रूप इन चारों उपकरणों को भिन्न-भिन्न भुजाओं में धारण करते हैं; इसी क्रम-भेद के अनुसार उनके भिन्न-भिन्न नाम हैं। ये सब श्रीकृष्ण के रूप हैं। इसलिए अर्जुन श्रीकृष्ण से वह चतुर्भुज रूप दिखाने की प्रार्थना करता है।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

किरीटिनम्=मुकुट धारण किये हुए; **गदिनम्**=गदा; **चक्रहस्तम्**=हाथ में चक्र लिये हुए; **इच्छामि**=चाहता हूँ; **त्वाम्**=आपको; **द्रष्टुम्**=देखना; **अहम्**=मैं; **तथा एव**=वैसे ही; **तेन एव**=उसी; **रूपेण**=रूप से (युक्त); **चतुर्भुजेन**=चतुर्भुज; **सहस्रा-बाहो**=हे सहस्रबाहो; **भव**=होइये; **विश्वमूर्ते**=हे विश्वमूर्ति।

अनुवाद

हे विश्वमूर्ति! मैं आप को मुकुट धारण किये हुए तथा शंख, चक्र, गदा और पद्म से युक्त चतुर्भुज रूप में देखने को आतुर हूँ। इसलिए हे सहस्रबाहु! अपने उसी चतुर्भुज रूप को प्रकट कीजिए।।४६।।

तात्पर्य

'ब्रह्मसंहिता' में उल्लेख है कि श्रीभगवान् नित्य सहस्रों रूपों में हैं, जिनमें राम, नृसिंह, नारायण, आदि रूप प्रधान हैं। उनके ऐसे असंख्य रूप हैं। अर्जुन जानता है कि अस्थायी विश्वरूप को धारण करने वाले श्रीकृष्ण साक्षात् स्वयं भगवान् हैं; इसलिए अब वह उनका चिन्मय नारायण रूप देखना चाहता है। इस श्लोक से श्रीमद्भागवत का यह सिद्धांत निश्चित होता है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, अन्य सब रूपों का प्रादुर्भाव उन्हीं से है। वे अपने अंशों से भिन्न नहीं हैं; अपने प्रत्येक रूप में वे भगवान् हैं। सभी रूपों में श्रीकृष्ण नित्य नवकिशोर रहते हैं, क्योंकि यह भगवान् का शाश्वत् स्वरूप-लक्षण है। श्रीकृष्ण को इस प्रकार जानने वाला तत्काल प्राकृत-जगत् के सम्पूर्ण दोषों से मुक्त हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच।
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **मया**=मैंने; **प्रसन्नेन**=अनुग्रहपूर्वक; **तव**=तुझे; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **इदम्**=यह; **रूपम्**=रूप; **परम्**=माया के गुणों से अति परे; **दर्शितम्**=दिखाया है; **आत्मयोगात्**=अपनी योगशक्ति के द्वारा; **तेजोमयम्**=देदीप्यमान; **विश्वम्**=विराट्; **अनन्तम्**=सीमारहित; **आद्यम्**=सब का आदि; **यत्**=जो; **मे**=मेरा (रूप); **त्वत्**=तेरे; **अन्येन**=अतिरिक्त दूसरे ने; **न दृष्टपूर्वम्**=पहले नहीं देखा।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मैंने तुझ पर अनुग्रहपूर्वक प्राकृत-जगत् के अन्तर्गत यह विश्वरूप तुझे अपनी योगशक्ति के प्रभाव से दिखाया है। तेरे पूर्व किसी ने भी इस अनन्त तेजोमय रूप को नहीं देखा है।।४७।।

तात्पर्य

अर्जुन को श्रीभगवान् के विश्वरूप के दर्शन की अभिलाषा थी। अतएव अपने भक्त के लिये स्वरूपभूता करुणा से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण ने उसी पूर्ण तेजोमय और ऐश्वर्यशाली विश्वरूप का दर्शन कराया। यह रूप सूर्य के सदृश तेजोमय था और उसके अनेक मुख थे, जो तीव्र गति से परिवर्तनशील थे। सखा अर्जुन की मनोकामना-पूर्ति के लिये ही श्रीकृष्ण ने वह रूप दिखाया। इसे उन्होंने अपनी योगशक्ति के प्रभाव से प्रकट किया, जिसका तत्त्व मनुष्य के लिए अचिन्त्य है। अर्जुन से पूर्व श्रीभगवान् के इस रूप को किसी ने नहीं देखा था। किन्तु अर्जुन को दिखाये जाते समय स्वर्ग और अन्तरिक्ष के अन्य लोकों में स्थित भक्तों को भी इसका दर्शन हुआ। भाव यह है कि श्रीकृष्ण ने अनुग्रहपूर्वक अर्जुन के प्रति जिस विश्वरूप को प्रकट

किया, उसका दर्शन उनके सभी परम्परागत भक्तों को हुआ। एक व्याख्याकार का कथन है कि जब श्रीकृष्ण सन्धि-प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास गए थे, तो उसे भी विश्वरूप का दर्शन हुआ था। दुर्भाग्यवश, दुर्योधन ने शान्ति-प्रस्ताव को नहीं माना। इस पर श्रीकृष्ण ने अपने कतिपय विराट् रूप प्रकट किये। वे रूप अर्जुन को दिखाये इस रूप से भिन्न हैं। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि इस रूप को पूर्व में किसी ने कभी नहीं देखा।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥४८॥

न=न; **वेद**=वैदिक स्वाध्याय; **यज्ञ**=यज्ञ (से); **अध्ययनैः**=अध्ययन से; **न दानैः**=न दान से; **न**=नहीं; **च**=तथा; **क्रियाभिः**=पुण्यकर्मों द्वारा; **न तपोभिः उग्रैः**=न उत्कट तपस्या से; **एवम्**=इस प्रकार; **रूपः**=विश्वरूप वाला; **शक्यः**=(देखा जा) सकता हूँ; **अहम्**=मैं; **नृलोके**=इस संसार में; **द्रष्टुम्**=देखा जाने को; **त्वत्**=तेरे (अतिरिक्त); **अन्येन**=अन्य द्वारा; **कुरुप्रवीर**=हे कुरुवीरों में श्रेष्ठ (अर्जुन)।

अनुवाद

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! तुझ से पहले किसी ने भी मेरे इस विश्वरूप का दर्शन नहीं किया है, क्योंकि न वेदों के स्वाध्याय से, न यज्ञों से, न दान से और न तपादि के द्वारा ही मेरा यह विश्वरूप देखा जा सकता है। केवल तूने इसका दर्शन किया है।।४८।।

तात्पर्य

इस सन्दर्भ में 'दिव्य दृष्टि' का तत्त्व ठीक-ठीक समझना आवश्यक है। जैसा कि 'दिव्य' (अर्थात् देवोचित) शब्द से अभिव्यक्त हो जाता है, देवोपम बन जाने से पूर्व दिव्य दृष्टि नहीं मिल सकती। वैदिक शास्त्रों के अनुसार, भगवान् विष्णु के भक्त देवता कहलाते हैं। जो श्रीविष्णु को नहीं मानते अथवा श्रीकृष्ण के निर्विशेष अंश को ही परात्पर समझते हैं, उन अनीश्वरवादियों को दिव्यदृष्टि नहीं मिल सकती। श्रीकृष्ण की निन्दा करना और दिव्यदृष्टि रखना—यह एक समय में नहीं हो सकता। देवत्व की प्राप्ति के बिना दिव्यदृष्टि अलभ्य रहती है। भाव यह है कि जिन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त है, वे भी अर्जुन की भाँति विश्वरूप का दर्शन कर सकते हैं।

भगवद्गीता में विश्वरूप का अभूतपूर्व वर्णन है। अर्जुन से पूर्व इसे कोई नहीं जानता था। अब इस घटना के बाद सभी को विश्वरूप का यत्किञ्चित् आभास हो गया है। जो वास्तव में दैवी गुणों से युक्त हैं, वे तो श्रीभगवान् के इस रूप का साक्षात्कार भी कर सकते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण का शुद्धभक्त ही वास्तव में देवतुल्य हो सकता है। दैवी प्रकृति के आश्रित होकर दिव्यदृष्टि से युक्त हो जाने पर भी भक्त विश्वरूप के दर्शन को अधिक उत्सुक नहीं रहते। जैसा पूर्व श्लोक में कहा जा

चुका है, अर्जुन ने श्रीकृष्ण का चतुर्भुज विष्णुरूप देखना चाहा, विश्वरूप के दर्शन से तो वास्तव में उसे भय ही हुआ।

श्लोक में अनेक महत्त्वपूर्ण शब्दों का प्रयोग है। **वेदयज्ञाध्ययनैः** शब्द से वेदों और यज्ञविधि के अध्ययन का निर्देश है। 'वेद' शब्द सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों अर्थात् ऋक्, साम, यजुः तथा अथर्व नामक चारों वेद, अठारह पुराण, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि शास्त्रों का वाचक है। इनका स्वाध्याय घर पर अथवा अन्यत्र कहीं भी किया जा सकता है। इसी प्रकार, यज्ञविधि के अध्ययन के लिए 'कल्पसूत्र' और 'मीमांसासूत्र' हैं। **दान** शब्द से भगवद्भक्तिपरायण ब्राह्मण, वैष्णव आदि सत्पात्रों के लिए किये जाने वाले द्रव्य-त्याग का उल्लेख है। अग्निहोत्र आदि पुण्यकृत्य विभिन्न वर्णों के स्वधर्म हैं। पुण्य क्रियाओं का संपादन और स्वेच्छा से शारीरिक कष्ट सहन करना **तपस्या** है। ये सब कर्म किए जा सकते हैं; परन्तु जो अर्जुन जैसा भक्त नहीं है, वह ऐसा करने पर भी विश्वरूप का दर्शन नहीं कर सकेगा। निर्विशेषवादी कल्पना करते रहते हैं कि उन्हें प्रभु के विश्वरूप का दर्शन हो रहा है; पर भगवद्गीता के अनुसार निर्विशेषवादी भक्त नहीं हैं, अतः उन्हें विश्वरूप का दर्शन वस्तुतः हो ही नहीं सकता।

अनेक ऐसे मनुष्य भी हैं, जो अवतारों को रचते हैं। धूर्ततापूर्वक साधारण मनुष्य को अवतार घोषित करके वे अपनी मूर्खता का परिचय देते हैं। हमें भगवद्गीता के सिद्धान्तों का दृढ़तापूर्वक अनुगमन करना होगा, अन्यथा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। वैसे तो भगवद्गीता भागवत-विद्या की भूमिका ही मानी जाती है, फिर भी यह अपने में इतनी पूर्ण है कि इससे तत्त्वज्ञान हो सकता है। कपट-अवतार के अनुयायी भले ही कहा करें कि उन्होंने भी श्रीभगवान् के चिन्मय अवतार और विश्वरूप का दर्शन किया है; परन्तु इसे सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि श्रीकृष्ण का भक्त बने बिना विश्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिए पहले शुद्धकृष्णभक्त बनना होगा, इसके बाद ही कोई विश्वरूप को देखने का दावा कर सकता है। सच्चा कृष्णभक्त मिथ्या अवतार अथवा उसके अनुगामियों को कभी स्वीकार नहीं करता।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

मा=न हो; **ते**=तुझे; **व्यथा**=व्याकुलता; **मा**=न हो; **च**=तथा; **विमूढभावः**=मोह; **दृष्ट्वा**=देखकर; **रूपम्**=रूप; **घोरम्**=भयंकर; **ईदृक्**=इस प्रकार के; **मम**=मेरे; **इदम्**=इस; **व्यपेतभीः**=भयरहित हो जा; **प्रीतमनाः**=प्रीतियुक्त मन वाला; **पुनः**=फिर; **त्वम्**=तू; **तत् एव**=वही; **मे**=मेरे; **रूपम्**=रूप को; **इदम्**=इस; **प्रपश्य**=देख।

अनुवाद

मेरे इस भयंकर रूप को देखकर तू बिल्कुल व्याकुल और मोहित मत हो। हे भक्तशिरोमणि! भय से मुक्त होकर प्रीतिभरे मन से मेरे उसी रूप का दर्शन कर जिसके लिए तू इतना उत्कण्ठित है।।४९।।

तात्पर्य

भगवद्गीता के प्रारम्भ में अर्जुन भीष्म, द्रोण आदि पूज्य वृद्धों और गुरुजनों के वध की आशंका से चिन्तित था। परन्तु श्रीकृष्ण ने आदेश दिया कि पितामह का वध करने में भी उसे भय नहीं मानना चाहिए। जब भरी सभा में द्रौपदी का चीरहरण किया जा रहा था, तो भीष्म-द्रोण दोनों चुप बैठे रहे। ऐसे अवसर पर उनका कर्तव्य था कि इस अनाचार का विरोध करते; परन्तु उन्होंने इसमें प्रमाद किया और इसलिए अब वे वध के योग्य थे। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के समक्ष अपना विश्वरूप यह दिखाने को प्रकट किया कि अपने पापकर्मों के फलस्वरूप ये सब पहले ही काल-कवलित हो चुके हैं। अर्जुन को वह दृश्य इसलिए भी दिखाया गया, क्योंकि शान्तस्वभाव भक्त सामान्यतः ऐसा भयंकर कर्म नहीं कर सकते। विश्वरूप के प्राकट्य का यह सब प्रयोजन सिद्ध हो गया। अब अर्जुन की इच्छा के अनुसार श्रीकृष्ण उसे अपना चतुर्भुज रूप दिखा रहे हैं। भगवद्भक्त विश्वरूप में अधिक रुचि नहीं रखता, क्योंकि उसके साथ रस और भाव का परस्पर आदान-प्रदान नहीं हो सकता। भक्त चाहता है कि वह श्रीभगवान् को अपना सादर भक्तिभाव अर्पित करे। इसलिए वह श्रीकृष्ण के द्विभुज अथवा चतुर्भुज रूप का ही दर्शन चाहता है, जिससे उनके साथ प्रेममय सेवारस का आस्वादन कर सके।

सञ्जय उवाच।
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

सञ्जयः उवाच=संजय ने कहा; **इति**=इस प्रकार; **अर्जुनम्**=अर्जुन के प्रति; **वासुदेवः**=भगवान् वासुदेव (कृष्ण) ने; **तथा**=वैसे ही; **उक्त्वा**=कह कर; **स्वकम्**=अपना; **रूपम्**=रूप; **दर्शयामास**=दिखाया; **भूयः**=फिर; **आश्वासयामास**=आश्वासन दिया; **च**=तथा; **भीतम्**=भयभीत अर्जुन को; **एनम्**=इस; **भूत्वा पुनः**=फिर होकर; **सौम्य वपुः**=सुन्दर रूपवान्; **महात्मा**=महापुरुष श्रीकृष्ण (ने)।

अनुवाद

संजय ने कहा, भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार कहकर उसे चतुर्भुज रूप दिखाया और अन्त में फिर अपना द्विभुज रूप धारण करके भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया।।५०।।

तात्पर्य

जब वसुदेव और देवकी के पुत्ररूप में श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ, तो पहले-पहले वे चतुर्भुज नारायण रूप में ही प्रकट हुए थे। तत्पश्चात्, माता-पिता के

प्रार्थना करने पर उन्होंने साधारण बालक का सा रूप धारण कर लिया। यहाँ भी श्रीकृष्ण जानते हैं कि अर्जुन की रुचि वास्तव में उसके चतुर्भुजरूप को देखने में नहीं है। तथापि, उसके द्वारा कहे जाने पर उन्होंने इस रूप को भी पुनः दिखाया और फिर अपना द्विभुजरूप प्रकट किया। **सौम्यवपु** शब्द आशयपूर्ण है। इसका अर्थ है कि श्रीकृष्ण का द्विभुजरूप 'अतिशय मधुर' है। वास्तव में परम आकर्षक है। इसी से जब वे इस धरा-धाम पर थे, तो प्राणीमात्र उनके रूप-लावण्य पर मंत्र-मुग्ध की भाँति अनुरक्त हो गया था। श्रीकृष्ण जगत् के नियन्ता हैं, इसलिए अपने भक्त अर्जुन के भय का पूर्ण रूप से निवारण करके अपने मधुरातिमधुर रूप को उन्होंने फिर दिखाया। 'ब्रह्मसंहिता' के अनुसार जिसके नेत्र प्रेमरूपी अंजन से विच्छरित (उपलिप्त) हों, वही श्रीकृष्ण की इस रूप-माधुरी का दर्शन-आस्वादन कर सकता है।

अर्जुन उवाच।
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **दृष्ट्वा**=देखकर; **इदम्**=इस; **मानुषम्**=नराकार; **रूपम्**=रूप को; **तव**=आपके; **सौम्यम्**=महामधुर; **जनार्दन**=हे शत्रुमर्दन श्रीकृष्ण; **इदानीम्**=अब; **अस्मि**=हूँ; **संवृत्तः सचेताः**=चित्त में स्थिर; **प्रकृतिम् गतः**=अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ।

अनुवाद

जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण के मूल द्विभुजरूप का दर्शन किया तो वह कहने लगा, प्रभो! आपके इस परम मधुर नराकार रूप को देखकर अब मैं शान्तचित्त हुआ अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ।।५१।।

तात्पर्य

इस श्लोक में प्रयुक्त **मानुषं रूपम्** शब्द का स्पष्ट संकेत है कि श्रीभगवान् मूल रूप में द्विभुजधारी हैं। अतः जो श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य कहकर उनका उपहास करते हैं, वे निस्सन्देह उनकी दैवी प्रकृति को नहीं जानते। यदि श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य ही हैं, तो उनके लिये विश्वरूप दिखा कर फिर चतुर्भुज रूप को प्रकट करना किस प्रकार सम्भव होता? भगवद्गीता में स्पष्ट उल्लेख है कि जो श्रीकृष्ण को सामान्य मनुष्य समझता है और श्रीकृष्ण के भीतर का निर्विशेष ब्रह्म ही बोल रहा है—इस प्रकार कहकर पाठक को पथभ्रष्ट करता है, वह व्यक्ति गीता के साथ सबसे बड़ा अन्याय करता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वास्तव में अपने विश्वरूप और चतुर्भुज विष्णुरूप का दर्शन कराया है। ऐसे में वे साधारण मनुष्य किस प्रकार हो सकते हैं? तत्त्व को जानने वाला शुद्धभक्त भगवद्गीता की भ्रष्ट व्याख्याओं से हतबुद्धि नहीं होता। गीता के मूल श्लोक सूर्य के समान उज्ज्वल हैं; उन्हें मूर्ख व्याख्याकारों से दीपक की आवश्यकता नहीं है।

श्रीभगवानुवाच।
सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।।५२।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; सुदुर्दर्शम्=देखने को अति दुर्लभ है; इदम्=यह; रूपम्=रूप; दृष्टवान् असि=देखा है; यत्=जिस रूप को; मम=मेरे; देवाः=देवता; अपि=भी; अस्य=इस; रूपस्य=रूप के; नित्यम्=सदा; दर्शनकांक्षिणः=दर्शन करने की इच्छा रखते हैं।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मेरे जिस रूप का तू अब दर्शन कर रहा है, वह देखने को अति दुर्लभ है। देवता भी इस मधुर रूप को देखने के लिये नित्य उत्कण्ठित रहते हैं।।५२।।

तात्पर्य

इस अध्याय के अड़तालिसवें श्लोक में विश्वरूप का संवरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है कि विविध पुण्यकर्मों, यज्ञादि साधनों से भी इस रूप को देखा नहीं जा सकता। यहाँ सुदुर्दर्शनम् शब्द आया है, जिसका अर्थ है कि श्रीकृष्ण के द्विभुज रूप का दर्शन तो उस विश्वरूप से भी कहीं अधिक दुर्लभ है। तपश्चर्या, वेदाध्ययन, दार्शनिक मनोधर्म आदि विभिन्न क्रियाओं में भक्ति का कुछ पुट हो, तभी विश्वरूप का दर्शन हो सकता है। भक्ति के बिना विश्वरूप का दर्शन कभी नहीं हो सकता, यह विवेचन किया जा चुका है। इस विश्वरूप से अतीत होने के कारण श्रीकृष्ण के द्विभुज नराकार रूप का दर्शन तो और भी अधिक दुर्लभ है। ब्रह्मा, शिव आदि देववृन्द तक श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ नित्य लालायित रहते हैं। श्रीमद्भागवत में प्रमाण है कि जब वे माता देवकी के गर्भ में थे, तब स्वर्ग के सभी देवता उनके माधुर्य का दर्शन-आस्वादन करने वहाँ आये। उन्होंने प्रभु के प्रकट होने की आतुर-भाव से प्रतीक्षा भी की। मूर्ख मनुष्य उनका उपहास कर सकता है, परन्तु ऐसे साधारण मनुष्य का मूल्य ही क्या है। श्रीकृष्ण के द्विभुज रूप को देखने की स्पृहा तो वस्तुतः ब्रह्मा, शिव, आदि देवताओं तक को रहती है।

भगवद्गीता में यह भी प्रमाणित किया है कि श्रीकृष्ण उन मूर्खों के दृष्टिगोचर नहीं होते, जो उनका उपहास करते हैं। जैसा 'ब्रह्मसंहिता' तथा भगवद्गीता में स्वयं श्रीभगवान् के वचन से सिद्ध है, श्रीकृष्ण का विग्रह पूर्ण रूप से अप्राकृत और सच्चिदानन्दमय है, अर्थात् प्राकृत देह से बिलकुल भिन्न है। परन्तु कुछ लोग भगवद्गीता आदि वैदिक शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानने में सफल नहीं हो पाते। प्राकृत दृष्टिकोण वाले उन्हें केवल एक महान् ऐतिहासिक पुरुष या विद्वद्वरेण्य परम दार्शनिक मानते हैं। किंतु वास्तव में वे सामान्य मनुष्य नहीं हैं। कुछ का विचार है कि यद्यपि वे अतीव शक्तिशाली थे, फिर भी उन्हें प्राकृत शरीर

धारण करना पड़ा। इसका कारण है—इस कोटि के मनुष्य परमसत्य को अन्तिम रूप में निर्विशेष ही मानते हैं। उनके अनुसार, परमेश्वर अपने निर्विशेष रूप से मायिक भगवत्-रूप धारण करता है। यह श्रीभगवान् के सम्बन्ध में प्राकृतधारणा है। एक अन्य मनोधर्ममयी धारणा भी है। ज्ञान के जिज्ञासु श्रीकृष्ण के तत्त्व का अनुमान लगाते हैं। उनके अनुसार परमसत्य का कृष्णरूप अर्जुन को दिखाये गये विश्वरूप से कम है। वे परमसत्य के साकार-सविशेष रूप को कल्पित मानते हैं। उनका विश्वास है कि अन्तिम रूप में परमसत्य पुरुष-विशेष न होकर निर्विशेष है। इसके विपरीत, अलौकिक पद्धति का प्रतिपादन गीता के द्वितीय अध्याय में है— प्रामाणिक आचार्यों से रसमयी श्रीकृष्णकथा सुनना। वास्तव में यही सच्चा वैदिकपथ है। अतएव जो यथार्थ वैदिक परम्परा में हैं, वे आचार्यों से कृष्णकथा सुनते हैं। इस प्रकार निरन्तर कृष्णकथा सुनने से श्रीकृष्ण में अनुराग हो जाता है। वहुधा वर्णन किया जा चुका है, कि श्रीकृष्ण अपनी योगमाया-शक्ति से छिपे हुए हैं। वे सब किसी के आगे दृष्टिगोचर अथवा प्रकट नहीं होते; उनका दर्शन उसी को होता है, जिसके प्रति वे स्वयं अपने को प्रकाशित करें। वेदों में इसकी पुष्टि है—केवल शरणागत जीव परम सत्य को तत्त्व से समझ सकता है। अतएव नित्य-निरन्तर कृष्णभावनामृत-सिन्धु में निमग्न योगी श्रीकृष्ण की भक्ति के प्रताप से प्राप्त दिव्य दृष्टि के द्वारा श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार का साक्षात्कार देवताओं तक के लिये परम दुर्लभ है; वे भी श्रीकृष्ण को तत्त्वतः नहीं जान सकते। उच्च देवताओं को निरन्तर श्रीकृष्ण के द्विभुज रूप के दर्शन की उत्कण्ठा रहती है। इस सब का निष्कर्ष है कि चाहे श्रीकृष्ण के विश्वरूप का दर्शन बड़ा दुर्लभ है और जिस-किसी को नहीं हो सकता; परन्तु उनके श्यामसुन्दर स्वरूप का दर्शन और ज्ञान तो इससे भी कहीं दुर्लभ है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

न=न; **अहम्**=मैं; **वेदैः**=वेदों के अध्ययन से; **न**=न; **तपसा**=कठोर तपस्या से; **न**=न; **दानेन**=दान से; **न**=न; **च**=तथा; **इज्यया**=पूजा से; **शक्यः**=सम्भव है; **एवंविधः**=इस प्रकार; **द्रष्टुम्**=देखा जाना; **दृष्टवान् असि**=तूने देखा है; **माम्**=मुझे; **यथा**=जिस रूप में।

अनुवाद

हे अर्जुन ! मेरे जिस रूप को तू अपने दिव्य नेत्रों से देख रहा है, उसे न वेदों से, न तप से, न दान से, और न केवल पूजा से ही जाना जा सकता है। इन साधनों के द्वारा मेरा तत्त्व से साक्षात्कार नहीं हो सकता।।५३।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण अपने माता-पिता वसुदेव-देवकी के सम्मुख सर्वप्रथम चतुर्भुजरूप से प्रकट हुए; फिर द्विभुज हो गये। अनीश्वरवादी अथवा अभक्त इस रहस्य को नहीं

समझ सकते। जो केवल मनोधर्मी या बौद्धिक रुचि के लिये वैदिक शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, उन विद्वानों के लिये श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानना सुगम नहीं है। औपचारिक रूप से पूजा के लिये मन्दिर जाने वाले भी श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जान सकते। केवल भक्तिमार्ग के द्वारा ही श्रीकृष्ण को जाना जा सकता है, जैसा अगले श्लोक में वे स्वयं कह रहे हैं।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।५४।।

भक्त्या=भक्ति से; **तु**=तो; **अनन्यया**=सकामकर्म और ज्ञान के रहित, अर्थात् शुद्ध; **शक्यः**=सम्भव है; **अहम्**=मुझे; **एवंविधः**=इस प्रकार; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **ज्ञातुम्**=जानना; **द्रष्टुम्**=प्रत्यक्ष देखना; **च**=तथा; **तत्त्वेन**=तत्त्व से; **प्रवेष्टुम्**=प्रवेश करना; **च**=भी; **परंतप**=हे महाबाहु।

अनुवाद

हे अर्जुन ! अनन्य भक्ति के द्वारा ही तेरे सामने खड़े मुझ को तत्त्व से जाना और प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भक्तियोग से ही मेरे तत्त्व के रहस्य में तेरा प्रवेश हो सकेगा।।५४।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान एकमात्र अनन्य भक्ति से हो सकता है। इस श्लोक में उन्होंने स्वयं यह स्पष्ट कर दिया है; अतः अप्रामाणिक व्याख्याकार, जो मनोधर्म की पद्धति से भगवद्गीता को जानने के लिये प्रयत्नशील हैं, जान जायें कि वे अपना समय ही नष्ट कर रहे हैं। श्रीकृष्ण को अथवा उनके माता के गर्भ से चतुर्भुज रूप में प्रकट होकर तत्क्षण द्विभुज रूप धारण कर लेने के रहस्य को कोई नहीं जान सकता। स्पष्ट कहा है कि उन्हें कोई नहीं देख सकता। परन्तु वेदों के अनुभवी पाठक वैदिक शास्त्रों से उनके सम्बन्ध में विविध प्रकार की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। वेदों में अनेक विधि-विधान हैं; श्रीकृष्णतत्त्व का सच्चा जिज्ञासु इन शास्त्रविहित विधानों का परिपालन अवश्य करे। इन नियमों के अनुसार तप किया जा सकता है। जहाँ तक दान का सम्बन्ध है, निश्चित विधान है कि दान के पात्र श्रीकृष्ण के भक्त हैं, जो कृष्णभावनामृत को सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित करने के लिए भक्तियोग के परायण रहते हैं। कृष्णभावनामृत मानवता के लिये महान् वरदान है। श्रील रूप गोस्वामी ने श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु को महावदान्य (महादाता) अवतार कहा है, क्योंकि उन्होंने परम दुर्लभ कृष्णप्रेम का सर्वत्र उन्मुक्त वितरण किया। मन्दिर में अर्चा-पूजा करने से पारमार्थिक उन्नति का पथ प्रशस्त हो जाता है। अतः वैदिक शास्त्रों के अनुसार, भगवद्भक्ति के प्रारम्भिक साधकों के लिये अर्चा-पूजा अत्यन्त आवश्यक है।

जिसकी परमेश्वर में अनन्यभक्ति है और जिसे सद्गुरु का मार्गदर्शन प्राप्त है, वह श्रीभगवान् का साक्षात्कार कर सकता है। प्रामाणिक सद्गुरु से शिक्षाग्रहण किए

बिना तो वस्तुतः श्रीकृष्ण के मर्म में प्रवेश ही नहीं हो सकता। यहाँ **तु** शब्द का प्रयोग विशेष रूप से यह संकेत करने के लिये है कि श्रीकृष्ण के तत्त्वबोध के लिये किसी अन्य साधन का उपयोग अथवा विधान नहीं किया जा सकता और न ही कोई अन्य साधन इसमें सफल हो सकता है।

श्रीकृष्ण के द्विभुज और चतुर्भुज, दोनों स्वयंरूप अर्जुन को दिखाये अस्थायी विश्वरूप से सर्वथा भिन्न हैं। चतुर्भुज रूप नारायण हैं और द्विभुजरूप स्वयं श्रीकृष्ण हैं। अर्जुन के प्रति प्रकटित अस्थायी विश्वरूप की अपेक्षा ये दोनों रूप शाश्वत और अलौकिक हैं। **सुदुर्दर्शनम्** शब्द का अभिप्राय है कि इससे पहले किसी ने भी उस विश्वरूप का दर्शन नहीं किया था। इससे प्रतीत होता है कि भक्तों के लिये उस रूप का दर्शन आवश्यक नहीं है। अर्जुन का अनुरोध था, इसीलिए श्रीकृष्ण ने उसे दिखाया, जिससे भविष्य में जब भी कोई मनुष्य अपने को भगवत्-अवतार कहने का दुस्साहस करे तो इसके प्रमाण में जनता उसे अपना विश्वरूप दिखाने को कह सके।

श्रीकृष्ण ने विश्वरूप से चतुर्भुजरूप और उसके बाद फिर अपना मूल द्विभुज-रूप धारण किया है। इससे प्रकट होता है कि वेदों में वर्णित चतुर्भुज आदि सारे रूप द्विभुजधारी श्रीकृष्ण से ही उद्भावित होते हैं। अतएव श्रीकृष्ण सम्पूर्ण प्रादुर्भावों के मूल हैं। निर्विशेषतत्त्व के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, श्रीकृष्ण तो इन चतुर्भुज रूपों से भी विशिष्ट हैं। श्रीकृष्ण के चतुर्भुजधारी रूपों के सम्बन्ध में शास्त्रों का कहना है कि श्रीकृष्ण के स्वयंरूप से सबसे अधिक समानता वाला चतुर्भुजरूप भी (जो कारणोदकशायी महाविष्णु कहलाता है और जिसके श्वास-निःश्वास के साथ असंख्य ब्रह्माण्डों का प्राकट्य और लोप होता रहता है) उनका अंशमात्र है। इससे निश्चय होता है कि सच्चिदानन्दघन भगवान् के रूप में श्रीकृष्ण के द्विभुज स्वयंरूप की ही आराधना करनी चाहिए। वे सम्पूर्ण विष्णुमूर्तियों के उद्गम, सब अवतारों के अवतारी स्वयं भगवान् हैं, जैसा भगवद्गीता में अन्यत्र भी प्रमाण हैं।

वैदिक शास्त्रों में कथन है कि अद्वय परमसत्य एक पुरुष-विशेष हैं। उनका नाम कृष्ण है और कभी-कभी वे इस पृथ्वी पर भी अवतरित होते हैं। श्रीमद्भागवत में श्रीभगवान् के भिन्न-भिन्न अवतारों का वर्णन है। उसी प्रकरण में कहा है कि श्रीकृष्ण किसी के अवतार नहीं हैं, वरन् सब के अवतारी स्वयं भगवान् हैं। **कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**। भगवद्गीता में वे स्वयं कहते हैं, **मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्तिः** मेरे कृष्णरूप से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, तथा **अहमादिर्हि देवानाम्**, मैं सम्पूर्ण देवसमुदाय का आदिकारण हूँ।' श्रीकृष्ण से भगवद्गीता को ग्रहण करके अर्जुन ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है, **परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्**, 'मैं अब पूर्ण रूप से जान गया हूँ कि आप स्वयं भगवान् परमसत्य तथा सम्पूर्ण जगत् के आश्रय हैं, इन सब प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिखाया गया विश्वरूप उनका आदि रूप नहीं है, द्विभुज कृष्णरूप ही आद्य है। सहस्रों मुख-भुजाओं वाला विश्वरूप उन्हीं को आकृष्ट करने के लिए

दिखाया गया है, जो भगवत्प्रेम से शून्य हैं। यह भगवान् का आदि रूप नहीं है।

विविध रसों में श्रीभगवान् के प्रेम में निमग्न शुद्धभक्त विश्वरूप की ओर आकर्षित नहीं होते। स्वयं श्रीभगवान् अपने मूल कृष्णरूप में उनके साथ अलौकिक प्रेमरस का विनिमय करते हैं। अतएव स्वाभाविक ही है श्रीकृष्ण में अतिशय अंतरंग सखाभाव वाला अर्जुन इस विश्वरूप को देखकर आह्लादित नहीं हुआ; अपितु भयभीत हो उठा। श्रीकृष्ण का नित्य सहचर होने के कारण अर्जुन निस्सन्देह दिव्य दृष्टि से युक्त था और अवश्य ही, साधारण मनुष्य नहीं था। इसी कारण वह विश्वरूप पर मुग्ध नहीं हो सका। यह रूप उन मनुष्यों को मनोहर प्रतीत हो सकता है, जो उत्थान के लिए सकामकर्मों में लगे हैं। भक्तियोग के परायण महानुभावों को तो श्रीकृष्ण का द्विभुजरूप ही नित्य परम प्रिय है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

मत्कर्मकृत्=मेरा कार्य करने वाला; **मत्परमः**=मुझ परमसत्य के परायण; **मद्भक्तः**=मेरी भक्ति में तत्पर; **संगवर्जितः**=पूर्वकृत सकामकर्म, ज्ञानादि से मुक्त; **निर्वैरः**=वैरभाव से रहित; **सर्वभूतेषु**=जीवमात्र में; **यः**=जो; **सः**=वह; **माम्**=मुझ को; **एति**=प्राप्त होता है; **पाण्डव**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो मनुष्य पूर्वकृत सकाम कर्म और ज्ञान से मुक्त होकर मेरी शुद्धभक्ति में तत्पर है और मेरे परायण है तथा प्राणीमात्र का मित्र है, वह निस्सन्देह मुझ को ही प्राप्त होता है।।५५।।

तात्पर्य

जो परमधाम कृष्णलोक में पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त होकर उनसे अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, उसे स्वयं श्रीभगवान् द्वारा कहे इस मन्त्र को अंगीकार करना होगा। अतएव इस श्लोक को गीता का सार कहा जा सकता है। भगवद्गीता ग्रन्थ का प्रयोजन उन बद्धजीवों से है, जो प्रकृति पर प्रभुत्व करने के उद्देश्य से इस प्राकृत-जगत् में क्रियाशील हैं और जिन्हें यथार्थ भागवतजीवन का ज्ञान नहीं है। भगवद्गीता स्वरूपभूत आत्मतत्त्व और श्रीभगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को जानकर अपने घर—भगवान् के धाम को लौटने का मार्ग प्रशस्त करती है। इस श्लोक में पारमार्थिक क्रिया—भक्तियोग में सफलता की पद्धति का स्पष्ट प्रतिपादन है। जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, अपनी सम्पूर्ण शक्ति कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में ही लगानी चाहिये। ऐसा कोई कार्य न करें, जो श्रीकृष्ण की सेवा से सम्बन्ध न रखता हो। इसकी संज्ञा कृष्णकर्म है। विविध क्रियाओं में तत्पर रहा जा सकता है; परन्तु इनके फल में आसक्त न होकर उसे श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित करना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यापार करता हो तो व्यापार के लाभ को श्रीकृष्ण की सेवा

में लगाने से वह भी कृष्णभावनाभावित कर्म बन जायगा। भक्त की दृष्टि में व्यापार के स्वामी श्रीकृष्ण हैं। अतः लाभांश का उपभोग भी वे ही करें। इस प्रकार प्रत्येक व्यापारी अपने धन को श्रीकृष्ण के प्रति अर्पण कर सकता है। यह श्रीकृष्ण का सेवाकार्य है। निजेन्द्रियतृप्ति के लिये भवन बनाने के स्थान पर वह श्रीकृष्ण के लिये एक सुन्दर मन्दिर बनाकर श्रीकृष्ण-मूर्ति को स्थापित कर शास्त्र-विधि से उनकी सेवा की व्यवस्था कर सकता है। यह सब **कृष्णकर्म** है। कर्मफल में अनासक्त रहकर उसे श्रीकृष्ण को समर्पित कर देना चाहिये। श्रीकृष्ण को अर्पित नैवेद्य को प्रसाद के रूप में ग्रहण करे। यदि मन्दिर-निर्माण की सामर्थ्य न हो तो श्रीकृष्ण के मन्दिर का मार्जन ही करे। यह भी **कृष्णकर्म** है। पुष्पवाटिका लगाये। उपलब्ध भूमि पर पुष्प लगाकर उनसे श्रीकृष्ण का श्रृंगार करे। तुलसी-कानन लगाना अत्यन्त आवश्यक है; स्वयं श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में इसका विधान किया है। श्रीकृष्ण चाहते हैं कि भक्तिभाव से उन्हें पत्र-पुष्प अथवा केवल जल का ही अर्पण किया जाय। वे इतने से ही प्रसन्न हो जाते हैं। **पत्रपुष्प** से विशेषतः तुलसी का निर्देश है। अतएव तुलसी लगाकर उसका अभिसिंचन करे। इस प्रकार परम दरिद्री भी कृष्णसेवा कर सकता है। **कृष्णकर्म** करने के ये कुछ उदाहरण हैं।

मत्परमः शब्द उस मनुष्य का वाचक है, जो परमधाम में श्रीकृष्ण के संग की प्राप्ति को जीवन की परम सिद्धि मानता है। चन्द्र, सूर्य आदि उच्च लोकों की तो बात ही क्या, ऐसा व्यक्ति तो इस ब्रह्माण्ड के परमोच्च लोक—ब्रह्मलोक को भी नहीं जाना चाहता। इसके लिए उसमें कोई आकर्षण नहीं होता। उसे तो बस परव्योम गमन की स्पृहा लगी रहती है। परव्योम में भी उसे देदीप्यमान ब्रह्मज्योति में विलीन होने से सन्तोष नहीं होता। वह केवल श्रीकृष्ण के गोलोक वृन्दावन नामक परमधाम में प्रवेश करना चाहता है। उस परमलोक का पूर्ण तत्त्वज्ञान हो जाने पर फिर किसी अन्य लोक में रमणीय बुद्धि नहीं रह सकती। जैसा **मद्भक्त** शब्द से स्पष्ट है, वह अनन्य भाव से भक्तियोग में पूर्णरूप से मग्न रहता है। विशेष रूप से वह श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भक्ति के इन नौ साधनों के परायण रहता है। मनुष्यमात्र यथाशक्ति भक्ति के इन नौ अंगों का, आठ का, सात का अथवा एक ही अंग का आचरण करे। ऐसा करने से जीवन अवश्य सार्थक एवं कृतार्थ हो जायगा।

संगवर्जितः पद अति महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण-विमुखों के संग को बिल्कुल त्याग देना चाहिए। केवल अनीश्वरवादी ही श्रीकृष्ण से विमुख नहीं हैं, सकाम कर्म और मनोधर्म के परायण रहने वाले भी इसी कोटि में आते हैं। **भक्तिरसामृतसिन्धु** में शुद्धभक्ति का यह विवरण है: **अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतं आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।** इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामिचरण ने निश्चित रूप से कहा है कि शुद्ध-अनन्य भक्ति करने के लिये सब प्रकार के सांसारिक विकारों से मुक्त होना आवश्यक है। शुद्धभक्ति के अभिलाषी को सकामकर्म और

मनोधर्म में आसक्त मनुष्यों के संग का भी त्याग करना होगा। इन अनर्थकारी संगों और विषयवासना के दोष से मुक्त होकर अनुकूलतापूर्वक श्रीकृष्ण के सेवन को शुद्धभक्ति कहा जाता है। **आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।** श्रीकृष्ण का स्मरण और कृष्णकर्म अनुकूलभाव से करे, प्रतिकूलतापूर्वक नहीं। कंस श्रीकृष्ण का वैरी था। अतः उनके जन्म से ही वह उन्हें मारने के लिये योजनायें बनाने लगा। परन्तु ऐसा करने में सदा असफल रहने के कारण उसे नित्य श्रीकृष्ण का स्मरण बना रहता। अतएव कार्य करते, खाते, यहाँ तक कि सोते हुए भी वह सब प्रकार से कृष्णभावनाभावित रहता। परन्तु उसकी कृष्णभावना अनुकूल नहीं थी; इस कारण नित्य चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण के चिन्तन में निमग्न रहने पर भी उसे असुर ही माना गया और अन्त में श्रीकृष्ण ने उसका वध किया। यह अवश्य सत्य है कि श्रीकृष्ण जिसका वध करते हैं, वह तत्क्षण मुक्त हो जाता है। किन्तु शुद्धभक्त का लक्ष्य यह नहीं है। शुद्धभक्त को तो मुक्ति की भी स्पृहा नहीं रहती। परमधाम गोलोक वृन्दावन में प्रवेश करने के लिए भी वह आतुर नहीं होता। वह जहाँ कहीं भी रहे, उसका एकमात्र लक्ष्य श्रीकृष्ण की सेवा के परायण रहना है।

कृष्णभक्त प्राणीमात्र में मित्रभाव रखता है। इसीलिए यहाँ कहा है कि उसका कोई शत्रु नहीं होता। यह कैसे हो सकता है? कृष्णभावनाभावित भक्त जानता है कि एकमात्र कृष्णभक्ति ही जीव को जीवन के सब दुःखों से मुक्त कर सकती है। उसे इसका निजी अनुभव है, इसलिए वह मानवसमाज में कृष्णभावना-पद्धति का प्रवर्तन करना चाहता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, जब भक्तों ने भगवद्भावना के प्रसार के लिये अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर दिया। इस सन्दर्भ में श्रीईसामसीह का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। उन्होंने भगवद्भाव के प्रचार में अभक्तों द्वारा सूली पर चढ़ाये जाने पर प्राणों की आहुति दी थी। अवश्य ही, ऐसा नहीं कि इस कारण उनकी मृत्यु हो गई। इसी प्रकार, भारत में हरिदास ठाकुर आदि भक्तों के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। भक्त अपने प्राणों को संकट में डालते हैं क्योंकि उनका उद्देश्य है कि कृष्णभावना का प्रसार-प्रचार हो और यह कार्य सुगम नहीं है। कृष्णभावनाभावित पुरुष जानता है कि मनुष्य के दुःख का कारण श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल बैठना है। अतएव किसी को भवरोग से मुक्त कर देना मानवसमाज का सबसे श्रेष्ठ उपकार-कार्य होगा। इस प्रकार शुद्धभक्त निरन्तर भगवत्-सेवा में तत्पर रहता है। इस सबसे हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि श्रीकृष्ण उन भक्तों पर कितनी अतिशय कृपा का परिवर्षण करते होंगे, जो अपना सर्वस्व दाँव पर लगा कर उनकी सेवा के परायण हैं। यह निश्चित है कि ये भक्त देह-त्याग कर श्रीकृष्ण के परमधाम को अवश्य प्राप्त हो जायेंगे।

सारांश में कहा जा सकता है कि इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने अपना अस्थायी विश्वरूप, सब का नाश करने वाला महाकालरूप और चतुर्भुज विष्णुरूप भी प्रकट किया है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि श्रीकृष्ण इन सब रूपों के उद्गम हैं। यह सत्य

नहीं कि विश्वरूप आदि है और श्रीकृष्ण उसके अथवा विष्णुरूप के प्रकाश-विशेष हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण ही सब रूपों के मूल हैं। विष्णुरूप असंख्य हैं, पर भक्त के लिये श्रीकृष्ण के मूल, द्विभुज श्यामसुन्दर रूप के अतिरिक्त अन्य कोई रूप महत्त्व नहीं रखता। ब्रह्मसंहिता के अनुसार श्रीकृष्ण के श्यामसुन्दर रूप में प्रेमभक्तिभाव वाले अनुरागी भक्तों को हृदय में नित्य निरन्तर उनका दर्शन हुआ करता है, अन्य कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता। अतएव, ग्यारहवें अध्याय का तात्पर्य है कि श्रीकृष्ण का श्यामसुन्दर रूप परम सार और सर्वोपरि है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः।।११।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये एकादशोऽध्यायः।।

अथ द्वादशोऽध्यायः

भक्तियोग

(श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा)

अर्जुन उवाच।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **एवम्**=इस प्रकार; **सतत**=नित्य-निरंतर; **युक्ताः**=तत्पर; **ये**=जो; **भक्ताः**=भक्त; **त्वाम्**=आपको; **पर्युपासते**=भलीभाँति भजते हैं; **ये**=जो; **च**=तथा; **अपि**=भी; **अक्षरम्**=इन्द्रियों से अतीत; **अव्यक्तम्**=निराकार को; **तेषाम्**=उनमें; **के**=कौन; **योगवित्तमाः**=परम सिद्ध (हैं)।

अनुवाद

अर्जुन ने पूछा, हे कृष्ण! जो आपकी भक्ति के परायण हैं और दूसरे जो निराकार-निर्विशेष ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों प्रकार के मनुष्यों में अधिक सिद्ध कौन हैं?।।१।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण साकार, निराकार और विश्वरूप का तथा सव प्रकार के भक्तों और योगियों का वर्णन कर चुके हैं। साधारण रूप में योगियों का साकारवादी और निराकारवादी—इन दो कोटियों में वर्गीकरण किया जा सकता है। साकारवादी भक्त अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ भगवत्सेवा के परायण रहते हैं। निराकारवादी सीधे

कृष्णसेवा के परायण न होकर निराकार ब्रह्म के ध्यान का अभ्यास करते हैं।

इस अध्याय के अनुसार परमसत्य-साक्षात्कार के नाना साधनों में भक्ति सर्वोत्तम है। यदि श्रीभगवान् के संग की कुछ भी अभिलाषा हो तो भक्तिमार्ग को अवश्य अंगीकार करना होगा।

श्रीभगवान् को सीधे भक्तियोग से भजने वाले साकारवादी भक्त कहलाते हैं। दूसरे, जो निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे निराकारवादी हैं। अर्जुन की जिज्ञासा है कि इनमें कौन सी स्थिति अधिक उत्तम है। परम सत्य की अनुभूति के अनेक मार्ग हैं; किन्तु श्रीकृष्ण ने इस अध्याय में निर्णय किया है कि भक्तियोग सर्वोत्तम है। श्रीभगवान् का संग करने का यह सबसे सीधा और सुगम पथ है।

द्वितीय अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा है कि जीवात्मा प्राकृत देह से भिन्न, परम सत्य (परतत्त्व) का अंश है। सातवें अध्याय में जीव को परम पूर्ण तत्त्व का भिन्न-अंश बता कर वे निर्देश करते हैं कि वह पूर्ण तत्त्व पर अपने चित्त को एकाग्र कर ले। आठवें अध्याय में उल्लेख है कि जो कोई मृत्यु-काल में श्रीकृष्ण का स्मरण करता है, वह तत्क्षण श्रीकृष्ण के परमधाम को प्राप्त कर लेता है तथा छठे अध्याय के अन्त में श्रीभगवान् कहते हैं कि सब योगियों में वह योगी परम सिद्ध है, जो अपने अन्तरात्मा से उन का निरन्तर अनन्य चिन्तन करता है। इस प्रकार गीता में सर्वत्र श्रीकृष्ण की भक्ति को ही स्वरूप-साक्षात्कार की परम सिद्धि घोषित किया गया है। फिर भी, बहुत से मनुष्य केवल श्रीकृष्ण की निर्विशेष ब्रह्मज्योति के प्रति आकृष्ट रहते हैं, जो परम सत्य (परतत्त्व) का सर्वव्यापक, अव्यक्त और इन्द्रियों से अतीत पक्ष है। अर्जुन जानना चाहता है कि इन दोनों कोटि के योगियों में किसका ज्ञान अधिक पूर्ण है। प्रकारान्तर से, अर्जुन स्वयं अपनी स्थिति के सम्बन्ध में आश्वस्त होना चाहता है, क्योंकि उसका अनुराग श्रीकृष्ण के स्वयंरूप में है। निराकार ब्रह्म में उसकी आसक्ति नहीं है। अतएव वह जानना चाहता है कि उसकी स्थिति ठीक है अथवा नहीं। प्राकृत-जगत् में तो क्या, वैकुण्ठ-जगत् में भी निराकार का ध्यान करना बहुत कठिन है। वस्तुतः परमसत्य के निराकार तत्त्व का भलीभाँति चिन्तन नहीं किया जा सकता। अतएव अर्जुन मानो कह रहा है—"इस प्रकार समय को व्यर्थ करने से क्या लाभ?" अर्जुन को ग्यारहवें अध्याय में अनुभव हो चुका है कि श्रीकृष्ण के स्वयंरूप में अनुराग होना सर्वोत्तम है, क्योंकि इससे उसे उनके अन्य सब रूपों का एक ही समय बोध हो गया और उसके कृष्णप्रेम में भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। श्रीकृष्ण से अर्जुन की इस महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा के द्वारा परमसत्य (परतत्त्व) के साकार और निराकार स्वरूपों में अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

श्रीभगवानुवाच।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **मयि**=मुझ में; **आवेश्य**=एकाग्र करके; **मनः**=चित्त को; **ये**=जो; **माम्**=मुझ को; **नित्य**=निरन्तर; **युक्ताः**=तत्परतापूर्वक; **उपासते**=भजते हैं; **श्रद्धया**=श्रद्धा से; **परया**=परम (गुणों से अतीत); **उपेताः**=युक्त; **ते**=वे; **मे**=मुझे; **युक्ततमाः**=परम उत्तम योगी; **मताः**=मान्य हैं।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मेरे स्वयंरूप में मन को एकाग्र करके जो भक्तजन परम श्रद्धा सहित नित्य-निरन्तर मेरे भजन के परायण रहते हैं, उन्हें मैं परम सिद्ध योगी मानता हूँ।।२।।

तात्पर्य

अर्जुन की जिज्ञासा के उत्तरस्वरूप श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि उनके श्यामसुन्दर रूप में चित्त को एकाग्र करके जो श्रद्धा-भक्ति सहित उन्हें भजता है, वह योगी परम सिद्ध है। इस प्रकार विशुद्ध कृष्णभावना से भावित अन्तःकरण वाले से कोई सांसारिक कार्य नहीं बनता, क्योंकि श्रीकृष्ण स्वयं सब कुछ करते हैं। शुद्धभक्त भक्तियोग में नित्य तत्पर रहता है—कभी जप करता है, कभी कृष्णकथा का श्रवण-कीर्तन करता है; प्रसाद बनाता है अथवा श्रीकृष्ण के लिये पदार्थ लाता है तो कभी मन्दिर अथवा पात्रों का मार्जन करता है। इस प्रकार उसका क्षणमात्र भी कृष्णपरक क्रिया के बिना व्यतीत नहीं होता। ऐसा कर्म पूर्ण समाधिमय है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

ये=जो; **तु**=किन्तु; **अक्षरम्**=इन्द्रियों से अतीत तत्त्व को; **अनिर्देश्यम्**=अकथनीय; **अव्यक्तम्**=निराकार को; **पर्युपासते**=पूर्ण रूप से उपासते हैं; **सर्वत्रगम्**=सर्वव्यापी; **अचिन्त्यम्**=मन-बुद्धि से परे; **च**=तथा; **कूटस्थम्**=सदा एकरस, मध्यस्थ; **अचलम्**=स्थिर; **ध्रुवम्**=नित्य; **संनियम्य**=वश में करके; **इन्द्रियग्रामम्**=सब इन्द्रियों को; **सर्वत्र**=सब में; **समबुद्धयः**=समान भाव वाले; **ते**=वे; **प्राप्नुवन्ति**=प्राप्त होते हैं; **माम्**=मुझे; **एव**=ही; **सर्वभूतहिते**=प्राणीमात्र के हित में; **रताः**=संलग्न।

अनुवाद

दूसरे जो इन्द्रियों को वश में करके और सब में समभाव रखते हुए परमसत्य के अव्यक्त, इन्द्रियों से अतीत, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, नित्य, अचल ब्रह्म स्वरूप की भलीभाँति उपासना करते हैं, वे प्राणीमात्र के हित में संलग्न योगी भी अन्त में मुझ को ही प्राप्त होते हैं।।३-४।।

तात्पर्य

जो योगी सीधे भगवान् श्रीकृष्ण को न भजकर परोक्ष मार्ग से वही लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं, उन्हें भी अन्त में परम लक्ष्य—श्रीकृष्ण की ही प्राप्ति होती है। जैसा स्वयं भगवद्गीता में कथन है, "अनेक जन्म-जन्मान्तरों के बाद कहीं जाकर ज्ञानी यह जानकर मेरी शरण लेता है कि मैं वासुदेव ही सर्वव्यापक हूँ।" अनेक जन्मों के बाद जब मनुष्य पूर्ण ज्ञान को प्राप्त होता है, तब वह भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाता है। इन दोनों श्लोकों में कही पद्धति के अनुसार ईश्वर-प्राप्ति के साधक को इन्द्रियसंयम तथा जीवमात्र का हित और सेवा कार्य करना आवश्यक है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् श्रीकृष्ण के उन्मुख होना सभी के लिए आवश्यक है। इसके बिना परमसत्य की पूर्ण अनुभूति नहीं हो सकती। प्रायः कठोर तप के बाद ही कहीं जाकर जीव उनके चरणों में सर्वात्मसमर्पण कर पाता है।

जीव के अन्तर्यामी परमात्मा की अनुभूति के लिये देखना, सुनना, चखना जैसी इन्द्रियक्रियाओं से विरत होना होगा। ऐसा करने पर परमात्मा की सर्वव्यापकता जानी जाती है। जिसे यह अनुभूति हो जाती है, वह किसी भी जीव से ईर्ष्या-द्वेष नहीं करता। उसके लिए मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं रहता; वह सब में आत्मा का दर्शन करता है, देहरूपी बाह्य वस्त्र का नहीं। परन्तु साधारण लोगों के लिए निराकार अनुभूति की यह पद्धति निश्चित रूप से अति कठिन है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।५।।

क्लेशः=कष्ट (परिश्रम); **अधिकतरः**=विशेष है; **तेषाम्**=उन; **अव्यक्त**=निराकार में; **आसक्तचेतसाम्**=आसक्त चित्त वालों को; **अव्यक्ता**=अव्यक्त विषयक; **हि**=निस्सन्देह; **गतिः**=गति; **दुःखम्**=दुःखपूर्वक; **देहवद्भिः**=देहाभिमानियों को; **अवाप्यते**=प्राप्त होती है।

अनुवाद

परन्तु जिनका चित्त परमसत्य के निराकार-निर्विशेष स्वरूप में आसक्त है, उनके लिए पारमार्थिक उन्नति करने में विशेष कष्ट है, क्योंकि देहाभिमानियों को यह अव्यक्त विषयक गति अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होती है।।५।।

तात्पर्य

जो योगी श्रीभगवान् के अचिन्त्य, अव्यक्त, निराकार स्वरूप की उपासना करते हैं, उन्हें ज्ञानयोगी कहा जाता है तथा पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग के परायण मनुष्य भक्तियोगी कहलाते हैं। यहाँ ज्ञानयोग और भक्तियोग का अन्तर स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है। ज्ञानयोग से भी अन्त में परम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाया करती है, किन्तु साधन-अवस्था में यह पथ बहुत कष्टपूर्ण है। इसकी अपेक्षा, भक्तियोग, अर्थात् साक्षात् श्रीभगवान् की सेवा का पथ सुगम होने के साथ ही बद्धजीव का स्वाभाविक धर्म भी है। जीव अनादि काल से बद्ध है। उसके लिये केवल

पुस्तकीय जानकारी के आधार पर यह जान पाना बड़ा कठिन है कि वह देह से भिन्न है। अतएव जीव की देहात्मबुद्धि के सदुपयोग के लिये भक्तियोग में श्रीकृष्ण के अर्चा-विग्रह की आराधना की जाती है। अवश्य ही, मन्दिर में विराजमान भगवत्-विग्रह की पूजा करना पत्थर को पूजना नहीं है। वैदिक शास्त्रों का प्रमाण है कि उपासना के सगुण-निर्गुण, दो भेद हैं। मन्दिर में भगवत्-विग्रह की पूजा सगुण उपासना कहलाती है। परन्तु पाषाण, काष्ठ, रंग आदि प्राकृत गुणों के रूप में प्रकट होने पर भी भगवत्-विग्रह वास्तव में प्राकृत नहीं है, क्योंकि श्रीभगवान् अद्वय-स्वरूप हैं।

अर्चा-विग्रह का तत्त्व एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है। यदि हम मार्ग में स्थित किसी डाक के डिब्बे में अपना पत्र डालते हैं तो वह सहज में गन्तव्य तक पहुँच जाता है। किन्तु जिस-किसी अनधिकृत डिब्बे का उपयोग करने से हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इसी भाँति, अर्चा-विग्रह श्रीभगवान् का अधिकृत (प्रामाणिक) रूप है। यह अर्चा-विग्रह श्रीभगवान् का अवतार है; इसके माध्यम से श्रीभगवान् हमारे द्वारा निवेदित सेवा को स्वीकार करते हैं। श्रीभगवान् सर्वसमर्थ एवं सर्वशक्तिमान् हैं; अतः अपने अर्चा-विग्रह रूपी अवतार के द्वारा वे कृपापूर्वक भक्त की सेवा को ग्रहण कर सकते हैं। उनकी इस अहैतुकी कृपा से बद्धजीव को उनकी सेवा का अवसर सुगमता से सुलभ हो जाता है।

इस प्रकार भक्त के लिये श्रीभगवान् की अविलम्ब और सीधी प्राप्ति सब प्रकार से सुगम और सुखावह है, जबकि निराकारवादियों का पथ क्लेशमय है। निराकार-वादियों के लिये उपनिषद् आदि वैदिक शास्त्रों से परमसत्य के निराकार स्वरूप को समझना आवश्यक है। साथ ही, भाषा का ज्ञान, इन्द्रियों से अतीत भावों और इन सभी पद्धतियों की अनुभूति की भी अपेक्षा है। साधारण मनुष्य के लिए यह सब सरल नहीं है। दूसरी ओर, भक्तियोग के परायण कृष्णभावनाभावित पुरुष प्रामाणिक गुरु का आश्रय ग्रहण करने, अर्चा-विग्रह की वन्दना करने, भगवद्गुणगान-श्रवण तथा भगवत्प्रसाद स्वीकार करने मात्र से सुगमतापूर्वक श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाता है। निस्सन्देह निराकारवादी व्यर्थ में एक ऐसे कष्टसाध्य मार्ग को अंगीकार किए हुए हैं, जिससे अन्त में भी परमसत्य की प्राप्ति होगी, यह निश्चित नहीं है। परन्तु भक्तजन किसी भी संकट, क्लेश अथवा कठिनाई के बिना सीधे-सीधे श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत में भी ऐसा एक श्लोक है। उसके अनुसार, अन्त में श्रीभगवान् की शरण लेना जीवमात्र के लिये आवश्यक है (इस शरणागति का ही नाम भक्ति है)। पर यदि कोई सम्पूर्ण जीवन, 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म नहीं है', इस प्रकार मीमांसा करने में ही व्यतीत कर दे, तो परिणाम में क्लेश ही क्लेश हाथ लगेगा। अतएव इस श्लोक में श्रीभगवान् का परामर्श है कि स्वरूप-साक्षात्कार के इस निराकार पथ को ग्रहण न करे, क्योंकि इसका अन्तिम परिणाम अनिश्चित है।

जीवात्मा का निज स्वरूप सनातन है। यदि वह पूर्ण-तत्त्व में लीन होना चाहे,

तो उसे अपने आदि स्वरूप के 'सत्' और 'चित्' की अनुभूति तो हो सकती है, परंतु 'आनन्द' अंश की अनुभूति नहीं हो सकेगी। ऐसा ज्ञानयोग में पूर्ण पारंगत योगी तक भक्तकृपा से भक्तियोग में प्रवृत्त हो सकता है। उस समय निराकारवाद का सुदीर्घकालीन अभ्यास भी दुःखदायी सिद्ध होता है, क्योंकि एक वार अपनाकर फिर इस धारणा को पूर्णरूप से त्यागना कठिन है। इस प्रकार निराकारवाद बद्धजीव के लिए सांधन-अवस्था में ही नहीं, सिद्धावस्था में भी क्लेशदायी है। जीव को आंशिक स्वतन्त्रता मिली हुई है; अतः उसे निश्चित रूप में यह जान लेना चाहिये कि यह निराकार अनुभूति वस्तुतः उसके चिदानन्दमय स्वरूप के विपरीत है। अतएव यह पथ ग्रहण नहीं करना चाहिए। जीवमात्र के लिये कृष्णभावना का पथ, जिसमें पूर्ण रूप से भक्तियोग के परायण हो जाना होता है, सर्वोत्तम है। इस भक्तियोग की उपेक्षा करने से अनीश्वरवादी हो जाने का भय है। अस्तु, जैसा श्लोक में कहा जा चुका है, निराकार, अव्यक्त, अचिन्त्य तथा इन्द्रियों से अगोचर तत्त्व के ध्यान की पद्धति को किसी भी काल में, विशेषतः वर्तमान कलियुग में प्रोत्साहित करना ठीक नहीं; भगवान् श्रीकृष्ण ने इसका परामर्श नहीं दिया है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

ये=जो; **तु**=किन्तु; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **कर्माणि**=कर्मों को; **मयि**=मुझ में; **संन्यस्य**=अर्पण करके; **मत्पराः**=मेरे परायण हुए; **अनन्येन**=अनन्य; **एव**=ही; **योगेन**=भक्तियोग के अभ्यास से; **माम्**=मुझको; **ध्यायन्तः**=निरन्तर चिन्तन करते हुए; **उपासते**=भजते हैं; **तेषाम्**=उन; **अहम्**=मैं; **समुद्धर्ता**=उद्धार करने वाला; **मृत्युसंसारसागरात्**=मृत्युरूप संसार-सागर से; **भवामि**=होता हूँ; **न चिरात्**=अति शीघ्र; **पार्थ**=हे अर्जुन; **मयि**=मुझ में; **आवेशितचेतसाम्**=एकान्तभाव से अनुरक्त चित्त वाले भक्तों का।

अनुवाद

जो सम्पूर्ण कर्मों को मेरे अर्पण करके और अनन्य भक्तियोग के परायण होकर नित्य-निरन्तर मेरा ही भजन-चिन्तन करते हैं, मुझ में एकान्त भाव से अनुरक्त मन वाले उन भक्तजनों का हे पार्थ! मैं जन्म-मृत्युरूपी संसार-सागर से अति शीघ्र उद्धार करता हूँ।।६-७।।

तात्पर्य

स्पष्टतः भक्तजनों के सौभाग्य की कोई सीमा नहीं है, क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं अति शीघ्र भवसागर से उनका उद्धार करने वाले हैं। शुद्ध भक्तियोग इस सत्य की अनुभूति करा देता है कि श्रीभगवान् परम महिमामय हैं और जीव उनका नित्यदास है। वास्तव में श्रीभगवान् की सेवा करना जीव का स्वरूपभूत धर्म (कर्तव्य) है; यदि वह

ऐसा नहीं करेगा तो उसे माया की सेवा करनी पड़ेगी।

पूर्वकथन के अनुसार, श्रीभगवान् का आस्वादन और अनुभव भक्तियोग से ही किया जा सकता है; अतः पूर्ण रूप से भक्त हो जाना चाहिए। श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए मन को उनमें एकाग्र करके उन्हीं की प्रीति के लिये कर्म करना है। कर्म के प्रकार का महत्त्व नहीं है, आवश्यक यह है कि प्रत्येक कर्म श्रीकृष्ण के लिये किया जाय। यही भक्तियोग का आदर्श है। श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के अतिरिक्त भक्त कोई दूसरा फल नहीं चाहता। उसके जीवन का ऐकान्तिक लक्ष्य श्रीकृष्ण की प्रीति का सम्पादन करना है। इसके लिये वह सर्वस्व-त्याग कर सकता है, वैसे ही जैसे कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन ने किया था। भक्तियोग का यह पथ अतिशय सुगम है। अपने दैनिक कार्य में संलग्न रहते हुए भी, **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—इस महामन्त्र का कीर्तन किया जा सकता है। भक्त इस दिव्य कीर्तन के प्रताप से श्रीभगवान् में अनन्य भाव से अनुरक्त हो जाता है।

श्रीभगवान् ने इस श्लोक में वचन दिया है कि इस प्रकार भक्तियोग के परायण शुद्धभक्त का वें भवसागर से शीघ्र उद्धार करते हैं। जो योगाभ्यास में उन्नति कर चुके हैं, वे योगबल के द्वारा अपने आत्मा को स्वेच्छा से किसी भी लोक में ले जा सकते हैं। जो भक्त नहीं हैं, वे इस सुयोग का नाना प्रकार से लाभ उठाते भी हैं। परन्तु भक्त के सम्बन्ध में तो विशेष रूप से कहा है कि श्रीभगवान् उसे स्वयं इस मृत्युलोक से ले जाते हैं। भक्त को वैकुंठ की प्राप्ति के लिये सुदीर्घकालीन अभ्यास की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। 'वराहपुराण' में कथन है:

नयामि परमं स्थानमर्चिरादि गतिं विना।
गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः।।

इस श्लोक का तात्पर्य है कि भक्त को दिव्य लोकों की प्राप्ति के लिए अष्टांगयोग के अभ्यास की आवश्यकता नहीं है। उसके दायित्व का स्वयं श्रीभगवान् वहन करते हैं। श्रीभगवान् ने स्पष्ट किया है कि वे स्वयं उसका उद्धार कर ले जाते हैं। एक बालक के संरक्षण का भार पूर्णरूप से उसके माता-पिता पर रहता है; इससे उसकी स्थिति सर्वथा निरापद है। ऐसे ही, भक्त को अन्य लोकों की प्राप्ति के लिये योगाभ्यास के द्वारा आयास-प्रयास नहीं करना पड़ता। अपितु, अपनी महती करुणा से अभिभूत होकर गरुड़जी पर विराजमान श्रीभगवान् स्वयं तुरन्त प्रकट हो जाते हैं और अपने भक्त का इस भवसागर से अविलम्ब उद्धार कर देते हैं। सागर में गिरा मनुष्य कितना भी संघर्ष क्यों न करे अथवा तैरने में कितना भी कुशल क्यों न हो, परन्तु स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकता। पर यदि कोई दूसरा उसकी जल से रक्षा करे तो वह सुगमता से बच सकता है। इसी भाँति, श्रीभगवान् भी इस भवसागर से अपने भक्त को बचाते हैं। इसके लिये कृष्णभावना की सुगम पद्धति का अभ्यास करते हुए पूर्णतया भक्तियोग में तत्पर रहना मात्र है। अन्य पथों की अपेक्षा बुद्धिमान् मनुष्य सदा

भक्तियोग को ही अंगीकार करता है। 'नारायणीय' में इस सत्य की सम्पुष्टि है:

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः।।

इस श्लोक के अनुसार, नाना प्रकार के सकाम कर्म अथवा मनोधर्ममय ज्ञान-मार्ग में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। श्रीभगवान् के परायण भक्त को अन्य यौगिक पद्धतियों, ज्ञान, कर्मकाण्ड, यज्ञ, दान, आदि से होने वाले सम्पूर्ण लाभ सुलभ हो जाते हैं। यह भक्तियोग का विशिष्ट अनुग्रह है।

पवित्र कृष्णनाम—**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** के कीर्तन से भक्त का परमधाम में सुखपूर्वक सुगमता से प्रवेश हो जाता है, जबकि अन्य किसी भी पद्धति के द्वारा वहाँ तक नहीं पहुँचा जा सकता।

भगवद्गीता का निष्कर्ष अठ्ठारहवें अध्याय में इस प्रकार है:

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो: मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

स्वरूप-साक्षात्कार की अन्य सभी पद्धतियों को त्याग कर कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग का आचरण करना चाहिये। इससे जीवन का परम लाभ हाथ लग जायेगा। पूर्वजीवन के पापों के लिये चिन्ता करना व्यर्थ है, क्योंकि श्रीभगवान् उसका सम्पूर्ण दायित्व स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं। अतएव साधन-सिद्धि में अपनी मुक्ति का व्यर्थ प्रयास करने के स्थान पर जीव को सर्वसमर्थ परमेश्वर श्रीकृष्ण का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। यही जीवन की परम कृतार्थता है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

मयि=मुझ में; **एव**=ही; **मनः**=चित्त को; **आधत्स्व**=एकाग्र कर; **मयि**=मुझ में; **बुद्धिम्**=बुद्धि को; **निवेशय**=नियुक्त कर (अर्पण कर); **निवसिष्यसि**=निवास करेगा; **मयि**=मुझ में; **एव**=ही; **अतः ऊर्ध्वम्**=इसके अनन्तर; **न संशयः**=निःसन्देह।

अनुवाद

अपने मन को मुझ भगवान् में एकाग्र कर और संपूर्ण बुद्धि से मेरा ही चिन्तन कर। इसके अनन्तर निःसन्देह तू सदा मुझ में ही निवास करेगा, अर्थात् मुझ को ही प्राप्त होगा।।८।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति के परायण मनुष्य का उन परमेश्वर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। अतः उसकी स्थिति प्रारम्भ से ही दिव्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। भक्त लौकिक स्तर पर नहीं रहता; वह श्रीकृष्ण में निवास करता है। श्रीभगवान् के पावन नाम और स्वयं श्रीभगवान् में भेद नहीं है। अतः जिस समय भक्त **हरे कृष्ण** कीर्तन करता है, उस समय श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरंगा आह्लादिनी शक्ति उसके

जिह्वा-प्रांगण में नाचा करते हैं। जब वह श्रीकृष्ण को भोग अर्पण करता है तो श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष रूप से उस नैवेद्य को खाते हैं और उनके प्रसाद को खाकर भक्त भी कृष्णमय बन जाता है। जो इस सेवा के परायण नहीं है वह इसके मर्म को नहीं जान सकता, यद्यपि गीता तथा अन्य वैदिक शास्त्रों में भक्तिपथ का प्रतिपादन है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।९।।

अथ=यदि; **चित्तम्**=मन को; **समाधातुम्**=एकाग्र करने में; **न शक्नोषि**=समर्थ नहीं है; **मयि**=मुझ में; **स्थिरम्**=अचल; **अभ्यास**=अभ्यासरूपी; **योगेन**=भक्तियोग के द्वारा; **ततः**=तो; **माम्**=मुझ को; **इच्छ**=इच्छा कर; **आप्तुम्**=प्राप्त होने की; **धनंजय**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन! यदि तू मन को मुझ में अचल रूप से एकाग्र नहीं कर सकता, तो भक्तियोग की विधि का अभ्यास कर। इससे तुझ में मेरी प्राप्ति की इच्छा जागृत हो जायगी।।९।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भक्तियोग की दो पद्धतियों का प्रतिपादन है। प्रथम पद्धति में उस का अधिकार है, जो दिव्य प्रेमवश भगवान् श्रीकृष्ण में अनुरक्त हो गया हो। दूसरी विधि उसके लिये है, जिसमें श्रीभगवान् के प्रति प्रेममयी आसक्ति का समुदय नहीं हुआ है। इस दूसरे वर्ग के लिये नाना प्रकार के विधि-विधान हैं, जिनका पालन करने से अन्ततः श्रीकृष्ण में अनुराग की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

भक्तियोग इन्द्रियों को शुद्ध करने की पद्धति है। इस जगत् में अपनी तृप्ति में लगी रहने से इन्द्रियाँ नित्य अशुद्ध (दूषित) रहती हैं; परन्तु भक्तियोग के अभ्यास से इन्हें शुद्ध किया जा सकता है। उस शुद्धावस्था में इन्हें साक्षात् श्रीभगवान् का संस्पर्श प्राप्त होता है। इस संसार में जीवमात्र किसी न किसी स्वामी की सेवा में संलग्न है, परन्तु उसकी वह सेवा प्रेममयी नहीं है। वह धन कमाने के लिये ही किसी की सेवा करता है और उसका स्वामी भी उससे प्रेम नहीं करता; उसकी सेवा के बदले में ही वह कुछ पारिश्रमिक देता है। अतएव संसार में प्रेम का प्रश्न नहीं बनता। परन्तु भगवत्परायण जीवन के लिये शुद्ध प्रेमावस्था की प्राप्ति आवश्यक है। इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा भक्तियोग का अभ्यास करने से यह प्रेमावस्था सुलभ हो सकती है।

यह भगवत्प्रेम जीवमात्र के हृदय में सोया पड़ा है। संसार में यह नाना प्रकार से अभिव्यंजित तो होता है; पर विषयसंगवश इसका यह प्रकाश दूषित है। अतएव विषयसंग को शुद्ध करके उस सुप्त स्वाभाविक कृष्णप्रेम को फिर जागृत करना है। यही भक्तियोग की सम्पूर्ण पद्धति है।

भक्तियोग के विधि-विधान के पालनार्थ कुशल सद्गुरु के आश्रय में कुछ सिद्धान्तों का अनुसरण करना आवश्यक है। ब्राह्ममुहूर्त में शय्या त्याग कर स्नान,

मन्दिर-गमन, पूजन, हरेकृष्ण कीर्तन, अर्चा-विग्रह के लिये पुष्प-चयन, नैवेद्य बनाना तथा प्रसाद ग्रहण करने जैसी विधियाँ पालनीय हैं। शुद्धभक्त के मुखारविन्द से श्रीभगवद्गीता और श्रीमद्भागवत का नित्य-निरन्तर श्रवण करना चाहिए। जो कोई यह अभ्यास करता है, उसे भगवत्प्रेम की प्राप्ति हो सकती है, जिससे भगवद्धाम के मार्ग पे प्रगति निश्चित हो जाती है। अस्तु, गुरुदेव के आज्ञानुसार भक्तियोग का नियमित रूप से अभ्यास करने पर भगवत्प्रेम की अवस्था अवश्य अति शीघ्र सुलभ हो जायगी।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

अभ्यासे=अभ्यास करने में; **अपि**=भी; **असमर्थः असि**=समर्थ नहीं है; **मत्कर्मपरमः**=मेरे लिए कर्म करने के ही परायण; **भव**=हो; **मदर्थम्**=मेरे लिए; **अपि**=भी; **कर्माणि**=कर्म; **कुर्वन्**=करता हुआ; **सिद्धिम्**=मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि को; **अवाप्स्यसि**=प्राप्त होगा।

अनुवाद

यदि तू विधिपूर्वक भक्तियोग को अभ्यास भी नहीं कर सकता, तो मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो, क्योंकि मेरे लिए कर्म करने से भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त हो जायगा।।१०।।

तात्पर्य

जो गुरु के आज्ञानुसार विधि-विधान सहित भक्तियोग का अभ्यास नहीं कर सकता, उसे भी श्रीभगवान् की प्रीति के लिए कर्म करने में लगा कर भगवत्प्रेमरूप संसिद्धि की ओर अग्रसर किया जा सकता है। इस प्रकार भगवत्परायण कर्म करने की विधि का वर्णन ग्यारहवें अध्याय के पचपनवें श्लोक में किया जा चुका है। कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए मन में सहानुभूति का भाव रहे। ऐसे अनेक भगवद्भक्त हैं, जो कृष्णभावना के प्रचार-प्रसार में प्राणपण से मग्न हैं; उन्हें सहायता और सहयोग की अपेक्षा है। अतः जो स्वयं भक्तियोग का आचरण न कर सकता हो, वह मनुष्य भी प्रचार-कार्य में सहयोग दे कर कल्याण का पात्र बन सकता है। किसी भी कार्य के लिये भूमि, पूंजी, व्यवस्था और परिश्रम की आवश्यकता होती है। व्यापार की भाँति, श्रीकृष्ण की सेवा में भी रहने के लिये स्थान, उपयोग के लिये पूंजी, कार्य के लिये परिश्रम और विस्तार के लिये व्यवस्था चाहिये। दोनों में अन्तर यह है कि एक ओर जहाँ सांसारिक कर्म इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाता है; दूसरी ओर, वही कर्म श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए किए जाने पर दिव्यता प्राप्त कर लेता है। यदि कोई धनवान् है तो वह कृष्णभावना के प्रचारार्थ कार्यालय अथवा मन्दिर बनाने और ग्रन्थप्रकाशन में सहयोग कर सकता है। कर्म के विविध क्षेत्र हैं। कृष्ण सेवा के लिए इन सभी कर्मों में रुचि लेनी चाहिए। अपनी क्रियाओं के फ़ल का त्याग करने में असमर्थ होने पर भी कम से कम कृष्णभावना के प्रचार में उसके कुछ अंश का समर्पण तो किया जा ही सकता है। कृष्णभावना के प्रचार के लिए स्वेच्छा से इस

प्रकार की निष्काम सेवा करने से भगवत्प्रेम की उच्च अवस्था को प्राप्त होने में सहायता मिलेगी, जिससे जीवन कृतार्थ हो उठता है।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

अथ=यदि; **एतत्**=इसको; **अपि**=भी; **अशक्तः असि**=असमर्थ है; **कर्तुम्**=करने में; **मत्**=मेरे; **योगम् आश्रितः**=भक्तियोग के आश्रित हुआ; **सर्वकर्म**=सब कर्मों के; **फल**=फल का; **त्यागम्**=त्याग; **ततः**=तो; **कुरु**=कर; **यतात्मवान्**=स्वरूप में स्थित।

अनुवाद

यदि तू इस बुद्धियोग से युक्त होकर कर्म भी नहीं कर सकता, तो आत्मस्वरूप में स्थित होकर फल का त्याग करता हुआ सब कर्म कर।।११।।

तात्पर्य

सम्भव है कि समाज, परिवार या आस्था के कारण अथवा किसी अन्य बाधावश, कोई चाहते हुए भी कृष्णभावना की प्रचार-क्रियाओं से सहयोग भी न कर सके। यदि वह प्रत्यक्ष रूप से कृष्णभावनामय क्रियाओं में तत्पर हो जाय तो बन्धु-बान्धवों का विरोध जैसी कठिनाइयाँ उठ सकती हैं। जिसके साथ ऐसी समस्या हो, उसे चाहिए कि अपने संचित कर्मफल को सत्कर्म में लगाये। वैदिक नियमों में इस प्रकार के अनेक विधान हैं। ऐसे यज्ञों और पुमुन्डी नामक कृत्यों का उल्लेख है, जिनमें पिछले कर्मफल का उपयोग किया जाता है। इससे क्रमशः ज्ञान हो सकता है। देखने में आता है कि कृष्णभावनाभावित सेवाकार्य में लेशमात्र रुचि न रखने वाला मनुष्य भी कभी-कभी औषधालय आदि को दान देकर कर्मफल का त्याग करता है। इसका यहाँ विधान है, अर्थात् ऐसा करना चाहिए, क्योंकि कर्मफल का त्याग करने के अभ्यास से निस्सन्देह शनैः-शनैः चित्त-शुद्धि होती है। फिर चित्त की शुद्धावस्था में कृष्णभावना के माधुर्य के आस्वादन की योग्यता आ जाती है। यह अवश्य है कि कृष्णभावना किसी अन्य उपचारोपाय पर निर्भर नहीं करती, कृष्णभावना चित्त का मार्जन करने में स्वयं पूर्ण समर्थ है। परन्तु यदि कृष्णभावना के पथ में अन्य प्रतिबन्ध आयें तो कर्मफल-त्याग का अभ्यास करे। समाजसेवा, जातिसेवा, राष्ट्रसेवा आदि सब कर्म किए जा सकते हैं; पर इन्हें निष्काम भाव से ही करे, जिससे एक दिन विशुद्ध भगवत्सेवा करने की योग्यता प्राप्त हो जाय—परा भक्ति उदित हो जाय। भगवद्गीता में ही अन्यत्र कहा है: **यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्**। यदि कोई सब के परम कारण के लिए कर्मफलत्याग करे, पर यह न जानता हो कि श्रीकृष्ण ही परम कारण हैं, तो फलत्याग रूपी यज्ञ करने से उसे शनैः-शनैः इस सत्य की अनुभूति हो जायगी।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

श्रेयः=श्रेष्ठ है; **हि**=निस्सन्देह; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **अभ्यासात्**=अभ्यास से; **ज्ञानात्**=

ज्ञान से; **ध्यानम्**=ध्यान; **विशिष्यते**=श्रेष्ठ माना जाता है; **ध्यानात्**=ध्यान से भी, **कर्मफलत्यागः**=सब कर्मों के फल का मेरे लिये त्याग करना (उत्तम है); **त्यागात्**=इस त्याग से; **शान्तिः**=शान्ति मिलती है; **अनन्तरम्**=तत्काल।

अनुवाद

यदि यह अभ्यास भी नहीं कर सकता तो ज्ञान का अनुशीलन कर; ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मो के फल का त्याग करना उत्तम है, क्योंकि त्याग से तत्काल शान्ति मिलती है।।१२।।

तात्पर्य

पूर्ववर्ती श्लोकों में कहा जा चुका है कि भक्ति दो प्रकार की हैं—वैधी और रागानुगा। जो यथार्थ में कृष्णभावना के सिद्धान्तों का अनुसरण करने के योग्य नहीं हैं, उनके लिए ज्ञान का अनुशीलन करना अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि ज्ञान से अपनी वास्तविक स्थिति को समझा जा सकता है। शनैः-शनैः ज्ञान ध्यान में विकसित हो जायगा। ध्यान की क्रमिक पद्धति से भगवत्-तत्त्व को जाना जा सकता है। अहंग्रहोपासना की पद्धति में अभ्यासकर्ता अपने को ही परम तत्त्व मानता है। यह ध्यानविधि उनके लिए है, जो भक्तियोग के अयोग्य हैं। जो इस प्रकार ध्यान भी नहीं कर सकते, उनके लिए वर्णाश्रम-धर्म का विधान है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के स्वधर्म के रूप में इनका विस्तृत वर्णन अट्ठारहवें अध्याय में है। इन सभी साधनों में अपने कर्मों का फलत्याग कर देना चाहिए, अर्थात् कर्मफल का सदुपयोग करना चाहिए। सारांश में, परमलक्ष्य श्रीभगवान् की प्राप्ति के क्रमिक तथा सीधा, ये दो मार्ग हैं। कृष्णभावनाभावित भक्तियोग सीधा मार्ग है, जबकि कर्मफलत्याग करने से भगवत्प्राप्ति शनैः-शनैः ही हो सकती है। कर्मफल का त्याग करने से ज्ञान होता है, ज्ञान से ध्यान होता है और ध्यान से परमात्मा का और अन्त में श्रीभगवान् का साक्षात्कार होता है। मनुष्य स्वेच्छानुसार भक्तियोग के सीधा मार्ग को अथवा फलत्याग के क्रमिक मार्ग को अपना सकता है। सीधे मार्ग को ग्रहण करने की योग्यता सब में नहीं होती; अतः क्रमिक मार्ग भी उपयोगी है। परन्तु अर्जुन के लिए क्रमिक मार्ग का उपदेश नहीं है, क्योंकि वह तो पहले से ही भगवत्प्रेमी है। जो भगवद्भक्ति से शून्य हैं, उन्हीं के लिए त्याग, ज्ञान, ध्यान तथा परमात्मा और ब्रह्म की अनुभूति के क्रमिक मार्ग का विधान है। जहाँ तक भगवद्गीता का सम्बन्ध है, उसमें सीधे मार्ग की ही स्तुति है। अतएव गीता के अनुसार मनुष्यमात्र को सीधे भक्तिमार्ग को अंगीकार करके अनन्य भाव से भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाना चाहिए।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।
संतुष्ट सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

अद्वेष्टा=द्वेषभाव से रहित; **सर्वभूतानाम्**=सब प्राणियों में; **मैत्रः**=सब का प्रेमी; **करुणः**=दयालु, कृपालु; **एव च**=अवश्य ही; **निर्ममः**=ममतारहित; **निरहंकारः**=मिथ्या अहंकार से शून्य; **सम**=समभाव वाला; **दुःखसुखः**=दुःख-सुख में; **क्षमी**=क्षमावान् (अपराध करने वाले को अभय देने वाला); **संतुष्टः**=हानि-लाभ में सन्तुष्ट; **सततम्**=निरन्तर; **योगी**=भक्ति में तत्पर; **यतात्मा**=मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किए हुए; **दृढनिश्चयः**=दृढ़ निश्चय वाला है; **मयि**=मुझ में; **अर्पित**=अर्पण किए हुए; **मनोबुद्धिः**=मन और बुद्धि को; **यः**=जो; **मद्भक्तः**=मेरा भक्त है; **सः मे प्रियः**=वह मेरा प्रिय है।

अनुवाद

जो किसी से द्वेष नहीं करता और सब का निस्वार्थ कृपामय मित्र है, जो ममता और मिथ्या अहंकार से रहित, सुख-दुःख की प्राप्ति में समान और क्षमावान् है तथा जो हानि-लाभ में सदा सन्तुष्ट रहता है, दृढ़ निश्चय सहित भक्तियोग के परायण है और जिसने अपने मन-बुद्धि को मुझ में ही अर्पण कर रखा है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१३-१४।।

तात्पर्य

शुद्ध भक्तियोग का आगे वर्णन करते हुए श्रीभगवान् अब शुद्धभक्त के दिव्य गुणों का गान करते हैं। शुद्धभक्त किसी भी परिस्थिति में उद्विग्न नहीं होता। वह किसी प्राणी से, यहाँ तक कि अपने द्वेषी तक से द्वेष नहीं करता। यदि कोई उससे वैर करे तो वह समझता है कि इसका कारण उसके अपने पिछले पाप हैं; इसलिए विरोध करने की अपेक्षा चुपचाप सब कुछ सहन करना अच्छा है। श्रीमद्भागवत में कथन है—**तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो।** भक्त को बड़ी से बड़ी विपत्ति अथवा दुःख की प्राप्ति में भी अपने ऊपर भगवान् की कृपा का दर्शन होता है। वह सदा इस उद्गार से अनुप्राणित रहता है, 'इस दुःख की तुलना में प्रारब्धवश मुझे कहीं अधिक दुःख मिलना था। परन्तु भगवत्कृपा के कारण भाग्य के दुःख का अत्यन्त सीमित अंश ही मुझे भोगना पड़ रहा है।' इस भावना के कारण नाना विपत्तियों से आक्रान्त होने पर भी वह नित्य शान्त, निस्पन्द और धैर्ययुक्त रहता है तथा प्राणीमात्र पर, चाहे वह द्वेषी ही क्यों न हो, कृपा करता है। भक्त **निर्मम** है, अर्थात् देह की अनुकूलता-प्रतिकूलता को महत्त्व नहीं देता; वह पूर्ण रूप से जानता है कि उसका स्वरूप देह से भिन्न है। वह देह को अपना स्वरूप नहीं मानता, इसलिए मिथ्या अहंकार से मुक्त तथा दोनों सुख-दुःख में सम रहता है। अपने अपराधियों को क्षमा का दान करता है और श्रीभगवान् की कृपा से जो कुछ मिले, उसी में सन्तोष मानता है; किसी भी पदार्थ की प्राप्ति के लिए अतिश्रम में प्रवृत्त नहीं होता, अतएव नित्य प्रसन्नचित्त रहता है। श्रीगुरुदेव के उपदेश में निष्ठ होने के कारण वह पूर्ण योगी है और इन्द्रियसंयमी होने से दृढ़ निश्चय को धारण किए हुए है। अतएव किसी भी कुतर्क के द्वारा उसे भक्तियोग के दृढ़ निश्चय से विचलित नहीं किया जा सकता। वह

पूर्णरूप से जानता है कि श्रीकृष्ण उसके शाश्वत् स्वामी हैं, अतः किसी की सामर्थ्य नहीं कि उसे चलायमान कर सके। ये सब दिव्य गुण उसके लिए सब प्रकार से परमेश्वर श्रीकृष्ण का आश्रय लेने में सहायक हैं। भक्तियोग की यह सिद्धावस्था निस्सन्देह परम दुर्लभ है; परन्तु भक्तियोग के विधि-नियमों का पालन करने से भक्त इसको प्राप्त कर लेता है। इससे भी अधिक, श्रीभगवान् कह रहे हैं कि इस कोटि का भक्त उनका अतिशय प्रेमास्पद है, क्योंकि उसकी सब पूर्ण कृष्णभावनाभावित क्रियाओं से वे सदा प्रसन्न रहते हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

यस्मात्=जिससे; **न उद्विजते**=उद्वेग को प्राप्त नहीं होता; **लोकः**=कोई जीव; **लोकात्**=किसी जीव से; **न उद्विजते**=उद्वेग को प्राप्त नहीं होता; **च**=तथा; **यः**=जो; **हर्ष**=सुखः **अमर्ष**=दुःख; **भय**=भय; **उद्वेगैः**=उद्वेगादि से; **मुक्तः**=मुक्त है; **यः**=जो; **सः**=वह; **च**=भी; **मे**=मुझे; **प्रियः**=प्रिय है।

अनुवाद

जिससे किसी को उद्वेग (कष्ट) नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता; जो हर्ष, शोक आदि उद्वेगों के प्रभावित नहीं होता, वह मेरा प्रिय है।।१५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भक्त के कतिपय गुणों का अधिक वर्णन है। भक्त से किसी जीव को कष्ट, उद्वेग, भय अथवा असंतोष नहीं होता। भक्त की कृपा जीवमात्र पर रहती है; वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जिससे दूसरों को उद्वेग हो। दूसरी ओर, यदि दूसरे उसे उद्वेग देना चाहें, तो वह उद्विग्न नहीं होता। भगवत्कृपा के प्रताप से वह इतना अभ्यासयुक्त हो जाता है कि किसी भी बाह्य उपद्रव से क्षुब्ध नहीं होता। वास्तव में ऐसी कोई भी सांसारिक परिस्थिति भक्त को चलायमान नहीं कर सकती, क्योंकि वह निरन्तर कृष्णभावना में निमग्न और भक्तियोग के परायण है। सामान्यतः विषयी व्यक्ति अपने शरीर और इन्द्रियों की तृप्ति के अनुकूल पदार्थ की प्राप्ति होने पर हर्षित होता है और जब दूसरों के पास ऐसे भोग्य पदार्थ देखता है, जो उसे प्राप्त नहीं हैं, तो दुःख और ईर्ष्या भाव से भर जाता है। शत्रु के आक्रमण की आशंका उसे भयविह्वल कर देती है और किसी कार्य में अकृतार्थ रह जाने पर वह निराश हो उठता है। भक्त इन सभी विकारों से निरन्तर परे रहता है। अतएव वह श्रीकृष्ण का अतिशय प्रेमपात्र है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

अनपेक्षः=स्पृहारहित; **शुचिः**=बाहर-भीतर से पवित्र; **दक्षः**=कुशल; **उदासीनः** अनासक्त; **गतव्यथः**=समस्त दुःखों से छूटा हुआ है; **सर्वारम्भ**=सब उद्यमों

का; **परित्यागी**=त्यागी है; **यः**=जो; **मद्भक्तः**=मेरा भक्त; **सः**=वह; **मे**=मेरा; **प्रियः**= प्रिय है।

अनुवाद

जो व्यावहारिक कार्यों की अपेक्षा से रहित, शुद्ध, कुशल और अनासक्त है, सब दुःखों से छूटा हुआ है तथा किसी फल के लिए प्रयत्न नहीं करता, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१६।।

तात्पर्य

भक्त को धन का दान किया जा सकता है, परंतु धन के लिये संघर्ष करना उसके योग्य नहीं। भगवत्कृपा से अपने-आप धन की प्राप्ति होने पर वह उद्विग्न भी नहीं होता। भक्त दिन में कम से कम दो बार स्नान अवश्य करता है और भक्तियोग का अभ्यास करने के लिये ब्राह्ममुहूर्त में शय्या त्याग देता है। इस प्रकार वह स्वभावतः बाहर-भीतर से शुद्ध रहता है। सच्चा भक्त जीवन की सब क्रियाओं का सम्पूर्ण तात्पर्य जानता है और प्रामाणिक शास्त्रों में दृढ़ विश्वास रखता है; अतः वह परम दक्ष है। पक्षपात के आग्रह से मुक्त होने से उसे **उदासीन** कहा जाता है। सब उपाधियों से मुक्त हो जाने के फलस्वरूप वह कभी दुःखी नहीं होता। यह जानकर कि उसका शरीर उपाधिमात्र है, वह शारीरिक दुःखों से बिल्कुल असंग रहता है। शुद्धभक्त ऐसा कोई उद्यम नहीं करता, जो भक्तियोग के प्रतिकूल हो। उदाहरणार्थ, भवन-निर्माण के लिए महती शक्ति चाहिये। भक्त इस कार्य को तभी करेगा, यदि यह भक्तियोग के विकास के रूप में कल्याणकारी हो। भगवत्-मन्दिर के निर्माण के लिए वह सब प्रकार के कष्टों को स्वीकार कर सकता है, पर अपने बन्धु-बान्धवों के लिए बड़ा भारी घर नहीं बनाता।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

यः=जो; **न**=न; **हृष्यति**=हर्षित होता है; **न**=कभी नहीं; **द्वेष्टि**=दुःखी होता; **न**=न; **शोचति**=शोक करता है; **न**=न; **कांक्षति**=कामना करता है; **शुभ**=अनुकूल (प्रिय); **अशुभ**=प्रतिकूल (अप्रिय) का; **परित्यागी**=त्यागी है; **भक्तिमान्**=भक्त; **यः**=जो; **सः**=वह; **मे**=मेरा; **प्रियः**=प्रिय है।

अनुवाद

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कामना ही करता है, तथा जो शुभ और अशुभ आदि सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१७।।

तात्पर्य

शुद्धभक्त लौकिक लाभ-हानि के लिए हर्षित या दुःखी नहीं होता। वह पुत्र-शिष्य आदि की कामना नहीं करता और न ही उनके अभाव में दुःख मानता है। किसी प्रिय वस्तु की हानि होने पर भी शोक नहीं करता और न उसकी प्राप्ति में हर्ष को

ही प्राप्त होता; अपितु. सब प्रकार के शुभ, अशुभ और पापकर्मों से सर्वथा असंग (निर्लिप्त) रहता है। श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए वह बड़ी से बड़ी विपत्ति को हृदय से लगा सकता है। उसकी भगवत्सेवा में किसी कारण कभी अन्तर नहीं पड़ सकता। अतएव कहना न होगा कि ऐसा भक्त श्रीकृष्ण को अति प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।१८।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

समः=समान है; **शत्रौ**=शत्रु; **च**=तथा; **मित्रे**=मित्र में; **च**=भी; **तथा**=इसी प्रकार; **मान**=सम्मान; **अपमानयोः**=अपमान में; **शीत**=सर्दी; **उष्ण**=गर्मी; **सुख**=सुख; **दुःखेषु**=दुःख में; **समः**=सम है; **संगविवर्जितः**=कुसंग से मुक्त है; **तुल्य**=समान समझने वाला; **निन्दा**=अपयश; **स्तुतिः**=यश को; **मौनी**=मननशील; **संतुष्टः**=सदा संतुष्ट है; **येन केनचित्**=जिस किसी प्रकार शरीर का निर्वाह होने में; **अनिकेतः**=जिसका कोई नियत निवास नहीं है; **स्थिरमतिः**=दृढ़ निश्चय वाला; **भक्तिमान्**=भक्ति के परायण; **मे**=मेरा; **प्रियः**=प्रिय; **नरः**=मनुष्य।

अनुवाद

जो शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादि में समान है और कुसंग से मुक्त है, जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला है और मननशील है, जो सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसका कोई नियत निवास नहीं है और जो ज्ञान में स्थित है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१८-१९।।

तात्पर्य

भक्त सदा सब प्रकार के कुसंग से मुक्त रहता है। कभी यश हुआ करता है तो कभी अपयश; यह मानवसमाज का स्वभाव-सा है। भक्त ऐसे लौकिक मान-अपमान, सुख-दुःख आदि से सदा परे है। उसके धैर्य की सीमा नहीं होती। कृष्णकथा के अतिरिक्त वह कुछ नहीं बोलता; इसी से उसे **मौनी** कहा जाता है। **मौनी** होने का अर्थ यह नहीं कि बिल्कुल चुप रहे। अनर्थ भाषण न करने का नाम ही मौन है। आवश्यक होने पर वाणी का उपयोग करना चाहिए और भगवत्कथा सुनाना भक्त के लिए परम आवश्यक है। वह सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त रहता है। कभी स्वादिष्ट भोजन मिलता है तो कभी नहीं मिलता; पर वह किसी भी स्थिति में सन्तुष्ट रह सकता है। उसे किसी निश्चित घर की भी अपेक्षा नहीं। वह वृक्ष के आश्रय में भी रह सकता है और महल में भी—कहीं उसकी आसक्ति नहीं होती। दृढ़ निश्चय और ज्ञान से युक्त होने के कारण उसे **स्थिरमति** कहा गया है। पूर्ववर्ती श्लोकों में भक्त के कुछ लक्षणों की पुनरावृत्ति इस बात पर बल देने के लिए है कि भक्त को इन गुणों का अर्जन अवश्य-अवश्य करना है। सद्गुणों के बिना कोई शुद्धभक्त नहीं बन सकता। अभक्त में कोई सद्गुण नहीं होता। अतः भक्त-पद की प्राप्ति के लिए उपरोक्त सद्गुणों का विकास

करना चाहिए। यह अवश्य है कि इसके लिए कोई बाह्य प्रयास नहीं करना पड़ता; कृष्णभावना और भक्तियोग में मग्नता से इनका विकास अपने-आप हो जाता है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

ये=जो; **तु**=किन्तु; **धर्म्य**=अविनाशी धर्ममय; **अमृतम्**=ज्ञानामृत को; **इदम्**=इस; **यथा**=जैसा; **उक्तम्**=कहा गया; **पर्युपासते**=पूर्णरूप से तत्पर रहते हैं; **श्रद्दधानाः**=श्रद्धासहित; **मत्परमाः**=सर्वभाव से मुझ भगवान् के परायण; **भक्ताः**=भक्त; **ते**=वे; **अतीव**=हार्दिक; **मे**=मुझे; **प्रियाः**=प्रिय हैं।

अनुवाद

जो मेरे परायण हुए, अर्थात् मुझे परम गति समझ कर विशुद्ध प्रेम से मेरी ही प्राप्ति के लिए ऊपर कहे हुए भक्तियोग के अमृतपथ का सेवन करते हैं, वे भक्त मेरे अतीव प्रिय हैं।।२०।।

तात्पर्य

इस अध्याय में जीव के सनातनधर्म—भक्तियोग की पद्धति का वर्णन है, जिसके द्वारा भगवत्प्राप्ति होती है। श्रीभगवान् को यह पथ अति प्रिय है; अतः इसके अनुगामी को भी वे अपना प्रिय मानते हैं। अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने जिज्ञासा की थी कि निर्विशेष ब्रह्मनिष्ठ और भगवत्सेवापरायण भक्त में कौन श्रेष्ठ है। श्रीभगवान् ने इसका इतना स्पष्ट उत्तर दिया कि इसमें कोई सन्देह नहीं रहा है कि भक्तियोग स्वरूप-साक्षात्कार का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। प्रकारान्तर से, इस अध्याय में निर्णय है कि जीव में सत्संग से शुद्ध भक्तियोग की उत्कण्ठा का उदय होता है। फिर सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करने पर श्रवण-कीर्तन होने लगता है और श्रद्धा, रुचि और भक्ति-भाव के साथ वैधीभक्ति का आचरण करता हुआ शनैः-शनैः वह पूर्णतया भगवत्सेवा-परायण हो जाता है। इसी पथ का बारहवें अध्याय में उपदेश है। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि भक्तियोग स्वरूप-साक्षात्कार और भगवत्प्राप्ति का ऐकान्तिक परम-पथ है। जैसा इस अध्याय में कहा है, परम सत्य का निराकार स्वरूप तभी तक उपयोगी हो सकता है, जब तक मनुष्य स्वरूप-साक्षात्कार के पथ में समर्पित नहीं हो जाता। भाव यह है कि जब तक शुद्धभक्त का सत्संग प्राप्त नहीं होता, तब तक ही निराकार धारणा लाभकारी हो सकती है। निराकारवादी निष्काम कर्म करता हुआ आत्मा और प्रकृति में भेद को जानने के लिए ध्यान और ज्ञान में प्रवृत्त रहता है। यह तभी तक आवश्यक है जब तक शुद्धभक्त का सत्संग न मिले। जिस सौभाग्यशाली में सीधे-सीधे शुद्ध भक्तिभावमय कृष्णभावना के परायण हो जाने की उत्कण्ठा जागृत हो गयी हो, उसके लिए स्वरूप-साक्षात्कार का क्रमिक पथ निष्प्रयोजन हो जाता है। भगवद्गीता के मध्य के छः अध्यायों के अनुसार भगवद्भक्ति सर्वश्रेष्ठ सुखमयी है। भक्त को प्राणधारण के लिए आवश्यक पदार्थों की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, वात्सल्यमयी भगवत्कृपा उसके सम्पूर्ण योगक्षेम का स्वयं वहन करती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।
इति भक्तिवेदान्तभाष्ये द्वादशोऽध्यायः।।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

प्रकृतिपुरुषविवेकयोग

(प्रकृति पुरुष तथा चेतना)

अर्जुन उवाच।
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव।।१।।
श्रीभगवानुवाच।
इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।२।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; प्रकृतिम्=प्रकृति; पुरुषम्=भोक्ता; च=भी; एव=निस्सन्देह; क्षेत्रम्=क्षेत्र; क्षेत्रज्ञम्=क्षेत्र का ज्ञाता; एव=निस्सन्देह; च=भी; एतत्=यह सब; वेदितुम्=जानना; इच्छामि=चाहता हूँ; ज्ञानम्=ज्ञान; ज्ञेयम्=जानने योग्य; च=भी; केशव=हे कृष्ण; श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; इदम्=यह; शरीरम्=देह; कौन्तेय=हे अर्जुन; क्षेत्रम्=क्षेत्र; इति=इस प्रकार; अभिधीयते=कहलाता है; एतत्=इसे; यः=जो; वेत्ति=जानता है; तम्=उसे; प्राहुः=कहते हैं; क्षेत्रज्ञः=क्षेत्रज्ञ (देही); इति=ऐसा; तत् विदः=उनके तत्त्व को जानने वाले ज्ञानीजन।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! मैं प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञान के

प्रयोजन का तत्त्व जानना चाहता हूँ। श्रीभगवान् ने कहा, हे कुन्तिनन्दन! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इसे जो जानता है, उसे ज्ञानीजन क्षेत्रज्ञ कहते हैं।।१-२।।

तात्पर्य

अर्जुन प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञान के प्रयोजन को जानना चाहता था। उसकी जिज्ञासा के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा कि इस देह को क्षेत्र कहते हैं और इस देह को जानने वाला क्षेत्रज्ञ कहलाता है। यह देह क्षेत्र कहा जाता है, क्योंकि यह वद्धजीव का कार्यक्षेत्र है। संसार-वद्ध जीव माया पर प्रभुत्व करने का प्रयत्न करता है। अतः उसे ऐसा करने की अपनी योग्यता के उपयुक्त शरीररूपी कार्य-क्षेत्र मिलता है। यह शरीर इन्द्रियों का पुंज है। वद्धजीव को इन्द्रियतृप्ति की कामना है; अतः उसकी इन्द्रियतृप्ति करने की योग्यता के अनुसार उसे उपयुक्त देहरूपी कार्यक्षेत्र प्रदान किया जाता है। इसी कारण देह को वद्धजीव का क्षेत्र कहते हैं। देह को अपना स्वरूप न मानने वाला क्षेत्रज्ञ, अर्थात् देहरूपी क्षेत्र का ज्ञाता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, देह और देही के भेद को समझना कठिन नहीं है। कोई विचार करके देख सकता है कि यद्यपि वचपन से वृद्धावस्था तक उसके शरीर में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं, किन्तु वह स्वयं वही अव्यय आत्मा है। अतएव क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र में निश्चित भेद है। इस प्रकार वद्धजीव जान सकता है कि वह देह से भिन्न है। गीता के प्रारम्भ में कहा गया है, **देहेऽस्मिन्** अर्थात् जीवात्मा देह में है और वह देह कौमार से यौवन और यौवन से जरा को प्राप्त होती है। देह का स्वामी पुरुष (देही) इन देहगत विकारों को जानता है। देही निश्चित रूप से क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीररूपी क्षेत्र का ज्ञाता है। जीव को अनुभव होता है, 'मैं सुखी हूँ, मैं उन्मत्त हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं श्वान हूँ, मैं विल्ली हूँ।' ये सभी क्षेत्रज्ञ क्षेत्र से भिन्न हैं। हम यह भलीभाँति जानते हैं कि अपने उपयोग के वस्त्र आदि सव पदार्थों से हम अलग हैं। इसी प्रकार विचार करने पर यह भी जान सकते हैं कि हम देह से अलग हैं।

भगवद्गीता के प्रथम छः अध्यायों में जीवात्मज्ञान का और परमात्मज्ञान के साधन का विवेचन है। सातवें से वारहवें अध्याय तक श्रीभगवान् का और भक्तियोग के सन्दर्भ में जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर सम्वन्ध का वर्णन है। इन अध्यायों में श्रीभगवान् की महिमा और जीवात्मा की परवशता का विशद और स्पष्ट वर्णन है। जीव सव परिस्थितियों में सव प्रकार से श्रीभगवान् के वश में हैं। वास्तव में इस सत्य को भूल जाने से ही वे संसार में दुःख भोग रहे हैं। जव पुण्यकर्मों के प्रभाव से आलोक का उदय होता है तो वे आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु अथवा ज्ञानी के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण के उन्मुख हो जाते हैं। इसका भी वर्णन हुआ है। अव, तेरहवें से अट्ठारहवें अध्याय तक के अन्तिम षटक में प्रकृति और पुरुष के संयोग के कारण का विवेचन है तथा कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि विविध साधनों के माध्यम से श्रीभगवान् किस प्रकार उसका उद्धार करते हैं—यह सव वर्णन है। जीव देह से विल्कुल भिन्न है; फिर भी जैसे-तैसे देह से उसका सम्वन्ध हो जाता है। यह भी प्रतिपादन है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।३।।

क्षेत्रम्=क्षेत्र को जानने वाला; **च**=भी; **अपि**=निस्सन्देह; **माम्**=मुझ को; **विद्धि**=जान; **सर्व**=सव; **क्षेत्रेषु**=देहों में; **भारत**=हे भरतवंशी अर्जुन; **क्षेत्र**=देह; **क्षेत्रज्ञयोः**=देही को; **ज्ञानम् यत्**=जो तत्त्व से जानना है; **तत्**=वही; **ज्ञानम्**=यथार्थ ज्ञान है; **मतम्**=(ऐसा) मत है; **मम**=मेरा।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन! मैं भी सब देहों (क्षेत्रों) को जानने वाला (क्षेत्रज्ञ) हूँ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जो इस प्रकार जानना है वही ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है।।३।।

तात्पर्य

इस देह (क्षेत्र) और देही (क्षेत्रज्ञ) एवं आत्मा और परमात्मा के तत्त्व-निरूपण में परमात्मा, जीवात्मा और जड़ प्रकृति—इन तीन विषयों का विवेचन किया जायगा। प्रत्येक क्षेत्र में दो आत्मा हैं—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा श्रीकृष्ण का अंशरूप है। इसी कारण श्रीकृष्ण कहते हैं, 'मैं भी क्षेत्रज्ञ (देह का ज्ञाता) हूँ। परन्तु मैं जीवात्मा नहीं हूँ; मैं परम क्षेत्रज्ञ हूँ, इसलिए परमात्मा रूप से सब देहों में हूँ।'

जो भगवद्गीता के अनुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के तत्त्व का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करे, उसे पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

श्रीभगवान् कहते हैं, 'मैं प्रत्येक जीव-देह में क्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ हूँ।' जीवात्मा अपने देह का ज्ञाता तो हो सकता है, पर अन्य देहों का ज्ञान उसे नहीं है। अन्तर्यामी परमात्मा रूप से सब देहों में विद्यमान श्रीभगवान् ही उन सबके सम्बन्ध में जानते हैं। जीवन की सभी योनियों की सारी देहों को वे जानते हैं। एक नागरिक को केवल अपनी ही भूमि की पूर्ण जानकारी हो सकती है; किन्तु राजा तो अपने महल के सम्बन्ध में ही नहीं, बल्कि सारे नागरिकों की निजी सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी जानता है। अतः जीवात्मा किसी एक देह का स्वामी हो सकता है, जबकि परमेश्वर सब देहों के स्वामी हैं। राज्य पर मूल स्वत्व राजा का होता है, नागरिकों का नहीं। ऐसे ही, श्रीभगवान् सब देहों के परम ईश्वर हैं।

देह इन्द्रियों से बनी है। परमेश्वर को हृषीकेश कहा जाता है, जिसका अर्थ हुआ कि वे इन्द्रियों के ईश्वर हैं। वे इन्द्रियों के मूल ईश्वर हैं, उसी प्रकार जैसे राज्य की सम्पूर्ण क्रियाओं का मूल नियामक राजा है और प्रजा उपनियन्ता मात्र है। श्रीभगवान् कहते हैं, 'मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।' इसका अर्थ है कि वे परम-क्षेत्रज्ञ हैं, जबकि जीवात्मा तो केवलमात्र अपने देह को जानता है। वैदिक साहित्य में उल्लेख है:

क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभे।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते।।

यह देह क्षेत्र है, क्षेत्रज्ञ के साथ इसमें परमात्मा भी निवास करते हैं; इसलिए वे

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—दोनों को भलीभाँति जानते हैं। इसी से उन्हें सब क्षेत्रों का ज्ञाता कहा है। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और परम-क्षेत्रज्ञ में भेद को निम्नलिखित प्रकार से हृदयंगम किया जा सकता है। देह, जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप की पूर्ण जानकारी की वैदिक शास्त्रों में 'ज्ञान' संज्ञा है। यह श्रीकृष्ण का भी मत है। जीवात्मा और परमात्मा के भेदाभेद को जान लेना ही ज्ञान है। जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को तत्त्व से नहीं जानता, वह पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकता। इसके लिए प्रकृति, पुरुष तथा प्रकृति और जीवात्मा के नियंता, ईश्वर के तत्त्व को जानना होगा। इन तीनों तत्त्वों में भ्रम नहीं होना चाहिए। स्मरण रहे कि चित्रकार, चित्र और चित्राधार अलग-अलग हुआ करते हैं। यह प्राकृत-जगत् अर्थात् क्षेत्र प्रकृति है, जीव इस प्रकृति को भोगने वाला पुरुष है तथा इन दोनों के नियन्ता परम ईश्वर श्रीभगवान् हैं। वेदों में कहा है, **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।** ब्रह्मतत्त्व की तीन धारणायें हैं। प्रकृति भोग्य-ब्रह्म है, प्रकृति को भोगने वाला जीव भोक्ता-ब्रह्म है और इन दोनों का नियामक भी ब्रह्म है, पर वही वास्तव में ईश्वर है।

इस अध्याय में यह भी स्थापित किया गया है कि दोनों क्षेत्रज्ञों (ज्ञाताओं) में से एक क्षर है और दूसरा अक्षर है। एक स्वामी है तो दूसरा उसके परतन्त्र है। जो यह मानता है कि दोनों क्षेत्रज्ञ एक हैं, वह श्रीभगवान् के इस स्पष्ट कथन का खण्डन करता है कि 'मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।' रज्जु को सर्प मान लेने वाला ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। क्षेत्र (देह) अनेक प्रकार के होते हैं और क्षेत्रज्ञ (देही) भी एक से अधिक हैं। भिन्न-भिन्न जीवों में माया पर प्रभुत्व करने की योग्यता अलग-अलग मात्रा में होती है। अतः विविध योनियों का सृजन हुआ है। किन्तु जीव के साथ श्रीभगवान् भी ईश्वर-रूप से इन सब में हैं। **च** शब्द महत्त्वपूर्ण है। भाव यह है कि ईश्वरक्षेत्रज्ञ सब देहों में है। आचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण का कथन है कि जीवात्मा के अतिरिक्त श्रीकृष्ण स्वयं परमात्मा के रूप में प्रत्येक देह में हैं। श्रीकृष्ण ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा—क्षेत्र और जीव-क्षेत्रज्ञ, दोनों का ईश्वर है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।।४।।

तत्=वह; **क्षेत्रम्**=क्षेत्र; **यत्**=जो है; **च**=और; **यादृक्**=जैसा है; **च**=तथा; **यत्**=जिन; **विकारि**=विकारों वाला है; **यतः**=जिससे; **च**=और; **यत्**=जो हुआ है; **सः**=वह (क्षेत्रज्ञ); **च**=भी; **यः**=जो है; **यत् प्रभावः च**=और जिस प्रभाव वाला है; **तत्**=वह; **समासेन**=संक्षेप से; **मे**=मुझ से; **शृणु**=सुन।

अनुवाद

वह क्षेत्र जो है, जिस स्वरूप वाला है और जिन विकारों वाला है और जिस कारण से हुआ है एवं क्षेत्रज्ञ भी जिस स्वरूप और प्रभाव वाला है, वह सब मुझ से संक्षेप में सुन।।४।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं। यह देह क्या है? किन पदार्थों से बना है? किसके आश्रय में कार्य करता है? किस-किस विकार को प्राप्त होता है? किस कारण से विकार को प्राप्त होता है? इसका हेतु तथा प्रयोजन क्या है? जीवात्मा का परम लक्ष्य क्या है तथा क्षेत्रज्ञ जीव का यथार्थ स्वरूप और प्रभाव कैसा है?—यह सम्पूर्ण तत्त्व जानने योग्य है। जीवात्मा और परमात्मा के भेद को उनके विविध प्रभावों और शक्तियों को जानना भी आवश्यक है। इस भगवद्गीता शास्त्र को साक्षात् श्रीभगवान् के वर्णन के अनुसार समझने से यह सम्पूर्ण तत्त्व हृदय में प्रकाशित हो जायगा। किन्तु ध्यान रहे कि प्रत्येक देह में अन्तर्यामी रूप से विराजमान भगवान् को जीव के समान मानने की भूल न कर बैठे। ऐसा मानना पुरुष और नपुंसक को एक सा बताने के जैसा होगा।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।५।।

ऋषिभिः=तत्त्वज्ञ ऋषियों द्वारा; **बहुधा**=बहुत प्रकार से; **गीतम्**=कहा गया है अर्थात् वर्णन किया गया है; **छन्दोभिः**=वेदमन्त्रों से; **विविधैः**=नाना; **पृथक्**=विभागसहित; **ब्रह्मसूत्र पदैः**=वेदान्तसूत्रों के द्वारा; **च**=भी; **एव**=निस्सन्देह; **हेतुमद्भिः**=कार्य-कारण की युक्ति के साथ; **विनिश्चतैः**=भलीभाँति निश्चय किए हुए।

अनुवाद

वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है और नाना प्रकार के वैदिक मन्त्रों में विभागपूर्वक वर्णित है; विशेषरूप से कार्य-कारण की युक्तिसहित भलीभाँति निश्चित वेदान्तसूत्र के द्वारा कहा गया है।।५।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण इस ज्ञान के परम प्रमाण हैं। तथापि, विद्वानों और प्रामाणिक आचार्यों की परिपाटी के अनुसार वे पूर्ववर्ती आचार्यों का प्रमाण उपस्थित करते हैं। जीव और परमात्मा में भेद है अथवा अभेद—इस परम विवादास्पद विषय का वे प्रामाणिक शास्त्रों, विशेषतः वेदान्त के आधार पर निर्णय कर रहे हैं। उनका पहला वाक्य है कि यह तत्त्व नाना ऋषियों को मान्य है। महर्षियों में प्रधान, व्यासदेव द्वारा प्रणीत 'वेदान्तसूत्र' ग्रन्थ से द्वैत पूर्ण रूप में सिद्ध हो जाता है। व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर ने अपने धर्मग्रन्थ में कहा है, **अहं त्वं च अथान्ये . . .**, 'हम सभी अर्थात् मैं तुम और अन्य सब जीव, प्राकृत देह में स्थित होते हुए भी दिव्य हैं। अपने-अपने कर्मवश हम माया के गुणप्रवाह में पतित हो गए हैं। इसी से कुछ जीव सत्त्वादि उच्च योनियों में हैं तो कुछ को तमोमय अधम योनियाँ मिली हैं। अविद्या के कारण ही ये उच्च-निम्न गुण असंख्य जीवों में प्रकाशित हो रहे हैं। परन्तु अक्षर

परमात्मा मायिक गुणों से मुक्त और प्रकृति से सर्वथा परे है।' इसी भाँति, मूल वेदों में, विशेषतः 'कठोपनिषद्' में जीवात्मा, परमात्मा और देह में भेद है।

श्रीभगवान् की शक्ति का एक अन्नमय प्रकाश है, अर्थात् जीवमात्र प्राण-धारण के लिए अन्न पर निर्भर करता है। इस रूप में परतत्त्व की जड़ (प्राकृत) अनुभूति होती है। अन्न में परतत्त्व का अनुभव करने पर, प्राण-लक्षण में उसका बोध होता है; अतः यह द्वितीय रूप प्राणमय कहा गया है। 'ज्ञानमय' स्वरूप में चेतना-लक्षण चिन्तन, संवेदन और संकल्प तक उन्नत होता है। इसके उपरान्त, 'ब्रह्म' तथा 'विज्ञानमय' स्वरूप का बोध होता है, जिससे जीवात्मा अपने को मन तथा जीवनचिह्नों से अलग अनुभव करता है। अगली और अन्तिम अवस्था का नाम 'आनन्दमय' है। इस प्रकार 'ब्रह्मपुच्छम्' नाम ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति के पाँच स्तर हैं। इनमें से प्रथम तीन—अन्नमय, प्राणमय और ज्ञानमय स्तर जड़ क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। इन सब क्षेत्रों से अतीत परमेश्वर 'आनन्दमय' हैं। ब्रह्म (वेदान्त) सूत्र में भी परम सत्य को **आनन्दमयोऽभ्यासात्** कहा है। श्रीभगवान् स्वभाव से आनन्दमय हैं और अपने इसी दिव्य आनन्द का आस्वादन करने के लिए वे विज्ञानमय, ज्ञानमय, प्राणमय तथा अन्नमय आदि अंशरूप धारण करते हैं। इस देहरूपी क्षेत्र में जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ (भोक्ता) समझा जाता है, किन्तु आनन्दमय परमात्मा उससे भिन्न है। इसका अर्थ है कि जो जीव आनन्दमय की परायणता में आनन्द भोगने का निश्चय करता है, वह कृतार्थ हो जाता है। यह ईश्वर-क्षेत्रज्ञ, जीव-क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र का यथार्थ स्वरूप-चित्रण है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥६॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥७॥

महाभूतानि=पंचमहाभूत; **अहंकारः**=मिथ्या अभिमान; **बुद्धिः**=मनीषा; **अव्यक्तम्**=अव्यक्त (प्रकृति); **एव**=निस्सन्देह; **च**=भी; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **दश**=दस; **एकम्**=एक मन; **च**=तथा; **पञ्च**=पाँच; **च इन्द्रियगोचराः**=इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध); **इच्छा**=कामना; **द्वेषः**=घृणा; **सुखम्**=सुख; **दुःखम्**=दुःख; **संघातः**=पञ्चमहाभूतों का परिणाम देह; **चेतना**=जीवन-लक्षण; **धृतिः**=धैर्य; **एतत्**=यह सब; **क्षेत्रम्**=क्षेत्र; **समासेन**=संक्षेप से; **सविकारम्**=विकारों के सहित; **उदाहृतम्**=कहा गया।

अनुवाद

पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियविषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देह, चेतना तथा धृति—इस प्रकार यह क्षेत्र विकारों सहित संक्षेप से कहा गया।॥६-७॥

तात्पर्य

महर्षियों के सभी प्रामाणिक वाक्य, वैदिक मन्त्र और 'वेदान्तसूत्र' के पद इसके प्रमाण हैं कि यह संसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतों से बना है। इनके अतिरिक्त अहंकार, बुद्धि, त्रिगुणमयी अव्यक्त प्रकृति, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना और त्वचा) तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा) हैं। मन सब इन्द्रियों का स्वामी है। इसे आन्तरिक इन्द्रिय कहा जा सकता है। इस प्रकार मन सहित कुल ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। पाँच इन्द्रियविषय हैं—रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श। इन चौबीस तत्त्वों का संघात ही क्षेत्र कहलाता है। अतः इन सब तत्त्वों का तत्त्वात्मक अध्ययन करने से क्षेत्र का स्वरूप भलीभाँति जाना जा सकता है। क्षेत्र में होने वाले इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि विकार पंचमहाभूतों के प्रतीक हैं, जिनसे स्थूल देह की रचना हुई है। चेतना और धृति द्वारा प्रकट जीवन-लक्षण सूक्ष्म देह अर्थात् मन, अहंकार और बुद्धि के चिह्न हैं। क्षेत्र के स्वरूप में ये सब सूक्ष्म तत्त्व आ जाते हैं।

वास्तव में पंचमहाभूत सूक्ष्म मिथ्या अहंकार की ही स्थूल अभिव्यक्ति हैं। वे प्राकृत धारणा के रूप हैं। बुद्धि चेतना की प्रतीक है और त्रिगुणमयी प्रकृति अव्यक्त अवस्था है। यह अव्यक्त त्रिगुणमयी प्रकृति ही 'प्रधान' कही जाती है।

जो विकारों के सहित चौबीस तत्त्वों को विशद रूप से जानना चाहता हो, वह इस दर्शन का अधिक विस्तार से अध्ययन करे। भगवद्गीता में तो यह संक्षिप्त-सार रूप में ही कहा गया है।

इन सब तत्त्वों से बना देह छः विकारों वाला है—उत्पत्ति, विकास, स्थिति, प्रजनन, क्षय और अन्त में नाश। अतएव यह क्षेत्र क्षणभंगुर प्राकृत वस्तु है। परन्तु इसका स्वामी और ज्ञाता, क्षेत्रज्ञ भिन्न है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।८।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।९।।
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।१०।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।११।।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।१२।।

अमानित्वम्=विनम्रता; **अदम्भित्वम्**=दम्भाचरण का अभाव; **अहिंसा**=प्राणीमात्र को किसी भी प्रकार पीड़ित न करना; **क्षान्तिः**=सहनशीलता (क्षमा-

भाव); **आर्जवम्**=मन-वाणी की सरलता; **आचार्य उपासनम्**=ज्ञान-प्राप्ति के लिए योग्य गुरू का श्रद्धा-भक्ति सहित निश्छल भाव से सेवन करना; **शौचम्**=बाहर-भीतर की पवित्रता; **स्थैर्यम्**=भगवत्प्राप्ति के मार्ग में दृढ़ निष्ठा; **आत्म-विनिग्रहः**=आत्मसंयम; **इन्द्रिय अर्थेषु**=शब्द आदि इन्द्रियविषयों में; **वैराग्यम्**=रुचि (आसक्ति) का अभाव; **अनहंकारः एव**=मिथ्या अभिमान का भी अभाव; **च**=तथा; **जन्म**=जन्म; **मृत्यु**=मृत्यु; **जरा**=वृद्धावस्था; **व्याधि**=रोग आदि में; **दुःख**=दुःख; **दोष**=दोषों का; **अनुदर्शनम्**=बारम्बार चिन्तन करना; **असक्तिः**=आसक्ति का अभाव; **अनभिष्वंगः**=ममता का न होना; **पुत्र**=पुत्र; **दार**=स्त्री; **गृहादिषु**=घर आदि में; **नित्यम्**=सदा; **च**=तथा; **समचित्तत्वम्**=मन की समता (हर्ष-विषाद आदि विकारों का न होना); **इष्ट**=अनुकूल; **अनिष्ट**=प्रतिकूल की; **उपपत्तिषु**=प्राप्ति में; **मयि**=मुझ में; **च**=तथा; **अनन्ययोगेन**=शुद्धभाव से; **भक्तिः**=भक्ति; **अव्यभिचारिणी**=अहैतुकी, अप्रतिहता; **विविक्त**=निर्जन; **देश**=स्थान का; **सेवित्वम्**=सेवन; **अरतिः**=अनासक्ति; **जनसंसदि**=जनसमाज में; **अध्यात्मज्ञान**=आत्मज्ञान में; **नित्यत्वम्**=नित्य स्थिति; **तत्त्वज्ञान**=परम सत्य का ज्ञान; **अर्थ**=प्रयोजन; **दर्शनम्**=दर्शन; **एतत्**=यह सब; **ज्ञानम्**=ज्ञान है; **इति**=ऐसे; **प्रोक्तम्**=कहा है; **अज्ञानम्**=अज्ञान है; **यत्**=वह जो; **अतः**=इसके; **अन्यथा**=विपरीत है।

अनुवाद

विनम्रता, दम्भाचरण का अभाव, प्राणीमात्र को किसी भी प्रकार से पीड़ित न करना, क्षमाभाव, मन-वाणी की सरलता, सद्गुरु के शरणागत होकर उनकी सेवा करना, भीतर-बाहर की शुद्धि, स्थिरता तथा आत्मसंयम; इन्द्रिय-भोगों में आसक्ति का अभाव, अहंकार का भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि में दुःख-दोषों को बारंबार चिन्तन करना; पुत्र, स्त्री तथा घर आदि में आसक्ति और ममता का न होना; अनुकूल और प्रतिकूल की प्राप्ति में चित्त की समता; निरन्तर मेरे शुद्ध और अनन्य भक्तियोग का आचरण, एकान्तवास, विषयी जनसमुदाय में प्रीति का अभाव, स्वरूप-साक्षात्कार में नित्य दृढ़ निष्ठा तथा परमसत्य का दार्शनिक अन्वेषण—इस सब को मैं ज्ञान घोषित करता हूँ। इससे विपरीत जो कुछ भी है, वह सब अज्ञान है।।८-१२।।

तात्पर्य

कभी-कभी अल्पज्ञ मनुष्य भ्रम से इस ज्ञानपथ को क्षेत्र का विकार समझ बैठते हैं। वास्तव में तो केवल यही ज्ञान का सच्चा पथ है। यदि इस मार्ग को अंगीकार कर लिया जाय, तो परम सत्य की प्राप्ति हो सकती है। यह पूर्ववर्णित दस तत्त्वों का विकार नहीं है; अपितु उनसे मुक्त होने का साधन है। ज्ञान-पद्धति के सम्पूर्ण विवरण में सबसे महत्त्वपूर्ण साधन का उल्लेख दसवें श्लोक में है—अनन्य भक्तियोग, जो सम्पूर्ण ज्ञान का पर्यवसान है। इसलिए यदि कोई दिव्य भगवत्सेवा नहीं करता, अथवा उस स्तर तक नहीं पहुँच पाता, तो शेष उन्नीस साधनों से उसे कोई

विशेष लाभ नहीं हो सकता। दूसरी ओर, यदि वह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर भगवत्सेवा के परायण हो जाय तो ये सभी गुण उसमें स्वतः उदित हो जायेंगे। सातवें श्लोक के अनुसार सद्‌गुरु का आश्रय लेना आवश्यक है। जिस मनुष्य ने भक्तिपथ स्वीकार किया है, उसके लिए भी यह अनिवार्य है। पारमार्थिक जीवन का प्रारम्भ सद्‌गुरु की शरणागति से ही होता है। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि यह ज्ञान का पथ कल्याण का सच्चा मार्ग है। इसके विपरीत जो कुछ भी मनोधर्मी की जायगी, वह अनर्थकारी सिद्ध होगी।

ज्ञान के जिन साधनों यहाँ दिग्दर्शन है, उनका भाव इस प्रकार है। **अमानित्वम्** (विनम्रता) का अर्थ है कि दूसरे अपना सत्कार करें—ऐसी अपेक्षा न रखे। देहात्मबुद्धि के कारण हम दूसरों से सम्मान प्राप्ति के लिए बड़े आतुर रहते हैं; किन्तु देह से भिन्न अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से जानने वाले की दृष्टि में देह से सम्बन्धित मान-अपमान निरर्थक हैं। इस विषय-मरीचिका के लिए लालायित रहना योग्य नहीं। धर्मात्मा के रूप में आत्म-ख्याति की इच्छा भी साधारण लोगों में प्रबल रहती है। परिणामतः प्रायः देखा जाता है कि धर्म के तत्त्व को जाने बिना ही वे किसी ऐसे दल में, जो यथार्थ में धर्माचरण नहीं करता, सम्मिलित होकर धर्म-गुरु के रूप में अपना विज्ञापन किया करते हैं। अध्यात्मविद्या की उन्नति को नापने के लिए कोई न कोई उपयुक्त कसौटी होनी चाहिए। उपरोक्त गुणों का अन्तःकरण में कितना विकास हुआ है, इस आत्म-परीक्षा से पारमार्थिक उन्नति को जाँचा जा सकता है।

सामान्यतः **अहिंसा** का तात्पर्य देह का वध अथवा नाश न करने के सीमित अर्थ में समझा जाता है। परन्तु वास्तव में अहिंसा का अर्थ किसी भी जीव को किसी भी प्रकार से पीड़ित न करना है। देहात्मबुद्धि के अज्ञान में बँधा मानवसमाज नित्य-निरन्तर सांसारिक दुःखों को भोगता रहता है। अतः जो ज्ञान-प्रचार के द्वारा लोगों का उद्धार नहीं करता, वह हिंसक है। जनता में सच्चे ज्ञान के प्रचार में प्राण-पण से प्रयास करना चाहिए, जिससे वह इस भव-बन्धन से मुक्त हो सके। यही सच्ची अहिंसा है।

क्षान्तिः का तात्पर्य है कि दूसरों के तिरस्कार और अपमान को सहने का अभ्यास करे। जो अध्यात्म-ज्ञान का सेवन करता है, उसे दूसरों से प्रायः अपमानित होना पडता है। यह स्वाभाविक है; प्रकृति का स्वरूप ऐसा ही है। स्वरूप-साक्षात्कार के परायण प्रह्लाद जैसे पाँच वर्ष के बालक को भी अपने पिता के कारण महान् विपत्तियों का सामना करना पड़ा, क्योंकि वह उसके भक्तिभाव का विरोधी था। पिता ने नाना प्रकार से उसे मारने का प्रयत्न किया; परन्तु प्रह्लाद ने वह सब सहन कर लिया। इससे शिक्षा मिलती है कि ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में अनेक व्यवधान भी क्यों न आयें, पर हमें सहिष्णुता और धैर्यपूर्वक भक्ति में निष्ठ रहते हुए पारमार्थिक उन्नति करते रहना चाहिये।

मन-वाणी की सरलता **आर्जवम्** है। भाव यह है कि व्यवहार कुटिलता से रहित इतना सरल होना चाहिए कि शत्रु पर भी सत्य प्रकट किया जा सके।

आचार्योपासनम्, अर्थात् सद्गुरु का पादाश्रय ग्रहण करने की विशेष महिमा है, क्योंकि सद्गुरु के उपदेश बिना अध्यात्म में उन्नति नहीं हो सकती। पूर्ण दैन्यभाव से गुरु की शरण में जाकर सब प्रकार से उनकी सेवा करनी चाहिए। ऐसे शिष्य को श्रीगुरुदेव अपनी कृपा-सुधा-कादम्बिनी से आप्यायित कर देते हैं। गुरु श्रीकृष्ण के बाह्य-प्रकाश हैं। अतः यदि वे शिष्य पर कृपा करें तो विधिपालन के बिना ही वह तुरन्त उन्नति कर सकता है। जिसने सब प्रकार से गुरु की निष्कपट सेवा की है, उसके लिए विधि-विधान का पालन सुगमतर हो जाता है।

पारमार्थिक साधना के लिए **शौच**, अर्थात् बाहर-भीतर की शुद्धि आवश्यक है। बाह्य शुद्धि स्नानादि से हो जाती है, परन्तु भीतर की शुद्धि के लिए नित्य श्रीकृष्ण का चिन्तन और **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का कीर्तन करना आवश्यक है। इस साधन के द्वारा पूर्वकर्म रूपी मल से चित्त का मार्जन हो जाता है।

भगवत्प्राप्ति के दृढ़ निश्चय का नाम **स्थैर्यम्** अथवा 'स्थिरभाव' है। इस निष्ठा के बिना यथार्थ प्रगति नहीं हो सकती। **आत्मविनिग्रहः** (संयम) का भाव यह है कि ऐसा कोई पदार्थ ग्रहण न करे, जो भगवत्प्राप्ति के पथ में उन्नति के प्रतिकूल हो। इसका अभ्यस्त होकर उन सभी प्राणी-पदार्थों को त्याग देना चाहिए, जो पारमार्थिक उन्नति के अनुकूल न हों। यही सच्ची त्याग-वृत्ति है। प्रबल इन्द्रियाँ सदा विषयभोग के लिए लालायित रहती हैं। इनकी अनावश्यक माँगों को पूर्ण करना उचित नहीं। इन्द्रियों की उतनी ही तृप्ति करनी चाहिए, जितना भगवत्प्राप्ति के पथ में उन्नति के लिए देह को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक हो। सब इन्द्रियों में रसना सबसे दुर्दमनीय है। यदि इस एक इन्द्रिय का निग्रह हो जाय तो अन्य सब इन्द्रियों का संयम सुगमता से हो सकता है। रसना के दो कार्य हैं—रसग्रहण और बोलना। अतएव इसे नियमित रूप से निरन्तर कृष्णप्रसान-ग्रहण और हरेकृष्ण कीर्तन में तत्पर रखना चाहिये। नेत्रों के द्वारा श्रीकृष्ण के मधुर विग्रह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखने योग्य नहीं है। इससे नेत्रों का भी संयम हो जायगा। इसी भाँति, कर्णों को कृष्णकथा के श्रवण में और घ्राणेन्द्रिय को श्रीकृष्ण को अर्पित पुष्पों के आघ्राण में नियोजित रखे। यह भक्तियोग का पंथ है और भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से इसी भक्ति-विज्ञान का विशद प्रतिपादन है। अस्तु, भक्तियोग ही भगवद्गीता का एकमात्र प्रयोजन है। गीता के मूढ़ व्याख्याकार पाठक का चित्त अन्य विषयों में भ्रमित करने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु वास्तव में तो भगवद्गीता में भक्तियोग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

इस देह को अपना स्वरूप मानना **अहंकार** अथवा 'मिथ्या अभिमान' कहलाता है। देह से भिन्न अपने आत्मस्वरूप को जान लेना सच्चा अहंभाव है। अहंभाव सदा रहता है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। इसलिए मिथ्या अहंकार की ही निन्दा की गयी है, सच्चे अहंभाव की नहीं। वेदों में कहा है, **अहं ब्रह्मास्मि**, अर्थात् 'मैं ब्रह्मतत्त्व आत्मा हूँ।' यह 'अहंभाव' स्वरूप-साक्षात्कार की मुक्तावस्था में भी रहता है, क्योंकि यह सत्य है। किन्तु जब अनित्य देह में अहंभाव हो जाता है, तो उसे मिथ्या-अहंकार कहते हैं। सत्य में आत्म-भाव (अहंभाव) का होना ही सच्चा अहंकार

है। कुछ दार्शनिकों के मत में अहंता का पूर्ण त्याग करना होगा। परन्तु ऐसा करना सम्भव नहीं, क्योंकि अहंता का अर्थ है 'स्वरूप'। देह के आत्मभाव को तो त्यागना ही है।

जन्म, मृत्यु जरा और व्याधि की दुःखरूपता का बारम्बार चिन्तन करना चाहिये। वैदिक शास्त्रों में जन्म के दुःखों का वर्णन है। श्रीमद्भागवत में जन्म से पूर्व के संसार का, मातृगर्भ में बालक के निवास का और वहाँ मिलने वाले दुःखों का बड़ा सजीव चित्रण है। यह गम्भीरतापूर्वक समझ लेना आवश्यक है कि इस संसार में जन्म होना परम दुःखमय है। मातृगर्भ के भीषण दुःख को भूल जाने के कारण ही हम बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति के लिए कोई साधन नहीं करते। जन्म की भाँति, मृत्युकाल में भी बहुत सी यन्त्रणायें भोगनी पड़ती हैं, जिनका प्रामाणिक शास्त्रों में उल्लेख है। इन पर अवश्य विचार करना चाहिए। रोग और वृद्धावस्था का व्यावहारिक अनुभव सभी को है। रोग अथवा जरा से कोई पीड़ित नहीं होना चाहता, फिर भी इनका निवारण नहीं किया जा सकता। जब तक मनुष्य जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के दुःखों को विचार कर विषयपरायण जीवन से निराश नहीं हो जाता, तब तक पारमार्थिक उन्नति का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता।

पुत्र, स्त्री और घर आदि में अनासक्ति—**अनभिष्वंगः** का यह अर्थ नहीं कि इनके प्रति निष्ठुर हो जाय। ये सभी स्वाभाविक स्नेह के पात्र हैं; किन्तु परमार्थ के प्रतिकूल होने पर इनमें आसक्ति को बिल्कुल त्याग देना चाहिए। कृष्णभावना घर को सुखमय बनाने की सर्वोत्तम विधि है। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित गृहस्थ इस सुखसाध्य साधन के द्वारा अपने घर-परिवार में परम सुख का विस्तार कर सकता है। इसके लिए चार साधनों की अपेक्षा है: **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का कीर्तन, कृष्णप्रसाद-सेवन, श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता की वार्ता करना और मूर्तिपूजा। इन चार साधनों को करने वाला पूर्ण सुखी हो जाता है। बन्धु-बांधवों को भी इस भक्तियोग में शिक्षित करना चाहिए। सम्पूर्ण परिवार प्रातः और सायंकाल समवेत स्वर से **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का कीर्तन करे। यदि अपने पारिवारिक जीवन को इस प्रकार ढाला जा सके, जिससे इन चार साधनों के द्वारा कृष्णभावना की निरन्तर वृद्धि होती रहे, तो गृहस्थ आश्रम से संन्यास लेना आवश्यक नहीं। परन्तु यदि पारिवारिक जीवन परमार्थ के अनुकूल न हो, तो उसको त्याग देना चाहिए। श्रीकृष्ण की प्राप्ति अथवा सेवा के लिए अर्जुन के समान सर्वस्व त्याग कर देना चाहिए। प्रारम्भ में अर्जुन अपने सम्बन्धियों से युद्ध नहीं करना चाहता था; पर जब उसे बोध हुआ कि ये सम्बन्धी उसकी कृष्णप्राप्ति में बाधक हैं, तो श्रीकृष्ण के उपदेश के अनुसार युद्ध में अपने सब सम्बन्धियों का वध करने में उसने तनिक भी संकोच नहीं किया। सभी अवस्थाओं में पारिवारिक जीवन के दुःख-सुख से बिल्कुल अनासक्त रहना चाहिए, क्योंकि इस संसार में कोई भी पूर्ण रूप से सुखी अथवा

दुःखी कभी नहीं होता। सुख-दुःख तो भवरोग के साथ लगे ही रहते हैं: अतः भगवद्गीता का उपदेश है कि इन्हें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। सुख-दुःख के आने-जाने पर किसी का वश नहीं है। अतएव विषयों से विरत हो जाय; इससे इन द्वन्द्वों की प्राप्ति में अपने-आप समता बनी रहेगी। सामान्यतः अनुकूल वस्तु की प्राप्ति होने पर हम सुखी होते हैं, और प्रतिकूल पदार्थ की प्राप्ति से दुःख अनुभव करते हैं। परन्तु आत्मस्वरूप में परिनिष्ठित हो जाने पर इन वस्तुओं का हम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उस अवस्था की प्राप्ति के लिए अनन्य और अखण्ड भक्तियोग का आचरण करना है। नौवें अध्याय के अन्तिम श्लोक के अनुसार श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन आदि नौ साधनों में संलग्न रहना अनन्य कृष्णभक्ति का स्वरूप है। इसी पथ का अनुसरण करना चाहिए। यह स्वाभाविक है कि भगवत्परायण पुरुष को विषयी मनुष्यों का संग अच्छा नहीं लगता, क्योंकि यह उसकी प्रकृति के विरुद्ध है। अपनी परीक्षा के लिए साधक को देखते रहना चाहिए कि अनर्थकारी कुसंग से रहित एकान्त में वह कहाँ तक रहना चाहता है। भक्त स्वभावतः अनावश्यक खेलों, चलचित्रों और सामाजिक उत्सवों में प्रीति नहीं रखता; वह पर्याप्त रूप से जानता है कि उनमें समय का अपव्यय ही होता है। ऐसे बहुत से शोधवेत्ता और दार्शनिक हैं, जो मैथुन आदि पर शोध किया करते हैं। भगवद्गीता के मत में इस शोधकार्य अथवा दार्शनिकता का कोई मूल्य नहीं; यह सब वस्तुतः अनर्थमय है। भगवद्गीता के अनुसार, दार्शनिक विवेक के द्वारा आत्मा के स्वरूप की ही गवेषणा करनी चाहिए। अध्यात्म के प्रयोजन का अन्वेषण करे, ऐसा यहाँ उपदेश है।

जहाँ तक स्वरूप-साक्षात्कार का सम्बन्ध है, भक्तियोग को स्पष्ट रूप से अधिक व्यावहारिक घोषित किया गया है। भक्ति का तात्पर्य परमात्मा और जीवात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध से है। कम से कम भक्तियोग में तो परमात्मा और जीवात्मा एक नहीं हो सकते। अतएव पूर्वकथन के अनुसार जीवात्मा द्वारा परमात्मा की यह सेवा नित्य है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि भक्तियोग शाश्वत् है। इस दार्शनिक निष्ठा में स्थिति का ही नाम **ज्ञान** है। इससे विपरीत जो कुछ भी है, वह सब अनर्थमय अज्ञान है।

श्रीमद्भागवत (१.२.११) के अनुसार, **वदन्ति तत्तत्त्वविद्स्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।** 'परमसत्य के तत्त्वज्ञ जानते हैं कि उसकी अनुभूति. ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन स्वरूपों में होती है।' भगवान् परमसत्य की अनुभूति के शिखर हैं; अतएव श्रीभगवान् के तत्त्व को समझ कर उनकी भक्ति के परायण हो जाना चाहिए। ज्ञान की पूर्णता इसी में है।

यह पद्धति उस सीढ़ी के समान है, जिसका पहला सोपान विनम्रता है और अन्तिम सोपान भगवत्प्राप्ति है। कितने ही मनुष्य इस निःश्रेणी के प्रथम सोपान पर हैं, कुछ दूसरे पर हैं और कुछ तीसरे सोपान तक पहुँच गए हैं, इत्यादि। परन्तु जब तक साधक कृष्णतत्त्व रूपी अन्तिम सोपान पर नहीं पहुँचता, तब तक उसका ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। जो भगवान् से स्पर्धा रखते हुए भी ज्ञान-प्राप्ति करना चाहता है,

उसके हाथ निराशा ही लगेगी। स्पष्ट उल्लेख है कि विनम्रभाव से शून्य बोध घातक है। अपने को ईश्वर मानना परम अभिमान का सूचक है। जीव नित्य-निरन्तर प्रकृति के दुस्तर नियमों का पाद-प्रहार खा रहा है, फिर भी अज्ञानवश मान बैठता है कि 'मैं ईश्वर हूँ।' अपने को श्रीभगवान् के आधीन जान कर सदा विनम्र रहना चाहिए। श्रीभगवान् से द्रोह करने के कारणवश ही जीव माया के अधीन हुआ है—इस सत्य को दृढ़ विश्वास सहित अवश्य धारण कर लेना चाहिए।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१३।।

ज्ञेयम्=जानने योग्य; **यत्**=जो; **तत्**=वह; **प्रवक्ष्यामि**=(मैं) अब कहूँगा; **यत्**=जिसे; **ज्ञात्वा**=जान कर; **अमृतम्**=अमृत का; **अश्नुते**=आस्वादन करता है; **अनादि**=आदिरहित; **मत्परम्**=मेरे आधीन; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **न**=न; **सत्**=कारण; **तत्**=वह; **न**=न; **असत्**=कार्य; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

अब मैं उस जानने योग्य तत्त्व का वर्णन करूँगा, जिसे जान कर तू अमृत को प्राप्त हो जायगा। यह अनादि ब्रह्मतत्त्व मेरे आधीन है और इस जगत् के कार्यकारण से परे है।।१३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन पूर्ववर्ती श्लोकों में कर चुके हैं। उन्होंने क्षेत्रज्ञ को जानने की पद्धति का भी निर्देश किया। अब वे ज्ञेय, अर्थात् जानने योग्य परमात्मा और आत्मा—दोनों का वर्णन करते हैं। जीव-क्षेत्रज्ञ और परमात्मा-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान द्वारा जीवन के सार-स्वरूप अमृत का आस्वादन किया जा सकता है। द्वितीय अध्याय में जीवात्मा को सनातन कहा है। यहाँ भी इसकी पुष्टि है। जीव का जन्म किसी दिवस-विशेष में नहीं हुआ और न परमेश्वर से जीव की अभिव्यक्ति का कोई इतिहास ही मिलता है। इस सबसे सिद्ध होता है जीव अनादि है। वेद-प्रमाण है: **न जायते म्रियते वा विपश्चित्।** देहरूपी क्षेत्र का ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) कभी जन्मता-मरता नहीं; वह शाश्वत् ज्ञानस्वरूप है। वेदों में श्रीभगवान् का भी वर्णन है, **प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः।** श्रीभगवान् परमात्मारूप से देह के प्रधान क्षेत्रज्ञ (ज्ञाता) हैं और त्रिगुणमयी प्रकृति के स्वामी हैं। 'स्मृति' में कहा है, **दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन।** जीव श्रीभगवान् के नित्यदास हैं। अपने शिक्षामृत में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भी यह प्रमाणित किया है। अस्तु, इस श्लोक में वर्णित ब्रह्मतत्त्व से जीवात्मा का ही निर्देश है। जीव को **विज्ञानम् ब्रह्म** कहा जाता है, जबकि परब्रह्म श्रीभगवान् **अनन्तब्रह्म** हैं।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१४।।

सर्वतः=सब ओर; **पाणिपादम्**=हाथ-पैर वाला; **तत्**=वह; **सर्वतः**=सब ओर; **अक्षि**=नेत्र; **शिरः**=सिर; **मुखम्**=मुख वाला है; **सर्वतः**=सब ओर से; **श्रुतिमत्**=कान वाला है; **लोके**=संसार में; **सर्वम्**=सब को; **आवृत्य**=व्याप्त करके; **तिष्ठति**=स्थित है।

अनुवाद

उस परमात्मा के हाथ, पैर, नेत्र, मुख और कान सब ओर हैं। इस प्रकार वह सबको व्याप्त करके स्थित है।।१४।।

तात्पर्य

परमात्मा श्रीभगवान् उस सूर्य के जैसे हैं, जो अमित किरण-राशि को विकीर्ण करता है। वे सर्वव्यापक हैं; ब्रह्मा से लेकर नन्हीं चींटी तक सब प्राणी उन्हीं में हैं। परमात्मा के असंख्य सिर, हाथ, पैर, और नेत्र हैं तथा जीव भी असंख्य हैं। ये जीव परमात्मा में, उन्हीं के आश्रय में स्थित हैं। अतएव परमात्मा सर्वव्यापी सिद्ध होते हैं। कोई जीवात्मा यह नहीं कह सकता कि उनके हाथ, पैर, नेत्र आदि सब ओर हैं। यह नहीं हो सकता। यदि वह यह समझता है कि अज्ञानवश ही उसे यह बोध नहीं है कि उसके हाथ-पैर आदि सर्वव्यापी हैं, तथा पूर्ण ज्ञान से युक्त होने पर वह यह जान जायगा, तो उसके ये विचार परस्पर असंगत हैं। तात्पर्य यह है कि प्रकृति-बद्ध जीवात्मा परात्पर नहीं है। परात्पर विष्णुतत्त्व जीवतत्त्व से सदा भिन्न है। परमेश्वर अपने हाथ का सीमारहित विस्तार कर सकते हैं; जीवात्मा नहीं। भगवद्गीता में श्रीभगवान् का वचन है कि यदि कोई भक्तिभाव से पुष्प, फल, अथवा जल ही चढ़ाता है तो वे उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं। यदि वे कहीं दूर बैठे होते तो ऐसे कैसे सम्भव था ? वस्तुतः यही श्रीभगवान् की सर्वशक्तिसम्पन्नता है। पृथ्वी से सुदूर अपने परमधाम में होते हुए भी वे अपना हाथ बढ़ाकर समर्पित वस्तु को अंगीकार कर लेते हैं। यह उनकी अप्रतिम शक्ति का ज्वलंत प्रभाव है। 'ब्रह्मसंहिता' में कहा गया है: **गोलोक एव निवसतिः** अपने परमधाम में नित्य लीलामग्न होने के साथ वे सर्वव्यापी भी हैं। अतएव इस श्लोक में परमात्मा भगवान् का वर्णन है, जीव का नहीं।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१५।।

सर्व=सब; **इन्द्रिय**=इन्द्रिय; **गुण**=गुणों का; **आभासम्**=मूल स्रोत, **सर्व इन्द्रिय**=सब इन्द्रियों से; **विवर्जितम्**=रहित है; **असक्तम्**=अनासक्त; **सर्वभृत्**=सब का धारण-पालन करने वाला; **च**=भी; **एव**=निस्सन्देह; **निर्गुणम्**=प्राकृत गुणों से परे; **गुणभोक्तृ च**=गुणों का स्वामी भी है।

अनुवाद

परमात्मा सब इन्द्रियों का मूल स्रोत होते हुए भी प्राकृत इन्द्रियों से रहित है; सम्पूर्ण प्राणियों का धारण-पोषण करता है, परन्तु आसक्तिरहित है; माया के गुणों से

परे है और साथ ही उनका स्वामी भी है।।१५।।

तात्पर्य

जीवों की सम्पूर्ण इन्द्रियों के मूल होने पर भी परमेश्वर उनके समान प्राकृत इन्द्रियों से युक्त नहीं हैं। वास्तव में तो जीव की इन्द्रियाँ भी अप्राकृत हैं। किन्तु बद्धावस्था में वे प्राकृत तत्त्वों से ढक गई हैं और इसी कारण इन्द्रिय-क्रियाओं की अभिव्यक्ति जड़ प्रकृति के द्वारा होती है। श्रीभगवान् की इन्द्रियाँ इस प्रकार कभी आवृत नहीं होतीं। उनकी इन्द्रियाँ सर्वथा अप्राकृत हैं; इसीलिए वे 'निर्गुण' कहलाते हैं। 'गुण' का अर्थ माया के त्रिविधगुणों से है। श्रीभगवान् की इन्द्रियाँ मायिक आवरण से मुक्त हैं, अतएव वे निर्गुण हैं। यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि उनकी इन्द्रियाँ हमारी इन्द्रियों के समान नहीं हैं। हमारी सम्पूर्ण इन्द्रिय-क्रियाओं के होते हुए भी वे स्वयं दिव्य शुद्ध इन्द्रियों से युक्त हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के **सर्वतः पाणिपादम्** श्लोक में इस तथ्य का अतिशय सुन्दर प्रतिपादन है। श्रीभगवान् के हाथ ऐसे नहीं हैं, जो माया-दूषित हों। वरन्, उनके अपने विशिष्ट दिव्य हाथ हैं, जिनसे वे सब समर्पण स्वीकार कर लेते हैं। बद्धजीव और परमात्मा में यही भेद है। श्रीभगवान् की प्राकृत आँखें नहीं हैं, पर साथ ही दिव्य नेत्र हैं; अन्यथा वे देखते कैसे? उनकी इन्द्रियाँ साधारण नहीं हैं—वे सबके साक्षी, त्रिकालज्ञ और सर्वज्ञ हैं। जीव के हृदय में बैठे हुए वे हमारे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के भी सभी कर्मों को जानते हैं। श्रीभगवद्गीता में अन्यत्र भी कथन है: 'वे सब कुछ जानते हैं, पर उनके तत्त्व को कोई नहीं जानता।'' कहा जाता है कि श्रीपरमेश्वर के हमारे जैसे चरण नहीं हैं। अप्राकृत चरणों से युक्त होने के कारण वे सम्पूर्ण अन्तरिक्ष का भ्रमण कर सकते हैं। भाव यह है कि परमेश्वर निर्विशेष-निराकार नहीं हैं। उनके अपने विलक्षण नेत्र, चरण, हाथ आदि हैं। हम श्रीभगवान् के भिन्न-अंश हैं, इसलिए हम भी इन अंगों से युक्त हैं। परन्तु श्रीभगवान् में यह विशेषता है कि उनकी इन्द्रियों को प्रकृति (माया) कभी स्पर्श नहीं कर सकती।

श्रीभगवद्गीता में प्रमाण है कि श्रीभगवान् सदा अपनी योगमाया के द्वारा ही अवतरित होते हैं। वे त्रिगुणमयी माया के स्वामी हैं, अतः उससे दूषित नहीं होते। वैदिक शास्त्रों के अनुसार उनका स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। वे सच्चिदानन्दविग्रह हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त हैं तथा सम्पूर्ण श्री और शक्ति के अधीश्वर, परम बुद्धिमान् और ज्ञानमय हैं। ये श्रीभगवान् के कुछ लक्षण हैं। वे ही सम्पूर्ण जीवों के पालनकर्ता और कर्मों के साक्षी हैं। जहाँ तक वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है, श्रीभगवान् नित्य मायातीत दिव्य पुरुष हैं। यद्यपि हमें उनके मुख, नेत्र, हाथ, पैर, आदि का दर्शन नहीं होता, परन्तु यह सत्य है कि वे इन अंगों से युक्त हैं। शुद्धसत्त्व में आरूढ़ हो जाने पर ही भगवत्स्वरूप का दर्शन हो सकता है। वर्तमान में हमारी इन्द्रियाँ माया से दूषित हैं; इसलिए उनके रूप का दर्शन नहीं हो रहा है। यही कारण है कि मायाबद्ध निर्विशेषवादी श्रीभगवान् के तत्त्व को हृदयंगम नहीं कर पाते।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१६।।

बहिः=बाहर; **अन्तः**=भीतर; **च**=भी; **भूतानाम्**=जीवों के; **अचरम् चरम्**=स्थावर और जंगम; **एव**=भी; **च**=तथा; **सूक्ष्मत्वात्**=सूक्ष्म होने से; **तत्**=वह; **अविज्ञेयम्**=जानने में नहीं आता; **दूरस्थम्**=दूर; **च**=तथा; **अन्तिके च**=अति समीप में भी; **तत्**=वही है।

अनुवाद

परमसत्य चराचर में, बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है; सूक्ष्म होने के कारण वह प्राकृत इन्द्रियों के जानने-देखने में नहीं आता; परन्तु दूर होने के साथ ही वह सबकें समीप भी है।।१६।।

तात्पर्य

वैदिक शास्त्रों से हमें विदित है कि परमपुरुष नारायण जीवमात्र के बाहर-भीतर विद्यमान हैं; वैकुण्ठ-जगत् में ही नहीं, इस प्राकृत-जगत् में भी हैं। सुदूर होते हुए भी वे हमारे समीप हैं। ये सभी वैदिक वाक्य हैं। **आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।** वे निरन्तर अलौकिक आनन्द में निमग्न रहते हैं; अतएव अपने पूर्ण ऐश्वर्यों का वे किस प्रकार से उपभोग करते हैं, हम यह नहीं समझ सकते। इन्हें प्राकृत इन्द्रियों से देखा अथवा समझा नहीं जा सकता। वेदों में तो यहाँ तक कहा है कि हमारा चित्त और हमारी इन्द्रियाँ उन्हें समझने में प्रवृत्त ही नहीं हो सकतीं। किन्तु जिसने भक्तियोग से युक्त होकर कृष्णभावना के अभ्यास द्वारा अपने चित्त और इन्द्रियों का परिशोधन कर लिया है, उसे उनका नित्य-दर्शन सुलभ हो जाता है। 'ब्रह्मसंहिता' का प्रमाण है कि जिस भक्त में भगवत्प्रेम का उदय हो जाता है, वह उनका दर्शन नित्य-निरन्तर कर सकता है। भगवद्गीता (११.५४) भी कहती है कि उन्हें एकमात्र भक्तियोग से ही देखा और जाना जा सकता है—**भक्त्या त्वनन्यया शक्यः।**

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१७।।

अविभक्तम्=विभागरहित एकरूप से; **च**=तथा; **भूतेषु**=प्राणीमात्र में; **विभक्तम् इव**=पृथक्-पृथक् की भाँति; **च**=भी; **स्थितम्**=स्थित है; **भूतभर्तृ**=सम्पूर्ण जीवों का धारण-पोषण करने वाला; **च**=तथा; **तत्**=उसे; **ज्ञेयम्**=जानना चाहिए; **ग्रसिष्णु**=संहार करने वाला; **प्रभविष्णु च**=सब का जन्मदाता भी।

अनुवाद

अलग-अलग जीवों में पृथक्-पृथक् रूप से स्थित लगता हुआ भी परमात्मा वास्तव में नित्य विभागरहित है। उसे ही सम्पूर्ण प्राणियों का जन्मदाता, पालक और संहार करने वाला जानना चाहिए।।१७।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् परमात्मारूप में जीवमात्र के अन्तर्यामी हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे बँट गए हैं। वास्तव में वे एकरूप ही हैं। इस सन्दर्भ में सूर्य का उदाहरण दिया जा सकता है। सूर्य अपने स्थान, मध्यान्ह-रेखा पर स्थित है। यदि कोई प्रत्येक दिशा में पाँच हजार मील तक भी जाकर सूर्य की स्थिति के सम्बन्ध में जिज्ञासा करे, तो सर्वत्र उसे यही उत्तर मिलेगा कि सूर्य सिर के ऊपर चमक रहा है। वेदों में इस उदाहरण से सिद्ध किया गया है कि विभागरहित एकरूप होते हुए भी श्रीभगवान् विभक्त हुए से प्रतीत होते हैं। शास्त्रों के अनुसार, एक विष्णु अपनी शक्ति से सर्वत्र व्यापक हैं, उसी प्रकार जैसे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न स्थानों में सूर्य की प्रतीति होती है। प्राणियों के पालक होने पर भी यही परमेश्वर प्रलयकाल में सब का संहार करते हैं। इसका प्रमाण ग्यारहवें अध्याय में भी है—श्रीभगवान् का वाक्य है कि वे कुरुक्षेत्र में इकट्ठे सब के सब योद्धाओं को अपना ग्रास बनाने के लिए आए हैं। उनका स्वयं का वाक्य है कि कालरूप से वे सहार करते हैं। वे सब का संहार करने वाले हैं। सृष्टि के आदि में वे सम्पूर्ण प्राणियों को जन्म देते हैं और प्रलयकाल में संहार करते हैं। वैदिक मन्त्र के अनुसार वे सब जीवों के उद्गम और आश्रय हैं। सृजन के बाद, सब कुछ उनकी शक्ति के आश्रय में स्थित रहता है और विनाश होने पर फिर उन्हीं के आश्रय में लौट जाता है। यह सब वैदिक मन्त्रों द्वारा प्रमाणित है। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद् विजिज्ञासस्व।** (तैत्तिरीय उपनिषद् ३.१)

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१८।।

ज्योतिषाम्=ज्योतिर्वानों का; **अपि**=भी; **तत्**=वह; **ज्योतिः**=ज्योतिस्रोत है; **तमसः**=माया रूपी अन्धकार से; **परम्**=परे; **उच्यते**=कहा गया है; **ज्ञानम्**=ज्ञानस्वरूप; **ज्ञेयम्**=जानने के योग्य; **ज्ञानगम्यम्**=तत्त्वज्ञान से प्राप्त होने वाला; **हृदि**=हृदय में; **सर्वस्य**=सब के; **विष्ठितम्**=स्थित है।

अनुवाद

वह ज्योतिर्वानों की ज्योति का स्रोत है, माया के अन्धकार से अति परे अगोचर है। वही ज्ञानस्वरूप, जानने योग्य और तत्त्वज्ञान से प्राप्त होने वाला है। वह सब के हृदय में बैठा है।।१८।।

तात्पर्य

परमात्मा श्रीभगवान् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतिर्वानों की ज्योति के उद्गम हैं। वैदिक-शास्त्रों में कथन है कि भगवद्धाम में सूर्य अथवा चन्द्रमा का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वह श्रीभगवान् की प्रभा (ब्रह्मज्योति) से दीप्त है। प्राकृत-जगत में यह ब्रह्मज्योति महत्तत्त्व से ढकी रहती है; इसलिए यहाँ प्रकाश के लिए सूर्य,

चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत् आदि की सहायता चाहिए। परन्तु वैकुण्ठ-जगत् में इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। वैदिक शास्त्रों के अनुसार श्रीभगवान् की ज्योति से ही सब कुछ प्रकाशित है। इससे सिद्ध होता है कि उनकी स्थिति इस प्राकृत-जगत् में न होकर उस वैकुण्ठ-जगत् में है, जो सुदूर परव्योम में है। यह भी वेदसम्मत है। **आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**। सूर्य की भाँति वे भी नित्य ज्योतिर्मय हैं, पर इस प्राकृत-जगत् के अन्धकार से अति परे हैं। उनका ज्ञान दिव्य (लोकोत्तर) है। वेद कहते हैं कि ब्रह्म घनीभूत ज्ञान है। जो उस वैकुण्ठ-जगत् को जाने के लिए यथार्थ में उत्कण्ठित है, सबके अन्तर्यामी श्रीभगवान् उसे स्वयं ज्ञान प्रदान करते हैं।

एक वैदिक मन्त्र में उल्लेख है, **तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये**। यदि मुक्ति की अभिलाषा हो तो श्रीभगवान् की शरण अवश्य ले लेनी चाहिये। ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य तत्त्व के सम्बन्ध में वेदवाणी है—**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति**, "उनको जानने से ही जन्म-मृत्यु के बन्धन से छुटकारा हो सकता है।" श्रीभगवान् ईश्वररूप में जीवमात्र के हृदय में बैठे हैं; उनके हाथ-पैर आदि सब ओर हैं। जीव के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः यह मानना पड़ेगा कि देहरूपी क्षेत्र के दो ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) हैं—जीव-क्षेत्रज्ञ और परमात्मा-क्षेत्रज्ञ। जीव के हाथ-पैर एकदेशीय हैं, जबकि श्रीकृष्ण के हाथ-पैर आदि सर्वव्यापक हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् इसका समर्थन करती है, **सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्**। वे श्रीभगवान् परमात्मा सम्पूर्ण जीवों के प्रभु हैं और वे ही आत्यन्तिक आश्रय हैं। अतएव यह निर्विवाद रूप में सिद्ध हो जाता है कि परमात्मा और जीवात्मा में शाश्वत् भेद है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१९।।

इति=इस प्रकार; **क्षेत्रम्**=क्षेत्र (देह); **तथा**=और; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **ज्ञेयम्**=जानने योग्य तत्त्व; **च**=भी; **उक्तम्**=कहा गया; **समासतः**=संक्षेप से; **मद्भक्तः**=मेरा भक्त; **एतत्**=यह सब; **विज्ञाय**=जान कर; **मत् भावाय**=मेरे स्वभाव को; **उपपद्यते**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

इस प्रकार क्षेत्र (देह), ज्ञान और जानने योग्य तत्त्व का स्वरूप मेरे द्वारा संक्षेप से कहा गया। केवल मेरा भक्त ही इसे जान सकता है और इस प्रकार जान कर मेरे स्वभाव को प्राप्त हो जाता है।।१९।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने क्षेत्र, ज्ञान तथा जानने योग्य तत्त्व का संक्षिप्त वर्णन किया है। इस ज्ञान में ज्ञाता, जानने योग्य तथा जानने का साधन—इन तीन तत्त्वों का समावेश है। एक साथ इन्हें **विज्ञान** कहा जाता है। एकमात्र शुद्ध अनन्य भगवद्भक्त

ही पूर्ण ज्ञान को प्रत्यक्ष रूप में हृदयंगम कर सकते हैं; दूसरों को यह बोध नहीं होता। अद्वैतवादी कहते हैं कि अन्तिम अवस्था में ये तीनों तत्त्व एकाकार हो जाते हैं, पर भक्तों को यह मान्य नहीं है। ज्ञान अथवा ज्ञान के विकास का अर्थ कृष्णभावना में अपने स्वरूप को जानना है। इस समय हम मोह से प्रेरित हैं; किन्तु जैसे ही अपनी सम्पूर्ण मति को श्रीकृष्ण के लीलामृत में निमग्न करके हम समझ जायेंगे कि श्रीकृष्ण सर्वत्र परिपूर्ण हैं, वैसे ही सच्चे पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो जायगी। भाव यह है कि भक्तियोग के पूर्ण बोध की जो प्रारम्भिक अवस्था है, वास्तव में उसी का नाम 'ज्ञान' है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।।२०।।

प्रकृतिम्=प्रकृति को; **पुरुषम्**=जीवों को; **च**=भी; **एव**=निःसन्देह; **विद्धि**=जान; **अनादी**=अनादि; **उभौ अपि**=इन दोनों को ही; **विकारान् च**=विकारों को; **गुणान् च**=गुणों को भी; **एव**=अवश्यमेव; **विद्धि**=जान; **प्रकृतिसंभवान्**=प्रकृति से उत्पन्न हुआ।

अनुवाद

हे अर्जुन! प्रकृति और जीव दोनों को ही अनादि जान; उनके विकारों और त्रिविध गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान।।२०।।

तात्पर्य

इस ज्ञान के द्वारा क्षेत्र तथा जीव-क्षेत्रज्ञ और परमात्मा-क्षेत्रज्ञ को भी जाना जा सकता है। क्षेत्र, अर्थात् देह प्रकृति से निर्मित है और जीवात्मा इसमें बद्ध है। यही जीवात्मा अथवा 'पुरुष' देह की क्रियाओं को भोगता है। इस क्षेत्रज्ञ के अतिरिक्त एक अन्य क्षेत्रज्ञ भी है—परमात्मा। अवश्य ही, जीवात्मा और परमात्मा दोनों श्रीभगवान् के भिन्न-भिन्न प्रकाश हैं। जीव उनकी शक्ति का भिन्न-अंश है, जबकि परमात्मा उनका स्वांश है।

प्रकृति और जीव, दोनों ही अनादि, अर्थात् नित्य हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि सृष्टि से पूर्व भी वे दोनों थे। प्राकृत सृष्टि भगवत्-शक्ति का कार्य है। जीवों के लिए भी यही सत्य है; किन्तु वे पराशक्ति के अंश हैं। ये दोनों तत्त्व इस ब्रह्माण्ड की रचना से पूर्व विद्यमान थे। तब प्रकृति महाविष्णु में लीन थी। यथासमय महत्तत्त्व के माध्यम से उसका प्रकाश हुआ। इस प्रकार, जीव भी उन्हीं में हैं, पर मायाबद्ध होने के कारण वे भगवत्सेवा से विमुख हो रहे हैं। परिणामतः वैकुण्ठ-जगत् में उनका प्रवेश नहीं हो पाता। प्रकृति का संवरण होने पर इन जीवों को एक और अवसर दिया जाता है कि संसार में उचित कर्म करते हुए वे वैकुण्ठ-जगत् में जाने के योग्य बन जायें। इस प्राकृत सृष्टि का यही रहस्य है। मूल रूप में जीव श्रीभगवान् का अप्राकृत अंश है; परन्तु अपने विद्रोही स्वभाव के कारण वह मायाबद्ध हो गया है। यह जानना

महत्त्वपूर्ण नहीं है कि श्रीभगवान् का अंशस्वरूप जीव माया के संसर्ग में किस प्रकार से आया। एकमात्र श्रीभगवान् ही जानते हैं कि यह क्यों और कैसे घटित हुआ। शास्त्रों में श्रीभगवान् ने कहा है कि जो जीव इस प्रकृति के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं, वे भवरोग की यातनायें भोगते हैं। इन श्लोकों से हम कम से कम इतना तो निश्चित रूप से जान ही लें कि सारे विकार और प्रभावसहित तीनों गुण प्रकृति (माया) से उत्पन्न होते हैं। जीवों के सब विकार देहजनित हैं, आत्मतत्त्व की दृष्टि से तो सभी जीव एक जैसे हैं।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२१।।

कार्य=प्रभाव; **करण**=कारण के; **कर्तृत्वे**=उत्पन्न करने में; **हेतुः**=हेतु; **प्रकृतिः**=प्रकृति; **उच्यते**=कही जाती है; **पुरुषः**=जीव; **सुख**=सुख; **दुःखानाम्**=दुःखों को; **भोक्तृत्वे**=भोगने में; **हेतुः**=हेतु; **उच्यते**=कहा गया है।

अनुवाद

प्रकृति सम्पूर्ण प्राकृत कार्य-कारणों की हेतु कही गयी है और पुरुष (जीवात्मा) इस संसार में विविध सुख-दुःखों के भोगने में हेतु है।।२१।।

तात्पर्य

जीवों में विविध देहों और इन्द्रियों की अभिव्यक्ति प्रकृति के कारण होती है। सभी ८४ लाख जीव-योनियाँ प्रकृति द्वारा रचित हैं। इन्द्रियसुख की नाना कामनाओं के अनुसार जीव को विभिन्न योनियों की प्राप्ति होती है। भिन्न-भिन्न योनियों में वह भिन्न-भिन्न सुख-दुःख को भोगता है। उसे मिलने वाले सुख-दुःखों का कारण उसका शरीर है, वह स्वयं नहीं। उसकी मूल अवस्था में आनन्द का अभाव नहीं है और वही उसका यथार्थ स्वरूप है। किन्तु माया पर प्रभुत्व की इच्छा के कारण वह इस प्राकृत-जगत् में पतित हो गया है। वैकुण्ठ-जगत् में ऐसा कुछ नहीं है। वह परम शुद्धस्वरूप है। वैकुण्ठ-जगत् शुद्धस्वरूप है, किन्तु प्राकृत-जगत् में प्रत्येक प्राणी नाना प्रकार के सुख देने वाले विषयों की प्राप्ति के लिए घोर संघर्ष कर रहा है। अधिक स्पष्ट रूप में, देह इन्द्रियों का कार्य है; इन्द्रियाँ इच्छा-पूर्ति की उपकरण हैं। इन दोनों का सृजन प्रकृति करती है तथा जैसा अगले श्लोक से स्पष्ट है, पूर्वजन्म के कर्मों और इच्छा के अनुसार ही जीव को अच्छी-बुरी योनि मिलती है। अतएव जीव को जो योनि मिलती है और उसमें जो आनुषंगिक सुख-दुःख भोगना पड़ता है, उसका कारण जीव स्वयं है। एक बार जिस देहरूपी घर में उसे डाल दिया जाता है, उसी के अनुसार वह प्रकृति के परवश हो जाता है, क्योंकि प्रकृति द्वारा निर्मित देह प्राकृतिक नियम के अनुसार ही क्रिया करती है। बद्धजीव में उस नियम को बदल देने की सामर्थ्य नहीं होती। जिसे कूकर-योनि की प्राप्ति हुई है, उसे कुत्ते के समान ही कार्य करना होगा, वह अन्यथा कुछ नहीं कर सकता। यदि उसको शूकर-योनि मिलती

हैं, तो वह शूकर के समान विष्ठा खाने जैसे कार्य करने को बाध्य हो जाएगा। इसी भाँति जिसे देव-वपु की प्राप्ति हो, उसे भी अपनी योनि के योग्य कर्म करना होगा। प्रकृति का यही नियम है। परन्तु किसी भी योनि में परमात्मा जीवात्मा के साथ निरन्तर रहते हैं। वेदों में कहा है, **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।** श्रीभगवान् जीव पर इतने कृपालु हैं कि वे सदा उसका साथ देते हैं, योनि-योनि में परमात्मा रूप में रहते हैं।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२२।।

पुरुषः=जीवात्मा; **प्रकृतिस्थः**=प्रकृति में स्थित; **हि**=ही; **भुंक्ते**=भोगता है; **प्रकृतिजान्**=प्रकृति से उत्पन्न; **गुणान्**=गुणों को; **कारणम्**=कारण है; **गुणसंगः**=गुणों का संग; **अस्य**=इस जीवात्मा के; **सत्-असत्**=उत्तम-अधम; **योनिजन्मसु**=योनियों में जन्म का।

अनुवाद

प्रकृति में स्थित जीवात्मा ही प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों को भोगता है। गुणों का यही संग इस जीवात्मा के उत्तम-अधम योनियों में जन्म का कारण है।।२२।।

तात्पर्य

जीव के देहान्तर की प्रक्रिया को समझने के लिए यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। द्वितीय अध्याय में कहा है कि वस्त्र बदलने की भाँति जीवात्मा एक देह को त्याग कर अन्य देह धारण कर लेता है। इस देहान्तर का कारण संसार में उसकी आसक्ति ही है। जब तक वह इस अनित्य जगत् पर मुग्ध रहता है, तब तक निरन्तर देहान्तर करता रहता है। प्रकृति पर प्रभुत्व की इच्छावश उसे अवांछनीय योनियों की प्राप्ति भी होती है। विषयवासना के प्रभाव से उसे कभी देव-शरीर मिलता है, तो कभी मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, जलचर, सन्त अथवा कृमि आदि योनियों में जन्म होता है। यह क्रम अविराम चल रहा है। अच्छी-बुरी सब अवस्थाओं में जीव अपने को वातावरण का स्वामी समझता है, जबकि वास्तव में वह सब प्रकार से प्रकृति के आधीन है।

जीव को विभिन्न योनियों की प्राप्ति के कारण का यहाँ निर्देश है। वास्तव में इसका कारण प्रकृति के गुणों का संग ही है। अतएव यह आवश्यक है कि वह माया के त्रिविध गुणों से मुक्त हो कर शुद्धसत्त्व में स्थित हो जाय। इसी का नाम 'कृष्णभावनामृत' है। जब तक जीव कृष्णभावनाभावित नहीं हो जाता, तब तक उसकी मति अनादिकालीन विषयवासना से दूषित रहेगी, जिसके परिणामस्वरूप वह देहान्तर करता रहेगा। अतएव इस वर्तमान मति को बदलना है। यह केवल प्रामाणिक आचार्यों के मुखारविन्द से भगवत्-कथा सुनने से होगा। इसका सर्वोत्तम आदर्श स्वयं अर्जुन है—वह भगवान् श्रीकृष्ण से भगवत्-विज्ञान का श्रवण कर रहा है। इस प्रकार का श्रवण-परायण जीव माया पर प्रभुत्व की अपनी चिरकालीन इच्छा से शनैः-शनैः मुक्त

हो जायगा। जैसे-जैसे प्रभुत्व-कामना क्षीण होगी, वैसे,वैसे ही वह अलौकिक अनिर्वचनीय सुख का आस्वादन करेगा। एक वैदिक मंत्र में उल्लेख है कि श्रीभगवान् के संग में वह जैसे-जैसे तत्त्व को जानता जाता है, वैसे ही अपने सच्चिदानन्दमय जीवन का आस्वादन करता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२३।।

उपद्रष्टा=साक्षी; **अनुमन्ता**=अनुमति देने वाला; **च**=तथा; **भर्ता**=स्वामी **भोक्ता**=परम भोक्ता; **महेश्वरः**=परम ईश्वर; **परमात्मा**=परमात्मा; **इति**=भी; **च**=तथा; **अपि**=भी; **उक्तः**=कहा जाता है; **देहे**=देह में; **अस्मिन्**=इस; **पुरुषः**=भोक्ता; **परः**=परम।

अनुवाद

इस देह में जीव के साथ एक परात्पर भोक्ता भी है, जो सब का परम ईश्वर, साक्षी और अनुमति देने वाला है और जो परमात्मा कहलाता है।।२३।।

तात्पर्य

भाव यह है कि जीवात्मा का नित्य सहचर परमात्मा श्रीपरमेश्वर का ही रूप है वह साधारण जीव के तुल्य नहीं है। अद्वैतवादियों की धारणा में क्षेत्रज्ञ एक है। इसी से वे यह समझते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा में कुछ भेद नहीं है। इस विषय को स्पष्ट करने के उद्देश्य से श्रीभगवान् ने कहा है कि प्रत्येक देह में परमात्मा उनका रूप है। यह जीवात्मा से भिन्न, **पर** अर्थात् लोकोत्तर है। जीव-क्षेत्रज्ञ किसी एक क्षेत्र के कार्य-कलाप को ही भोगता है, जबकि परमात्मा बद्ध-भोक्ता अथवा देह-क्रियाओं के कर्ता के रूप में स्थित नहीं है; वह तो साक्षी, अनुमन्ता और परम भोक्ता है। वह आत्मा से भिन्न 'परम आत्मा' है और माया से परे है। स्पष्ट है कि आत्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं। परमात्मा के हाथ-पैर आदि सर्वव्यापक हैं, जबकि जीवात्मा में इस सामर्थ्य का अत्यन्त अभाव है। वे परमेश्वर हैं; इसलिए अन्तर्यामी रूप से जीव की भोग-वाँछा को अनुमति देते हैं। परमात्मा की अनुमति के बिना जीवात्मा कुछ नहीं कर सकता। जीवात्मा **भुक्त**, अर्थात् पालित है और वे **भर्ता**, अर्थात् पालक हैं। असंख्य जीवों में से प्रत्येक के साथ वे सखा के समान रहते हैं।

यह सत्य है कि जीवात्मा श्रीभगवान् का शाश्वत भिन्न-अंश है तथा दोनों में प्रगाढ़ सखाभाव है। किन्तु साथ ही, श्रीभगवान् की अनुमति की अवहेलना करते हुए परम शक्तिवती प्रकृति पर अधिकार कर लेने के लिए स्वतन्त्र रूप से कर्म करने की प्रवृत्ति भी जीव में रहती है। इसी प्रवृत्ति के कारण उसे श्रीभगवान् की तटस्था-शक्ति कहा जाता है। भाव यह है कि वह स्वेच्छानुसार दोनों अपरा-परा शक्तियों में से किसी में भी स्थित हो सकता है। जब वह माया (अपराशक्ति) के बन्धन में रहता है, तब भी श्रीभगवान् उसके सखा परमात्मारूप से उसका सहचरण करते हैं, जिससे वह फिर

पराशक्ति के अन्तर्गत आ जाय। वे पराशक्ति में उसके वापस लौटने के लिए नित्य उत्कण्ठित रहते हैं; किन्तु अपनी अणु-मात्र स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करता हुआ जीव आध्यात्मिक प्रकाश के संग का निरन्तर तिरस्कार किया करता है। स्वतन्त्रता का यह दुरुपयोग ही भवबन्धन से होने वाले सम्पूर्ण दुःख का कारण है। इसलिए श्रीभगवान् भीतर और बाहर से भी जीव को नित्यनिरन्तर सदुपदेश देते रहते हैं। बाहर से वे भगवद्गीता के रूप में शिक्षा देते हैं और भीतर से जीव को यह विश्वास कराने का प्रयास करते हैं कि लौकिक क्षेत्र में वह जो कुछ करता है, उससे सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। वे कहते हैं, "इस सब अनर्थ को त्याग कर अपने सम्पूर्ण श्रद्धा-विश्वास को मुझ में केन्द्रित कर दे। तभी तू वास्तव में सुखी हो सकेगा।" अतएव परमात्मा अथवा श्रीभगवान् में जिसका विश्वास है, ऐसा विवेकी पुरुष सच्चिदानन्दघन जीवन की ओर द्रुतगति से बढ़ता है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२४।।

यः=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेत्ति**=जानता है; **पुरुषम्**=जीवात्मा; **प्रकृतिम्**=प्रकृति को; **च**=तथा; **गुणैः सह**=प्रकृति के गुणों सहित; **सर्वथा**=सब प्रकार से; **वर्तमानः**=स्थित हुआ; **अपि**=भी; **न**=नहीं; **सः**=वह; **भूयः**=पुनः; **अभिजायते**=जन्म लेता।

अनुवाद

इस प्रकार जो जीवात्मा और गुणों सहित प्रकृति के तत्त्व को जानता है, उसकी मुक्ति निश्चित है। वह वर्तमान में किसी भी स्थिति में हो, परन्तु उसका पुनर्जन्म नहीं होता।।२४।।

तात्पर्य

प्रकृति (माया), परमात्मा, जीवात्मा और इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध का विमल ज्ञान मुक्ति और आध्यात्मिक परिवेश की प्राप्ति की योग्यता प्रदान करता है। उस अवस्था में प्रकृति में आवागमन का भय नहीं रहता। यह ज्ञान का फल है। ज्ञान का प्रयोजन यह निश्चित रूप से जान लेना है कि जीवात्मा किसी कारणवश इस भवबन्धन में पतित हो गया है। प्रामाणिक सन्तपुरुषों और गुरुदेव के सत्संग में निजी प्रयास करते हुए अपने सच्चे स्वरूप को समझना है और श्रीभगवान् के कहे अनुसार भगवद्गीता को आत्मसात् कर के अपने सनातन धर्म—कृष्णभावना में फिर परिनिष्ठित होना है। ऐसी स्थिति में निस्सन्देह इस भवसागर में उसका फिर कभी आगमन नहीं होगा; वैकुण्ठ-जगत् में प्रविष्ट होकर वह पुरुष सच्चिदानन्दमय जीवन प्राप्त कर लेगा।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२५।।

ध्यानेन=ध्यान द्वारा; **आत्मनि**=हृदय में; **पश्यन्ति**=देखते हैं; **केचित्**=कोई-कोई; **आत्मानम्**=परमात्मा को; **आत्मना**=विशुद्ध चित्त के द्वारा; **अन्ये**=अन्य; **सांख्येन**=ज्ञानवार्ता के द्वारा; **योगेन**=योग के द्वारा; **कर्मयोगेन**=निष्काम कर्म के द्वारा; **च**=भी; **अपरे**=दूसरे।

अनुवाद

उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य विशुद्ध चित्त से ध्यान करते हुए हृदय में देखते हैं, तो दूसरे ज्ञान और निष्काम कर्मयोग के द्वारा देखते हैं।।२५।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् अर्जुन को सूचित करते हैं कि स्वरूप-साक्षात्कार की जिज्ञासा के सम्बन्ध में बद्धजीवों की दो श्रेणियाँ हैं। जो अनीश्वरवादी, अज्ञेयतावादी तथा संशयात्मा हैं, उन मनुष्यों में तो ज्ञान का लेश भी नहीं होता। परन्तु बहुत से ऐसे मनुष्य भी हैं, जो परमार्थ में श्रद्धावान् हैं। ये निष्काम कर्मयोगी कहलाते हैं। अद्वैतवादी अनीश्वरवादियों की कोटि में ही आते हैं। भाव यह है कि वास्तव में एकमात्र भगवद्भक्त पारमार्थिक बोध के अधिकारी हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि इस प्रकृति से परे एक अप्राकृत धाम है तथा प्राणीमात्र में परमात्मारूप से व्यापक श्रीभगवान् भी मायातीत हैं। अवश्य अन्य अनेक साधक ज्ञान के अनुशीलन से भी परमसत्य को जानने का प्रयास करते हैं। उन्हें द्वितीय कोटि में सम्मिलित किया जा सकता है। अनीश्वरवादी दार्शनिकों के मत में यह जगत् चौबीस तत्त्वों से निर्मित है; जीवात्मा पच्चीसवाँ तत्त्व है। जब उन्हें बोध हो जाता है कि जीवात्मा स्वरूपतः इन प्राकृत तत्त्वों से अतीत है, तो वे यह भी जान सकते हैं कि जीव के ऊपर एक और तत्त्व है—श्रीभगवान्। इस विधि से क्रमशः वे भी कृष्णभावनाभावित भक्तियोग के स्तर पर पहुँच जाते हैं। निष्काम कर्म करने वालों का साधन भी उन्हें संसिद्धि की दिशा में अग्रसर करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्हें कृष्णभावनाभावित भक्तियोग के स्तर तक उन्नति करने का सुयोग मिलता है। इस श्लोक में उल्लेख है कि बहुत से शुद्धबुद्धि मनुष्य ध्यान द्वारा परमात्मा की प्राप्ति में तत्पर हैं। हृदय में परमात्मा की उपलब्धि हो जाने पर वे दिव्य अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इसी भाँति, दूसरे ज्ञान के सेवन से परमात्मा को जानने का साधन करते हैं। ऐसे भी हैं, जो हठयोग का अभ्यास करते हुए अपनी बालोचित क्रियाओं के श्रीभगवान् को प्रसन्न करना चाहते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२६।।

अन्ये=दूसरे मनुष्य; **तु**=किन्तु; **एवम्**=यह; **अजानन्तः**=न जानते हुए; **श्रुत्वा**=सुन कर (ही); **अन्येभ्यः**=दूसरों से; **उपासते**=उपासना में प्रवृत्त हो जाते हैं; **ते**=वे; **अपि**=भी; **च**=तथा; **अतितरन्ति एव**=निस्सन्देह तर जाते हैं; **मृत्युम्**=मृत्युरूप

संसार-सागर को; **श्रुतिपरायणाः**=सुनने के परायण मनुष्य।

अनुवाद

ऐसे भी हैं, जो स्वयं इस ज्ञान को नहीं जानते, परन्तु दूसरों से सुनकर ही परमपुरुष श्रीभगवान् की भक्ति में तत्पर हो जाते हैं। ये आचार्यों का श्रवण करने के परायण मनुष्य भी जन्म-मृत्यु के सागर से तर जाते हैं।।२६।।

तात्पर्य

यह श्लोक आधुनिक समाज पर विशेष रूप से घटता है। आज के समाज में ज्ञान की शिक्षा का बिल्कुल अभाव-सा हो रहा है। कुछ मनुष्य अनीश्वरवादी प्रतीत होते हैं तो कुछ अज्ञेयतावादी और कुछ दार्शनिक हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो दर्शन (तत्त्व) का ज्ञान किसी को भी नहीं है। जहाँ तक किसी साधारण मनुष्य का प्रश्न है, यदि वह पुण्यात्मा है तो श्रवण के द्वारा पारमार्थिक उन्नति कर सकता है। अतएव श्रवण-पद्धति की बड़ी महिमा है। आधुनिक जगत् में कृष्णभावना के प्रवर्तक श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रवण-भक्ति को बड़ा महत्त्व दिया है। उनके अनुसार यदि साधारण मनुष्य प्रामाणिक आचार्यों से कथा का और विशेष रूप से **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र के दिव्य कीर्तन का श्रवण करे, तो वह पारमार्थिक उन्नति कर सकता है। अतएव परामर्श है कि सभी मनुष्य भगवत्प्राप्त महापुरुषों से कथा-श्रवण करें और इस प्रकार शनैः-शनैः पूर्ण ज्ञान की अवस्था को प्राप्त हो जाएँ। ऐसे में श्रीभगवान् की उपासना अवश्य होगी। श्रीचैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि इस युग में किसी के लिए अपने आश्रम-धर्म को बदलना आवश्यक नहीं, परमसत्य को मनोधर्म से जानने के प्रयास को त्यागने की ही आवश्यकता है। जो भगवत्-तत्त्व को जानते हों, उनका दास बनने का यत्न करना चाहिए। यदि किसी को सौभाग्यवश शुद्धभक्त का पादाश्रय प्राप्त हो जाता है तथा उन महापुरुष से स्वरूप-साक्षात्कार के साधन का श्रवण कर वह भी उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करने लगता है, तो इसमें सन्देह नहीं कि यथासमय वह स्वयं भी शुद्धभक्त बन जायगा। इस श्लोक में श्रवण-भक्ति के माहात्म्य का विशेष रूप से उल्लेख है और यह सब प्रकार से ठीक भी है। साधारण मनुष्य दार्शनिक कहलाने वाले मनोधर्मियों के समान योग्य नहीं समझा जाता; किन्तु प्रामाणिक पुरुष के मुख से कथा को सुनकर वह इस भवसागर से सुगमतापूर्वक पार होकर अपने घर, भगवान् के पास लौट सकता है।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२७।।

यावत्=जो; **संजायते**=उत्पन्न होता है; **किंचित्**=कुछ भी; **सत्त्वम्**=पदार्थ (वस्तु); **स्थावर**=अचर; **जंगमम्**=चर; **क्षेत्र**=देह; **क्षेत्रज्ञ**=देही के; **संयोगात्**=संयोग से; **तत् विद्धि**=वह जान; **भरतर्षभ**=हे भरतवंश में श्रेष्ठ (अर्जुन)।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो कुछ भी चर-अचर दिखता है, उस सब को तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न जान।।२७।।

तात्पर्य

इस श्लोक में प्रकृति और जीवात्मा, दोनों के तत्त्व का वर्णन है। ये दोनों सृष्टि से पूर्व भी थे। जो कुछ सृष्टि होती है, वह प्रकृति और जीवात्मा के संयोग से ही होती है। सृष्टि में वृक्ष, पर्वत आदि अनेक अचर पदार्थ हैं और अनेक चर पदार्थ भी हैं। इन सभी की रचना अपरा प्रकृति और जीवरूप परा प्रकृति के संयोग से हुई है। जीवरूप परा प्रकृति के स्पर्श के बिना किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव अपरा प्रकृति और परा प्रकृति का सम्बन्ध नित्य चला आ रहा है। यह संयोग स्वयं श्रीभगवान् कराते हैं। अस्तु, वे परा और अपरा—दोनों प्रकृतियों के ईश्वर (स्वामी) हैं। अपरा प्रकृति का सृजन करके वे परा प्रकृति को इसमें स्थापित करते हैं। इसी से सम्पूर्ण क्रियाओं और वस्तुओं की अभिव्यक्ति होती है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२८।।

समम्=समभाव से; **सर्वेषु**=सब; **भूतेषु**=प्राणियों में; **तिष्ठन्तम्**=स्थित; **परमेश्वरम्**=परमात्मा को; **विनश्यत्सु**=नाशवान्; **अविनश्यन्तम्**=नाशरहित; **यः**=जो; **पश्यति**=देखता है; **सः**=वही; **पश्यति**=यथार्थ देखता है।

अनुवाद

जो सब देहों में जीवात्मा के साथ परमात्मा को भी देखता है और जो यह जानता है कि चराचर भूतों का नाश होने पर भी जीवात्मा और परमात्मा का कभी नाश नहीं होता, वही वास्तव में देखता है।।२८।।

तात्पर्य

जो पुरुष सत्संग के द्वारा देह, देही जीवात्मा और जीवात्मा के सखा (परमात्मा) का तत्त्व जान जाता है, वह सच्चा ज्ञानी है। जीव के सखा को न जानने वाले वस्तुतः अज्ञानी हैं। वे केवल देह को ही देखते हैं और देह का नाश होने पर समझते हैं कि सब कुछ नष्ट हो गया। परन्तु यथार्थ वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। देह का नाश हो जाने पर भी जीवात्मा और परमात्मा का अस्तित्व अविकृत रहता है, वे नित्य-निरन्तर विविध चराचर योनियाँ धारण करते रहते हैं। **परमेश्वरम्** शब्द को कभी-कभी जीवात्मा का वाचक मान लिया जाता है, क्योंकि जीवात्मा देह का स्वामी है और देह का नाश होने पर देहान्तर करता है। इस दृष्टि से वह भी ईश्वर है। किन्तु परम्परागत आचार्यों के अनुसार **परमेश्वर** पद परमात्मा का वाचक है। दोनों दृष्टियों से परमात्मा और जीवात्मा नित्य बने रहते हैं; उनका नाश कभी नहीं होता। जो ऐसा देखता है, वही तत्त्वदर्शी है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२९।।

समम्=समभाव से; **पश्यन्**=देखता हुआ; **हि**=निश्चित रूप से; **सर्वत्र**=सब में; **समवस्थितम्**=समान रूप से स्थित; **ईश्वरम्**=परमात्मा को; **न हिनस्ति**=अधःपतन को नहीं पहुँचता; **आत्मना**=चित्त के द्वारा; **आत्मानम्**=अपने आत्मा का; **ततः याति**=इससे प्राप्त होता है; **पराम्**=परम; **गतिम्**=गति को।

अनुवाद

जो पुरुष परमात्मा को जीवमात्र में समभाव से स्थित देखता है, वह चित्त के द्वारा अपने अधःपतन का कारण नहीं बनता और इस प्रकार परमगति को प्राप्त हो जाता है।।२९।।

तात्पर्य

यदि जीवात्मा समझ जाय कि यह संसार दुःख ही दुःख से भरा है, तो वह अपने सच्चिदानन्दमय जीवन में फिर स्थित हो सकता है। जो यह जानता है कि श्रीभगवान् परमात्मा रूप से सर्वत्र विद्यमान हैं, अर्थात् जो जीवमात्र में श्रीभगवान् की संनिधि को देख सकता है, वह अपने अधःपतन का कारण नहीं बनता और परिणाम में शनैः-शनैः वैकुण्ठ-जगत् को प्राप्त हो जाता है। सामान्यतः मन विषयरूपी स्वार्थों में लगा रहता है। उसके परमात्मा की ओर मुड़ते ही ज्ञान हो सकता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।३०।।

प्रकृत्या=प्रकृति के द्वारा; **एव**=ही; **च**=तथा; **कर्माणि**=कर्म; **क्रियमाणानि**=किए हुए; **सर्वशः**=सब प्रकार से; **यः**=जो; **पश्यति**=देखता है; **तथा**=तथा; **आत्मानम्**=आत्मा को; **अकर्तारम्**=अकर्ता; **सः**=वह; **पश्यति**=यथार्थ देखता है।

अनुवाद

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को प्रकृति से उत्पन्न देह द्वारा किए हुए देखता है और आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ में देखता है।।३०।।

तात्पर्य

देह की उत्पत्ति परमात्मा की अध्यक्षता में प्रकृति के द्वारा होती है। अतः देह के सम्बन्ध में हो रही सम्पूर्ण क्रियाओं का कर्ता जीव नहीं है। जो कुछ भी दुःख-सुख के लिए कर्म किया जाता है, वह सब शरीर के स्वभाववश होता है; आत्मा इन सम्पूर्ण शारीरिक कर्मों से बिल्कुल परे है। देह पूर्ववासना के अनुसार मिलता है। यह देह वास्तव में एक यन्त्र जैसा है, जिसे श्रीभगवान् ने जीव की कामना-पूर्ति के लिए रचा है। जीव की अनादि भोगवासना के कारण ही उसे सुख-दुःख भोगने के लिए इस विषम संसार में भेजा गया है। स्वरूप के सम्बन्ध में इस दिव्य दृष्टि के जागृत होने

पर जीव देह की क्रियाओं से अलग हो जाता है। जो इस दृष्टि से युक्त है, वही यथार्थ द्रष्टा है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा।।३१।।

यदा=जब; **भूत**=जीवों के; **पृथक् भावम्**=पृथक् आकारों को; **एकस्थम्**=एक में; **अनुपश्यति**=देखता है; **ततः एव**=उससे ही; **च**=तथा; **विस्तारम्**=विस्तार है; **ब्रह्म**=ब्रह्मतत्त्व को; **संपद्यते**=प्राप्त होता है; **तदा**=उस काल में।

अनुवाद

जब विवेकी पुरुष प्राकृत देहों में भेद के कारण प्रतीत होने वाले स्वरूपों के भेद को नहीं देखता और परमात्मा से ही सब का विस्तार देखता है, तब वह ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त हो जाता है।।३१।।

तात्पर्य

जो यह देखता है कि जीवों के विविध आकार उनकी विविध इच्छाओं के कारण ही उत्पन्न हुए हैं, आत्मा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, वह यथार्थ देखता है। देह को आत्मा समझने के कारण हमें कोई देवता दिखता है, कोई मनुष्याकार दिखाई देता है, तो कोई कुत्ता-बिल्ली आदि। यह प्राकृत-दृष्टि है; सच्ची तात्त्विक दृष्टि तो इससे सर्वथा विलक्षण है। प्राकृत देह के नाश होने पर केवल एकरूप आत्मा रहता है। प्रकृति के संग के कारण ही इस आत्मा को भिन्न-भिन्न प्रकार की देह-योनियों की प्राप्ति होती है। जो यह देखता है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से युक्त है। इसके परिणाम में आकारगत देवत्व-मनुष्यत्व, पशुत्व, दीर्घत्वह्रस्वत्व आदि भेदों से मुक्त होकर उसकी मति शुद्ध हो जाती है और वह अपने आध्यात्मिक स्वरूप में स्थित होकर कृष्णभावना का विकास कर सकता है। इस अवस्था में वह किस प्रकार देखता है, इसका वर्णन अगले श्लोक में है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३२।।

अनादित्वात्=अनादि (नित्य) होने से; **निर्गुणत्वात्**=दिव्य होने के कारण; **परम्**=माया से अतीत; **आत्मा**=आत्मा; **अयम्**=यह; **अव्ययः**=अविनाशी; **शरीरस्थः**=शरीर में स्थित; **अपि**=भी; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **न करोति**=न कुछ करता है; **न लिप्यते**=लिपायमान होता है।

अनुवाद

शाश्वत् तत्त्व के द्रष्टा जानते हैं कि आत्मा दिव्य, सनातन और माया से परे है। हे अर्जुन! प्राकृत शरीर में स्थित होने पर भी यह आत्मा न तो कुछ करता है और न लिपायमान ही होता है।।३२।।

तात्पर्य

आत्मा प्राकृत देह के साथ जन्मा प्रतीत होता है; किन्तु वास्तव में तो वह अनादि है। उसका जन्म नहीं होता; शरीर में स्थित होने पर भी वह माया से परे, दिव्य और नित्य है। अतएव उसका नाश भी नहीं हो सकता। उसका स्वरूप आनन्दमय है; इसलिए वह स्वयं किसी प्राकृत क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता और प्राकृत देहों से संयोगवश उसके द्वारा सम्पादित कर्म उसे लिपायमान भी नहीं करते।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३३।।

यथा=जिस प्रकार; **सर्वगतम्**=सर्वव्यापी; **सौक्ष्म्यात्**=सूक्ष्म होने से; **आकाशम्**=आकाश; **न उपलिप्यते**=लिपायमान नहीं होता; **सर्वत्र**=सब ओर; **अवस्थितः**=स्थित हुआ (भी); **देहे**=देह में; **तथा**=उसी भाँति; **आत्मा**=आत्मा; **न उपलिप्यते**=लिपायमान नहीं होता।

अनुवाद

जैसे सर्वव्यापक होते हुए भी आकाश सूक्ष्मता के कारण किसी से लिपायमान नहीं होता; उसी भाँति, शरीर में स्थित होने पर भी ब्रह्मभूत जीव शरीर से लिप्त नहीं होता।।३३।।

तात्पर्य

जल, पंक, मल आदि सभी सत्त्वों में होते हुए भी आकाश इनमें से किसी से लिप्त नहीं होता। इसी भाँति, विविध देहों में स्थित आत्मा भी अपने सूक्ष्म स्वरूप के कारण उनसे सर्वथा असंग (निर्लिप्त) रहता है। अतएव प्राकृत नेत्रों से यह नहीं देखा जा सकता कि आत्मा इस देह के संसर्ग में किस प्रकार से है और देहनाश होने पर किस प्रकार इससे अलग होता है। बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी यह खोज नहीं कर सकता है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३४।।

यथा=जैसे; **प्रकाशयति**=प्रकाशित करता है; **एकः**=एक; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **लोकम्**=ब्रह्माण्ड को; **इमम्**=इस; **रविः**=सूर्य; **क्षेत्रम्**=इस शरीर को; **क्षेत्री**=आत्मा; **तथा**=वैसे ही; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **प्रकाशयति**=प्रकाशित करता है; **भारत**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक अकेला सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, वैसे ही शरीर में स्थित एक आत्मा सम्पूर्ण शरीर को चेतना से आलोकित करता है।।३४।।

तात्पर्य

चेतना के सम्बन्ध में नाना मत हैं। यहाँ भगवद्गीता में सूर्य और सूर्य-प्रकाश

का दृष्टान्त है। एक देश में स्थित होते हुए भी सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है। इसी भाँति, देह के हृदय-देश में स्थित अणु-आत्मा सिर से पैर तक इस सारे शरीर को चेतना से आलोकित करता है। अतएव चेतना आत्मा की उपस्थिति का प्रमाण है, उसी प्रकार जैसे सूर्यप्रभा से सूर्य का होना सिद्ध होता है। जब तक आत्मा देह में रहता है, तब तक सम्पूर्ण देह में चेतना व्याप्त रहती है; आत्मा के चले जाते ही तत्क्षण चेतना सर्वथा विलुप्त हो जाती है। कोई भी विवेकी पुरुष यह सुगमता से समझ सकता है। अतएव सिद्ध होता है कि चेतना जड़-प्राकृतिक तत्त्वों के समुच्चय से उत्पन्न नहीं हुई है; अपितु, वह तो आत्मा का स्वरूप-लक्षण है। परमात्मा की चेतना से चिद्गुणों में एक होने पर भी जीवात्मा की चेतना सर्वोपरि नहीं है। जीव व्यष्टि-चेतन है, अर्थात् उसकी चेतना किसी एक देह तक सीमित है, जबकि परमात्मा समष्टि-चेतन है—जीवात्मा के सखारूप में सब देहों में व्याप्त है। यह परम-चेतना और जीव-चेतना का अन्तर है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३५।।

क्षेत्र=देह (शरीर); **क्षेत्रज्ञयोः**=देह के स्वामी के; **एवम्**=इस; **अन्तरम्**=भेद को; **ज्ञानचक्षुषा**=ज्ञानदृष्टि के द्वारा; **भूत**=जीव; **प्रकृति**=माया; **मोक्षम्**=मोक्ष को; **च**=तथा; **ये**=जो; **विदुः**=जानते हैं; **यान्ति**=प्राप्त होते हैं; **ते**=वे; **परम्**=परमगति को।

अनुवाद

इस प्रकार देह (क्षेत्र) और देही (क्षेत्रज्ञ) के भेद को तथा इस बन्धन से मुक्ति के साधन को जो पुरुष ज्ञानदृष्टि के द्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे मेरे परमधाम को प्राप्त हो जाते हैं।।३५।।

तात्पर्य

तेरहवें अध्याय का सार क्षेत्र, जीव-क्षेत्र और परमात्मा-क्षेत्रज्ञ में भेद को जानना है। श्रद्धालु को चाहिए सब से पहले भगवत्कथा का श्रवण करने के लिए सत्संग करे। इस प्रकार वह शनैः-शनैः प्रबुद्ध हो जाएगा। सद्गुरु के आश्रय में उस विवेक की प्राप्ति होती है, जिसके द्वारा आत्मा और जड़ प्रकृति में भेद किया जा सकता है। यही भगवत्प्राप्ति का प्रथम चरण है। गुरुदेव शिष्यों को नाना प्रकार के उपदेशों द्वारा देहात्मबुद्धि से मुक्त होने की शिक्षा देते हैं। जैसे, भगवद्गीता में हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण अर्जुन को सांसारिक चिन्ता से मुक्त करने के लिए उपदेश कर रहे हैं।

यह समझना कठिन नहीं है कि यह देह अचित् जड़ तत्त्व है। इसकी उत्पत्ति चौबीस स्थूल तत्त्वों से हुई है, जिनका विश्लेषण किया जा सकता है। देह स्थूल अभिव्यक्ति है, जबकि मन और उसके विकार सूक्ष्म अभिव्यक्ति हैं। जीवन के लक्षण इन्हीं तत्त्वों की अन्तर्क्रिया हैं। परन्तु इन सब के ऊपर आत्मा है और उसके ऊपर परमात्मा है। आत्मा और परमात्मा में निश्चित भेद है। यह प्राकृत-जगत् आत्मा और चौबीस प्राकृत तत्त्वों के योग से कार्य कर रहा है। जो पुरुष आत्मा और प्राकृत तत्त्वों

के इस समुच्चय के रूप में सम्पूर्ण प्राकृत सृष्टि के स्वरूप को देखता है, वह परमात्मा की स्थिति को भी देख सकता है और इस प्रकार वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश के योग्य हो जाता है। यह तत्त्व गम्भीर चिन्तन-मनन और साक्षात्कार का विषय है। अतएव गुरुदेव के आश्रय में इस अध्याय को पूर्ण रूप से हृदय में धारण कर लेना चाहिए।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः।।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

गुणत्रयविभागयोग

(त्रिगुणमयी माया)

श्रीभगवानुवाच।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **परम्**=दिव्य; **भूयः**=पुनः; **प्रवक्ष्यामि**=मैं कहूँगा; **ज्ञानानाम्**=सम्पूर्ण ज्ञान में भी; **ज्ञानम् उत्तमम्**=परम ज्ञान को; **यत्**=जिसे; **ज्ञात्वा**=जानकर; **मुनयः**=मुनिजन; **सर्वे**=सब; **पराम्**=दिव्य; **सिद्धिम्**=पूर्णता को; **इतः**=इस संसार से; **गताः**=प्राप्त हुए हैं।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! तेरे लिए सम्पूर्ण ज्ञानों में भी उत्तम परम ज्ञान को फिर कहूँगा, जिसे जानकर सब मुनिजन इस संसार से परम संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं।।१।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण ने सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक परमसत्य भगवान् के तत्त्व का विशद वर्णन किया है। अब वे स्वयं अर्जुन को आगे प्रवुद्ध करते हैं। यदि इस

अध्याय को ज्ञान की पद्धति से धारण किया जाय तो निष्कर्ष रूप में भक्तियोग का बोध हो जायगा। तेरहवें अध्याय में स्पष्ट किया है कि विनम्रभाव के द्वारा ज्ञान को विकसित करने मे भवबन्धन से मुक्ति हो सकती है। यह भी वर्णन हुआ है कि जीव इस संसार में गुणों के संग के कारण बद्ध है। अब इस अध्याय में, श्रीभगवान् बताते हैं कि गुण वस्तुतः क्या हैं ? किस प्रकार कार्य करते हैं ? कैसे बन्धनकारी होते हैं ? और इनसे मुक्ति का क्या साधन है ? श्रीभगवान् ने इस अध्याय में वर्णित ज्ञान को इससे पूर्व के अध्यायों में कहे ज्ञान से उत्तम कहा है। जिस ज्ञान को हृदयंगम करके मुनिजन संसिद्धि लाभ कर वैकुण्ठ-जगत् में प्रविष्ट हो जाते हैं, श्रीभगवान् उसी ज्ञान को अधिक स्पष्टरूप से कह रहे हैं। यह ज्ञान अब तक वर्णित ज्ञान की अन्यान्य पद्धतियों से कहीं श्रेष्ठ है; इसे जानकर कितने ही मनुष्य कृतार्थ हो चुके हैं। अतः आशा है कि जो इस चौदहवें अध्याय को आत्मसात् कर लेगा, वह परम संसिद्धि को प्राप्त हो जायगा।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

इदम्=इस; **ज्ञानम्**=ज्ञान की; **उपाश्रित्य**=शरण लेकर; **मम**=मेरे; **साधर्म्यम्**=स्वभाव को; **आगताः**=प्राप्त हुए; **सर्गे अपि**=सृष्टि के आदि में भी; **न उपजायन्ते** =उत्पन्न नहीं होते; **प्रलये**=प्रलय होने पर भी; **न व्यथन्ति**=व्यथित नहीं होते; **च**=तथा।

अनुवाद

इस ज्ञान के आश्रित पुरुष मेरी दिव्य प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं। जो इस प्रकार निष्ठ हैं, वे सृष्टिकाल में जन्म नहीं लेते और न प्रलय के समय ही व्याकुल होते हैं।।२।।

तात्पर्य

जिसे पूर्ण ज्ञान हो जाता है, वह पुरुष चिद्गुणों में श्रीभगवान् की समानता प्राप्त कर लेता है और परिणाम में जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है। परन्तु उसके जीवस्वरूप का नाश नहीं होता। वैदिक शास्त्रों से ज्ञात होता है कि वैकुण्ठ-जगत् में प्रविष्ट जीवन्मुक्त महापुरुष भी प्रेममयी भगवत्सेवा के परायण हुए नित्य-निरन्तर भगवच्चरणारविन्द के दर्शनों के लिए उत्कण्ठित रहते हैं। अतएव मुक्तावस्था में भी भक्तों के निज स्वरूप का नाश नहीं होता।

प्राकृत-जगत् में सामान्यतः जो भी ज्ञान होता है, वह सब माया के गुणों द्वारा दूषित है। जो ज्ञान इस प्रकार गुणों द्वारा दूषित नहीं है, वही परम ज्ञान है। उस परम ज्ञान से युक्त होते ही श्रीभगवान् से समकक्षता हो जाती है। जिन्हें वैकुण्ठ-जगत् का कोई ज्ञान नहीं है, वे ही यह धारणा रखते हैं कि पार्थिक देहाकार की प्राकृत क्रियाओं से छूटने पर जीव का आत्मस्वरूप सविशेषता से रहित निराकार हो जाता है। वास्तव में प्राकृत-जगत् की भाँति वैकुण्ठ-जगत् भी सविशेष है। जो यह नहीं जानते, वे समझते

हैं कि वैकुण्ठ-जगत् में सविशेषता नहीं हो सकती, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। वस्तुस्थिति यह है कि परव्योम में अप्राकृत देह मिलती है। वहाँ दिव्य क्रियाएँ भी होती हैं और इस दिव्य अवस्था को ही भक्तिमय जीवन कहा जाता है। वहाँ का परिमण्डल परम विशुद्ध है तथा चिद्गुणों की दृष्टि से जीव और परमेश्वर में वहाँ समानता है। ऐसे ज्ञान की उपलब्धि के लिए सब प्रकार के दैवी गुणों का विकास करना होगा। इस प्रकार के दैवी गुणों वाला पुरुष न तो प्राकृत-जगत् के सृजन से और न संहार से ही प्रभावित होता है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

मम=मेरी; **योनिः**=गर्भाधान का स्थान है; **महत् ब्रह्म**=महद्ब्रह्म नामक प्रकृति; **तस्मिन्**=उसमें; **गर्भम्**=चेतन जीवपुंज को; **दधामि**=स्थापित करता हूँ; **अहम्**=मैं; **सम्भवः**=उत्पत्ति; **सर्वभूतानाम्**=ब्रह्मा आदि सब जीवों की; **ततः**=उस प्रकृति और चेतन के संयोग से; **भवति**=होती है; **भारत**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन ! मेरी महद्ब्रह्म नामक प्रकृति सब प्राणियों की योनि है और मैं उसमें चेतन रूप जीवों का गर्भाधान करता हूँ। इस जड़-चेतन के संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है।।३।।

तात्पर्य

यह संसार किस कारण से है, इसका यहाँ वर्णन है। संसार में जो कुछ सृष्टि होती है, उसमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, अर्थात् जड़ और चेतन का संयोग कारण है और यह संयोग कराते हैं स्वयं श्रीभगवान्। महत्तत्त्व सम्पूर्ण प्रपंच का कारण है। इसमें सत्त्व आदि तीन गुण हैं; इसलिए इसे 'ब्रह्म' भी कहा जाता है। श्रीभगवान इसी महत्तत्त्व में गर्भाधान करते हैं; इससे असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व को वैदिक शास्त्रों में स्थान-स्थान पर 'ब्रह्म' कहा है, **तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते।** उस ब्रह्मरूप प्रकृति में परमपुरुष श्रीभगवान् जीवरूप बीजों का गर्भाधान करते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि चौबीस तत्त्व महद्ब्रह्म नामक प्रकृति के अन्तर्गत ही हैं। जैसा सातवें अध्याय में उल्लेख है, इससे परे एक अन्य जीवरूपा परा प्रकृति भी है। श्रीभगवान् के संकल्प से अपरा और परा प्रकृति का संयोग होता है; तत्पश्चात् सब प्राणियों की प्रकृति से उत्पत्ति होती है।

बिच्छु अपने अण्डे धान के ढेर में देता है, जिससे कभी-कभी यह समझ लिया जाता है कि उसका जन्म धान से हुआ है। परन्तु यथार्थ में, धान बिच्छु के जन्म का कारण नहीं है, उसकी माँ धान में अण्डे देती है। इसी प्रकार, प्रकृति जीवों के जन्म का कारण नहीं है। वास्तव में उनका बीज श्रीभगवान् देते हैं; प्रकृति से तो वे केवल उत्पन्न होते दिखते हैं। जीवमात्र को पूर्वकर्म के अनुसार प्रकृति द्वारा रचित देह मिलती

रजः=रजोगुण को; **रागात्मकम्**=काम से उत्पन्न; **विद्धि**=जान; **तृष्णा**=अप्राप्त विषय की अभिलाषा; **संग**=प्राप्त विषय में आसक्ति से; **समुद्भवम्**=उत्पन्न; **तत्**=वह; **निबध्नाति**=बाँधता है; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **कर्मसंगेन**=सकामकर्म की आसक्ति से; **देहिनम्**=बद्धजीव को।

अनुवाद

और हे अर्जुन! कामजनित रजोगुण को तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न जान। यह जीवात्मा को सकामकर्म की आसक्ति से बाँधता है।।७।।

तात्पर्य

रजोगुण का स्वरूप स्त्री और पुरुष में एक दूसरे के प्रति होने वाला आकर्षण है। स्त्री पुरुष में राग रखती और पुरुष का स्त्री में राग है—यही रजोगण है। इस रजोगुण की वृद्धि होने पर विषयतृष्णा जागृत होती है, जिससे रजोगुणी इन्द्रियतृप्ति के लिए उन्मत्त हो उठता है। इन्द्रियों की तृप्ति के लिए वह समाज अथवा राष्ट्र में सम्मान तथा सुख, परिवार, पुत्र, कलत्र, गृह आदि विषयों की स्पृहा करता है। ये सव रजोगुण के कार्य हैं। जव तक इन पदार्थों की तृष्णा वनी रहती है, तव तक कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इसीलिए यहाँ स्पष्ट कहा है कि वह अपने कर्मों के फल में आसक्ति के कारण वँघ जाता है। स्त्री, पुत्र और समाज की प्रसन्नता के लिए और अपनी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण वनाए रखने के लिए कर्म करना आवश्यक है। अतः प्रायः सारा विश्व ही रजोगुण के वशीभूत हो रहा है। आधुनिक सभ्यता ने वस्तुतः केवल रजोगुण में उन्नति की है। इसके विपरीत, पूर्व में सात्त्विक अवस्था उन्नत समझी जाती थी। जव सत्त्वगुणी मनुष्य की भी मुक्ति नहीं हो सकती, फिर रजोगुण में वँधे मनुष्यों के लिए तो कहना ही क्या है!

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।८।।

तमः=तमोगुण को; **तु**=किन्तु; **अज्ञानजम्**=अज्ञान से उत्पन्न; **विद्धि**=जान; **मोहनम्**=मोहने वाले; **सर्वदेहिनाम्**=सव देहाभिमानियों को; **प्रमाद**=अनवधानता; **आलस्य**=उद्यमहीनता; **निद्राभिः**=चित्त के अवसाद के द्वारा; **तत्**=वह; **निबध्नाति**=वाँधता है; **भारत**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन! सव जीवों को मोहने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न जान। यह देहाभिमानी जीव को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा वाँधता है।।८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में प्रयुक्त **तु** शब्द का तात्पर्य है कि देहाभिमानी जीव में तमोगुण विशेष रूप से पाया जाता है। यह तमोगुण सत्त्वगुण के ठीक विपरीत है। सत्त्वगुण में ज्ञान के विकास से तत्त्ववोध होता है. जवकि तमोगुण इसके विल्कुल विपरीत कार्य

करता है। तमोगुण से मोहित जीव प्रमत्त हो उठता है; जो प्रमत्त है, उसे कभी वस्तुज्ञान नहीं हो सकता। उत्थान के स्थान पर उसका पतन ही होता है। वैदिक शास्त्रों में तमोगुणी जीव का लक्षण यह बताया गया है कि उसे तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, कोई भी व्यक्ति देख सकता है कि उसके पितामह की मृत्यु हुई है और इसी भाँति एक दिन वह भी काल का ग्रास बनेगा, क्योंकि मनुष्यमात्र मरणशील है। जिन बालकों को वह जन्म देता है, वे भी मरेंगे। मृत्यु अवश्यम्भावी है। फिर भी, लोग सनातन आत्मा की उपेक्षा करते हुए धनोपार्जन के लिए दिन-रात अथक परिश्रम में रत हैं। यह प्रमाद है। प्रमतता में वे पारमार्थिक ज्ञान के विकास से सर्वथा विमुख हो रहे हैं। इस कोटि के मनुष्य अत्यन्त आलसी होते हैं। यदि उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान के लिए सत्संग में निमन्त्रित किया जाय तो वे उसमें रुचि नहीं लेते। वे तो रजोगुणी के समान क्रियाशील भी नहीं हैं। तमोगुणी व्यक्ति का एक लक्षण यह है कि वह आवश्यकता से अधिक सोता है। छः घण्टे की निद्रा स्वस्थ मनुष्य के लिए पर्याप्त है; परन्तु तमोगुणी मनुष्य दिन में कम से कम दस-बारह घण्टे सोता है। ऐसा मनुष्य सदा विषादमग्न दिखाई देता है। मादक द्रव्यों और निद्रा का तो मानो उसे व्यसन सा होता है। ये सब तमोगुण में बँधे मनुष्य के लक्षण हैं।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।।९।।

सत्त्वम्=सत्त्वगुण; **सुखे**=सुख में; **संजयति**=आसक्त करता है; **रजः**=रजोगुण; **कर्मणि**=कर्म में; **भारत**=हे अर्जुन; **ज्ञानम्**=ज्ञान को; **आवृत्य**=ढक कर; **तु**=किन्तु; **तमः**=तमोगुण; **प्रमादे**=प्रमाद में; **संजयति**=बाँधता है; **उत**=ऐसा कहा गया है।

अनुवाद

सत्त्वगुण सुख की आसक्ति से बाँधता है, रजोगुण सकाम कर्मों से बाँधता और तमोगुण प्रमाद से बाँधता है।।९।।

तात्पर्य

सत्त्वगुण में स्थित पुरुष दार्शनिक, वैज्ञानिक अथवा शिक्षावित् जैसे अपने विशिष्ट कार्य अथवा बौद्धिक वृत्ति में सन्तोष करता है। रजोगुणी सकाम कर्म में आसक्त रहता है। वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार अधिक से अधिक धन कमा कर उसे सत्कार्यों में लगाता है। कभी-कभी वह औषधालय भी खोलता है तथा दातव्य संस्थाओं को दान देता है। ये सब लक्षण रजोगुणी के हैं। तमोगुण तो ज्ञान को ढक ही देता है। अतः तमोगुणी जो भी कर्म करे, उससे न तो उसका शुभ होता है और न किसी दूसरे का ही भला होता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

रजः=रजोगुण; **तमः**=तमोगुण को; **च**=भी; **अभिभूय**=दबाकर; **सत्त्वम्**

=सत्त्वगुण; **भवति**=(प्रधान) हो जाता है; **भारत**=हे अर्जुन; **रजः**=रजोगुण; **सत्त्वम्**=सत्त्वगुण को (दबाकर); **तमः**=तमोगुण; **च**=भी; **एव**=उसी प्रकार; **तमः**=तमोगुण (और); **सत्त्वम्**=सत्त्वगुण को (दबाकर); **रजः**=रजोगुण (बढ़ता है); **तथा**=उसी प्रकार।

अनुवाद

हे अर्जुन! कभी सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण प्रधान हो जाता है, कभी सत्त्वगुण रजोगुण को परास्त कर देता है और वैसे ही कभी तमोगुण भी सत्त्वगुण और रजोगुण से अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार इन तीनों गुणों में प्रभुत्व के लिए निरन्तर स्पर्धा बनी रहती है।।१०।।

तात्पर्य

जब रजोगुण प्रधान हो, तो सत्त्वगुण और तमोगुण परास्त हो जाते हैं। सत्त्वगुण का प्राबल्य होने पर रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं। इसी प्रकार तमोगुण की अभिवृद्धि से सत्त्वगुण और रजोगुण परास्त हो जाते हैं। तीनों गुणों में यह पारस्परिक होड़ निरन्तर चलती रहती है। अतएव जो कृष्णभावनाभावित होने का सच्चा अभिलाषी है, उसे इन तीनों ही गुणों का उल्लंघन करना होगा। मनुष्य में जिस भी गुण की प्रधानता हो, वह उसके व्यवहार, कार्य-कलाप तथा आहार आदि में झलकता है। इस तत्त्व का वर्णन अनुवर्ती अध्यायों में किया जायगा। परन्तु यदि कोई चाहे तो अभ्यास के द्वारा सत्त्वगुण को विकसित करके रजोगुण तथा तमोगुण को परास्त कर सकता है। इसी प्रकार रजोगुण को बढ़ाकर सत्त्वगुण और तमोगुण को अभिभूत किया जा सकता है, अथवा तमोगुण को अभिवृद्ध करके सत्त्व और रज को दबाया जा सकता है। मनुष्य में माया के ये तीनों गुण हैं; पर यदि वह दृढ़ निश्चय सहित प्रयत्न करे तो केवल सत्त्वगुण में स्थित हो सकता है—और फिर इस सत्त्वगुण का भी उल्लंघन करने पर शुद्धसत्त्व अथवा 'वसुदेव' नामक उस अवस्था में पहुँच सकता है, जिसमें भगवत्-तत्त्व का बोध होता है। किसी की क्रियाओं से यह जाना जा सकता है कि वह माया के किस गुण में स्थित है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

सर्वद्वारेषु=सब इन्द्रियरूप द्वारों में; **देहे अस्मिन्**=इस देह में; **प्रकाशः**=चेतना की; **उपजायते**=अभिवृद्धि होती है; **ज्ञानम्**=बोधशक्ति की (भी); **यदा**=जिस काल में; **तदा**=उस समय; **विद्यात्**=जानना चाहिए; **विवृद्धम्**=बढ़ा हुआ है; **सत्त्वम्**=सत्त्वगुण; **इति**=ऐसा; **उत**=कहा है।

अनुवाद

सत्त्वगुण के बढ़ने पर इस देह के सब इन्द्रियरूप द्वार ज्ञान से प्रकाशित हो उठते हैं।।११।।

तात्पर्य

दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासाछिद्र, मुख, उपस्थ तथा गुदा—देह के ये नौ द्वार हैं।

जिस समय इन सब द्वारों में प्रकाश छा जाय, उस समय समझना चाहिये कि सत्त्वगुण का विकास हुआ है। सत्त्वगुणी यथार्थ श्रवण करता है, यथार्थ देखता है और यथार्थ चखता है। बाहर-भीतर, दोनों ही प्रकार से वह शुद्ध हो जाता है। उसके प्रत्येक इन्द्रियरूप द्वार में सुख के लक्षण प्रकट होते हैं। यही सात्त्विकी अवस्था है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

लोभः=लोभ; **प्रवृत्तिः**=नाना प्रयत्न करना; **आरम्भः**=उद्यम; **कर्मणाम्**=कर्मों का; **अशमः**=मन की चंचलता; **स्पृहा**=विषय भोगों की वासना; **रजसि**=रजोगुण में; **एतानि**=ये सब लक्षण; **जायन्ते**=प्रकट होते हैं; **विवृद्धे**=बढ़ने से; **भरतर्षभ**=हे अर्जुन।

अनुवाद

और हे अर्जुन! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति अर्थात् लौकिक प्रयत्न, नाना कर्मों का उद्यम, मन की चंचलता तथा विषय-वासना—ये सब लक्षण प्रकट होते हैं।।१२।।

तात्पर्य

रजोगुणी अपनी प्राप्त स्थिति से कभी सन्तुष्ट नहीं होता; संसार में सदा अभ्युत्थान करते रहना चाहता है। यदि उसे घर का निर्माण करना हो तो वह महल सा बनाने के लिए यथाशक्ति पूरा प्रयत्न करता है, मानो वह सदा के लिए उसमें निवास कर सकेगा। उसकी विषय-वासना भी बहुत अधिक बढ़ जाती है। इन्द्रियतृप्ति की कोई अवधि-परिधि नहीं होती; अपने घर-परिवार में बने रह कर विषयभोग के द्वारा वह सदा इन्द्रियतृप्ति ही करते रहना चाहता है। इसका अन्त कभी नहीं आता। ये लक्षण रजोगुण के द्योतक हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

अप्रकाशः=अन्धकार (विवेक का अभाव); **अप्रवृत्तिः**=चेष्टामात्र का त्याग (निष्क्रियता); **च**=तथा; **प्रमादः**=प्रमाद; **मोहः**=अज्ञान; **एव**=निस्सन्देह; **च**=भी; **तमसि**=तमोगुण के; **एतानि**=ये सब; **जायन्ते**=अभिव्यक्त होते हैं; **विवृद्धे**=बढ़ने पर; **कुरुनन्दन**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे कुरुनन्दन! तमोगुण का विकास होने पर प्रमाद, मोह, क्रियाहीनता और अन्धकार की अभिव्यक्ति होती है।।१३।।

तात्पर्य

जहाँ प्रकाश नहीं है, वहाँ ज्ञान का अभाव है। तमोगुणी शास्त्र-विधि के अनुसार कर्म नहीं करता, वरन् स्वेच्छा से व्यर्थ कर्म ही करना चाहता है। अथवा कर्म

करने की सामर्थ्य होते भी वह कुछ चेष्टा नहीं करता। इसका नाम मोह है। चेतना से युक्त होते हुए भी वह जीवन में अकर्मण्य रहता है। ये सब तमोगुणी मनुष्य के लक्षण हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।१४।।

यदा=जब; **सत्त्वे**=सत्त्वगुण की; **प्रवृद्धे**=वृद्धि में; **तु**=तो; **प्रलयम्**=मृत्यु को; **याति**=प्राप्त होता है; **देहभृत्**=देहबद्ध जीव; **तदा**=तब; **उत्तमविदाम्**=महर्षियों के; **लोकान्**=लोकों को; **अमलान्**=शुद्ध; **प्रतिपद्यते**=प्राप्त करता है।

अनुवाद

सत्त्वगुण की वृद्धि के काल में मरने वाला पुण्यात्माओं के निर्मल उच्च लोकों को प्राप्त होता है।।१४।।

तात्पर्य

सत्त्वगुणी पुरुष ब्रह्म, जन, आदि उच्च लोकों में पहुँच कर वहाँ दिव्य भोगों को भोगता है। **अमलान्** शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है कि वे लोक रजोगुण और तमोगुण से मुक्त हैं। प्राकृत-जगत् में अनेक अशुद्धियाँ हैं; सत्त्वगुण ही यहाँ का सबसे शुद्ध अस्तित्व है। नाना प्रकार के जीवों के लिए भिन्न-भिन्न लोक हैं। इनमें से जो सत्त्वगुण में मरते हैं, उन्हें महर्षियों और भक्तों के उच्च लोकों की प्राप्ति होती है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

रजसि=रजोगुण में; **प्रलयम्**=मृत्यु को; **गत्वा**=प्राप्त हुआ; **कर्मसंगिषु**=कर्मों में आसक्त मनुष्यों में; **जायते**=जन्म लेता है; **तथा**=और; **प्रलीनः**=मरा हुआ; **तमसि**=तमोगुण की प्रधानता में; **मूढयोनिषु**=पशु आदि योनियों में; **जायते**=उत्पन्न होता है।

अनुवाद

रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ प्राणी कर्मों में आसक्ति वाले मनुष्यों में जन्म लेता है और तमोगुण में मरा हुआ पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है।।१५।।

तात्पर्य

कुछ की धारणा है कि एक बार मनुष्ययोनि को प्राप्त होने के बाद जीवात्मा का फिर कभी अधःपतन नहीं होता। यह सत्य नहीं है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि अन्तकाल में यदि किसी में तमोगुण की प्रधानता हो जाय, तो उसे अधम पशुयोनि की प्राप्ति होती है। ऐसे में मनुष्य देह की फिर प्राप्ति के लिए उस स्थिति से क्रमशः अपना उत्थान करना होगा। अतएव जो मनुष्ययोनि के माहात्म्य को यथार्थ रूप से

जानते हैं, उन्हें केवल सत्त्वगुण का विकास करते हुए सत्संग द्वारा इन सभी गुणों से छूट कर कृष्णभावनाभावित हो जाना चाहिये। मनुष्यजीवन का यही लक्ष्य है। अन्यथा इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि फिर इस मनुष्ययोनि की ही प्राप्ति हो।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

कर्मणः=कर्म का; **सुकृतस्य**=सात्त्विक; **आहुः**=कहा है; **सात्त्विकम्**=सात्त्विक; **निर्मलम्**=शुद्ध; **फलम्**=परिणाम; **रजसः**=रजोगुणी कर्म का; **तु**=तो; **फलम्**=फल; **दुःखम्**=दुःख है; **अज्ञानम्**=अनर्थ; **तमसः**=तमोगुण का; **फलम्**=परिणाम होता है।

अनुवाद

सात्त्विक कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है; राजस कर्म का फल दुःख है और तामस कर्म से अज्ञान की प्राप्ति होती है।।१६।।

तात्पर्य

सात्त्विक पुण्यकर्म शुद्ध करते हैं। इसलिए सब प्रकार के मोह से मुक्त महर्षिजन सदा आनन्दमय रहते हैं। राजस कर्मों से परिणाम में दुःख ही दुःख होता है। विषयसुख के लिए जो भी कर्म किया जायगा, उसका विफल होना निश्चित है। उदाहरण के लिए, यदि किसी को महल की कामना हो, तो उसके निर्माण में अथक कष्ट उठाना पड़ेगा। वित्तीय अधिकारी को धनोपार्जन का कष्ट सहना पड़ता है और श्रमिक भी कठोर परिश्रम करते हैं। इस प्रकार सभी को दुःख मिलता है। इसीलिए भगवद्गीता का उपदेश है कि सब प्रकार की रजोगुणी क्रियाओं में निश्चित रूप से बड़ा दुःख होता है। यह सब करने से इस तुच्छ मानसिक सुख की अनुभूति तो हो सकती है कि "यह घर अथवा धन मेरा है," परन्तु यह सच्चा सुख नहीं है। जो तमोगुणी कर्म करता है, उसमें ज्ञान का बिल्कुल अभाव रहता है। अतः उसके सब कर्म वर्तमान में तो दुःखदायक हैं ही; इसके अतिरिक्त, अगले जन्म में वह मूढ़ पशुयोनि में गिरता है। यद्यपि माया-मुग्ध पशु यह नहीं समझ पाते, परन्तु वास्तव में पशु-जीवन सर्वथा दुःखमय है। पशुवध करना भी तमोगुण का कार्य है। वधिक नहीं जानता कि वह जिस पशु को मार रहा है, जन्मान्तर में वही उसके वध के योग्य देह को प्राप्त करेगा। यह प्रकृति का नियम है। मानवसमाज में भी ऐसा प्रचलन है—हत्यारे को प्राणदण्ड दिया जाता है। अज्ञानवश लोग यह नहीं समझ पाते कि इस सम्पूर्ण सृष्टिरूप राज्य पर परमेश्वर का शासन है। जीवमात्र उनका पुत्र है; अतः किसी कीट का भी मारा जाना उनके लिए असह्य है। इसलिए वधिक को दण्ड की प्राप्ति अवश्य होगी। यह न जानकर रसना के स्वाद के लिए पशुवध करना गाढ़ अज्ञान का चिह्न है। वास्तव में पशुवध करना मनुष्य के लिए सब प्रकार से अनावश्यक है, क्योंकि श्रीभगवान् ने खाने के लिए अनेक सात्त्विक पदार्थ रचे हैं। इस पर भी, जो माँस का आहार करता है, उस तमोगुणी का भविष्य अति अन्धकारमय हो जाता है।

नाना प्रकार के पशुओं में गो का वध सब से अधम है। गाय एक ऐसा पशु है जिसके दुग्धामृत से हमें सब प्रकार का सुख मिलता है। अतएव गोवध करना प्रगाढ़ अज्ञान का कार्य है। वैदिक वाङ्मय में **गोभिः प्रीणित मत्सरम्**—आदि वाक्यों से संकेत है कि जो मनुष्य दुग्ध से पोषित होकर गाय का वध करना चाहता है, वह घोर अज्ञान में है। वैदिक शास्त्रों में प्रार्थना है:

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मण हिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः।।

"प्रभो! आप ब्राह्मण और गोवंश तथा सम्पूर्ण मानवता और जगत् के सुहृद् हैं।" इस श्लोक में गो-ब्राह्मणों के संरक्षण का विशेष रूप से उल्लेख है। ब्राह्मण आध्यात्मिक-शिक्षा के प्रतीक हैं और गोधन परम पौष्टिक आहार प्रदान करता है। अतः इन दोनों का सब प्रकार से संरक्षण करने से सभ्यता-संस्कृति का सच्चा उत्थान हो सकता है। आधुनिक मानवसमाज में भागवतधर्म की शिक्षा उपेक्षित है और गोवध को प्रोत्साहित किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि भ्रान्त दिशा में अग्रसर होती हुई मानवता अपने विनाश की ओर बढ़ रही है। जो सभ्यता नागरिकों को अगले जन्म में पशुयोनि की ओर प्रेरित करती हो, वह निश्चित रूप से मानवीय सभ्यता नहीं कही जा सकती। आज की तथाकथित मानवीय सभ्यता रजोगुण और तमोगुण के द्वारा पूर्ण रूप से भटक चुकी है। बड़ा भयंकर युग आ गया है। अतः सब राष्ट्र सावधानी-सहित कृष्णभावना की सुगम पद्धति को अंगीकार करें, जिससे महाविनाश के परम भय से मानवता की रक्षा हो सके।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

सत्त्वात्=सत्त्वगुण से; **संजायते**=उत्पन्न होता है; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **रजसः**=रजोगुण से; **लोभः**=तृष्णा; **एव**=निस्सन्देह; **च**=तथा; **प्रमाद**=प्रमाद; **मोहौ**=मोह; **तमसः**=तमोगुण से; **भवतः**=उत्पन्न होते हैं; **अज्ञानम्**=अज्ञान; **एव**=भी; **च**=तथा।

अनुवाद

सत्त्वगुण से सच्चा ज्ञान बढ़ता है, रजोगुण से लोभ होता है और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान की उत्पत्ति होती है।।१७।।

तात्पर्य

वर्तमान सभ्यता जीवों के लिए सुखावह नहीं है; इसलिए सभी को चाहिए कि कृष्णभावना को अंगीकार करें। कृष्णभावना के द्वारा समाज सत्त्वगुणी बन जायगा और सत्त्वगुण का विकास होने पर जनता यथार्थ ज्ञान से युक्त होगी। तमोगुण में लोग प्रायः पशु-तुल्य हो जाते हैं। उनमें निर्मल दृष्टि का अभाव रहता है। उदाहरण के लिए, वे यह नहीं देखते कि जन्मान्तर में वे उन्हीं पशुओं के द्वारा मारे जायेंगे, जिनका वे अब वध कर रहे हैं। यथार्थ ज्ञान की शिक्षा के अभाव में वे उच्छृंखल हो गए हैं। इस उच्छृंखलता को दूर करने के लिए जनसाधारण को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए,

जिससे उनमें सत्त्वगुण का विकास हो। वस्तुतः सात्त्विकी शिक्षा मिलने पर वे धीर और यथार्थ ज्ञानी हो जायेंगे और सर्वत्र सुख-समृद्धि छा जायगी। यदि जनता का अल्प अंश भी कृष्णभावनाभावित होकर सत्त्वगुण में स्थित हो जाय, तो सम्पूर्ण विश्व में सुख-समृद्धि हो सकती है। अन्यथा, यदि संसार रजोगुण और तमोगुण में ही लगा रहा, तो सुख-शान्ति दुर्लभ रहेगी। रजोगुण के बढ़ने पर लोगों में विषयतृष्णा की कोई सीमा नहीं रहती। पर्याप्त धन और इन्द्रियतृप्ति के साधनों के रहते भी न सुख मिलता है और न मन की शान्ति ही मिलती है। वास्तव में रजोगुण में सुख अथवा शान्ति की उपलब्धि कभी नहीं हो सकती। धन से सुख-शान्ति नहीं होती, उसके लिए आवश्यक है कि कृष्णभावना के अभ्यास से सत्त्वगुण में स्थित हो जाय। रजोगुणी मानसिक रूप से ही अशान्त नहीं रहता, उसका कार्य-व्यवसाय भी अत्यन्त कष्टमय होता है। जीवन-स्तर को बनाए रखने के लिए नाना प्रकार की योजनाओं और युक्तियों का चिन्तन करना पड़ता है। यह सब दुःखमय है। तमोगुण में तो लोग प्रमत्त ही हो उठते हैं। परिस्थितिवश विषादमग्न होने के कारण वे मादक द्रव्यों का आश्रय लेते हैं और इस प्रकार उनका अज्ञान में ही उत्तरोत्तर अधःपतन होता जाता है। उनका भविष्य बड़ा अंधकारमय है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

ऊर्ध्वम्=उच्च लोकों को; **गच्छन्ति**=जाते हैं; **सत्त्वस्थाः**=सत्त्वगुणी पुरुष; **मध्ये**=मध्य अर्थात् मनुष्यलोक में ही; **तिष्ठन्ति**=रहते हैं; **राजसाः**=रजोगुणी; **जघन्य**=अधम; **गुण**=गुण; **वृत्तिस्थाः**=कार्य में स्थित; **अधः**=अधोगति को; **गच्छन्ति** =जाते हैं; **तामसाः**=तमोगुणी प्राणी।

अनुवाद

सत्त्वगुणी पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं, रजोगुणी पृथ्वी (मनुष्य लोक) में ही रहते हैं और तमोगुणी प्राणी नरकों में गिरते हैं।।१८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में माया के अलग-अलग तीनों गुणों में किये गये भिन्नभिन्न कर्मों के फल का अधिक स्पष्ट वर्णन है। एक उच्च स्वर्गीय लोकों का वर्ग है, जहाँ सब निवासी उच्चवृत्ति में निष्ठ हैं। सत्त्वगुण के विकास के अनुसार जीव को इस वर्ग के नाना लोकों की प्राप्ति होती है। इन लोकों में सबसे उच्च सत्यलोक अथवा ब्रह्मलोक है, जहाँ इस ब्रह्माण्ड के प्रधान जीव, ब्रह्माजी का निवास है। आठवें अध्याय में वर्णन हो चुका है कि ब्रह्मलोक की अद्‌भुत जीवन-स्थिति का हम अनुमान तक नहीं लगा सकते। परन्तु सात्त्विकी उत्तम जीवन-वृत्ति से इसकी प्राप्ति हो सकती है।

रजोगुण पुण्य और पाप से मिश्रित रहता है। यह सत्त्वगुण और तमोगुण के बीच है। मनुष्य निरन्तर बस एक गुण में नहीं रहता। यदि वह सदा रजोगुण में स्थित

रहे, तो भी राजा अथवा धनवान् की योनि में इस पृथ्वी पर ही रहेगा। परन्तु गुणों के मिश्रणों के कारण नीचे पतन भी हो सकता है। इस लोक के रजोगुणी-तमोगुणी मनुष्य यन्त्र के माध्यम से बलात् किसी उच्च लोक में नहीं पहुँच सकते। कभी-कभी रजोगुणी जन्मान्तर में प्रमत्त भी हो जाता है।

तमोगुण माया का सबसे अधम गुण है; अतः उसे **जघन्य** कहा गया है। यही कारण है कि तमोगुण की वृद्धि का परम भयंकर परिणाम होता है। मनुष्य योनि से नीचे पशु-पक्षी, सरीसृप, वृक्ष आदि अस्सी लाख योनियाँ हैं। तमोगुण के अनुपात से मनुष्य इन अधम योनियों में गिरता है। **तामसाः** शब्द का भाव यह है कि किसी उच्च गुण में अपने को न उठाकर जो निरन्तर तमोगुण में बने रहते हैं, उनका भविष्य परम अन्धकारमय है।

तमोगुणी और रजोगुणी मनुष्य चाहें तो कृष्णभावना की पद्धति से सत्त्वगुण के स्तर पर आरूढ़ हो सकते हैं। जो इस सुयोग का लाभ नहीं उठाते, वे निश्चित रूप से अधम गुण-वृत्ति में ही रहेंगे।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

न=नहीं; **अन्यम्**=अन्य किसी को; **गुणेभ्यः**=तीनों गुणों के अतिरिक्त; **कर्तारम्**=कर्ता; **यदा**=जिस काल में; **द्रष्टा अनुपश्यति**=द्रष्टा भलीभाँति देखता है; **गुणेभ्यः च**=और तीनों गुणों से; **परम्**=अति परे; **वेत्ति**=जानता है; **मत् भावम्**=मेरी परा प्रकृति को; **सः**=वह; **अधिगच्छति**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

जिस काल में तू सब कर्मों में तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी दूसरे को कर्ता नहीं देखेगा और परमेश्वर को इन गुणों से परे देखेगा, उस समय मेरी परा प्रकृति को प्राप्त होगा।।१९।।

तात्पर्य

यथार्थ महात्माओं से त्रिगुणमय कर्मों के तत्त्व को जानकर भलीभाँति हृदयंगम कर लेने से इन सभी से मुक्त हुआ जा सकता है। सच्चे गुरु श्रीकृष्ण हैं और वे अर्जुन को यह आध्यात्मिक विद्या प्रदान कर रहे हैं। इस भाँति सब मनुष्य कृष्णभावनाभावित महांपुरुषों से त्रिगुणमय कर्मों के तत्त्व को ग्रहण करें। नहीं तो, जीवन दिग्भ्रान्त रहेगा। योग्य गुरु के सदुपदेश से जीवात्मा अपने आध्यात्मिक स्वरूप के, प्राकृत देह के तथा इन्द्रियों के तत्त्व को जान जाता है। वह यह भी जान जाता है कि माया में बँध कर वह किस प्रकार त्रिगुणों के आधीन हो गया है। इन गुणों की आधीनता में वह बिल्कुल असहाय है; किन्तु यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाने पर उस भगवत्परायण शुद्ध सत्त्व में फिर से निष्ठ हो सकता है, जो तीनों गुणों से परे है। वास्तव में जीव नाना कर्मों का कर्ता नहीं है। गुणमय देह में स्थित होने के कारण ही वह विवश होकर कर्तापन को प्राप्त हो गया है। पारमार्थिक आचार्य की

साहाय्य के विना स्वरूप-वोध नहीं हो सकता। सद्गुरु के सत्संग से अपने स्वरूप का दर्शन होता है, जिसे जानकर वह पूर्ण रूप से कृष्णभावना में परिनिष्ठित हो जाता है। कृष्णभावनाभावित पुरुष माया के गुणों के वश में नहीं रहता। सातवें अध्याय में कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण का शरणागत माया के कार्यों से मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञ पुरुष के लिए माया का प्रभाव क्रमशः समाप्त हो जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

गुणान्=गुणों से; **एतान्**=इन; **अतीत्य**=मुक्त होकर; **त्रीन्**=तीनों; **देही**=बद्धजीव; **देहसमुद्भवान्**=देह की उत्पत्ति के कारण; **जन्म**=जन्म; **मृत्यु**=मृत्यु; **जरा**=वृद्धावस्था के; **दुःखैः**=दुःखों से; **विमुक्तः**=मुक्त होकर; **अमृतम्**=अमृत का; **अश्नुते**=अनुभव करता है।

अनुवाद

देह की उत्पत्ति के कारणरूप तीनों गुणों का उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब दुःखों से मुक्त हुआ जीवात्मा इसी जीवन में अमृत को प्राप्त हो जाता है।।२०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में वर्णन है कि पूर्ण कृष्णभावनाभावित जीव देह में स्थित होने पर भी तीनों गुणों से परे शुद्धसत्त्व में निष्ठ रहता है। **देही** शब्द का अर्थ बद्धजीव है। तत्त्वज्ञान के प्रताप से प्राकृत देह में रहते भी जीव त्रिगुणमयी माया के प्रभाव से मुक्त हो सकता है। यह निश्चित है कि इस देह को त्यागने पर वह भगवद्धाम में प्रविष्ट हो जायगा; इसलिए उसके लिए आत्मसुख वर्तमान देह में भी सुलभ है। भाव यह है कि कृष्णभावनामय भक्तियोग इस प्रापंचिक बन्धन से मुक्ति का लक्षण है। अट्ठारहवें अध्याय में इस तत्त्व का विशद वर्णन किया जायगा। मायिक गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाने पर ही जीव का भक्तियोग में प्रवेश होता है।

अर्जुन उवाच।
कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।।२१।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **कैः**=किन; **लिंगैः**=लक्षणों से युक्त; **त्रीन्**=तीनों; **गुणान्**=गुणों से; **एतान्**=इन; **अतीतः**=मुक्त पुरुष; **भवति**=होता है; **प्रभो**=हे नाथ; **किम्**=किस प्रकार के; **आचारः**=आचरण वाला होता है; **कथम्**=किस साधन के द्वारा; **च**=तथा; **एतान्**=इन; **त्रीन्**=तीनों; **गुणान्**=गुणों से; **अतिवर्तते**=मुक्त हुआ जाता है।

अनुवाद

अर्जुन ने जिज्ञासा की, हे प्रभो! इन तीनों गुणों से अतीत पुरुष किन लक्षणों से जाना जाता है? उसका आचरण किस प्रकार का होता है? तथा किस साधन के द्वारा वह इन गुणों से मुक्ति-लाभ करता है।।२१।।

तात्पर्य

इस श्लोक में अर्जुन की जिज्ञासा बहुत समीचीन है। वह मायिक गुणों से मुक्त पुरुष के लक्षण जानना चाहता है। यह किस प्रकार जाना जा सकता है कि कोई त्रिगुणमयी माया के प्रभाव से छूट चुका है? उसकी प्रथम जिज्ञासा यही है। दूसरा प्रश्न मायामुक्त पुरुष के आचरण और कार्यकलाप के सम्बन्ध में है। वह स्वेच्छाचारी होता है या नियताचारी? अर्जुन उस साधन को भी जानना चाहता है, जिसके द्वारा गुणों का उल्लंघन करके शुद्ध सत्त्व में स्थित हुआ जा सकता है। यह अतिशय महत्त्वपूर्ण है। जब तक उस साधन का ज्ञान न हो, जिसके द्वारा शाश्वत् गुणातीत अवस्था की प्राप्ति हो सकती है, तब तक उस सम्बन्धी लक्षणों की अभिव्यक्ति कैसी हो सकती है? इस प्रकार अर्जुन के सभी प्रश्न सारगर्भित हैं। अगले श्लोकों में श्रीभगवान् ने इन सब का उत्तर दिया है।

श्रीभगवानुवाच।
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।।२२।।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते।।२३।।
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **प्रकाशम्**=(सत्त्वगुण के कार्य) प्रकाश; **च**=तथा; **प्रवृत्तिम् च**=और रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति; **मोहम्**=तमोगुण के कार्य मोह में; **एव च**=भी; **पाण्डव**=हे अर्जुन; **न द्वेष्टि**=द्वेष नहीं करता; **सम्प्रवृत्तानि**=प्राप्त होने पर; **न निवृत्तानि**=न निवृत्त होने पर; **कांक्षति**=अभिलाषा करता है; **उदासीनवत्**=उदासीन की भाँति; **आसीनः**=स्थित हुआ; **गुणैः**=गुणों के द्वारा; **यः**=जो; **न विचाल्यते**=विचलित नहीं होता; **गुणाः**=गुण; **वर्तन्ते**= कार्य कर रहे हैं; **इति एव**=इस प्रकार जान कर; **यः**=जो; **अवतिष्ठति**=स्थिर रहता है; **न इंगते**=विचलित नहीं होता; **समदुःखसुखः**=दुःख-सुख में समान; **स्वस्थः**= स्वरूप-निष्ठ; **समलोष्टाश्मकाञ्चनः**=मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान बुद्धि

वाला; **तुल्यप्रियाप्रियः**=तथा प्रिय और अप्रिय में समभाव वाला; **धीरः**=धैर्य से युक्त; **तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति**=अपनी निन्दा-स्तुति को समान समझता है; **मानापमानयोः तुल्यः**=मान और अपमान में समान दृष्टि वाला; **तुल्यः मित्र अरिपक्षयोः**= मित्र और शत्रु के पक्ष में भी समान; **सर्व**=सब; **आरम्भ**=उद्यमों का; **परित्यागी**= त्यागी है; **गुणातीतः**=माया के गुणों से अतीत (मुक्त); **सः**=वह; **उच्यते**= कहा जाता है।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, जो पुरुष प्रकाश, प्रवृत्ति अथवा मोह की प्राप्ति होने पर न तो उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त हो जाने पर उनकी इच्छा करता है; जो उदासीन की भाँति स्थित रहकर गुणों से विचलित नहीं होता तथा गुण ही कार्य कर रहे हैं, ऐसा जान कर स्थिर रहता है; जो सुख-दुःख को समान समझता है तथा मिट्टी, पत्थर और सोने को समान दृष्टि से देखता है; जो आत्म-स्वरूप में स्थित धीरपुरुष निन्दा-स्तुति, प्रिय-अप्रिय में समानभाव वाला है; जो मान-अपमान में सम है, मित्र और शत्रु से समान व्यवहार करता है तथा जिसने सब सकाम कर्मों का त्याग कर दिया है, वह गुणातीत कहा जाता है।।२२-२५।।

तात्पर्य

अर्जुन के तीनों प्रश्नों का भगवान् श्रीकृष्ण ने इन श्लोकों में क्रमशः उत्तर दिया है। सर्वप्रथम वे कहते हैं कि गुणातीत पुरुष न तो किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु की इच्छा ही करता है। प्राकृत देहबद्ध जीवात्मा जब तक इस प्राकृत-जगत् में है तब तक वह माया के किसी न किसी गुण के आधीन रहता है। देह-मुक्ति होने पर ही वह मायाबन्धन से बाहर आता है। इसलिए यह आवश्यक है कि जब तक वह देह में रहे, उदासीनवत् रहे। उसे भगवद्भक्ति के परायण हो जाना चाहिए, जिससे देहात्मबुद्धि अपने-आप दूर हो जायगी। जब तक देहात्मबुद्धि है, तब तक वह केवल इन्द्रियतृप्ति में लगा रहता है। परन्तु जैसे ही चेतना श्रीकृष्ण के उन्मुख होती है, इन्द्रियतृप्ति स्वतः समाप्त हो जाती है। आत्मा को इस देह की अथवा इसके आदेश को मानने की अपेक्षा नहीं है। प्राकृत देह के गुण कार्य करते हैं, पर आत्मज्ञानी इन सब क्रियाओं से असंग रहता है। उसकी असंगता का कारण यह है कि वह न तो देह को भोगने की इच्छा करता है और न उसे त्यागने की ही इच्छा करता है। इस प्रकार शुद्धसत्त्व में स्थित होने से भक्त अपने-आप मुक्त हो जाता है; त्रिगुणमयी माया के प्रभाव से मुक्ति के लिये उसे प्रयास नहीं करना पड़ता।

अगली जिज्ञासा गुणातीत पुरुष के आचरण के सम्बन्ध में है। विषयी मनुष्य ही देह को प्राप्त होने वाले तथाकथित मान-अपमान से प्रभावित हुआ करते हैं; गुणातीत पुरुष पर तो इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वह कृष्णभावना सम्बन्धी स्वधर्म के आचरण में तत्पर रहता है, दूसरों से मिलने वाले मान-अपमान की चिन्ता नहीं करता। कृष्णभावना विषयक स्वधर्म के अनुकूल सब वस्तुओं को वह स्वीकार करता है;

अन्यथा मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण आदि किसी लौकिक पदार्थ से उसे कोई प्रयोजन नहीं। जो मनुष्य कृष्णभावना के आचरण में उससे सहयोग करे, उसे वह अपना प्रिय मित्र मानता है; वैसे तो जो उससे शत्रुता करता है, उससे भी द्वेष नहीं करता। उसकी स्थिति समता में है; वह सब कुछ समभाव से देखता है, क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि संसार से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वह सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों से प्रभावित नहीं होता; वह जानता है कि ये सब उथल-पुथल और उत्पात तुच्छ और क्षणिक हैं। अपने लिए वह कोई कर्म नहीं करता; पर श्रीकृष्ण के लिए विना संकोच कुछ भी कर सकता है। इस प्रकार के आचरण से वास्तव में गुणातीत हुआ जा सकता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

माम्=मेरी; **च**=तथा; **यः**=जो; **अव्यभिचारेण**=अनन्य; **भक्तियोगेन**=भक्तियोग से; **सेवते**=सेवा करता है; **सः**=वह; **गुणान्**=गुणों को; **समतीत्य**=भलीभाँति उल्लंघन करके; **एतान्**=इन तीनों; **ब्रह्मभूयाय**=ब्रह्मभूत; **कल्पते**=हो जाता है।

अनुवाद

जो पूर्णरूप से मेरे अनन्य भक्तियोग के परायण है, किसी स्थिति में उससे गिरता नहीं, वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का उल्लंघन करके ब्रह्मभूत हो जाता है।।२६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में गुणातीत अवस्था की प्राप्ति के साधन सम्बन्धी अर्जुन के तीसरे प्रश्न का समाधान है। पूर्ववर्णन के अनुसार, सम्पूर्ण प्राकृत-जगत् त्रिगुणमयी माया की आधीनता में कार्य कर रहा है। मायिक गुणों की क्रियाओं से उद्विग्न होना योग्य नहीं; अपनी चेतना को ऐसे कार्यों में लगाने के स्थान पर कृष्णपरक कर्म में लगाना चाहिए। निरन्तर श्रीकृष्ण के लिए कर्म करने को ही 'भक्तियोग' कहा जाता है। इसमें श्रीकृष्ण ही नहीं आते; बल्कि उनके राम, नारायण, आदि अंशों की सेवा भी इसी कोटि में है। श्रीकृष्ण के वस्तुतः असंख्य रूप और अंश हैं। इनमें से किसी भी रूप अथवा अंश की सेवा में लगा मनुष्य गुणातीत हो जाता है। यह भी स्मरण योग्य है कि श्रीकृष्ण के सभी रूप पूर्णतः गुणातीत, सच्चिदानन्दविग्रह, सर्वशक्तिमान, सर्वसमर्थ एवं चिन्मय गुणों से युक्त हैं। अतएव जो मनुष्य श्रीकृष्ण अथवा उनके स्वांशों की सेवा में अटूट निष्ठा सहित संलग्न रहता है, वह माया के दुस्तर गुणों को भी सुगमतापूर्वक तर जाता है। सातवें अध्याय में यह पहले ही कहा जा चुका है। श्रीकृष्ण का शरणागत जीव तत्क्षण माया का उल्लंघन कर लेता है। कृष्णभावना अथवा भक्तियोग से युक्त होना चिद्गुणों में श्रीकृष्ण की समानता प्राप्त करना है। श्रीभगवान् कहते हैं कि उनका स्वभाव सच्चिदानन्दमय है। जीव श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं; इसलिए जैसे स्वर्ण के

कण स्वर्ण की खान के अंश हैं, वैसे ही जीव की स्वरूप-स्थिति चिद्गुणों में श्रीकृष्ण के तुल्य है। दोनों के स्वरूप का भेद शाश्वत् है ही, नहीं तो, भक्तियोग का प्रश्न नहीं बनता। भक्तियोग में भगवान्, भक्त और दोनों में होने वाली प्रेम-विनिमय की क्रिया का होना आवश्यक है। अस्तु, भगवान और जीव के अपने-अपने स्वरूप का होना अनिवार्य सिद्ध होता है; इसके बिना भक्तियोग नहीं बन सकता। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि सेवक जीव श्रीभगवान् के समान गुणातीत हो, क्योंकि इसके विना वह परमेश्वर की सेवा नहीं कर सकता। राजा का निजी सहायक बनने के लिए पर्याप्त योग्यता होनी चाहिए। इसी प्रकार भगवत्सेवा करने के लिए आवश्यक है कि सब प्राकृत दोषों से मुक्त, अर्थात् ब्रह्मभूत हो जाय। वैदिक शास्त्रों में कहा है—**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**। परब्रह्म की प्राप्ति ब्रह्मभूत हो जाने पर ही हो सकती है। इसका अर्थ चिद्गुणों में ब्रह्म के समान हो जाना है। परन्तु ब्रह्मभूत हो जाने पर भी जीव के शाश्वत् स्वरूप का नाश नहीं होता।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

ब्रह्मणः=निर्विशेष ब्रह्मज्योति का; **हि**=निःसन्देह; **प्रतिष्ठा**=आश्रय हूँ; **अहम्**=मैं; **अमृतस्य**=अमृत; **अव्ययस्य**=अविनाशी; **च**=तथा; **शाश्वतस्य**=सनातन; **च**=तथा; **धर्मस्य**=स्वरूप का; **सुखस्य**=सुख का; **ऐकान्तिकस्य**=परम; **च**=भी।

अनुवाद

परम सुखस्वरूप, अमृत, अविनाशी और सनातन निर्विशेष ब्रह्म का मैं ही आश्रय (आधार) हूँ।।२७।।

तात्पर्य

ब्रह्म स्वरूप से अमृत, अव्यय, नित्य और सुखमय है। यह ब्रह्म-तत्त्व परम सत्य की अनुभूति का प्रथम चरण है, परमात्मा तत्त्वज्ञान की द्वितीय श्रेणी है तथा श्रीभगवान् परम सत्य के अन्त हैं। इस प्रकार दोनों, निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा आदिपुरुष श्रीभगवान् के अन्तर्गत हैं। सातवें अध्याय में कहा है कि भौतिक प्रकृति श्रीभगवान् की अपरा (हेय) शक्ति का प्रकाश है। श्रीभगवान् इसी अपरा प्रकृति में जीवों का, जो परा प्रकृति के अंश हैं, गर्भाधान करते हैं। परा प्रकृति के इस संस्पर्श से जड़ अपरा प्रकृति क्रियान्वित हो उठती है। जब इस अपरा प्रकृति में बँधा जीव तत्त्वज्ञान का अनुशीलन करता है, तब उसका उत्थान होता है, जिससे वह शनैः-शनैः ब्रह्मभूत हो जाता है। परम सत्य के इस ब्रह्मस्तर की प्राप्ति स्वरूप-साक्षात्कार का प्रथम चरण ही है। इस अवस्था को प्राप्त ब्रह्मभूत पुरुष संसार से अतीत तो हो जाता है, किन्तु उसे ब्रह्मतत्त्व की वास्तव में पूर्ण अनुभूति नहीं हो पाती। यदि वह चाहे तो ब्रह्मभूत अवस्था में क्रमशः परमात्मा और भगवान् की अनुभूति तक उठ सकता है। वैदिक शास्त्रों मे इस प्रकार के बहुत से उदाहरण हैं। सनकादि चारों कुमार पूर्व में परम सत्य की निर्विशेष ब्रह्म धारणा में निष्ठ थे। बाद में, वे शनैः-शनैः भक्तियोग

में आरूढ़ हुए। जो इस ब्रह्म का उल्लंघन नहीं कर सकता, उसके पतन का भय बना रहता है। श्रीमद्भागवत में कथन है कि निर्विशेष ब्रह्म तक पहुँचा मनुष्य यदि आगे न बढ़े तो भगवत्-ज्ञान के अभाव में उसकी बुद्धि पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं हो पाती। अतएव ब्रह्मस्तर पर आरूढ़ हो जाने के बाद भी भगवद्भक्ति के अभाव में अधःपतन की पूरी सम्भावना है। वैदिक शास्त्रों में आया है, **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।** "भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् रसराज हैं। जो उन्हें जानता है, वह भी चिन्मय रसानन्द का आस्वादन करता है।" परमेश्वर छहों ऐश्वर्यों में पूर्ण हैं। इसलिए जब भक्त उनके उन्मुख होता है, तो इन सबका आदान-प्रदान हुआ करता है। राजा का सेवक प्रायः स्वामी की बराबरी प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार, शाश्वत् अमृतमय सुख तथा अविनाशी जीवन भक्तियोग के सहचर हैं। ब्रह्मानुभूति अथवा नित्यता अथवा अमृतत्व भक्तियोग में समाए रहते हैं। अतएव भक्तियोगी को यह सब पहले से ही प्राप्त है।

स्वरूप से ब्रह्मतत्त्व होने पर भी जीवात्मा प्राकृत-जगत् पर प्रभुत्व करना चाहता है और इसी कारण गिरता है। उसका स्वरूप माया के तीनों गुणों से परे है; फिर भी प्रकृति के संग से वह सत्त्व, रज और तम—प्रकृति के इन नाना गुणों में बँध जाता है। गुणों के संग में प्राकृत-जगत् पर प्रभुत्व की उसकी कामना बनी रहती है। परन्तु पूर्ण कृष्णभावना के साथ भक्तियोग में संलग्न होते ही वह तुरन्त गुणातीत हो जाता है और माया पर प्रभुत्व करने की उसकी अवैध इच्छा दूर हो जाती है। अतएव भक्तियोग की सिद्धि के लिए भक्तों के सत्संग में श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नवधा साधन भक्ति का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार के सत्संग और गुरुकृपा के प्रताप से क्रमशः प्रभुत्व-प्राप्ति की प्राकृत कामना के क्षीण होने पर वह अचल भाव से भगवद्भक्तिनिष्ठ हो जाता है। बाइसवें श्लोक से इस अन्तिम श्लोक तक इसी पद्धति का विधान है। भगवद्भक्ति की पद्धति अतिशय सरल और सुगम है। नित्य भगवत्सेवा करे, श्रीविग्रह को निवेदित नैवेद्य-प्रसाद का आहार करे, भगवच्चरणारविन्द में अर्पित पुष्पों की सुगन्ध को सूंघे, श्रीभगवान् के पावन लीलाधामों का दर्शन करे, भक्तों से उनकी प्रेममयी क्रीड़ाओं का श्रवण करे, **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का नित्य-निरन्तर कीर्तन करे तथा भगवान् और भक्तों की आविर्भाव-तिरोधान जयन्तियों पर उपवास करे। इस पद्धति का अनुसरण करने पर सम्पूर्ण जड़ कर्मों से पूर्ण विरक्ति हो जाती है। जो इस प्रकार ब्रह्मज्योति में स्थित हो जाता है, वह चिद्गुणों में श्रीभगवान् के समान है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

इति भक्तिवेदान्तभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः।।

अथ पंचदशोऽध्यायः

पुरुषोत्तमयोग

(परम पुरुष का योग)

श्रीभगवानुवाच।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **ऊर्ध्वमूलम्**=ऊपर की ओर मूल वाले; **अधः**=नीचे की ओर; **शाखम्**=शाखा वाले; **अश्वत्थम्**=पीपल के पेड़ को; **प्राहुः**=कहते हैं; **अव्ययम्**=नित्य; **छन्दांसि**=वैदिक मन्त्र; **यस्य**=जिसके; **पर्णानि**=पत्ते हैं; **यः**=जो; **तम्**=उसको; **वेद**=तत्त्व से जानता है; **सः**=वह; **वेदवित्**=वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, एक पीपल का पेड़ है जिसका मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचे की ओर हैं, तथा वैदिक मन्त्र जिसके पत्ते हैं। जो इस वृक्ष को तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।।१।।

तात्पर्य

भक्तियोग के माहात्म्य का श्रवण करने पर जिज्ञासा हो सकती है कि वेदों का

क्या प्रयोजन है ? इस अध्याय के अनुसार वेदाध्ययन का एकमात्र प्रयोजन श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानना है। अतएव कृष्णभावनाभावित पुरुष, अर्थात् भक्तियोगी को अपने-आप वेदों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

इस प्राकृत-जगत् के वन्धन को यहाँ आलंकारिक भाषा में पीपल का पेड़ कहा गया है। सकाम कर्मी के लिए इस का अन्त नहीं है। वह एक शाखा से दूसरी शाखा पर जाता है, दूसरी से तीसरी पर, तीसरी से चौथी पर और इस प्रकार निरन्तर भटकता ही रहता है। इस प्राकृत-जगत्रूप वृक्ष के विस्तार की कोई सीमा नहीं है: जो इसमें आसक्त है, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। आत्मोन्नति की ओर लक्षित वैदिक मन्त्र इस वृक्ष के पत्ते हैं। भगवान् ने इस वृक्ष की जड़ों को ऊपर वताया है, क्योंकि ये व्रह्माजी के निवास सत्यलोक से निकलती हैं, जो इस व्रह्माण्ड का सर्वोपरि लोक है। यह प्रपञ्च-वृक्ष प्रवाह रूप से नित्य है। जो इसे तत्त्व से जानता है, वह इससे छूट सकता है।

इस विमोचन की पद्धति को समझना आवश्यक है। पूर्ववर्ती अध्यायों में भव-बन्धन से मुक्ति के बहुत से साधनों का वर्णन है तथा तेरहवें अध्याय तक भगवद्भक्तियोग के साधन को सर्वोत्तम बताया गया है। भक्तियोग का प्रधान सिद्धान्त सांसारिक कर्मों से वैराग्य और भगवत्सेवा में अनुराग है। इस अध्याय के प्रारम्भ में उसी पद्धति का विवेचन है, जिसके द्वारा प्राकृत-जगत् की आसक्ति का सम्पूर्ण रूप से छेदन हो जाता है। संसार-रूप वृक्ष का मूल ऊपर की ओर है। भाव यह है कि यह सबसे ऊपर, सत्यलोक में महत्तत्त्व से निकला है। वहाँ से विभिन्न लोकरूपी शाखाओं में इस संसार-वृक्ष का विस्तार हुआ है। जीवों के कर्मफलरूपी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस वृक्ष के फल हैं।

इस संसार में हमें ऐसे किसी वृक्ष का अनुभव नहीं है, जो ऊपर मूल और नीचे शाखा वाला हो। इसका कुछ-कुछ आभास नदी-तट पर खड़े वृक्ष को देखने से हो सकता है। पेड़ की छाया जव जल में पड़ती है तो उसकी शाखायें नीचे और मूल ऊपर की ओर दिखती है। भाव यह है कि यह प्राकृत-जगत्रूप वृक्ष वैकुण्ठ-जगत् रूपी वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब मात्र है। वैकुण्ठ-जगत् का यह प्रतिबिम्ब वासना पर ठहरा हुआ है, उसी भाँति जैसे वृक्ष की छाया का जल आधार है। वासना के कारण ही पदार्थ प्रतिविम्वित प्राकृत प्रकाश में स्थित हैं। जो संसार-बन्धन से मुक्ति चाहता है, उसे इस वृक्ष को तात्त्विक अन्वेषण द्वारा सम्पूर्ण रूप से जानना चाहिये। तव, इससे अपने सम्वन्ध का छेदन किया जा सकता है।

वास्तविक वृक्ष का प्रतिविम्व होने से यह संसार-वृक्ष ठीक प्रतिरूप है। यहाँ जो कुछ है, वह सव वैकुण्ठ-जगत् में भी है। निर्विशेषवादियों के सांख्य दर्शन के अनुसार, व्रह्माजी इस संसार-वृक्ष के मूल हैं और उस मूल से ही क्रमशः प्रकृति, पुरुष, त्रिगुण, पंच महाभूत, दस इन्द्रियों और मन आदि होते हैं। इस प्रकार वे सम्पूर्ण जगत् का भिन्न-भिन्न तत्त्वों में वर्गीकरण करते हैं। यदि व्रह्मा को सम्पूर्ण सृष्टि का केन्द्र

माना जाय, तो यह प्राकृत-जगत् उस केन्द्र के १८० कोण का प्रकाश है और शेष १८० कोण वैकुण्ठ-जगत् है। यह प्राकृत-जगत् उस वैकुण्ठ-जगत् की उल्टी छाया है। अतएव वैकुण्ठ-जगत् में भी निःसन्देह इसी के समान वैचित्री है; परन्तु वहाँ की वैचित्री सत् है। प्रकृति परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति है तथा पुरुष परमेश्वर स्वय हैं, जैसा भगवद्गीता में वर्णन है। यह सृष्टि प्राकृत है, इसलिए क्षणभंगुर है। प्रतिबिम्ब सदा क्षणभंगुर ही होता है—कभी दृष्टिगोचर होता है तो कभी नहीं। परन्तु इस प्रतिबिम्ब का स्रोत शाश्वत् है। असली वृक्ष की प्राकृत छाया को काटना है। वास्तव में वेद का तात्पर्य वही जानता है, जो इस प्राकृत-जगत् की आसक्ति का छेदन कर सकता है। इस पद्धति को जानने वाला वास्तव में वेदज्ञ है। वेद के कर्मकाण्ड की ओर आकर्षित होना तो मानो वृक्ष के सुन्दर हरे-हरे पत्तों में रमना है। ऐसा व्यक्ति वेद के प्रयोजन को ठीक-ठीक नहीं जानता। जैसा स्वयं श्रीभगवान् ने प्रकट किया है, वेद का तात्पर्य इस संसाररूप प्रतिविम्बित वृक्ष को काट कर वैकुण्ठ-जगत् रूप असली वृक्ष को प्राप्त करना है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

अधः=नीचे; **च**=तथा; **ऊर्ध्वम्**=ऊपर की ओर; **प्रसृताः**=फैली हुई हैं; **तस्य**=उस संसार-वृक्ष की; **शाखाः**=शाखाएँ; **गुणप्रवृद्धाः**=तीनों गुणों रूप जल के द्वारा बढ़ी हुई; **विषय**=इन्द्रियविषयरूप; **प्रवालाः**=पत्ते वाली; **अधः**=नीचे; **च**=तथा; **मूलानि**=जड़; **अनुसंततानि**=विस्तृत; **कर्म**=कर्म के अनुसार; **अनुबन्धीनि**=बाँधने वाली; **मनुष्यलोके**=मनुष्य योनि में।

अनुवाद

माया के तीनों गुणों रूप जल से बढ़ी हुई इस संसाररूप वृक्ष की शाखायें ऊपर-नीचे सब ओर फैली हुई हैं। इन्द्रियविषय ही इसके पत्ते हैं तथा मनुष्ययोनि में कर्म के अनुसार बाँधने वाली इसकी जड़ें नीचे की ओर भी फैल रही हैं।।२।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् संसाररूप पीपल के पेड़ का आगे वर्णन करते हैं। इसकी शाखाएँ सब दिशाओं में विस्तृत हैं। नीचे की ओर मनुष्य, पशु, आदि अनेक जीव-योनियों की अभिव्यक्ति है। ये योनियाँ शाखाओं के अधोभाग में स्थित हैं, जबकि देव, गन्धर्व, आदि उत्तम जीव-योनियाँ ऊपर की ओर हैं। जल द्वारा वृक्ष के संवर्धन के समान, यह संसार-वृक्ष तीनों गुणों से बढ़ता है। भूमि कहीं ऊसर होती है, तो कहीं हरी-भरी। इसी प्रकार, प्रकृति के गुणों के अनुपात में नाना प्रकार की जीवयोनियाँ प्रकट होती हैं।

इन्द्रियविषय इस संसार-वृक्ष के पत्ते हैं। प्रकृति के गुणों के बढ़ने से विविध इन्द्रियाँ विकसित होती हैं, जिनके द्वारा नाना विषय भोगे जाते हैं। कर्ण, नासेन्द्रिय, नेत्र,

आदि अलग-अलग इन्द्रियों का मूल शाखाओं का ऊपरी भाग है तथा शब्द, रूप, स्पर्श आदि विषय पत्ते हैं। इस वृक्ष की जड़ें, जिनका आधार कर्म है, नाना प्रकार के इन्द्रिय सुख-दुःख की परिणाम हैं। इस प्रकार विषयभोग से जीव राग-द्वेष को प्राप्त होता है। धर्म-अधर्म की प्रवृत्तियाँ सब ओर फैली गौण जड़ें हैं। इस संसार-वृक्ष की मुख्यमूल तो ब्रह्मलोक से ही है; अन्य जड़ें मनुष्य लोकों में हैं। स्वर्गीय लोकों में पुण्यफल भोगने के बाद जीव इस पृथ्वी पर लौटकर फिर उच्चलोकों की प्राप्ति के लिए कर्म के परायण हो जाता है। इसी से मनुष्यलोक को कर्मभूमि कहते हैं।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

न=नहीं; **रूपम्**=रूप; **अस्य**=इस वृक्ष का; **इह**=इस (मनुष्य लोक) में; **तथा**=वैसा; **उपलभ्यते**=अनुभव में आता; **न**=नहीं; **अन्तः**=अन्त है; **न**=नहीं; **च**=और; **आदिः**=आदि है; **न**=न; **च**=और; **सम्प्रतिष्ठा**=आधार है; **अश्वत्थम्**=पीपल के पेड़ को; **एनम्**=इस; **सुविरूढमूलम्**=अति दृढ़ जड़ वाले; **असंगशस्त्रेण**=वैराग्यरूप कुठार से; **दृढेन**=उत्कट; **छित्त्वा**=काटकर; **ततः**=उसके पश्चात्; **पदम्**=परमपद को; **तत्**=उस; **परिमार्गितव्यम्**=खोजना चाहिए; **यस्मिन्**=जिसमें; **गताः**=गए हुए; **न**=कभी नहीं; **निवर्तन्ति**=गिरते; **भूयः**=फिर; **तम् एव**=उन्हीं; **च**=तथा; **आद्यम् पुरुषम्**=आदि-पुरुष भगवान् को; **प्रपद्ये**=शरण में जाता हूँ (इस प्रकार); **यतः**=जिनसे; **प्रवृत्तिः**=संसार रूप प्रवृत्ति; **प्रसृता**=विस्तृत हुई; **पुराणी**=चिरन्तनी।

अनुवाद

इस वृक्ष का असली रूप इस संसार में प्रत्यक्ष नहीं होता। इसके आदि, अन्त अथवा आधार को भी कोई नहीं जान सकता। इसलिए इस संसार-वृक्ष को दृढ़ निश्चय के साथ वैराग्यरूप शस्त्र के द्वारा काट कर, फिर उस परमपद को खोजना चाहिए, जिसे प्राप्त होकर संसार में फिर नहीं आना पड़ता। इसके लिए उन्हीं आदिपुरुष श्रीभगवान् के शरणागत हो जाय, जिनसे यह पुरातन संसार-प्रवृत्ति फैली है और अनादिकाल से जिनके आश्रित है।।३-४।।

तात्पर्य

स्पष्ट उल्लेख है कि इस अश्वत्थवृक्ष के यथार्थ रूप को प्राकृत-जगत् में नहीं जाना जा सकता। इसकी जड़ें ऊपर हैं, अतः असली वृक्ष का विस्तार दूसरी ओर है। इस वृक्ष का आदि-अन्त किसी को भी दिखाई नहीं देता। फिर भी, इसके कारण को तो खोजना ही होगा। "मैं अपने पिता का पुत्र हूँ, मेरे पिता का जन्म अमुक से हुआ," इस प्रकार अन्वेषण करता हुआ मनुष्य ब्रह्मा तक पहुँच जाता है, जो स्वयं

गर्भोदकशायी विष्णु से जन्मे हैं। इस विधि से अन्त में जब वह आदिपुरुष भगवान् तक पहुँचता है तो अन्वेषण का अन्त होता है। सारे अन्वेषण का इतना ही प्रयोजन है कि तत्त्वज्ञ महानुभावों के सत्संग से यह जान लिया जाय कि इस वृक्ष के आदिकारण श्रीभगवान् हैं। ऐसा ज्ञानी पुरुष शनैः शनैः इस असत् प्रतिबिम्ब से अनासक्त होकर और विवेक के अभ्यास से दृढ़ हुए वैराग्य-शस्त्र द्वारा इससे अपने सम्बन्ध को काटकर वैकुण्ठ-जगत् रूपी यथार्थ वृक्ष में स्थित हो जाता है।

इस सन्दर्भ में **असंग** शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। विषयभोग की आसक्ति और प्रकृति पर प्रभुत्व की इच्छा जीव में बड़ी प्रबल है। अतः शास्त्रों में वर्णित आत्मविद्या पर विचार-विमर्श करते हुए वैराग्य का अभ्यास और आत्मज्ञानी पुरुषों से श्रवण करना आवश्यक है। भक्त-गोष्ठी में इस प्रकार विचार-विमर्श करने से श्रीभगवान् के तत्त्व की प्राप्ति होती है। तब तत्काल उन्हीं के शरणागत हो जाना चाहिए। उस परम पद का यहाँ वर्णन है, जिसे प्राप्त पुरुष इस असत् प्रतिबिम्बित वृक्षरूप प्राकृत-जगत् में फिर नहीं आता। भगवान् श्रीकृष्ण आदिमूल हैं; उन्हीं से सब कुछ निकला है। उन श्रीभगवान् की कृपा-प्राप्ति के लिए केवल इतना आवश्यक है कि उनके शरणागत हो जाय। यह शरणागति श्रवण-कीर्तन आदि भक्तियोग के साधनों द्वारा होती है। वे इस प्राकृत-जगत् के विस्तार के स्रोत हैं। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है: **अहं सर्वस्य प्रभवः**— "मैं सबका आदिकारण हूँ।" अतएव इस अति दृढ़ मूल वाले संसाररूप पीपल के पेड़ के बन्धन से मुक्ति के लिए श्रीकृष्ण के शरणागत अवश्य होना होगा। श्रीकृष्ण के शरणागत होते ही जीव तुरन्त इस संसार से अपने-आप वैराग्य को प्राप्त हो जाता है।

निर्मानमोहा ज़ितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

निर्मानमोहाः=मिथ्या अहंकार और मोह से मुक्त; **जितसंगदोषाः**=जो सगदोष को जीत चुके हैं; **अध्यात्मनित्याः**=नित्य अध्यात्म विचार करने वाले; **विनिवृत्तकामाः**=सब प्रकार की कामनाओं से छूटे हुए; **द्वन्द्वैः**=द्वंद्वों से; **विमुक्ताः**=छूटे हुए; **सुखदुःखसंज्ञैः**=सुख-दुःख नामक; **गच्छन्ति**=प्राप्त होते हैं; **अमूढाः**=ज्ञानी पुरुष; **पदम्**=परमपद को; **अव्ययम्**=शाश्वत; **तत्**=उस।

अनुवाद

जो मोह, मिथ्या अहंकार और असत् संग से मुक्त हैं, अध्यात्मतत्त्व को जानते हैं, जिनकी सम्पूर्ण प्राकृत कामनाएँ नष्ट हो चुकी हैं, जो सुख-दुःख के द्वन्द्वों से मुक्त हैं और श्रीभगवान् के शरणागत होना जानते हैं, वे ज्ञानीजन उस नित्यधाम को प्राप्त होते हैं।।५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में शरणागति का बड़ा सुन्दर वर्णन है। इस पथ में सर्वप्रथम यह

योग्यता आवश्यक है कि मिथ्या अहंकार से मोहित न हो। अपने को प्रकृति का स्वामी समझकर वद्धजीव अभिमान से दृप्त हो रहा है, इसलिए उस के लिए श्रीभगवान् के शरणागत होना अति कठिन है। यथार्थ ज्ञान के अनुशीलन से जान लेना चाहिए कि प्रकृति का स्वामी वह नहीं है, श्रीभगवान् हैं। जव जीव अहंकारजनित मोह से मुक्त हो जाता है, तव शरणागत-पद्धति को अपना सकता है। जो मनुष्य इस प्राकृत-जगत् में सदा सत्कार चाहता रहता है, उसके लिए श्रीपुरुषोत्तम की शरण में जाना सम्भव नहीं। गर्व का मूल कारण मोह है, क्योंकि यद्यपि मनुष्य यहाँ आता है, कुछ काल तक ही रह पाता है और अन्त में चला जाता है, फिर भी मूर्खतावश अपने को संसार का ईश्वर समझ बैठता है। इस प्रकार वह स्वयं अपने लिए जटिल समस्या का कारण वन जाता है और परिणाम में निरन्तर कष्ट भोगता है। सम्पूर्ण संसार इस भ्रान्त धारणा के आधीन घूम रहा है। लोग समझते हैं कि यह भूमि मानवसमाज की है। अपने को भूमि का स्वामी समझने की इस मिथ्या धारणा के कारण वे नाना प्रकार से इसका विभाजन कर वैठे हैं। इस भ्रम का त्याग करना होगा कि इस संसार पर मनुष्यजाति का स्वामित्व है। इस से मुक्त होते ही मनुष्य परिवार, समाज और राष्ट्र आदि के स्नेह से होने वाले सभी असत्संगों से मुक्त हो सकता है। वस्तुतः इस संगदोप के कारण ही जीव का संसार-वन्धन है। इसके वाद, अध्यात्मविद्या का विकास करना है। विचार करना चाहिए कि वास्तव में अपना क्या है और क्या अपना नहीं है। इस सम्पूर्ण तत्त्व को जान लेने पर वह सुख-दुःख, आनन्द-विषाद आदि सव द्वन्द्वों से छूट कर पूर्ण ज्ञान से युक्त हो जाता है। तव वह श्रीभगवान् के शरणागत हो सकता है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

न=न; **तत्**=उस परमधाम को; **भासयते**=प्रकाशित कर सकता है; **सूर्यः**=सूर्य; **न**=न; **शशांकः**=चन्द्रमा; **न**=न; **पावकः**=अग्नि; **यत्**=जिसे; **गत्वा**=प्राप्त होकर; **न निवर्तन्ते**=फिर संसार में नहीं आते; **तत् धाम**=वह धाम है; **परमम्**=परम; **मम**=मेरा।

अनुवाद

मेरे उस स्वयंप्रकाश धाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है। जिसे प्राप्त हुआ जीव इस प्राकृत-जगत् में फिर नहीं आता, वही मेरा परमधाम है।।६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण के परमधाम का वर्णन है, जो कृष्णलोक अथवा गोलोक-वृन्दावन कहलाता है और वैकुण्ठ-जगत् में स्थित है। उस वैकुण्ठ-जगत् में सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि अथवा विजली की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वहाँ के सव लोक स्वयंप्रकाश हैं। हमारे इस ब्रह्माण्ड में एकमात्र सूर्यलोक स्वयंप्रकाश है; परन्तु परव्योम के सव लोक स्वयंप्रकाश हैं। वैकुण्ठ-लोकों की इस दीप्ति को 'ब्रह्मज्योति'

कहते हैं। वास्तव में इस ज्योति का स्रोत कृष्णलोक गोलोक-वृन्दावन है। इस तेजोमयी ज्योति के एक अंश पर महत्तत्त्व का आवरण है। यही प्राकृत-जगत् है। परन्तु ज्योतिर्मय परव्योम का अधिकांश तो वैकुण्ठ नामक दिव्य लोकों से ही परिपूर्ण है। गोलोक-वृन्दावन इन सबमें परमोच्च है।

जब तक जीव इस अंधकारमय प्राकृत-जगत् में है, तब तक वह उपाधियों में बँधा रहता है; परन्तु प्राकृत-जगत्‌रूपी उल्टे वृक्ष को काट कर वैकुण्ठ-जगत् में पहुँचते ही वह मुक्त हो जाता है। फिर उसके यहाँ आने का भय नहीं रहता। उपाधिवद्ध जीवन में जीव अपने को इस प्राकृत-जगत् का ईश्वर समझता है, परन्तु मुक्त हो जाने पर वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश कर श्रीभगवान् के पार्षद के रूप में सच्चिदानन्दमय जीवन का आस्वादन करता है।

मनुष्य को वैकुण्ठ-जगत् की इस जानकारी पर मुग्ध हो जाना चाहिए। इच्छा करे कि मैं इस संसार से, जो सच्चाई की विकृत छाया है, मुक्त होकर उस शाश्वत्-जगत् को प्राप्त हो जाऊँ। जो प्राकृत-जगत् में अति आसक्त हो, उसके लिए अवश्य इस आसक्ति का छेदन करना दुष्कर होगा। परन्तु यदि वह कृष्णभावना को अंगीकार कर ले, तो शनैः शनैः पूर्ण वैराग्य को प्राप्त हो सकता है। इसके लिए कृष्णभावनाभवित भक्तों का सत्संग करने की बड़ी अपेक्षा है। कल्याणकामी को एक ऐसे भक्तसमाज की खोज करनी चाहिए, जो कृष्णभावना के लिए समर्पित हो। इस प्रकार के भागवत-संघ में भक्तियोग की शिक्षा ग्रहण करने से प्राकृत-जगत् में आसक्ति की ग्रन्थी को काटा जा सकता है। केवल संन्यासी का वेष बना लेने से ही कोई प्राकृत-जगत् के आकर्षण से निर्लिप्त नहीं हो सकता। संसार से वैराग्य के लिए आवश्यक है कि भगवद्भक्तियोग में अनुराग हो। अतएव यह गम्भीरतापूर्वक समझ लेना चाहिए कि वारहवें अध्याय में वर्णित भक्तियोग सच्चे वृक्ष की इस असत् छाया से वाहर निकलने का एकमात्र उपाय है। चौदहवें अध्याय से स्पष्ट हो जाता है कि अन्य सब साधन माया से दूषित हैं, केवल भक्तियोग पूर्णरूप से दिव्य है।

परमं मम शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वैसे तो सभी कुछ श्रीभगवान् की सम्पत्ति है; परन्तु वैकुण्ठ-जगत् **परमम्** है, अर्थात् विशेष रूप में छः प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है। उपनिषदों में भी प्रमाण है कि वैकुण्ठ-जगत् में सूर्यज्योति-चन्द्रज्योति की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण रूप से श्रीभगवान् की अंतरंगा शक्ति द्वारा देदीप्यमान है। उस परमधाम की प्राप्ति का एकमात्र साधन श्रीभगवान् की शरण में जाना है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

मम=मेरा; **एव**=ही; **अंशः**=भिन्न-अंश; **जीवलोके**=संसार में; **जीवभूतः**=बद्धजीव; **सनातनः**=नित्य; **मनः**=चित्त; **षष्ठानि**=छः; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियों सहित; **प्रकृतिस्थानि**=प्रकृति में स्थित; **कर्षति**=संघर्ष करता है।

अनुवाद

इस बद्ध जगत् में यह जीव मेरा ही शाश्वत् भिन्न-अंश है। बद्धदशा में होने के कारण यह मन और पाँच इन्द्रियों के साथ घोर संघर्ष कर रहा है।।७।।

तात्पर्य

यहाँ जीव का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—जीव श्रीभगवान् का शाश्वत् भिन्न-अंश है। ऐसा नहीं कि वह बद्धदशा में जीवस्वरूप को धारण कर लेता है और मुक्त हो जाने पर परमेश्वर से एक हो जाता है। वह नित्य भिन्न-अंश है; **सनातन** विशेषण के प्रयोग से यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है। वैदिक मन्तव्य के अनुसार, श्रीभगवान् असंख्य रूपों में अपना विस्तार और प्रकाश करते हैं, जिनमें से स्वांश नामक प्रधान रूपों को विष्णुतत्त्व कहते हैं और गौण भिन्न-अंशों को जीवतत्त्व कहते हैं। भगवान् राम, नृसिंहदेव, विष्णुमूर्ति और वैकुण्ठ लोकों के अधीश्वर श्रीकृष्ण के स्वांश-प्रकाश हैं तथा जीव उनके भिन्न-अंश हैं, अर्थात् नित्यदास हैं। श्रीभगवान् के स्वांश-प्रकाश सनातन हैं और उसी प्रकार भिन्न-अंश जीवों का अपना सनातन स्वरूप है। श्रीभगवान् के भिन्न-अंश होने के कारण जीवों में उनके आंशिक गुण भी हैं, जिनमें से एक गुण स्वतन्त्रता है। प्राणीमात्र एक जीवात्मा है; उसका निजी स्वरूप है और उसे अल्पमात्र स्वतन्त्रता भी मिली है। इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने से वह बंधन में पड़ जाता है और इसी के सदुपयोग से शाश्वत् मुक्ति-लाभ कर सकता है। दोनों ही अवस्थाओं में वह श्रीभगवान् के समान नित्य है। मुक्तावस्था में वह इस बद्धदशा से छूट जाता है और भगवत्सेवा में संलग्न रहता है, जबकि बद्धदशा में त्रिगुणमयी माया के वशीभूत होकर भगवद्भक्तियोग को भूल बैठता है। इस विस्मृतिवश ही प्राकृत-जगत् में जीवित रहने के लिए भीषण संघर्ष करने को वह बाध्य हो जाता है।

मनुष्य, पशु, आदि जीव ही नहीं अपितु ब्रह्मा, शिव और विष्णु जैसे प्राकृत-जगत् के सब महासंचालक भी भगवान् श्रीकृष्ण के अंश हैं। वे सभी सनातन हैं, उनकी अभिव्यक्ति नित्य है। **कर्षति** शब्द सारपूर्ण है। बद्धजीव प्राकृत-जगत् में मानो लोह-पाश में बँधा हुआ है। मिथ्या अहंकार उसका बंधन है और मन इस भवबंधन की ओर ले जाने वाली मुख्य इन्द्रिय है। जब मन सत्त्वगुण में रहता है तो कर्म सुखदायक होते हैं; जब उस में रजोगुण बढ़ जाता है, तो अपने कर्मों से दुःख की प्राप्ति होती है तथा तमोगुण छा जाने पर अधम योनियों में दुर्गति होती है। इस श्लोक से स्पष्ट है कि बद्धजीव मन और इन्द्रियों वाले प्राकृत शरीर के आवरण में है। मुक्ति होने पर यह प्राकृत आवरण नष्ट हो जाता है, परन्तु उसका दिव्य वपु—जीवस्वरूप बना रहता है। माध्यन्दिनायन श्रुति के अनुसार, **स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिसृज्यब्रह्माभिसंपद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा शृणोति ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति।** अर्थात् इस प्राकृत बन्धन से छूट कर जब जीव वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश करता है, उस समय वह अपने अप्राकृत वपु को फिर प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार

दिव्य देह में वह साक्षात् श्रीभगवान् का दर्शन करता है। वह उनसे संभाषण भी कर सकता है। इतना ही नहीं, वह श्रीभगवान् को तत्त्व से जान जाता है। स्मृति में भी कहा है कि भगवद्धामों में सब जीवों का श्रीभगवान् के समान ही दिव्य वपु है। भिन्न-अंश जीवों और स्वांश विष्णुमूर्ति में वहाँ सारूप्य है। भाव यह है कि मुक्ति-काल में जीव को भगवत्कृपा से दिव्य कलेवर की प्राप्ति होती है।

मम एव अंशः शब्द का बड़ा गम्भीर आशय है। श्रीभगवान् का भिन्न-अंश किसी प्राकृत वस्तु के भग्न अंश जैसा नहीं है। पूर्व में, दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है कि आत्मतत्त्व का छेदन नहीं किया जा सकता। आत्म-कण तो वस्तुतः प्राकृत चिन्तन का विषय ही नहीं है। यह कोई जड़ पदार्थ नहीं है, जिसे भग्न करके फिर जोड़ा जा सके। इस श्लोक में आए **सनातन** शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है। श्रीभगवान् के भिन्न-अंश शाश्वत् हैं, जैसा दूसरे अध्याय के प्रारम्भ में उल्लेख है—**देहिनोऽस्मिन् यथा देहे,** प्राणीमात्र की देह में श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। देह-बन्धन से मुक्त होने पर वह भिन्न-अंश अपने दिव्य विग्रह को फिर से प्राप्त होकर भगवद्धाम में श्रीभगवान् के संग में आनन्द करता है। इसका यह भी भाव है कि जीव श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है, इसलिए वह चिद्‌गुणों में उन्हीं के समान है, जैसे स्वर्ण का एक कण भी स्वर्ण है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

शरीरम्=शरीर को; **यत्**=जिस; **अवाप्नोति**=प्राप्त होता है; **यत्**=जो; **च**=तथा; **अपि**=भी; **उत्क्रामति**=त्यागता है; **ईश्वरः**=देह का स्वामी जीव; **गृहीत्वा**=ग्रहण करके; **एतानि**=इन्द्रियों को; **संयाति**=जाता है; **वायुः**=वायु; **गन्धान्**=गन्ध को; **इव**=जैसे; **आशयात्**=गन्ध के स्थान (आश्रय) से।

अनुवाद

जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देह का स्वामी जीव प्राकृत-जगत् में जिस शरीर को त्यागता है, उससे अपनी सब स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियों को ग्रहण कर दूसरे शरीर में ले जाता है।।८।।

तात्पर्य

जीव को ईश्वर कहने का अर्थ यह है कि वह अपनी देह और इन्द्रियों का स्वामी है। वह स्वेच्छा से उच्च-अधम किसी भी योनि में देहान्तर कर सकता है। इस विषय में उसे आंशिक स्वतन्त्रता है। उसका देहान्तर किस शरीर में होगा, यह उसी पर निर्भर करता है। जीवन में उसने जिस चेतना का विकास किया है, मृत्यु-काल में वह उसे अगले प्रकार के शरीर में ले जायगी; यदि अपनी चेतना को कुत्ते-बिल्ली के स्तर पर रखा है, तो कुत्ते-बिल्ली की योनि में ही उसका देहान्तर होगा। इसी प्रकार, जिसकी चेतना दैवी गुणों पर एकाग्रित है, उसे देव-शरीर मिलेगा। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि

यदि वह कृष्णभावनाभावित है, तो अवश्य ही वैकुण्ठ-जगत् के कृष्णलोक में श्रीकृष्ण का सांनिध्य-लाभ करेगा। यह कहना बिल्कुल मिथ्या है कि इस देह का नाश होने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। सत्य यह कि जीवात्मा निरन्तर देहान्तर कर रहा है और उसकी वर्तमान देह और क्रिया अगले शरीर को निर्धारित करती हैं। यथासमय उस देह को त्याग कर कर्मानुसार किसी अन्य देह में जाने को जीव बाध्य है। यहाँ उल्लेख है कि सूक्ष्म शरीर अगले शरीर का संस्कार धारण किए रहता है और पुनर्जन्म में एक नए स्थूल शरीर का विकास करता है। इस देहान्तर के क्रम का और देह में चलने वाले संघर्ष का नाम ही कर्षति है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

श्रोत्रम्=कान; **चक्षुः**=नेत्र; **स्पर्शनम्**=त्वचा; **च**=तथा; **रसनम्**=जिह्वा; **घ्राणम्**=नासिका का; **एव**=ही; **च**=तथा; **अधिष्ठाय**=आश्रय लेकर; **मनः**=मन (का); **च**=भी; **अयम्**=यह (जीव); **विषयान्**=विषयों को; **उपसेवते**=भोगता है।

अनुवाद

इस प्रकार दूसरा स्थूल शरीर ग्रहण करके यह जीव शरीर के अनुसार मन तथा उसके आधीन कान, नेत्र, त्वचा, रसना और नाक से विषय भोगता है।।९।।

तात्पर्य

भाव यह है कि जो जीव अपनी चेतना को कुत्ते-बिल्ली के गुणों से दूषित कर देता है, उसे पुनर्जन्म में कुत्ते-बिल्ली का शरीर मिलता है और इसी के अनुरूप वह विषय भोगता है। चेतना मूल रूप में जल के समान निर्मल और शुद्ध है। परन्तु यदि जल में कोई रंग मिला दिया जाय तो वह उसी रंग का प्रतीत होने लगता है। ऐसे ही, चेतना भी आदिरूप में निर्मल है, क्योंकि जीवात्मा का स्वरूप शुद्ध है। परन्तु प्राकृत गुणों के संग के अनुसार वह विकृत हो जाती है। असली चेतना कृष्णभावना है; अतएव जो कृष्णभावनाभावित है, वह अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित है। यदि यह चेतना किसी प्रकार के प्राकृत मनोभाव से दूषित हो जाय, तो अगले जन्म में उसी के अनुसार देह मिलेगी। यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य शरीर की ही फिर प्राप्ति हो; कुत्ते, बिल्ली, सुअर, देवता आदि चौरासी लाख योनियों में से किसी की भी प्राप्ति हो सकती है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

उत्क्रामन्तम्=शरीर त्यागते हुए; **स्थितम्**=शरीर में स्थित; **वा अपि**=अथवा; **भुञ्जानम्**=विषय भोगते हुए; **वा**=या; **गुणान्वितम्**=त्रिगुणमयी माया के आधीन; **विमूढाः**=मूर्ख; **न अनुपश्यन्ति**=नहीं देख सकते; **पश्यन्ति**=देखते हैं; **ज्ञानचक्षुषः**=विवेकज्ञानरूप नेत्रों वाले।

अनुवाद

जीवात्मा जिस प्रकार देह को त्याग कर जाता है और माया के आधीन जिस देह को भोगता है, मूर्ख यह नहीं जान सकते; परन्तु विवेकरूप नेत्र वाले ज्ञानी पुरुषों को इस सबका अनुभव होता है।।१०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में आया ज्ञानचक्षुषः शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान के बिना यह नहीं जाना जा सकता कि जीव किस प्रकार अपने वर्तमान शरीर को त्यागता है, पुनर्जन्म में किस योनि में जायगा और न ही यह कि वह किसी देह विशेष में क्यों है। यह सब तत्त्व जानने के लिए आवश्यक है कि प्रामाणिक गुरू के मुखारविन्द से भगवद्गीता आदि शास्त्रों का महान् ज्ञान प्राप्त किया जाय। जो इन सब तत्त्वों का अनुभव करने की शिक्षा पाता है, वह भाग्यवान् है। जीवमात्र किसी निश्चित परिस्थिति में देहत्याग करता है, देह में रहता है तथा माया के वशीभूत हुआ विषय भोगता है। विषयभोग के भ्रम में वह नाना प्रकार के सुख-दुःख पा रहा है। जिन मनुष्यों की वुद्धि को कामना और इच्छा ने सदा के लिए हर लिया है, वे यह समझने की सारी शक्ति खो वैठते हैं कि वे किस प्रकार देहान्तर कर रहे हैं और किस प्रकार देह में गुणों के आधीन सुख-दुःख भोगते हैं। उनकी समझ में यह सब नहीं आ सकता। इसके विपरीत, जो विवेकज्ञानरूप दृष्टि से युक्त हैं, वे अनुभव करते हैं कि आत्मा देह से भिन्न है और देहान्तर करता हुआ नाना प्रकार के विषयों को भोग रहा है। इस कोटि के ज्ञानी मनुष्य संसार में जीव को होने वाले दुःख का कारण जानते हैं। यही कारण है कि कृष्णभावना के उत्तम अधिकारी दुःखमय बद्धदशा से जनता को मुक्त करने के उद्देश्य से उसमें प्राणपण से यह ज्ञान प्रचारित करते हैं। सभी मनुष्यों को इस बन्धन से निकल कर कृष्णभावनाभावित हो जाना चाहिए, जिससे वैकुण्ठ-जगत् का मुक्ति-पथ प्रशस्त हो जाय।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

यतन्तः=साधन करते हुए; **योगिनः**=योगी; **च**=तथा; **एनम्**=इस आत्मा को; **पश्यन्ति**=देखते हैं; **आत्मनि**=शरीर में; **अवस्थितम्**=स्थित; **यतन्तः**=यत्न करते हुए; **अपि**=भी; **अकृतात्मानः**=अशुद्ध चित्त वाले; **न**=नहीं; **एनम्**=इस आत्मा को; **पश्यन्ति**=देखते; **अचेतसः**=अज्ञानी।

अनुवाद

आत्मज्ञानी योगी यत्न करते हुए इस तत्त्व को पूर्ण रूप से देखते हैं; परन्तु जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, वे चेष्टा करने पर भी इसे नहीं देख सकते।।११।।

तात्पर्य

अनेक योगी स्वरूप-साक्षात्कार के पथ के पथिक हैं; परन्तु जो आत्मतत्त्व में

स्थित नहीं हैं, वे जीव के शरीर में होने वाले विकारों का अनुभव नहीं कर सकते। इस संदर्भ में **योगिनः** शब्द आशयपूर्ण है। आजकल बहुत से नाममात्र के योगी और योगसंघ हो गए हैं। पर वास्तव में स्वरूप-साक्षात्कार के सम्बन्ध में वे एकदम अन्धे हैं। वे केवल शारीरिक व्यायाम ही करना जानते हैं और बस इतना चाहते हैं कि शरीर सुडौल और स्वस्थ रहे। इसके अतिरिक्त कोई जानकारी उन्हें नहीं होती। यहाँ ऐसे ही मनुष्यों **यतन्तोऽप्यकृतात्मानः** कहा है। वे नामभर की योगपद्धति का अभ्यास करते हैं, पर स्वरूप-साक्षात्कार नहीं कर पाते। अतः उन्हें जीवात्मा के देहान्तर का बोध नहीं हो सकता। जो सच्चे योगी हैं और आत्मस्वरूप, संसार और श्रीभगवान् के तत्त्व को जानते हैं, अर्थात् जो कृष्णभावनाभावित शुद्धभक्तियोगी हैं केवल वे ही यह जान सकते हैं कि सब कुछ किस प्रकार हो रहा है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

यत्=जो; **आदित्यगतम्**=सूर्य में स्थित; **तेजः**=तेज (है); **जगत्**=जगत् को; **भासयते**=उद्भासित करता है; **अखिलम्**=सम्पूर्ण; **यत्**=जो; **चन्द्रमसि**=चन्द्रमा में (है); **यत्**=जो; **च**=तथा; **अग्नौ**=अग्नि में (है); **तत्**=उस; **तेजः**=तेज को; **विद्धि**=जान; **मामकम्**=मेरा।

अनुवाद

जो तेज सूर्य में स्थित होकर सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमा में है और जो अग्नि में है, उसको तू मेरा ही तेज जान।।१२।।

तात्पर्य

अज्ञानी यह नहीं समझ सकते कि सब कुछ किस प्रकार हो रहा है। यदि श्रीभगवान् के इस वर्णन को समझ लिया जाय तो ज्ञान में प्रवेश हो सकता है। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि और बिजली को सब देखते हैं। केवल इतना ही जानना पर्याप्त है कि जो तेज सूर्य में है, जो चन्द्रमा में तथा अग्नि और बिजली में भी है, वह सब भगवान् श्रीकृष्ण से आ रहा है। इस प्रकार जीवन में कृष्णभावना का सूत्रपात होने पर बद्धजीव प्राकृत-जगत् में महान् प्रगति कर सकता है। जीव मूलरूप में श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं। इसलिए यहाँ श्रीकृष्ण उन्हें ऐसा संकेत कर रहे हैं, जिससे वे अपने घर—भगवद्धाम को लौट आएँ। सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उद्भासित कर रहा है। नाना प्रकार के बहुत से ब्रह्माण्ड और सौरमण्डल हैं, जिनमें अनेक सूर्य, चन्द्रमा, आदि लोक हैं। इस सूर्य-प्रकाश का स्रोत श्रीभगवान् की ब्रह्मज्योति ही है। सूर्योदय के साथ मनुष्य का दैनन्दिन क्रिया-कलाप आरम्भ होता है। इसी प्रकार, अग्नि भी बड़ी उपयोगी है। उसके तेज से भोजन बनाया जाता है तथा नाना प्रकार का निर्माण कार्य चलता है। सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा का तेज मनुष्यमात्र को प्रिय है। इनके बिना कोई भी जीव जीवनधारण नहीं कर सकता। अतः यदि जीव समझ जाय

कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का तेज और प्रकाश भगवान् श्रीकृष्ण से आ रहा है, तो उसमें कृष्णभावना का उन्मेष हो सकता है। चन्द्रज्योति से सम्पूर्ण वनस्पतियों का पोषण होता है। वैसे भी चन्द्रज्योत्स्ना इतनी सुखदायी है कि श्रीकृष्ण इसके स्रोत हैं, यह जानने पर लोगों को यह अनुभूति सहज रूप से हो जायगी कि वे भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से ही जीवन-धारण कर रहे हैं। उनकी कृपा के बिना न सूर्य हो सकता है, न चन्द्र और अग्नि ही हो सकती है तथा इन सबके अभाव में कोई जीवित भी नहीं रह सकता। ये कुछ वे भाव हैं, जिनसे बद्धजीव में कृष्णभावना का उदय हो सकता है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

गाम्=लोकों में; **आविश्य**=प्रवेश करके; **च**=तथा; **भूतानि**=जीवों को; **धारयामि**=धारण करता हूँ; **अहम्**=मैं; **ओजसा**=अपनी शक्ति के द्वारा; **पुष्णामि**=पोषण करता हूँ; **च**=तथा; **औषधीः**=वनस्पतियों का; **सर्वाः**=सब; **सोमः**=चन्द्रमा; **भूत्वा**=होकर; **रसात्मकः**=अमृतरसमय।

अनुवाद

मैं सम्पूर्ण लोकों में प्रवेश करके उन्हें सारे जीवों सहित अपनी शक्ति द्वारा धारण करता हूँ और अमृतमय चन्द्रमा होकर सब वनस्पतियों का पोषण करता हूँ।।१३।।

तात्पर्य

निःसन्देह सम्पूर्ण लोक श्रीभगवान् की शक्ति से ही अंतरिक्ष में भ्रमण कर रहे हैं। श्रीभगवान् का एक-एक लोक, एक-एक जीव और अणु-अणु में प्रवेश है। इस तत्त्व का निरूपण ब्रह्मसंहिता में है। उस के अनुसार श्रीभगवान् का एक अंश-प्रकाश, परमात्मा सब लोकों, ब्रह्माण्डों, जीवों, यहाँ तक कि अणुओं में भी प्रवेश करता है। उनके इस प्रकार प्रवेश करने से ही सब कुछ ठीक-ठीक प्रकाशित होता है। जब तक आत्मा देह में रहता है, तब तक ही मनुष्य तैर सकता है; आत्मा के जाते ही शरीर डूब जाता है। इसी प्रकार, ये सब लोक अंतरिक्ष में तैर रहे हैं, क्योंकि इनमें श्रीभगवान् की शक्ति का प्रवेश हुआ है। भगवत्-शक्ति के लिए ये लोक धारण करने को कुछ धूलिकणों से अधिक नहीं हैं। यदि कोई मुट्ठी में धूल उठाए, तो वह नहीं गिरेगी; परन्तु यदि उसे ऊपर उछाला जाय, तो वह अवश्य गिरेगी। अंतरिक्ष में तैरते हुए इन लोकों को वस्तुतः विश्वरूपधारी श्रीभगवान् ने अपनी मुट्ठी में पकड़ रखा है। उनकी शक्ति और सामर्थ्य से सभी चराचर पदार्थ यथास्थान बने रहते हैं। शास्त्रों में कहा है कि श्रीभगवान् के कारण ही सूर्य चमकता है और ग्रह गतिशील हैं। उनके बिना सब लोक वायु में धूलि के समान बिखर कर तत्काल नष्ट हो जाएँ। यह भी श्रीभगवान् की शक्ति का ही प्रभाव है कि चन्द्रमा वनस्पति-जगत् का अमृत से पोषण करता हुआ रस का संचार करता है। उसके बिना वनस्पतियाँ न तो बढ़ेंगी और न स्वादिष्ट होंगी।

वास्तव में देखा जाय तो श्रीभगवान् की कृपा से ही मानव समाज कार्य कर रहा है और स्वादिष्ट भोजन का आनन्द लेता हुआ सुखपूर्वक जीवनयापन कर रहा है। अन्यथा, उसके लिए बना रहना असम्भव है। **रसात्मकः** शब्द सारगर्भित है; चन्द्रमा के द्वारा श्रीभगवान् सब खाने योग्य पदार्थों में रस, अर्थात् स्वाद का संचार करते हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

अहम्=मैं; **वैश्वानरः**=वैश्वानर अग्नि रूप; **भूत्वा**=होकर; **प्राणिनाम्**=प्राणियों के; **देहम्**=देह में; **आश्रितः**=स्थित; **प्राण**=शरीर से बाहर जाने वाली वायु; **अपान**=शरीर के भीतर आने वाली वायु; **समायुक्तः**=समान रूप से; **पचामि**=पचाता हूँ; **अन्नम्**=अन्न को; **चतुर्विधम्**=चार प्रकार के।

अनुवाद

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में वैश्वानर अग्निरूप से प्राण-अपान के साथ चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।।१४।।

तात्पर्य

आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार उदर में एक अग्नि रहती है, जो सब प्रकार के उदरगत भोजन को पचाती है। जब यह अग्नि मंद पड़ जाती है तो भूख नहीं लगती, इसके उद्दीप्त होने पर ही भूख का अनुभव होता है। कभी-कभी मन्दाग्नि का उपचार करना पड़ता है। यह अग्नि भी श्रीभगवान् का रूप है। वैदिक मन्त्रों से प्रमाणित है कि परमेश्वर अथवा ब्रह्म अग्निरूप से उदर में स्थित है और सब प्रकार के अन्न को पचाता है। अतएव श्रीभगवान् की सहायता के बिना जीव भोजन करने में भी स्वतन्त्र नहीं है। जब तक वे पाचन में सहयोग न दें, तब तक वह भोजन ही नहीं कर सकता। श्रीभगवान् अन्न को उत्पन्न ही नहीं करते, पचाते भी वही हैं; उन्हीं की कृपा से हम जीवन में आनन्द ले रहे हैं। 'वेदान्तसूत्र' में प्रमाण है: **शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च**, श्रीभगवान् शब्द में हैं, देह में हैं, वायु में हैं और पाचन-शक्ति के रूप में उदर में भी हैं। अन्न—भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य—ये चार प्रकार का होता है। श्रीभगवान् इन सबके लिए पाचन-शक्ति हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

सर्वस्य=सब प्राणियों के; **च**=तथा; **अहम्**=मैं; **हृदि**=हृदय में; **सन्निविष्टः**=स्थित हूँ; **मत्तः**=मुझसे; **स्मृतिः**=स्मरण-शक्ति; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **अपोहनम्**=विस्मृति; **च**=भी; **वेदैः**=वेदों से; **च**=तथा; **सर्वैः**=सब; **अहम्**=मैं; **एव**=ही; **वेद्यः**=जानने योग्य हूँ; **वेदान्तकृत्**=वेदान्त का रचयिता; **वेदवित्**=वेदों को जानने वाला; **एव**=निस्सन्देह; **च**=भी; **अहम्**=मैं ही हूँ।

अनुवाद

मैं सब प्राणियों के हृदय में बैठा हूँ और मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और विस्मृति होती है; सब वेदों से एकमात्र मैं ही जानने योग्य हूँ तथा वेदान्त का रचयिता और वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ।।१५।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् परमात्मा के रूप में प्राणीमात्र के हृदय में विराजमान हैं; वही सब क्रियाओं के प्रेरक हैं। देहान्तर के साथ जीवात्मा को अपने पूर्व जीवन की पूर्ण विस्मृति हो जाती है। अतएव उसे उन्हीं परमेश्वर की आज्ञानुसार कर्म करना है, जो उसके सम्पूर्ण कृत्यों के साक्षी हैं। वह पूर्वकर्म के अनुसार कार्य प्रारम्भ करता है, जिसके लिए श्रीभगवान् उसे पर्याप्त ज्ञान और स्मृति देते हैं। इसके अलावा, उसे पूर्वजन्म की विस्मृति हो जाती है। अस्तु, श्रीभगवान् सर्वव्यापक ही नहीं हैं, बल्कि प्राणीमात्र के हृदय में केन्द्रित भी हैं। वे सबको कर्मानुसार यथायोग्य फल देते हैं। निर्विशेष ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीनों स्वरूपों के अतिरिक्त वे वेदावतार के रूप में भी आराध्य हैं। वेद लोगों के जीवन को उस सन्मार्ग पर लगाते हैं, जिससे वे अपने घर—भगवद्धाम को लौट जायें। वेद भगवान् श्रीकृष्ण के ज्ञान से परिपूर्ण हैं और श्रीकृष्ण ने ही व्यासदेव के अवतार में वेदान्तसूत्र का संकलन किया है। श्रीव्यासदेव ने स्वयं श्रीमद्भागवत के रूप में वेदान्तसूत्र के प्रामाणिक भाष्य का प्रणयन भी किया; अतः श्रीमद्भागवत से वेदान्तसूत्र के सच्चे तात्पर्य का बोध हो सकता है। यह श्रीभगवान् की पूर्णता ही है कि वे ही अन्न देने वाले हैं, वे ही पाचन करने वाले, जीव के साक्षी हैं और बद्धजीव की मुक्ति के लिए वेदों और गीतागायक श्रीकृष्ण के रूप में ही वे उसे ज्ञान प्रदान करते हैं। अतएव वे मंगलमय और कृपामय प्रभु ही जीव के आराध्य हैं।

अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्। अपने देह को त्यागते ही जीव को विस्मृति हो जाती है; परन्तु देहान्तर करने पर अन्तर्यामी परमेश्वर की प्रेरणा से वह फिर कर्म करने लगता है। श्रीभगवान् उसे बुद्धि देते हैं, जिससे वह पूर्वजन्म के अपूर्ण कर्म में फिर प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्यामी श्रीपरमेश्वर के निर्देश के अनुसार जीव संसार में सुख-दुःख ही नहीं भोगता; उनसे वैदिक ज्ञान को ग्रहण करने का अवसर भी उसे मिलता है। यदि कोई निश्छल भाव से वैदिक ज्ञान को जानना चाहे, तो श्रीकृष्ण उसे पर्याप्त बुद्धि अवश्य देंगे। श्रीकृष्ण ने वैदिक ज्ञान को वस्तुतः इसीलिए प्रकट किया है, क्योंकि जीव को निजी रूप में श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानने की आवश्यकता है। वैदिक श्रुति का प्रमाण है—**योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते**, चारों वेद, वेदान्तसूत्र, उपनिषद्, पुराण आदि सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों में एकमात्र श्रीभगवान् की पावन कीर्ति का गान हुआ है। श्रीभगवान् की प्राप्ति वैदिक कर्मानुष्ठान, वेदान्त-वार्ता, और भक्तियोग के द्वारा उनकी आराधना करने से होती है। अतएव सम्पूर्ण वेदों का एकमात्र लक्ष्य श्रीकृष्ण को जानना है। ये वेद हमें श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानने का

निर्देश ही नहीं देते, वरन् जानने का साधन भी बताते हैं। श्रीभगवान् वेद के परम लक्ष्य हैं—वेदान्तसूत्र में इसका यह प्रमाण है: **तत्तु समन्वयात्।** वैदिक शास्त्रों के ज्ञान से कृत्यकृत्यता होती है और विविध साधनों के द्वारा श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को जाना जा सकता है। इस प्रकार उन्नति करके अन्त में उन्हें प्राप्त हुआ जा सकता है। यही जीवन का परम लक्ष्य है। अस्तु, इस श्लोक में वेदों के प्रयोजन, वेदों के ज्ञान और वेदों के लक्ष्य का स्पष्ट निरूपण है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

द्वौ=दो; **इमौ**=ये; **पुरुषौ**=चेतन; **लोके**=संसार में; **क्षरः**=स्वरूप से गिरने वाला; **च**=तथा; **अक्षरः**=स्वरूप से न गिरने वाला; **एव**=निःसन्देह; **च**=तथा; **क्षरः**=क्षर पुरुष; **सर्वाणि**=सब; **भूतानि**=जीव हैं; **कूटस्थः**=एकावस्था; **अक्षरः**=अक्षर; **उच्यते**= कहा जाता है।

अनुवाद

क्षर और अक्षर, ये दो प्रकार के जीव हैं। प्राकृत-जगत् में सब प्राणी क्षर हैं और वैकुण्ठ-जगत् में प्राणीमात्र अक्षर कहलाता है।।१६।।

तात्पर्य

पूर्व में कहा जा चुका है कि श्रीभगवान् ने व्यास-अवतार में 'वेदान्तसूत्र' का संकलन किया। यहाँ श्रीभगवान् वेदान्तसूत्र का सारांशनिरूपण करते हैं। वे कहते हैं कि जीव असंख्य हैं और उनकी क्षर और अक्षर—दो कोटियाँ हैं। जीव श्रीभगवान् के सनातन भिन्न-अंश हैं। जब वे प्राकृत-जगत् के संसर्ग में रहते हैं, तो 'जीवभूत' कहे जाते हैं। यहाँ पर **सर्वाणि भूतानि** का तात्पर्य है कि वे स्वरूप से पतनमुखी हैं। इसके विपरीत, जो मुक्त जीव श्रीभगवान् से एकावस्था में स्थित हैं, उनका कभी स्वरूप से पतन नहीं होता, अर्थात् वे अक्षर हैं। एकावस्था का यह अर्थ नहीं कि उनका अपना कोई स्वरूप ही नहीं रहता। इसका अर्थ है कि वे परस्पर सम्बन्धहीन नहीं हैं। वे सब सृष्टि के प्रयोजन के लिए एकमत हैं। निःसन्देह शाश्वत् वैकुण्ठ-जगत् की सृष्टि का प्रश्न नहीं उठता। यहाँ सृष्टि विषयक विचार इसलिए किया गया है, क्योंकि श्रीभगवान् ने 'वेदान्तसूत्र' में कहा है कि वे सब उद्‌गमों के स्रोत हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार जीवों की दो कोटियाँ हैं। यह वेदों से भी प्रमाणित है, अतः निःसन्देह सत्य है। जो जीव मन और पाँच इन्द्रियों के साथ इस संसार में संघर्ष कर रहे हैं, वे प्राकृत देह में स्थित हैं। बद्धावस्था में जीव की देह में निरन्तर विकार हुआ करता है। ऐसा अचित् (जड़ प्रकृति) के संसर्ग के कारण होता है; अचित् जड़-तत्त्व विकारी है, इसलिए उसके संसर्ग में जीवात्मा भी विकारी प्रतीत होता है। परन्तु वैकुण्ठ-जगत् में मिलने वाली देह अचित् जड़ से नहीं बनी होती; अतः वहाँ क्षरण अथवा विकार नहीं होता। प्राकृत-जगत् में जीव को छः विकारों की प्राप्ति होती

है—जन्मना, बढ़ना, कुछ काल तक रहना, सन्ततिरूप परिणाम, क्षय और अन्त में विनाश। ये सब वास्तव में प्राकृत देह के विकार हैं। इसके विपरीत, वैकुण्ठ-जगत् में देह में कभी कोई विकार नहीं होता। वहाँ न जरा है, न जन्म है और न मृत्यु ही है। वहाँ सब कुछ एकावस्था में स्थित है। इसी भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिए **सर्वाणि भूतानि** शब्दों का प्रयोग है। ब्रह्मा से लेकर तुच्छ चींटी तक जो कोई भी प्राणी जड़ प्रकृति के संसर्ग में है, उसका शरीर विकारी है; वह क्षर है, अर्थात् अपने स्वरूप से पतनमुखी है। परन्तु वैकुण्ठ-जगत् में ऐसा नहीं है। वहाँ पर सभी एकावस्था में मुक्त हैं।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

उत्तमः=सबसे श्रेष्ठ; **पुरुषः**=पुरुष; **तु**=परन्तु; **अन्यः**=अन्य ही हैं; **परम्**=परमेश्वर; **आत्मा**=स्वयं; **इति**=इस प्रकार; **उदाहृतः**=कहा गया है; **यः**=जो; **लोकत्रयम्**=तीनों लोकों में; **आविश्य**=प्रवेश करके; **बिभर्ति**=धारण-पालन करते हैं; **अव्ययः**=अविनाशी; **ईश्वरः**=स्वामी।

अनुवाद

परन्तु इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अविनाशी परमेश्वर ही हैं, जो इन सब लोकों में प्रवेश करके उनका धारण-पालन करते हैं।।१७।।

तात्पर्य

कठोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस श्लोक का बड़ा सुन्दर निरूपण है। वहाँ से स्पष्ट है कि बद्ध और मुक्त—इन दोनों प्रकार के असंख्य जीवों से ऊपर एक परमपुरुष हैं, जो परमात्मा कहलाते हैं। उपरोक्त उपनिषदों का श्लोक इस प्रकार है—**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्**। तात्पर्य यह है कि बद्ध-मुक्त, सब प्रकार के जीवों में एक परम चेतन पुरुष हैं, जिन्हें भगवान् कहा जाता है और जो उन्हें धारण करते हैं और कर्म के अनुसार फल भोगने की पूर्ण सुविधा भी देते हैं। वे श्रीभगवान् जीवमात्र के हृदय में परमात्मा रूप से स्थित हैं। जो बुद्धिमान् मनुष्य उन्हें जान जाता है, वही परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है, अन्य कोई नहीं।

श्रीभगवान् और जीवों को सब प्रकार के समान मानना भूल होगी। उनमें स्वामी-सेवक का भेद सदा रहता है। इस सन्दर्भ में यहाँ **उत्तम** शब्द का प्रयोग बहुत महत्त्व का है। कोई जीव श्रीभगवान् की तुलना भी नहीं कर सकता, फिर उनसे उत्तम होने का तो प्रश्न ही नहीं बनता। **लोके** पद भी महत्त्व रखता है, क्योंकि 'पौरुष' नामक वैदिक ग्रन्थ में कथन है, **लोक्यते वेदार्थोऽनेन**। ये परमेश्वर अपने एकदेशीय परमात्मारूप में वेदों का अर्थ स्पष्ट करते हैं। वेदों में यह श्लोक भी है—

तावदेष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परम्।
ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः।।

"शरीर से निकल कर परमात्मा निर्विशेष ब्रह्मज्योति में प्रवेश करते हैं; फिर अपने दिव्य स्वरूप में रहते हैं। उन्हीं परमेश्वर का नाम उत्तम पुरुष है।" इसका अर्थ हुआ कि वे उत्तम पुरुष अपनी दिव्य ज्योति को, जो प्रकाश की परम निधान है, प्रकट-अप्रकट करते रहते हैं। उन उत्तम पुरुष का परमात्मा नामक एकदेशीय रूप भी है तथा सत्यवती और पराशर के पुत्र व्यासरूप में अवतार लेकर वही वैदिक ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

यस्मात्=क्योंकि; **क्षरम्**=क्षर पुरुष से; **अतीतः**=परे (हूँ); **अहम्**=मैं; **अक्षरात् अपि**=अक्षर पुरुष से भी; **च**=तथा; **उत्तमः**=श्रेष्ठ (हूँ); **अतः**=इसलिए; **अस्मि**=हूँ; **लोके**=संसार में; **वेदे च**=वेद में भी; **प्रथितः**=प्रसिद्ध; **पुरुषोत्तमः**=पुरुषोत्तम।

अनुवाद

मैं क्षर-अक्षर दोनों से परे, सबसे उत्तम हूँ; इसलिए संसार में और वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।।१८।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की तुलना न तो बद्धजीव कर सकते हैं और न मुक्त जीव ही कर सकते हैं। अतः वे परमोत्तम पुरुष हैं। यहाँ से स्पष्ट है कि जीव और श्रीभगवान्, सबका अपना-अपना स्वरूप है। दोनों में अन्तर यह है कि जीव चाहे बद्ध हो अथवा मुक्त, परन्तु विस्तार में श्रीभगवान् की अचिन्त्य शक्तियों का अतिक्रम कभी नहीं कर सकता।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

यः=जो; **माम्**=मुझे; **एवम्**=इस प्रकार; **असम्मूढः**=संशयरहित; **जानाति**=जानता है; **पुरुषोत्तमम्**=पुरुषोत्तम; **सः**=वह; **सर्ववित्**=सम्पूर्ण वेद के तात्पर्य को जानने वाला; **भजति**=भक्तियोग द्वारा उपासता है; **माम्**=मुझे; **सर्वभावेन**=सब प्रकार से; **भारत**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो कोई भी इस प्रकार मुझे निश्चित रूप से पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जानता है और पूर्ण रूप से मेरे भक्तियोग के परायण हो जाता है।।१९।।

तात्पर्य

जीव-स्वरूप और परतत्त्व-स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के दार्शनिक वाद-विवाद हैं। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि जो कोई उन्हें तत्त्व से पुरुषोत्तम जानता है, वही वास्तव में सर्वज्ञ है। अपूर्ण ज्ञानी परतत्त्व विषयक तर्क ही

करता रहता है, जबकि पूर्ण तत्त्वज्ञ अपना समय नष्ट किए बिना प्रत्यक्ष रूप से कृष्णभावना अर्थात् भगवद्भक्तियोग में तत्पर हो जाता है। सम्पूर्ण गीता में आद्योपान्त पद-पद पर इसी सत्य पर बल दिया गया है। फिर भी गीता के हठाग्रही व्याख्याकार परतत्त्व और जीवतत्त्व को एक मानते हैं।

वैदिक ज्ञान को श्रुति कहते हैं, क्योंकि वह सुनने से होता है। वास्तव में वैदिक ज्ञान को श्रीकृष्ण से अथवा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि से ग्रहण करना चाहिए। यहाँ श्रीकृष्ण ने विशद तत्त्व-विवेचन किया है, अतः इसका श्रवण करे। पशुओं के समान एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देने से कोई लाभ नहीं होगा। सच्चे लाभ के लिए प्रामाणिक आचार्यों से ज्ञान को धारण करना चाहिए। ऐसा नहीं कि स्वयं बौद्धिक तर्क-वितर्क (मनोधर्म) करता रहे। आत्मसमर्पणशील भाव के साथ भगवद्गीता से यह सुनना चाहिए कि सब जीव सदा श्रीभगवान् के वश में हैं। जो यह जान जाता है, भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार वह सम्पूर्ण वेदों के तात्पर्य को जानता है। दूसरा कोई वेदों के तात्पर्य को नहीं जानता।

भजते शब्द आशयपूर्ण है। अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग श्रीभगवान् की सेवा के अर्थ में है। यदि कोई मनुष्य पूर्ण कृष्णभावना के साथ भगवद्भक्तियोग में लगा हुआ है तो समझना चाहिए कि उसने सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान को जान लिया है। वैष्णव परम्परा में माना जाता है कि जो श्रीकृष्ण के भक्तियोग के परायण है, उसे परमसत्य को जानने के लिए किसी अन्य परमार्थ-साधन की अपेक्षा नहीं है। भक्तियोग में तत्पर होने के प्रभाव से वह पहले ही उस स्तर तक पहुँच चुका है। उसके लिए ज्ञान की प्रारम्भिक पद्धतियों में कोई सार नहीं रहता। प्रकारान्तर से, हजारों जन्मों तक तर्क-वितर्क करने पर भी यदि कोई इस ज्ञान तक नहीं पहुँचता कि श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनकी शरण में जाना जीव का परम धर्म है, तो इतने वर्षों और जन्मों तक किया वाद-विवाद और मनोधर्म समय का निरर्थक अपव्यय है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

इति=इस प्रकार (संक्षेपरूप में); **गुह्यतमम्**=परम गोपनीय; **शास्त्रम्**=शास्त्र; **इदम्**=यह; **उक्तम्**=प्रकट किया गया; **मया**=मेरे द्वारा; **अनघ**=हे निष्पाप अर्जुन; **एतत्**=इसे; **बुद्ध्वा**=तत्त्व से जानकर; **बुद्धिमान्**=बुद्धिमान्; **स्यात्**=हो जाता है; **कृतकृत्यः**=परमसिद्ध (अपरोक्षज्ञानी); **च**=तथा; **भारत**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह वैदिक शास्त्रों का परम गोपनीय सार मेरे द्वारा प्रकट किया गया। इसको जानने वाला बुद्धिमान् और कृतार्थ हो जाता है।।२०।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने स्पष्ट किया है कि यह तत्त्व सम्पूर्ण शास्त्रों का परम सार है। यह

आवश्यक है कि इस परम सत्य को उसी रूप में ग्रहण किया जाय जिस रूप में श्रीभगवान् ने इसका उपदेश किया है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष बुद्धिमान् और दिव्य ज्ञान में सिद्ध हो जायगा। भाव यह है कि श्रीभगवान् के इस दर्शन को समझने और उनकी दिव्य सेवा में तत्पर हो जाने से मनुष्यमात्र त्रिगुणमयी माया के सम्पूर्ण दोषों से मुक्त हो सकता है। भक्तियोग वस्तुतः अध्यात्म बोध का मार्ग है। जहाँ भक्तियोग है, वहाँ प्राकृत दोष नहीं रह सकते। श्रीभगवान् और उनके भक्तियोग में भेद नहीं है; दोनों दिव्य हैं, अर्थात् भगवती अंतरंगा शक्ति से युक्त हैं। श्रीभगवान् मानो सूर्य हैं और अविद्या जैसे अंधकार है। जहाँ सूर्य है, वहाँ अंधकार नहीं रह सकता। ऐसे ही, जो पुरुष सद्गुरु के मार्गदर्शन में भक्तियोग के परायण हैं, उनमें अविद्या का लेश भी नहीं रहता।

मनुष्यमात्र को बुद्धिमान् और शुद्ध होने के लिए इस कृष्णभावना को अंगीकार कर भक्तियोग में संलग्न हो जाना चाहिए। जब तक कोई भगवान् श्रीकृष्ण के इस पुरुषोत्तम-तत्त्व को जानकर भक्तियोग के परायण नहीं होता, किसी सामान्य मनुष्य की गणना में वह चाहे कितना भी बुद्धिमान क्यों न हो, परन्तु वास्तव में वह बुद्धिमान् नहीं है।

अर्जुन को **अनघ** कहने का गूढ़ अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के पापों से मुक्त हुए बिना श्रीकृष्ण को जान पाना बड़ा कठिन है। मनुष्य को सब दोषों और पापकर्मों से छूट जाना होगा; तभी वह इस तत्त्व को जान सकेगा। परन्तु भक्तियोग इतना शुद्ध और शक्तिशाली है कि जो एक बार इसमें प्रवृत्त होता है, वह अपने-आप निष्पाप शुद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

शुद्ध भक्तों के सत्संग में पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग का आचरण करते हुए कुछ दोषों को पूर्ण रूप से दूर कर देना चाहिए। सबसे पहले हृदय की दुर्बलता को जीतना है, क्योंकि माया पर प्रभुत्व की इच्छा पतन का सबसे बड़ा कारण है। ऐसी इच्छा के कारण ही मनुष्य भक्तियोग का त्याग कर बैठता है। हृदय की दूसरी दुर्बलता यह है कि जैसे-जैसे माया पर प्रभुत्व करने की प्रवृत्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे ही वह जड़ तत्त्व में और जड़ तत्त्व के स्वत्व में अधिक आसक्त होता जाता है। भवरोग के दुःख हृदय की इन दुर्बलताओं के कारण ही हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः।।१५।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये पंचदशोऽध्यायः।।

अथ षोडशोऽध्यायः

दैवासुरसम्पद्विभागयोग

(दैवी और आसुरी स्वभाव)

श्रीभगवानुवाच।
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **अभयम्**=निर्भयता; **सत्त्वसंशुद्धिः**=अन्तःकरण की शुद्धि; **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**=ज्ञान के उपाय में निष्ठा; **दानम्**=दान; **दमः**=इन्द्रियों का संयम; **च**=तथा; **यज्ञः**=यज्ञों का अनुष्ठान; **च**=तथा; **स्वाध्यायः**=वैदिक शास्त्रें का अध्ययन; **तपः**=तपस्या; **आर्जवम्**=सरलता; **अहिंसा**=किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना; **सत्यम्**=यथार्थ भाषण; **अक्रोधः**=क्रोध का अभाव; **त्यागः**=त्याग; **शान्तिः**=मन का संयम; **अपैशुनम्**=दूसरों में दोष-दृष्टि न रखना;**दया**=करुणा; **भूतेषु**=सब जीवों में; **अलोलुप्त्वम्**=लोभ का अभाव; **मार्दवम्**=कोमलता; **ह्रीः**=लज्जा; **अचापलम्**=दृढ़ निश्चय (व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव); **तेजः**=तेज; **क्षमा**=क्षमा; **धृतिः**=धैर्य; **शौचम्**=पवित्रता; **अद्रोहः**=ईर्ष्या से मुक्त; **न अति-**

मानिता=सम्मान की इच्छा का अभाव; भवन्ति=(ये) होते हैं; सम्पदम्=गुणों को; दैवीम्=दैवी; अभिजातस्य=प्राप्त हुए मनुष्य (के लक्षण); भारत=हे अर्जुन।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, भय का अभाव, अन्तःकरण की निर्मलता, दिव्य ज्ञान का सेवन, दान, आत्मसंयम, यज्ञ, वेदों का अध्ययन, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, दोष-दृष्टि का अभाव, जीवों पर दयाभाव, लोभ क अभाव, कोमलता, लज्जा, दृढ़ निश्चय, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता तथा ईर्ष्या और सम्मान की इच्छा का अभाव—ये सब गुण तो हे अर्जुन ! दैवी प्रकृति को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं।।१-२-३।।

तात्पर्य

पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में प्राकृत-जगत्‌रूप पीपल के वृक्ष का वर्णन है। उसकी गौण जड़ों को जीवों की शुभ-अशुभ कर्मवासना बताया गया। नौवें अध्याय में भी प्राणियों की दैवी और आसुरी प्रकृतियों का उल्लेख है। वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार, सात्त्विक कर्म शुभ माने जाते हैं, क्योंकि इनसे मुक्ति के पथ पर उन्नति होती है। ये कर्म दैवी प्रकृति के अंतर्गत आते हैं। इस दैवी प्रकृति के आश्रय में स्थित पुरुष मोक्ष के पथ पर उन्नति करते हैं। दूसरी ओर, जो रजोगुणी अथवा तमोगुणी कर्म करते हैं, उनके लिए मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं है। उन्हें या तो मनुष्ययोनि में ही रहना होगा अथवा पशु आदि अधम योनियों की प्राप्ति होगी। इस अध्याय में श्रीभगवान् दैवी प्रकृति और उसके गुणों का, आसुरी प्रकृति और उसके गुणों का वर्णन करते हैं। साथ ही, उन्होंने इन गुणों के हानि-लाभ का भी निर्देश किया है।.

दैवी गुणों के साथ जन्मे पुरुष के लिए आया **अभिजातस्य** शब्द महत्त्वपूर्ण है। दैवी अथवा भगवत्परायण वातावरण में बालक को जन्म देने के लिए वेदों में गर्भाधान संस्कार का विधान है। यदि माता-पिता को दैवी गुणवान् पुत्र की अभिलाषा हो, तो उन्हें मनुष्य के दसविध संस्कारों का पालन अवश्य करना चाहिए। पूर्व में कहा जा चुका है कि सत्संतान के लिए लक्षित धर्मसम्मत काम श्रीकृष्ण का रूप है। काम का निषेध नहीं है, यदि कृष्णभावना के लिए उसका सदुपयोग किया जाय। जो कृष्णभावनाभावित हैं, कम से कम उन्हें तो कुत्ते-बिल्ली के समान संतान को उत्पन्न नहीं करना चाहिए। अपितु उनका एकमात्र उद्देश्य कृष्णभावनाभावित बालकों को जन्म देना हो। यह आवश्यक है कि कृष्णभावनाभावित माता-पिता के घर जन्मे बालकों को यह लाभ प्राप्त रहे।

वर्णाश्रमधर्म की समाज-व्यवस्था का उद्देश्य जन्म के आधार पर समाज को विभाजित करना नहीं है। समाज का विभाजन शैक्षणिक गुणों के अनुसार ही होना

चाहिए। इस वर्गीकरण का लक्ष्य समाज में शान्ति और समृद्धि बनाए रखना है। यहाँ पर वर्णित गुणों को दैवी कहा गया है, अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति करते हुए प्राकृत-जगत् से मुक्त हो जाने के लिए मनुष्य को इनका अनुशीलन (सेवन) करना चाहिए। वर्णाश्रम व्यवस्था में संन्यासी को सब वर्ण और आश्रमों का गुरु समझा जाता है। ब्राह्मण प्रायः क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र का गुरु माना जाता है, परन्तु संन्यासी ब्राह्मण का भी गुरु है। संन्यासी का प्रथम गुण निर्भयता है। जो संन्यास ग्रहण करता है. उसके लिए आवश्यक है कि किसी से सहायता की अपेक्षा किए बिना एकमात्र भगवत्कृपा पर आश्रित रहे। यदि उसके मन में यह विचार उठता हो कि "पारिवारिक सम्बन्धों को त्याग देने पर मेरी रक्षा कौन करेगा?" तो उसे संन्यास लेना ही नहीं चाहिए। उसे यह पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने एकदेशीय परमात्मा रूप में हृदय में नित्य रहते हैं, वे सब कुछ देखते हैं और पूर्ण रूप से जानते हैं कि कौन क्या करना चाहता है। यह दृढ़ निश्चय निरन्तर बना रहे कि श्रीकृष्ण परमात्मारूप से अपने शरणागत ज़ीव की सदा रक्षा करेंगे। मन में विचार करे, "मैं घोर वन में भी अकेला नहीं हो सकता, सब प्रकार से मेरी रक्षा के लिए श्रीकृष्ण निरन्तर मेरे साथ हैं।" इसी विश्वास का नाम **अभयम्** है। संन्यासी की मनोवृत्ति ठीक ऐसी ही होनी चाहिए। इसके बाद, **सत्त्वसंशुद्धिः** (अन्तःकरण की शुद्धि) करनी चाहिए। संन्यासी के लिए अनेक विधि-विधान पालनीय हैं। सबसे पहले, उस के लिए किसी भी स्त्री से कोई अंतरंग सम्बन्ध रखने का पूर्ण रूप से निषेध है। अधिक क्या, संन्यासी के लिए तो एकान्त में स्त्री-सम्भाषण भी वर्जित है। श्रीचैतन्य महाप्रभु आदर्श संन्यासी थे। पुरीधाम में भक्त स्त्रियाँ वन्दना तक के लिए उनके पास नहीं जा सकती थीं। उनके लिए दूर से ही प्रणाम करने की आज्ञा थी। यह स्त्रीवर्ग से द्वेष का द्योतक नहीं है, इससे तो केवल संन्यासी के लिए स्त्रियों से निकट सम्बन्ध रखने का निषेध है। अन्तःकरण की शुद्धि अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार शास्त्रीय आचरण करने से होती है। संन्यासी के लिए स्त्रियों से निकट का सम्बन्ध रखने और धनसंचय करने का पूर्ण निषेध है। श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं सब प्रकार से आदर्श संन्यासी थे। उनके जीवन-चरित्र से ज्ञात होता है कि स्त्रियों के सम्बन्ध में वे अत्यन्त कठोर थे। उन्हें श्रीभगवान् का सबसे करुणामय (महावदान्य) अवतार कहा जाता है—अधम से अधम जीव का भी उन्होंने उद्धार कर दिया; परन्तु वे भी स्त्रियों के सम्बन्ध में संन्यास-आश्रम के विधि-निषेध का कठोरता से पालन किया करते थे। एक बार छोटे हरिदास नामक उनके एक अंतरंग पार्षद ने किसी कारणवश एक युवती के मुख को काम-भावना से देख लिया। श्रीचैतन्य महाप्रभु इस विषय में इतने कठोर थे कि उन्होंने उसे तत्काल अपने पार्षदों के वर्ग से निष्कासित कर दिया। श्रीमन्महाप्रभु ने इस संदर्भ में कहा है, "जो संन्यासी है, अथवा माया के बन्धन से मुक्त होकर और दैवी प्रकृति में स्थित होकर भगवद्धाम को प्राप्त होना चाहता है, उसके लिए विषय-वस्तुओं और स्त्रियों को भोगने की तो बात ही क्या, इन्द्रिय-तृप्ति के लिए इन

पदार्थों की इच्छा करना भी इतना अधम है कि इसके पूर्व आत्महत्या कर लेना अधिक अच्छा होगा।'' ये सब अन्तःकरण की शुद्धि के साधन हैं।

अगला गुण है **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**—ज्ञान के अनुशीलन में तत्पर रहना। संन्यास लेने का उद्देश्य उन गृहस्थ आदि मनुष्यों में ज्ञान का प्रसार करना है, जिन्हें जीवन के यथार्थ लक्ष्य—परमार्थ का विस्मरण हो गया है। संन्यासी के लिए विधान है कि वह द्वार-द्वार पर जाकर मधुकरी करे। इसका अर्थ यह नहीं कि वह भिखारी है। दैवी प्रकृति में स्थित पुरुष का एक लक्षण दैन्य (विनम्रता) है। दीन संन्यासी द्वार-द्वार पर जाता है। उसका उद्देश्य भिक्षा माँगना नहीं है, वह गृहस्थी को दर्शन देकर उनकी सुप्त कृष्णभावना को जागृत करने के लिए ही जाता है। संन्यासी का यह एक प्रधान कर्तव्य है। यदि वह उन्नति कर चुका है, तो गुरुदेव की आज्ञानुसार संन्यास लेकर युक्ति और विवेक के साथ कृष्णभावना का प्रचार करे; परन्तु अध्यात्म में उन्नति के विना संन्यास न ले। पर्याप्त ज्ञानी न होने पर भी यदि उसने संन्यास ग्रहण कर लिया है, तो ज्ञान-प्राप्ति के लिए पूर्ण रूप से प्रामाणिक गुरु को सुनने के परायण हो जाय। इस प्रकार संन्यासी के लिए अभय, सत्त्वसंशुद्धि (आत्मशुद्धि) तथा ज्ञान, ये तीनों गुण अनिवार्य हैं।

दानम् का विशेष अभिप्राय गृहस्थों से है। गृहस्थों को चाहिए कि न्यायपूर्वक धन का अर्जन करें और अपनी आय का पचास प्रतिशत सम्पूर्ण विश्व में कृष्णभावना के प्रचार के लिए दान में लगाएँ। ऐसा करने वाले संघ की सब प्रकार से सहायता करना गृहस्थ का प्रधान कर्तव्य है। दान सत्पात्र को ही करना चाहिए। देश, काल और पात्र के अनुसार दान के सत्त्वगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी भेद हैं। शास्त्रों में केवल सत्त्वगुणी दान का विधान है, जबकि राजसी अथवा तामसी दान तो धन का अपव्यय है। दान केवल विश्व में कृष्णभावना के प्रचार के लिए करना चाहिए। यही सात्त्विक दान है।

दमः अर्थात् इन्द्रिय-संयम भी गृहस्थों का विशेष कर्तव्य है। गृहिणी के साथ रहते हुए भी अनावश्यक इन्द्रिय-तृप्ति में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। उसके लिए बहुत से विधि-निषेध हैं, जिनमें एक यह है कि संतान उत्पत्ति के लिए ही संभोग में प्रवृत्त हो। यदि संतान की इच्छा न हो, तो स्त्री-संभोग करे ही नहीं। दुर्भाग्यवश, शास्त्र की आज्ञा का पालन करने के स्थान पर आधुनिक समाज बालकों के उत्तरदायित्व से बचने के लिए निरोध, गर्भपात जैसे आसुरी साधनों की सहायता से अमर्यादित संभोग करता है। यह निश्चित रूप से आसुरी गुण है। यदि कोई मनुष्य, चाहे वह गृहस्थ ही क्यों न हो, परमार्थ में उन्नति का अभिलाषी हो, तो उसके लिए अपने काम-विचार का संयम करना अनिवार्य है; श्रीकृष्ण की सेवा के उद्देश्य के विना संतान को जन्म न दे। यदि किसी में कृष्णभावना के योग्य बालकों को जन्म देने की क्षमता है, तो वह कितने भी बालक उत्पन्न कर सकता है; परन्तु इस योग्यता के विना केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रवृत्त न हो।

यज्ञः के लिए प्रचुर धन चाहिए; अतः यह भी गृहस्थों का दायित्व है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन सब अन्य आश्रमों के निष्किंचन पुरुष भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करते हैं। इसलिए नाना प्रकार के यज्ञ करना गृहस्थों का कर्तव्य है। वैदिक शास्त्रों में अग्निहोत्र आदि का विधान है, परन्तु इनके लिए इतना धन चाहिए है कि आजकल प्रायः कोई भी गृहस्थ यह सब नहीं कर सकता। इस युग के लिए **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** — इस महामन्त्र का संकीर्तन-यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ है। यह सब से उत्तम और सरल यज्ञ है। इसे अंगीकार करके प्राणीमात्र लाभान्वित हो सकता है। अस्तु, गृहस्थ को दान, संयम और यज्ञ करना चाहिए।

स्वाध्यायः, तपः, आर्जवम् (सरलता)का प्रयोजन विशेष रूप से ब्रह्मचर्य से है। ब्रह्मचारियों के लिए स्त्रियों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखने का निषेध है। उन्हें ब्रह्मचारी-व्रत का पालन करते हुए चित्त से वैदिक शास्त्रों के अध्ययन और ज्ञान-प्राप्ति में संलग्न रहना चाहिये। इसी को **स्वाध्यायः** कहा जाता है। **तपः** विशेष रूप से वानप्रस्थों के लिए है। कोई भी मनुष्य आजीवन गृहस्थ न रहे। स्मरण रहे कि जीवन के ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। अतएव गृहस्थ के वाद वानप्रस्थ ले लेना चाहिए। वैदिक-विधान है कि सौ वर्ष के जीवन में पच्चीस वर्ष ब्रह्मचारी रहे, पच्चीस वर्ष गृहस्थ में और पच्चीस-पच्चीस वर्ष वानप्रस्थ और संन्यास में रहे। गृहस्थ से निवृत्त मनुष्य को मन, वाणी और शरीर के तप का अभ्यास करना चाहिए। वस्तुतः सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्मव्यवस्था तपस्या पर ही आधारित है। तपस्या के विना किसी की मुक्ति नहीं होती। यह कहना वैदिक शास्त्रों और भगवद्गीता के विल्कुल विपरीत है कि जीवन में तप की कोई आवश्यकता नहीं है, मनोधर्मी करने से सब कुछ अपने आप हो जायगा। ऐसे मतों का निर्माण वे कपटी अध्यात्मवादी किया करते हैं, जो केवल अपने अनुगामियों की संख्या बढ़ाने के लिए चेष्टा कर रहे हैं। लोगों को विधि-निषेध प्रिय नहीं होता। अतएव उन्हें आकृष्ट करने के लिए ये धूर्त न तो शिष्यों को संयम की कोई शिक्षा देते हैं और न उनके अपने जीवन में ही संयम का कोई स्थान होता है। परन्तु यह विधि वेद-विरुद्ध है।

आर्जवम् सरलता का अभ्यास सभी वर्ण-आश्रमों के मनुष्यों को करना चाहिए। जीवन बड़ा ही सात्विक और सरल हो।

जीव की उत्तरोत्तर उन्नति को न रोकने का नाम **अहिंसा** है। यह नहीं समझना चाहिए कि देह का नाश होने पर भी आत्मा का कभी नाश नहीं होता, इसलिए इन्द्रियतृप्ति के लिए जीव-हिंसा करने में कोई हानि नहीं है। अन्न, फल, दुग्ध आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं; परन्तु फिर भी लोगों को पशु-हिंसा का व्यसन सा हो गया है। पशु-हिंसा करने का मनुष्य के लिए कोई कारण नहीं है; मनुष्यमात्र के लिए इसका

निषेध है। जहाँ कोई उपाय न हो, उस परिस्थिति में पशु-हिंसा की जा सकती है; परन्तु उसे भी यज्ञ में अर्पित करना चाहिए। जो मनुष्य पारमार्थिक उन्नति के अभिलाषी हैं, उन्हें तो कम से कम पर्याप्त मात्रा में अन्न, आदि के होते हुए पशु-हिंसा से बचना ही चाहिए। अहिंसा का असली अर्थ किसी भी जीव की उन्नति में बाधा उपस्थित न करना है। पशु एक योनि से दूसरी योनि में उन्नति कर रहे हैं। यदि किसी पशु की हत्या कर दी जाय, तो उसकी उन्नति रुक जायगी। मारे हुए पशु को शेष समय भोगने के लिए उसी योनि में वापस आना होगा; इसके बाद ही किसी श्रेष्ठ योनि में वह प्रगति कर सकेगा। अतः केवल अपनी रसना की तृप्ति के लिए किसी जीव की प्रगति में विघ्न नहीं डालना चाहिए। इस विचारधारा का नाम अहिंसा है।

सत्यम् का अर्थ है किसी स्वार्थवश तथ्य को तोडे-मरोड़े बिना यथार्थ भाषण करना। वेदों में कुछ कठिन अंश हैं, जिनका तात्पर्य प्रामाणिक गुरु से सीखना चाहिए। वेदों को जानने की यही पद्धति है। 'श्रुति' का अर्थ है कि आचार्यमुख से श्रवण करना चाहिए। अपने स्वार्थ के लिए शास्त्रों का मनमाना अर्थ नहीं करना चाहिए। गीता पर अनेक ऐसी टीकायें हैं, जो मूल अर्थ का अनर्थ करती हैं। वाक्य के यथार्थ तात्पर्य को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना चाहिए। इसके लिए सद्गुरु के आश्रय में शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता है।

क्रोध को जीत लेने का नाम **अक्रोधः** है। दुर्जनों द्वारा अपना तिरस्कार होने पर भी शान्त बना रहे, क्योंकि कोप से सम्पूर्ण शरीर दूषित हो जाता है। क्रोध रजोगुण और काम से उत्पन्न होता है; इसलिए सत्त्वगुणी पुरुष को इसे जीत लेना चाहिए। **अपैशुनम्** अर्थात् दूसरों में व्यर्थ दोष-दृष्टि न रखे। निःसन्देह चोर को चोर कहना बुरा नहीं: परन्तु किसी सज्जन को चोर बताना पारमार्थिक उन्नति के बड़ा प्रतिकूल होगा। **ह्रीः** अर्थात् व्यवहार में विनम्रता हो और पापकर्म करने में लज्जा का अनुभव हो। **अचापलम्** का अर्थ है प्रयास की असफलता में भी दृढ़ निश्चय से युक्त रहना। कोई चेष्टा विफल हो जाय तो भी निराश अथवा उद्वेलित न हो। धैर्य और निश्चय के साथ प्रगति-पथ पर अग्रसर होता रहे। **तेजः** का सम्बन्ध विशेषतः क्षत्रियों से है। निर्बलों की रक्षा के लिए वे सदा अति पराक्रम से युक्त रहें। उन्हें अहिंसा का दम्भ नहीं करना चाहिए। आवश्यकता होने पर वे हिंसा से पीछे न हटें।

शौचम् शब्द मन, वाणी और व्यवहार की पवित्रता का वाचक है। व्यापारी-वर्ग को विशेष रूप से शुद्ध व्यवहार करना चाहिए; अतः काला बाजार करना वर्जित है। **नातिमानिता** का अर्थ सम्मान की इच्छा का न होना है। यह शूद्रों के लिए है, क्योंकि वे वेदों के अनुसार चारों वर्णों में सब से निम्न हैं। शूद्र व्यर्थ अभिमान न करें और अपनी मर्यादा में ही रहें। समाज में सुचारु व्यवस्था बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वे उच्च वर्णों का सम्मान करें।

यहाँ वर्णित सभी सोलह गुण दैवी प्रकृति के हैं। अपने-अपने वर्ण और आश्रम

के अनुसार सभी मनुष्य इनका आचरण करें। तात्पर्य यह है कि चाहे सांसारिक परिस्थितियाँ दुःखमय हैं; परन्तु यदि सब वर्ण आश्रमों के मनुष्य इन गुणों का अभ्यास करें, तो शनैः-शनैः शुद्धसत्त्वमय अध्यात्म-साक्षात्कार के परमोच्च शिखर पर आरूढ़ हुआ जा सकता है।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।४।।

दम्भः=दम्भ; **दर्पः**=गर्व; **अभिमानः**=दूसरों से सम्मान पाने की इच्छा; **च**=तथा; **क्रोधः**=क्रोध; **पारुष्यम्**=निष्ठुरता; **एव**=निःसन्देह; **च**=तथा; **अज्ञानम्**=अविवेक; **च**=तथा; **अभिजातस्य**=प्राप्त हुए पुरुष के (लक्षण हैं); **पार्थ**=हे अर्जुन; **सम्पदम्**=स्वभाव को; **आसुरीम्**=आसुरी।

अनुवाद

हे अर्जुन! पाखण्ड, गर्व, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान—ये सब आसुरी स्वभाव वाले के लक्षण हैं।।४।।

तात्पर्य

इस श्लोक में नरक के राजपथ का वर्णन है। आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य प्रतिकूल आचरण करते हुए भी धर्म और अध्यात्म-विद्या का पाखण्ड करना चाहते हैं। उन्हें अपनी विद्या और सम्पत्ति का बड़ा गर्व रहता है। वे चाहते हैं कि दूसरे उन्हें पूजें। यद्यपि कोई उनका सम्मान नहीं करता; पर वे सब से सम्मान की माँग करते हैं। छोटी-छोटी बात पर वे अति क्रोधित हो उठते हैं और बहुत ही कठोर वाणी बोलते हैं। वे नहीं जानते कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। उनका सम्पूर्ण व्यवहार स्वेच्छाचारमय होता है, वे किसी प्रमाण को नहीं मानते। इन सब आसुरी गुणों को वे माँ के गर्भ में ही धारण कर लेते हैं और जैसे-जैसे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे इन अमंगलमय गुणों को प्रकट करते हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

दैवी=दैवी; **सम्पत्**=स्वभाव; **विमोक्षाय**=मोक्ष के लिए; **निबन्धाय**=बन्धन के लिए; **आसुरी**=आसुरी (स्वभाव); **मता**=माना गया है; **मा शुचः**=शोक न कर; **सम्पदम्**=स्वभाव को; **दैवीम्**=दिव्य; **अभिजातः असि**=तू जन्मा है; **पाण्डव**=हे अर्जुन।

अनुवाद

दैवी गुण मोक्ष करने वाले हैं और आसुरी गुण बन्धनकारी माने गए हैं। हे अर्जुन! तू शोक न कर, क्योंकि तू दैवी गुणों के साथ जन्मा है।।५।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को यह कहकर आश्वासन दे रहे हैं कि वह आसुरी

गुणों को लेकर नहीं जन्मा है। युद्ध में उसकी प्रवृत्ति को आसुरी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें धर्म-अधर्म का विवेक विद्यमान था। वह विचार रहा था कि भीष्म, द्रोण, आदि गुरुजनों का वध करना चाहिए अथवा नहीं। इससे सिद्ध होता है कि वह क्रोध, अभिमान और निष्ठुरता के वशीभूत कर्म नहीं कर रहा था। भाव यह है कि वह आसुरी संपदा से युक्त नहीं था। क्षत्रिय के लिए शत्रु पर बाण चलाना दैवी संपदा के अन्तर्गत है; बल्कि अपने इस कर्तव्य से विमुख होना आसुरी संपदा है। अतः अर्जुन के लिए शोक का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं है। जो वर्ण-आश्रम के अनुसार धर्म का पालन करता है, उसकी सदा दिव्य स्थिति है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

द्वौ=दो प्रकार के; **भूतसर्गौ**=प्राणियों की सृष्टि (होती है); **लोके**=इस संसार में; **अस्मिन्**=इस; **दैवः**=दैवी; **आसुरः**=आसुरी; **एव**=निःसन्देह; **च**=तथा; **दैवः**=दैवी; **विस्तरशः**=विस्तार से; **प्रोक्तः**=कही गयी; **आसुरम्**=आसुरी; **पार्थ**=हे अर्जुन; **मे**=मुझ से; **शृणु**=सुन।

अनुवाद

हे अर्जुन! इस संसार में दैवी और आसुरी—ये दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि होती है। उनमें दैवी गुणों का वर्णन विस्तार से कर चुका हूँ, अब मुझ से आसुरी गुणों का विवरण सुन।।६।।

तात्पर्य

अर्जुन को यह आश्वासन देकर कि वह दैवी गुणों में जन्मा है, भगवान् श्रीकृष्ण अब आसुरी स्वभाव का वर्णन करते हैं। इस संसार में बद्धजीवों की दो श्रेणियाँ हैं। एक तो वे हैं, जो दैवी गुणों को लेकर उत्पन्न होते हैं और शास्त्र-विधि के अनुसार आचरण करते हैं। उनके जीवन में शास्त्र और गुरु के आज्ञानुसार संयम रहता है। कर्तव्य-कर्म का आचरण प्रामाणिक शास्त्रों की विधि से ही करना चाहिए; यही दैवी स्वभाव है। जो शास्त्रविधि का उल्लंघन करके स्वेच्छाचार करता है, वह आसुरी कहलाता है। शास्त्र-विधि का पालन ही इस वर्गीकरण की एकमात्र कसौटी है। वैदिक शास्त्रों में कहा है कि देव और असुर दोनों प्रजापति से उत्पन्न हुए हैं। दोनों में भेद यही है कि एक वर्ग वैदिक-विधान को मानता है और दूसरा नहीं मानता।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

प्रवृत्तिम्=धर्म में प्रवृत्त होने को; **च**=तथा; **निवृत्तिम्**=अधर्म से निवृत्त होने को; **च**=भी; **जनाः**=मनुष्य; **न**=नहीं; **विदुः**=जानते; **आसुराः**=आसुरी स्वभाव वाले; **न**=न; **शौचम्**=शरीर और अन्तःकरण की शुद्धि; **न**=न; **अपि च**=तथा; **आचारः**=आचार; **न**=न; **सत्यम्**=सत्य-भाषण; **तेषु**=उनमें; **विद्यते**=होता है।

अनुवाद

आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य नहीं जानते कि क्या करना है और क्या नहीं करना है। उनमें न तो शरीर और अन्तःकरण की शुद्धि होती है, न सदाचार होता और न सत्य ही होता है।।७।।

तात्पर्य

किसी भी सभ्य समाज में कुछ ऐसे शास्त्रीय विधि-विधान अवश्य रहते हैं, जिनका आजन्म पालन किया जाता है। आर्यों के सम्बन्ध में, जो वैदिक संस्कृति को मानते हैं और सबसे अधिक सभ्य समझे जाते हैं, यह विशेष रूप से सत्य है। जो शास्त्र-विधि को नहीं मानते, वे असुर हैं। इसीलिए कहा है कि असुरों में न तो शास्त्र-विधि का कुछ ज्ञान होता है और न ही उसके पालन में उनकी कभी प्रवृत्ति ही होती है। अधिकांश में तो वे शास्त्र के विधान को जानते ही नहीं और यदि कुछ जानते भी हों तो उसके पालन में प्रवृत्त नहीं होते। उनमें लेशमात्र भी श्रद्धा नहीं होती, इसीलिए वे कभी वैदिक-विधान के अनुसार कर्म करना नहीं चाहते। असुर शरीर और अन्तःकरण दोनों प्रकार से अशुद्ध रहते हैं। शरीर की शुद्धि के लिए नियमित रूप से स्नान, दन्त-धावन, वस्त्र-परिवर्तन, आदि करते रहना चाहिए। जहाँ तक अन्तःकरण की शुद्धि का सम्बन्ध है, श्रीभगवान् के स्मरण के लिए **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** इस महामन्त्र का निरन्तर जप-कीर्तन करना चाहिए। आसुरों को बाहर-भीतर की शुद्धि के ये नियम न तो रुचिकर होते और न ही वे इनका पालन करते हैं।

मनुष्य के सदाचरण के लिए मनु संहिता जैसे अनेक विधि-विधान हैं, जिनका विधान सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए है। आज भी ऐसे मनुष्य हैं, जो मनु के विधान का अनुसरण करते हैं। उत्तराधिकार आदि के विधान इसी मनु संहिता से निकले हैं। इस शास्त्र में उल्लेख है कि स्त्री को कभी स्वतन्त्रता नहीं देनी चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि स्त्रियों को पराधीन बनाकर रखा जाय। अभिप्राय यह है कि स्त्रियाँ बालकों के समान ही अल्पज्ञ होती हैं। बालकों को स्वतन्त्र नहीं छोड़ा जाता; परन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि वे पराधीन रहते हैं। असुर इन विधानों की उपेक्षा कर रहे हैं। वे सोचते हैं कि स्त्रियों को पुरुषों के समान स्वतन्त्रता होनी चाहिए। परन्तु इससे जगत् के सामाजिक तन्त्र में कोई सुधार नहीं हुआ है। वास्तव में स्त्री को जीवन के पथ-पथ पर संरक्षण की अपेक्षा है। कौमार अवस्था में उसे पिता का संरक्षण चाहिए, यौवन में पति का और वृद्धावस्था में पुत्रों का संरक्षण अपेक्षित है। मनुसंहिता के मत में यही सामाजिक सदाचार हैं। दुर्भाग्यवश, आधुनिक शिक्षा ने स्त्रियों की स्वतन्त्रता की एक कृत्रिम गर्विष्ठ धारणा को जन्म दिया है, जिससे विवाह मानवसमाज का एक काल्पनिक सम्बन्ध मात्र बनकर रह गया है। परिणामस्वरूप, वर्तमान समय में स्त्रियों का घोर नैतिक पतन हुआ है। सारांश में, कहने का भाव यह है कि असुर ऐसे किसी

विधान को नहीं मानते, जो समाज के लिए कल्याणकारी हो। वे ऋषियों के विधि-विधान का पालन नहीं करते। इसलिए उनके अनुभव से लाभ उठाने से वंचित रह जाते हैं। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह है कि असुरों की सामाजिक परिस्थिति बड़ी ही दुःखमय है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

असत्यम्=मिथ्या; **अप्रतिष्ठम्**=आश्रय से रहित; **ते**=वे; **जगत्**=जगत्; **आहुः**=कहते हैं; **अनीश्वरम्**=किसी ईश्वर के बिना; **अपरस्पर**=परस्पर स्त्री-पुरुष के संभोग से; **सम्भूतम्**=उत्पन्न; **किम् अन्यत्**=और क्या; **कामहैतुकम्**=काम ही हेतु है।

अनुवाद

वे असुर कहते हैं कि यह जगत् मिथ्या है; इसका न तो कोई आश्रय है और न ही कोई ईश्वर है। यह काम से उत्पन्न हुआ है, इसका कोई दूसरा कारण नहीं है।।८।।

तात्पर्य

आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों की मान्यता में जगत् मिथ्या है। इसका न तो कोई कारण है, न कार्य है, न ईश्वर है और न ही कोई प्रयोजन है—सभी कुछ मिथ्या है। वे कहते हैं कि यह ब्रह्माण्डीय सृष्टि प्रासंगिक प्राकृत क्रिया-प्रक्रिया से होती है; वे नहीं समझते कि इस जगत् का कोई ईश्वर भी है, जिसने इसकी रचना किसी उद्देश्य से की है। इस सम्बन्ध में उनका हठ है कि जगत् अपने-आप उत्पन्न हुआ है, इसलिए यह सोचने का कोई कारण नहीं कि इसके पीछे किसी ईश्वर का हाथ है। उनके लिए आत्मतत्त्व और जड़ प्रकृति में कोई भेद नहीं है, वे परम-चेतन को नहीं मानते। सब कुछ जड़-तत्त्व है और सम्पूर्ण सृष्टि मानो अविद्या का एक पुंज मात्र है। उनके अनुसार, सब कुछ शून्य ही शून्य है; अतः जो कुछ भी सृष्टि दिखती है, वह केवल हमारा दृष्टिभ्रम है। उनका पूर्वाग्रह है कि वैचित्री की सारी अभिव्यक्ति अविद्या का कार्य है। इसके लिए वे स्वप्न का उदाहरण देते हैं—जैसे स्वप्न में हम अनेक वस्तुओं की कल्पना कर लेते हैं, जिनका कोई अस्तित्त्व नहीं होता और जागने पर ज्ञात होता है कि वह सब केवल स्वप्न था। यद्यपि असुर जीवन को स्वप्न कहते हैं, परन्तु देखा जाता है कि वे इस स्वप्न का आनन्द लेने में बड़े कुशल हैं।अतः ज्ञान का अर्जन करने के स्थान पर वे अपने स्वप्नलोक में ही उत्तरोत्तर आलिप्त होते जाते हैं। उनकी मान्यता है कि जैसे स्त्री-पुरुष के संयोग से बालक का जन्म होता है, उसी प्रकार इस संसार की उत्पत्ति किसी आत्मा (आत्मतत्त्व) के बिना हुई है। जड़प्रकृति के संयोग से प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, इसलिए आत्मा के अस्तित्त्व का तो प्रश्न ही नहीं बनता, ऐसी उनकी मान्यता है। जैसे स्वेदस्राव और मृत-देह से अपने-आप बहुत से कीटाणु निकलते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्डीय सृष्टि के प्राकृत सम्मिश्रणों से सम्पूर्ण प्राणी-समाज निकला है। अतः अपरा प्रकृति के अतिरिक्त सृष्टि का कोई अन्य कारण नहीं है। वे भगवद्गीता में आए श्रीकृष्ण के इन वचनों पर विश्वास नहीं करते,

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। "मेरी अध्यक्षता में सम्पूर्ण प्राकृत-जगत् क्रियाशील है।" भाव यह है कि असुरों में इस जगत् की सृष्टि का कोई यथार्थ ज्ञान नहीं होता; उनमें से प्रत्येक का अपना विशेष मत है। उनके अनुसार, शास्त्रों का कुछ भी अर्थ किया जा सकता है, क्योंकि वे शास्त्रीय-विधानों को प्रामाणिक रूप से समझने में विश्वास नहीं रखते।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

एताम्=इस; दृष्टिम्=अपनी बुद्धि द्वारा निर्णय किए हुए मत को; **अवष्टभ्य**=अवलम्बन करके; **नष्ट आत्मानः**=देह से भिन्न आत्मतत्त्व को न जानने वाले; **अल्प-बुद्धयः**=तुच्छ मति वाले; **प्रभवन्ति**=उत्पन्न होते हैं; **उग्रकर्माणः**=हिंसा आदि क्रूर-कर्म करने वाले; **क्षयाय**=नाश के लिए; **जगतः**=जगत् का; **अहिताः**=सबका बुरा करने वाले दुष्ट।

अनुवाद

इस प्रकार के मतों को धारण करके जिनका आत्मज्ञान नष्ट हो गया है, जो अल्पबुद्धि हैं और क्रूर कर्मों द्वारा सब का अहित करते हैं, वे आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य जगत् के नाश के लिए ही उत्पन्न होते हैं।।९।।

तात्पर्य

आसुरी स्वभाव वाले ऐसे क्रूर कर्मों में प्रवृत्त हो रहे है, जिनसे जगत् का नाश हो जायगा। श्रीभगवान् कहते हैं कि वे अल्पज्ञ हैं, अर्थात् उनकी मति अति तुच्छ है। ईश्वर की धारणा से शून्य विषयी समझते हैं कि वे उन्नति कर रहे हैं; परन्तु भगवद्गीता के मत में तो वे बुद्धिहीन और विचारशून्य ही हैं। वे इस प्राकृत-जगत् को अधिक से अधिक भोगना चाहते है; अतः इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कुछ न कुछ नया आविष्कार करने में ही लगे रहते हैं। आज समाज में ऐसे आविष्कारों को उन्नति-सूचक माना जाता है। परन्तु इसका परिणाम यह है कि लोगों में हिंसा और क्रूरता बढ़ रही है। पशुओं से क्रूरता की तो बात ही क्या, वे तो आपस में भी व्यवहार करना नहीं जानते—मनुष्य मनुष्य से क्रूरता करता है। आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों में पशु-हिंसा की प्रमुखता रहती है। ऐसे नरपशु वास्तव में संसार के शत्रु हैं, क्योंकि अपने उग्रकर्मों की शृंखला में वे एक दिन ऐसा आविष्कार कर लेंगे, जिससे सबका नाश हो जायगा। प्रकारान्तर से यहाँ अणु बमों के निर्माण की पूर्वसूचना है, जिनका आज सम्पूर्ण विश्व को बड़ा गर्व है। किसी भी क्षण भीषण युद्ध छिड़ सकता है। उस परिस्थिति में ऐसे बमों का भयंकर परिणाम होगा। जैसा श्लोक में स्पष्ट है, ऐसे अस्त्रों को केवल जगत् के नाश के लिए बनाया जाता है। मानवसमाज द्वारा इस प्रकार के अस्त्रों के आविष्कार का एकमात्र कारण नास्तिकता है; इनका उद्देश्य जगत् में सुख-समृद्धि और शान्ति करना नहीं है।

कामममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

कामम्=विषय-तृष्णा का; **आश्रित्य**=आश्रय लेकर; **दुष्पूरम्**=कभी न पूर्ण होने वाली; **दम्भ**=गर्व; **मान**=मिथ्या अहंकार; **मदान्विताः**=मद से युक्त हुए; **मोहात्**=मोहवश; **गृहीत्वा**=ग्रहण करके; **असत्**=क्षणभंगुर; **ग्राहान्**=वस्तुओं को; **प्रवर्तन्ते**=कर्म करते हैं; **अशुचिव्रताः**=भ्रष्ट व्रतों वाले।

अनुवाद

ये असुर कभी न तृप्त होने वाले काम, दर्प और मिथ्या अभिमान का आश्रय लेकर मोहवश क्षणभंगुर पदार्थों में आसक्त हुए दूषितकर्म का व्रत धारण किए रहते हैं।।१०।।

तात्पर्य

यह आसुरी स्वभाव का विवरण है। असुरों की विषय-तृष्णा कभी शान्त नहीं होती, विषयों को भोगने की इच्छायें सदा बढ़ती ही जाती हैं। क्षणभंगुर वस्तुओं की आसक्ति उन्हें सदा चिन्तामग्न रखती है; परन्तु फिर भी मोहवश वे इन्हीं क्रियाओं में लगे रहते हैं। अज्ञान के कारण वे कभी नहीं जान पाते कि हम भ्रष्ट पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। ये असत्-ग्राही असुर अपने देवता, अपनी ही आराधना और अपने ही मन्त्रादि की कल्पना कर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि वे कामिनी-काँचन में उत्तरोत्तर अधिक लिप्त होते जाते हैं। इस सन्दर्भ में **अशुचिव्रताः** शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। असुरों के आकर्षण के केन्द्र मदिरा, माँस, द्युत और कामिनी ही हैं। वस्तुतः ये उनके अशुचि, अर्थात् दूषितव्रत हैं। वे गर्व और अभिमान से प्ररित होकर वैदिक-विधान के विरुद्ध धर्म के सिद्धांतों की रचना किया करते हैं. संसार में परम अधम होते हुए भी दम्भ से पूज्यभाव को प्राप्त कर लेते हैं; यद्यपि वे नरक में गिर रहे हैं, परन्तु फिर भी अपने को बहुत श्रेष्ठ समझते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

चिन्ताम्=भय और चिन्ताओं को; **अपरिमेयाम्**=अपार; **च**=तथा; **प्रलयान्ताम्**=मरणकाल तक; **उपाश्रिताः**=आश्रय करके; **कामोपभोगपरमाः**=इन्द्रियतृप्ति को जीवन का परमलक्ष्य मानने वाले; **एतावत्**=इतना ही है; **इति**=ऐसा; **निश्चिताः**=मानने वाले; **आशापाशशतैः**=आशारूप हजारों बन्धनों में; **बद्धाः**=बँधे हुए; **कामक्रोधपरायणाः**=सदा काम क्रोध के परायण; **ईहन्ते**=चेष्टा करते हैं; **कामभोगार्थम्**=विषयभोग के लिए; **अन्यायेन**=अन्यायपूर्वक (जैसे चोरी से); **अर्थ**=धन के; **संचयान्**=संचय के लिए।

अनुवाद

वे मानते हैं कि जीवन के अन्तिम क्षण तक इन्द्रियों की तृप्ति करना ही मनुष्ययोनि का प्रधान प्रयोजन है। इसलिए उनकी चिन्ताओं का कभी अन्त नहीं होता। आशारूप हजारों बन्धनों में बँधे हुए और काम-क्रोध के परायण हुए इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय करने की चेष्टा करते हैं।।११-१२।।

तात्पर्य

असुर समझते हैं कि इन्द्रियों की तृप्ति करना जीवन का परम लक्ष्य है; मरणकाल की अवधि तक आजीवन उनकी यही धारणा बनी रहती है। मृत्यु के बाद भी कोई जीवन है, यह वे नहीं मानते और न ही यह मानते कि इस संसार में किए कर्म के अनुसार नाना प्रकार की योनियों की प्राप्ति होती है। जीवन के लिए उनकी अनन्त योजनायें हैं; वे योजना पर योजना बनाते रहते हैं, जो कभी पूर्ण नहीं होतीं। हमें ऐसे ही एक आसुरी मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव है, जो मृत्यु के समय भी चिकित्सक से अपनी जीवन को चार वर्ष के लिए बढ़ा देने का निवेदन कर रहा था, जिससे वह अपनी अपूर्ण योजना पूर्ण कर सके। ऐसे मूर्ख मनुष्य नहीं जानते कि कोई चिकित्सक जीवन की नियत आयु में एक क्षण की भी अभिवृद्धि नहीं कर सकता। किसी की कामना पूरी हुई है या नहीं, मृत्यु यह नहीं देखती। प्रकृति का नियम इतना कठोर है कि कोई नियतकाल से एक क्षण भी अधिक भोग नहीं कर सकता।

ईश्वर अथवा अपने अन्तर्यामी परमात्मा में श्रद्धाविहीन आसुरी स्वभाव वाला इन्द्रियतृप्ति के लिए नाना प्रकार के पापकर्म करता है। वह नहीं जानता कि इस सब का कोई साक्षी भी है, जो उसके हृदय में ही बैठा है। परमात्मा जीव के सब कार्यों को देखते रहते हैं। जैसा उपनिषदों में उल्लेख है, एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक पक्षी तो कर्म करता हुआ शाखा पर लगने वाले सुख-दुःखरूपी फलों को भोग रहा है, जबकि दूसरा केवल उसका साक्षी है। आसुरी मनुष्य में न तो वैदिक शास्त्रों का ज्ञान होता है और न श्रद्धा ही होती है। अतः परिणाम की चिन्ता किए बिना इन्द्रिय-तृप्ति के लिए स्वेच्छाचार करने में वह अपने को स्वतंत्र समझता है।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१४।।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

इदम्=यह; **अद्य**=आज; **मया**=मैंने; **लब्धम्**=प्राप्त किया; **इमम्**=यह; **प्राप्स्ये**=प्राप्त करूँगा; **मनोरथम्**=मन की कामना को; **इदम्**=यह; **अस्ति**=है; **इदम्**=यह; **अपि**=भी; **मे**=मेरा; **भविष्यति**=भविष्य में बढ़ेगा; **पुनः**=फिर; **धनम्**=

धन; **असौ**=वह; **मया**=मेरे द्वारा **हतः**=मारा गया; **शत्रुः**=शत्रु; **हनिष्ये**=मैं मारूँगा; **च** **अपरान्**=औरों को भी; **अपि**=निःसन्देह; **ईश्वरः**=ईश्वर हूँ; **अहम्**=मैं; **अहम्**=मैं; **भोगी**=सब भोगों से युक्त (हूँ); **सिद्धः**=सिद्ध (हूँ); **अहम्**=मैं; **बलवान्**=बलशाली; **सुखी**=सुखी (हूँ); **आढ्यः**=धनवान्; **अभिजनवान्**=कुलीन सम्बन्धियों के घिरा हुआ; **अस्मि**=(मैं) हूँ; **कः**=कौन; **अन्यः**=दूसरा; **अस्ति**=है; **सदृशः**=समान; **मया**=मेरे; **यक्ष्ये**=यज्ञ करूँगा; **दास्यामि**=धन दूँगा; **मोदिष्ये**=आनन्द करूँगा; **इति**=इस प्रकार; **अज्ञान**=अज्ञान (द्वारा); **विमोहिताः**=मोहित रहते हैं।

अनुवाद

आसुरी स्वभाव वाले सोचा करते हैं कि मैंने आज यह धन प्राप्त किया और इस मनोरथ को भी प्राप्त करूँगा; मेरे पास इतना धन है और भविष्य में इतना और अधिक बढ़ जायगा। वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, दूसरे शत्रुओं को भी मारूँगा। मैं सबका ईश्वर हूँ; मैं भोक्ता हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान् और ऐश्वर्यशाली कुटुम्बियों वाला हूँ। मेरे समान शक्तिशाली और सुखी दूसरा कौन है। मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, और आनन्द करूँगा। इस प्रकार के अज्ञान से ये असुर सदा मोहित रहते हैं।।१३-१५।।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

अनेक=भाँति-भाँति से; **चित्तविभ्रान्ताः**=आतुर चित्त वाले; **मोहजाल-समावृताः**=मोह रूप जाल में बँधे हुए; **प्रसक्ताः**=आसक्त; **कामभोगेषु**=विषय-भोग की कामना में; **पतन्ति**=गिरते हैं; **नरके**=नरक में; **अशुचौ**=अपवित्र।

अनुवाद

इस प्रकार भाँति-भाँति की चिंताओं से भ्रमित चित्त वाले, मोहरूप जाल में बँधे हुए तथा विषयभोग में अति आसक्ति वाले दुष्ट महान् अपवित्र नरक में गिरते हैं।।१६।।

तात्पर्य

आसुरी मनुष्य की धन-संचय की इच्छा का कोई अन्त नहीं होता; वह सदा अनन्त बनी रहती है। वह बस यही विचार करता रहता है कि इस समय उसके पास कितनी पूंजी है और उसे किस प्रकार अधिक से अधिक बढ़ाया जाय। इसके लिए वह कुछ भी पापकर्म करने में संकोच नहीं करता; यहाँ तक कि इन्द्रियतृप्ति के लिए काला बाजार तक करता है। अपनी भूमि, परिवार, घर, धन आदि सम्पत्ति के मोह में वह उन्हें बढ़ाने की चिन्ता में रहता है। वह केवल अपनी सामर्थ्य में विश्वास रखता है और यह नहीं जानता कि उसे जो कुछ भी उपलब्धि होती है, वह सब पूर्वजन्म के पुण्यों का परिणाम है। वह नहीं समझ पाता कि उसे धन-संचय का अवसर पूर्वजन्म के कारणों से मिला है। आसुरी मनुष्य का विश्वास केवल अपनी शक्ति में रहता है, कर्म के

विधान में नहीं। कर्म का नियम है कि उच्चकुल में जन्म, सुन्दरता, शिक्षा अथवा धन की प्राप्ति पूर्वजन्म के पुण्य के कारण होती है। असुर समझता है कि ये सब वस्तुऐं अकस्मात् मिली हैं और इसमें उसकी अपनी सामर्थ्य ही कारण है। उसे भाँति भाँति के लोगों, रूप-रंग और शिक्षा के पीछे किसी ईश्वरीय व्यवस्था की अनुभूति नहीं होती। जो कोई भी ऐसे असुर के साथ स्पर्धा करता है, वह उसे अपना शत्रु समझता है। आज के जगत् में बहुत से ऐसे आसुरी मनुष्य हैं, जो परस्पर एक-दूसरे के शत्रु हैं। यह शत्रुता व्यक्तियों से बढ़ते-चढ़ते परिवारों, समाजों और अन्त में राष्ट्रों तक में हो जाती है। यही कारण है कि आज सारा संसार कलह, युद्ध और शत्रुता से परिपूर्ण हो रहा है।

आसुरी स्वभाव वाला समझता है कि वह अन्य सब के भाग को भोग सकता है। सामान्यतः वह अपने को ही परमेश्वर समझता है। आसुर-भाव का प्रचारक अपने अनुयायियों से कहता है, "ईश्वर को बाहर कहाँ ढूँढ रहे हो ? तुम स्वयं ईश्वर हो; जो चाहो, वही करो। ईश्वर में विश्वास मत करो। ईश्वर को फैंक डालो। ईश्वर मर गया है।" ये आसुरी शिक्षा के कुछ उदाहरण हैं।

यह देखते हुए भी कि दूसरे उससे अधिक भी धनी और प्रभावशाली हैं, आसुरी मनुष्य समझता है कि उस के जैसा धनवान् और बलशाली कोई नहीं हो सकता। जहाँ तक स्वर्ग-प्राप्ति का सम्बन्ध है, वह यज्ञ करने में विश्वास नहीं रखता। असुर समझते हैं कि यज्ञ करने के स्थान पर वे ऐसा यन्त्र बना लेंगे जिससे किसी भी उच्च लोक को जाया जा सके। ऐसे असुरों का सबसे उत्तम प्रतीक रावण है। वह ऐसी सीढ़ी बनाना चाहता था, जिससे वेद-विहित यज्ञ किए बिना उच्च लोकों को प्राप्त किया जा सके। आधुनिक युग में रावण की ही कोटि के आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य संयन्त्रीय व्यवस्था के द्वारा उच्च लोकों को जाने के लिए प्रयत्नशील हैं। ये सब भ्रम के चिन्ह हैं। इसका परिणाम यह है कि वे जाने-अनजाने अपवित्र नरकों में गिर रहे हैं। मोहजाल शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। जाल में फँसी मछलियों के समान असुरों के लिए इस बन्धन से निकलने का कोई मार्ग नहीं है।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

आत्मसम्भाविताः=अपने को ही श्रेष्ठ मानने वाले; **स्तब्धाः**=अशिष्ट; **धनमानमदान्विताः**=धन और मान के मद से अंधे हुए; **यजन्ते**=पूजन करते हैं; **नामयज्ञैः**=नाममात्र के यज्ञों द्वारा; **ते**=वे; **दम्भेन**=पाखण्ड से; **अविधिपूर्वकम्**=शास्त्र-विधि के बिना।

अनुवाद

वे अपने को ही श्रेष्ठ मानने वाले, अशिष्ट व्यवहार वाले, धन और मान के मद से अंधे असुर शास्त्रविधि के बिना नाममात्र के यज्ञ करते हैं।।१७।।

तात्पर्य

अपने को ही सब कुछ समझ कर आसुरी मनुष्य शास्त्रों और सत्पुरुषों की उपेक्षापूर्वक नाममात्र के धार्मिक अथवा याज्ञ कर्म करते हैं। वे किसी में पूज्यभाव नहीं रखते; उनका व्यवहार बड़ा ही अशिष्ट होता है। इसका कारण धन और मान से होने वाली मोहांधता है। ये असुर कभी-कभी दम्भपूर्वक धर्मोपदेशक का वेष बना कर लोगों को सन्मार्ग से भ्रष्ट करते हैं। दुर्भाग्यवश ऐसे धर्मध्वजियों को बहुधा सन्त अथवा अवतार समझ कर पूजा जाता है। वे नाममात्र के यज्ञों से यजन करते हैं, देव-पूजन करते हैं अथवा अपने ही ईश्वर की कल्पना कर लेते हैं। सामान्य मनुष्य भी उन्हें ईश्वर मानकर पूजते हैं। मूर्खों द्वारा ऐसे मनुष्य धर्म अथवा ज्ञान में उन्नत समझे जाते हैं। संन्यास के वेष की आड़ में नाना प्रकार का दुराचार करते हुए ये संन्यासी के लिए विहित विधान की बिल्कुल उपेक्षा कर देते हैं। समझते हैं कि अपनी कल्पना के अनुसार किसी मार्ग पर चला जा सकता है, क्योंकि ऐसा कोई आदर्श-मार्ग नहीं है, जो सब के लिए अनुसरण के योग्य हो। **अविधिपूर्वकम्** शब्द का विशेष अभिप्राय है। वास्तव में इस सम्पूर्ण दुराचरण का कारण अज्ञान और मोह है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

अहंकारम्=मिथ्या अभिमान ; **बलम्**=बल; **दर्पम्**=घमण्ड; **कामम्**=काम; **क्रोधम्**=क्रोध के; **च**=तथा; **संश्रिताः**=परायण; **माम्**=मुझ से; **आत्मपरदेहेषु**=अपने और दूसरों के शरीर में स्थित; **प्रद्विषन्तः**=द्वेष करते हैं; **अभ्यसूयकाः**=ईर्ष्यालु।

अनुवाद

मिथ्या अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध से मोहित हुए असुर सच्चे धर्म की निन्दा करते हुए अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमेश्वर से द्वेष करते हैं।।१८।।

तात्पर्य

भगवान् की प्रभुसत्ता के विरोधी आसुरी मनुष्य को शास्त्रों में विश्वास करना अच्छा नहीं लगता। वह शास्त्रों और श्रीभगवान् दोनों के अस्तित्त्व से ईर्ष्या करता है। इसका कारण है तथाकथित मान और धनबलादि का संग्रह। वह नहीं जानता कि पुनर्जन्म इस जीवन पर निर्भर करता है। यह न जानते हुए वह दूसरों और अपने आत्मा के साथ तक द्वेष कर बैठता है। दूसरों के शरीर के साथ अपने शरीर की भी हिंसा करने में वह संकोच नहीं करता; ज्ञान के अभाव में श्रीभगवान् के परमेश्वरत्व की सर्वथा अवहेलना कर बैठता है। इस प्रकार शास्त्रों और भगवान् के प्रति ईर्ष्या भाव से भरा असुर श्रीभगवान् के अस्तित्व के विरुद्ध मिथ्या तर्क रखता है और शास्त्रों के अधिकार को चुनौती देता है। वह समझता है कि वह स्वेच्छाचार करने में स्वतन्त्र और समर्थ है। सोचता है कि बल, शक्ति और धन में उसका सामना करने

वाला कोई नहीं है; इसलिए वह जो चाहे कर सकता है, कोई उसे नहीं रोक सकता। यदि विषयीकर्मों में किसी शत्रु से विघ्न का भय हो तो वह अपनी शक्ति से उसे समाप्त करने की योजनाएँ बनाया करता है।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

तान्=उन; **अहम्**=मैं; **द्विषतः**=द्वेष करने वाले; **क्रूरान्**=क्रूरकर्मियों को; **संसारेषु**=भवसागर में; **नराधमान्**=मनुष्यों में अधम; **क्षिपामि**=गिराता हूँ; **अजस्रम्**=निरन्तर; **अशुभान्**=अशुभ; **आसुरीषु**=आसुरी; **एव**=ही; **योनिषु**=योनियों में।

अनुवाद

उन द्वेष करने वाले दुराचारी तथा क्रूरकर्मी नराधमों को मैं भवसागर में निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।।१९।।

तात्पर्य

स्पष्ट है कि जीव को किसी भी योनि में डालने का परमेश्वर को पूरा अधिकार है। आसुरी स्वभाव वाले चाहे श्रीभगवान् की प्रभुसत्ता को न मानें और मनमाना आचरण करें; परन्तु पुनर्जन्म का निर्धारण तो श्रीभगवान् के निर्णय से ही होगा, उनकी इच्छा से नहीं। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में उल्लेख है कि जीव की देह का नाश होने पर उसे माँ के गर्भ में स्थापित कर दिया जाता है, जहाँ दैवी-शक्ति की प्रेरणा से उसे फिर से उपयुक्त देह मिलती है यही कारण है कि प्राकृत-जगत् में पशु, पक्षी, कीट. मनुष्य आदि कितनी ही योनियाँ हैं। इन सब की व्यवस्था दैवी प्रकृति के हाथ में है। यह सब कुछ अकस्मात् नहीं होता। जहाँ तक आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों का सम्बन्ध है, श्लोक से स्पष्ट है कि उन्हें निरन्तर आसुरी योनियों में गिराया जाता है, जिससे वे द्वेषी और नराधम बने रहते हैं। ये आसुरी योनियाँ सदा काम क्रोध, हिंसा और द्वेष से पूर्ण तथा अशुद्ध रहती हैं। अतएव ऐसे मनुष्य प्रायः जंगली पशुओं के समान होते हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

आसुरीम्=आसुरी; **योनिम्**=योनि को; **आपन्नाः**=प्राप्त हुए; **मूढाः**=मूढ़ मनुष्य; **जन्मनिजन्मनि**=जन्म-जन्म में; **माम्**=मुझको; **अप्राप्य**=प्राप्त न होकर; **एव**=निःसन्देह; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **ततः**=उससे भी; **यान्ति**=जाते हैं; **अधमाम्**=अधम; **गतिम्**=गति को।

अनुवाद

हे अर्जुन! जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होकर वे मूढ़ मुझ को कभी

प्राप्त नहीं होते और फिर उससे भी परम अधम गति में गिरते हैं।।२०।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् को परम करुणामय कहा जाता है; परन्तु यहाँ लगता है कि वे आसुरी स्वभाव वालों पर कभी दया नहीं करते। उन्हें जन्म-जन्म में उनके जैसे असुरों के गर्भ में ही गिराया जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् की करुणा से वंचित हुए वे निरन्तर अधःपतन को प्राप्त होते हैं और अन्त में कूकर-शूकर योनियों को धारण करते हैं। स्पष्ट कहा गया है कि इन असुरों को किसी भी अवस्था में भगवत्कृपा की प्राप्ति का अवसर प्रायः कभी नहीं मिल सकता। वेदों में भी कहा है कि ऐसे प्राणी शनैः-शनैः गिर कर कूकर-शूकर बन जाते हैं। यह तर्क उठ सकता है कि यदि यह सत्य है कि श्रीभगवान् ऐसे असुरों पर दया नहीं करते, तो उन्हें दयामय क्यों कहा जाता है? इसके उत्तर में 'वेदान्तसूत्र' में कथन है कि श्रीभगवान् किसी जीव से द्वेष नहीं करते। असुरों को परम अधम गति में गिराना भी उनकी करुणा का ही एक रूप है। श्रीभगवान् कभी-कभी स्वयं असुरों का वध करते हैं; परन्तु यह भी उनके लिए परम कल्याण का कारण सिद्ध होता है। वैदिक शास्त्रों का सिद्धान्त है कि जो कोई श्रीभगवान् के हाथ से मारा जाता है, वह सद्योमुक्ति-लाभ करता है। इतिहास में रावण, कंस, हिरण्यकशिपु जैसे अनेक असुरों का विवरण है, जिनका वध करने के लिए श्रीभगवान् ने नाना अवतार धारण किए। अतएव श्रीभगवान् के द्वारा मारे जाने के रूप में भाग्यशाली असुरों पर उनकी करुणा प्रकट होती है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

त्रिविधम्=तीन प्रकार के; **नरकस्य**=नरक के; **इदम्**=यह; **द्वारम्**=द्वार हैं; **नाशनम्**=नाश करने वाले; **आत्मनः**=आत्मा का; **कामः**=काम; **क्रोधः**=क्रोध; **तथा**=और; **लोभः**=लोभ; **तस्मात्**=इसलिए; **एतत्**=इन; **त्रयम्**=तीनों को; **त्यजेत्**=त्याग देना चाहिए।

अनुवाद

काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों आत्मा का अधःपतन करने वाले साक्षात् नरक के द्वार हैं। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को इन तीनों को त्याग देना चाहिए।।२१।।

तात्पर्य

आसुरी जीवन का सूत्रपात किस प्रकार होता है—यह यहाँ बताया गया है। मनुष्य अपने काम-विकार को तृप्त करने का प्रयत्न करता है और ऐसा न कर सकने पर उसमें क्रोध और लोभ का उदय हो जाता है। जो बुद्धिमान् मनुष्य आसुरी योनियों में गिरना नहीं चाहता, उसे इन तीनों शत्रुओं को त्यागने का पूरा प्रयास करना चाहिए, क्योंकि इनसे उस सीमा तक आत्मनाश हो सकता है कि फिर इस भवबन्धन से मुक्ति की कोई संभावना ही न रहे।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।।

एतैः=इन से; **विमुक्तः**=मुक्त हुआ; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **तमः द्वारैः**=नरक के द्वारों से; **त्रिभिः**=तीनों; **नरः**=मनुष्य; **आचरति**=आचरण करता है; **आत्मनः**=आत्मा के; **श्रेयः**=कल्याण-साधन का; **ततः**=उससे; **याति**=प्राप्त होता है; **पराम्**=परम; **गतिम्**=गति को।

अनुवाद

हे अर्जुन ! इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त पुरुष स्वरूप-साक्षात्कार के अनुरूप साधन का आचरण करता है और इससे शनैः-शनैः परमगति को प्राप्त हो जाता है।।२२।।

तात्पर्य

काम, क्रोध और लोभ—मानवजीवन के इन तीनों शत्रुओं से विल्कुल सजग रहना चाहिए। मनुष्य इन विकारों से जितना अधिक मुक्त होगा, उतना ही उसका सत्त्व अधिक शुद्ध होता जायगा। तव वह वैदिक शास्त्रों के विधि-विधान का आचरण कर सकेगा। मानव जीवन के संयम के पालन से शनैः-शनैः स्वरूप-साक्षात्कार के स्तर पर आरूढ़ हुआ जा सकता है। यदि कोई भाग्यशाली इस अभ्यास से कृष्णभावनाभावित हो जाय, तो उसकी सफलता निश्चित है। वैदिक शास्त्रों में शुद्धिकरण के लिए कर्म और कर्मफल की विधियों का निर्देश है। सम्पूर्ण पद्धति का सार काम, क्रोध और लाभ को त्यागना ही है। इस प्रकार ज्ञान का अनुशीलन करने पर स्वरूप-साक्षात्कार की परमोच्च अवस्था सुलभ हो सकती है, जिसकी पूर्णता भक्तियोग में है। अतएव भक्तियोग से युक्त बद्धजीव की मुक्ति निश्चित है। वैदिक शास्त्रों में चार वर्ण-आश्रमों का विधान भी इसी उद्देश्य से किया गया है। समाज की भिन्न-भिन्न वर्ण-जातियों के लिए अलग-अलग विधि-विधान हैं; जो मनुष्य इनका यथायोग्य पालन करता है, वह स्वरूप-साक्षात्कार की परमोच्च भूमि पर स्वतः आरूढ़ हो जाता है। तव उसकी मुक्ति में कुछ भी सन्देह नहीं रहता।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

यः=जो; **शास्त्रविधिम्**=शास्त्र-विधि को; **उत्सृज्य**=त्यागकर; **वर्तते**=आचरण करता है; **कामकारतः**=अपनी इच्छा से; **न**=न (तो); **सः**=वह; **सिद्धिम्**=सिद्धि को; **अवाप्नोति**=प्राप्त होता; **न**=न; **सुखम्**=सुख को; **न**=न; **पराम् गतिम्**=परम गति को।

अनुवाद

परन्तु जो मनुष्य शास्त्र-विधि को त्याग कर अपनी इच्छा के अनुसार आचरण

करता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को और न परमगति को ही प्राप्त होता है।।२३।।

तात्पर्य

कहा जा चुका है कि मानवसमाज की सभी वर्ण-जातियों के लिए शास्त्र-विधि है; मनुष्यमात्र को इन विधानों का अनुसरण करना चाहिए। जो पुरुष इन्हें न मानकर काम, क्रोध, और लोभ से प्रेरित होकर स्वेच्छाचार करता है, वह जीवन की सिद्धि को कभी प्राप्त नहीं हो सकता। भाव यह है कि जो मनुष्य इस तत्त्व को जानता है, परन्तु इसके अनुसार जीवन में आचरण नहीं करता, उसे नराधम समझना चाहिए। मनुष्ययोनि में जीव से यह अपेक्षा है कि वह बुद्धिमानी के साथ उन विधानों का पालन करेगा, जो जीवन की परमगति की प्राप्ति के लिए हैं। परन्तु यदि वह शास्त्र-विधि को नहीं मानता तो अपनी आत्मा को अधःपतन को पहुँचाता है। इतना ही नहीं, शास्त्र के विधान का और सामान्य धर्म का पालन करने पर भी यदि अन्त में वह श्रीभगवान् को जानने के स्तर तक नहीं पहुँचता, तो उसका सारा ज्ञान व्यर्थ है। अतएव यह आवश्यक है कि शनैः शनैः कृष्णभावना और भक्तियोग के स्तर पर अपने को उठा ले। तभी परमसिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं।

कामकारतः शब्द का विशेष महत्त्व है। जो मनुष्य जानबूझ कर शास्त्र की अवज्ञा करता है, उसकी क्रिया निश्चित रूप से काम द्वारा प्रेरित है। वह जानता है कि यह निषिद्ध कर्म है, फिर भी कर बैठता है। इसी का नाम स्वेच्छाचार है। यह जानते हुए भी कि अमुक कर्तव्यकर्म करना है, उसे नहीं करता; इसलिए भी स्वेच्छाचारी है। ऐसे मनुष्यों का श्रीभगवान् के हाथों दण्डित होना निश्चित है। वे मानवजीवन की संसिद्धि को प्राप्त नहीं होते। मानवजीवन विशेष रूप से अपने सत्त्व की शुद्धि करने के लिए है। जो शास्त्रविधि का पालन नहीं करता, वह न तो अपनी शुद्धि कर सकता है और न ही कभी सच्चे सुख की अवस्था को प्राप्त हो सकता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।२४।।

तस्मात्=इसलिए; **शास्त्रम्**=शास्त्र (ही); **प्रमाणम्**=प्रमाण है; **ते**=तेरे लिए; **कार्य**=कर्तव्य; **अकार्य**=निषेध के; **व्यवस्थितौ**=निर्णय में; **ज्ञात्वा**=जानकर; **शास्त्र**=शास्त्रों के; **विधान**=विधान में; **उक्तम्**=कहे गए; **कर्म**=कर्म को; **कर्तुम्**=करने के; **इह अर्हसि**=योग्य है।

अनुवाद

इसलिए कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में तेरे लिए शास्त्र ही प्रमाण है। इस प्रकार शास्त्र-विधि को जानकर कर्म करना चाहिए, जिससे शनैः-शनैः मुक्ति हो जाय।।२४।।

तात्पर्य

पन्द्रहवें अध्याय में कहा जा चुका है कि वेदों के सम्पूर्ण विधि-विधान का

एकमात्र उद्देश्य श्रीकृष्ण को जानना है। यदि कोई भगवद्गीता से श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानकर और भक्तियोग में तत्पर होकर कृष्णभावनाभावित हो जाय तो समझना चाहिए कि वह वैदिक-शास्त्रों से होने वाले ज्ञान की सर्वोच्च पूर्णता को प्राप्त हो चुका है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस पद्धति को बड़ा सरल बना दिया है। उन्होंने जन-साधारण से निवेदन किया है कि वह केवल **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे** ***राम राम राम* हरे हरे,** इस *महामन्त्र* का कीर्तन करते हुए भक्तियोग में संलग्न रहे और प्रसाद पाये। जो मनुष्य प्रत्यक्ष रूप से इन भक्तिभावमय क्रियाओं में संलग्न है, वह निश्चित रूप से सम्पूर्ण वैदिकशास्त्रों का अध्ययन कर चुका है; उसे सार-तत्त्व उपलब्ध हो चुका है। अवश्य ही जो कृष्णभावनाभावित नहीं है अथवा भक्तियोग के परायण नहीं हैं, उन साधारणजनों के लिए कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय वैदिकविधान के आधार पर किया जाना चाहिए। ऐसा मनुष्य शास्त्रविधि का तर्क किए बिना पालन करें। इसका नाम शास्त्रानुगमन है। करणपाटव, विप्रलिप्सा, भ्रम और प्रमाद—बद्धजीवों के इन चारों दोषों से शास्त्र मुक्त हैं। इन दोषों के कारण कोई भी बद्धजीव स्वयं विधिविधान नहीं कर सकता। अतएव शास्त्रों के विधि-विधान को, जो उपरोक्त सभी दोषों से मुक्त हैं, सभी सन्त, आचार्य और महात्मा बदले बिना स्वीकार करते हैं।

आध्यात्मिक विद्या के अनेक सम्प्रदाय हैं; इनके सविशेषवादी और निर्विशेषवादी —ये दो मुख्य वर्गीकरण हैं। ये दोनों वैदिक-विधान के अनुसार जीवन-यापन करते हैं। शास्त्र-विधि के बिना कृतकृत्यता नहीं हो सकती। अतएव जो शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य को जानता है, वह भाग्यशाली है।

मानवयोनि में श्रीभगवान् के तत्त्व से द्वेष करना ही सब पतनों का कारण है। यह वास्तव में मनुष्ययोनि का सबसे बड़ा अपराध है। इसी कारण श्रीभगवान् की अपरा शक्ति (माया) हमें त्रिविध क्लेशों के रूप में सदा दुःख देती रहती है। यह प्रकृति त्रिगुणमयी है। भगवत्-तत्त्व का मार्ग तभी प्रशस्त होगा, जब मनुष्य सत्त्वगुण में स्थित हो जाय। जो सत्त्वगुण में आरूढ़ नहीं होता, वह आसुरी जीवन के कारण रजोगुण और तमोगुण में बना रहता है। रजोगुणी और तमोगुणी मनुष्य शास्त्रों की, साधुओं की और गुरु के तत्त्व की भी निन्दा करते हैं तथा शास्त्रविधि से विमुख रहते हैं। भक्तियोग के माहात्म्य को सुनने पर भी वे आकर्षित नहीं होते। इसके स्थान पर वे सिद्धि की अपनी ही पद्धतियों की कल्पना किया करते हैं। मानवसमाज के ये कुछ ऐसे दोष हैं, जिनसे जीवन आसुरी स्तर पर गिर जाता है। परन्तु यदि सद्गुरु का आश्रय प्राप्त हो जाय, जो जीव को परम गति की ओर ले जाने में समर्थ हों, तो जीवन सफल हो जाता है।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः।।१६।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये षोडशोऽध्यायः।।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

श्रद्धात्रयविभागयोग

(श्रद्धा के तीन भेद)

अर्जुन उवाच।
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **ये**=जो; **शास्त्रविधिम्**=शास्त्रविधि को; **उत्सृज्य**=त्याग कर; **यजन्ते**=पूजते हैं; **श्रद्धयान्विताः**=पूर्ण श्रद्धा से युक्त हुए; **तेषाम्**=उनकी; **निष्ठा**=स्थिति; **तु**=तो; **का**=कौन सी है; **कृष्ण**=हे कृष्ण; **सत्त्वम्**=सात्त्विकी; **आहो**=अथवा; **रजः**=राजसी (या); **तमः**=तामसी।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र-विधि को तो नहीं मानते, परन्तु अपनी कल्पना के अनुसार श्रद्धासहित यजन करते हैं, उनकी स्थिति कौन सी है? क्या वे सत्त्वगुण में हैं अथवा रजोगुण में हैं या तमोगुण में हैं?।।१।।

तात्पर्य

चौथे अध्याय के उनतालिसवें श्लोक में उल्लेख अनुसार किसी उपासना-विशेष का श्रद्धालु शनैः-शनैः ज्ञान में आरूढ़ होकर शान्ति और समृद्धि की परमसिद्धि को

प्राप्त हो जाता है। सोलहवें अध्याय में सिद्धान्त किया गया है कि जो शास्त्र-विधि का पालन नहीं करता, वह असुर है और जो श्रद्धापूर्वक शास्त्र-विधि को मानता है, वह देवता है। अब प्रश्न बनता है कि जो पुरुष श्रद्धापूर्वक कुछ ऐसे नियमों का पालन करता है, जो शास्त्रीय नहीं हैं, उसकी स्थिति कौन सी है? श्रीकृष्ण को अर्जुन के इस सन्देह को दूर करना है। जो व्यक्ति किसी एक मनुष्य को ईश्वर मानकर श्रद्धा के साथ उसी की पूजा करते हैं, उनकी स्थिति सात्त्विकी है, राजसी है अथवा तामसी? क्या ऐसे व्यक्तियों को जीवन की संसिद्ध अवस्था प्राप्त होती है? क्या उनके लिए यह संभव है कि यथार्थ ज्ञान में स्थित होकर परम संसिद्धि को प्राप्त हो जायें? जो मनुष्य शास्त्र-विधि को नहीं मानते; परन्तु श्रद्धासहित कल्पित ईश्वरों, देवताओं अथवा मनुष्यों को पूजते हैं, क्या वे अपने प्रयास में सफल होते हैं? श्रीकृष्ण से अर्जुन के ये सब प्रश्न हैं।

श्रीभगवानुवाच।
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **त्रिविधा**=तीन प्रकार की; **भवति**=होती है; **श्रद्धा**=श्रद्धा; **देहिनाम्**=जीवों की; **सा**=वह; **स्वभावजा**=प्राणी के प्राकृतिक गुण के अनुसार उत्पन्न हुई; **सात्त्विकी**=सात्त्विकी; **राजसी**=राजसी; **च**=और; **एव**=निःसन्देह; **तामसी**=तामसी; **च**=तथा; **इति**=इस प्रकार; **ताम्**=उसे; **शृणु**=सुन।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! बद्धजीव की श्रद्धा उसके गुणों के अनुसार सात्त्विकी, राजसी और तामसी, ऐसे तीन प्रकार की होती है; उसके तत्त्व को सुन।।२।।

तात्पर्य

जो मनुष्य शास्त्रीय विधि-विधानों को जानते हुए भी आलस्यवश अथवा क्लेश समझ कर इन्हें त्याग देते हैं, वे प्रकृति के गुणों के आधीन हैं। पूर्वजन्म के कर्मों के गुणों के अनुसार ऐसे प्राणी को एक विशेष स्वभाव की प्राप्ति होती है। गुणों के साथ जीव का संग उसी अनादि काल से चला आ रहा है, जब वह माया के संसर्ग में आया। प्रकृति के जिस-जिस गुण से उसका संग होता है, वह उसके संस्कार को ग्रहण कर लेता है। परन्तु योग्य गुरु का सत्संग तथा उनका और शास्त्रों का आज्ञापालन करने से इस स्वभाव को बदला जा सकता है। शनैः-शनैः तमोगुण में अथवा रजोगुण से सत्त्वगुण में स्थित हुआ जा सकता है। सारांश यह है कि प्रकृति के किसी गुण में अंधविश्वास सिद्ध अवस्था की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकता। इसके लिए योग्य गुरु के आश्रय में सावधानी और विवेकसहित तत्त्व-विचार करना आवश्यक है। इस प्रकार जीव उच्चतर गुण में स्थित हो सकता है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

सत्त्वानुरूपा=अन्तःकरण के अनुरूप; **सर्वस्य**=सबकी; **श्रद्धा**=श्रद्धा; **भवति**=होती है; **भारत**=हे अर्जुन; **श्रद्धामयः**=श्रद्धामय है; **अयम्**=यह; **पुरुषः**=जीव; **यः**=जो; **यत् श्रद्धः**=जैसी श्रद्धा वाला है; **सः एव**=वही है; **सः**=वह (स्वयं)।

अनुवाद

हे अर्जुन! जीवमात्र की श्रद्धा उसके अन्तःकरण के गुणों के अनुसार होती है। यह जीव श्रद्धामय है, इसलिए यह अपने प्राप्त गुणों के अनुरूप श्रद्धा वाला समझा जाता है।।३।।

तात्पर्य

प्रत्येक मनुष्य में एक विशेष प्रकार की श्रद्धा होती है, चाहे वह कोई हो। स्वभाव के अनुसार उसकी वह श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी हो सकती है। वह किस प्रकार के मनुष्यों का संग करता है, यह भी उसकी श्रद्धा पर निर्भर है। वास्तव में जैसा पन्द्रहवें अध्याय में कहा है, जीवमात्र मूलरूप में श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है, अतः वास्तव में देखा जाय तो वह प्रकृति के सभी गुणों से परे है। परन्तु जब वह श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को भूलकर बद्ध अवस्था के अन्तर्गत माया के स्पर्श में आता है, तो प्रकृति के विविध रूपों के संग से संसार में अपनी स्थिति स्वयं बना बैठता है। इसके परिणाम में होने वाली कृत्रिम श्रद्धा और सत्त्व प्राकृत हैं। जीव चाहे जीवन की किसी भी प्राकृत धारणा के वश में क्यों न हो, परन्तु मूलरूप में तो वह 'निर्गुण' अर्थात् सब गुणों से परे ही है। अतः श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को फिर प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि वह उन सब प्राकृत दोषों से मुक्त हो जाय, जो उसने ग्रहण कर लिए हैं। यह कृष्णभावना ही वैकुण्ठ-जगत् को लौटने का अभय-पथ है। कृष्णभावनाभावित मनुष्य के लिए इस पथ से परमगति की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। यदि कोई इस स्वरूप-साक्षात्कार के पथ को अंगीकार नहीं करता, तो वह अवश्य त्रिगुणमयी माया के वशीभूत रहेगा।

इस श्लोक में **सत्त्व** शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रद्धा सदा अन्तःकरण के गुणों के अनुसार होती है। श्रद्धा किसी देवता में, कल्पित ईश्वर में अथवा किसी मनोकल्पना में भी हो सकती है। लौकिक पुण्य-कार्य किसी वस्तु में दृढ़ श्रद्धा के कारण ही बनता है। परन्तु उपाधिबद्धता में कोई कार्य पूर्ण शुद्ध नहीं होता। उसमें कुछ न कुछ दूषण अवश्य रहता है, वह शुद्धसत्त्वमय नहीं हो सकता। शुद्धसत्त्व तो सर्वथा लोकोत्तर है; उसमें श्रीभगवान् के तत्त्व को जाना जा सकता है। जब तक श्रद्धा पूर्णरूप से शुद्धसत्त्व में नहीं होती, तब तक उसमें प्राकृतिक गुणों के दोष बने रहते हैं। प्रकृति के दूषित गुण अन्तःकरण में भी हैं। अतएव प्रकृति के गुण-विशेष के सम्पर्क में हृदय की स्थिति के अनुसार ही प्राणी में श्रद्धा रहती है। यदि अन्तःकरण सत्त्वप्रधान है तो श्रद्धा भी सात्त्विकी होगी, जबकि रजोप्रधान अन्तःकरण में राजसी श्रद्धा तथा तमोप्रधान

अन्तःकरण में तामसी श्रद्धा रहती है। इस श्रद्धा-भेद के कारण ही संसार में नाना मत-मतान्तर प्रचलित हैं। सच्ची धर्म-श्रद्धा तो केवल शुद्धसत्त्व में है; परन्तु अन्तःकरण गुणों से दूषित है, इसीलिए नाना मतों का प्रचलन है। इसी श्रद्धा-भेद के अनुसार उपासना की भी भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

यजन्ते=पूजते हैं; **सात्त्विकाः**=सात्त्विक मनुष्य; **देवान्**=देवताओं को; **यक्ष-रक्षांसि**=यक्ष और राक्षसों को; **राजसाः**=राजस मनुष्य; **प्रेतान्**=प्रेतों को; **भूतगणान्**=भूतगणों को; **च**=तथा; **अन्ये**=दूसरे; **यजन्ते**=पूजते हैं; **तामसाः**=तामस; **जनाः**=लोग।

अनुवाद

सात्त्विक मनुष्य देवताओं को पूजते हैं, राजस मनुष्य यक्षराक्षसों को पूजते हैं और तामस लोग भूत-प्रेतगणों को पूजते हैं।।४।।

तात्पर्य

इस श्लोक में श्रीभगवान् ने कर्म-भेद के आधार पर नाना प्रकार की श्रद्धा वाले उपासकों का वर्णन किया है। शास्त्रों का विधान है कि एकमात्र श्रीभगवान् ही उपास्य हैं; परन्तु जो शास्त्रों में पारंगत अथवा श्रद्धावान् नहीं हैं, वे अपने प्राकृतिक गुणों के अनुसार नाना प्रकार के लक्ष्यों को पूजते हैं। सात्त्विक पुरुष सामान्यतः ब्रह्मा, शिव, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र आदि देवताओं को पूजते हैं। देवता अनेक हैं; सात्त्विक पुरुष अपनी कामना के अनुरूप उन्हें पूजते हैं। ऐसे ही, राजस मनुष्य असुरों की उपासना करते हैं। हमें स्मरण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के समय कलकत्ता में एक मनुष्य ने हिटलर की पूजा की थी, क्योंकि युद्ध के कारण उसने काला बाजारी से बहुत धन कमाया था। ये राजस मनुष्य किसी शक्तिशाली मनुष्य को ही ईश्वर बना लेते हैं। उनके विचार से किसी को भी ईश्वर समझ कर पूजा जा सकता है, जिससे वही फल होगा।

श्लोक में स्पष्ट है कि तामस व्यक्ति भूत-प्रेतगणों को पूजते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी-कभी किसी मृत मनुष्य की चिता को भी पूजते हैं। मैथुन-सेवा इसी तामसी श्रेणी में आती है। अनेक ग्रामों में प्रेतों के उपासक होते हैं। बहुत से वृक्ष प्रेत-निवास के रूप में प्रसिद्ध हैं; निम्न वर्ग के लोग उनके लिए पूजन और यजन करते हैं। ये नाना प्रकार की पूजन-पद्धतियाँ वास्तव में भगवत्-उपासना नहीं हैं। भगवत्-उपासना वही कर सकते हैं, जो शुद्धसत्त्व में हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है, **सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितम्।** 'शुद्धसत्त्व में स्थित मनुष्य भगवान् वासुदेव का भजन करता है।' तात्पर्य यह है कि जो प्रकृति के गुणों से बिल्कुल मुक्त होकर शुद्धसत्त्व में स्थित हो गए हैं, वे भगवद्भजन कर सकते हैं।

निर्विशेषवादियों को सत्त्वगुण में स्थित समझा जाता है। वे पंचदेवों की

उपासना करते हैं। वे निर्विशेष विष्णु को, अर्थात् प्राकृत-जगत् के रूप में विष्णु को उपासते हैं। विष्णु भगवान् श्रीकृष्ण के अंश हैं; परन्तु निर्विशेषवादी, जो वास्तव में श्रीभगवान् में श्रद्धा नहीं रखते, अपनी कल्पना से समझते हैं कि विष्णुरूप भी निर्विशेष ब्रह्म का ही एक पक्ष है और ऐसे ही ब्रह्माजी रजोगुण के रूप हैं। इस प्रकार वे अपने को पंचोपासक कहते तो हैं, परन्तु यथार्थ सत्य को निर्विशेष ही मानते हैं और इसीलिए अन्त में इन सब उपास्यों को त्याग देते हैं। सारांश में, शुद्धसत्त्व स्वभाव वाले पुरुषों के संग से प्रकृति के नाना प्रकार के गुणों को शुद्ध किया जा सकता है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

अशास्त्रविहितम्=वेद-विरुद्ध (मनोकल्पित); **घोरम्**=दूसरों के लिए भयंकर; **तप्यन्ते**=तपते हैं; **ये**=जो; **तपः**=तप को; **जनाः**=मनुष्य; **दम्भ**=दम्भ (और); **अहंकार-संयुक्ताः**=अहंकार से युक्त; **काम**=कामना; **राग**=आसक्ति; **बल**=सामर्थ्य से; **अन्विताः**=वशीभूत; **कर्षयन्तः**=कृश करते हुए; **शरीरस्थम्**=शरीर में स्थित; **भूतग्रामम्**=प्राकृत तत्त्वों के समुदाय को; **अचेतसः**=अविवेकियों को; **माम्**=मुझ को; **च**=भी; **एव**=ही; **अन्तःशरीरस्थम्**=अन्तर में स्थित; **तान्**=उन्हें; **विद्धि**=जान; **आसुर**=आसुरी स्वभाव वाले; **निश्चयान्**=निःसन्देह।

अनुवाद

जो दम्भ और अहंकार सहित रजोगुण, कामना, आसक्ति और बल द्वारा प्रेरित होकर वेदविरुद्ध तप करते हैं और अपनी देह के साथ मुझ अन्तर्यामी परमात्मा को भी कष्ट पहुँचाते हैं, उनको तू निश्चित रूप से असुर जान।।५-६।।

तात्पर्य

कुछ मनुष्य तप-त्याग की ऐसी विधियों को कल्पित करते हैं, जिनका शास्त्रों में उल्लेख नहीं है। उदाहरण के लिए, राजनीतिक उद्देश्य जैसे किसी स्वार्थ के लिए उपवास करना वेद-विरुद्ध है। शास्त्रों में पारमार्थिक उन्नति के लिए उपवास का विधान है, राजनीतिक अथवा सामाजिक उद्देश्यों के लिए नहीं। जो मनुष्य ऐसा तप करते हैं, वे भगवद्गीता के मत में निश्चित रूप से आसुरी स्वभाव वाले हैं। उनके ये कार्य शास्त्र-विरुद्ध होने से लोगों के लिए अहितकर हैं। वास्तव में अभिमान, अहंकार, कामना और इन्द्रियतृप्ति की आसक्ति से प्रेरित होकर ही वे ऐसे कार्य करते हैं। इन क्रियाओं से शरीर का भूतसमुदाय ही कृश नहीं होता, अपितु अन्तर्यामी परमात्मा को भी कष्ट पहुँचता है। किसी राजनीतिक उद्देश्य को लेकर किए जाने वाले वेद-विरुद्ध तप-उपवास आदि दूसरों के लिए उत्पातकारी हैं। आसुरी स्वभाव वाला समझता है कि

इस विधि से वह अपने शत्रु अथवा दूसरों को अपनी इच्छा मानने के लिए बाध्य कर लेगा। परन्तु कभी-कभी ऐसा करने से मृत्यु भी हो जाती है। ये क्रियाएँ श्रीभगवान् द्वारा अनुमत नहीं हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि जो इनमें प्रवृत्त होते हैं, वे निःसन्देह असुर हैं। वैदिक शास्त्रीय विधान के विरुद्ध ऐसे कार्य करना श्रीभगवान् का अपमान करना है। इस संदर्भ में **अचेतसः** शब्द का प्रयोग है। स्वाभाविक मनोदशा में मनुष्य शास्त्र के विधि-विधान को अवश्य मानता है। जो असामान्य अवस्था में हैं, वे ही शास्त्र की अवज्ञा और उपेक्षा करते हुए तप-त्याग के मनोकल्पित मार्ग का अनुसरण करते हैं। आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों का अन्त, जैसा सोलहवें अध्याय में वर्णन है, सदा ध्यान रखना चाहिए। श्रीभगवान् उन्हें वारम्वार आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों के गर्भ में ही गिराते हैं। फलतः वे जन्म-जन्म में आसुरी स्वभाव धारण किए रहते हैं और श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को नहीं जान सकते। यदि सौभाग्यवश, उन्हें ऐसे सद्गुरु के चरणों का आश्रय मिल जाय, जो वैदिक ज्ञान के पथ की ओर उनका मार्गदर्शन करने में समर्थ हों, तो वे भी इस बन्धन से छूटकर अन्त में परमगति को प्राप्त हो सकते हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

आहारः=भोजन; **तु**=निःसन्देह; **अपि**=भी; **सर्वस्य**=सबको; **त्रिविधः**=तीन प्रकार का; **भवति**=होता है; **प्रियः**=प्रिय; **यज्ञः**=यज्ञ; **तपः**=तप; **तथा**=और; **दानम्**=दान (भी); **तेषाम्**=उनके; **भेदम्**=भेद को; **इमम्**=इस; **शृणु**=सुन।

अनुवाद

आहार भी सब को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है और वैसे ही, यज्ञ, तप तथा दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके इस भेद को सुन।।७।।

तात्पर्य

अपनी-अपनी निष्ठा और प्राकृतिक गुणों के भेद के अनुसार मनुष्यों के भोजन, यज्ञ, तप और दान के प्रकार में भेद होता है। सब मनुष्य इन कर्मों में एक से नहीं होते। जो यह तत्त्व से जानता है कि कौन सा आचरण किस गुण के अन्तर्गत है, वह वास्तव में बुद्धिमान् है। इसके विपरीत, सब प्रकार के तप, दान और भोजन को समान मानने वाला अविवेकी और मूर्ख है। ऐसे भी कुछ मिशनरी कर्मी हैं, जो कहते हैं कि स्वेच्छानुसार कुछ भी कर्म करने से सिद्धि-लाभ किया जा सकता है। परन्तु ये मूर्ख मार्गदर्शक शास्त्रों के निर्देश के अनुसार आचरण नहीं करते। विधियों की कपोल-कल्पना करके ये सामान्य लोगों को पथभ्रष्ट ही कर रहे हैं।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

आयुः=चिर-जीवन; **सत्त्व**=चित्त का धैर्य; **बल**=देह की सामर्थ्य; **आरोग्य**=स्वास्थ्य; **सुख**=तृप्ति; **प्रीति**=अभिरुचि; **विवर्धनाः**=बढ़ाने वाले; **रस्याः**=रसमय; **स्निग्धाः**=चिकने; **स्थिराः**=स्थिर रहने वाले; **हृद्याः**=हृदय को प्रिय; **आहाराः**=भोजन के पदार्थ; **सात्त्विकप्रियाः**=सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं; **कटु**=कड़ुवे; **अम्ल**=खट्टे; **लवण**=नमकीन; **अति उष्ण**=बहुत गरम; **तीक्ष्ण**=तीखे; **रूक्ष**=शुष्क; **विदाहिनः**=दाहकारी; **आहाराः**=भोजन के पदार्थ; **राजसस्य**=राजस मनुष्य के; **इष्टाः**=प्रिय होते हैं; **दुःखशोकामयप्रदाः**=दुःख, शोक और रोग के कारण; **यातयामम्**=भोजन करने से एक प्रहर (तीन घण्टे) पहले बनाये गए पदार्थ; **गतरसम्**=नीरस; **पूति**=दुर्गन्ध से युक्त; **पर्युषितम्**=बासी; **च**=तथा; **यत्**=जो; **उच्छिष्टम्**=दूसरों के भोजन से बचा अन्न; **अपि**=भी; **च**=तथा; **अमेध्यम्**=अपवित्र: **भोजनम्**=भोजन; **तामसप्रियम्**=तामस मनुष्य को प्रिय होता है।

अनुवाद

आयु की वृद्धि और अन्तःकरण की शुद्धि करने वाले तथा बल, आरोग्य, सुख और तृप्ति को देने वाले, रसमय, स्निग्ध, स्थिर रहने वाले तथा हृदय को प्रिय लगने वाले आहार सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं। कड़ुवे, खट्टे, नमकीन, अति गरम, तीखे, रूखे और दाहकारी भोजन के पदार्थ, जो दुःख, शोक और रोग को जन्म देते हैं, राजस मनुष्य को प्रिय होते हैं। बासी (खाने से एक प्रहर पहले बनाए), नीरस, दुर्गन्धमय, उच्छिष्ट और अपवित्र आहार तामस मनुष्य को प्रिय होते हैं।।८-१०।।

तात्पर्य

आहार का यथार्थ उद्देश्य जीवन की अवधि को बढ़ाना, अंतःकरण को शुद्ध करना तथा शरीर को सशक्त बनाना है। पूर्वकालीन आचार्यों ने दुग्ध-पदार्थों, शर्करा, चावल, गेहूँ, फल, शाकादि आरोग्य और आयु की वृद्धि करने वाले पदार्थों का चयन-विधान किया है। ये पदार्थ सात्त्विक पुरुषों को स्वभाव से अति प्रिय होते हैं। सीरि जैसे कुछ अन्य पदार्थ दुग्ध आदि के साथ मिलाने पर प्रिय और सात्त्विक हो जाते हैं। ये सभी पदार्थ नैसर्गिक रूप से पवित्र हैं। माँस, मदिरा आदि से ये बिलकुल भिन्न हैं। आठवें श्लोक में उल्लिखित स्निग्ध पदार्थों का हिंसा से प्राप्त होने वाली पशु-चिकनाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। दुग्ध एक ऐसा परम अद्‌भुत पदार्थ है, जिसके रूप में चिकनाई सर्व-सुलभ है। दुग्ध, मक्खन और पनीर आदि के रूप में आवश्यक चिकनाई की प्राप्ति हो जाती है, इसके लिए निरीह जन्तुओं की हिंसा नहीं करनी पड़ती।

वास्तव में आसुरी मनोवृत्ति के कारण ही संसार में पशुओं की अप्रयोजनीय हिंसा की जा रही है। चिकनाई की उपलब्धि की सभ्य विधि दुग्ध का सेवन करना है। प्रोटीन के नाम पर पशु-वध में प्रवृत्त होना नर-पशुओं का काम है। विज्ञान से प्रमाणित है कि दाल, गेहूँ, आदि में पर्याप्त प्रोटीन रहता है।

कडुवे, खट्टे, अति नमकीन, बहुत गरम, तीखे और अधिक मसाले वाले पदार्थ राजस आहार की श्रेणी में आते हैं। ये दुःख के कारण हैं, क्योंकि इनके खाने से उदर में कफ बढ़ जाता है और परिणाम में रोग होते हैं। मुख्य रूप से भोजन के वे ही पदार्थ तामसी कहे जाते हैं, जो ताजे न हों। प्रसाद के अतिरिक्त अन्य जो भी पदार्थ भोजन से एक प्रहर (तीन घण्टे) पहले बनाया गया हो, वह तामसी है। इन सड़ते हुए पदार्थों में दुर्गन्ध हो जाती है। दुर्गन्ध से जहाँ तामस मनुष्य इनकी ओर आकर्षित होते हैं, वहीं सात्त्विक पुरुष इनसे घृणा करते हैं।

उच्छिष्ट भोजन उसी अवस्था में ग्रहण किया जा सकता है, जब वह श्रीभगवान् अथवा सन्त पुरुषों, विशेषतः गुरु का प्रसाद हो। अन्यथा, उच्छिष्ट भोजन को तामसी समझा जाता है और उससे रोग और दोष बढ़ते हैं। ऐसे पदार्थों में, जो तामस मनुष्यों के अति प्रिय हैं, सात्त्विक पुरुषों की न तो रुचि होती है और न वे इनका कभी स्पर्श करते हैं। वस्तुतः भगवत्-प्रसाद ही सर्वोत्तम आहार है। भगवद्गीता में श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि शाक, फल, दुग्ध, अन्न आदि जो कुछ भी प्रेमभाव से उनके अर्पण किया जाता है, वे उसे अवश्य स्वीकार करते हैं: **पत्रं पुष्पं फलं तोयम्**। निःसन्देह श्रीभगवान् केवल भावग्राही हैं; परन्तु शास्त्र में प्रसाद बनाने की विधि का विधान भी है। शास्त्र-विधि से बनाया भगवत्-प्रसाद बासी होने पर भी ग्रहण किया जा सकता है; ऐसा आहार सर्वथा दिव्य होता है। अतः भोजन को सब मनुष्यों के खाने के योग्य, शुद्ध और स्वादिष्ट बनाने के लिए उसे श्रीभगवान् को निवेदित करना आवश्यक है।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

अफलाकांक्षिभिः=फल को न चाहने वाले पुरुषों द्वारा; **यज्ञः**=यज्ञ; **विधि-दृष्टः**=शास्त्र-विधि के अनुसार; **यः**=जो; **इज्यते**=किया जाता है; **यष्टव्यम् एव**=यज्ञ करना ही कर्तव्य है; **इति**=ऐसे; **मनः**=मन को; **समाधाय**=निश्चय करके; **सः**=वह (यज्ञ); **सात्त्विकः**=सात्त्विक है।

अनुवाद

यज्ञों में वह यज्ञ सात्त्विक है, जो शास्त्र-विधि के अनुसार फल की इच्छा के विना कर्तव्य मानकर किया जाता है।।११।।

तात्पर्य

सामान्यतः यज्ञ किसी न किसी स्वार्थभावना से प्रेरित होकर ही किए जाते हैं। परन्तु यहाँ उल्लेख है कि यज्ञ को निष्कामभाव से कर्तव्य समझ कर करना चाहिए।

इस संदर्भ में मन्दिरों के कर्मकाण्ड का दृष्टान्त दिया जा सकता है। सामान्य रूप से ये किसी लौकिक-लाभ के लिए किए जाते हैं। इस श्लोक के अनुसार ऐसा करना सात्त्विक नहीं है। मनुष्य कर्तव्य समझ कर मन्दिर जाय, श्रीभगवान् की वन्दना करे और पुष्प-नैवेद्य आदि का अर्पण करे। दुर्भाग्यवश, प्रायः सब यही समझते हैं कि श्रीभगवान् की निष्काम पूजा के लिए मन्दिर जाना व्यर्थ है। परन्तु अर्थ-सिद्धि के लिए उपासना करना शास्त्र में नहीं है; अतः निष्कामभाव से भगवत्-विग्रह की वन्दना करने के लिए ही मन्दिर जाना चाहिए। ऐसा करने वाला सत्त्वगुण में आरूढ़ हो जायगा। अतएव सभ्य समझे जाने वाले मनुष्य का कर्तव्य है कि वह शास्त्र-विधान का पालन और श्रीभगवान् का वन्दन करे।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

अभिसन्धाय=चाहते हुए; **तु**=परन्तु; **फलम्**=फल को; **दम्भ**=दम्भ (अवश); **अर्थम्**=लौकिक लाभ के लिए; **अपि**=भी; **च**=तथा; **एव**=निःसन्देह; **यत्**=जो; **इज्यते**=किया जाता है; **भरतश्रेष्ठ**=हे अर्जुन; **तम्**=उस; **यज्ञम्**=यज्ञ को; **विद्धि**=जान; **राजसम्**=राजस।

अनुवाद

परन्तु हे अर्जुन ! जो यज्ञ किसी लौकिक उद्देश्य से अथवा गर्वपूर्वक दम्भाचरण के लिए किया जाता है, उसको तू राजस जान।।१२।।

तात्पर्य

कभी-कभी यज्ञ आदि कर्म स्वर्ग-प्राप्ति अथवा किसी लौकिक-लाभ के लिए किए जाते हैं। ऐसे यज्ञकर्म राजस हैं।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

विधिहीनम्=शास्त्र-विधि से रहित; **असृष्ट अन्नम्**=प्रसादवितरण के बिना; **मन्त्रहीनम्**=वैदिक मन्त्रों से रहित; **अदक्षिणम्**=दक्षिणा के बिना; **श्रद्धाविरहितम्**=श्रद्धारहित; **यज्ञम्**=यज्ञ को; **तामसम्**=तामस; **परिचक्षते**=कहते हैं।

अनुवाद

और जो शास्त्रविधि के विरुद्ध, प्रसाद-वितरण से रहित, वैदिकमन्त्रों और दक्षिणा के बिना किया जाय, उस श्रद्धाशून्य यज्ञ को तामस कहते हैं।।१३।।

तात्पर्य

तामसी श्रद्धा वस्तुतः अश्रद्धा ही है। कभी-कभी लोग धन के लिए यज्ञों द्वारा देवताओं का यजन करते हैं और फिर उस धन को शास्त्र की उपेक्षापूर्वक मनोरंजन करने में व्यय करते हैं। यह धर्म का दम्भपूर्ण आचरण है; अतः ऐसे यज्ञ तामस कहे गए हैं। इनसे मानवसमाज को कोई लाभ नहीं होता; केवल आसुरीभाव ही बढ़ता है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

देव=श्रीभगवान्; **द्विज**=ब्राह्मण; **गुरु**=गुरु; **प्राज्ञ**=पूज्यजनों का; **पूजनम्**=पूजन; **शौचम्**=पवित्रता; **आर्जवम्**=सरलता; **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचर्य; **अहिंसा**=अहिंसा; **च**=तथा; **शारीरम्**=शारीरिक; **तपः**=तप; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

श्रीभगवान् , ब्राह्मण, गुरु, और वेदज्ञ पुरुषों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप है।।१४।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् अब नाना प्रकार के तप-त्याग का वर्णन करते हैं। सर्वप्रथम शरीरसम्बन्धी तप का विवेचन है। श्रीभगवान्, देवगण, गुणवान् ब्राह्मण, गुरु, माता-पिता तथा वेदज्ञ पुरुष को प्रणाम करना चाहिए। यदि कोई ऐसा करना नहीं जानता हो तो सीखना चाहिए। इन सबका यथोचित सम्मान करे। शरीर और अन्तःकरण की शुद्धि तथा व्यवहार में सरलता का अभ्यास भी आवश्यक है। ऐसा कोई कर्म न करे, जो शास्त्र-विरुद्ध हो। शास्त्र में वैवाहिक सम्बन्ध के अतिरिक्त मैथुन का निषेध है। इस विधान का पालन ब्रह्मचर्य कहलाता है। ये सब शरीरसम्बन्धी तप हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।१५।।

अनुद्वेगकरम्=उद्वेग और भय को उत्पन्न न करने वाले; **वाक्यम्**=शब्द; **सत्यम्**=यथार्थ (प्रामाणिक); **प्रिय**=सुनने में प्रिय; **हितम्**=हितकारक; **च**=तथा; **यत्**=जो; **स्वाध्याय**=वेद अध्ययन का; **अभ्यसनम्**=अभ्यास; **च**=तथा; **एव**=निःसन्देह; **वाङ्मयम्**=वाणी का; **तपः**=तप; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो उद्वेग को न करने वाला सत्य, प्रिय और हितकारक भाषण है तथा वेदों का नित्य पठनरूप अभ्यास है, वह वाणी का तप कहा जाता है।।१५।।

तात्पर्य

मनुष्य की वाणी ऐसी न हो, जिससे दूसरों के मन में उद्वेग हो। अवश्य ही एक गुरु शिष्य को उपदेश करने के लिए कटु से कटु सत्य का भाषण कर सकता है; परन्तु अन्य मनुष्यों से ऐसा भाषण न करे, यदि वे इससे उद्वेग को प्राप्त होते हों। यही वाणी सम्बन्धी तप का स्वरूप है। वैसे भी व्यर्थ भाषण कभी नहीं करना चाहिए। विशेष रूप से आध्यात्मिक वर्ग में जो कुछ भी कहे, वह शास्त्रसम्मत होना चाहिए। अपने कथन की सिद्धि के लिए तत्काल शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत करे। साथ ही, वाणी सुनने में मधुर होनी चाहिए। ऐसी वार्ता से परम लाभ की प्राप्ति हो सकती है और मानवसमाज का उत्थान हो जाता है। वैदिक शास्त्रों का अपार भण्डार है, इसका स्वाध्याय करना चाहिए। यह सब वाणी सम्बन्धी तप है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

मनःप्रसादः=मन की प्रसन्नता; **सौम्यत्वम्**=दूसरे के प्रति कपट से रहित; **मौनम्**=गम्भीरता; **आत्मविनिग्रहः**=आत्मसंयम; **भावसंशुद्धिः**=स्वभाव की शुद्धि; **इति**=ऐसे; **एतत्**=यह; **तपः**=तपः **मानसम्**=मन का; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

मन का प्रसाद, सरलता, मौन, आत्मसंयम और अन्तःकरण की शुद्धि,—यह सब मन सम्बन्धी तप है।।१६।।

तात्पर्य

मन को तपोनिष्ठ करने का अर्थ उसे इन्द्रियतृप्ति से हटाना है। मन को इस प्रकार शिक्षित करना है जिससे वह निरन्तर परहित-चिन्तन में लगा रहे। इसका सर्वोत्तम साधन विचारों का मौन धारण करना है। यह अनिवार्य है कि कृष्णभावना से विचलित होकर एक क्षण के लिए भी इन्द्रियतृप्ति में प्रवृत्त न हो। स्वभाव की शुद्धि होना कृष्णभावनाभावित हो जाना है। मन की प्रसन्नता इसे इन्द्रियतृप्ति के विचारों से विरत करने पर ही हो सकती है। इन्द्रियतृप्ति का जितना अधिक चिन्तन होगा, मन उतना ही अधिक व्यग्र और उत्तेजित हो उठेगा। वर्तमान काल में हम मन को कितने ही व्यर्थ प्रकार से इन्द्रियतृप्ति में लगाये रखते हैं; इस कारण वह कभी प्रसन्न नहीं हो सकता। सुख का सर्वोत्तम साधन यह है कि मन को पुराण, महाभारत, आदि वैदिक शास्त्रों में लगा दिया जाय। ये ग्रन्थ तृप्तिदायक कथाओं से परिपूर्ण हैं। इस ज्ञान से लाभ उठाकर शुद्ध हुआ जा सकता है। **सौम्य**, अर्थात् मन में कपट का लेश भी न हो और सदा सब का हित-चिन्तन करता रहे। **मौन** का अर्थ नित्य-निरन्तर आत्म-मनन करना है। इस दृष्टि से कृष्णभावनाभावित पुरुष पूर्ण मौनी होता है। **आत्मविनिग्रह** का तात्पर्य इन्द्रियतृप्ति से मन को अलग करना है। **भावसंशुद्धि**, अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि व्यवहार की निष्कपटता से होती है। ये सब गुण मन सम्बन्धी तप के अन्तर्गत हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

श्रद्धया=श्रद्धासहित; **परया**=दिव्य; **तप्तम्**=किया गया; **तपः**=तप; **तत्**=वह; **त्रिविधम्**=तीन प्रकार का; **नरैः**=मनुष्यों द्वारा; **अफलाकांक्षिभिः**=फल न चाहने वाले; **युक्तैः**=एकाग्रचित्त से तत्पर; **सात्त्विकम्**=सात्त्विक; **परिचक्षते**=कहा जाता है।

अनुवाद

लौकिक फल को न चाहने वाले पुरुषों द्वारा श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए परम श्रद्धा के साथ किये गए इस तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं।।१७।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

सत्कार=वाक्-पूजा; **मान**=दैहिकी पूजा; **पूजार्थम्**=अर्चना के लिए; **तपः**=तप; **दम्भेन**=दम्भपूर्वक; **च**=तथा; **एव**=निःसन्देह; **यत्**=जो; **क्रियते**=किया जाता है; **तत्**=वह; **इह**=इस संसार में; **प्रोक्तम्**=कहलाता है; **राजसम्**=राजस; **चलम्**=क्षणिक (और); **अध्रुवम्**=अनियत फल वाला।

अनुवाद

जो सत्कार, मान और पूजा के लिए दम्भपूर्वक किया जाता है, वह अनियत और क्षणिक फल वाला तप राजस कहलाता है।।१८।।

तात्पर्य

कभी-कभी लोगों को आकर्षित करने के लिए तथा दूसरों से सत्कार, मान और पूजा की प्राप्ति के लिए तप-त्याग का आचरण किया जाता है। ऐसे रजोगुणी मनुष्य सहायकों द्वारा अपनी पूजा करवाते हैं, यहाँ तक कि उन्हें अपना चरण-प्रक्षालन करने और धन अर्पण करने की आज्ञा भी दे देते हैं। इस उद्देश्य से दम्भपूर्वक किए जाने वाले तप का आचरण राजस है। इस प्रकार का फल क्षणिक ही होता है। ऐसा थोड़े समय तक ही चल पाता है, सदा नहीं।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१९।।

मूढग्राहेण=अविवेकपूर्ण दुराग्रह से; **आत्मनः**=अपने-आप को; **यत्**=जो; **पीडया**=पीड़ासहित; **क्रियते**=किया जाता है; **तपः**=तप; **परस्य**=दूसरे को; **उत्साद-नार्थम्**=नष्ट करने के लिए; **वा**=अथवा; **तत्**=वह; **तामसम्**=तामस; **उदाहृतम्**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो तप अविवेकपूर्ण हठ के साथ अपने आत्मा को पीड़ित करते हुए अथवा दूसरों के नाश या अनिष्ट के लिए किया जाता है, वह तामस है।।१९।।

तात्पर्य

इतिहास हिरण्यकशिपु जैसे मूढ़ों के उदाहरणों से भरा हुआ है, जिन्होंने अमर बनने और देवताओं के नाश के लिए कठोर तप किया। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी से ये दोनों वरदान माँगे थे; परन्तु अन्त में वह श्रीभगवान् द्वारा मारा गया। किसी असम्भव वस्तु के लिए तप करना निश्चित रूप से तामस तप की श्रेणी में है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

दातव्यम्=दान देना कर्तव्य है; **इति**=इस प्रकार; **यत्**=जो; **दानम्**=दान; **दीयते**=दिया जाता है; **अनुपकारिणे**=प्रत्युपकार की इच्छा न रखकर; **देशे**=देश;

काले=काल में; **च**=तथा; **पात्रे**=पात्र को; **च**=तथा; **तत्**=वह; **दानम्**=दान; **सात्त्विकम्**=सात्त्विक; **स्मृतम्**=कहा जाता है।

अनुवाद

दान देना कर्तव्य है, इस बुद्धि से योग्य देश-काल में सत्पात्र को प्रत्युपकार की इच्छा के विना जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक है।।२०।।

तात्पर्य

वैदिक शास्त्रों में परमार्थ-परायण मनुष्य को दान देने का विधान है। अविवेकपूर्वक दान करना शास्त्र-सम्मत नहीं है। दान करते समय लेने वाले की पारमार्थिक पूर्णता को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। शास्त्र के अनुसार तीर्थ में, सौर-चन्द्र-ग्रहण में, मन्दिर में, अथवा पौर्णमासी के दिन सदाचारी ब्राह्मण अथवा वैष्णव को दान देना चाहिए। दान प्रत्युपकार की इच्छा के बिना ही करे। कभी-कभी मनुष्य दयाभाव से द्रवित होकर दरिद्रों को दान देता है; परन्तु यदि कोई दरिद्र मनुष्य उसका पात्र नहीं है, तो ऐसे दान से किसी को भी पारमार्थिक लाभ नहीं होगा। भाव यह है कि पात्र-अपात्र का विचार किये बिना दान देना वैदिक शास्त्रों द्वारा सम्मत नहीं है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

यत्=जो; **तु**=परन्तु; **प्रत्युपकारार्थम्**=प्रत्युपकार के लिए; **फलम्**=फल को; **उद्दिश्य**=चाहते हुए; **वा**=अथवा; **पुनः**=फिर; **दीयते**=दिया जाता है; **च**=तथा; **परिक्लिष्टम्**=पश्चात्ताप के साथ; **तत्**=वह; **दानम्**=दान; **राजसम्**=राजस; **स्मृतम्**=कहा गया है।

अनुवाद

परन्तु जो दान किसी प्रत्युपकार की आशा से अथवा फल की इच्छा से या क्लेश समझकर दिया जाता है, वह राजस कहा गया है।।२१।।

तात्पर्य

दान प्रायः स्वर्ग-प्राप्ति के लिए किया जाता है। कभी-कभी क्लेशपूर्वक दान करने के वाद पश्चात्ताप भी होता है कि "मैंने क्यों इसमें इतना धन व्यय किया?" कभी-कभी किसी उपकृतिवश अथवा गुरुजनों की आज्ञा से भी दान करना पड़ता है। ये सव प्रकार के दान राजस हैं।

ऐसी अनेक दातव्य न्यास हैं, जो उन संस्थाओं को दान देती हैं, जहाँ इन्द्रियतृप्ति चलती है। ऐसा दान वेद-विरुद्ध है। एकमात्र सात्त्विक दान का ही शास्त्रों में विधान है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

अदेशकाले=अयोग्य देशकाल में; **यत्**=जो; **दानम्**=दान; **अपात्रेभ्यः**=अपात्र को; **च**=तथा; **दीयते**=दिया जाता है; **असत्कृतम्**=अपमानपूर्वक; **अवज्ञातम्**=तिरस्कार के साथ; **तत्**=वह; **तामसम्**=तामस; **उदाहृतम्**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो दान अयोग्य देशकाल में, अपात्र को या सम्मान के विना तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है, वह तामस है।।२२।।

तात्पर्य

इस प्रकार मद्यपान और द्यूत आदि के लिए दान करने का निषेध है। ऐसा दान तामस कहलाता है। इससे कोई लाभ नहीं· वरन् पापात्मा मनुष्यों का ही प्रोत्साहन होता है। इसी प्रकार, सत्पात्र को सत्कार के विना तिरस्कारपूर्वक दान देना भी तामस है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

ॐ=श्रीभगवान् का नादरूप; **तत्**=वह; **सत्**=शाश्वत; **इति**=ऐसे; **निर्देशः**=नाम; **ब्रह्मणः**=परब्रह्म का; **त्रिविधः**=तीन प्रकार का; **स्मृतः**=कहा गया है; **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण; **तेन**=उससे; **वेदाः**=वेद; **च**=तथा; **यज्ञाः**=यज्ञ; **च**=भी; **विहिताः**=प्रकट हुए; **पुरा**=सृष्टि के आदिकाल में।

अनुवाद

ॐ तत् सत्—ये तीनों अक्षर ब्रह्मतत्त्व के वाचक हैं; इसी नाम से सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ प्रकट हुए थे।।२३।।

तात्पर्य

यह वर्णन किया जा चुका है कि तप, यज्ञ, दान और आहार के सात्त्विक, राजस तथा तामस—ऐसे तीन-तीन भेद हैं। चाहे किसी भी श्रेणी के क्यों न हों, माया-दूषित होने के कारण वे सभी उपाधिग्रस्त हैं। परन्तु **ॐ तत् सत्**, अर्थात् सच्चिदानन्दमय श्रीभगवान् की ओर लक्षित होने पर ये पारमार्थिक उन्नति के साधन बन जाते हैं। शास्त्रों में इस लक्ष्य का उल्लेख है। ये तीनों शब्द— **ॐ तत् सत्**, विशेष रूप से परब्रह्म श्रीकृष्ण के वाचक हैं। वैदिक मन्त्रों में ओंकार तो सदा पाया ही जाता है।

जो शास्त्र-विधि के अनुसार आचरण नहीं करता, उसे परतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसे कुछ क्षणिक लाभ तो हो सकता है, परन्तु जीवन के परम लक्ष्य से वह वंचित ही रहेगा। सारांश यह है कि यज्ञ, दान, तप, आदि का सात्त्विक आचरण ही करना चाहिए। इनका राजस अथवा तामस अनुष्ठान निश्चित रूप से निकृष्ट होगा। **ॐ तत् सत्**—इन तीनों शब्दों का उच्चारण श्रीभगवान् के पावन नाम के साथ किया जाता है, जैसे **ॐ तद्विष्णोः**। वैदिक मन्त्रों अथवा भगवन्नाम के उच्चारण के साथ ओम् जुड़ा रहता है; वैदिक शास्त्रों का ऐसा निर्देश है। उपरोक्त तीनों ही शब्द

वैदिक मन्त्रों में पाए जाते हैं। **ओमित्येतद् ब्रह्मणो नेदिष्टं नाम**। इस श्लोक से स्पष्ट है कि 'ओम्' परब्रह्म का पहला नाम है। फिर **तत्त्वमसि** श्रुति से दूसरा नाम 'तत्' इंगित है और **सदेव सौम्य** तीसरे 'सत्' नाम का द्योतक है। ॐ तत् सत् में इन तीनों का समावेश है। प्राचीन काल में, आदिजीव ब्रह्माजी ने यज्ञ करते समय श्रीभगवान् के इन तीनों नामों का उच्चारण किया था। शिष्यपरम्परा के माध्यम से यह सिद्धान्त आजतक चला आ रहा है। अतएव यह मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवद्गीता के अनुसार, जो कुछ भी कर्म किया जाय, उसे 'ॐ तत् सत्', अर्थात् श्रीभगवान् के लिए करना चाहिए। जो पुरुष इन शब्दों से युक्त होकर तप, दान, यज्ञ, आदि करता है, वह कृष्णभावनाभावित कर्म ही करता है। कृष्णभावना दिव्य कर्मों के सम्पादन की वह वैज्ञानिक विधि है, जिससे अपने घर— भगवद्धाम की फिर प्राप्ति हो जाती है। इस दिव्य विधि से कार्य करते हुए शक्ति का कभी ह्रास नहीं होता।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

तस्मात्=इसलिए; **ओम्**=ओम्; **इति**=इस प्रकार; **उदाहृत्य**=उच्चारण करके; **यज्ञदानतपःक्रियाः**=यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ; **प्रवर्तन्ते**=आरम्भ होती हैं; **विधान-उक्ताः**=शास्त्रविहित; **सततम्**=सदा; **ब्रह्मवादिनाम्**=योगियों की।

अनुवाद

इसलिए योगीजन परब्रह्म की प्राप्ति के लिए ओंकार का उच्चारण करके ही तप, यज्ञ, दान आदि सब क्रियाओं का आरम्भ करते हैं।।२४।।

तात्पर्य

ॐतद्विष्णोः परमं पदम्। श्रीविष्णु के चरणकमल भक्ति के परम आश्रय हैं। सब कुछ केवल श्रीभगवान् के लिए करने से सम्पूर्ण क्रियाओं की सफलता निश्चित हो जाती है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः।।२५।।

तत्=वह; **इति**=इस प्रकार (उच्चारण कर); **अनभिसंधाय फलम्**=फल की इच्छा के बिना; **यज्ञतपःक्रियाः**=यज्ञ, तप आदि क्रियाएँ; **दानक्रियाः**=दान क्रियाएँ भी; **च**=तथा; **विविधाः**=नाना; **क्रियन्ते**=की जाती हैं; **मोक्षकांक्षिभिः**=मुमुक्षु पुरुषों द्वारा।

अनुवाद

'तत्', इस प्रकार उच्चारण करके यज्ञ, तप और दान क्रियाओं को करना चाहिए। इन दिव्य क्रियाओं का उद्देश्य भवबन्धन से मुक्त होना है।।२५।।

तात्पर्य

शुद्ध सत्त्वमयी दिव्य अवस्था की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि किसी

लौकिक अर्थ के लिए चेष्टा न की जाय। सब कर्मों को वैकुण्ठ-जगत् में श्रीभगवान् के पास वापस लौटने के उद्देश्य से ही करना चाहिए। यही जीवन का परम लाभ है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

सद्भावे=परब्रह्म के नाम के रूप में; **साधुभावे**=भक्तियोग के अर्थ में; **च**=भी; **सत्**=सत्; **इति**=ऐसे; **एतत्**=यह; **प्रयुज्यते**:=प्रयोग होता है; **प्रशस्ते**=अधिकृत; **कर्मणि**=कर्म में; **तथा**=और; **सत्**=सत्; **शब्दः**=शब्द; **पार्थ**=हे अर्जुन; **युज्यते**=प्रयोग में आता है; **यज्ञे**=यज्ञ में; **तपसि**=तप में; **दाने**=दान में; **च**=भी; **स्थितिः**=स्थिति है (जो); **सत्**=सत्; **इति**=ऐसे; **च**=तथा; **उच्यते**=कही जाती है; **कर्म**=कर्म; **च**=भी; **एव**=निःसन्देह; **तत् अर्थीयम्**=उसके लिए किया; **सत्**=सत्; **इति**=इस प्रकार; **एव**=ही; **अभिधीयते**=अभ्यास किया जाता है।

अनुवाद

हे अर्जुन! परब्रह्म भक्तियोगरूप यज्ञ के लक्ष्य हैं और 'सत्' शब्द से उन्हीं का निर्देश है। ये सत्स्वरूप यज्ञ, तप और दान पुरुषोत्तम श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए ही किए जाते हैं।।२६-२७।।

तात्पर्य

प्रशस्ते कर्मणि शब्द कर्तव्यकर्मों का वाचक है। वैदिक शास्त्रें में अनेक ऐसे कर्मों का विधान है, जो आजन्म आत्मशुद्धि के लिए किए जाते हैं। इनका उद्देश्य अन्त में जीव को मुक्तिलाभ कराना है। ये सब कर्म **ॐ तत् सत्** के उच्चारण के साथ करने चाहिए। **सद्भावे, साधुभावे**—शुद्ध सत्त्वमयी दिव्य अवस्था के वाचक हैं। कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला सत्त्व में स्थित है तथा कृष्णभावनाभावित कर्म के तत्त्व को पूर्ण रूप से जानने वाला स्वरूप-प्राप्त है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि भक्तजनों के संग में भगवत्कथा की प्राप्ति होती है। वस्तुतः, सत्संग के बिना दिव्य ज्ञान नहीं हो सकता। दीक्षा अथवा यज्ञोपवीत में भी **ॐ तत् सत्**—ऐसे उच्चारण किया जाता है। इसी प्रकार, सम्पूर्ण यज्ञों में परम लक्ष्य—**ॐ तत् सत्** का आह्वान करते हैं। **ॐ तत् सत्** के उच्चारण से सब क्रियाएँ सिद्ध हो जाती हैं। अस्तु परमस्वरूप **ॐ तत् सत्** सब प्रकार से पूर्णता प्रदान करता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

अश्रद्धया=श्रद्धा के बिना; **हुतम्**=हवन; **दत्तम्**=दान; **तपः**=तप; **तप्तम्**=तपा गया; **कृतम्**=किया; **च**=तथा; **यत्**=जो भी कर्म; **असत्**=असत्; **इति**=ऐसे; **उच्यते**=कहा

जाता है; पार्थ=हे अर्जुन; न=न तो; च=तथा; तत्=वह; प्रेत्य=परलोक में; नो=न; इह=इस लोक में (फलता है)।

अनुवाद

परन्तु हे अर्जुन! परब्रह्म में श्रद्धा के बिना किया जो कुछ भी यज्ञ, दान, तप आदि कर्म है, वह सब असत् है। उसका न इस लोक में और न परलोक में ही कोई फल होता है।।२८।।

तात्पर्य

भगवत्प्राप्तिरूपी दिव्य लक्ष्य के बिना यज्ञ, दान, अथवा तप आदि जो कुछ भी किया जाता है, वह सब व्यर्थ है। इस श्लोक में ऐसी क्रियाओं को असत् कहकर उनकी निन्दा की गयी है। सब कर्म कृष्णभावनाभावित होकर भगवत्प्रीति के लिए ही करने चाहिएं। इस श्रद्धाभाव और ठीक मार्गदर्शन के अभाव में कुछ भी फल नहीं हो सकता। वैदिक शास्त्रों में श्रीभगवान् में श्रद्धाभाव का बड़ा माहात्म्य है। श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानना वस्तुतः सम्पूर्ण वैदिक निर्देशों के अनुसरण का परम लक्ष्य है। इस सिद्धान्त का पालन किए बिना कोई सफल नहीं हो सकता। अतएव कल्याणप्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग सद्गुरु के आश्रय में जीवन के आदिकाल से ही कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण हो जाना है। इससे सब प्रयास कृतार्थ हो जायेंगे।

बद्धावस्था में लोग देवताओं, प्रेतों, अथवा कुबेर आदि यक्षों की उपासना में आसक्त रहते हैं। सत्त्वगुण निःसन्देह रजोगुण और तमोगुण से उत्तम है; परन्तु जो सीधे-सीधे कृष्णभावनाभावित हो जाता है, वह इन तीनों ही गुणों से परे है। परमार्थ की एक क्रमिक पद्धति भी है परन्तु शुद्ध भक्तों के सत्संग से साक्षात् कृष्णभावना को अंगीकार कर लेना सर्वोत्तम है। इस अध्याय का भी यही कहना है। इस पथ में उन्नति के लिए सद्गुरु को खोजकर उनके मार्गदर्शन में शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक है। तभी श्रीभगवान् में श्रद्धा होगी। यथासमय जब श्रद्धा परिपक्व हो जाती है, तो उसे भगवत्प्रेम कहते हैं। यह प्रेम ही जीव का परम लक्ष्य है। अतः सीधे-सीधे कृष्णभावना को अंगीकार कर लेना चाहिए। सत्रहवें अध्याय का बस यही सन्देश है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये सप्तदशोऽध्यायः।।

अथाष्टादशोऽध्यायः

मोक्षसंन्यासयोग
(गीता का निष्कर्ष)

अर्जुन उवाच।
संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **संन्यासस्य**=संन्यास के; **महाबाहो**=हे महाबाहु श्रीकृष्ण; **तत्त्वम्**=तत्त्व को; **इच्छामि**=चाहता हूँ; **वेदितुम्**=जानना; **त्यागस्य**=त्याग के; **च**=भी; **हृषीकेश**=हे इन्द्रियों के स्वामिन्; **पृथक्**=विभाग से; **केशिनिषूदन**=हे केशीहन्ता।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे महाबाहु! हे हृषीकेश! हे केशीहन्ता (श्रीकृष्ण)! मैं त्याग और संन्यास के तत्त्व को अलग-अलग जानना चाहता हूँ।।१।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः सत्रह अध्यायों में समाप्त हो जाती है। यह अट्ठारहवाँ अध्याय पूर्व वर्णित विषयों का साररूप परिशिष्ट है। प्रत्येक अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्भक्तियोग को जीवन का परम लक्ष्य कहा है। इसी भक्तिमार्ग का यहाँ सारांश में परम गोपनीय ज्ञान-पथ के रूप में वर्णन है। पहले छः अध्यायों में

भक्तियोग को गौरवान्वित किया गया—**योगिनामपि सर्वेषाम्**—"सब प्रकार के योगियों में जो हृदय में निरन्तर मेरा चिन्तन करता है, वह सर्वोत्तम है।" सातवें से बारहवें अध्याय तक शुद्ध भक्तियोग के स्वरूप और क्रियाओं का विवरण है। अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञान, वैराग्य, अपरा प्रकृति और परा प्रकृति के कार्यों तथा भक्तियोग का विवेचन है। यह निष्कर्ष हुआ कि सम्पूर्ण कर्म श्रीभगवान् से युक्त होकर ही करने चाहियें। अतः सब कर्मों में भगवान् विष्णु के नाम **ओम् तत् सत्** का उच्चारण करे। गीता के तीसरे षटक (अध्याय १३-१८) में पूर्ववर्ती आचार्यों और ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) के प्रमाण पर भक्तियोग को सिद्ध किया गया। वेदान्तसूत्र से स्पष्ट है कि एकमात्र भक्तियोग जीवन का परमलक्ष्य है। कुछ निर्विशेषवादी वेदान्तसूत्र के ज्ञान पर अपना एकाधिकार समझते हैं; परन्तु वास्तव में तो वेदान्तसूत्र का एकमात्र लक्ष्य भक्तियोग को जानना ही है, क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं वेदान्तसूत्र के रचयिता हैं और एकमात्र वे ही इसके तात्पर्य को पूर्ण रूप से जानते हैं। पंद्रहवें अध्याय में यह कहा जा चुका है। सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों का लक्ष्य भक्तियोग है, यह भगवद्गीता से सिद्ध हो जाता है।

पूर्व में, द्वितीय अध्याय में गीता की सम्पूर्ण विषयवस्तु समाहृत है; इसी प्रकार अठारहवें अध्याय में भी सम्पूर्ण उपदेश का सार निभृत है। जीवन का उद्देश्य त्याग के अभ्यास से प्रकृति के तीनों गुणों से परे शुद्धसत्त्वमयी दिव्य अवस्था को प्राप्त हो जाना बताया गया है। अर्जुन गीता की विषयवस्तु के दो भिन्न-भिन्न तत्त्वों—त्याग और संन्यास को स्पष्ट रूप से जानना चाहता है; इसलिए अब श्रीभगवान् से इस सम्बन्ध में जिज्ञासा करता है।

इस श्लोक में श्रीभगवान् के सम्बोधन रूप—**हृषीकेश** और **केशिनिषूदन**—ये दोनों शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। श्रीकृष्ण हृषीकेश हैं, अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों के स्वामी हैं; इसलिए वे चित्त में निरन्तर शान्ति रखने में हमें सहायता दे सकते हैं। अर्जुन का निवेदन है कि वे सम्पूर्ण तत्त्व को इस प्रकार सार रूप में कहें कि चित्त सदा समभाव में स्थिर रहे। परन्तु इससे उसका सन्तोष नहीं हुआ; फिर भी, उसे कुछ सन्देहरूप असुर पीड़ित कर रहे हैं। अतएव उसने श्रीकृष्ण को 'केशिनिषूदन' कहकर पुकारा। श्रीकृष्ण ने पूर्वकाल में केशी नामक भयंकर असुर का नाश किया था। अर्जुन को विश्वास है कि कृष्ण उसके सन्देहरूपी असुर का वध भी अवश्य करेंगे।

श्रीभगवानुवाच।
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा; **काम्यानाम्**=सकाम; **कर्मणाम्**=कर्मों के; **न्यासम्**=त्याग को; **संन्यासम्**=संन्यास; **कवयः**=ज्ञानीजन; **विदुः**=जानते हैं; **सर्वकर्मफलत्यागम्**=सब कर्मफलों के त्याग को; **प्राहुः**=कहते हैं; **त्यागम्**=त्याग; **विचक्षणाः**=अनुभवी पुरुष।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! सब कर्मों के फल के त्याग को ज्ञानीजन त्याग कहते हैं और वही विद्वानों द्वारा संन्यास समझा जाता है।।२।।

तात्पर्य

सकाम कर्मों को स्वरूप से त्याग देना आवश्यक है; भगवद्गीता का ऐसा स्पष्ट आदेश है। परन्तु अध्यात्म ज्ञान में उन्नति के अनुकूल नित्यकर्मों को नहीं त्यागना चाहिए। अगले श्लोक से यह पूर्णरूप में स्पष्ट हो जायगा। वैदिक शास्त्रों में विशेष-विशेष प्रयोजनों के लिए नाना यज्ञों के विधान हैं। सत्पुत्र अथवा स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए अलग-अलग यज्ञ हैं। ऐसे सब सकाम यज्ञों को त्याग देना चाहिए। परन्तु अन्तःकरण की शुद्धि अथवा आत्मविद्या की उन्नति के लिए किए जाने वाले यज्ञों को नहीं त्यागना चाहिए।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

त्याज्यम्=त्यागने के योग्य हैं; **दोषवत्**=दोषयुक्त होने से; **इति**=इस प्रकार; **एके**=एक वर्ग; **कर्म**=सम्पूर्ण कर्म; **प्राहुः**=कहते हैं; **मनीषिणः**=विचारशील पुरुष; **यज्ञदानतपःकर्म**=यज्ञ, दान, तप, आदि कर्म; **न त्याज्यम्**=कभी नहीं त्यागने चाहिए; **इति**=ऐसे; **च**=भी; **अपरे**=दूसरे विद्वान्।

अनुवाद

विद्वानों के एक वर्ग के मत में तो दोषयुक्त होने के कारण सभी कर्म त्यागने के योग्य हैं; परन्तु दूसरे कहते हैं कि यज्ञ, तप और दान कर्म को कभी नहीं त्यागना चाहिए।।।३।।

तात्पर्य

वैदिक शास्त्रों में ऐसे अनेक कर्मों का उल्लेख है, जो मतभेद के विषय हैं। उदाहरण के लिए, कुछ के अनुसार यज्ञ में पशु-हिंसा की जा सकती है, जबकि दूसरों का कहना है कि पशु-हिंसा पूर्ण रूप से निषिद्ध है। वैदिक शास्त्रों में एक प्रकार के यज्ञ में पशु-हिंसा का उल्लेख तो है, परन्तु ऐसे पशु को मरा नहीं समझा जाता। वृद्ध पशु को नूतन जीवन देने के लिए ही यज्ञ में उसकी बली दी जाती है। इस प्रकार कभी उसे नए पशु-शरीर की प्राप्ति होती है, तो कभी-कभी सीधे मानव शरीर मिल जाता है। परन्तु इस सम्बन्ध में ऋषियों में मतभेद है। कुछ कहते हैं कि पशु-हिंसा से सदा बचना चाहिए, तो कुछ दूसरों के मत में एक विशिष्ट यज्ञ में उससे लाभ होता है। इन सब यज्ञ-क्रिया विषयक विवादों का अब श्रीभगवान् स्वयं समाधान करते हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः।।४।।

निश्चयम्=निश्चय को; **शृणु**=सुन; **मे**=मेरे; **तत्र**=उस; **त्यागे**=त्याग के विषय

में; **भरतसत्तम**=हे अर्जुनः **त्यागः**=त्याग; **हि**=निःसन्देह; **पुरुषव्याघ्र**=हे नरशार्दूल; **त्रिविधिः**=तीन प्रकार का; **संप्रकीर्तितः**=कहा जाता है।

अनुवाद

हे अर्जुन! अब तू त्याग के विषय में मेरे निश्चय को सुन! हे नरोत्तम! शास्त्रों में त्याग तीन प्रकार का बताया गया है।।४।।

तात्पर्य

त्याग के सम्बन्ध में मतभेद हैं; इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण इस विषय में अपना निर्णय अभिव्यक्त कर रहे हैं, जो अन्तिम और सर्वमान्य है। वेद वस्तुतः श्रीभगवान् के ही विधान हैं। परन्तु यहाँ तो श्रीभगवान् स्वयं उपस्थित हैं; अतः उनके निर्णय को सब प्रकार से अन्तिम मानना चाहिए। श्रीभगवान् के मत में प्रकृति के गुणों के अनुसार त्याग के तीन भेद हैं।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

यज्ञदानतपःकर्म=यज्ञ, दान और तप आदि कर्म; **न त्याज्यम्**=त्यागने के योग्य नहीं हैं; **कार्यम्**=कर्तव्य हैं; **एव**=निःसन्देह; **तत्**=वह; **यज्ञः**=यज्ञ; **दानम्**=दान; **तपः**=तप; **च**=तथा; **एव**=निश्चित रूप से; **पावनानि**=चित्त की शुद्धि करने वाले हैं; **मनीषिणाम्**=महात्माओं के लिए भी।

अनुवाद

यज्ञ, तप और दानरूप कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए; इन्हें करना निश्चित कर्तव्य है। निःसन्देह यज्ञ, दान और तप आदि महात्माओं को भी शुद्ध करने वाले हैं।।५।।

तात्पर्य

योगियों का कर्तव्य है कि मानवसमाज के उद्धार के लिए यथायोग्य कर्म करें। ऐसे अनेक शुद्धि-साधन हैं, जिनसे मनुष्य परमार्थ के पथ पर अग्रसर हो सकता है। इन यज्ञों में से विवाह भी एक है। इसी कारण उसे विवाह-यज्ञ कहते हैं। जिज्ञासा हो सकती है कि क्या एक संन्यासी, जिसने अपने पारिवारिक सम्बन्धों का विच्छेद कर दिया है, विवाहयज्ञ को बढ़ावा दे? श्रीभगवान् कहते हैं कि ऐसा कोई यज्ञ त्यागने के योग्य नहीं, जिससे मानवसमाज का हित होता हो। विवाह-यज्ञ का उद्देश्य मन को संयमित और शान्त करना है, जिससे वह पारमार्थिक साधना में तत्पर रह सके। अधिकांश मनुष्यों के लिए यह विवाह-यज्ञ आवश्यक है, अतः संन्यासी भी इसका निषेध न करे। यह सत्य है कि संन्यासी के लिए स्त्री-संग वर्जित है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह किसी अन्य आश्रम के नवयुवक को भी विवाह न करने दे। सभी शास्त्रविहित यज्ञों का प्रयोजन भगवत्प्राप्ति करना है। अतः प्रारम्भिक अवस्था में उन्हें नहीं त्यागना चाहिए। इसी भाँति दान से हृदय शुद्ध होता है। पूर्ववर्णन के अनुसार, सत्पात्र को दान देना परमार्थ में सहायक है।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

एतानि=ये सव; **अपि**=भी; **तु**=परन्तु; **कर्माणि**=कर्म; **संगम्**=आसक्ति को; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **फलानि**=फलों को; **च**=तथा; **कर्तव्यानि**=करने कर्तव्य हैं; **इति**=ऐसा; **मे**=मेरा; **पार्थ**=हे अर्जुन; **निश्चितम्**=निश्चित; **मतम्**=मत है; **उत्तमम्**=मवश्रेष्ठ।

अनुवाद

हे अर्जुन! इन सव यज्ञ आदि कर्मों को आसक्ति और फल की इच्छा त्याग कर कर्तव्यवुद्धि से अवश्य करना चाहिये, ऐसा मेरा निश्चित मत है।।६।।

तात्पर्य

यद्यपि यह सत्य है कि यज्ञों से शुद्धि होती है, परन्तु इनसे किसी फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। कहने का तात्पर्य है कि प्राकृत लाभ की इच्छा से किए जाने वाले सव यज्ञों को त्याग देना चाहिए; किन्तु अन्तःकरण को शुद्ध करके आत्म-स्तर पर आरूढ़ करने वाले यज्ञों को नहीं छोड़ना चाहिए। जो कोई साधन कृष्णभावना की ओर अग्रसर करता है, उसे बढ़ाना चाहिए। श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि जो वस्तु भगवद्भक्तियोग के अनुकूल हो, उसे अंगीकार कर लेना चाहिए। यही परम धर्म है। भगवद्भक्त को ऐसे किसी कर्म, यज्ञ अथवा दान को करने में संकोच नहीं करना चाहिए, जो भगवत्सेवा में सहायक हो।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

नियतस्य=शास्त्रविहित कर्तव्य का; **तु**=तो; **संन्यासः**=त्याग; **कर्मणः**=कर्म का; **न उपपद्यते**=योग्य नहीं है; **मोहात्**=मोहवश; **तस्य**=उसका; **परित्यागः**=त्याग करना; **तामसः**=तामस; **परिकीर्तितः**=कहा जाता है।

अनुवाद

नियत कर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिए। अतएव मोहवश उसका त्याग कर देना तामस कहा गया है।।७।।

तात्पर्य

प्राकृत सुख के लिए किए जाने वाले कर्मों को त्यागना तो अनिवार्य है, परन्तु शास्त्र के अनुसार उन क्रियाओं को अवश्य करना चाहिए, जिनसे दिव्य क्रिया के स्तर पर पहुँचा जाता है। उदाहरण के लिए, भगवान् के लिए नैवेद्य बनाना, नैवेद्य का भगवान् को भोग लगाना, प्रसाद पाना, इत्यादि। कहा जाता है कि अपने लिए भोजन वनाने का निषेध है, परन्तु श्रीभगवान् के लिए भोजन बनाने का नहीं । इस न्याय के अनुसार, कृष्णभावना में शिष्य की उन्नति के लिए संन्यासी उसका विवाह भी सम्पन्न

करा सकता है। जो इन क्रियाओं को त्यागता है, वह निश्चित रूप से तमोगुण में कार्य कर रहा है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

दुःखम्=दुःखरूप; **इति**=ऐसे; **एव**=ही (भाव से); **यत्**=जो; **कर्म**=कार्य; **कायक्लेशभयात्**=देहकष्ट के भय से; **त्यजेत्**=त्यागता है; **सः**=वह; **कृत्वा**=करके भी; **राजसम्**=राजस; **त्यागम्**=त्याग; **न**=नहीं; **एव**=निःसन्देह; **त्यागफलम्**=त्याग के फल को; **लभेत्**=पाता।

अनुवाद

जो मनुष्य कर्म को दुःखरूप समझ कर शारीरिक क्लेश के भय से त्यागता है, वह राजस त्याग करके भी त्याग के फल को नहीं पाता।।८।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष को इस भयवश धन कमाना नहीं छोड़ देना चाहिए कि उससे सकाम कर्म बन रहा है। कर्म करने से अर्जित धन को कृष्णभावना में लगाया जा सकता है। इसी प्रकार ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा-त्याग करने से कृष्णभावना में उन्नति की जा सकती है। अतएव इन कर्मों से यह समझ कर विमुख न हो कि ये सब दुःखरूप हैं, अथवा इसलिए कि इनसे शरीर को क्लेश होगा। ऐसा करना राजस त्याग है। राजस कार्य का सदा दुःखमय फल होता है; इसलिए जो इस भाव से प्रेरित होकर त्याग करता है, वह त्याग के फल को कभी नहीं पाता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

कार्यम्=अवश्य कर्तव्य है; **इति**=इस भाव से; **एव**=निःसन्देह; **यत्**=जो; **कर्म**=कार्य; **नियतम्**=नियत; **क्रियते**=किया जाता है; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **संगम्**=आसक्ति और कर्तापन के अभिमान को; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **फलम् च**=फल को भी; **एव**=निःसन्देह; **सः**=वह; **त्यागः**=त्याग; **सात्त्विकः**=सात्त्विक; **मतः**=माना गया है।

अनुवाद

परन्तु हे अर्जुन ! जो मनुष्य कर्तव्य समझ कर तथा कर्तापन के अभिमान और फल की आसक्ति को पूर्ण रूप से त्याग कर नित्य कर्म करता है, उसका वह त्याग सात्त्विक माना जाता है।।९।।

तात्पर्य

नियत कर्म को इसी भाव से करना चाहिए। यह आवश्यक है कि कर्ता की कर्मफल में आसक्ति न हो; कर्म के गुणों से असंग हो जाय। किसी फैक्टरी, आदि में काम करते हुए भी कृष्णभावनाभावित पुरुष न कर्म का संग करता है और न अन्य

कर्मचारियों का ही संग करता है। वह तो बस अनन्यभाव से श्रीकृष्ण के लिए कर्म में तत्पर रहता है। कर्मफल को श्रीकृष्ण के अर्पण करने से उसके कर्म निःसन्देह दिव्य हो जाते हैं।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

न=न; **द्वेष्टि**=द्वेष करता; **अकुशलम्**=दुःखद; **कर्म**=कर्म से; **कुशले**=सुखदायी कर्म में; **न**=न; **अनुषज्जते**=आसक्त होता; **त्यागी**=त्यागी; **सत्त्व**=सत्त्वगुण में; **समाविष्टः**=लीन; **मेधावी**=स्थिरबुद्धि; **छिन्नसंशयः**=सब संशयों से मुक्त।

अनुवाद

जो सत्त्वगुण में स्थित पुरुष दुःखद कर्म से द्वेष नहीं करता है और सुखदायी कर्म में आसक्त नहीं होता है, उस स्थिरबुद्धि के कर्म-विषयक सारे संशय नष्ट हो जाते हैं।।१०।।

तात्पर्य

भगवद्गीता में अन्यत्र उल्लेख है कि कोई क्षणभर के लिए भी कर्म के बिना नहीं रह सकता। अतएव जो श्रीकृष्ण के लिए कर्म करता है और फल को स्वयं न भोग कर सर्वस्व श्रीकृष्ण के अर्पण कर देता है, वही सच्चा त्यागी है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ के बहुत से सदस्य अपने कार्यालय, फैक्टरी, आदि में अथक परिश्रम करते हैं और इस प्रकार होने वाली अपनी सम्पूर्ण आय संघ को समर्पित कर देते हैं। ऐसे महात्माजन वास्तव में संन्यासी हैं; वस्तुतः संन्यास आश्रम में स्थित हैं। कर्मफल का त्याग किस प्रकार और किसके लिए करना चाहिए, यहाँ यह स्पष्ट किया गया है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

न=नहीं; **हि**=निःसन्देह; **देहभृता**=(किसी भी) देहबद्ध जीव के लिए; **शक्यम्**=सम्भव है; **त्यक्तुम्**=त्यागना; **कर्माणि**=कर्मों को; **अशेषतः**=पूर्ण रूप से; **यः तु**=जो कोई भी; **कर्मफलत्यागी**=कर्म फल का त्यागी है; **सः**=वही; **त्यागी**=त्यागी है; **इति**=ऐसा; **अभिधीयते**=कहा जाता है।

अनुवाद

देहबद्ध जीव कर्म को पूर्ण रूप से कभी नहीं त्याग सकता; इसलिए जो फल का त्यागी है, वही सच्चा त्यागी है, ऐसा कहा जाता है।।११।।

तात्पर्य

जो श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध के ज्ञान के साथ कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह पुरुष नित्यमुक्त है। इसलिए जीवन के अन्त में उसे अपने कर्मों के सुख-दुःखादि फल को नहीं भोगना पड़ता।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।१२।।

अनिष्टम्=नरकदुःख; **इष्टम्**=स्वर्गसुख; **मिश्रम्**=मिला हुआ; **च**=अथवा; **त्रिविधम्**=तीन प्रकार का; **कर्मणः फलम्**=कर्मफल; **भवति**=होता है; **अत्यागिनाम्**=कर्मफल का त्याग करने वाले मनुष्यों को; **प्रेत्य**=मरने पर; **न**=नहीं; **तु**=परन्तु; **संन्यासिनाम्**=त्यागियों का; **क्वचित्**=कभी।

अनुवाद

कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों को ही मरने पर सुख, दुःख और मिला हुआ, ऐसा तीन प्रकार का कर्मफल होता है। परन्तु कर्मफल के त्यागी पुरुषों को कभी ऐसा दुःख-सुख नहीं भोगना पड़ता ।।१२।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित सात्त्विक पुरुष अपनी देह को कष्ट देने वाले प्राणी-पदार्थ तक से द्वेष नहीं करता। वह यथायोग्य देशकाल में कर्तव्य-कर्म का दृढ़तापूर्वक आचरण करता है; परिणाम में होने वाले कष्टमय फल का भय नहीं करता। ऐसा ब्रह्मभूत पुरुष निःसन्देह परम् ज्ञानी है और अपने कर्मों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सन्देहों से छूटा हुआ है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

पञ्च=पाँच; **एतानि**=ये सब; **महाबाहो**=हे अर्जुन; **कारणानि**=कारण हैं; **निबोध**=जान; **मे**=मुझे से; **सांख्ये**=वेदान्तशास्त्र में; **कृतान्ते**=कर्म के अन्त में; **प्रोक्तानि**=कहे गए हैं; **सिद्धये**=सिद्धि के लिए; **सर्वकर्मणाम्**=सब कर्मों की; **अधिष्ठानम्**=आधार (शरीर); **तथा**=और; **कर्ता**=करने वाला (जीव); **करणम्** =करण (इन्द्रियाँ); **च**=और; **पृथग्विधम्**=अनेक प्रकार के; **विविधाः**=नाना प्रकार की; **च**=तथा; **पृथक्**=अलग-अलग; **चेष्टाः**=व्यापार; **दैवम्**=प्रेरक अन्तर्यामी; **च**=तथा; **एव**=निःसन्देह; **अत्र**=यहाँ; **पञ्चमम्**=पाँचवाँ।

अनुवाद

हे महाबाहु अर्जुन ! सब कर्मों की पूर्ति के पाँच कारण हैं, इन्हें मुझ से जान। साख्यदर्शन में इन्हें कर्म का अधिष्ठान, कर्ता, इन्द्रियरूप करण, चेष्टा और परमात्मा कहा गया है।।१३-१४।।

तात्पर्य

जिज्ञासा उठ सकती है कि जब प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ फल अवश्य होता है, तब यह कैसे सम्भव है कि कृष्णभावनाभावित पुरुष को कर्मफल जनित दुःख-सुख

नहीं भोगना पड़ता। श्रीभगवान् इसमें वेदान्त-दर्शन का प्रमाण देते हैं। वे कहते हैं कि सब कर्मों के पाँच कारण हैं, जिन्हें कर्मसिद्धि के लिए जानना आवश्यक है। 'सांख्य' ज्ञानकाण्ड का वाचक है और वेदान्त सब महान् आचार्यों द्वारा स्वीकृत परम ज्ञान है। शंकर ने भी वेदान्तसूत्र की इस महत्ता को स्वीकार किया है। अतः इस प्रमाण की सहायता लेनी चाहिए।

परमात्मा का संकल्प सर्वोपरि है, जैसा गीता में कहा है, **सर्वस्य चाहं हृदि**। वे जीवों को विविध क्रियाओं में प्रेरित कर रहे हैं। उन अन्तर्यामी की आज्ञा के अनुसार किए गए कर्मों का इस लोक में अथवा परलोक में भी कोई फल नहीं होता।

इन्द्रियाँ कर्म करने की उपकरण हैं; इन्हीं के द्वारा आत्मा विविध प्रकार से क्रिया करता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक कर्म में अलग-अलग चेष्टा रहती है। परन्तु अन्तिम रूप में तो जीव के सम्पूर्ण कर्म परमात्मा (दैव) की इच्छा पर ही अवलम्बित हैं, जो जीव-हृदय में सखा के रूप में बैठा है। अतः श्रीभगवान् परम कारण हैं। इस स्थिति में, जो पुरुष अन्तर्यामी परमात्मा के निर्देश के अनुसार कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह स्वाभाविक रूप से किसी कर्मबन्धन में नहीं पड़ता। पूर्ण कृष्णभावनाभावित पुरुषों पर अपने कर्मों का अन्तिम दायित्व नहीं रहता; वे सब प्रकार से परमात्मारूप श्रीभगवान् की परम बलवती इच्छा पर निर्भर हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

शरीर वाक् मनोभिः=शरीर, वाणी और मन से; **यत्**=जो; **कर्म**=कर्म; **प्रारभते**=आरम्भ करता है; **नरः**=मनुष्य; **न्याय्यम्**=धर्ममय; **वा**=अथवा; **विपरीतम्**=अधर्ममय; **वा**=अथवा; **पञ्च**=पाँच; **एते**=ये; **तस्य**=उसके; **हेतवः**=कारण हैं।

अनुवाद

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जो कुछ भी धर्ममय (शास्त्र के अनुकूल) अथवा अधर्ममय (शास्त्र के विपरीत) कर्म करता है, उसके ये पाँचों कारण हैं।।१५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में **न्याय्यम्** (धर्ममय) और **विपरीतम्** (अधर्ममय), ये दोनों शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। धर्ममय कर्म वह है, जो शास्त्रविधि के अनुसार किया जाय, जबकि शास्त्रविरुद्ध कर्म अधर्ममय कहलाता है। परन्तु चाहे जो भी कर्म किया जाय, उसकी पूर्णता के लिए ये पाँचों हेतु अनिवार्य हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

तत्र=उस सम्बन्ध में; **एवम्**=ऐसा; **सति**=होने पर भी; **कर्तारम्**=कर्ता; **आत्मानम्**=आत्मा को; **केवलम्**=केवलमात्र; **तु**=परन्तु; **यः**=जो; **पश्यति**=देखता

है; अकृतबुद्धित्वात्=अशुद्ध बुद्धि के कारण; न=नहीं; सः=वह; पश्यति=देखता है; दुर्मतिः=मूर्ख (अज्ञानी)।

अनुवाद

अतएव जो अशुद्ध बुद्धि के कारण केवल इन पाँच हेतुओं के स्थान पर अपने को ही कर्ता समझता है, वह निःसन्देह अज्ञानी है और तत्त्व से नहीं देखता।।१६।।

तात्पर्य

मूर्ख मनुष्य यह नहीं समझ सकता कि परमात्मा हृदय में सखारूप से विराजमान हैं और उसके कर्मों का संचालन कर रहे हैं। अधिष्ठान, कर्ता, चेष्टा और इन्द्रियों रूप प्राकृत उपादान कारणों के ऊपर एक परम कारण भी है—श्रीभगवान्। अतः चार उपादान कारणों के साथ परम निमित्त कारण को भी देखना चाहिए। जो कर्म में परमात्मा का हाथ नहीं देखता, वह अपने को ही कर्ता मान बैठता है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

यस्य=जिसके; **न**=नहीं है; **अहंकृतः**=मिथ्या अहंकार का; **भावः**=स्वभाव; **बुद्धिः**=बुद्धि; **यस्य**=जिसकी; **न**=नहीं; **लिप्यते**=लिप्त होती; **हत्वा अपि**=मार कर भी; **सः**=वह; **इमान्**=इस; **लोकान्**=संसार को; **न**=न (तो); **हन्ति**=मारता है; **न**=न ही; **निबध्यते**=बँधता है।

अनुवाद

जो मिथ्या अहंकार से प्रेरित नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इस सम्पूर्ण संसार को मारने पर भी वास्तव में न तो किसी को मारता है और न अपने कर्म से बँधता ही है।।१७।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् अर्जुन को सूचित करते हैं कि उसकी न लड़ने की इच्छा मिथ्या अहंकार से ही उठी है। अर्जुन अपने को कर्ता मान बैठा; अन्तर्यामी परमात्मा तथा सामने साक्षात् रूप में उपस्थित भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा पर उसने विचार नहीं किया। जो यह नहीं जानता कि कोई परम निर्देश भी है, वह कर्म में प्रवृत्त ही क्यों हो? दूसरी ओर, जो कर्म के करण को, कर्ता रूप में अपने को और परम निदेशक के रूप में परमेश्वर को जानता है, उसके सम्पूर्ण कर्म पूर्ण सिद्ध होते हैं। वह पुरुष कभी माया-भ्रम में नहीं पड़ता। जीव पर निजी क्रिया और दायित्व का भार मिथ्या अहंकार और निरीश्वरता, अर्थात् कृष्णभावना के अभाव के कारण ही पड़ता है। कृष्णभावना-भावित पुरुष यदि श्रीभगवान् अथवा परमात्मा के निर्देश के अनुसार मारने में भी प्रवृत्त हो जाय, तब भी वह वास्तव में न तो किसी को मारता है और न ही कभी उसे ऐसे मारने से कोई बन्धन होता है। जो योद्धा नायक के आदेश पालन में किसी को मारता

है उसे दोषी नहीं समझा जाता है। परन्तु यदि वह स्वेच्छा से किसी की हत्या करे तो निश्चित रूप से नियम के आधीन दण्डनीय होगा।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।।१८।।

ज्ञानम्=ज्ञान; **ज्ञेयम्**=ज्ञान का ध्येय (जानने योग्य); **परिज्ञाता**=जानने वाला; **त्रिविधा**=तीन प्रकार के; **कर्म**=कर्म के; **चोदना**=प्रेरक हैं; **करणम्**=इन्द्रियाँ; **कर्म**=कर्म; **कर्ता**=करने वाला; **इति**=ऐसे; **त्रिविधः**=तीन प्रकार के; **कर्मसंग्रहः**=कर्म के संग्रह हैं।

अनुवाद

ज्ञान, जानने योग्य और जानने वाला, ऐसे ये तीनों कर्म के प्रेरक हैं तथा इन्द्रियाँ, कर्म और कर्ता, ये तीन कर्म के आधार हैं।।१८।।

तात्पर्य

ज्ञान, जानने योग्य और ज्ञाता, ये तीनों नित्यकर्म के प्रेरक हैं। कर्मेन्द्रिय, कर्म और कर्ता, ये तीन कर्म के घटक हैं, अर्थात् इन तीनों के संयोग से ही कोई कर्म बनता है। कर्म से पूर्व कर्म करने की प्रेरणा होती है। वास्तव में कर्म से पहले किया जाने वाला संकल्प कर्म का ही सूक्ष्म रूप है। बाद में वही कार्यरूप में प्रकट होता है। सबसे पहले मन में चिन्तन, संवेदन और संकल्प उठता है। इसी को प्रेरणा (संवेग) कहते हैं। कर्म करने में श्रद्धा का नाम ज्ञान है। प्रेरणा शास्त्र से प्राप्त हो अथवा सद्गुरु से, एक ही बात है। जब प्रेरणा हो और कर्ता भी हो, तब इन्द्रियों की सहायता से वास्तव में कर्म संपादित होता है। मन सब इन्द्रियों का केन्द्र है और जानने योग्य है कर्म का तत्त्व। भगवद्गीता में कर्म की इन सभी अवस्थाओं का वर्णन है। सम्पूर्ण कर्मों के समवाय को 'कर्मसंग्रह' कहते हैं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

ज्ञानम्=ज्ञान; **कर्म**=कर्म; **च**=तथा; **कर्ता**=कर्ता; **च**=भी; **त्रिधा**=तीन-तीन प्रकार के; **एव**=निःसन्देह; **गुणभेदतः**=गुणभेद के अनुसार; **प्रोच्यते**=कहे जाते हैं; **गुणसंख्याने**=गुण-निरूपक शास्त्र में; **यथावत्**=जैसे वे कार्य करते हैं; **शृणु**=सुन; **तानि**=उन सब को; **अपि**=भी।

अनुवाद

प्रकृति के गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म तथा कर्ता के भी तीन-तीन भेद कहे गए हैं; उनको मुझ से सुन।।१९।।

तात्पर्य

चौदहवें अध्याय में प्रकृति के त्रिगुणों का विशद वर्णन है। उस प्रकरण में उल्लेख है कि सत्त्वगुण प्रकाशमय है, रजोगुण रागमय है तथा तमोगुण से आलस्य और

प्रमाद होता है। ये तीनों गुण बन्धनकारी हैं; कोई मुक्ति का द्वार नहीं हो सकता। अधिक क्या, सत्त्वगुण में भी बन्धन बना रहता है। सत्रहवें अध्याय में नाना गुणों वाले मनुष्यों की उपासनाओं का वर्गीकरण है। अब श्रीभगवान् प्रकृति के गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता के भेद बतलाना चाहते हैं।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

सर्वभूतेषु=सब प्राणियों में; **येन**=जिससे; **एकम्**=एक; **भावम्**=स्थिति; **अव्ययम्**=अविनाशी; **ईक्षते**=देखता है; **अविभक्तम्**=विभागरहित; **विभक्तेषु**=विभक्तों में; **तत्**=उस; **ज्ञानम्**=ज्ञान को; **विद्धि**=जान; **सात्त्विकम्**=सात्त्विक।

अनुवाद

जिस ज्ञान के द्वारा सब परस्पर विभक्त प्राणियों में एक विभागरहित परा प्रकृति दिखाई देती है, उसे तू सात्त्विक जान।।२०।।

तात्पर्य

जो पुरुष देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, वनस्पति आदि सभी प्राणियों में एक आत्मतत्त्व देखता है, वह सात्त्विक ज्ञान से युक्त है। सब जीवों में एक आत्मतत्त्व है, चाहे पूर्वकर्म के अनुसार उनके शरीर नाना प्रकार के हैं। सातवें अध्याय में कहा जा चुका है कि देह में चेतना का प्रकाश श्रीभगवान् की परा प्रकृति के कारण है। अतः देह-देह में एक परा प्रकृति—चेतना को देखना सात्त्विक दृष्टि है। नाशवान् शरीर में रहते हुए भी वह चेतन-शक्ति स्वयं अविनाशी है। जीवों में भेद का अनुभव देह के रूप में होता है; कारण, बद्धावस्था में अनेक प्रकार की जीवयोनियाँ हैं। इसलिए वे विभक्त से प्रतीत होते हैं। ऐसे निर्विशेष ज्ञान से भी अन्त में स्वरूपसाक्षात्कार हो जाता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

पृथक्त्वेन=पृथकता के कारण; **तु**=परन्तु; **यत्**=जो; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **नानाभावान्**=नाना प्रकार की अवस्थाओं को; **पृथग्विधान्**=विविध; **वेत्ति**=जानता है; **सर्वेषु**=सब; **भूतेषु**=जीवों में; **तत्**=वह; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **विद्धि**=जान; **राजसम्**=राजस।

अनुवाद

जिसके द्वारा मनुष्य नाना प्रकार के देहों में भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों को स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू राजस जान।।२१।।

तात्पर्य

राजस ज्ञान का स्वरूप यह समझना है कि प्राकृत देह ही जीव है और देह के साथ-साथ चेतना का भी नाश हो जाता है। इसके अनुसार, शरीरों में भेद का कारण यह है कि उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की चेतना का विकास हुआ है तथा देह से पृथक्

ऐसे किसी आत्मतत्त्व का अस्तित्व नहीं है, जो चेतना का स्रोत हो। इस प्रकार वस्तुतः देह को ही आत्मा मान लिया जाता है। इस ज्ञान के अनुसार तो चेतना भी अनित्य सिद्ध हो जाती है। अथवा, कोई जीवात्मा नहीं है; केवल एक सर्वव्यापी आत्मा है, जो ज्ञानमय है, जबकि देह अविद्या का अनित्य प्रकाशमात्र है। यह भी कहा जाता है कि इस देह से परे कोई जीवात्मा अथवा परमात्मा नहीं है। ऐसी सब धारणाएँ रजोगुण से उत्पन्न मानी जाती हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

यत्=जो; **तु**=परन्तु; **कृत्स्नवत्**=पूर्ण रूप से; **एकस्मिन्**=एक में; **कार्ये**=कर्म में; **सक्तम्**=आसक्त है; **अहैतुकम्**=हेतुरहित; **अतत्त्वार्थवत्**=तत्त्व से रहित; **अल्पम् च**=तुच्छ भी; **तत्**=वह; **तामसम्**=तामस; **उदाहृतम्**=कहा गया है।

अनुवाद

जिस ज्ञान के द्वारा तत्त्व के बिना सदा एक ही कार्य में पूर्ण रूप से आसक्त रहता है और जो अति तुच्छ है, वह तामस कहा गया है।।२२।।

तात्पर्य

सामान्य मनुष्य का ज्ञान' सदा अज्ञान अथवा अंधकार में है, क्योंकि बद्धावस्था में जीव पर जन्म से ही तमोगुण छाया रहता है। जो आचार्यों अथवा शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार ज्ञान का विकास नहीं करता, उसका ज्ञान देह तक सीमित रहता है। वह शास्त्र-विधि के अनुसार आचरण करने की चिन्ता नहीं करता। उसके लिए धन ईश्वर है और शरीर की आवश्यकता-पूर्ति ही ज्ञान है। ऐसे ज्ञान का परतत्त्व से कुछ सम्बन्ध नहीं। यह प्रायः सोना, खाना, मैथुन और भय—सामान्य पशुओं के ज्ञान जैसा है। ऐसे ज्ञान को तमोगुण से उत्पन्न बताया गया है। भाव यह है कि इस देह से परे आत्मा का ज्ञान सात्त्विक है; लौकिक तर्क और मनोधर्म के आधार पर अनेक मतों को उपस्थित करने वाला ज्ञान राजस है तथा केवल देह को सुखी रखने सम्बन्धी ज्ञान तामस है।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

नियतम्=शास्त्रविहित; **संगरहितम्**=आसक्ति से रहित; **अरागद्वेषतः**=राग-द्वेष के बिना; **कृतम्**=किया; **अफलप्रेप्सुना**=फल को न चाहने वाले द्वारा; **कर्म**=कर्म; **यत्**=जो; **तत्**=वह; **सात्त्विकम्**=सात्त्विक; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो कर्म शास्त्रविहित कर्तव्य के अनुसार, कर्तापन के अभिमान और राग-द्वेष के बिना, फल को न चाहने वाले द्वारा किया गया हो, वह सात्त्विक कहा जाता है।।२३।।

तात्पर्य

समाज के अलग-अलग वर्ण-आश्रमों के लिए शास्त्रों में यथायोग्य स्वधर्म का विधान है। आसक्ति और अभिमान से रहित, राग-द्वेष और इन्द्रियतृप्ति के बिना भगवान् की प्रीति के लिए इस प्रकार के स्वधर्म का कृष्णभावनाभावित आचरण सात्त्विक कर्म कहलाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

यत्=जो; तु=परन्तु; **कामेप्सुना**=फल की इच्छा करने वाले द्वारा; **कर्म**=कर्म; **साहंकारेण**=अहंकारसहित; **वा**=अथवा; **पुनः**=फिर; **क्रियते**=किया जाता है; **बहुल-आयासम्**=अतिश्रम सहित; **तत्**=वह; **राजसम्**=राजस; **उदाहृतम्**=कहा गया है।

अनुवाद

परन्तु जो कर्म मिथ्या अहंकारी द्वारा अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए अति क्लेशसहित किया जाता है, वह राजस कहा गया है।।२४।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

अनुबन्धम्=भावी बन्धन; **क्षयम्**=धर्म आदि का विनाश; **हिंसाम्**=प्राणी-पीड़ा को; **अनपेक्ष्य**=विचारे बिना; **च**=और; **पौरुषम्**=सामर्थ्य को (भी); **मोहात्**=मोह से; **आरभ्यते**=आरम्भ किया जाता है; **कर्म**=कर्म; **यत्**=जो; **तत्**=वह; **तामसम्**=तामस; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो कर्म भावी बन्धन, परिणाम, हिंसा, धर्म की हानि और सामर्थ्य को भी विचारे बिना मोह और अज्ञान से किया जाता है, वह तामस कहा गया है।।२५।।

तात्पर्य

मनुष्य को राज्य को और श्रीभगवान् द्वारा नियुक्त यमदूतों को अपने कर्मों का ब्यौरा देना पड़ता है। स्वच्छन्द कर्म उत्पातकारी ही सिद्ध होता है, क्योंकि वह शास्त्रविहित धर्म का नाश कर देता है। प्रायः ऐसे कर्मों में हिंसा और परपीड़न बनता है। मनुष्य ऐसा स्वच्छन्द कर्म अपने निजी अनुभव के आधार पर किया करता है। इसी का नाम अज्ञान है। सम्पूर्ण अज्ञानमय कर्म तमोगुण के कार्य हैं।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

मुक्तसंगः=सब प्रकार की सांसारिक आसक्ति से मुक्त; **अनहंवादी**=मिथ्या अहंकार से रहित; **धृतिउत्साहसमन्वितः**=धैर्य और उत्साह से युक्त; **सिद्ध्योः**=कार्य की सिद्धि (और); **असिद्ध्योः**=असिद्धि में; **निर्विकारः**=सुख-दुःख आदि विकारों से रहित; **कर्ता**=कर्म करने वाला; **सात्त्विकः**=सात्त्विक; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो सब प्रकार की सांसारिक आसक्ति और मिथ्या अहंकार से मुक्त है, जो धृति और दृढ़ उत्साह से युक्त है तथा कर्म की सिद्धि-असिद्धि में उदासीन है, वह कर्ता सात्त्विक है।।२६।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष प्रकृति के गुणों से सदा परे रहता है। उसे कर्तव्य-कर्म से किसी फल की आशा नहीं होती, क्योंकि वह मिथ्या अहंकार और गर्व से ऊपर उठ चुका है। फिर भी वह कार्य-पूर्ति के लिए उत्साह से युक्त रहता है। मार्ग में आने वाले दुःखों से नहीं घबराता; दृढ़ धैर्यपूर्वक सब सहन करता हुआ सदा-सर्वदा उल्लसित रहता है। उसे सिद्धि-असिद्धि की चिन्ता नहीं होती, इसलिए सुख-दुःख में समभाव रखता है। ऐसा कर्ता सात्त्विक है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

रागी=अति आसक्त; **कर्मफलप्रेप्सुः**=कर्मफल की इच्छा वाला; **लुब्धः**=विषयों का लोभी; **हिंसात्मकः**=दूसरों को पीड़ा देने के स्वभाव वाला; **अशुचिः**=अपवित्र; **हर्षशोकान्वितः**=हर्ष-शोक से युक्त; **कर्ता**=कर्ता; **राजसः**=राजस; **परिकीर्तितः**=कहा गया है।

अनुवाद

परन्तु जो अपने कर्मफल में आसक्त है, उन्हें भोगना चाहता है और जो लोभी, दूसरों से द्वेष करने वाला, अपवित्र, हर्ष-शोक से चलायमान है, वह कर्ता राजस कहा गया है।।२७।।

तात्पर्य

किसी कर्म अथवा कर्मफल में आसक्ति का कारण स्त्री, पुत्र, घर, आदि विषयों में प्रगाढ़ आसक्ति का होना है। विषयासक्त मनुष्य में जीवन को ऊपर उठाने की कोई अभिलाषा नहीं होती। वह तो केवल इस बात में रुचि रखता है कि किस प्रकार इस प्राकृत-जगत् को भौतिक रूप से अधिक से अधिक सुखद बनाया जाय। ऐसा मनुष्य प्रायः बड़ा लोभी होता है और समझता है कि उसे प्राप्त सब भोग स्थिर हैं, जैसे उनका कभी नाश ही नहीं होगा; दूसरों से द्वेष करता है और इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी पाप करने को सन्नद्ध रहता है। इन अवगुणों के रहते वह निश्चित रूप से अपवित्र है। वह इस बात की चिन्ता नही करता कि उसकी आय शुद्ध है अथवा अशुद्ध। कार्य में सफल होने पर उसे बड़ा हर्ष होता है और असफल रह जाने पर वह दुःख-सागर में निमग्न हो जाता है। इस प्रकार का कर्ता राजस है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

अयुक्तः=शास्त्र-विरुद्ध कर्म करने वाला; **प्राकृतः**=विषयी; **स्तब्धः**=हठी; **शठः**=कपटी; **नैष्कृतिकः**=दूसरों का अपमान करने में कुशल; **अलसः**=शिथिल (आलसी); **विषादी**=शोकाकुल; **दीर्घसूत्री**=कार्य करने में अति मंद; **च**=तथा; **कर्ता**=कर्म करने वाला; **तामसः**=तामस; **उच्यते**=कहा जाता है।

अनुवाद

जो नित्य शास्त्र-विरुद्ध कर्म में प्रवृत्त है, विषयी, हठी, कपटी, और दूसरों का अपमान करने वाला, विषादी, आलसी तथा दीर्घसूत्री है, वह कर्ता तामस कहा जाता है।।२८।।

तात्पर्य

शास्त्रों में कुछ प्रकार के कर्मों का विधान है और कुछ का निषेध है। जो इस शास्त्रविधि को नहीं मानते उनसे निषिद्ध कर्म बनता है। ऐसे मनुष्य प्रायः घोर विषयी होते हैं। शास्त्रविधि के स्थान पर वे प्रकृति के गुणों के अनुसार कर्म करते हैं। ऐसे कर्म करने वाले नम्रता से रहित, कपटी और दूसरों को अपमानित करने में दक्ष होते हैं। उनमें आलस्य प्रवल रहता है—वे अपना कर्तव्य-पालन भी भलीभाँति नहीं कर पाते; वरन् उसे निरन्तर आगे के लिए टालते रहते हैं। यही कारण है कि वे सदा शोकमग्न दिखते हैं। वे स्वभाव से ही दीर्घसूत्री होते हैं— एक दिन के कार्य में वर्षों लगा देते हैं। इस कोटि के कर्ता तामसी हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।।२९।।

बुद्धेः=बुद्धि के; **भेदम्**=भेद; **धृतेः**=धृति के; **च**=भी; **एव**=निःसन्देह; **गुणतः**=गुणों के अनुसार; **त्रिविधम्**=तीन प्रकार के; **शृणु**=सुन; **प्रोच्यमानम्**=मेरे द्वारा कहे; **अशेषेण**=पूर्ण रूप से; **पृथक्त्वेन**=विभागसहित; **धनञ्जय**=हे अर्जुन।

अनुवाद

अव हे अर्जुन! तीनों गुणों के अनुसार बुद्धि और धृति के भेदों को भी पूर्ण रूप से विभागसहित सुन।।२९।।

तात्पर्य

प्रकृति के गुणों के अनुसार ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के तीन-तीन भेदों का विवेचन करके भगवान् श्रीकृष्ण अव उसी प्रकार बुद्धि और धृति (धारणा-शक्ति) के भेदों का निरूपण करते हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
वन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

प्रवृत्तिम्=धर्म में प्रवृत्ति को; **च**=तथा; **निवृत्तिम**=अधर्म से निवृत्ति को; **च**=भी; **कार्य-अकार्य**=कार्य (निष्काम कर्म) तथा अकार्य (सकाम कर्म) को; **भय-अभये**=शास्त्रविधि से होने वाले अभय को और अशास्त्रीय प्रवृत्ति से होने वाले

भय को; बन्धम्=बन्धन को; मोक्षम्=मोक्ष को; च=भी; या=जो; वेत्ति=जानती है; बुद्धिः=बुद्धि; सा=वह; पार्थ=हे अर्जुन; सात्त्विकी=सात्त्विकी है।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय, तथा बन्धन और मोक्ष को जानती है, वह सात्त्विकी है।।३०।।

तात्पर्य

शास्त्रविधि के अनुसार किए जाने वाले कर्म प्रवृत्ति, अर्थात् कर्तव्य के अन्तर्गत आते हैं। इसके विपरीत, अशास्त्रीय कर्मों से निवृत्त रहना चाहिए। जो शास्त्र-निर्देश को नहीं जानता, वही कर्मफल से बँधता है। इस प्रकार की विवेकवती बुद्धि सात्त्विकी है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

यया=जिसके द्वारा; धर्मम्=धर्म को; अधर्मम्=अधर्म को; च=तथा; कार्यम्=कर्तव्य को; च=तथा; अकार्यम्=न करने योग्य कर्म को; एव=निःसन्देह; च=तथा; अयथावत्=भलीभाँति नहीं; प्रजानाति=जानता; बुद्धिः=बुद्धि; सा=वह; पार्थ=हे अर्जुन; राजसी=राजसी है।

अनुवाद

जो बुद्धि धर्म-अधर्म में और कर्तव्य-अकर्तव्य में भलीभाँति भेद नहीं कर सकती, वह राजसी है।।३१।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी।।३२।।

अधर्मम्=अधर्म को; धर्मम्=धर्म; इति=ऐसा; या=जो; मन्यते=मानती है; तमसावृता=मोह से ढकी हुई; सर्वार्थान्=सब अर्थों में; विपरीतान्=विपरीत; च=तथा; बुद्धिः=बुद्धि; सा=वह; पार्थ=हे अर्जुन; तामसी=तामस है।

अनुवाद

जो अंधकार और अज्ञान के वशीभूत हुई बुद्धि अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म समझती है और सदा विपरीत पथ में लगी रहती है, वहं तामसी है।।३२।।

तात्पर्य

तामसी बुद्धि सदा विकृत रूप से कार्य करती है। वह अधर्म को धर्म समझती है और यथार्थ धर्म को अधर्म मानकर त्याग देती है। ऐसे मनुष्य की सम्पूर्ण विचारधारा और क्रियाएँ भ्रान्त हो जाती हैं। तामसी बुद्धि वाले साधारण मनुष्य को महात्मा और यथार्थ महात्मा को साधारण मनुष्य समझते हैं। इतना ही नहीं, सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मानते हैं। सब क्रियाओं में वे विपथ ही ग्रहण करते हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि उनकी बुद्धि तामसी है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

धृत्या=धृति द्वारा; **यया**=जिस; **धारयते**=धारण करता है; **मनःप्राण-इन्द्रियक्रियाः**=मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को; **योगेन**=योग के अभ्यास द्वारा; **अव्यभिचारिण्या**=निरन्तर अनन्य भाव से; **धृतिः**=धृति; **सा**=वह; **पार्थ**=हे अर्जुन; **सात्त्विकी**=सात्त्विकी है।

अनुवाद

हे अर्जुन! योग के अभ्यास द्वारा जिस अचल और अनन्य धृति को धारण करके मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रिय-क्रियाओं को वश में करता है, वह सात्त्विकी है।।३३।।

तात्पर्य

योग परमात्मा को जानने का एक साधन है। जो पुरुष चित्त, प्राण और इन्द्रिय-क्रियाओं को परमात्मा में एकाग्र करके अनन्य और अचल भाव सहित उनसे युक्त रहता है, वह कृष्णभावना में तत्पर है। ऐसी धृति (धारण-शक्ति) सात्त्विकी कहलाती है। **अव्यभिचारिण्या** शब्द का गूढ़ार्थ है। यह उन पुरुषों का वाचक है, जो कृष्णभावना में अनन्यभाव से तत्पर हैं, किस अन्य कर्म से कभी चलायमान नहीं होते।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

यया=जिस; **तु**=परन्तु; **धर्मकामार्थान्**=धर्म, अर्थ और काम को; **धृत्या**=धृति द्वारा; **धारयते**=धारण करता है; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **प्रसंगेन**=आसक्ति से; **फलाकांक्षी**=फल का अभिलाषी; **धृतिः**=धृति; **सा**=वह; **पार्थ**=हे अर्जुन; **राजसी**=राजसी है।

अनुवाद

जिस के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और कामरूप फलों में आसक्त रहता है, वह धृति राजसी है।।३४।।

तात्पर्य

जो मनुष्य सदा धर्म, अर्थ और कामरूप फल की इच्छा को धारण किए रहता है, केवल इन्द्रियतृप्ति की अभिलाषी है, तथा जिसके मन, प्राण और इन्द्रियाँ इसी में लगे हुए हैं, वह राजसी धृति से युक्त है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

यया=जिस धृति के द्वारा; **स्वप्नम्**=स्वप्न; **भयम्**=भय; **शोकम्**=शोक; **विषादम्**=विषाद; **मदम्**=मोह को; **एव च**=भी; **न**=नहीं; **विमुञ्चति**=छोड़ता;

दुर्मेधाः=दुर्बुद्धि मनुष्य; **धृतिः**=धृति; **सा**=वह; **पार्थ**=हे अर्जुन; **तामसी**=तामसी है।

अनुवाद

जिसके द्वारा दुर्बुद्धि मनुष्य स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मोह को ही सदा धारण किए रहता है, वह धृति तामसी है।।३५।।

तात्पर्य

यह नहीं समझना चाहिए कि सात्त्विक पुरुष को कभी स्वप्न नहीं होता। यहाँ स्वप्न का अर्थ अतिशयन है। सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों में स्वप्न होता है; यह बिल्कुल स्वाभाविक है। परन्तु जो अतिनिद्रा और प्राकृतविषयों को भोगने का गर्व किए विना नहीं रह सकते, वे सदा प्राकृत्-जगत् प्रभुत्व करने के ही स्वप्न देखा करते हैं। जिनके मन, प्राणा और इन्द्रियाँ इसी के परायण हैं, वे निश्चित रूप से तामसी हैं।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

सुखम्=सुख; **तु**=भी; **इदानीम्**=अब; **त्रिविधम्**=तीन प्रकार का; **शृणु**=सुन; **मे**=मुझ से; **भरतर्षभ**=हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन; **अभ्यासात्**=अभ्यास से; **रमते**=रमण करता है; **यत्र**=जिसमें; **दुःखान्तम्**=दुःखों के अन्त को; **च**=तथा; **निगच्छति**=प्राप्त होता है; **यत्**=जो; **तत्**=वह; **अग्रे**=पहले; **विषम् इव**=विष जैसा; **परिणामे**=अन्त में; **अमृत उपमम्**=अमृत के समान है; **तत्**=वह; **सुखम्**=सुख; **सात्त्विकम्**=सात्त्विक; **प्रोक्तम्**=कहा गया है; **आत्मबुद्धिप्रसादजम्**=आध्यात्मिक बुद्धि के प्रसाद से होने वाला।

अनुवाद

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! अब सुख भी मुझ से तीन प्रकार का सुन। इस सम्बंन्ध में, जो पहले विष जैसा लगता है, परन्तु परिणाम अमृत के समान है; जिसमें रमण करता हुआ जीव संसारदुःख के अन्त को प्राप्त होता है, वह स्वरूप-साक्षात्कार की जागृति करने वाला सुख सात्त्विक है।।३६-३७।।

तात्पर्य

बद्धजीव प्राकृतसुख को भोगने के लिए बारम्बार चेष्टा करता है, अर्थात् चर्बित को फिर-फिर चबाता है। परन्तु इस प्रकार भोग करता हुआ भी वह कभी किसी महात्मा के सत्संग से प्राकृत-बन्धन से मुक्त हो सकता है। भाव यह है कि बद्धजीव किसी न किसी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति में निरन्तर संलग्न रहता है। परन्तु सत्संग के द्वारा जब उसकी समझ में आता है कि विषय सुख तो वास्तव चर्बित को फिर-फिर चबाने के समान तुच्छ है, और जब इस ज्ञान से उसकी यथार्थ स्वरूपभूत कृष्णभावना जागृत हो जाती है, तभी वह चबाये को बार-बार चबाने से मिलने वाले सुख से छूट पाता है।

स्वरूप-साक्षात्कार के साधन में मन और इन्द्रियों को वश में करके आत्मतत्त्व

पर केन्द्रित करने के लिए अनेक विधि-विधानों का पालन आवश्यक है। ये सब विधान पहले-पहल अति दुःखावह और विष जैसे कटु लगते हैं। परन्तु यदि कोई इनका अनुसरण करते हुए शुद्ध सत्त्व में स्थित होने में सफल हो जाय, तो वह सच्चे पीयूष का आस्वादन करता हुआ जीवन का आनन्द उठा सकता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।३८।।

विषयेन्द्रियसंयोगात्=विषयों और इन्द्रियों के संयोग से; **यत्**=जो; **तत्**=वह; **अग्रे**=आगे; **अमृत उपमम्**=अमृत जैसा; **परिणामे**=अन्त में; **विषम् इव**=विष तुल्य; **तत्**=वह; **सुखम्**=सुख; **राजसम्**=राजस; **स्मृतम्**=कहा गया है।

अनुवाद

जो इन्द्रियों और विषयों के संयोग से होने वाला सुख पहले अमृत जैसा लगता है, परन्तु परिणाम में विष-तुल्य है, वह राजस कहा गया है।।३८।।

तात्पर्य

एक युवक और एक युवती मिलते है और इन्द्रिय-वेगों के कारण परस्पर दर्शन, स्पर्श और मैथुन में प्रवृत्त हो जाते हैं। यह सब पहले-पहले इन्द्रियों को अतिशय सुखदायक भास सकता है; परन्तु अन्त में अथवा कुछ समय बाद ठीक विष जैसा हो जाता है। किसी कारणवश दोनों बिछुड़ जाते हैं; जिससे शोक, दुःख आदि की प्राप्ति होती है। इन्द्रियों और विषयों के संयोग से होने वाला ऐसा सुख राजस कहा गया है, क्योंकि यह सदा दुःख का ही कारण बनता है। अतएव सब प्रकार इससे बचना ही अच्छा है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।३९।।

यत्=जो; **अग्रे**=अनुभव-काल में; **च**=तथा; **अनुबन्धे**=फल-प्राप्ति के समय; **च**=भी; **सुखम्**=सुख; **मोहनम्**=मोहित करता है; **आत्मनः**=आत्मा को; **निद्रा**=निद्रा; **आलस्य**=आलस्य; **प्रमाद**=प्रमाद से; **उत्थम्**=उत्पन्न; **तत्**=वह; **तामसम्**=तामस; **उदाहृतम्**=कहा गया है।

अनुवाद

जो स्वरूप-साक्षात्कार की ओर अंधा है और आदि से अन्त तक बन्धनकारी है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है।।३९।।

तात्पर्य

जो निद्रा और स्वप्न में सुख का अनुभव करता है और जो इस विवेक से रहित है कि क्या करना कर्तव्य है और क्या करना योग्य नहीं, ये दोनों ही निश्चित रूप से तमोगुण में हैं। ऐसे मनुष्य के लिए सब कुछ भ्रममय है; उसके लिए आदि-अन्त में कभी सुख नहीं है। राजस मनुष्य को तो पहले कुछ क्षणिक सुख हो भी सकता है, जो

अन्त में दुःखरूप हो जाता है; परन्तु तामस मनुष्य के लिए तो आदि-अन्त में सदा-सर्वदा दुःख ही दुःख है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

न=नहीं; **तत्**=वह; **अस्ति**=है; **पृथिव्याम्**=पृथ्वी में; **वा**=अथवा; **दिवि**=स्वर्गलोकों में; **देवेषु**=देवताओं में; **वा**=भी; **पुनः**=फिर; **सत्त्वम्**=प्राणी, **प्रकृतिजैः**=प्रकृति से उत्पन्न; **मुक्तम्**=रहित; **यत्**=जो; **एभिः**=इन; **स्यात्**=हो; **त्रिभिः**=तीनों; **गुणैः**=गुणों से।

अनुवाद

पृथ्वी में अथवा स्वर्गीय देवताओं तक में ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो।।४०।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् यहाँ संक्षेप से कहते हैं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में माया के त्रिगुणों का प्रभाव व्याप्त है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

ब्राह्मण=ब्राह्मण; **क्षत्रिय**=क्षत्रिय; **विशाम्**=वैश्यों के; **शूद्राणाम् च**=शूद्रों के भी; **परंतप**=हे शत्रुविजयी अर्जुन; **कर्माणि**=कर्म; **प्रविभक्तानि**=पृथक्-पृथक् कहे गए हैं; **स्वभावप्रभवैः**=स्वभाव से उत्पन्न; **गुणैः**=गुणों के द्वारा।

अनुवाद

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वाभाविक गुणों के अनुसार विभक्त किये गये हैं।।४१।।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

शमः=मन का शान्तभाव; **दमः**=आत्मसंयम; **तपः**=तपस्या; **शौचम्**=पवित्रता; **क्षान्तिः**=सहिष्णुता; **आर्जवम्**=सरलता और सत्यनिष्ठा; **एव**=निःसन्देह; **च**=तथा; **ज्ञानम्**=ज्ञान; **विज्ञानम्**=विज्ञान; **आस्तिक्यम्**=भक्ति-विश्वास; **ब्रह्मकर्म**=ब्राह्मण के कर्म हैं; **स्वभावजम्**=स्वाभाविक।

अनुवाद

शान्ति, आत्मसंयम, तप, पवित्रता; सहिष्णुता, सत्यनिष्ठा, ज्ञान, विज्ञान और भक्ति-विश्वास—ये गुण ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।।४२।।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

शौर्यम्=पराक्रम; **तेजः**=शक्ति; **धृतिः**=धैर्य (दृढ़ता); **दाक्ष्यम्**=युक्तिपूर्णता (सूझ-बूझ); **युद्धे**=युद्ध में; **च**=तथा; **अपि**=भी; **अपलायनम्**=विमुख न होना; **दानम्**=दान; **ईश्वरभावः**=प्रजा-पालन; **च**=तथा; **क्षात्रम्**=क्षत्रिय के; **कर्म**=कर्म हैं; **स्वभावजम्**=स्वाभाविक।

अनुवाद

पराक्रम, तेज, धैर्य (दृढ़ता), सूझ-बूझ, युद्ध में भी पलायन न करने का स्वभाव, दान, प्रजा-पालन और नेतृत्व—ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।।४३।।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

कृषि=खेती; **गोरक्ष्य**=गोरक्षा; **वाणिज्यम्**=व्यापार; **वैश्यकर्म**=वैश्य के कर्म हैं; **स्वभावजम्**=स्वाभाविक; **परिचर्यात्मकम्**=अन्य वर्गों की सेवा करना; **कर्म**=कर्म है; **शूद्रस्य**=शूद्र का; **अपि**=भी; **स्वभावजम्**=स्वाभाविक।

अनुवाद

कृषि, गोरक्षा और व्यापार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा दूसरों की सेवा करना शूद्रों का भी सहज कर्म है।।४४।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

स्वे स्वे=अपने-अपने; **कर्मणि**=कर्म में; **अभिरतः**=संलग्न; **संसिद्धिम्**=संसिद्धि को; **लभते**=पाता है; **नरः**=मनुष्य; **स्वकर्म**=अपने कर्म में; **निरतः**=संलग्न; **सिद्धिम्**=संसिद्धि को; **यथा**=जिस विधि से; **विन्दति**=प्राप्त होता है; **तत्**=वह; **शृणु**=सुन।

अनुवाद

अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अब इसके तत्त्व को मुझ से सुन।।४५।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

यतः=जिस परमेश्वर से; **प्रवृत्तिः**=जन्मादि होता है; **भूतानाम्**=जीवों का; **येन**=जिससे; **सर्वम् इदम्**=यह सब जगत्; **ततम्**=व्याप्त है; **स्वकर्मणा**=अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा; **तम्**=उस परमेश्वर को; **अभ्यर्च्य**=पूजकर; **सिद्धिम्**=संसिद्धि को; **विन्दति**=प्राप्त होता है; **मानवः**=मनुष्य।

अनुवाद

जिस परमेश्वर से सब प्राणियों का जन्म हुआ है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत्

व्याप्त है, अपने स्वाभाविक कर्म से उसे पूजकर मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त होता है।।४६।।

तात्पर्य

जैसा पन्द्रहवें अध्याय में कहा है, सारे जीव श्रीभगवान् के भिन्न-अंश हैं। इस दृष्टि से भगवान् ही सब जीवों के आदि हैं। इसकी पुष्टी में वेदान्तसूत्र कहते हैं, **जन्माद्यस्य यतः** श्रीभगवान् सम्पूर्ण प्राणी-जीवन के उद्‌गम हैं। इतना ही नहीं, अपनी अंतरंगा और बहिरंगा शक्तियों के द्वारा वे सर्वव्यापक भी हैं। इसलिए शक्तियों के सहित उनकी आराधना करनी चाहिए। वैष्णवजन सामान्यतः अंतरंगा शक्ति के साथ परमेश्वर श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं। उनकी बहिरंगा शक्ति अंतरंगा शक्ति की ही विकृत छाया है। यह बहिरंगा शक्ति पृष्टभूमि है और श्रीभगवान् स्वयं अपने अंश परमात्मा के रूप में सर्वव्यापक हैं। वे सारे देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, आदि के अन्तर्यामी हैं। अतः प्राणीमात्र को समझना चाहिए कि परमेश्वर के भिन्न-अंश के रूप उनकी आराधना करना उसका कर्तव्य है। इस भाव के साथ सभी पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित होकर भगवद्‌भक्तियोग के परायण हों, यह इस श्लोक का निर्देश है।

प्राणीमात्र को समझना चाहिए कि वह अपने कर्तव्य-कर्म में इन्द्रियों के स्वामी भगवान् हृषीकेश द्वारा नियुक्त किया गया है; इसलिए उसका धर्म है कि अपने द्वारा संपादित कर्म के फल से उनकी अर्चना करे। जो पूर्ण कृष्णभावना में नित्य-निरन्तर यही विन्तन करता है, वह भगवत्कृपा से पूर्ण तत्त्वज्ञ हो जाता है। इसी में जीवन की सफलता है। श्रीभगवान् ने गीता में वचन दिया है, **तेषामहं समुद्धर्ता**। ऐसे भक्त के उद्धार का दायित्व स्वयं श्रीभगवान् के हाथों में चला जाता है। बस यही जीवन की परम कृतार्थता है। मनुष्य किसी भी व्यवसाय में क्यों न हो, यदि अपने कर्मों के फल से श्रीभगवान् की सेवा करता है, तो अवश्य परम संसिद्धि को प्राप्त हो जायगा।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

श्रेयान्=श्रेष्ठ है; **स्वधर्मः**=अपना कर्तव्य-कर्म; **विगुणः**=भलीभाँति न किया गया भी; **परधर्मात्**=दूसरे के कर्तव्य से; **स्वनुष्ठितात्**=अच्छी प्रकार से किया; **स्वभाव-नियतम्**=स्वभाव के अनुसार विहित; **कर्म**=कर्म; **कुर्वन्**=करने से; **न आप्नोति**=प्राप्त नहीं होता; **किल्बिषम्**=पाप को।

अनुवाद

दूसरे के कर्तव्य-कर्म को भलीभाँति करने से अच्छी प्रकार न किया गया भी अपने कर्तव्य कर्म का आचरण श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत कर्म को करने से पाप को प्राप्त नहीं होता।।४७।।

तात्पर्य

भगवद्‌गीता में सभी मनुष्यों के कर्तव्य-कर्मों का विधान है। जैसा पूर्व

श्लोकों में कहा है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों का विधान उनकी प्रकृति के गुणों के अनुसार है। अतः कोई भी किसी दूसरे के कर्तव्य का अनुकरण न करे। जो मनुष्य स्वभाव से शुद्रों के कर्म में रुचि रखता है, उसे केवल इस आधार पर ब्राह्मण होने का दम्भ नहीं करना चाहिए कि वह ब्राह्मणवंश में जन्मा है। सवको अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म करना चाहिए। कोई भी कर्म, जो भगवत्सेवा के लिये किया जाता है, बुरा नहीं है। ब्राह्मण का कर्म सात्त्विक है, इसलिए जो मनुष्य सत्त्वगुणी नहीं है, वह ब्राह्मण के स्वधर्म का अंध-अनुकरण न करे। क्षत्रिय को युद्ध-हिंसा और कूटनीति में असत्य-भाषण जैसे कितने ही गर्हित कर्म करने पड़ते हैं। राजकीय विपयों में ये दोष अवश्य रहते हैं; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि क्षत्रिय अपने कर्तव्य को त्याग कर ब्राह्मण का अनुकरण करने की चेष्टा करे।

वास्तव में, सब को श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करना चाहिए। इस संदर्भ में अर्जुन का उदाहरण हमारे सामने है। क्षत्रिय होते हुए भी वह विपक्ष से लड़ने में संकोच कर रहा था। परन्तु यदि यही युद्ध भगवान् श्रीकृष्ण के लिए किया जाय, तो फिर अधःपतन का कोई भय नहीं। व्यापार-क्षेत्र में कभी-कभी व्यापारी को अर्थ-लाभ के लिए वहुत झूठ बोलना पड़ता है। यदि वह ऐसा न करे तो लाभ से बिल्कुल वंचित रह जायगा। व्यापारी कभी-कभी कहते हैं, 'ग्राहक महोदय! आपसे मैं लाभ नहीं कमाता।' परन्तु यह ध्यान रहे कि लाभ के बिना कोई व्यापारी जीवित नहीं रह सकता। स्पष्टतः यह कहने वाला झूठा है। परन्तु इससे व्यापारी को यह नहीं सोचना चाहिए कि उसके कार्य में झूठ बोलना अनिवार्य है, इसलिए उसे अपने वैश्य-कर्म को त्याग कर ब्राह्मण के कर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। ऐसा करने का निषेध है। यदि कोई अपने कर्मों से श्रीभगवान् की पूजा करता है तो इस बात का महत्त्व नहीं कि वह ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, वैश्य है, अथवा शुद्र है। नाना प्रकार के यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को भी कभी-कमी किसी यज्ञ के लिए पशु-हिंसा करनी पड़ती है। ऐसे ही, यदि कोई क्षत्रिय अपने स्वधर्म के अनुसार शत्रु को मार डाले, तो वह पापग्रस्त नहीं होगा। तीसरे अध्याय में इस तत्त्व का स्पष्ट और विशद विवेचन है। मनुष्यमात्र को यज्ञ, अर्थात् भगवान् विष्णु के लिए कर्म करना चाहिए। जो कुछ अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाता है, उसी से बन्धन होता है। अतएव सिद्ध हुआ कि मनुष्य प्रकृति के उसी गुण के अनुरूप कर्म करे, जिस को वह प्राप्त हुआ है और एकमात्र श्रीभगवान् की सेवा के प्रयोजन से कर्म का संकल्प करना चाहिए।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।

सहजम्=स्वभाव से नियत; **कर्म**=कर्म को; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **सदोषम् अपि**=दोषयुक्त होने पर भी; **न त्यजेत्**=नहीं त्यागे; **सर्वारम्भाः**=सब कर्म; **हि**=निःसन्देह; **दोषेण**=दोष से; **धूमेन**=धूएँ से; **अग्निः इव**=अग्नि के समान; **आवृताः**=ढके हैं।

अनुवाद

हे अर्जुन! धूएँ से अग्नि के समान सभी कर्म दोष से ढके हैं, इसलिए दोषयुक्त होने पर भी स्वाभाविक कर्म को नहीं त्यागना चाहिए।।४८।।

तात्पर्य

बद्धावस्था में सबके सब कर्म त्रिगुणमयी प्रकृति से दूषित हैं। ब्राह्मण को भी कुछ यज्ञों में पशु-हिंसा करनी पड़ती है। ऐसे ही, क्षत्रिय चाहे कितना भी पुण्यात्मा क्यों न हो, परन्तु शत्रु से युद्ध करने को बाध्य है; वह इससे विमुख नहीं हो सकता। इसी प्रकार, पुण्यात्मा व्यापारी को व्यापार में बने रहने के लिए कभी-कभी लाभांश को छिपाना अथवा काला धंधा करना पड़ता है। ये सब परिस्थितिवश अपरिहार्य सा है। शूद्र दुष्ट स्वामी का आज्ञा-पालन करने को विवश है, चाहे वह न करने योग्य ही क्यों न हो। इन दोषों के रहते भी अपने कर्तव्य कर्म को करता रहे, क्योंकि वह स्वाभाविक है।

इस संदर्भ में एक उत्तम उदाहरण दिया गया है। अग्नि स्वयं शुद्ध है, फिर भी उसमें धूआँ होता है; परन्तु इससे अग्नि अशुद्ध नहीं हो जाती। उसे तब भी सब से शुद्ध समझा जाता है। यदि कोई अपने क्षत्रिय-कर्म को त्याग कर ब्राह्मण-कर्म करना चाहे, तो ऐसी कोई गारण्टी नहीं है कि ब्राह्मण के कार्य में कुछ भी अरुचिकर कर्तव्य नहीं होगा। विचार करने पर यह निर्णय निकल सकता है कि प्राकृत-जगत् में कोई भी मनुष्य अपरा प्रकृति (माया) के दोषों से पूर्णरूप में मुक्त नहीं हो सकता। इस दृष्टि से अग्नि और धूम्र का दृष्टान्त बड़ा उपयुक्त है। अग्नि का प्रयोग करते समय निकले धूएँ से शरीर के नेत्र आदि अंगों को कष्ट होता है; फिर भी अग्नि का उपयोग अपरिहार्य है। ऐसे ही, अपने स्वाभाविक कर्म को केवल इसलिए नहीं त्यागना चाहिए कि उनमें कुछ क्लेश है। अपितु, कृष्णभावनाभावित होकर कर्तव्य-कर्म के द्वारा भगवत्सेवा करने के लिए नित्य कृतसंकल्प रहना चाहिए। यही संसिद्धि की अवस्था है। जब कोई कर्तव्य-कर्म भगवत्प्रीति के लिए किया जाता है, तो उसके सम्पूर्ण दोषों की अपने-आप शुद्धि हो जाती है। इस प्रकार भक्तियोग के सम्बन्ध से जब कर्मफल शुद्ध हो जाता है, तो कर्ता अन्तरात्मा के दर्शन में सिद्ध हो जाता है। इसी का नाम स्वरूप-साक्षात्कार है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

असक्तबुद्धिः=आसक्तिरहित बुद्धि वाला; **सर्वत्र**=आत्मा के अतिरिक्त सब वस्तुओं में; **जितात्मा**=जीते हुए मन वाला; **विगतस्पृहः**=प्राकृत इच्छा से रहित; **नैष्कर्म्यसिद्धिम्**=नैष्कर्म सिद्धि को; **परमाम्**=परम; **संन्यासेन**=संन्यास द्वारा; **अधिगच्छति**=प्राप्त होता है।

अनुवाद

संन्यास का फल केवल आत्मसंयम करने, प्राकृत वस्तुओं की आसक्ति को

त्यागने और प्राकृतसुख को ठुकराने से प्राप्त हो जाता है। यही संन्यास की परम संसिद्धि है।।४९।।

तात्पर्य

सच्चा संन्यास अपने को नित्य निरन्तर श्रीभगवान् का भिन्न अंश समझना है। जो इस भाव से युक्त है, उसे स्वाभाविक रूप में अपने कर्मफल को भोगने का कुछ भी अधिकार नहीं हो सकता। वह श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है, इसलिए उसके कर्मफल श्रीभगवान् द्वारा भोग्य हैं। यही वास्तविक कृष्णभावनामृत है और कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला ही सच्चा संन्यासी है। इस भाव से परमसुख मिलता है, क्योंकि वह वास्तव में श्रीभगवान् के लिए कार्य कर रहा है। ऐसा पुरुष किसी प्राकृत वस्तु में आसक्त नहीं रहता; श्रीभगवान् की सेवा से मिलने वाले दिव्य सुख के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में आनन्द न लेना उसका स्वभाव सा बन जाता है। संन्यासी को पूर्वकर्मों के फलरूप बन्धन से मुक्त समझा जाता है; परन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष तो संन्यासी का वेष बनाए बिना ही इस संसिद्धि को प्राप्त है। इस मनोदशा का नाम 'योगारूढ', अर्थात् योग की संसिद्ध अवस्था है, जैसा तीसरे अध्याय का प्रमाण है। **यस्तु आत्मरतिरेव स्यात्**। जो पुरुष आत्मा में ही रमण करता है, उसे अपने कर्म से किसी फल का भय नहीं हो सकता।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

सिद्धिम्=सिद्धि को; **प्राप्तः**=प्राप्त हुआ; **यथा**=जिस प्रकार; **ब्रह्म**=ब्रह्म को; **तथा**=वैसे; **आप्नोति**=प्राप्त होता है; **निबोध**=जान; **मे**=मुझ से; **समासेन**=संक्षेप में; **एव**=ही; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **निष्ठा**=अवस्था है; **ज्ञानस्य**=ज्ञान की; **या**=जो; **परा**=दिव्य।

अनुवाद

हे अर्जुन! सिद्धि को प्राप्त पुरुष जैसे ब्रह्म की प्राप्तिरूप परम सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है, उसका प्रकार संक्षेप में मुझ से सुन।।५०।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् अर्जुन से उस विधि का वर्णन करते हैं, जिसके द्वारा भगवान् के लिए कर्तव्य-कर्म का आचरण करने से परमसिद्ध अवस्था हो सकती है। श्रीभगवान् की प्रीति के लिए कर्मफल का त्याग करने मात्र से ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त हो जाती है। यही स्वरूप-साक्षात्कार की पद्धति है।' ज्ञान की उच्ची पूर्णता शुद्ध कृष्णभावना की प्राप्ति ही है, जैसा आगे श्लोकों में कहा है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

बुद्ध्या=बुद्धि से; **विशुद्धया**=पूर्ण शुद्ध; **युक्तः**=युक्त; **धृत्या**=सात्त्विक धारण-शक्ति से; **आत्मानम्**=मन को; **नियम्य**=वश में करके; **च**=तथा; **शब्दादीन्**=शब्द आदि; **विषयान्**=विषयों को; **त्यक्त्वा**=त्याग कर; **रागद्वेषौ**=राग द्वेष को; **व्युदस्य**=दूर करके; **च**=तथा; **विविक्तसेवी**=एकान्त में निवास करते हुए; **लघ्वाशी**=अल्प आहार करने वाला; **यतवाक्कायमानसः**=मन, वाणी और देह को जीत कर भगवत्परायण करने वाला; **ध्यानयोगपरः**=हरिचिन्तनरूप समाधि में तत्पर; **नित्यम्**=दिन में चौबीस घण्टे; **वैराग्यम्**=वैराग्य के; **समुपाश्रितः**=आश्रित हुआ; **अहंकारम्**=मिथ्या अहंकार; **बलम्**=मिथ्या बल; **दर्पम्**=अभिमान; **कामम्**=काम; **क्रोधम्**=क्रोध; **परिग्रहम्**=प्राकृत पदार्थों के संग्रह को; **विमुच्य**=त्याग कर; **निर्ममः**=ममतारहित; **शान्तः**=शान्त पुरुष; **ब्रह्मभूयाय**=स्वरूप-साक्षात्कार के; **कल्पते**=योग्य हो जाता है।

अनुवाद

जो विशुद्ध बुद्धि से सात्त्विक धारणा के द्वारा मन को वश में करके, इन्द्रियतृप्ति के विषयों को त्याग कर, राग-द्वेष से मुक्त हुआ एकान्तवास में अल्प-आहार करता हुआ देह, मन और वाणी का संयम करके सदा भगवच्चिन्तनरूप समाधि में निमग्न रहता है तथा मिथ्या अंहकार, मिथ्या वल, मिथ्या अभिमान, काम, क्रोध और प्राकृत वस्तुओं के संग्रह को त्याग कर निर्मम और शान्त हो जाता है, वह पुरुष निःसन्देह स्वरूप-साक्षात्कार की अवस्था को प्राप्त होता है।।५१-५३।।

तात्पर्य

ज्ञान से शुद्ध हुआ पुरुष अपने को निरन्तर सत्त्वगुण के स्तर पर रखता है। इस प्रकार वह मन को वश में कर लेता है और सदा समाधि में लीन रहता है। इन्द्रियतृप्ति के विषयों में उसकी आसक्ति नहीं रहती; इसलिए वह आवश्यकता से अधिक नहीं खाता तथा देह, मन और वाणी की क्रियाओं को वश में रखता है। वह अपने को देह नहीं समझता, इसलिए मिथ्या अहंकार से रहित है। साथ ही, अनेक प्राकृत वस्तुओं के परिग्रह से देह को हृष्ट-पुष्ट बनाने की इच्छा का भी उसमें अभाव है। वह देहात्मबुद्धि से छूट चुका है, इसलिए मिथ्या गर्व नहीं करता। भगवत्कृपा से जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तोष करता है, इन्द्रियतृप्ति के लिए कभी क्रोध नहीं करता। इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति के लिए वह कुछ चेष्टा भी नहीं करता। इस प्रकार मिथ्या अहंकार से पूर्ण रूप में मुक्त होकर सम्पूर्ण प्राकृत वस्तुओं में अनासक्त हो जाता है। यही ब्रह्मभूत नामक स्वरूप-साक्षात्कार की अवस्था है। देहात्मबुद्धि से मुक्त पुरुष सदा शान्त रहता है; उसे किसी भी प्रकार उत्तेजित नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

ब्रह्मभूतः=ब्रह्मभूत पुरुष; **प्रसन्नात्मा**=पूर्ण प्रसन्नता को प्राप्त; **न**=न तो; **शोचति**=शोक करता (और); **न**=नहीं; **कांक्षति**=इच्छा करता; **समः**=समभाव से स्थित; **सर्वेषु भूतेषु**=सब प्राणियों में; **मत्**=मेरी; **भक्तिम्**=भक्ति को; **लभते**=प्राप्त होता है; **पराम्**=परम दिव्य।

अनुवाद

ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है। वह न शोक करता है और न इच्छा ही करता है; सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरी शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है।।५४।।

तात्पर्य

निर्विशेषवादियों के लिए ब्रह्मभूत अवस्था की प्राप्ति, अर्थात् ब्रह्म से एक हो जाना ही सब कुछ है। परन्तु सविशेषवादी शुद्धभक्त बनने के लिए इससे और आगे बढ़ना होगा; तभी शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है। भाव यह है कि जो शुद्ध भगवद्भक्तियोग से युक्त है, वह पुरुष पहले ही ब्रह्मभूत नामक मुक्तावस्था में स्थित है। ब्रह्मभूत हुए बिना भगवत्सेवा नहीं की जा सकती। ब्रह्म-धारणा में सेवक और सेव्य में भेद नहीं होता। परन्तु इससे ऊपर दिव्य स्तर पर भेद रहता है।

देहात्मबुद्धि के आधीन किया गया कर्म दुःख का कारण है। परन्तु अद्वय जगत् में, जहाँ जीव शुद्ध भक्तियोग के परायण रहता है, उसे कभी कोई दुःख नहीं होता। कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए शोक करने अथवा इच्छा करने का कोई कारण नहीं बन सकता। श्रीभगवान् आप्तकाम हैं, इसलिए उनकी सेवा में लगा कृष्णभावनाभावित जीव भी आप्तकाम हो गया है। वह ठीक उस कल्लोलिनी (नदी) जैसा है, जिसका सारा जल-प्रवाह परिष्कृत हो गया हो। नित्य-निरन्तर श्रीकृष्ण के अनन्य चिन्तन में लीन रहने से शुद्धभक्त स्वभावतः निरन्तर प्रसन्न अवस्था में स्थिर रहता है। उसका रोम-रोम भगवत्सेवा से पूर्ण रहता है, इसलिए किसी भी प्राकृत लाभ-हानि में वह दुःख-सुख नहीं मानता। उसमें प्राकृत विषयसुख की लेशमात्र इच्छा शेष नहीं रहती, क्योंकि वह जानता है कि श्रीभगवान् का भिन्नांश होने के नाते जीवमात्र उनका नित्यदास है। उसे प्राकृत-जगत् में कोई ऊँचा-नीचा नहीं दिखता। ये सब उच्च-निम्न स्थितियाँ वस्तुतः नश्वर हैं और भक्त का नश्वर वस्तुओं के आने-जाने के कोई सम्बन्ध नहीं। उसके लिए पत्थर और स्वर्ण का समान मूल्य है। इसी का नाम ब्रह्मभूत अवस्था है, जो शुद्धभक्त को अतिशय सुगमता से प्राप्त हो जाती है। जीवन की उस अवस्था में परब्रह्म से एक होकर अपने जीव-स्वरूप को नष्ट करने का विचार नारकीय हो जाता है, स्वर्ग-प्राप्ति भयावह लगती है और इन्द्रियाँ खण्डित दाँत वाले सर्पों के समान निर्बल हो जाती हैं। जैसे खण्डित-दाँत वाले सर्प से कोई भय नहीं, वैसे ही इन्द्रियों के अपने-आप वश में हो जाने पर उनसे भय नहीं रहता। विषयी के लिए यह जगत् दुःखमय है; परन्तु भक्त के लिए तो सारा जगत् बिल्कुल वैकुण्ठ जैसा है। भक्त के लिए इस ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च प्राणी तक चींटी से अधिक महत्त्व नहीं रखता। इस युग

में शुद्ध भक्तियोग का दान करने के लिए अवतीर्ण हुए श्री श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु की कृपा-किरण से यह अवस्था प्राप्त हो सकती है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

भक्त्या=शुद्धभक्तियोग के द्वारा; **माम्**=मुझे; **अभिजानाति**=जान जाता है; **यावान्**=जिस स्वरूप तथा विभूति (प्रभाव) वाला; **यः च अस्मि**=और जो हूँ; **तत्त्वतः**=तत्त्व से; **ततः**=मेरी भक्ति से; **माम्**=मुझे; **तत्त्वतः**=तत्त्व से; **ज्ञात्वा**=जानकर; **विशते**=प्रवेश करता है; **तदनन्तरम्**=अविलम्ब।

अनुवाद

भक्तियोग के द्वारा ही मुझ पुरुषोत्तम का स्वरूप तत्त्व से जाना जा सकता है। इस प्रकार भक्तियोग द्वारा मुझे पूर्णरूप से जानने वाला तुरन्त वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश कर जाता है।।५५।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् और उनके अंशों को मनोधर्मी अथवा अभक्त नहीं जान सकते। यदि कोई श्रीभगवान् के तत्त्व को जानने का अभिलाषी हो, तो उसे शुद्धभक्त के आश्रय में शुद्ध भक्तियोग के परायण होना होगा। अन्यथा भगवत्-तत्त्व सदा अगोचर ही रहेगा। पूर्व में कहा जा चुका है—**नाहं प्रकाशः** अर्थात् श्रीभगवान् सब के आगे प्रकट नहीं होते। केवल प्रकाण्ड पाण्डित्य अथवा मनोधर्मी के द्वारा उन्हें कोई नहीं जान सकता। जो यथार्थ में कृष्णभावना और भक्तियोग के परायण है, वही श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान सकता है। इस विषय में विश्वविद्यालय की उपाधियाँ निरर्थक हैं।

श्रीकृष्णतत्त्व का पूर्ण मर्मज्ञ श्रीकृष्ण के दिव्य धाम में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है। ब्रह्मभूत होने का अर्थ यह नहीं कि जीव का अपना स्वरूप नष्ट यो जाता है। यहाँ ब्रह्मभूत पुरुष को भक्तियोग के परायण बतलाया है; अतः इस अवस्था में भी भगवान्, भक्त और भक्ति का अपना-अपना अस्तित्व रहता है। यह ज्ञान मुक्ति के बाद भी कभी निरस्त नहीं होता। मुक्ति का अर्थ देहात्मबुद्धि से मुक्त होना है। मुक्तावस्था में भी वही भेद रहता है, जीव का वही अपना स्वरूप रहता है। अन्तर केवल इतना है कि मुक्त जीव पूर्णरूप से शुद्ध कृष्णभावना से भावित हो जाता है। भ्रम से यह नहीं समझना चाहिए कि **विशते** (मुझ में प्रवेश करता है) शब्द अद्वैतवादियों के उस मत का समर्थक है, जिसके अनुसार मुक्त जीव का निर्विशेष ब्रह्म से अभेद हो जाता है। वास्तव में ऐसा नहीं है। **विशते** का अर्थ श्रीभगवान् का संग और सेवन करने के लिए जीव का अपने स्वरूप से भगवद्धाम में प्रवेश करना है। उदाहरणार्थ, एक हरा पक्षी एक हरे वृक्ष में फल खाने के लिए ही प्रवेश करता है, वृक्ष से एक हो जाने के लिए नहीं। निर्विशेषवादी प्रायः बहती नदी के सागर में लीन हो जाने का उदाहरण देते हैं। निर्विशेषवादी के लिए यह आनन्द का विषय हो सकता

है, परन्तु सविशेषवादी भक्त तो सागर में विचरने वाले जलचर के समान अपना निजी स्वरूप बनाए रखते हैं। सागर के अन्तराल में कितने ही जलचर हैं। इसलिए केवल सागर के ऊपरी भाग से परिचित होना पर्याप्त नहीं; उसके अन्तर में रहने वाले जलचरों का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

शुद्ध भक्तियोग के प्रभाव से भक्त श्रीभगवान् के दिव्य गुणों और विभूतियों के तत्त्व को जान सकता है। जैसा ग्यारहवें अध्याय में कहा है, केवल भक्तियोग से श्रीभगवान् को जाना जा सकता है; उसी सत्य की यहाँ पुष्टि है। भक्तियोग के द्वारा श्रीभगवान् को जानकर उनके धाम में प्रवेश किया जा सकता है।

देहात्मबुद्धि से मुक्त ब्रह्मभूत अवस्था की प्राप्ति हो जाने पर, श्रवण आदि साधनों के रूप में भगवद्भक्तियोग का प्रारम्भ होता है। भगवत्कथा के श्रवण से ब्रह्मभूत अवस्था अपने-आप विकसित हो उठती है तथा लोभ और इन्द्रियतृप्ति की कामनारूपी प्राकृत दोष दूर हो जाते हैं। जैसे-जैसे काम और लोभ से भक्त का हृदय शुद्ध होता है, वैसे-वैसे वह भगवत्सेवा में अधिक-अधिक आसक्त होता जाता है। शनैः शनैः इस आसक्ति के प्रभाव से पूर्णरूप में दोषमुक्त हो जाता है। उस अवस्था में श्रीभगवान् को तत्त्व से जाना जा सकता है। श्रीमद्भागवत से यह प्रमाणित है। मुक्तावस्था में भी भक्तियोग निर्बाध बना रहता है। वेदान्तसूत्र में प्रमाण हैः **आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्**। तात्पर्य यह है कि मुक्ति के बाद भी भक्ति योग चलता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार सच्ची मुक्ति वह भक्तिमयी अवस्था है, जिसमें जीव अपने नित्य स्वरूप को फिर प्राप्त हो जाय। जीवस्वरूप का वर्णन पूर्व में हुआ है—वह श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। अतः सेवा करना उसकी स्वरूप-स्थिति है। मुक्ति हो जाने पर भी यह सेवा कभी नहीं रुकती। यथार्थ मुक्ति तो अविद्या से छूट जाना है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

सर्वकर्माणि=सब कर्मों को; **अपि**=भी; **सदा**=निरन्तर; **कुर्वाणः**=करता हुआ; **मत्**=मेरे; **व्यपाश्रयः**=आश्रित हुआ (निष्कामभक्त), **मत्**=मेरी; **प्रसादात्**=कृपा से; **अवाप्नोति**=प्राप्त हो जाता है; **शाश्वतम्**=सनातन; **पदम्**=धाम को; **अव्ययम्**=अविनाशी।

अनुवाद

मेरा आश्रित निष्काम भक्त तो सब प्रकार के कर्मों को करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परम धाम को प्राप्त हो जाता है।।५६।।

तात्पर्य

मद्व्यपाश्रयः शब्द का तात्पर्य है कि भक्त को सदा श्रीभगवान् का वात्सल्यमय संरक्षण प्राप्त रहता है। शुद्धभक्त प्राकृत दोषों से मुक्ति के लिए भगवान् अथवा उनके प्रतिनिधि, गुरुदेव के निर्देश के अनुसार कर्म करता है। उसकी भगवत्सेवा में देश-काल

की बाधा नहीं पड़ती; वह नित्य-निरन्तर दिन में चौबीस घण्टे शत प्रतिशत श्रीभगवान् द्वारा बताए कर्म के परायण रहता है। ऐसे कृष्णभावना-परायण भक्त पर प्रभु अतिशय कृपा करते हैं। कोई भी कठिनाई क्यों न आए, अन्त में वह दिव्य धाम—कृष्णलोक को प्राप्त हो ही जाता है। वहाँ उसका प्रवेश निश्चित है, कोई सन्देह नहीं। उस परम धाम में कोई विकार नहीं, वहाँ सभी कुछ सच्चिदानन्दमय है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

चेतसा=कर्तापन के अभिमान आदि से रहित चित्त द्वारा; **सर्वकर्माणि**=सम्पूर्ण कर्मों को; **मयि**=मुझ में; **संन्यस्य**=अपर्ण करके; **मत्परः**=मेरे परायण; **बुद्धियोगम्**=भक्तियोग की क्रियाओं का; **उपाश्रित्य**=आश्रय लेकर; **मच्चित्तः**=मेरे स्मरण में लीन; **सततम्**=दिन में चौबीस घण्टे निरन्तर; **भव**=हो।

अनुवाद

चित्त से सम्पूर्ण कर्मों को मेरे अर्पण करके मेरे परायण और भक्तियोग के आश्रित हुआ निरन्तर मेरा स्मरण करने वाला हो।।५७।।

तात्पर्य

जो कृष्णभावनांभावित कर्म करता है, वह अपने को संसार का स्वामी नहीं समझता। भक्तियोग के लिए आवश्यक है कि सेवक के समान पूर्ण रूप से श्रीभगवान् की आज्ञा के आधीन हुआ कर्म करे। सेवक को कोई निजी स्वतन्त्रता नहीं होती; वह केवल स्वामी की आज्ञा का पालन कर सकता है। सबके स्वामी श्रीभगवान् के लिए कार्यशील सेवक को लाभ-हानि से कोई सरोकार नहीं, वह तो बस उनकी आज्ञा के अनुसार अपना कर्तव्य-पालन करता है। इस पर यह तर्क उठ सकता है कि अर्जुन तो साक्षात् श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन में कर्म कर रहा है, दूसरा उनकी अनुपस्थिति में कर्म कैसे करे? यदि कोई श्रीकृष्ण के इस गीतोपदेश और श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि के आज्ञानुसार कर्म करे, तो उसे अर्जुन के समान ही फल की प्राप्ति होगी। इस श्लोक में मत्पर शब्द का गूढ़ार्थ है। इससे यह संकेत है कि कृष्णभावनाभावित कर्म में श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के अतिरिक्त जीवन का कोई अन्य लक्ष्य नहीं हो सकता। इस विधि से कर्म करते हुए श्रीकृष्ण के इस चिन्तन में सदा विभोर रहना चाहिए कि "मैं यह कर्म श्रीकृष्ण के लिए कर रहा हूँ, उन्होंने ही मुझे इसमें नियुक्त किया है।" इस प्रकार कर्म करते हुए स्वाभाविक रूप से निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण बना रहता है। यही पूर्ण कृष्णभावना है। परन्तु यह जान लेना चाहिए कि स्वेच्छाचार करके फिर उसका फल श्रीभगवान् को अर्पण नहीं करना चाहिए। ऐसा कर्म कृष्णभावनाभावित भक्तियोग नहीं है। श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार ही कर्म करना चाहिए; यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण का वह आदेश परम्परा के द्वारा प्रामाणिक सद्गुरु से मिलता है। अतः गुरु-आज्ञा को जीवन का परम कर्तव्य बना लेना चाहिए। यदि किसी भाग्यवान् को सद्गुरु की प्राप्ति हो जाय और वह उनकी आज्ञा के अनुसार

आचरण करे, तो उसके लिए कृष्णभावनारूप जीवन की परम सिद्धि निश्चित है।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि।।५८।।

मच्चित्तः=मेरे स्मरण में लीन; **सर्वदुर्गाणि**=सब बाधाओं को; **मत् प्रसादात्**=मेरी कृपा से; **तरिष्यसि**=तर जायगा; **अथ**=और; **चेत्**=यदि; **त्वम्**=तू; **अहंकारात्**=मिथ्या अहंकारवश; **न**=नहीं; **श्रोष्यसि**=सुनेगा (तो); **विनंक्ष्यसि**=नष्ट हो जायगा।

अनुवाद

मेरे स्मरण से भावित होकर तू मेरी कृपा से सब बाधाओं को तर जायगा और यदि अहंकारवश मेरी वाणी को नहीं सुनेगा, अर्थात् इस भावना से कर्म नहीं करेगा, तो नष्ट हो जायगा।।५८।।

तात्पर्य

पूर्ण कृष्णभावनाभावित पुरुष अपने जीवन के कर्तव्यों की पूर्ति के लिए अनावश्यक आतुरता नहीं दिखाता। जो मूर्ख हैं, वे इस सब उद्वेगों से रहित अवस्था का मूल्य नहीं समझ सकते। जो कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, भगवान् उसके परम अंतरंग सखा बन जाते हैं। अपने सखा के सुख की उन्हें सदा चिन्ता लगी रहती है। यही नहीं, जो नित्य-निरन्तर दिन में चौबीस घण्टे भगवत्-प्रीति के लिए कर्म के परायण रहता है, उस भक्तरूप सखा के लिए तो वे आत्मदान तक कर बैठते हैं। अतः कोई भी देह को आत्मस्वरूप समझने से उत्पन्न मिथ्या अहंकार के वशीभूत न हो। अपने को मिथ्या रूप में प्रकृति के नियमों से स्वतन्त्र, अर्थात् स्वेच्छाचार करने में समर्थ नहीं समझना चाहिए। बद्धजीव वास्तव में पूर्णरूप से प्रकृति के नियमों के आधीन है; परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण होते ही वह मुक्त हो जाता है, सांसारिक उपद्रवों से छूट जाता है। यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि जो कृष्णभावना में क्रियाशील नहीं है, वह जन्म-मृत्युरूप सागर के भँवर में अपने को खो रहा है। कोई बद्धजीव नहीं जानता कि वस्तुतः क्या करना है और क्या नहीं करना है। एकमात्र कृष्णभावनाभावित पुरुष ही कर्म करने को स्वतन्त्र है, क्योंकि वह जो कुछ करता है, वह सब अन्तर्यामी श्रीकृष्ण द्वारा प्रेरित है और गुरुदेव द्वारा प्रमाणित है।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

यत्=जो; **अहंकारम्**=मिथ्या अहंकार को; **आश्रित्य**=आश्रय करके; **न योत्स्ये**=मैं युद्ध नहीं करूँगा; **इति**=ऐसा; **मन्यसे**=मानता है; **मिथ्या**=मिथ्या है; **एषः**=यह; **व्यवसायः ते**=तेरा निश्चय; **प्रकृतिः**=प्रकृति; **त्वाम्**=तुझे; **नियोक्ष्यति**=युद्ध में बलपूर्वक लगा देगी।

अनुवाद

तू जो अहंकारवश समझता है कि मेरी आज्ञा की अवहेलना करके युद्ध नहीं करेगा, तो यह जान ले कि तेरा यह निश्चय मिथ्या है; स्वभाव तुझे वलपूर्वक युद्ध में लगा देगा।।५९।।

तात्पर्य

अर्जुन एक वीरपुरुष और जन्मजात क्षत्रिय-स्वभाव वाला था। अतः युद्ध करना उसका स्वाभाविक कर्म हुआ। परन्तु मिथ्या अहंकारवश उसे इस विचार से भय हो रहा था कि आचार्य, पितामह आदि गुरुजनों और वन्धुओं की हत्या से पाप होगा। वास्तव में वह स्वयं को अपने कर्मों का स्वामी समझ रहा था, मानो वही कर्म के शुभ-अशुभ फल का विधान करता हो। वह भूल गया कि वहाँ विराजमान श्रीभगवान् स्वयं उसे युद्ध करने की आज्ञा दे रहे हैं। यही जीव की विस्मृति है। श्रीभगवान् निर्देश करते रहते हैं कि क्या अच्छा है, क्या बुरा है। इसके अनुसार मनुष्य को तो वस कृष्णभावनाभावित कर्म करते हुए जीवन की कृतार्थता को प्राप्त करना है। जीव के भाग्य को जैसा श्रीभगवान् जानते हैं, वैसा वह स्वयं नहीं जानता। अतएव श्रीभगवान् से निर्देश ग्रहण करके उसके अनुसार कर्म करना सर्वोत्तम मार्ग है। श्रीभगवान् अथवा उनके प्रतिनिधि—सद्गुरु की आज्ञा की अवहेलना कभी न करे। भगवान् की आज्ञा के अनुसरण में निःसंकोच भाव से निरन्तर तत्पर रहना चाहिए। ऐसा करने वाला सम्पूर्ण परिस्थितियों में सुरक्षित रहेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

स्वभावजेन=स्वाभाविक; **कौन्तेय**=हे अर्जुन; **निवद्धः**=वँधा हुआ; **स्वेन**=अपने; **कर्मणा**=कर्म द्वारा; **कर्तुम्**=करना; **न इच्छसि**=नहीं चाहता; **यत्**=जो; **मोहात्**=मोह से; **करिष्यसि**=करेगा; **अवशः**=अवश होकर; **अपि**=भी; **तत्**=वही।

अनुवाद

हे अर्जुन! मोहवश तू मेरी आज्ञा के अनुसार जिस कर्म को नहीं करना चाहता, उसी को अपने स्वभाव के वश में होकर करेगा।।६०।।

तात्पर्य

जो श्रीभगवान् के निर्देश की अवहेलना करता है, अर्थात् उसके अनुसार कर्म नहीं करता, वह अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार कर्म करने को वाध्य हो जाता है। मनुष्य गुणों के जिस भी मिश्रण में स्थित है, उसी के अनुरूप कर्म करता है। परन्तु जो स्वेच्छा से श्रीभगवान की आज्ञा के परायण हो जाता है, वह शाश्वत् रूप में गौरवान्वित होता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

ईश्वरः=परमेश्वर; **सर्वभूतानाम्**=सब जीवों के; **हृद्देशे**=हृदय में; **अर्जुन**=हे अर्जुन; **तिष्ठति**=बैठा है; **भ्रामयन्**=भ्रमाता हुआ; **सर्वभूतानि**=सब प्राणियों को; **यन्त्र आरूढानि**=देहरूपी यन्त्र में आरूढ़; **मायया**=माया के द्वारा।

अनुवाद

हे अर्जुन! परमेश्वर प्राणीमात्र के हृदय में बैठा है। वही देहरूपी यन्त्र में आरूढ़ सब जीवों को अपनी मायाशक्ति से घूमा रहा है।।६१।।

तात्पर्य

अर्जुन परम विज्ञाता नहीं था; युद्ध के सम्बन्ध में उसका निर्णय उसके अल्प विवेक तक सीमित था। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश में कहा है कि जीवात्मा ही सब कुछ नहीं है। श्रीकृष्ण स्वयं एकदेशीय परमात्मारूप में हृदय में बैठे हुए जीव का निर्देश करते हैं। देहान्तर के साथ जीव को अपने पूर्वकर्मो की विस्मृति हो जाती है; परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा सदा उसके सम्पूर्ण कर्मों का साक्षी बना रहता है। यही परमात्मा जीवों को कर्म में प्रवृत्त करता है। जीवात्मा को यथायोग्य पदार्थों की प्राप्ति होती है और वह परमात्मा की अध्यक्षता में माया द्वारा निर्मित शरीर में आरूढ़ रहता है। जैसे ही उसे कोई देह मिलती है, उसे देह के गुणों के आधीन कर्म करना पड़ता है। तीव्र वाहन में बैठा व्यक्ति दूसरे मन्द वाहन में सवार से जल्दी जाता है, चाहे जीवरूप चालक एक जैसे हों। परमात्मा की आज्ञा से मायाशक्ति पूर्व कर्मवासना के अनुसार प्रत्येक जीव के लिए उपयुक्त देह की रचना करती है। अस्तु, जीव स्वतन्त्र नहीं है। यह सोचना बिल्कुल मिथ्या होगा कि वह श्रीभगवान् से स्वतन्त्र है। वास्तव में वह सदा उनके आधीन है; अतः उसका कर्तव्य है कि उनकी शरण हो जाय—अगले श्लोक में यह स्पष्ट आज्ञा है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

तम्=उसी की; **एव**=निःसन्देह; **शरणम्**=शरण में; **गच्छ**=जा; **सर्वभावेन**=सब प्रकार से; **भारत**=हे अर्जुन; **तत्**=उसकी; **प्रसादात्**=कृपा से; **पराम्**=दिव्य; **शान्तिम्**=शान्ति को; **स्थानम्**=धाम को; **प्राप्स्यसि**=प्राप्त हो जायगी; **शाश्वतम्**=सनातन।

अनुवाद

हे अर्जुन! सब प्रकार से उसी परमेश्वर की शरण में जा। उसकी कृपा से तू परम शान्ति और सनातन परम धाम को प्राप्त हो जायगा।।६२।।

तात्पर्य

जीव को प्राणीमात्र के अन्तर्यामी श्रीभगवान् की शरण में जाना चाहिए; इससे भवरोग के सम्पूर्ण दुःखों से उसका उद्धार हो जायगा। यही नहीं, शरणागति के प्रताप से अन्त में उसे श्रीभगवान् की प्राप्ति भी होगी। वैदिक शास्त्रों में दिव्य वैकुण्ठ-जगत्

का यह वर्णन है, **तद्विष्णोः परमं पदम्**। एक दृष्टि से तो सब प्राकृत पदार्थ भी दिव्य ही हैं, क्योंकि सभी कुछ श्रीभगवान् के राज्य में स्थित है; परन्तु **परमं पदम्** विशेष रूप से दिव्य वैकुण्ठ-जगत् का वाचक है।

पन्द्रहवें अध्याय में कहा है, **सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्ट,** श्रीभगवान् सब के हृदय में बैठे हैं। अतः अन्तर्यामी परमात्मा के शरणागत होने की इस आज्ञा का तात्पर्य यही है कि भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाना चाहिए। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को परब्रह्म कहा है। दसवें अध्याय में उसके वचन हैं, **परं ब्रह्म परं धाम**। वह स्वीकार करता है कि श्रीकृष्ण परब्रह्म, स्वयं भगवान् एवं जीवों के परम आश्रय हैं। वह यह केवल अपने निजी अनुभव के आधार पर कहता हो, ऐसा नहीं; नारद, असित, देवल, व्यास आदि सभी महान् आचार्य इसके प्रमाण हैं।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

इति=इस प्रकार (यह); **ते**=तेरे लिए; **ज्ञानम्**=गीताशास्त्ररूप ज्ञान; **आख्यातम्**=कहा है; **गुह्यात्**=गोपनीय से भी; **गुह्यतरम्**=परम गोपनीय; **मया**=मेरे द्वारा; **विमृश्य**=भलीभाँति मनन करके; **एतत्**=इसे; **अशेषेण**=पूर्णरूप से; **यथा**=जैसा (तू); **इच्छसि**=चाहे; **तथा**=वैसा; **कुरु**=कर।

अनुवाद

इस प्रकार यह परम गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिए कहा है। अब इस गीताशास्त्र पर पूर्णरूप से विचार करके फिर जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर।।६३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् अर्जुन को ब्रह्मभूत-ज्ञान का वर्णन सुना चुके हैं। ब्रह्मभूत पुरुष प्रसन्नावस्था में रहता है; न कभी शोक करता है और न कभी कोई इच्छा ही करता है। यह गोपनीय ज्ञान का परिणाम है। श्रीकृष्ण ने परमात्मा का ज्ञान भी सुनाया है। परमात्मा के ज्ञान में ब्रह्मज्ञान का भी समावेश रहता है; अतः यह केवल ब्रह्मज्ञान से उत्तम है।

अब श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि उसकी जैसी इच्छा हो, वही करे। जीव को जो अणुमात्र स्वतन्त्रता है, श्रीभगवान् उसमें हस्तक्षेप नहीं करते। भगवद्गीता में उन्होंने स्वयं उस पद्धति का पूर्ण निरूपण किया है, जिससे जीव की जीवन-अवस्था का उत्थान हो सकता है। अर्जुन को सर्वोत्तम परामर्श यही है कि अपने अन्तर्यामी परमात्मा के शरणागत हो जाय। जीव को सच्चे विवेक से परमात्मा की आज्ञा के अनुसार कर्म करने को तत्पर हो जाना चाहिए। यह नित्य-निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहने में बड़ा सहायक होगा, जो मानवजीवन की चरमसिद्धि है। अर्जुन को तो साक्षात् श्रीभगवान् युद्ध करने का आदेश दे रहे हैं। श्रीभगवान् की शरण में जाना जीव का अपना परम स्वार्थ है, इसमें परमेश्वर का कोई स्वार्थ नहीं है।

शरणागति से पूर्व, अपनी बुद्धि की पहुँच तक इस विषय पर विचार-विमर्श करने का जीव को अधिकार है। देखा जाए तो श्रीभगवान् के उपदेश को ग्रहण करने की सर्वोत्तम विधि यही है। इसी प्रकार की आज्ञा श्रीकृष्ण के वाह्य प्रकाश—गुरुदेव के माध्यम से प्राप्त होती है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

सर्वगुह्यतमम्=परम गोपनीय; **भूयः**=फिर; **शृणु**=सुन; **मे**=मेरे; **परमम्**=परम (सब शास्त्रों, गीता के भी सारभूत); **वचः**=वचन को; **इष्टः**=प्रियतम; **असि**=(तू) है; **मे**=मेरा; **दृढम्**=अतिशय; **इति**=यह; **ततः**=इसलिए; **वक्ष्यामि**=कहता हूँ; **ते**=तेरे; **हितम्**=हित के लिए।

अनुवाद

सब गोपनियों में भी गोपनीय मेरे परम सार वचन को फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इसलिए तेरे हित के लिए कहता हूँ।।६४।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को प्राणीमात्र के अन्तर्यामी परमात्मा का गोपनीय ज्ञान सुनाया है और अव इस ज्ञान का परम गोपनीय सार-सर्वस्व सुनाते हैं।वे जीव का आह्वान करते हैं कि वह उन्हीं श्रीभगवान् के शरणागत हो जाय। नौवें अध्याय के अन्त में उन्होंने कहा है, "निरन्तर मेरा ही चिन्तन-स्मरण कर।" गीतोपदेश के सार को प्रकट करने के लिए उसी शिक्षा की यहाँ पुनरावृत्ति की है। इस सारामृत को वास्तव में केवल श्रीकृष्ण का अतिशय प्रेमास्पद शुद्धभक्त समझ सकता है; साधारण मनुष्य के लिए यह बुद्धिगम्य नहीं है। यह सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों में सबसे महत्त्वपूर्ण उपदेश है। इस सन्दर्भ में श्रीकृष्ण जो कुछ कह रहे हैं, वह ज्ञान का परम सारभूत सर्वस्व है। यह केवल अर्जुन के लिए नहीं कहा गया है; जीवमात्र को इसका अनुसरण करना चाहिए।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

मन्मनाः भव=मुझ में मन वाला हो; **मद्भक्तः**=मेरा भक्त हो; **मद्याजी**=अतिशय प्रेमसहित मेरी अर्चना कर; **माम्**=मुझे; **नमस्कुरु**=प्रणाम कर; **माम्**=मुझे; **एव**=ही; **एष्यसि**=प्राप्ति होगा; **सत्यम्**=सत्यपूर्वक; **ते**=तुझ से; **प्रतिजाने**=प्रतिज्ञा करता हूँ; **प्रियः**=(तू) प्रिय; **असि**=है; **मे**=मेरा।

अनुवाद

नित्य-निरन्तर मुझ में मन वाला हो और मेरा भक्त हो; मेरा पूजन कर और मुझे ही प्रणाम कर। इस प्रकार तू मुझ को ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझ से सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय सखा है।।६५।।

तात्पर्य

सम्पूर्ण ज्ञान का परम गोपनीय सार बस यही है कि भगवान् श्रीकृष्ण का शुद्धभक्त बन कर नित्य-निरन्तर उनके नाम, रूप, लीला, धाम के चिन्तन में तन्मय रहे और उन्हीं की प्रीति के लिए कर्म के परायण हो। कपटध्यानी बनने से कुछ लाभ नहीं होगा। जीवन को इस प्रकार ढाल लेना चाहिए कि नित्य-निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण होता रहे। यही नहीं, कर्म सदा उस विधि से करना चाहिए कि सारी दैनन्दिन क्रियाएँ श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हों। जीवन में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि दिन में चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य कुछ चिन्तन संभव ही न रहे। श्रीभगवान् की प्रतिज्ञा है इस प्रकार का शुद्ध कृष्णभावनापरायण पुरुष निःसन्देह उन (श्रीकृष्ण) के धाम को फिर प्राप्त हो जायगा, जहाँ उसे साक्षात् श्रीकृष्ण का शाश्वत् संग रहेगा। अर्जुन के लिए इस परम गोपनीय ज्ञान को इसीलिए कहा गया कि वह श्रीकृष्ण का अतिशय प्रिय सखा है। जो कोई अर्जुन के चरणचिन्हों का अनुसरण करेगा, वह श्रीकृष्ण का प्रिय सखा बनकर अर्जुन के ही समान कृतार्थ हो जायगा।

मन्मनाः भव—श्रीकृष्ण के उसी श्यामसुन्दररूप में मन को बसाए रखना चाहिए, जो द्विभुज वेणुधारी, सान्द्रांग घनश्याम, सुस्निग्धकुञ्चित कुन्तल, सुन्दर भ्रूवल्लि, मधुरकृपाकटाक्ष, अमृतवर्षिवदनचन्द्र तथा केशराजि में मयूरपिच्छधारी है। श्रीकृष्ण के रूप का यह हृदयहारी वर्णन ब्रह्मसंहिता आदि शास्त्रों में है। भगवान् श्रीकृष्ण के इस आदिरूप में ही मन को एकाग्र कर दे, उनके अन्य रूपों में भी ध्यान को नहीं भटकाना चाहिए। श्रीभगवान् के विष्णु, राम, नारायण, वराह आदि नाना रूप हैं; परन्तु भक्त को अपना चित्त उसी रूप में निवेशित करना चाहिए, जो अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष है। श्रीकृष्ण में मन का तन्मय हो जाना ज्ञान का परम गोपनीय सार है। यह अर्जुन के प्रति प्रकट किया गया, क्योंकि अर्जुन श्रीकृष्ण का परमप्रेमास्पद सखा है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

सर्वधमान्=सब प्रकार के धर्मों को; **परित्यज्य**=त्याग कर; **माम् एकम्**=एक मेरी ही; **शरणम्**=शरण में; **व्रज**=आ जा; **अहम्**=मैं; **त्वा**=तुझको; **सर्वपापेभ्यः**=सम्पूर्ण पापों से; **मोक्षयिष्यामि**=मुक्त कर दूँगा; **मा शुचः**=तू शोक मत कर।

अनुवाद

सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तेरा सम्पूर्ण पापों से उद्धार कर दूँगा, तू शोक मत कर।।६६।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने नाना प्रकार के ज्ञान का, धर्म-पद्धतियों का, परब्रह्म के ज्ञान का, परमात्मा के ज्ञान का, विविध वर्ण और आश्रमों का, संन्यास का, वैराग्य (अना-सक्ति), शम, दम, ध्यान आदि के तत्त्व का वर्णन किया है। अब, गीताशास्त्र का उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि अर्जुन पूर्ववर्णित सम्पूर्ण पद्धतियों को त्याग

कर अनन्य भाव से उन (श्रीकृष्ण) के ही शरणागत हो जाय। इस शरणागति से वह सब पापों से बच जायगा, क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं उसकी रक्षा करने का वचन देते हैं।

सातवें अध्याय में उल्लेख है कि भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना में वही लग सकता है, जो सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो गया हो। इससे जीव को यह ग्लानि हो सकती है कि जब तक वह सब पापों से छूट नहीं जाता, जब तक शरणागति के पथ को अंगीकार नहीं कर सकता। ऐसे सन्देह को दूर करने के लिए भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है कि यदि कोई पापों से न छूटा हो, तो भी केवल श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाने से उसका अपने-आप मोचन हो जायगा। ऐसे में पाप-निवृत्ति के लिए अलग से कोई कठोर उद्यम नहीं करना पड़ेगा। श्रीकृष्ण को निस्संकोच सम्पूर्ण जीवों का परम शरणदाता मान कर श्रद्धा और प्रेमभाव से उनके शरणागत हो जाना चाहिये।

भक्तियोग की पद्धति के अनुसार, उसी विधि-नियम को मानना चाहिए, जो भक्तियोग की प्राप्ति में सहायक हो। वर्ण-आश्रम में अपनी स्थिति के अनुसार स्वधर्म-पालन किया जा सकता है; परन्तु यदि कोई इस प्रकार के कर्तव्य-पालन से कृष्णभावनारूपी लक्ष्य तक नहीं पहुँचे, तो उसके सम्पूर्ण कर्म व्यर्थ हैं। जो कर्म कृष्णभावनारूपी परमसिद्धि के मार्ग में अग्रसर नहीं करता, उससे बचना चाहिए। यह दृढ़ विश्वास रखे कि श्रीकृष्ण सब परिस्थितियों में उसकी सब प्रकार से रक्षा करेंगे। प्राण-धारण के लिए चिन्ता करना अनावश्यक है। इसकी चिन्ता श्रीकृष्ण करेंगे। अपने को सदा दीन-हीन अनुभव करता हुआ श्रीकृष्ण को ही जीवन में उन्नति का अनन्य अवलम्ब समझे। कृष्णभावनाभावित होकर निश्छल भाव से भक्तियोग के परायण होते ही माया के सम्पूर्ण दोषों से मुक्ति हो जाती है। ज्ञान, ध्यानयोग आदि धर्म और शुद्धिकरण की अनेक पद्धतियाँ हैं, परन्तु श्रीकृष्ण के शरणागत को इन साधनों का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। श्रीकृष्ण के चरणों में अनन्य शरणागति ही पर्याप्त है; अन्य साधनों में समय व्यय करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार एक शरणागति के द्वारा तत्काल पूर्ण उन्नति करके सम्पूर्ण पापों से मुक्त हुआ जा सकता है।

श्रीकृष्ण की मधुर छवि पर मुग्ध हो जाय। उनका नाम कृष्ण है, क्योंकि वे सर्वाकर्षक हैं। जो श्रीकृष्ण के मधुर सर्वशक्तिसम्पन्न रूप की ओर आकृष्ट हो जाता है, वह भाग्यवान् है। निर्विशेषब्रह्मवादी, परमात्मावादी आदि योगियों की अनेक कोटियाँ हैं। परन्तु जो श्रीभगवान् के साकार रूप, विशेषतः साक्षात् श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट होता है, वही परम योगी है। भाव यह है कि पूर्ण कृष्णभावनाभावित भक्तियोग परम गोपनीय ज्ञान और सम्पूर्ण भगवद्गीता का सार-सर्वस्व है। कर्मयोगी, ज्ञानी, ध्यानी और भक्त—सभी योगी कहलाते हैं। परन्तु इस सबमें शुद्धभक्त सर्वोत्तम है। मा शुचः पद का विशिष्ट गूढ़ार्थ है। श्रीकृष्ण अर्जुन को आश्वासन दे रहे हैं, "हे अर्जुन! तू शोक मत कर, चिन्ता मत कर, भय मत कर।" चिन्ता हो सकती है कि सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर अनन्यभाव से श्रीकृष्ण के शरणागत

हो जाना कैसे सम्भव है, परन्तु ऐसी चिन्ता वास्तव में निरर्थक है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

इदम=यह; **ते**=तुझे; **न**=न (तो); **अतपस्काय**=तपरहित (अजितेन्द्रिय) पुरुष को; **न**=न; **अभक्ताय**=अभक्त को, **कदाचन**=कभी; **न च**=(और) न ही; **अशुश्रूषवे**=सुनने की इच्छा से रहित मनुष्य को; **वाच्यम्**=कहना चाहिए; **न च**=और नहीं; **माम्**=मुझ से; **यः**=जो; **अभ्यसूयति**=द्वेष करता है।

अनुवाद

इस परम गोपनीय ज्ञान को न तो कभी तपरहित (अजितेन्द्रिय) पुरुष को सुनाना चाहिए और न अभक्त, सुनने की इच्छा से रहित अथवा भक्तियोग में न लगे हुए मनुष्य से ही कहना चाहिए एवं जो मुझ से द्वेष करता हो, उसे भी नहीं सुनाना चाहिए।।६७।।

तात्पर्य

जिन मनुष्यों ने तप का आचरण नहीं किया हो, जिन्होंने कभी कृष्णभावनाभवित भक्तियोग का साधन न किया हो, जिन्होंने कभी शुद्धभक्त की सेवा नहीं की हो और जो श्रीकृष्ण को केवल एक ऐतिहासिक पुरुष मानते हों या उनकी महिमा से द्वेष करते हों, उनके प्रति तो विशेषकर यह परम गोपनीय (रहस्यमय) ज्ञान नहीं कहना चाहिए। कभी-कभी देखा जाता है कि आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य भी, जो श्रीकृष्ण से द्वेष करते हैं और उन्हें प्रतिकूल भाव से भजते हैं, धन-प्राप्ति के लिए भगवद्गीता को अपने ढंग से समझाने का व्यवसाय बना लेते हैं। परन्तु यदि कोई यथार्थ में श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानने का अभिलाषी हो, तो भगवद्गीता की इन व्याख्याओं से बचा रहे। वास्तव में भगवद्गीता के प्रयोजन को अजितेन्द्रिय व्यक्ति नहीं जान सकते। वैदिक शास्त्रों के नियमों का अनुसरण करने वाला जितेन्द्रिय पुरुष भी भक्त हुए बिना श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जान सकता। जो अपने को भक्त कहता हो, परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण न हो, वह भी श्रीकृष्ण को नहीं समझ सकता। ऐसे अनेक मनुष्य हैं, जो श्रीकृष्ण से द्वेष करते हैं, क्योंकि उन्होंने गीता में स्वयं कहा है कि वे परब्रह्म हैं, उनके समान अथवा उनसे अधिक दूसरा कोई नहीं है। इस कोटि के मनुष्य गीता के अधिकारी नहीं हैं; उन्हें यह न सुनाये, क्योंकि वे इसे समझ नहीं सकते। अश्रद्धालुओं के लिए भगवद्गीता अथवा श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानने की कुछ भी संभावना नहीं है। आचार्यचरण शुद्धभक्त के मुखपद्म से श्रीकृष्ण के तत्त्व को जाने बिना भगवद्गीता पर टीका करने का दुस्साहस कोई न करे।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

यः=जो; इमम्=इस; परमम्=परम; गुह्यम्=गोपनीय (रहस्यमय) गीताशास्त्र को; मत्=मेरे; भक्तेषु=भक्तों में; अभिधास्यति=कहेगा; भक्तिम्=भक्ति; मयि=मुझ में; पराम्=दिव्य; कृत्वा=करके; माम्=मुझ को; एव=ही; एष्यति=प्राप्त होगा; असंशयः=निःसन्देह।

अनुवाद

जो इस गीतारूपी परम रहस्य को भक्तों में कहेगा, उसके लिए भक्तियोग की प्राप्ति निश्चित है और अन्त में वह मेरे पास लौट आयगा।।६८।।

तात्पर्य

सामान्यतः यह परामर्श है कि भगवद्गीता की चर्चा भक्त-गोष्ठी में ही की जाय, क्योंकि जो भक्त नहीं हैं, वे न तो श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान सकते हैं और न भगवद्गीता को समझ सकते हैं। जो श्रीकृष्ण को तत्त्व से और भगवद्गीता को यथार्थ रूप में नहीं मानते, वे स्वेच्छापूर्वक गीता के अर्थ का अनर्थ करके अपराधी न बनें। भगवद्गीता का पात्र वही है, जो श्रीकृष्ण को भगवान् स्वीकार करता हो। यह केवल भक्तों की विषयवस्तु है, मनोधर्म करने वालों का तो इसमें प्रवेश भी नहीं है। फिर भी, जो कोई भगवद्गीता को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का निश्छल प्रयास करता है, वह भक्तियोग की क्रियाओं में उन्नति करता हुआ शुद्धभक्तियोग की अवस्था को प्राप्त हो जायगा। इस शुद्ध भक्तियोग के प्रताप से उसके लिए अपने घर—भगवान् के पास वापस लौटना निश्चित है।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

न च=और न ही; तस्मात्=उससे; मनुष्येषु=मनुष्यों में; कश्चित्=कोई भी; मे=मेरा; प्रियकृत्तमः=अधिक प्रिय; भविता=होगा; न च=और न ही; मे=मेरा; तस्मात्=उससे; अन्यः=दूसरा; प्रियतरः=अधिक प्रिय; भुवि=संसार में।

अनुवाद

उससे अधिक मेरा प्रिय सेवक न तो इस संसार में कोई है और न ही कभी उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा।।६९।।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

अध्येष्यते=नित्य पाठ करेगा; च=और; यः=जो; इमम्=इस; धर्म्यम्=पावन; संवादम्=संवादरूप गीताशास्त्र का; आवयोः=हमारे; ज्ञानयज्ञेन=ज्ञान यज्ञ से; तेन=उसके द्वारा; अहम्=मैं; इष्टः=पूजित; स्याम्=होऊँगा; इति=ऐसा; मे=मेरा; मतिः=मत है।

अनुवाद

और मेरी घोषणा है कि जो कोई हमारे इस पावन संवादरूप गीताशास्त्र का पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा।।७०।।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

श्रद्धावान्=श्रद्धा से पूर्ण हृदय वाला; **अनसूयः**=द्वेषरहित; **च**=और; **शृणुयात् अपि**=श्रवण भी करेगा; **यः**=जो; **नरः**=मनुष्य; **सः अपि**=वह भी; **मुक्तः**=मुक्त हुआ; **शुभान्**=उत्तम; **लोकान्**=लोकों को; **प्राप्नुयात्**=प्राप्त होगा; **पुण्यकर्मणाम्**= पुण्यात्मा पुरुषों के।

अनुवाद

जो कोई द्वेषरहित पुरुष श्रद्धाभाव के साथ इस गीताशास्त्र का श्रवण करेगा, वह भी पापों से मुक्त होकर पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होगा।।७१।।

तात्पर्य

सड़सठवें श्लोक में श्रीभगवान् ने स्पष्ट कहा है कि जो उनसे द्वेष करते हैं उन्हें गीता न सुनाये। भाव यह है कि भगवद्गीता केवल भक्तों के लिए है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भगवद्भक्त इस का जनसाधारण में पाठ करते हैं। ऐसे वर्ग में सब भक्त नहीं होते। भक्त के इस कार्य का औचित्य दिखाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि सुनने वाले सब मनुष्य भक्त नहीं होते, यह सत्य है; परन्तु उनमें से बहुत से ऐसे हैं, जो श्रीकृष्ण से द्वेष नहीं करते। वे श्रद्धावान् हैं, उन्हें भगवान् मानते हैं। यदि इस कोटि के पुरुष सच्चे भक्त के मुखारविन्द से भगवत्कथामृत का श्रवण करें, तो परिणाम में तत्काल सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो कर पुण्यवानों के लोकों को प्राप्त हो सकते हैं। अतएव जो शुद्धभक्त बनने के लिए प्रयत्न तक नहीं करता, भगवद्गीता के श्रवणमात्र से वह मनुष्य भी पुण्यकर्मों के फल को प्राप्त हो जाता है। अतः शुद्धभगवद्भक्त गीतामृत प्रदान कर प्राणीमात्र को सम्पूर्ण पाप-बन्धनों से छूटकर भगवद्भक्त बनने का अवसर देता है।

पापमुक्त पुरुष सामान्यतः पुण्यकर्मों के परायण रहते हैं। इसलिए वे कृष्णभावना को बड़े सहज रूप में अंगीकार कर लेते हैं। **पुण्यकर्मणाम्** शब्द यज्ञ करने वाले मनुष्यों का भी वाचक है। जो पुण्यात्मा पुरुष भक्तियोग का आचरण करते हैं, परन्तु शुद्ध नहीं हैं, वे ध्रुव आदि लोकों को प्राप्त कर सकते हैं। ध्रुव महाराज भगवान् के महान् भक्त हुए हैं, इसलिए उनका अपना ध्रुवलोक है।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चतेसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।।७२।।

कच्चित्=क्या; **एतत्**=यह (शास्त्र); **श्रुतम्**=सुना; **पार्थ**=हे अर्जुन; **त्वया**=तेरे द्वारा; **एकाग्रेण**=एकाग्र; **चेतसा**=मन से; **कच्चित्**=क्या; **अज्ञान**=अज्ञान; **संमोहः**= मोह; **प्रनष्टः**=नष्ट हो गया; **ते**=तेरा; **धनञ्जय**=हे अर्जुन।

अनुवाद

हे अर्जुन! क्या तूने यह शास्त्र एकाग्रचित्त से सुना और क्या इससे तेरा अज्ञान और मोह नष्ट हो गया?।।७२।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् अर्जुन के गुरुपद पर आसीन हैं; अतः उनका कर्तव्य बनता है कि अर्जुन से पूछें कि क्या वह सम्पूर्ण भगवद्गीता को यथार्थ रूप में समझ गया। यदि वह न समझा हो, तो श्रीभगवान् किसी भी अंश का अथवा पूरी भगवद्गीता का फिर उपदेश करने को प्रस्तुत हैं। वास्तव में जो कोई श्रीकृष्ण अथवा उनके प्रतिनिधिरूप योग्य गुरु से भगवद्गीता को सुनेगा, वह अपना सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हुआ पायेगा। भगवद्गीता किसी कवि अथवा लेखक द्वारा रचित कोई साधारण पुस्तक नहीं है। यह साक्षात् परब्रह्म के मुखारविन्द की वाणी है। जो भाग्यवान् पुरुष श्रीकृष्ण अथवा उनके सच्चे पारमार्थिक प्रतिनिधि के मुखपद्म से इस उपदेशामृत का श्रवण करता है, वह निःसन्देह अज्ञान से छूट कर मुक्त हो जाता है।

अर्जुन उवाच।
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अर्जुनः उवाच=अर्जुन ने कहा; **नष्टः**=नष्ट हो गया है; **मोहः**=मोह; **स्मृतिः**=स्मृति; **लब्धा**=फिर प्राप्त हुई; **त्वत् प्रसादात्**=आपकी कृपा से; **मया**=मुझे; **अच्युत**=हे कृष्ण; **स्थितः**=स्थित; **अस्मि**=हूँ; **गतसन्देहः**=सन्देह से मुक्त होकर; **करिष्ये**=पालन करूँगा; **वचनम्**=आज्ञा का; **तव**=आपकी।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति फिर प्राप्त हो गयी है। इसलिए अब मैं संशय से मुक्त होकर दृढ़ता से स्थित हूँ; अब आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।।७३।।

तात्पर्य

अर्जुनरूप जीव का स्वरूप श्रीभगवान् की आज्ञानुसार कर्म करना है। उसे आत्मसंयम करना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि जीव यथार्थ स्वरूप में भगवान् का नित्यदास है। अपने इस स्वरूपधर्म को भूल कर जीव प्रकृति की उपाधियों में फँस गया है, परन्तु भगवत्सेवा करने से वह फिर मुक्त भगवत्-दास हो सकता है। जीव का स्वरूप सेवा करना है; इसलिए यदि वह भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा नहीं करता तो उसे माया की सेवा करनी पड़ती है। भगवान् की सेवा करना उसकी स्वाभाविक स्थिति है, जबकि यदि वह माया की सेवा में लग जाय तो निश्चितरूप से बँधेगा। मोहवश जीव इस प्राकृत-जगत् की सेवा कर रहा है। वह काम और वासना में आनख-शिख बँधा हुआ है; फिर भी अपने को जगत् का स्वामी समझता है। इसी का नाम मोह है। मुक्त पुरुष में मोह नहीं रहता; वह श्रीभगवान् के आज्ञापालन के लिए स्वेच्छा से उनकी शरण में चला जाता है। जीव के लिए माया की सबसे बन्धनकारी कूटचाल यह धारणा है कि वह ईश्वर है। जीव

समझता है कि वह अव जीव नहीं रहा, ईश्वर हो गया है। वह इतना बुद्धिहीन है कि यह भी नहीं समझता कि यदि वह ईश्वर होता तो संशय कैसा ? उसे यह विचारना चाहिए। अतएव अपने को ईश्वर मानना माया का सर्वोपरि पाश है। माया से मुक्त होने का अर्थ वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानकर उनकी आज्ञानुसार कर्म करना है। इस श्लोक में **मोह** शव्द अज्ञान का वाचक है। सच्चा ज्ञान तो यह जानना है कि जीवमात्र श्रीभगवान् का नित्यदास है। परन्तु यह समझने के स्थान पर, जीवात्मा अपने को दास नहीं मानता; प्राकृत-जगत् का स्वामी ही समझता है। इस कारण वह प्रकृति पर प्रभुत्व करना चाहता है। यही उसका संमोह है। श्रीभगवान् अथवा उनके शुद्धभक्त की कृपा से इस मोह को जीता जा सकता है। मोह-आवरण के हटते ही जीव कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण हो जाता है।

कृष्णभावना का अर्थ श्रीकृष्ण की आज्ञा के अनुसार कर्म करना है। प्रकृति रूप वहिरंगाशक्ति से मोहित बद्धजीव नहीं जानता कि श्रीभगवान् सव के स्वामी, सम्पूर्ण ज्ञानमय तथा सारी सृष्टि के स्वामी हैं। वे अपनी इच्छा के अनुसार भक्तों पर कृपा करते हैं। वैसे तो वे सभी के सखा हैं; परन्तु विशेष रूप से भक्तवत्सल ह। वे प्रकृति, जीव और काल के ईश्वर हैं तथा सम्पूर्ण दिव्य ऐश्वर्यो और शक्तियों से परिपूर्ण हं। अपने भक्तों को तो भगवान् आत्मदान तक कर सकते हैं। उन्हें न जानने वाला निश्चित रूप से माया-मोह के आधीन है। वह भक्त नहीं वनता, अपितु माया का ही दास वना रहता है। परन्तु अर्जुन तो श्रीभगवान् से गीता का श्रवण करके सम्पूर्ण मोह से मुक्त हो गया है। वह जान गया है कि श्रीकृष्ण उसके सखा ही नहीं हैं, वरन् भगवान् हें। भाव यह है कि वह श्रीकृष्ण के तत्त्व को समझ गया। अतः सिद्ध होता है कि भगवद्गीता का स्वाध्याय करना श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानना है। पूर्ण ज्ञानी पुरुष स्वाभाविक रूप से श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाता है। इसी प्रकार जव अर्जुन ने जाना कि श्रीकृष्ण अप्रयोजनीय भू-भार को हरना चाहते हैं, तो वह उनकी इच्छापूर्ति के लिए युद्ध करने को सहमत हो गया। श्रीभगवान के आज्ञा-पालन के लिए उसने अव फिर से अपना धनुष-वाण उठा लिया है।

सञ्जय उवाच।
इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

सञ्जयः उवाच=संजय ने कहा; **इति**=ऐसा; **अहम्**=मैंने; **वासुदेवस्य**=भगवान् श्रीकृष्ण का; **पार्थस्य**=अर्जुन का; **च**=तथा; **महात्मनः**=दोनों महात्मा पुरुषों का; **संवादम्**=वार्तालाप; **इमम्**=इस; **अश्रौषम्**=सुना; **अद्भुतम्**=विस्मयकारी; **रोमहर्षणम्**=रोमांचकारी।

अनुवाद

संजय ने कहा, इस प्रकार मैंने दोनों महात्माओं, श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस

परम अद्भुत और रोमांचकारी संवाद को सुना।।७४।।

तात्पर्य

भगवद्गीता का उपक्रम संजय से धृतराष्ट्र की कुरुक्षेत्र-युद्ध विषयक जिज्ञासा से हुआ था। गुरु व्यासदेव की कृपा से यह सम्पूर्ण घटनाचक्र संजय के हृदय में स्फुरित हुआ, जिससे वह युद्ध-स्थिति का वर्णन कर सका। श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद को अद्भुत कहा गया है, क्योंकि दो महापुरुषों में इतना महिमामय वार्तालाप न तो इससे पूर्व में कभी हुआ है और न भविष्य में ही कभी होगा। यह इसलिए भी अद्भुत है कि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपना और अपनी शक्तियों का अर्जुन से वर्णन कर रहे हैं, जो उनका परमभक्त है। श्रीकृष्ण को जानने के लिए जो अर्जुन के चरणचिह्नों का अनुसरण करेगा, उसका जीवन सुखमय और सफल हो जायगा। संजय को यह अनुभूति हुई और जैसे-जैसे वह यह समझने लगा, वैसे ही धृतराष्ट्र को भी वह वार्तालाप कह सुनाया। अब, अन्त में निष्कर्ष है कि जहाँ श्रीकृष्ण-अर्जुन हैं, वहीं शाश्वत् विजय है।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

व्यासाप्रसादात्=व्यासदेव की कृपा से; **श्रुतवान्**=सुना है; **एतत्**=इस; **गुह्यम्**=परम गोपनीय; **अहम्**=मैंने; **परम्**=परम; **योगम्**=योग को; **योगेश्वरात्**=योगेश्वर; **कृष्णात्**=श्रीकृष्ण से; **साक्षात्**=साक्षात्; **कथयतः**=कहते हुए; **स्वयम्**=स्वमुख से।

अनुवाद

श्रीव्यासदेव की कृपा से मैंने इस परम गोपनीय योग को अर्जुन से स्वयं कहते हुए साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण से सुना है।।७५।।

तात्पर्य

व्यासदेव संजय के गुरु थे। संजय स्वीकार करता है कि उनकी कृपा से ही वह श्रीभगवान् को तत्त्व से जान सका। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण को अपने-आप जानने के लिए प्रयत्न करने के स्थान पर गुरु के माध्यम से जानना चाहिए। यद्यपि अनुभव साक्षात् होता है, परन्तु गुरुरूपी पारदर्शी माध्यम का पथ अधिक उत्तम है। यही शिष्य-परम्परा का रहस्य है। यदि गुरु प्रामाणिक हों, तो उनके मुखारविन्द से गीतामृत का श्रवण करना अर्जुन के समान साक्षात् श्रीकृष्ण से सुनना है। जगत् योगियों और ध्यानियों से परिपूर्ण है, परन्तु श्रीकृष्ण तो सम्पूर्ण योगों के ईश्वर हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में जीव को अपने शरणागत हो जाने का स्पष्ट आदेश दिया है। ऐसा करने वाला परमोच्च योगी है। छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक में प्रमाण है, **योगिनामपि सर्वेषाम्।**

नारदजी साक्षात् श्रीकृष्ण के शिष्य और व्यासदेव के गुरु हैं। अतः परम्परा में

होने के कारण व्यासदेव भी अर्जुन के समान प्रामाणिक हैं। संजय इन्हीं का शिष्य है। व्यासदेव की कृपा से उसकी इन्द्रियाँ शुद्ध हो गयीं, जिससे वह साक्षात् श्रीकृष्ण को सुन-देख सका। जो साक्षात् श्रीकृष्ण को सुनता है, वह इस रहस्यमय ज्ञान को जान सकता है। शिष्यपरम्परा का आश्रय ग्रहण किए बिना श्रीकृष्ण को कोई नहीं सुन सकता। अतः उसका ज्ञान, कम से कम जहाँ तक भगवद्गीता का सम्बन्ध है, सदा अपूर्ण रहता है।

भगवद्गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, आदि सब योग-पद्धतियों का वर्णन है। श्रीकृष्ण इन सब योगों के परम ईश्वर हैं। स्मरण रहे कि जैसे अर्जुन को साक्षात् श्रीकृष्ण से उनका तत्त्व जानने का सौभाग्य मिला, वैसे संजय भी गुरु व्यासदेव की कृपा से श्रीकृष्ण के वचनामृत का साक्षात् पान कर सका। वास्तव में व्यास जैसे प्रामाणिक गुरु के माध्यम से सुनना साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से सुनना है। अतः गुरु को व्यासदेव का प्रतिनिधि माना जाता है। वैदिक परम्परा के अनुसार गुरुदेव के आविर्भाव-दिवस पर शिष्यगण उनके सम्मान में व्यास-पूजा महोत्सव का आयोजन करते हैं।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

राजन्=हे राजन्; **संस्मृत्य-संस्मृत्य**=बारंबार स्मरण करके; **संवादम्**=वार्तालाप को; **इमम्**=इस; **अद्भुतम्**=अद्भुत; **केशव-अर्जुनयोः**=भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के; **पुण्यम्**=पावन; **हृष्यामि**=हर्षित (रोमांचित) होता हूँ; **च**=और; **मुहुः मुहुः**= =प्रतिक्षण।

अनुवाद

हे राजन! श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस परम अद्भुत और पावन संवाद को बारम्बार स्मरण करके मैं प्रतिक्षण हर्षित और रोमांचित हुआ जाता हूँ।।७६।।

तात्पर्य

भगवद्गीता का ज्ञान इतना दिव्य है कि जो कोई अर्जुन और श्रीकृष्ण के संवाद को भलीभाँति हृदय में धारण करता है, वह सत्परायण हो जाता है और इस संवाद की स्मृति को हृदय से क्षणभर के लिए भी नहीं निकाल सकता। उसे शुद्ध सत्त्वमयी दिव्य अवस्था प्राप्त हो जाती है। भाव यह है कि जो यथार्थ स्रोत से, अर्थात् साक्षात् श्रीकृष्ण से गीता का श्रवण करता है, वह पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो जाता है। उसका अन्तस्तल दिव्य आलोक में जगमगा उठता है। ऐसा पुरुष जीवन के पल-पल में आनन्द-विभोर रहता है।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

तत्=उसको; **च**=भी; **संस्मृत्य-संस्मृत्य**=बारंबार स्मरण करके; **रूपम्**=रूपको;

अति अद्भुतम्=परम विस्मयकारी; **हरेः**=भगवान् श्रीकृष्ण के; **विस्मयः**=आश्चर्य होता है; **मे**=मुझे; **महान्**=महान्; **राजन्**=हे राजन्; **हृष्यामि**=हर्षित होता हूँ; **च**=तथा; **पुनः पुनः**=बारंबार।

अनुवाद

और हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण के उस परम अद्भुत रूप को भी बारंबार स्मरण करके मुझे महान् आश्चर्य होता है और मैं पुनः-पुनः हर्षित हो रहा हूँ।।७७।।

तात्पर्य

प्रतीत होता है कि व्यासदेव की कृपा से संजय को भी श्रीकृष्ण के उस विश्वरूप का दर्शन हुआ, जो उन्होंने अर्जुन के समक्ष प्रकट किया था। निःसन्देह जैसा कहा गया है, श्रीकृष्ण ने ऐसा रूप इससे पूर्व कभी नहीं दिखाया था। इस समय भी उसका प्राकट्य केवल अर्जुन के लिए हुआ; परन्तु अर्जुन के साथ-साथ इने-गिने महाभागवतों को भी उसका साक्षात्कार हो सका। व्यासदेव इनमें से एक थे। वे परम भक्त और श्रीकृष्ण के शक्त्यावतार माने जाते हैं। व्यास ने यह सम्पूर्ण तत्त्व अपने शिष्य के प्रति प्रकाशित किया। अतः संजय अर्जुन के आगे प्रकट हुए श्रीकृष्ण के उस अद्भुत रूप का बारंबार स्मरण करता हुआ पुनः-पुनः हर्ष को प्राप्त हो रहा है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

यत्र=जहाँ; **योगेश्वरः**=योग के परम ईश्वर; **कृष्णः**=श्रीकृष्ण (हैं); **यत्र**=जहाँ; **पार्थः**=अर्जुन है; **धनुर्धरः**=गाण्डीव धनुषधारी; **तत्र**=वहाँ (ही); **श्रीः**=राजलक्ष्मी आदि ऐश्वर्य; **विजयः**=उत्कर्ष; **भूतिः**=विलक्षण शक्ति; **ध्रुवा**=शाश्वत् (स्थिर); **नीतिः**=नीति (है); **मतिः मम**=ऐसा मेरा मत है।

अनुवाद

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण है और जहाँ धनुषधारी अर्जुन है, वहीं शाश्वत राजलक्ष्मी, समस्त ऐश्वर्य, विजय, विलक्षण शक्ति और नीति है, ऐसा मेरा मत है।।७८।।

तात्पर्य

भगवद्गीता का उपक्रम धृतराष्ट्र की जिज्ञासा से हुआ था।उसे आशा थी कि उसके पुत्र युद्ध में विजयी होंगे, क्योंकि उन्हें भीष्म, द्रोण, कर्ण, आदि महारथियों का सहयोग प्राप्त था। अतः विजय स्वपक्ष की ही होगी, ऐसा उसका विश्वास था। किन्तु उसके लिए युद्धभूमि का चित्रांकन करके संजय ने कहा, "हे राजन! तुम अपनी विजय की सोच रहे हो, परन्तु मेरे मत में तो जहाँ श्रीकृष्ण-अर्जुन हैं, वहीं सम्पूर्ण श्री है।" उसने स्पष्ट कहा कि धृतराष्ट्र स्वपक्ष की विजय की आशा को त्याग दे। अर्जुन के पक्ष की विजय निश्चित थी, क्योंकि वहाँ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उपस्थित थे। श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन का सारथ्य करना भी एक ऐश्वर्य का ही प्रकाश था। भगवान्

श्रीकृष्ण सर्व ऐश्वर्यमय हैं, जिनमें से एक वैराग्य भी है। श्रीकृष्ण तो वास्तव में वैराग्य के अधीश्वर ही हैं, अतः उनकी लीला में वैराग्य का बहुधा प्रकाश हुआ है।

युद्ध वास्तव में दुर्योधन और युधिष्ठिर के बीच था। अर्जुन तो केवल अपने अग्रज युधिष्ठिर की ओर से लड़ रहा था। श्रीकृष्ण-अर्जुन उसके पक्ष में थे, इसलिए युधिष्ठिर की विजय निश्चित थी। युद्ध से जगत् के सार्वभौम सम्राट का निर्णय होने वाला था। संजय ने भविष्यवाणी की कि सत्ता युधिष्ठिर के हाथ में चली जायगी। उसने यह भी कहा कि विजयी युधिष्ठिर उत्तरोत्तर राजलक्ष्मी की वृद्धि को प्राप्त होंगे क्योंकि वे धर्मपरायण और पुण्यात्मा ही नहीं थे, वरन् दृढ़ सदाचारी भी थे। उन्होंने आजीवन कभी असत्य भाषण नहीं किया।

अनेक अल्पज्ञ मनुष्य समझते हैं कि भगवद्गीता तो बस युद्धभूमि में दो मित्रों के बीच का संवादमात्र है। वे नहीं जानते कि ऐसी साधारण पुस्तक शास्त्र के रूप में समादृत नहीं हो सकती। कुछ मूर्ख तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस करते हैं कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध जैसे अनैतिक कार्य के लिए उत्तेजित किया। यहाँ वस्तु-स्थिति को स्पष्ट किया गया है — भगवद्गीता नीति का परमोच्च उपदेश है। नौवें अध्याय में नीति का परमोच्च उपदेश यह है, **मन्मना भव मद्भक्तः**। श्रीकृष्ण का भक्त बन जाना, श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाना सम्पूर्ण धर्म का परम सार है। स्वयं श्रीभगवान् का अंतिम आदेश है, **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**। भगवद्गीता का उपदेश परम धर्म और परम नीति का पथ है। अन्य मार्ग शुद्धिकारी और अन्त में इस पथ की ओर ले जाने वाले हो सकते हैं; परन्तु 'भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाय', भगवद्गीता का यह अन्तिम आदेश सम्पूर्ण धर्म और नीति की अवधि है। यह अट्ठारहवें अध्याय का निर्णय है।

भगवद्गीता से बोध होता है कि दार्शनिक मनोधर्मी और ध्यान आदि आत्मानुभूति के पथ अवश्य हैं, परन्तु परम संसिद्धि तो पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाने में ही है। वस्तुतः यही भगवद्गीता के उपदेश का सार-सर्वस्व है। वर्ण और आश्रम तथा नाना धर्म-पथों के अनुसार संपादित होने वाले विधि-विधान के मार्ग को इस दृष्टि से गोपनीय ज्ञान का मार्ग कहा जा सकता है कि कर्मकाण्ड रहस्यमय हैं, अर्थात् जन-साधारण को इन की पूर्ण जानकारी नहीं है। परन्तु इन सब में कर्म, ध्यान और ज्ञान की उपाधियाँ रहती हैं। पूर्ण कृष्णभावनाभावित भक्तियोग के परायण होकर श्रीकृष्ण के शरणागत हो जाना ही वास्तव में परम गोपनीय उपदेश है और यही अट्ठारहवें अध्याय का मर्म है।

भगवद्गीता का एक अन्यतम वैशिष्ट्य है—पद-पद पर घोषित किया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही यथार्थ तत्त्व हैं। परमसत्य की अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म, एकदेशीय परमात्मा और भगवान् श्रीकृष्ण, इन तीन रूपों में होती है। परन्तु परमसत्य के पूर्ण ज्ञान का अर्थ है भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण ज्ञान। जो श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है, क्योंकि ज्ञान के सब विभाग श्रीकृष्ण के तत्त्वज्ञान के ही अंश हैं।

श्रीकृष्ण प्रकृति से परे, नित्य अपनी अंतरंगा शक्ति में स्थित हैं। जीवात्मा नित्यबद्ध और नित्यमुक्त, इन दो श्रेणियों में प्रकट हैं। जीवात्मा असंख्य हैं और उन्हें श्रीभगवान् का भिन्न-अंश माना जाता है। अपरा प्रकृति चौबीस तत्त्वों के रूप में प्रकट है। सनातन काल के द्वारा सृष्टि होती है और सृजन-प्रलय बहिरंगा शक्ति (अपरा प्रकृति) का कार्य है। इसी कारण यह प्राकृत सृष्टि पुनः-पुनः प्रकट-अप्रकट होती रहती है।

भगवद्गीता में श्रीभगवान्, अपरा प्रकृति, जीवात्मा, सनातन काल और कर्म—इन पाँच प्रधान तत्त्वों का निरूपण है। इनमें से अन्य चारों तत्त्व भगवान श्रीकृष्ण के आधीन हैं। भगवान् के ज्ञान में निर्विशेष ब्रह्म, एकदेशीय परमात्मा, आदि परमसत्य की सभी धारणाओं का समावेश है। यद्यपि बाह्य दृष्टि से भगवान्, प्रकृति, जीव और काल भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं; वास्तव में कुछ भी परमसत्य से भिन्न नहीं है। परन्तु साथ में, परमसत्य अन्य सब से सदा भिन्न है। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन 'अचिन्त्यभेदाभेद' कहलाता है। यह दर्शन ही परमसत्य का पूर्ण ज्ञान है।

जीवात्मा अपने आदिस्वरूप में शुद्ध आत्मतत्त्व है। वह तत्त्वतः परमात्मा-स्वरूप श्रीभगवान् का अणु-अंश है। परन्तु उस को श्रीभगवान् की तटस्था शक्ति कहा जाता है, क्योंकि उसमें परा और अपरा, दोनों ही शक्तियों के संग में आने की प्रवृत्ति रहती है। भाव यह है कि जीवात्मा श्रीभगवान् की दोनों शक्तियों के मध्य में स्थित है। परा शक्ति का अंश होने के कारण उसे अणुमात्र स्वतन्त्रता भी है। उस स्वतन्त्रता के सदुपयोग से वह साक्षात् श्रीकृष्ण के आदेश में आ जाता है। इस प्रकार उसे ह्लादिनी शक्ति में अपनी स्वरूपभूत स्वाभाविक स्थिति प्राप्त हो जाती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये अष्टादशोऽध्यायः।।

भक्तिवेदान्त चरितामृत

संसार दावानल लीढ लोक त्राणाय कारुण्य घनाघनत्वं।
प्राप्तस्य कल्याण गुणार्णवस्य वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम् ॥

"श्रीगुरुदेव करुणानिधि श्रीभगवान् से कृपा प्राप्त कर रहे हैं। जैसे मेघ दावानल पर जल बरसा कर उसे शान्त कर देता है, वैसे ही भगवत्कृपा-विग्रह गुरुदेव भगवत्कृपा का परिवर्षण कर भवरोग की प्रवृद्ध अग्नि को शान्त कर जगत् का उद्धार कर देते हैं।"

वैदिक शास्त्रों में इस संसार को दावानल की उपमा दी गई है। दावानल को कोई नहीं चाहता; फिर भी वन में अग्नि अपने आप प्रज्ज्वलित हो उठती है, जिससे वहाँ के निवासी निरीह जीवों को बड़ी पीड़ा होती है। परन्तु यदि भगवत्कृपा से कोई मेघमाला घिर आये और जल का परिवर्षण करके उस अग्नि को बुझा दे, तो वन और उसमें रहने वाले प्राणी, दोनों बच सकते हैं। ऐसे ही, श्रीकृष्ण की कृपा से जब सद्गुरु मानव समाज पर कृष्णभावनारूपी अमृत बरसाते हैं, तो जगत् के जीव दुःख और अज्ञान से मुक्त होकर श्रीकृष्ण की सेवा के परायण अपने यथार्थ सच्चिदानन्दमय जीवन को पा जाते हैं। जगत् के दुःखी जीवों के आर्त्तनाद से भगवान् श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपा एक ऐसे आचार्य के रूप में धरा पर उतरती है, जो सम्पूर्ण जगत् में आपामर-आचाण्डाल कृष्णनाम और कृष्णप्रेम का दान कर विश्व को तार देते हैं। इस कलियुग के दुःखी जीवों के उद्धार के लिए ही श्रीकृष्ण की कृपाशक्ति का श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्तस्वामी प्रभुपाद के रूप में अवतार हुआ। यह उल्लेखनीय है कि श्रील प्रभुपाद के जन्म वर्ष १८९६ में महान् आचार्य भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा लिखित एक पुस्तक के रूप में भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा-कृष्णभावनामृत का सन्देश सर्वप्रथम पाश्चात्य जगत् में पहुँचा। यह पुस्तक भगवत्प्रेम की उस बाढ़ की पूर्वघोषणा थी, जो सत्तर वर्ष के बाद श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों से प्रवाहित हुई है।

भगवान् के शुद्धभक्त के जीवन-चरित्र को लौकिक दृष्टिकोण से लिखना सम्भव नहीं है, क्योंकि शुद्धभक्त नित्यमुक्त हैं, उन्हें साधारण मनुष्य समझना अपराध है। श्रील प्रभुपाद का आविर्भाव कलकत्ता के एक वैष्णव कुल में हुआ। उनके माता-पिता शुद्ध भक्त थे, इसलिए जीवन के बाल्यकाल से उन्हें कृष्ण कथा सुनने को मिली। अपने 'कृष्ण' नामक ग्रन्थ का समर्पण उन्होंने इस प्रकार किया है:-

'मेरे पिता गौर मोहन दे (१८४९–१९३०) को, जो स्वयं शुद्ध कृष्णभक्त थे और जिन्होंने मुझे जीवन के प्रारम्भ से ही कृष्णभावनाभावित बनने की शिक्षा दी। मेरे बाल्यकाल में उन्होंने मुझे मृदंग बजानी सिखायी, अर्चना के लिए राधाकृष्ण का विग्रह दिया और जगन्नाथ रथ दिया, जिसमें मैं बालक्रीड़ा के रूप में रथयात्रा मना सकूँ। वे मुझ पर अनुग्रहशील थे और उनसे मैंने वे विचार धारण किये, जिन्हें कालान्तर में शाश्वत् पिता—गुरुदेव ने ठोस किया।'

पिता की विलक्षण शिक्षा

श्रीकृष्ण के नाम पर उनका नाम रखा गया—अभयचरण। उनके पिता घर में आने वाले साधुओं से कहते, "आशीर्वाद दीजिए कि मेरा पुत्र राधारानी का शुद्धभक्त बने।" बालावस्था में रेलों की समयसारिणी को देखकर वे विचार किया करते थे कि किस प्रकार इतना धन एकत्र हो जाय, जिससे कलकत्ते से भगवान् श्रीकृष्ण की लीला के नित्य धाम वृन्दावन जाया जा सके। श्रील प्रभुपाद ने एक बार कहा था, "मुझे ऐसा कोई समय याद नहीं, जब मैं कृष्णभावनाभावित नहीं था।" बाल्यकाल से यौवन में प्रवेश करने पर भी वे निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहे। श्रील प्रभुपाद ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से दर्शन, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और अंग्रेजी का अध्ययन किया। यद्यपि इस काल में श्रील प्रभुपाद ने वैवाहिक जीवन, व्यापार और राजनीति में भी प्रवेश किया, पर उन्होंने जीवन में कभी तम्बाकू, चाय अथवा काफी का सेवन नहीं किया। निःसन्देह इस विषय-परायण युग के प्रभाव में उत्तरोत्तर अधिक तथाकथित हिन्दू इन पापकर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं। परन्तु श्रील प्रभुपाद ऐसे 'हिन्दू' कभी नहीं थे। वे सदा शुद्ध वैष्णव थे, जो भारत की उस मूल संस्कृति का अनुसरण करते हैं, जिसका सार कृष्णप्रेम है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु के अनुसार वह मूल संस्कृति (वेद) केवल भारतीयों के लिए नहीं है, वरन् सम्पूर्ण विश्व के लिए उसका प्रयोजन है। विशेष रूप से, भारतवर्ष में उत्पन्न हुए सौभाग्यशाली मनुष्यों को सम्पूर्ण जगत् में इसका प्रसार करना चाहिए।

ऐतिहासिक मिलन

१९२२ में, छब्बीस वर्ष की आयु में दैव के विधान से उनकी भेंट उन महापुरुष से हुई, जो उनके गुरु बनने वाले थे। एक मित्र ने आग्रह किया कि वे उस समय के परम मान्य वैष्णव विद्वान, भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के दर्शनार्थ जायँ। प्रथम भेंट में ही भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने श्रील प्रभुपाद को, जो एक शिक्षित नवयुवक थे, आज्ञा दी कि वे भारतीय वेदों

का ज्ञान—कृष्णभावना पाश्चात्य जगत् में पहुँचायें। अभयचरण ने तर्क किया कि विदेशी भारत का उपदेश तभी सुनेंगे, जब वह राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ले। भक्तिसिद्धान्त गोस्वामी ने कहा कि आत्मा और भगवान् के ज्ञान की तुलना में राजनीतिक प्रभुत्व अथवा परतन्त्रता जैसी नश्वर वस्तु का कुछ भी महत्त्व नहीं है तथा कृष्णभावना के द्वारा ही वास्तव में मानवसमाज के सम्पूर्ण दु:ख दूर हो सकते हैं। श्रील प्रभुपाद कहा करते थे कि वे इस तर्क से परास्त हो गये और अपने भावी गुरु महाराज की दिव्य दृष्टि से बड़े प्रभावित हुए। वे लिखते हैं:

"मुझे विश्वास हो गया कि श्रीचैतन्य महाप्रभु का सन्देश ही दु:खी मानवता के उद्धार का एकमात्र उपाय है। मुझे यह भी विश्वास हो गया कि श्रीचैतन्य महाप्रभु का सन्देश परम कुशल भक्त के हाथ में है, इसलिए चैतन्य-सन्देश एक दिन अवश्य-अवश्य सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होगा।"

गृहस्थ में व्यस्त होने के कारण श्रील प्रभुपाद इस प्रथम भेंट में दिये गये आदेश को तुरन्त कार्यान्वित नहीं कर सके, परन्तु उन्होंने कहा कि वे इसे कार्यरूप देने के लिए सदा चिन्तन किया करते थे। उन्हें उन सन्त पुरुष से भेंट की स्मृति सदा बनी रहती, जो कालान्तर में उनके गुरु महाराज बने और जिनका आदेश उनके जीवन का प्राणधन बन गया। श्रील प्रभुपाद अपने व्यापार-कार्य में लग गए और साथ में भक्तिसिद्धांत सरस्वती के गौडीय मठ की सहायता भी करते रहे। उन्हें गुरु महाराज से दीक्षा प्रयागराज में १९३३ में प्राप्त हुई। गुरुदेव की अधिक प्रत्यक्ष सेवा करने की इच्छा से उन्होंने १९३६ में इस आशय का एक पत्र लिखा। उत्तर में भक्तिसिद्धान्त महाराज ने वही आज्ञा दी जो उनसे प्रथम भेंट में दी थी। इस मृत्युलोक से प्रयाण करने के केवल दो सप्ताह पूर्व लिखित पत्र में भक्तिसिद्धान्त गोस्वामी महाराज ने पुन: आग्रह किया, "अंग्रेजी जगत् में कृष्णभावना का प्रचार करो।" श्रील प्रभुपाद तुरन्त इस आदेश को कार्यरूप नहीं दे सके, क्योंकि उन्हें स्वयं को तैयार करना था तथा ग्रन्थों की रचना भी करनी थीं। एक समय वे भगवद्गीता पर भक्तिविनोद ठाकुर के भाष्य का स्वाध्याय कर रहे थे। भक्तिविनोद भक्तिसिद्धान्त गोस्वामी के पिता और आधुनिक काल में कृष्णभावनामृत आन्दोलन के जन्मदाता थे। उन्होंने लिखा है जैसे बद्ध अवस्था में शरीर को आत्मा से पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही एक शिष्य भी गुरु-आज्ञा को अपने जीवन-प्राण से अलग नहीं कर सकता। इस वाक्य का श्रील प्रभुपाद पर बड़ा प्रभाव हुआ और शनै: शनै: उनका सम्पूर्ण जीवन गुरु महाराज के आज्ञा पालन में समर्पित हो गया। गुरु-आज्ञा की पूर्ति के लिए ही उन्होंने १९४४ में भगवत् दर्शन पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

गुरुकृपा की पहली झलक

श्रील प्रभुपाद ने कहा है कि वे अपने गुरु महाराज से केवल दस-बारह बार ही मिल पाए। जिन दिनों श्रील भक्तिसिद्धांत इस संसार में थे, श्रील प्रभुपाद उन संन्यासियों में से नहीं थे, जो उनके साथ रहते थे। अतः यह आश्चर्यदायक प्रतीत हो सकता है कि भक्तिसिद्धांत जी के आदेश पर उनके सब शिष्यों में से श्रील प्रभुपाद ने ही विश्व में शुद्ध कृष्णभावना का प्रचार किया। परन्तु इसके लक्षण प्रारम्भ से ही थे। श्रील प्रभुपाद का अपने गुरुमहाराज को सुनने में बड़ा अनुराग था। उन्होंने बताया है कि यद्यपि पहले वे उन्हें समझ नहीं पाते थे, फिर भी गुरुमहाराज की वाणी को अन्त तक ध्यानपूर्वक सुनते रहते। उनके अपने शब्दों में, "उस समय मैंने भलीभांति श्रवण किया, इसीलिए अब भलीभांति कीर्तन कर सकता हूँ।"

एक बार व्यासपूजा के अवसर पर उन्होंने एक कविता लिखी, जिसमें यह पंक्ति थी—"परतत्त्व संवेदनशील है आप ने किया सिद्ध। निर्विशेष विपदा जिसे हुई रुद्ध।।" उनके गुरुदेव इससे हार्दिक प्रसन्न हुए और अपने सभी अतिथियों को इसे दिखाते। इस प्रकार प्रकट होता है कि श्रील प्रभुपाद अपने गुरु के मनोभाव को जानते थे। श्रील भक्तिसिद्धांत बड़े निर्भीक प्रचारक थे। वे चाहते थे कि उनके शिष्य कभी समझौता न करें। उनका उद्देश्य मायावाद को निरस्त करके इस सत्य को स्थापित करना था कि आत्मा का श्रीकृष्ण से शाश्वत् सम्बन्ध है। इस कार्य के लिए वे पुस्तकों के प्रणयन, प्रकाशन तथा वितरण को बड़ा महत्त्व देते थे। ग्रन्थ प्रकाशन और वितरण से उन्हें अपार हर्ष होता। अतएव १९४४ में अपने प्रथम प्रयास, 'भगवत्-दर्शन' का सूत्रपात करके श्रील प्रभुपाद ने सिद्ध किया कि वे अपने गुरुमहाराज की आन्तरिक इच्छा को जानते थे।

विश्वव्यापी प्रचार की तपोभूमि

१९५० में श्रील प्रभुपाद वैवाहिक जीवन से निवृत्त हो गए, उन्होंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया। तत्पश्चात् १९५६ में वृन्दावन धाम की यात्रा की, जो उनकी बाल्यकाल की इच्छा थी। वहीं १९५६ में उन्होंने संन्यास ग्रहण किया। वे दीनभाव से राधादामोदर मन्दिर के बड़े ही सात्विक और पावन स्थान में रहने लगे। यह वही स्थान है जहां चार सौ वर्ष पूर्व श्रीरुप आदि छः गोस्वामी विराजते थे। राधादामोदर में ही उन्होंने सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत का अंग्रेजी में अनुवाद और भाष्य करने का गुरुतर कार्य आरम्भ किया। इस कार्य में उन्हें वर्णनातीत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। श्रीलप्रभुपाद स्वयं पूरी पाण्डुलिपि को टाईप करते, प्रेस में लेजाते,

छपवाते और वितरित करते थे। प्रकाशन का कार्य दिल्ली में चलता था। इसलिए वे वृन्दावन और दिल्ली के बीच आते-जाते रहते। उसी समय उन्होंने 'सार्वभौम भक्त समाज' की स्थापना की थी, जिसने बाद में अंतर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ का बृहद् रूप धारण किया। इस काल में श्रील प्रभुपाद भारत में अनेक सज्जनों के पास जाकर कहा करते थे, "महोदय ! आपके तीन-चार पुत्र है; उनमें से एक मुझे दीजिए, जिससे मैं उसे पारमार्थिक शिक्षा दे सकूं।" परन्तु किसी ने भी उनके निवेदन पर ध्यान नहीं दिया। इसलिए इच्छा होने पर भी श्रील प्रभुपाद हरेकृष्ण आन्दोलन का सूत्रपात भारत में नहीं कर सके। प्रचार-कार्य को बढ़ाने के लिए उन्हें अन्य स्थानों पर शिष्य ढूंढने पड़े।

अद्वितीय भगवद्विश्वास—विलक्षण साहस

राराधादामोदर में रहते हुए वे सदा यही चिन्तन करते रहते कि तीस वर्ष पहले मिली गुरु-आज्ञा को पूर्ण करने के लिए किस विधि से श्रीचैतन्य महाप्रभु की वाणी का संपूर्ण विश्व में प्रसार किया जाय। भगवान् चैतन्यदेव ने भविष्यवाणी की थी, "विश्व के प्रत्येक नगर-ग्राम में मेरे नाम का कीर्तन होगा।" श्रील प्रभुपाद को विश्वास था कि एक दिन यह अवश्य होकर रहेगा और इसलिए वे सदा इसके लिए उपयुक्त साधन पर विचार करते थे। अन्त में, श्रीमद्भागवत के तीन खण्ड प्रकाशित कर लेने पर, श्रील प्रभुपाद ने विचार किया, "यद्यपि मेरी आयु बहुत अधिक हो चुकी है और सामान्यत: मेरी आयु का कोई भी मनुष्य वृन्दावन को छोड़ने की कभी नहीं सोचेगा, फिर भी देखूँ, कदाचित् इस समय गुरु महाराज के आदेश का पालन कर सकूं।" उन्होंने अमेरिका जाने का निश्चय किया। एक मित्र ने जलयान के टिकिट की व्यवस्था कर दी। इस समय श्रील प्रभुपाद सत्तर वर्ष के हो चुके थे तथा लौकिक क्रियाओं से निवृत्त होकर वर्षों से वृन्दावन धाम में निवास कर रहे थे। सहज जिज्ञासा होती है कि इतने वर्ष बाद उन्होंने अमरीका जाने का निर्णय क्यों किया ? वे सर्वथा अकेले थे; ऐसे में उन्हें क्या आशा थी कि वे उन अमरीकी लोगों में कृष्णभावना के प्रति रुचि जागृत कर सकेंगे, जो माँस, परस्त्रीगमन, द्युत और मद्यपान—इन वेद-विरुद्ध पापकर्मों में ही सदा तत्पर रहते है ? लौकिक जीवनीकार इस सम्बन्ध में नाना प्रकार की कपोल कल्पनायें करते हुए भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के जीवन पर अनेक मनोवैज्ञानिक मत प्रस्तुत करते है कि क्यों उन्होंने इतने अधिक काल तक अपने को तैयार किया और अन्त में सफलता की संभावना के बिना ही असहाय अवस्था में अमरीका गए। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि गुरु और श्रीकृष्ण के प्रति पूर्णतया शरणागत महापुरुषों

के कार्यकलाप को ऐसी मनोधर्मी से नहीं समझा जा सकता। यह नितान्त सत्य है कि परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण को लौकिक तर्क से जानना सम्भव नहीं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के शुद्धभक्त को भी भक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य विधि से नहीं जाना जा सकता (**भक्त्या मामाभिजानाति**)।

याँर चित्ते कृष्णप्रेम करये उदय।
तार वाक्य क्रिया मुद्रा विज्ञेह न बुझय।।

"परम विद्वान् मनुष्य भी कृष्णप्रेमी महापुरुष के वाक्यों, क्रियाओं और लक्षणों को नहीं समझ सकते।" (चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला २३.२६)

कृष्ण का समसामयिक पदार्पण

श्रील प्रभुपाद और कृष्णभावना का १९६५ में न्यूयार्क में आगमन उस समय हुआ, जब अमरीका के युवा वर्ग में हिप्पी-संकट उठ रहा था। ये हिप्पी भौतिकता से ऊब कर विषयों से परे जीवन के वास्तविक अर्थ का अन्वेषण कर रहे थे। अत: शुद्धभक्त के आगमन के लिए इससे उपयुक्त समय नहीं हो सकता था। देखा जाय तो पाश्चात्य जगत् में हरे कृष्ण आन्दोलन के सूत्रपात के लिए यह स्वयं श्रीकृष्ण की व्यवस्था थी।

जलदूत नामक जलयान पर दो सप्ताह की अमरीका यात्रा में श्रील प्रभुपाद स्वय अपने लिए भोजन बनाते। वे हृदय रोग से पीड़ित हो गए। जैसा उन्होंने दैनन्दिनी में लिखा है, चैतन्यचरितामृत में अवगाहन करने से ही उन्हें सान्त्वना मिलती। यान १७ सितम्बर, १९६५ को वोस्टन पहुँचा। अमरीका में पदार्पण करते समय श्रील प्रभुपाद के पास पूँजी थी—श्री चैतन्य महाप्रभु की महती कृपा, गुरुकृपा, श्रीमद्भागवत और गीता तथा अखण्ड अनन्त दिव्य भगवत्स्वरूपाभिन्न कृष्णनाम की परम आश्रयता। जलयान से उतरने पर उनकी दृष्टि पाश्चात्य जनता की विषयपरायणता पर गई और अपने कार्य की सुदुष्करता का भान हुआ। उन्होंने परमदीन भाव से श्रीकृष्ण के चरणों में प्रार्थना की। निष्किचन होने पर भी उन्हें पूर्ण विश्वास था कि श्रीमद्भागवत की कथा अमेरिका की आसुरी जनता को भी आकर्षित कर लेगी। श्रील प्रभुपाद की इस सत्य में दृढ़ आस्था थी कि जीवमात्र श्रीकृष्ण का नित्य दास है, अत: कृष्णभावना अमरीकी जनता के हृदयों को शुद्ध करके उनको सच्चे दिव्य स्वरूप को आकर्षित करेगी। श्रीकृष्ण के पूर्ण शरणागत शुद्धभक्त के पास उस समय केवल चालीस रुपए थे। उन्होंने कहा है कि यान से उतरने पर उन्हें पता नहीं था कि वे दायें मुड़ें या वायें। अमरीका में उनका कोई परिचय नहीं था। कुछ काल तक वे

बटलर नगर में रहे। परन्तु फिर लगभग एक वर्ष तक उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा, जिसकी साधारणतया कल्पना भी नहीं की जा सकती। बटलर में रहने के बाद श्रील प्रभुपाद को न्यूयार्क के एक आश्रम में रहने का निमन्त्रण मिला। यह एक ऐसे भारतिय 'गुरु' द्वारा संचालित था, जिसने पाश्चात्य रहन-सहन अपना लिया था। उसके कुछ शिष्य भी थे। उसने श्रील प्रभुपाद को सूचित किया कि पाश्चात्य में रहने के लिये वहां के रहन-सहन, वेष-भूषा, माँस आहार तथा मद्यपान को अंगीकार करना आवश्यक होगा। उसने तो श्रील प्रभुपाद को छुरी-कांटे से खाना सिखाने का भी प्रयत्न किया। परन्तु पाश्चात्य रहन-सहन को अपनाने के स्थान पर श्रील प्रभुपाद वैदिक विधि से दाल, चावल और रोटी बनाते, श्रीकृष्ण को भोग लगाते और आश्रमवासियों को बाँटते, जो यह प्रसाद पाकर बडे प्रसन्न होते। उन्होंने पहले कभी कृष्णप्रसाद नहीं खाया था। पाश्चात्यवादी गुरु ने भी स्वीकार किया कि प्रभुपाद द्वारा बनाए गए भोजन को खाने पर ही वह स्वस्थ हो सका। श्रील प्रभुपाद ने भौतिकता के गढ़, अमरीका में भी अपने सिद्धांतों से कभी समझौता नहीं किया। वे प्रायः कहा करते थे कि शुद्धता ही हमारा बल है। उनका उद्देश्य भवरोग के लिए उचित औषधि देना था, चाहे पहले-पहले वह कटु ही क्यों न लगे। उत्तरकाल में भी जब कोई भक्त नियमित रूप से हरेकृष्ण मन्त्र का जपकीर्तन करता और चार प्रधान वैदिक नियमों (मांस भक्षण-निषेध, मद्य-निषेध, द्युत-निषेध और परस्त्रीगमन-निषेध) का पालन करता, तभी वे उसे दीक्षित शिष्य बनाते।

श्रील प्रभुपाद का अभी तक कोई निश्चित स्थान नहीं था। श्रीमद्-भागवत के तीन खण्डों की कभी-कभी बिक्री के द्वारा किसी तरह वे काम चलाते थे। परन्तु एक दिन उनका सारा सामान चोरी हो गया।

इसके बाद एक नवयुवक ने उन्हें अपने साथ नगर के उस भाग में रहने को आमन्त्रित किया, जो हिप्पियों का गढ़ था। एक परिचित ने जब यह सुना तो वह अवाक् रह गया। उसने विरोध किया, "नही स्वामी आप वहाँ नही जा सकते। वह तो नरक है।" परन्तु शुद्धभक्त के पास कोई और निमन्त्रण नहीं था, इसलिए वे वहीं चले गए और भगवद्गीता का सत्संग करने लगे। श्रील प्रभुपाद ने कहा है कि उनके द्वार के सामने सड़क पर बहुत से निराश युवक पड़े रहते थे, पर उनके मार्ग में जाते समय वे हट जाते और उनसे साधु व्यवहार करते। परन्तु श्रील प्रभुपाद का आतिथेयी, जो एल्. ए. डी. का प्रयोग करता था, विक्षिप्त हो गया और श्रील प्रभुपाद और अधिक वहां नहीं रह सके।

हरेकृष्ण महामन्त्र

एक दिन श्रील प्रभुपाद को नगर के मैनहेटन नामक भाग में जाने का निमन्त्रण मिला, जहाँ बहुत से तरुण रहते थे। श्रील प्रभुपाद को वह स्थान प्रचार के लिए अच्छा प्रतीत हुआ। अतः वे नियमित रूप से टाम्किन पार्क में जाकर पेड़ के नीचे हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन करने लगे—**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।"** तरुण वर्ग आकृष्ट हुआ। बहुत से नवयुवक, जो अपनी दुःखमयी परिस्थितियों से मुक्त होने के लिए किसी पथ का अन्वेषण कर रहे थे, आकर बैठ जाते और साथ कीर्तन करते। श्रील प्रभुपाद जगत् के जीवों के लिए करुणा से ओतप्रोत थे। उत्तरोत्तर अधिक लोग शुद्धभक्त की ओर आकृष्ट होने लगे। फिर क्या था! भगवद्भाव की मन्दाकिनी बह चली। तुमुल संकीर्तन, उद्दाम नृत्य और कृष्णभावना-दर्शन पर प्रवचन। कुछ काल तक यही क्रम चलता रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

जुलाई, १९६६में श्रील प्रभुपाद को एक कक्ष की प्राप्ति हुई। इसी में उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ (इस्कोन) का प्रथम केन्द्र स्थापित किया। इस्कोन भक्तियोग के उन सिद्धान्तों पर आधारित है, जिनका प्रतिपादन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में किया है। श्रील प्रभुपाद प्रतिदिन प्रातः ६ बजे तथा सोमवार, बुधवार और शुक्रवार को सायं ७ बजे सत्संग करते। हरेकृष्ण महामन्त्र का संकीर्तन इस सत्संग का अभिन्न अंग था। दस-बारह युवकों का दल नियमित रूप से आता। कुछ महीनों के बाद श्रील प्रभुपाद ने दीक्षा दी और उनके प्रथम अमरीकी शिष्यों का जन्म हुआ। उन्होंने उनका विषयों से भरे संसार से उद्धार किया और एक उद्देश्यपूर्ण, रचनात्मक जीवन का मार्ग प्रशस्त किया। इस भक्त संघ का उदय एक ऐतिहासिक घटना है, जिसका श्रेय श्रील प्रभुपाद की दिव्य दृष्टि को है। एक भक्त ने गाया है, **ताँदेर चरण सेवी भक्त सने वास।**—मेरी बस यही अभिलाषा है कि मैं छः गोस्वामियों के चरणों की सेवा करूँ और उनके भक्तों का संग नित्य प्राप्त रहे। यह भाव कृष्णभावना का सार है। इसी से प्रेरित होकर श्रील प्रभुपाद ने वर्षों पहले एक विश्वव्यापी भक्त संघ का स्वप्न देखा था। परमार्थ के पथ पर अकेले उन्नति करना कठिन हो सकता है, परन्तु भक्तों के संग में, एक ही उद्देश्य से कार्य करने पर उत्थान सरल और द्रुत होता है। साथ ही, परस्पर सहयोग करते हुए संघबद्ध भक्त सम्पूर्ण विश्व में कृष्णभावना के प्रचार कार्य में अद्भुत सफलता प्राप्त कर सकते हैं। शुद्धभक्त जानता है कि श्रीकृष्ण सबके परमेश्वर, परम भोक्ता

और जीवमात्र के सुहृद हैं। इसलिए स्वयं पूर्ण रूप से भगवत्प्राप्त होते हुए भी वह दूसरों के कल्याण के लिये चाहता है कि विश्व में भक्तों का एक ऐसा संघ बने, जिसमें सब लोग एक साथ श्रीकृष्ण की सेवा कर सकें और इस प्रकार सुखी हो जायें। यही उनकी इच्छा थी।

इस दिव्य भावना से प्रेरित होकर श्रील प्रभुपाद ने विश्वास के साथ इस संघ की स्थापना की, सावधानीसहित पोषण और वर्धन किया तथा विकास और पवित्रता बनाए रखने के लिए शिष्यों को प्रशिक्षित किया। इस सबका परिणाम यह है कि आज इस संघ ने एक ऐसे यथार्थ संयुक्त राष्ट्र का रूप धारण कर लिया है, जिसमें किसी भी भेदभाव के बिना जगत् के समस्त निवासी श्रीकृष्ण की सेवा में एक हो सकते है। आज इस संघ में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, यहूदी, पारसी, भारतीय, योरुपीय, अमरीकी, अफ्रीकी—सभी वर्ग, देश, मत और व्यवसाय के लोग सम्मिलित होकर भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में एक प्राण हो गए है। वास्तव में यही असली संयुक्त राष्ट्र है।

अतुलनीय उत्साह

कृष्णभावना संघ के आरम्भिक दिनों में श्रील प्रभुपाद स्वयं सारी व्यवस्था देखते थे। वे भक्तों के लिए प्रसाद बनाते, मृदंग बजाते, कीर्तन करते, प्रवचन करते, खर्चा करते, दूरभाष पर उत्तर देते, पाण्डुलिपि और पत्र टाइप करते, पत्र डाक में डालते, सफाई करते, पूजा करते, इत्यादि। उन्होंने कभी किसी से सहायता करने को नहीं कहा, जब तक कि कोई स्वयं आगे बढ़कर यह नहीं पूछता कि "स्वामीजी! क्या मैं आप की सहायता कर सकता हूँ?" उन दिनों वे एक नवयुवक की शक्ति के अनुरूप श्रम करते थे। लौकिक दृष्टि से उन्होंने अतिश्रम किया। उनके प्रथम शिष्य अधिकांश में भूतपूर्व हिप्पी थे। उन्हें वैदिक संस्कृति और सदाचार का कुछ भी ज्ञान नहीं था। अतः सब कुछ शनैः शनैः आना था; श्रील प्रभुपाद उनके अज्ञान-जनित अपराधों को सहन करते रहे। वे बस इतना चाहते थे कि हरे कृष्ण महामन्त्र का जप और गुरुसेवा करके वे सुखी हों।

१९६६ से श्रील प्रभुपाद की जीवनी इस्कोन के जीवन और विस्तार तथा उनके ग्रन्थों के प्रकाशनों से अभिन्न है।

विश्वभर में राधाकृष्ण मन्दिरों की स्थापना

१९६७ में सान फ्रांसिस्को, मौन्ट्रियल और बोस्टन में और १९६८ में लास एंजिलिस, डेट्रोईट, फिलाडेल्फिया आदि नगरों में राधाकृष्ण

मन्दिरों की स्थापना हुई। पिछले दशक में श्रील प्रभुपाद ने अमरीका, योरुप, अफ्रीका, एशिया और आस्ट्रेलिया के लगभग पचास देशों में १२० से अधिक मन्दिरों की स्थापना की है। उनमें से कुछ उन्होंने स्वयं स्थापित किये और कुछ शिष्यों द्वारा स्थापित कराये। यह भी श्रील प्रभुपाद की मूर्धन्य प्रतिभा का एक पक्ष था। वे स्वयं तो श्रीकृष्ण की सेवा करने में कुशल थे ही, साथ में दूसरों को भी इसके लिए शिक्षित करने में पारंगत थे। मंदिर को कैसे चलाना चाहिए, उन्होंने इसका प्रत्यक्ष आदर्श उपस्थित किया। अपने शिष्यों को उन्होंने स्वयं मंदिर-मार्जन, सत्संग करने, प्रसाद बनाने और भक्तों में वितरण करने, श्रीकृष्ण के लिए फलफूल लगाने, यहाँ तक कि हिसाब रखने और मंदिर आदि खरीदने की भी शिक्षा दी। वे स्वयं प्रत्येक कार्य पूर्ण सिद्ध रूप से करते थे और अनवरत भक्तिभाव से सम्पूर्ण विश्व में भ्रमण करते हुए अपने शिष्यों को भी सिद्ध रूप में सिखाते रहे, जिससे वे उनका अनुगमन करते हुए जनकल्याणार्थ कृष्णभावना का प्रचार करते रहें। प्रत्येक मंदिर में श्रील प्रभुपाद ने श्रीराधाकृष्ण की मूर्ति की स्थापना की। विषयी मनुष्य को भगवत्-मूर्ति काष्ठ-पाषाण से कुछ भी अधिक नहीं दीखती; परन्तु वैदिक ज्ञानरूपी नेत्रों वाला उत्तम भक्त जानता है कि भगवत्-मूर्ति साक्षात् श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं है; मूर्ति-पूजा के बिना हृदय का सोया भगवत्प्रेम जागृत और अभिवृद्ध नहीं होता। श्रीमूर्ति के सम्मुख जाने पर श्रील प्रभुपाद को साक्षात् श्रीकृष्ण का दर्शन होता, प्रेम-अश्रुओं से उनके नेत्र भर आते और अपने को श्रीमूर्ति का दीन सेवक समझ कर वे भक्तिभाव से दण्डवत् प्रणाम करते थे। लन्दन और बम्बई में मूर्तिपूजा के लिए उन्होंने निजी रूप से स्वेच्छापूर्वक जो-जो कष्ट सहा उसका पूरा बोध तो उनके शिष्यों को भी नहीं है। श्रील प्रभुपाद की सम्पूर्ण महिमा तो बस श्रीकृष्ण ही जानते हैं।

रथयात्रा महोत्सव

१९६८ में श्रील प्रभुपाद ने अपनी शैशवकालीन क्रीड़ा, रथयात्रा को बृहद् रूप दिया—सान फ्रान्सिस्को में प्रथम रथयात्रा महोत्सव हुआ। आज विश्व के सभी प्रधान नगरों में प्रतिवर्ष यह महोत्सव मनाया जाता है। इस विधि से श्रील प्रभुपाद ने करोड़ों लोगों को हरेकृष्ण कीर्तन और नृत्य करने, कृष्णप्रसाद खाने और भगवान् के धाम को लौटने का अवसर दिया है।

जगत् को कृष्णप्रसाद का दान

श्रील प्रभुपाद की इच्छा थी कि कि सम्पूर्ण विश्व कृष्णप्रसाद का आस्वादन करे। उन्होंने स्वयं अपने शिष्यों को वैदिक विधि से नाना प्रकार

के भोजन बनाना सिखाया है। कृष्णप्रसाद खाने से जिह्वावेग और उदरवेग की भलीभाँति तृप्ति तो होती ही है, इसके अतिरिक्त भगवद्गीता के अनुसार कृष्णप्रसाद के सेवन से पूर्वपापों का नाश और पारमार्थिक उत्थान होता है। इस प्रकार शुद्ध हुआ पुरुष द्वन्द्वों और मोह से मुक्त होकर श्रीभगवान् की भक्ति के योग्य हो जाता है। अत: श्रील प्रभुपाद को बड़ी इच्छा थी कि सारा विश्व कृष्णप्रसाद का आनन्द ले। अनेक अवसरों पर वे स्वयं प्रसाद बनाकर शिष्यों को खिलाया करते थे। यही था श्रील प्रभुपाद का कार्यक्रम —कीर्तन, नृत्य, दर्शन और प्रीतिभोज।

कोई भी मनुष्य श्रील प्रभुपाद के किसी भी मन्दिर में जाकर विशिष्ट कृष्णप्रसाद पा सकता है। विशेष रूप से, रविवार के दिन प्रत्येक मन्दिर में अतिथियों के लिए प्रीतिभोज का आयोजन किया जाता है। भारत में, जहाँ अन्न का अभाव बहुत से मनुष्यों के लिए एक दैनिक समस्या है, श्रील प्रभुपाद ने इस्कोन अन्न सहायता कार्य प्रारम्भ किया है, जिसके अंतर्गत टनों प्रसाद वितरित किया जाता है।

सात्त्विक भगवत्परायण जीवन

सात्त्विक जीवन और उच्च विचार—इस वैदिक सिद्धान्त का व्यावहारिक आदर्श और महत्त्व प्रकट करने के उद्देश्य से श्रील प्रभुपाद ने अमरीका, योरुप, आस्ट्रेलिया और भारत में बारह कृष्णभावनाभावित कृषिक्षेत्र स्थापित किए है। इनके द्वारा श्रील प्रभुपाद का उद्देश्य मानवसमाज में वर्णाश्रमधर्म को फिर से स्थापित करना है। इन समाजों में निवास करने वाले श्रील प्रभुपाद के शिष्य गोरक्षा, कृषि आदि विविध कृत्यों से श्रीकृष्ण की आराधना (सेवा) करते हुए उस वैदिक पथ को प्रशस्त कर रहे हैं, जिस पर चलने से सभी आर्थिक समस्याओं का समाधान हो जाता है और अन्त में, मानवजीवन की परम सिद्धि, भगवत्-प्राप्ति भी हो जाती है।

शुद्ध इन्द्रियों के द्वारा विज्ञान और कला से भगवान् की सेवा

श्रील प्रभुपाद कोई साम्प्रदायिक नेता नही थे। उन्होंने तो सम्पूर्ण मानव समाज को फिर अध्यात्म-परायण बनाने के लिए एक सांस्कृतिक आन्दोलन प्रारम्भ किया है। संगीत, नृत्य, चित्रपट, आदि सभी की उपयोगिता हैं, यदि इनसे केवल श्रीकृष्ण का यशोगान किया जाय। इससे इन्द्रियाँ शुद्ध हो जायेंगी और हृदय में शाश्वत् कृष्णप्रेम फिर जागृत हो जायगा। आज संपूर्ण विश्व श्रील प्रभुपाद के पारंगत और दिव्य मार्गदर्शन में प्रस्तुत भारत की अविनाशी वैदिक संस्कृति को भगवत्प्राप्ति के मार्ग के रूप में अंगीकार कर रहा है।

कला ही क्यों, श्रील प्रभुपाद ने सिखाया है कि विज्ञान का लक्ष्य भी परतत्त्व होना चाहिए। श्रील प्रभुपाद वर्तमान में प्रचलित उन सभी मतों का निर्भीक विरोध करते थे, जो जड़ प्रकृति को जीवन और चेतना का स्रोत मानते हैं और जिनमें किसी दिव्य शक्ति अथवा ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। वे कहा करते थे कि ऐसे मत मूढ़ों और मूर्खों के ही योग्य हैं। वस्तुतः उन्होंने आत्मविद्या को इतनी तर्कपूर्ण और विश्वासोत्पादक विधि से प्रस्तुत किया कि बहुत से वैज्ञानिक तक उनके शिष्य बनने को आगे आए हैं। इन वैज्ञानिकों ने भक्तिवेदान्त इन्स्टीट्यूट स्थापित किया है। इस स्नातकोत्तर संस्थान का उद्देश्य भौतिकी, रसायन, खगोल, गणित, जीवशास्त्र आदि विज्ञानों के द्वारा वैदिक परम सत्य को सिद्ध करना है।

पाश्चात्य में गुरुकुल स्थापना

आज विश्व में कहीं भी ऐसा विद्यालय नहीं है, जहाँ बालकों को वैदिक विधि से पवित्रता, इन्द्रियसंयम और कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी जा सके। अतः भावी पीढ़ियों के कल्याण के लिए श्रील प्रभुपाद ने वैदिक गुरुकुल का एक बार फिर प्रचलन किया है। गुरुकुल में बालकों को हिन्दी, अंग्रेजी, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान आदि लौकिक विषयों की शिक्षा तो दी जाती है; इसके अतिरिक्त, वहाँ बालक शैशवकाल से ही इन्द्रियसंयम और श्रीकृष्ण पर मन को एकाग्र करना सीखता है। दुर्लभ मानवजीवन की सार्थकता इसी में है। श्रील प्रभुपाद ने विश्वभर में अनेक गुरुकुल स्थापित किए हैं। विशेष रूप से, वृन्दावन में एक बृहद् भक्तिवेदान्त गुरुकुल का निर्माण हुआ है, जिससे नन्हें बालक मानवजन्म का पूरा लाभ उठा सकें। श्रील प्रभुपाद का अपने गुरुकुल के बालकों से बड़ा स्नेह था और वे भी उन्हें बहुत ही प्यारे थे। श्रील प्रभुपाद जन्म से कृष्णभावनाभावित बालक थे। अब गुरुकुल के रूप में वे ऐसी व्यवस्था कर गए हैं, जिससे जगत् के मंगल के लिए युगों तक कृष्णभावनाभावित बालकों का जन्म होता रहेगा।

भारत पर प्रभुपाद-प्रसाद

वैदिक शास्त्रों में भारतभूमि की बड़ी महिमा है। अनादि काल से भारत आध्यात्मिक ज्ञान और संस्कृति का केन्द्र रहा है। वैदिक शास्त्रों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में संपूर्ण विश्व एक राज्य के अंतर्गत था, जिसकी राजधानी भारत में थी। श्रीमद्भागवत में तो यहाँ तक कहा गया है कि विश्व में आत्मविद्या का ह्रास होने पर भी, जैसा इस युग में हो रहा है, भारत में अध्यात्मचेतना का संचार फिर बड़ी शीघ्र किया जा सकता है। अतएव श्रील प्रभुपाद ने जीवन के अंतिम सात वर्षों में भारत की ह्रासो-

न्मुग आध्यात्मचेतना को फिर अनुप्राणित करने में बड़ा परिश्रम किया है। भारत मे विशेष रूप से वे स्वयं अपनी संस्था को पूरी व्यवस्था देखते रहे। उन्होंने भारत में व्यापक रूप से भ्रमण किया और अनेक नगरों में अपने संघ के मन्दिर स्थापित किए। पिछले आठ वर्षों में उनका अधिकांश समय भारत में ही व्यतीत हुआ। हैदराबाद में उन्होंने एक बृहद कृषि योजना प्रारम्भ की है तथा बम्बई में विशाल वैदिक शिक्षा और संस्कृति केन्द्र के निर्माण की प्रेरणा दी है। भव्य मन्दिर, विशाल थियेटर, प्रसाद रेस्तरां, स्टूडियो, वैदिक पुस्तकालय, अतिथिप्रासाद तथा पारचित्रों से युक्त इस अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र का उद्घाटन १४ जनवरी १९७८ को हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण की पावन लीलाभूमि, श्रीधाम वृन्दावन में श्रील प्रभुपाद ने भव्य कृष्णबलराम मन्दिर और अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि-आवास बनाया। श्रीचैतन्य महाप्रभु की अविर्भाव स्थली, मायापुर (प बंगाल) में तो एक पूरा का पूरा वैदिक वर्णाश्रम नगर ही बनाने की योजना है। ५०,००० निवासियों के इस नगर के मध्य में बनने वाला मन्दिर विश्व में सब से बड़ा होगा। यह नगर भारतवर्ष और सारे जगत् के आगे वैदिक संस्कृति और कृष्णभावना के परायण समाज का आदर्श उपस्थित करेगा। भुवनेश्वर, दिल्ली, श्रीलंका, कुरुक्षेत्र, अहमदाबाद, पुरी, चण्डीगढ़ आदि स्थानों के लिए भावी योजनायें बन चुकी है।

वैदिक ग्रन्थरत्न

निस्सन्देह मानवता के कल्याण के लिए श्रील प्रभुपाद का महादान उनके ग्रन्थ है। उन्होंने सत्तर से अधिक ग्रन्थो में भारत के अनादि वैदिक शास्त्रों का अंग्रेजी मे अनुवाद और भाष्य किया है। विशेष रूप से श्रीमद्-भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत को उन्होने सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का सार-सर्वस्व माना है। उन्होंने निम्नलिखित ग्रथो का भी अनुवाद किया. चैतन्य-चरितामृत, भक्तिरसामृतसिन्धु, श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत, ईशोप-निषद्, कृष्ण, उपदेशामृत आदि। उनका विश्वास था कि इन ग्रन्थो में सन्निहित ज्ञान-भण्डार के द्वारा ही विषयो से परिपूर्ण जगत् का उद्धार हो सकता है। शिष्यों ने उनके ग्रन्थों को चीनी, जापानी,, अफ्रीकी आदि विश्व की तीस भाषाओ में अनूदित किया है। इनमे से बहुत सी भाषाओं में यह पहला अवसर है कि सनातनधर्म की शिक्षा का अनुवाद हुआ। श्रील प्रभुपाद ने अपने ग्रन्थो में जिस विद्वत्ता और भक्तिभाव को प्रकट किया है वह वाणी का विषय नही हो सकता। मूर्धन्य विद्वानो ने इन दिव्य ग्रन्थों की भूरी-भूरी प्रशंसा की है। अमरीका के नब्बे प्रतिशत से अधिक विश्व-विद्यालयों और कालेजों मे श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थो को स्थान प्राप्त हो चुका

है। इससे भी अधिक, संसार भर में लोगों ने श्रील प्रभुपाद की वाणी का स्वाध्याय किया है और उनसे जीवन की धारा एकदम बदल गई है। अतः आश्चर्य नहीं कि कम्युनिस्ट देशों में भी भक्त बने हैं। श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों की विद्वत्ता और साहित्य सम्बन्धी महत्ता तो है ही। इसके अतिरिक्त, भगवत्कृपा के मूर्तरूप होने के कारण उनके ग्रन्थों में ऐसी दिव्य शक्ति है कि वे जीव का जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि के दुःखों से पूर्ण इस संसार से उद्धार कर उसे भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करा सकते हैं। जो मनुष्य कलियुग के कारण अपनी पारमार्थिक दृष्टि खो बैठे हैं, वे कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों से दिव्य आलोक प्राप्त कर सकते हैं। इन ग्रन्थों के आधार पर ही वस्तुतः हरेकृष्ण आन्दोलन का इतना विस्तार हो सका है।

नगर-नगर में, ग्राम-ग्राम में

श्रील प्रभुपाद को ग्रन्थों के लिखने और छापने से ही संतोष नहीं होता। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि मानवसमाज में व्यापक जागृति के लिए वैदिक ज्ञानग्रन्थों का जन-जन में विपुल वितरण हो। श्रील प्रभुपाद से प्रेरणा पाकर उनके शिष्यों ने पिछले दस वर्षों में सात करोड़ से अधिक ग्रन्थों का वितरण किया है। अकेली 'श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप' लगभग एक करोड़ की संख्या में छप चुकी है। इस अभूतपूर्व सफलता का रहस्य बस इतना है कि श्रील प्रभुपाद ने वैदिक ज्ञान को निजी अर्थ किए बिना, उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि सारे विश्व में वैदिक ज्ञान और संस्कृति की यथार्थ महिमा का जय-जयकार हो रहा है। श्रील प्रभुपाद प्रायः कहा करते थे कि उन्हें तब तक संतोष नहीं होगा, जब तक विश्व के घर-घर में भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत का प्रवेश न हो जाय। निःसन्देह श्रील प्रभुपाद की अपार दिव्य कृपा के प्रताप से उनका यह स्वप्न भी शीघ्र साकार होगा।

यथार्थ जगद्गुरु

श्रील प्रभुपाद के जीवन और कार्य से स्पष्ट है कि वे यथार्थ आचार्य और जगद्गुरु थे। उन्होंने जो कुछ कहा, उसका जीवन में स्वयं अक्षरशः आचरण किया। उनकी शिक्षा साम्प्रदायिक नहीं थी। उन्होंने उस सनातन भागवतधर्म का जगत् में प्रवर्तन किया है, जिसका प्रणयन स्वयं श्रीभगवान् ने किया है और जो जीवमात्र का स्वरूप है। श्रील प्रभुपाद ने जगत् को सिखाया है कि जीव भगवान् श्रीकृष्ण का नित्यदास है। यही उसका स्वरूप धर्म है। किसी वस्तु के 'धर्म' का तात्पर्य उस गुण से होता है, जिसे उससे अलग नहीं किया जा सकता। जैसे अग्नि का धर्म जलाना है, वह कभी किसी

को शीतलता नहीं दे सकती। इसी प्रकार, प्रत्येक जीव का श्रीकृष्ण से शाश्वत् सम्बन्ध है और उनकी सेवा करना ही उसका सनातन धर्म है। इस वैदिक सत्य पर आधारित श्रील प्रभुपाद का उपदेश और उनके द्वारा प्रारम्भ किया गया आन्दोलन भावी शताब्दियों में मानवसमाज का मार्गदर्शन करेगा। वैदिक शास्त्रों में पूर्वघोषणा है कि आगामी दस हजार वर्षों में सारे विश्व में भगवत्परायणता का पुन: उदय होगा। श्रील प्रभुपाद ने इस जन-जागृति का सूत्रपात किया है। तथाकथित गुरुओं की शिक्षा उनके सम्प्रदाय तक ही सीमित रहती है। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण, चैतन्य महाप्रभु और श्रील प्रभुपाद की शिक्षा देशकाल से अतीत, शाश्वत् और सार्वभौम है।

यह स्मरण रहे कि श्रील प्रभुपाद ने जो कुछ भी किया, किसी निजि स्वार्थ से नहीं किया। उनकी प्रत्येक क्रिया का सार था—विशुद्ध गुरुसेवा और भगवत्सेवा। उन्होंने प्राकृत-जगत् के किसी भी 'वाद' को महत्त्व नहीं दिया। वे तो केवल जीव की सुप्त चेतना—भगवत्प्रेम को उद्‌बुद्ध करना चाहते थे। हमारी इन्द्रियँ सब उपाधियों से मुक्त हो जायें और इस प्रकार शुद्ध होकर भगवत्सेवा में तत्पर हों, श्रील प्रभुपाद की बस यही इच्छा थी। उन्होंने सभी प्राणियों और पदार्थों को भगवत्सेवा में नियुक्त किया। संसार में उन्हें बड़ी विलक्षण सफलता मिली। तथापि, अन्तिम रूप से तो उनकी महिमा उनकी परम पवित्रता, आत्म-साक्षात्कार और भगवान् के प्रति पूर्ण शरणागति में ही थी।

श्रील प्रभुपाद ने निजी आचरण से अपने शिष्यों के लिए विलक्षण आदर्श स्थापित किया है। उनका सारा कार्यकलाप परम पावन और सिद्धरूप में सम्पन्न होता था। वे दिन में संघ के कार्य को देखते और रात्रि में ग्रन्थ रचना करते। दिन भर में अधिक से अधिक २-३ घन्टे विश्राम करते। दस वर्ष की अल्प अवधि में कृष्णभावना आन्दोलन को छहों महाद्वीपों में प्रसारित करने के लिए उन्होंने विश्व का चौदह बार भ्रमण किया और निरन्तर शिष्यों का मार्गदर्शन, प्रवचन और लेखन करते रहे। वे जहां भी जाते, वहीं कृष्णमंदिर स्थापित करते। अपने उपदेश और निजी उदाहरण से उन्होंने स्वरूप-साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त किया और यह दिखाया कि किस प्रकार वैदिकज्ञान—कृष्णभावना को जगत् के प्रत्येक स्त्री, पुरुष, बालक तक पहुँचाया जा सकता है।

भगवान् के दास का अप्रतिम गौरव

श्रील प्रभुपाद ने सदा अपने को भगवान् के दास के रूप में प्रस्तुत किया, भगवान् होने का दावा कभी नहीं किया। वे उन कपट गुरुओं को बहुत तुच्छ समझते थे, जो अपने को भगवान् के रूप में पूजवाते हैं। एक बार उनसे

पूछा गया, "क्या आप भगवान् हैं?" श्रील प्रभुपाद ने उत्तर दिया, "नहीं मैं भगवान् नहीं, भगवान् का सेवक हूँ।" फिर कुछ रुककर बोले, "सेवक भी नहीं, सेवक बनने का प्रयत्न कर रहा हूँ। भगवान् का सेवक होना साधारण बात नहीं है।"

परम प्रयाण

इस धरा धाम पर श्रील प्रभुपाद के अन्तिम महीनों का वर्णन तो वाणी का विषय ही नहीं हो सकता अन्तर्धान होने से पूर्व श्रील प्रभुपाद लम्बे समय तक बाह्य रूप से रुग्ण अवस्था में शय्या पर रहे। परन्तु शरशय्या पर आसीन भीष्मदेव के समान ही उनकी महिमा अनन्त गुणा बढ़ गई थी। उनका कृष्णालिंगित दिव्य विग्रह कृष्णप्रेम से दीप्त था, जगत् को प्लावित कर रहा था। वे जगत् को कृष्णनाम और कृष्णप्रेम का दान करने आए थे। अब वह कार्य पूरा हो गया था, इसलिए शुद्धभक्त के हृदय में कृष्णविरह की अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। शारीरिक रुग्णता तो केवल एक लीला थी। वास्तव में तो वे कृष्णविरह से पीड़ित थे और इसी दिव्य व्यथा ने उनके कलेवर को जर्जरित कर दिया था। अन्तिम दिनों में उनकी सेवा करने वाले भक्तों से यह बात छिपी नहीं थी कि देह के असह्य कष्ट में होते हुए भी उनकी स्थिति सर्वथा लोकोत्तर थी। उनका विग्रह वास्तव में दिव्य था, क्योंकि अन्त समय तक वे पूर्णतया कृष्णभावनाभावित रहे। परदुःखदुःखी वैष्णव के रूप में अन्त तक वे दुःखी जीवों की दशा पर व्यथित थे। शय्या पर करवट न ले सकने पर भी भगवान् के सन्देश का प्रचार करने के लिए उनमें हजारों जवानों का सा उत्साह था। श्रील प्रभुपाद ने आजीवन जो कुछ भी किया, जगत् को शिक्षा देने के लिए किया। वे जगत् को कृष्णप्रेम देने आए थे, इसलिए मरना कैसे चाहिए, इसकी शिक्षा भी अन्तिम समय में हमें दे गए हैं। श्रील प्रभुपाद ने अपने आन्दोलन का सूत्रपात **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे,** इस महामन्त्र के कीर्तन से किया था। इसके श्रवण-कीर्तन से जीव के हृदय में सोया स्वरूपभूत कृष्णप्रेम जागृत हो जाता है। प्रेमदाता श्री चैतन्य महाप्रभु की इच्छापूर्ति के लिए श्रील प्रभुपाद विश्व की चौदह यात्राओं में जहाँ-जहाँ भी गए, वहीं इस महामन्त्र के कीर्तन का प्रवर्तन किया। उन्होंने अपना कार्य हरे कृष्ण महामन्त्र से प्रारम्भ किया और जगत् से प्रयाण करने से पूर्व उनके अन्तिम शब्द भी यही थे—'हरे कृष्ण।' अतएव यही श्रील प्रभुपाद का उद्देश्य था—कृष्णनाम का सर्वत्र जय-जयकार हो! जगत् को यह शिक्षा देने के लिए अन्तिम महीनों में दिन में चौबीस घण्टे निरन्तर भक्तों ने इस कीर्तन का श्रवण किया करते थे और अन्त में 'हरे कृष्ण' में ही तन्मय हो गए। प्रयाण काल में

वे चारों ओर सारे विश्व मे आए तुमुल संकीर्तन करते हुए शिष्यो से घिरे हुए थे। श्रील प्रभुपाद ने **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।** महामन्त्र की जिस अनन्त महिमा का विस्तार किया है, उसका पार पाना किसी के लिए भी सम्भव नही है।

श्रील प्रभुपाद के यथार्थ व्यक्तित्व के अल्पतम अंश को प्रस्तुत करने के लिए चेष्टा करते हुए मुझे बरबस उनके उस उत्तर का स्मरण हो आता है, जब उनके शिष्य ने उनसे अपने गुरुमहाराज के सम्बन्ध मे कुछ कहने के लिए निवेदन किया था। उन्होंने कहा था, "उनके सम्बन्ध में मै क्या कहूँ? वे तो वैकुण्ठ पुरुष थे।" श्रील प्रभुपाद की जीवनी भगवान् के अंतरंग प्रिय सेवक द्वारा अखण्ड प्रेममयी सेवा की अनुपम मधुर गाथा है। उनका चिन्तन, मनन आदि संपूर्ण कार्यकलाप जगत् को श्रीकृष्ण और कृष्णप्रेम का दान करने के लिए ही था, इसलिए उनके जीवन से जगत् का अशेष मंगल हुआ है और आगे भी होगा।

एक बार एक ज्योतिषी ने श्रील प्रभुपाद के चित्र को देखकर कहा था, "ये महापुरुष ऐसा घर बना सकते है, जिसमें सारा संसार शान्तिपूर्वक रह सके।" यह वास्तव में सत्य भी है, श्रील प्रभुपाद अपनी शरण में आने वाले जीव को साक्षात् श्रीकृष्ण का दान कर रहे हैं। इस प्रकार वे अपने आश्रित को सच्चिदानन्दमय जीवन प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है। वे वास्तव में अभय चरणारविन्द है।

श्रील प्रभुपाद की दिव्य लीला को एकमात्र श्रीकृष्ण ही जानते है। वे परमेश्वर उसे अपने हृदय में संजोये हुए है, जैसा उन्होने स्वयं श्रीमद् भागवत में कहा है: 'शुद्धभक्त मेरे हृदय में रहते है और केवल मैं ही उनके हृदय में रहता हूँ। मेरे अतिरिक्त, वे और कुछ नही जानते और मैं उनके अतिरिक्त किसी को भी अपना नही मानता।" क्षुद्रजीव की क्षमता ही कहाँ कि भगवान् के शुद्धभक्त की महिमा का वर्णन कर सके। फिर भी, श्रील प्रभुपाद के परम पावन चरित्र का श्रवण-कीर्तन किया जाता है, जिससे अपना अन्त करण शुद्ध हो। शनैः शनैः बुद्धिमान् मनुष्य जान जायेंगे कि श्रील प्रभुपाद सब युगो के महापुरुषों में सर्वोपरि है।

अपने प्राणधन गुरुदेव की पावन स्मृति मे उनके शिष्य श्रीधाम वृन्दावन में स्थित कृष्णबलराम मन्दिर (जहाँ वे नित्यलीलाप्रविष्ट हुए) और श्री चैतन्य महाप्रभु की आविर्भाव भूमि, श्रीधाम मायापुर में दो समाधियाँ बना रहे है। इसमें सन्देह नहीं कि आने वाले समय में ये दोनों परम पावन स्थल अंतर्राष्ट्रीय तीर्थ बन जायेंगे, जहाँ आकर सपूर्ण विश्ववासी भगवान्

के अग्रदूत कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रील ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद को श्रद्धांजलि समर्पित करेंगे। श्रील प्रभुपाद ने विविध अद्‌भुत रूपों में अपने कार्य से जगत् पर कृष्णभावनारूपी कृपा का परिवर्षण किया है। लेकिन उनकी सबसे बड़ी सफलता वह परिवर्तन है, जो उन्होंने अपने शिष्यों के हृदयों में ला दिया। श्रील प्रभुपाद के शिष्यों का सुख और पवित्रता, गुरु और भगवान् की सेवा में उनकी अनन्य निष्ठा तथा पापों से मुक्ति, ये सब बाह्य लक्षण हैं। प्रत्येक शिष्य को अपने जीवन की धारा को मोड़ने के लिए गुरुदेव, श्रील प्रभुपाद के प्रति जिस आन्तरिक उपकृति की अनुभूति होती है, उसका तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता; वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। हम तो बस भक्तराज प्रह्लाद के शब्दों में भगवान् से निवेदन ही कर सकते हैं, "हे प्रभो! हे भगवान्! नित्य-निरन्तर विषयवासना के संग से जन-साधारण के समान मैं भी साँपों से भरे अंधकूप में गिरा जा रहा था। परन्तु आपके सेवक, गुरुदेव ने मुझ पर अनुग्रह करके मुझे शिष्य बना लिया और इस दिव्य अवस्था की प्राप्ति के साधन का उपदेश किया। इसलिए मेरा प्रथम कर्तव्य उनकी सेवा करना है। उनकी सेवा को मैं कैसे छोड़ सकता हूँ।"

श्रील प्रभुपाद ने वास्तव में अपने शिष्यों को आज के भ्रान्तजगत् के विषयपरायण जीवन से बचाकर तथा उनकी सम्पूर्ण इन्द्रियों को भगवत्सेवा में लगाकर घर की ओर—श्रीकृष्ण की ओर उनका मार्गदर्शन किया। अब, श्रील प्रभुपाद स्वयं इस संसार को छोड़ वापस कृष्णलोक को चले गए हैं। यद्यपि श्रील प्रभुपाद वपुरूप में हमारे साथ नहीं हैं; परन्तु अपनी वाणी, अपने द्वारा चलाए गए आन्दोलन और भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्य प्रेमभक्तिमय सेवा करने की अपनी पावन स्मृति के रूप में वे अमर हैं।

कृष्णनाम-कृष्णप्रेम-प्रदाता जगद्गुरु श्रील प्रभुपाद की जय!

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप

विश्व में गीता का

सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रामाणिक संस्करण

वैदिक ज्ञान के मुकुटमणि, गीता का यह संस्करण सर्वप्रथम १९७२ में प्रकाशित हुआ था। इस अल्प अवधि में ही इस ग्रन्थ ने सम्पूर्ण विश्व में वैदिक धर्म, दर्शन तथा संस्कृति में अभूतपूर्व रुचि जागृत की है। इससे प्रेरित होकर हजारों भ्रांत पाश्चात्य युवक-युवतियों ने यथार्थ वैदिक-जीवन-पद्धति को अंगीकार किया है तथा करोड़ों व्यक्ति भक्ति-योग में लगे हैं। श्रील प्रभुपाद ने भक्तिवेदान्त भाष्य में स्पष्ट किया है कि अपने जीवन-व्यवसाय में संलग्न रहकर भी गीता के आदर्श श्रोता, अर्जुन की भाँति भगवत्परायण जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

गीता के इस भाष्य का वैशिष्ट्य:

- ☐ मूल श्लोक, अनुवाद तथा विशद तात्पर्य-प्रकाश।
- ☐ अंग्रेजी, जर्मन, रूसी, चीनी, स्पेनिश, फ्रेंच, गुजराती, तेलुगु, मलयालम, जापानी, मराठी, डच, ईटालियन, बंगाली आदि तीस भाषाओं में अनूदित।
- ☐ अमरीका के ९०% से अधिक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित।
- ☐ अद्यावधि ६०,००,००० से अधिक प्रतियां प्रकाशित।
- ☐ देश-विदेश के सुप्रसिद्ध विद्वानों द्वारा प्रशंसित।
- ☐ सोलह बहुरंगे विशेष चित्रों से युक्त।

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद विश्व में वैदिक ज्ञान के अद्वितीय आचार्य तथा भगवान् श्रीकृष्ण के शुद्ध भक्त हैं। उनके द्वारा संस्थापित अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावना संघ ने पिछले दस वर्षों में विश्व के सभी प्रमुख नगरों को १२५ मन्दिर तथा आदर्श वैदिक ग्राम स्थापित किये हैं। गीता के अनेक संस्करण हुए हैं, परन्तु उनसे मानव-समाज कृष्णभावनाभावित नहीं हो सका। श्रील प्रभुपाद का भाष्य विश्व में भगवद्भाव की मन्दाकिनी प्रवाहित कर सका है, क्योंकि उन्होंने गीता को वैयक्तिक अर्थ किए बिना उसी रूप में प्रस्तुत किया है जो गीता गायक भगवान् श्रीकृष्ण को अभीष्ट था।